1

व्यवसाय

समाज के विभिन्न वर्गों का प्रत्येक व्यक्ति सदैव अपने को विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त रखता है क्योंकि इन्हीं कार्यों को निष्पादित करके वह अपने जीवन निर्वाह की तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैसे कृषक अपने कृषि कार्य में व्यस्त रहता है, मशीन का चालक मशीन के कार्य में, यातायात के साधनों का संचालक अपने कार्य में कार्यरत रह कर यातायात की व्यवस्था बनाए रखता है और अध्यापक अपने अध्यापन कार्य में संलग्न रहता है। ठीक इसी प्रकार कोई व्यक्ति या संस्था वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करती है तो कोई उसके क्रय-विक्रय से संबंधित रहते हैं और कोई व्यक्ति अथवा संस्था उत्पादित वस्तुओं के वितरण को सहज बनाने में सहायता प्रदान करती है।

मूल रूप से मानव की समस्त क्रियाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है: आर्थिक क्रियाएं, और अनार्थिक क्रियाएं।

आर्थिक क्रियाएं : इस वर्ग में मानव की उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है जिनका प्रत्यक्ष संबंध धनोपार्जन से होता है तथा इसके अतिरिक्त वे अन्य क्रियाएं भी इसी वर्ग में आती हैं जिनको वह अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तथा इसके आगे विलासितापूर्ण जीवन निर्वाह करने के लिए धन कमाने के उद्देश्य से करता है।

अनार्थिक क्रियाएं : इस वर्ग में मनुष्य के वे कार्य तथा क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनका उसके जीवन से भावनात्मक लगाव रहता है, जैसे समाजसेवा, देशभक्ति तथा अन्य परोपकारी कार्य। इन कार्यों को निष्पादित करने से मनुष्य को कोई आर्थिक लाभ तो नहीं होता है परंतु इनसे उसे एक प्रकार की संतुष्टि प्राप्त होती है और वह इन कार्यों को समाज में अच्छा स्थान प्राप्त करने के उद्देश्य से एवं मानवता से प्रेरित होकर करता है।

व्यवसाय की परिभाषा

व्यावसायिक क्रिया मूल रूप से मनुष्य की आर्थिक क्रिया से संबंधित है। इसके अंतर्गत वे समस्त आर्थिक क्रियाएं आती हैं जिनका मुख्य उद्देश्य समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए, उपलब्ध आवश्यक प्राकृतिक एवं भौतिक साधनों का उपयोग करके वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करना तथा विभिन्न वर्गों में उनका वितरण करना है। व्यवसाय शब्द को विभिन्न लेखकों ने परिभाषित किया है, जिनमें से कुछ मुख्य परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं:

एल० एच० हैने के अनुसार, 'व्यावसायिक क्रिया से आशय उस मानवीय क्रिया से है जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा संपत्ति निर्मित करने एवं उसे प्राप्त करने से संबंधित है।' इस परिभाषा में व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति को स्पष्ट रूप से नहीं समझाया

गया है। इसे व्यवसाय की पूर्ण परिभाषा नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इसमें वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन का कहीं जिक्र नहीं किया गया है और न इस क्रिया को संचालित करने वाले व्यक्ति के निहित उद्देश्य को ही बताया गया है।

इसी प्रकार मैक नारन के शब्दों में, 'व्यवसाय शब्द से अर्थ पारस्परिक लाभ के लिए वस्तुओं, सेवाओं तथा मुद्रा के विनिमय से है।' यह परिभाषा भी हैने की परिभाषा की भांति अपूर्ण है क्योंकि वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय तथा विनिमय तभी संभव है जबकि उनको उत्पादित किया जाए। इसके अतिरिक्त व्यवसायी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए व्यवसाय प्रारंभ करता है न कि अन्य पक्षकारों के लाभ के लिए। अन्य पक्षकारों को व्यावसायिक क्रिया को निष्पादित करने से कोई मौद्रिक लाभ नहीं होता है बल्कि उन्हें अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए आवश्यक वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त होती हैं।

ह्वीलर के शब्दों में, 'व्यवसाय एक ऐसी संस्था है जिसको संचालित एवं क्रियान्वित करने का उद्देश्य समाज को वस्तुएं एवं सेवाएं प्रदान करना है और जो व्यक्तिगत लाभ कमाने से प्रेरित होकर किया जाता है।'

यह परिभाषा ऊपर बताई गई अन्य परिभाषाओं की तुलना में अधिक पूर्ण एवं व्यापक समझी जा सकती है क्योंकि इसके अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवसाय को संचालित करने का मुख्य उद्देश्य समाज को वस्तुएं तथा सेवाएं प्रदान करके व्यक्तिगत लाभ अर्जित करना है। फिर भी इस परिभाषा में व्यावसायिक क्रिया की मूल प्रकृति पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

विलियम स्प्रैंगल के शब्दों में, 'व्यावसायिक क्रियाओं के अंतर्गत उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं विक्रय से होता है।' इस परिभाषा से व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति का कुछ सीमा तक ज्ञान हो सकता है क्योंकि इसमें व्यावसायिक क्रिया का अर्थ वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन कार्य तथा उनके विक्रय से लगाया गया है जो उचित भी है। फिर भी हमें इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं मिलता है कि वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन एवं विक्रय किस मूल उद्देश्य के लिए किया जाता है।

व्यवसाय शब्द की ऊपर दी गई परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए इस शब्द को इसकी मूल विशेषताओं के प्रकाश में व्यापक एवं विस्तृत रूप से परिभाषित किया जा सकता है जिसमें व्यावसायिक क्रिया के अंतर्गत आने वाली समस्त आर्थिक क्रियाओं का समावेश हो और जिससे व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझा जा सके। यह परिभाषा इस प्रकार हो सकती है: 'व्यवसाय मनुष्य द्वारा की जाने वाली उस आर्थिक क्रिया या क्रियाओं का समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से या तो वस्तुओं एवं सेवाओं का निरंतर उत्पादन करने के लिए अथवा उनके निरंतर तथा नियमित क्रय-विक्रय तथा विनिमय में लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती हैं।'

इस परिभाषा के अनुसार व्यवसाय में निम्न मूल विशेषताएं होती हैं:

1. व्यावसायिक क्रिया मूल रूप से मानव की आर्थिक क्रिया या क्रियाओं का समूह है। यह क्रिया या तो व्यक्ति विशेष द्वारा संचालित की जा सकती है या व्यक्तियों के समूह द्वारा।

2. व्यवसाय में मानव की केवल उन आर्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जो या तो प्राकृतिक तथा भौतिक साधनों का उपयोग करके वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए की जाती हैं, या उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय तथा विनिमय करने के लिए अर्थात उनको वितरित करने के लिए की जाती हैं, जैसे चीनी कारखाने द्वारा चीनी का उत्पादन, कुशल कारीगर द्वारा मेज, कुर्सी का निर्माण, फुटकर व्यापारी

द्वारा वस्तुओं को थोक व्यापारी से क्रय करके अंतिम उपभोक्ताओं को बेचना आदि।

3. व्यावसायिक क्रिया, जिसमें वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तथा वितरण सम्मिलित है, निरंतर नियमित रूप से की जानी चाहिए। यदा-कदा किया गया उत्पादन कार्य तथा क्रय-विक्रय व्यवसाय में सम्मिलित नहीं किया जाता है क्योंकि व्यवसाय में स्थायित्व एवं निरंतरता का विद्यमान होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति एक वस्तु (रेडियो) क्रय करता है और कुछ समय पश्चात उसे उसके क्रय मूल्य से अधिक मूल्य में बेच देता है, तो इसमें वस्तु का क्रय-विक्रय सम्मिलित होते हुए भी इसे व्यवसाय नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार किए गए क्रय-विक्रय में निरंतरता का अभाव है। इसके अतिरिक्त यदि वह व्यक्ति सदैव निरंतर एवं लगातार रूप से रेडियो का क्रय-विक्रय लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से करता है तो इसे उस व्यक्ति का व्यवसाय समझा जा सकता है।

4. मनुष्य की जिन आर्थिक क्रियाओं को व्यवसाय में सम्मिलित किया जाता है उनको संचालित करने का उद्देश्य लाभ अर्जित करना होना चाहिए क्योंकि व्यवसाय के समस्त साधनों को जीवित रखते हुए व्यावसायिक क्रिया में निरंतरता तथा स्थायित्व लाने के लिए उचित दर का लाभ कमाया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि कोई कारीगर मेज एवं कुर्सी का निर्माण अपने व्यक्तिगत प्रयोग के लिए करता है या कोई स्त्री अपने परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए भोजन तैयार करती है अथवा एक धर्मार्थ संस्था द्वारा निर्धनों को मुफ्त भोजन वितरित किया जाता है तो इनको हम व्यावसायिक क्रियाएं नहीं कह सकते हैं क्योंकि इन सब क्रियाओं में लाभोपार्जन के उद्देश्य का अभाव है।

5. यद्यपि व्यावसायिक क्रिया लाभ कमाने के उद्देश्य से संचालित की जाती है पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि व्यवसाय में लाभ ही कमाया जाएगा क्योंकि व्यावसायिक क्रिया भविष्य में एक विशेष वातावरण में संचालित की जाती है और भविष्य बिल्कुल अनिश्चित है। व्यवसाय के वातावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप लाभ के बजाय हानि भी हो सकती है। भविष्य की अनिश्चितता से उत्पन्न संभावित हानि को ही जोखिम कहा जाता है और यह जोखिम व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति में ही निहित है। इसे पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता है।

व्यवसाय मानव की उन जटिल क्रियाओं का समूह है जो या तो वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए या उनका क्रय-विक्रय करने के लिए या उनके वितरण को सहज तथा सुगम बनाने के लिए संचालित की जाती हैं। अतः इसे मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: उद्योग एवं वाणिज्य। (व्यवसाय = उद्योग + वाणिज्य)।

उद्योग

उद्योग व्यवसाय का एक ऐसा महत्वपूर्ण अंग है जिसमें उन समस्त आर्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, जो किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा कच्चे माल तथा उत्पादन के अन्य महत्वपूर्ण साधनों (भूमि, भवन, पूंजी, श्रम तथा मशीन) का प्रयोग करके वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है, जैसे चीनी कारखाने द्वारा चीनी का उत्पादन, कपड़ा मिलों द्वारा कपड़े का उत्पादन आदि। एक ही प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन कार्य में संलग्न समस्त व्यावसायिक इकाइयों को संयुक्त रूप से उद्योग कहा जाता है। ये उद्योग कच्चे माल को तैयार माल में परिणत करके उसे समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों के लिए उपयोगी बनाते हैं, ताकि उनका उपयोग करने वाले व्यक्तियों या

संस्थाओं की आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सके। विभिन्न उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है : उपभोक्ता का माल तथा निर्मित माल। उपभोक्ता का माल (कन्ज्यूमर्स गुड्स) शब्द में वे तमाम वस्तुएं सम्मिलित हैं जिनका उपभोग अंतिम उपभोक्ता द्वारा अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के लिए किया जाता है और इस प्रकार के माल को पुनः उत्पादन के लिए प्रयोग में नहीं लाया जाता है बल्कि इनका संबंध अंतिम उपभोग से है जैसे जूते, दवाइयां, साबुन, कपड़ा, रेडियो, बाइसकिल आदि।

निर्मित माल (मैन्यूफैक्चरिंग गुड्स) से हमारा अभिप्राय उद्योगों द्वारा उत्पादित उन वस्तुओं से है जिनका प्रयोग उत्पादन प्रक्रिया में पुनः वस्तुएं उत्पादित करने के लिए किया जाता है और जो उत्पादन में सहायक समझी जाती हैं, जैसे मशीन के हिस्से, सीमेंट, गन्ना, कपास आदि। ये वस्तुएं अन्य औद्योगिक इकाइयों द्वारा कच्चे माल के रूप में प्रयोग करके तैयार माल उत्पादित करती हैं जैसे गन्ने द्वारा चीनी का उत्पादन, कपास से कपड़े का उत्पादन, लोहे तथा सीमेंट से भवन निर्माण आदि।

उद्योगों के प्रकार

समस्त औद्योगिक इकाइयों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की प्रकृति तथा उनके द्वारा उत्पादन कार्य में प्रयोग किए गए साधनों के दृष्टिकोण से निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है :

1. प्राकृतिक उद्योग : यदि कोई औद्योगिक इकाई प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके वस्तुओं का उत्पादन करती है तो इसे प्राकृतिक उद्योग में सम्मिलित किया जाएगा, जैसे समुद्र से मछलियां पकड़ने का कार्य, खानों से खनिज पदार्थ निकालने का कार्य, तेल के कुओं से तेल निकालना तथा जंगलों से शिकार प्राप्त करने का कार्य आदि।

2. पैतृक उद्योग : इन उद्योगों के द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है अथवा जिन पशुओं तथा पेड़-पौधों का सृजन किया जाता है उनमें पैतृक गुण विद्यमान रहते हैं इसीलिए इन उद्योगों को पैतृक उद्योग कहा जाता है, जैसे पेड़-पौधों तथा पशुओं की विकासशील नस्लों में प्रजनन कराके उनकी विद्यमान किस्म को सुधारते हुए नई किस्म या नस्ल के पेड़-पौधों या पशुओं का सृजन आदि, जैसे बागवानी, पशुपालन आदि।

3. उत्पादन उद्योग : सामान्य तौर से उद्योगों का अर्थ इन्हीं उत्पादन उद्योगों से लगाया जाता है। इन उद्योगों में कच्चा माल या अर्ध तैयार माल उत्पादन के विभिन्न साधनों के प्रयोग से तैयार माल में परिणत किया जाता है, जैसे कपास से कपड़े का उत्पादन, बांस से कागज का उत्पादन आदि। ये उद्योग व्यवसाय में विशेष महत्व के हैं क्योंकि मनुष्य की अधिकांश आवश्यकताएं इन्हीं उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से पूरी की जाती हैं।

4. निर्माणी उद्योग : इन उद्योगों की क्रियाएं आर्थिक क्रियाओं को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए, विभिन्न ढांचों के निर्माण से संबंधित हैं, जैसे भवन निर्माण, पुल निर्माण, बांध एवं सड़कों का निर्माण आदि। इन उद्योगों द्वारा जो वस्तुएं निर्मित की जाती हैं उनका प्रयोग अधिकांश दशाओं में सार्वजनिक हित के लिए किया जाता है। इन उद्योगों द्वारा अपने निर्माण कार्य में मुख्य उद्योगों द्वारा उत्पादित माल प्रयोग किया जाता है, जैसे भवन का निर्माण करने में लोहा, सीमेंट, लकड़ी आदि का प्रयोग।

5. कृषि उद्योग : इन उद्योगों में मुख्य रूप से प्राकृतिक तथा भौतिक साधनों का प्रयोग करके कृषि पदार्थों का उत्पादन किया जाता है। इस प्रकार उत्पादित वस्तुएं अंतिम उपभोग के लिए तथा अन्य उद्योगों द्वारा कच्चे माल के रूप में प्रयोग की जा सकती हैं, जैसे गेहूं, चावल, कपास, गन्ना आदि का उत्पादन।

वाणिज्य

व्यावसायिक क्रियाओं का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग है वाणिज्यिक क्रियाएं। जैसाकि व्यवसाय शब्द की परिभाषा में यह बताया जा चुका है, व्यावसायिक क्रिया में वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन तथा क्रय-विक्रय एवं विनिमय सम्मिलित हैं और ऐसा उत्पादन तथा क्रय-विक्रय निरंतरतापूर्वक लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

यह स्वाभाविक है कि उत्पादक लाभ तभी कमा सकेगा जबकि उसके द्वारा उत्पादित वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को या अन्य मध्यस्थ व्यापारियों को बेची जाएं। इसी प्रकार मध्यस्थ व्यापारी उत्पादक से वस्तुएं क्रय करके अंतिम उपभोक्ताओं को बेच कर लाभ कमा सकता है। अत: वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन हो जाने के बाद उनका वितरण भी आवश्यक है ताकि एक ओर पुन: उत्पादन कार्य किया जा सके और दूसरी ओर उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं को अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित करके उनकी आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सके।

संक्षेप में वाणिज्य उन व्यावसायिक क्रियाओं का समूह है जिनका प्रत्यक्ष संबंध वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण से है और इस वितरण कार्य में वस्तुओं के क्रय-विक्रय के अतिरिक्त वे अन्य आर्थिक क्रियाएं भी सम्मिलित हैं जो वस्तुओं के वितरण को सहज एवं सुगम बनाती हैं, जैसे यातायात, बीमा, बैंकिंग सुविधाएं, संग्रहण, विज्ञापन आदि। इन अन्य क्रियाओं को सहायक क्रियाएं भी कहा जा सकता है। वाणिज्य : व्यापार (क्रयविक्रय) + अन्य सहायक क्रियाएं।

व्यापार

व्यापार वाणिज्य का मुख्य अंग है। इसमें वस्तुओं का क्रय-विक्रय सम्मिलित है। कोई भी व्यापारी जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से लाभ कमाता है वह पहले इन वस्तुओं को उत्पादक से या अन्य मध्यस्थ व्यापारियों से क्रय करता है और फिर क्रय मूल्य से अधिक मूल्य पर आगे अन्य व्यापारियों या अंतिम उपभोक्ताओं को बेचता है। व्यापार केवल वाणिज्य का महत्वपूर्ण अंग ही नहीं है बल्कि इसे आधुनिक व्यवसाय की आधारशिला समझा जाता है क्योंकि वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही उत्पादन कार्य में निरंतरता बनी रहती है। व्यापारी उत्पादक तथा ग्राहक के बीच एक कड़ी का कार्य करता है और विनिमय की प्रक्रिया में वस्तुओं का क्रय-विक्रय करके लाभ कमाता है।

क्रय-विक्रय एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा मूल्य के बदले वस्तुओं का स्वामित्व विक्रेता से क्रेता को हस्तांतरित होता है। क्रय-विक्रय की क्रिया को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है क्योंकि जिस व्यक्ति को मूल्य के बदले वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त होता है उसके लिए यह क्रिया क्रय है और जो वस्तुओं का स्वामित्व हस्तांतरित करता है उसके लिए यह क्रिया विक्रय कही जाएगी। क्रय-विक्रय के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए व्यापार निम्न प्रकार का हो सकता है :

1. स्थानीय व्यापार : यदि वस्तुओं का क्रय-विक्रय किसी विशेष स्थान की निर्दिष्ट सीमाओं के अंतर्गत किया जाता है तो इसे स्थानीय व्यापार कहा जाएगा, जैसे बंबई, दिल्ली, कलकत्ता आदि स्थानों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय।

2. राष्ट्रीय व्यापार : यदि वस्तुओं का क्रय-विक्रय एक ही देश के एक राज्य से दूसरे राज्य में या एक स्थान से दूसरे स्थान में किया जाए तो इसे राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है, जैसे अन्य राज्यों द्वारा असम से चाय का क्रय, पंजाब से गेहूं का क्रय आदि।

3. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की सीमाओं के बाहर अन्य देशों

के साथ किया जाता है, जैसे भारतवर्ष द्वारा चाय, काफी, चमड़े का सामान आदि अन्य देशों को बेचा जाना, या अन्य देशों से मशीन, पेट्रोलियम पदार्थों का क्रय आदि। अंतर-राष्ट्रीय व्यापार निम्न तीन प्रकार का हो सकता है :

(अ) आयात व्यापार : यदि कोई देश अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं स्वयं उत्पादित नहीं कर सकता है तो ऐसी स्थिति में दूसरे देशों से वस्तुओं को क्रय करके अपने देश की आवश्यकता पूरी की जाती है। इसे आयात व्यापार कहा जाता है, जैसे भारतवर्ष द्वारा खाद्य पदार्थ तथा पेट्रोलियम पदार्थों का आयात।

(ब) निर्यात व्यापार : वस्तुओं के आयात व्यापार के ठीक विपरीत यदि कोई देश अपनी घरेलू आवश्यकताओं से अधिक वस्तुएं उत्पादित करके अपने देश की सीमाओं के बाहर दूसरे देशों को बेचता है तो इसे वस्तुओं का निर्यात कहा जाएगा, जैसे भारतवर्ष द्वारा चाय, काफी आदि का अन्य देशों को निर्यात।

(स) पुनर्निर्यात : यदि कोई देश दूसरे देशों से वस्तुओं का आयात अपनी घरेलू आवश्यकताओं के लिए नहीं बल्कि दूसरे देशों को निर्यात करके लाभ कमाने के उद्देश्य से करता है तो इसे पुनर्निर्यात कहा जाएगा। पुनर्निर्यात देश की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर रहता है, जैसे भारत द्वारा बंगलादेश, नेपाल आदि देशों को निर्यात करने के उद्देश्य से यूरोपीय देशों से मशीनों का आयात।

वस्तुओं के क्रय-विक्रय की मात्रा को ध्यान में रखते हुए व्यापार पुनः दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है : थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार।

थोक व्यापार : थोक व्यापार में व्यापारी वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकों से बड़ी मात्रा में क्रय करके छोटी मात्रा में फुटकर व्यापारियों या अंतिम उपभोक्ताओं को बेचता है। थोक व्यापारी वस्तुओं के वितरण में उत्पादक तथा फुटकर व्यापारियों के बीच एक कड़ी या मध्यस्थ का कार्य करते हैं।

फुटकर व्यापार : फुटकर व्यापार में वस्तुओं का क्रय-विक्रय थोक व्यापार की अपेक्षा सीमित मात्रा में किया जाता है। फुटकर व्यापारी वस्तुएं थोक व्यापारियों से क्रय करके छोटी मात्रा में अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं।

सहायक क्रियाएं

वस्तुओं को उत्पादन के क्षेत्र से लेकर अंतिम उपभोक्ता तक पहुंचाने में वस्तुओं के व्यापार (क्रय-विक्रय) के अतिरिक्त जो अन्य आर्थिक क्रियाएं की जाती हैं उनको वितरण की सहायक क्रियाएं कहते हैं क्योंकि इन क्रियाओं से वस्तुओं एवं सेवाओं का वितरण सहज एवं सुगम होता है, जैसे यातायात, बीमा, बैंकिंग सुविधाएं, संग्रहण, विज्ञापन आदि। वस्तुओं के व्यापार को साकार बनाने के लिए इन सहायक क्रियाओं को निष्पादित किया जाना आवश्यक है। तभी वस्तुओं की वितरण प्रक्रिया पूर्ण हो सकती है क्योंकि उत्पादन को उपभोग में परिणत करने के लिए वस्तुओं के क्रय-विक्रय में तमाम कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, जैसे उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच स्थान की दूरी, उत्पादन तथा उपभोग में समय का अंतर, वस्तुओं के बारे में ज्ञान का अभाव, सुरक्षा का अभाव आदि। इन सब कठिनाइयों तथा बाधाओं को दूर करके, उत्पादित वस्तुओं में समय उपयोगिता, स्थान उपयोगिता, ज्ञान उपयोगिता आदि का सृजन करके इन सहायक क्रियाओं द्वारा बड़े पैमाने पर वस्तुओं का वितरण संभव हुआ है। ये सहायक क्रियाएं विभिन्न व्यापारियों, मध्यस्थों तथा अन्य सेवा संस्थाओं द्वारा निष्पादित की जाती हैं। इन सहायक क्रियाओं को वाणिज्य के कार्य के रूप में भी समझा जा सकता है।

1. यातायात अथवा परिवहन : यातायात के साधनों के माध्यम से स्थान की कठिनाई

दूर की जाती है और उत्पादक द्वारा उत्पादित वस्तुएं दूर दूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं तक आसानी से कम समय में पहुंचाई जा सकती हैं। अतः यातायात एक ऐसी वाणिज्यिक क्रिया है जिसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं में स्थान उपयोगिता का सृजन किया जाता है क्योंकि वस्तुएं ऐसे स्थान से, जहां वे कम उपयोगी हों, ऐसे दूसरे स्थानों तक पहुंचाई जाती हैं जहां उनकी उपयोगिता अधिक हो। तीव्र एवं सुरक्षित यातायात साधनों के विकास के परिणामस्वरूप वस्तुओं के बाजार का विस्तार करके बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन को तथा बड़े पैमाने पर उनके वितरण को आसान बनाया जा सका है। इसके अतिरिक्त इन्हीं यातायात साधनों के विकास से आज हम अन्य देशों में उत्पादित वस्तुओं का उपभोग कर पा रहे हैं, अपने देश में वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादन को अन्य देशों को भेज कर विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहे हैं तथा विश्व के समस्त देश एक दूसरे से जुड़े हैं। संक्षेप में यातायात द्वारा उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच स्थान की दूरी की बाधा समाप्त करके वस्तुओं का वितरण सहज एवं सुगम बनाया जाता है।

2. वस्तुओं का संग्रहण करके समय की कठिनाई दूर करना : उत्पादक द्वारा वस्तुओं को उत्पादित करने के समय से लेकर उनके अंतिम उपभोग तक के समय में समय का जो अंतर होता है उसके दौरान उत्पादित वस्तु के समस्त भौतिक एवं रासायनिक गुणों को बनाए रखने के लिए, उनको सुरक्षित रखा जाना आवश्यक है। संग्रहण की क्रिया द्वारा वस्तुओं को भविष्य के लिए सुरक्षित रख कर उसमें समय उपयोगिता उत्पन्न की जाती है। जो वस्तुएं शीघ्र नष्ट होने वाली प्रकृति की हों या किसी विशेष मौसम में उपलब्ध होती हों तो उनको भविष्य के लिए संग्रहीत करके सुरक्षित रखा जा सकता है और उनके उपभोग में निरंतरता बनाई रखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक व्यावसायिक युग में उत्पादक द्वारा वस्तुओं का उत्पादन भविष्य में उनकी मांग का पूर्वानुमान लगाकर किया जाता है। ऐसी स्थिति में भी वस्तुओं की मांग उत्पन्न होने तक उनकी मौलिक विशेषताओं को संग्रहण द्वारा सुरक्षित रखा जाता है।

3. वित्त और विनिमय की कठिनाई को बैंकिंग सुविधाओं द्वारा दूर करना : व्यवसाय में उत्पादन कार्य तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय में निरंतरता बनाए रखने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है और इसी प्रकार वस्तुओं के वितरण को सुगम बनाने के लिए विनिमय की सुविधा की आवश्यकता होती है। बैंकिंग सुविधाओं द्वारा इन दोनों प्रकार की कठिनाइयों को दूर किया जाता है क्योंकि बकिंग संस्थाओं द्वारा उत्पादक तथा व्यापारी की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें अधिविकर्ष (ओवर-ड्राफ्ट), नकद साख, ऋण एवं अग्रिम तथा विनिमय बिलों को मितिकाटे पर भुना कर वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त बिक्री मूल्य के भुगतान को सहज बनाने और उधार विक्रय करके व्यावसायिक क्रिया का विस्तार करने में बैंकिंग सुविधाएं महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं क्योंकि बैंकों द्वारा विनिमय का माध्यम उपलब्ध कराया जाता है और भुगतान के लिए चेक, विनिमय बिल, हुंडी तथा प्रतिज्ञापत्र के प्रचलन को व्यावहारिक बनाया जाता है।

4. ज्ञान के अभाव को विज्ञापन आदि के द्वारा दूर करना : ग्राहकों द्वारा वस्तुएं तब तक क्रय नहीं की जाती हैं जब तक कि उत्पादित वस्तु के बारे में उन्हें पूर्ण ज्ञान न हो। वस्तुओं के बारे में इस ज्ञान के अभाव को दूर करके वितरण को साकार बनाने के लिए वस्तुओं का विज्ञापन किया जाता है और व्यक्तिशः बिक्री के प्रयत्नों द्वारा उनको अधिक प्रचलित बनाया जाता है। विज्ञापन, व्यक्तिशः बिक्री तथा अन्य बिक्रीवर्धक प्रयत्नों से संभावित ग्राहकों को वस्तु के अस्तित्व की सूचना ही नहीं मिलती है बल्कि इसके प्रभाव से वस्तुओं की मांग में वृद्धि की जाती है और नए नए बाजारों की ढूंढ़ खोज करके बाजार का

विस्तार किया जाता है। फलस्वरूप बड़े पैमाने पर बिक्री संभव होती है।

5. जोखिम की कठिनाई को बीमे के द्वारा दूर करना : व्यवसाय में भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है। भविष्य में किसी की अनिश्चित घटना के होने से व्यवसाय विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। भविष्य में हानि की संभावना को ही जोखिम कहा जाता है। यह जोखिम प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया में संलग्न रहता है चाहे वह वस्तुओं का यातायात हो या वस्तुओं का उत्पादन अथवा वस्तुओं के वितरण से संबंधित क्रिया। दैविक तथा भौतिक दोनों कारणों में से किसी कारण भी दुर्घटना हो सकती है जैसे वस्तुओं के यातायात में आग, चोरी तथा अन्य दुर्घटनाओं का भय। इसी प्रकार संग्रहीत वस्तुओं में क्षति का भय, उत्पादन प्रक्रिया में अकस्मात कोई दुर्घटना होना तथा बाजार में प्रतियोगी द्वारा नई नीतियों के प्रयोग से संबंधित जोखिम आदि। इस प्रकार के जोखिमों को कम करके व्यवसाय में स्थायित्व तथा निरंतरता बनाए रखने के लिए जो व्यवस्थाएं की जाती हैं उनमें बीमा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अंतर्गत व्यापारी या उत्पादक एक निश्चित प्रीमियम की धनराशि का भुगतान करके विभिन्न प्रकार की दुर्घटनाओं से संभावित हानि को बीमा कंपनी को हस्तांतरित कर देता है।

संक्षेप में व्यवसाय उन आर्थिक क्रियाओं का समूह है जिनके द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करके उनमें 'स्वरूप उपयोगिता' उत्पन्न की जाती है और फिर स्थान उपयोगिता, समय उपयोगिता तथा अधिकार उपयोगिताएं उत्पन्न करने के लिए उनका क्रय, विक्रय, यातायात, बीमा, संग्रहण, विज्ञापन आदि करके उनको वितरित किया जाता है।

व्यवसाय के उद्देश्य

अन्य मानवीय क्रियाओं की भांति व्यावसायिक क्रिया भी कुछ निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संचालित की जाती है। ये उद्देश्य क्या हों? जिनको प्राप्त करने के लिए व्यावसायिक क्रिया संचालित की जाए, अभी तक विवादग्रस्त विषय बना है। इसके संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग अलग मत प्रस्तुत किए गए हैं।

सामान्य रूप से लाभ कमाना ही व्यवसाय का उद्देश्य समझा जाता है। कुछ सीमा तक यह उचित प्रतीत होता है क्योंकि यदि व्यवसाय में लाभ कमाने का उद्देश्य न हो तो कोई भी व्यक्ति व्यावसायिक क्रिया में अपनी पूंजी विनियोजित नहीं करना चाहेगा और लाभ के अभाव में व्यवसाय के साधनों को दीर्घकाल तक जीवित नहीं रखा जा सकता है तथा इससे व्यवसाय में स्थायित्व तथा निरंतरता विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं। व्यवसाय के साधनों में मानवीय तथा गैर मानवीय साधन दोनों सम्मिलित हैं, जैसे पूंजी, श्रम, मशीन, कच्चा माल, भवन, मशीन प्रबंध। इन विभिन्न साधनों को जीवित रखकर इनका अधिकतम विकास करने हेतु व्यवसायी के लिए लाभ अर्जित करना आवश्यक है।

लाभ शब्द को इस संदर्भ में व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है क्योंकि इससे हमारा अभिप्राय केवल पूंजी के लिए दिए जाने वाले पारितोषिक से ही नहीं है बल्कि इसमें प्रयोग किए जाने वाले समस्त साधनों के लिए दिए जाने वाले प्रतिफल की व्यवस्था भी सम्मिलित की गई है, जैसे श्रमिकों का पारिश्रमिक, प्रबंधकों का पारिश्रमिक या मशीन तथा संयंत्र में उचित ह्रास की व्यवस्था आदि।

व्यवसाय में लाभ कमाने के उद्देश्य के विचारों के प्रति संदेह में कुछ लोग यह समझते हैं कि व्यवसाय का एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक लाभ अर्जित करना है पर यह समझना निश्चित रूप से भूल है क्योंकि अधिकाधिक लाभ अर्जित करने के लिए या तो व्यवसायी वस्तु का विक्रय मूल्य बढ़ा देता है अथवा उसकी किस्म में गिरावट कर देता

है या अन्य अनुचित विधि व्यवहार में लाता है, जैसे मिलावट, वस्तुओं की कृत्रिम मांग उत्पन्न करना आदि। यदि व्यवसायी अधिकाधिक लाभ कमाने की इच्छा से इनमें से कोई भी तरीका अपनाता है तो इससे व्यावसायिक क्रिया का अस्तित्व स्वाभाविक रूप से खतरे में पड़ जाएगा क्योंकि जहां व्यवसायी का प्रतियोगी इस स्थिति का प्रयोग अपने हित में करेगा वहां दूसरी ओर ग्राहकों का वस्तु के प्रति असंतोष तथा व्यवसायी के प्रति संदेह, अविश्वास की भावना व्यवसायी को निराशाजनक स्थिति में डाल देगी। यह स्थिति इसलिए उत्पन्न होगी क्योंकि प्रत्येक ग्राहक व्यवहार में यह प्रयत्न करता है कि वस्तु के मूल्य के बदले उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो जो उसे वस्तु के विक्रय मूल्य में वृद्धि अथवा किस्म में गिरावट के कारण प्राप्त नहीं हो सकती है। इससे व्यवसायी दीर्घ-काल तक अपने व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने में सफल नहीं हो सकता है। अत; व्यवसाय में अधिकाधिक लाभ कमाने का उद्देश्य न तो वांछनीय है और न आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में इस उद्देश्य को प्राप्त ही किया जा सकता है।

पीटर ड्रकर के शब्दों में, 'व्यवसाय का उद्देश्य वस्तुओं के लिए ग्राहक उत्पन्न करना है।' इसका अर्थ है व्यवसाय को संचालित करने का उद्देश्य वस्तुओं का उत्पादन करके उनकी मांग उत्पन्न करना है। यह तभी संभव हो सकता है जबकि व्यवसायी व्यवसाय का उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना न रखकर उचित किस्म की वस्तुएं उत्पादित करके उनको उचित मूल्य में प्रदान करना व्यवसाय का उद्देश्य समझे। आधुनिक व्यावसायिक युग में कोई भी व्यवसायी मनमानी किस्म की वस्तुएं मनमाने मूल्यों पर ग्राहकों को बेच कर अधिक समय तक व्यवसाय के अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता है क्योंकि व्यवसाय में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा एवं ग्राहकों की बदलती हुई आवश्यकताएं तथा प्राथ-मिकताएं व्यवसायी को ऐसा करने से निश्चित रूप से रोक देंगी। व्यवसायी को अपने व्यवसाय का अस्तित्व कायम रखने के लिए तथा व्यवसाय में संलग्न समस्त साधनों का अधिकतम विकास करके व्यवसाय को समृद्धिशाली एवं स्थाई बनाने के लिए ग्राहकों की रुचि, आवश्यकता एवं प्राथमिकताओं को अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य की अपेक्षा प्राथमिकता देनी चाहिए। ग्राहक को व्यवसाय की आधारशिला माना जाता है अत: जब तक व्यवसायी ग्राहकों को उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर प्रदान नहीं कर सकेगा, व्यवसाय में उसकी सफलता एवं समृद्धि संदेहजनक है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यवसायी का उद्देश्य उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों में प्रदान करके उचित दर का लाभ कमाना होना चाहिए ताकि एक ओर वह उचित दर का लाभ कमाकर व्यवसाय में संलग्न साधनों को जीवित रख सके और उनका अधिकतम विकास कर सके और दूसरी ओर ग्राहकों की आवश्यकता तथा प्राथ-मिकता की वस्तुएं उत्पादित करके एवं उनका वितरण करके अपने व्यवसाय की आधार-शिला को मजबूत बना सके।

व्यवसाय के विकास के प्रथम चरणों में व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति सहज होने के कारण एवं व्यवसाय का क्षेत्र सीमित होने के कारण अधिकांश दशाओं में व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना ही समझा जाता था, परंतु कालांतर में मानव सभ्यता के विकास एवं व्यवसाय के क्षेत्र में हुई उन्नति के परिणामस्वरूप आधुनिक व्यवसाय का स्वरूप काफी जटिल हो गया है, और इसका क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है।

इन बदलती हुई परिस्थितियों में व्यवसाय का उद्देश्य केवल लाभ कमाना ही नहीं है बल्कि इसके साथ ही व्यवसाय में संलग्न सामाजिक तथा मानवीय तत्वों के लिए भी पर्याप्त व्यवस्था की जानी आवश्यक है। ग्राहकों तथा कर्मचारियों में जागृति एवं चेतना ने व्यवसायी को इस बात के लिए मजबूर कर दिया है कि वह व्यवसाय में लाभ कमाने के

अतिरिक्त व्यवसाय का जो दायित्व समाज के प्रति, सरकार के प्रति तथा इसमें कार्यरत श्रमिकों एव कर्मचारियों के प्रति है उसे भी निभाए। तभी वह एक कुशल एवं सफल व्यवसायी के रूप में कार्य कर सकता है।

व्यवसाय के उद्देश्यों को निम्न क्रम में रखा जा सकता है: (1) आर्थिक उद्देश्य, (2) सामाजिक उद्देश्य, (3) मानवीय तत्वों के लिए उचित व्यवस्था, (4) सरकार के प्रति दायित्व।

आर्थिक उद्देश्य

व्यवसाय चूंकि आधारभूत रूप से एक आर्थिक क्रिया है इसीलिए आर्थिक क्रिया में संलग्न उद्देश्यों को पूरा करना व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य बन जाता है। ये आर्थिक उद्देश्य निम्न हो सकते हैं:

1. पर्याप्त लाभ अर्जित करना : व्यवसाय प्रारंभ करके लाभ कमाना व्यवसाय के आर्थिक उद्देश्यों में मुख्य है। परंतु लाभ कमाने की दर तथा सीमा का निर्धारण व्यवसायी को समाज के प्रति अपने दायित्व को दृष्टि में रख कर करना चाहिए क्योंकि व्यवसाय में अनुचित तरीकों से अधिकाधिक अथवा असीमित मात्रा में लाभ कमाने की चेष्टा व्यवसाय के अस्तित्व को दीर्घकाल में अवश्य खतरे में डाल देगी। इसके विपरीत व्यवसाय में उचित दर का लाभ कमाना भी कम आवश्यक नहीं है क्योंकि, यदि व्यवसाय में लाभ की प्रेरणा न हो तो कोई भी व्यक्ति अपनी पूंजी का विनियोजन व्यावसायिक क्रिया के लिए नहीं करना चाहेगा। इसी प्रकार यदि संयुक्त पूंजी कंपनी अपने व्यवसाय में उचित दर का लाभ न कमा पाए तो प्रतिभूतियां निर्गमित करके बड़ी मात्रा में पूंजी प्राप्त करना कठिन हो जाएगा। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के विस्तार के लिए मशीनों व संयंत्रों के आधुनिकीकरण के लिए पूंजी का बहाव आकर्षित नहीं किया जा सकेगा। अतः लाभ कमाने की विचारधारा व्यवसाय से पृथक नहीं की जा सकती है। व्यवसाय में जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है उन सबको जीवित रखने के लिए उचित दर का पारितोषिक दिया जाना आवश्यक है। यह पारितोषिक तभी दिया जा सकता है जबकि व्यवसाय में उचित दर का लाभ कमाने की क्षमता विद्यमान हो।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह मत है कि व्यवसाय में उचित दर का लाभ कमाना, व्यवसाय की कुशलता नापने का एक मापदंड है। इसका अर्थ यह है कि यदि व्यावसायिक क्रिया कुशलतापूर्वक संचालित की जाए और व्यवसाय के समस्त साधनों का प्रभावपूर्ण प्रयोग किया जाए तो व्यवसायी निश्चित रूप से उचित दर का लाभ कमा सकेगा। व्यवसाय में पर्याप्त कुशलता के अभाव का संकेत व्यावसायिक नीतियों में आवश्यक सुधारों का प्रेरक बन जाता है। इससे व्यवसायी को यह प्रेरणा मिलती है कि वह व्यावसायिक क्रिया को कुशलता से एवं प्रभावपूर्ण ढंग से संचालित करे।

ऊपर किए गए वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि व्यवसाय में लाभ कमाने का उद्देश्य प्रमुख है बशर्ते लाभ की दर एवं सीमा उचित हों। लेकिन इसके बावजूद लाभ कमाने के ही उद्देश्य को व्यवसाय का मूल एवं अंतिम उद्देश्य नहीं समझा जा सकता है क्योंकि केवल उचित दर का लाभ कमाना ही व्यावसायिक क्रिया को जीवित रखने के लिए आवश्यक नहीं है।

2. साकार संपत्ति का सृजन : लाभ कमाने के उद्देश्य के साथ साथ समाज के हित के लिए साकार संपत्ति का सृजन भी व्यवसाय का आर्थिक उद्देश्य है। व्यवसाय में लाभ प्रकृति की देन नहीं है इसके लिए व्यवसायी को व्यावसायिक क्रिया के द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तथा सृजन करके उसे समाज के लिए उपयोगी तथा संतुष्टि-

प्रदायक बनाना पड़ता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यवसायी ग्राहकों की आवश्यकताएं, रुचि, प्राथमिकताएं, रहन-सहन का स्तर तथा उनकी आर्थिक दशा को दृष्टि में रखकर, वस्तुओं का उत्पादन करके उसे सुविधाजनक स्थानों में उपलब्ध कराता है।

3. ग्राहक उत्पन्न करना : व्यवसायी व्यवसाय के विभिन्न साधनों को एकत्र करके तथा उनको संयोजित करके समाज के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करता है। इसके माध्यम से लाभ कमाने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसे वस्तुओं के ग्राहकों की खोज करनी पड़ती है ताकि उत्पादित वस्तुएं क्रय करने के लिए उन्हें प्रेरित करके वस्तुओं की मांग उत्पन्न की जा सके। इसको भी व्यवसाय का आर्थिक उद्देश्य समझा जाता है। यह उद्देश्य व्यवसाय के वितरण के क्षेत्र से अधिक संबंधित है। पीटर ड्रकर के शब्दों में 'व्यावसायिक संस्था को साकार संपत्ति उत्पादित करने के लिए समाज विभिन्न साधन इसलिए देता है कि साकार उत्पादित संपत्ति (वस्तुएं तथा सेवाएं) ग्राहकों को प्रदान की जाए।' इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवसाय का अंतिम उद्देश्य उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए ग्राहक उत्पन्न करना है। ग्राहक उत्पन्न करने के लिए व्यवसायी उसकी आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए वस्तुओं का उत्पादन करता है और ग्राहकों को उत्पादित वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रेरित करने हेतु तमाम बिक्रीवर्द्धक प्रयत्नों को अपनाता है ताकि बाजार में उत्पादित वस्तुओं की मांग को बनाया रखा जा सके और उसमें वृद्धि करके बाजार का विस्तार किया जा सके।

सामाजिक उद्देश्य

व्यावसायिक क्रिया आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक घटकों के संयोग से तैयार वातावरण में संचालित की जाती है। इसके फलस्वरूप व्यवसायी के समाज के प्रति तथा सरकार के प्रति भी कुछ दायित्व उत्पन्न हो जाते हैं। इन दायित्वों को पूरा करना व्यवसाय में निहित आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक है ताकि व्यवसायी व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर सके और व्यवसाय के विकास को आगे बढ़ा सके। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यवसाय समाज के विभिन्न वर्गों की सहायता से चलाया जाता है और व्यवसायी को समाज के द्वारा ही व्यवसाय के साधनों की उपलब्धि होती है। इस प्रकार व्यवसाय के निम्न सामाजिक उद्देश्य हो सकते हैं :

1. रोजगार की व्यवस्था : व्यावसायिक क्रिया समाज के विभिन्न वर्गों को रोजगार की व्यवस्था प्रदान करती है क्योंकि व्यवसाय प्रारंभ करने से समाज के विभिन्न सदस्य चाहे वे प्रबंधकों के रूप में कार्य करें या श्रमिकों के रूप में, अपनी आजीविका कमाते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवसाय प्रारंभ करके व्यवसायी स्वयं अपनी आजीविका कमाता है। व्यावसायिक क्रिया चाहे वस्तुओं के उत्पादन से संबंधित हो या उनके वितरण से, वस्तु का उत्पादन होने से लेकर उसे अंतिम ग्राहकों तक पहुंचाने के लिए विभिन्न मध्यस्थ तथा व्यापारी कार्यरत रहते हैं जैसे यातायात संस्थाएं, बीमा कंपनियां, बैंकिंग संस्थाएं। इनके द्वारा समाज के कई व्यक्तियों को रोजगार मिला है।

2. उचित किस्म की वस्तु का उत्पादन : व्यावसायिक साधनों के संयोजन से जो वस्तुएं एवं सेवाएं उत्पादित की जाती हैं उनका उपभोग अंतिम रूप से समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों द्वारा किया जाता है। अतः समाज के विभिन्न वर्गों के लिए उचित किस्म की वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करना ही व्यवसाय का कम महत्वपूर्ण उद्देश्य नहीं है। घटिया किस्म की वस्तुओं का उत्पादन, वस्तुओं में मिलावट, हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन केवल समाज के लिए ही घातक नहीं है बल्कि इससे व्यावसायिक संस्था के

अस्तित्व पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. उचित मूल्य का निर्धारण : समाज को उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर प्रदान करके ही संपूर्ण समाज के रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जा सकता है। अतः व्यवसाय का सामाजिक उद्देश्य उचित मूल्य की वस्तुएं प्रदान करना भी है क्योंकि ग्राहक सदैव यह प्रयास करता है कि वस्तुओं को क्रय करने में वह जो धन व्यय करे उससे उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। इसके विपरीत यदि व्यवसायी ग्राहकों से अधिक मूल्य वसूल करना चाहेगा तो इससे व्यवसाय के उद्देश्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधियों में स्वयं द्वंद्व उत्पन्न हो सकता है। उचित मूल्य से हमारा अभिप्राय उस मूल्य से है जिसमें व्यवसायी की वस्तु उत्पादित करने की लागत तथा उचित दर का लाभ सम्मिलित है। व्यवसाय में यह स्थिति एक आदर्श स्थिति है क्योंकि व्यवहार में यह पाया जाता है कि व्यवसायी सदैव यह प्रयत्न करता है कि वह ग्राहक से अधिक से अधिक मूल्य वसूल कर सके। परंतु उसकी चेष्टा किसी न किसी सीमा के बाद असफल हो जाती है।

4. समाज के साधनों का सदुपयोग : व्यवसाय को समाज के जो साधन उपलब्ध रहते हैं उनका अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना भी व्यवसाय का सामाजिक उद्देश्य समझा जाता है। क्योंकि यदि इन साधनों का व्यवसाय में सदुपयोग न किया जाए तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यावसायिक संस्था की लाभ कमाने की क्षमता पर पड़ता है और इससे न तो पूंजी के विनियोजकों को उचित दर की आय प्राप्त हो सकती है न श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक और न ग्राहकों को उचित किस्म की वस्तुएं ही।

5. सामाजिक कल्याण : व्यवसाय के समाज के प्रति दायित्वों में यह भी सम्मिलित है कि व्यवसायी अपने व्यवसाय की नीतियों का इस प्रकार निर्धारण करे कि उनका समाज के हितों पर विपरीत प्रभाव न पड़े बल्कि इनसे समाज हर प्रकार से लाभान्वित हो और व्यवसाय तथा समाज में पूर्ण समन्वय बनाए रखा जा सके, व्यवसाय के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि व्यवसायी व्यवसाय की समृद्धि तथा प्रगति के फलस्वरूप प्राप्त लाभ में से कुछ हिस्सा समाज कल्याण के लिए भी प्रदान करता रहा है ताकि उसे समाज में प्रतिष्ठित स्थान मिल सके और वह समाज से व्यवसाय के लिए आवश्यक सहायता प्राप्त कर सके।

व्यवसाय में मानवीय तत्वों के लिए उचित व्यवस्था

व्यवसाय में मानवीय तत्वों का एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि चाहे वह अंशधारी हो, ऋणदाता हो, श्रमिक व कर्मचारी हो या ग्राहक सबकी इच्छाओं तथा भावनाओं को संतुष्ट किया जाना ही व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है, क्योंकि यदि श्रमिकों के साथ व्यवसाय में उचित तथा न्यायपूर्ण व्यवहार न किया जाए तो इसका उनकी उत्पादन क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, पूंजी के विनियोगकर्ताओं की भावनाएं संतुष्ट न होने पर व्यवसाय के विस्तार के लिए अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करना कठिन हो जाता है और इसी प्रकार ग्राहकों को संतुष्ट न करने से व्यवसाय के प्रति उनका विश्वास कम हो जाएगा। इन सब मूल कारणों से व्यावसायिक संस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। अतः व्यवसाय केवल लाभ कमाने का साधन ही नहीं है बल्कि इसे मानव उपयोगिता तथा संतुष्टि का भी महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है।

1. श्रमिकों तथा कर्मचारियों की संतुष्टि : श्रम उत्पादन का मुख्य साधन है और कार्यरत श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करना व्यवसायी का नैतिक कर्तव्य है। यदि श्रमिक अपने कार्य निष्पादन में संतुष्ट न हों तो इसका उनकी

कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। उनकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें उचित पारिश्रमिक दिया जाए, समय समय पर अन्य आर्थिक लाभ प्रेरक के रूप में दिए जाएं, उनकी कार्य करने की दशाओं में आवश्यक संभव सुधार किए जाएं, उनके साथ उदार श्रम नीतियों का प्रयोग किया जाए और उनके विकास के लिए अन्य आवश्यक प्रयत्न किए जाएं ताकि उनमें व्यवसाय के प्रति अपनत्व की भावना जाग्रत की जा सके और वे व्यवसाय में अपने को भागीदार समझ कर परिश्रम, ईमानदारी तथा कुशलता से कार्य कर सकें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक या कर्मचारी की अपनी प्रतिष्ठा होती है। उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए उसकी प्रतिष्ठा को बनाए रखना और इसे बढ़ावा देना आवश्यक है।

2. **ग्राहकों की संतुष्टि :** जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्राहक व्यवसाय की आधारशिला है। आधुनिक विपणन विचारधारा के अनुसार व्यवसाय में वस्तुओं का उत्पादन ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए ताकि उन्हें उसके उपभोग से पूर्ण संतुष्टि प्राप्त हो सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी बदलती आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर नई नई वस्तुएं उत्पादित की जाएं और उनको उचित किस्म की वस्तु उचित मूल्य में उपलब्ध कराई जाए।

3. **विनियोगकर्ताओं की संतुष्टि :** चाहे व्यवसाय प्रारंभ किया जाए या उसमें विस्तार किया जाए व्यवसायी को इसके लिए पूंजी की आवश्यकता होती है। व्यवसाय में पूंजी की इस पर्याप्तता को बनाए रखने के लिए संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप को जन्म मिला है। पूंजी के व्यवसाय में महत्व को ध्यान में रखते हुए व्यवसायी के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यवसाय में जिन व्यक्तियों के सहयोग से पूंजी प्राप्त करता है, जैसे अंशधारी, ऋणपत्रधारी, बैंकर्स तथा अन्य वित्तीय संस्थाएं, उनको अपनी स्थिति एवं क्षमता से यह आश्वासन दे कि उनका मूलधन व्यवसाय में सुरक्षित है और उन्हें उनके विनियोग में प्रतिवर्ष उचित दर की आय प्रदान करे। इसके अतिरिक्त विनियोगकर्ताओं को समय समय पर व्यवसाय की आर्थिक स्थिति के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रदान करे ताकि उनका व्यवसाय के प्रति विश्वास बना रहे।

सरकार के प्रति दायित्व

व्यावसायिक वातावरण में राजनीतिक घटक भी संयोजित रहते हैं इसीलिए व्याप्त राजनीतिक वातावरण अथवा उसमें कोई परिवर्तन स्वाभाविक रूप से व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त अलग अलग शासन पद्धतियों में सरकार का व्यवसाय के प्रति व्यवहार भी भिन्न होता है, जैसे भारत में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के अंतर्गत यदि सरकार यह महसूस करती है कि किसी व्यवसाय विशेष में ग्राहकों का शोषण हो रहा है या व्यावसायिक संस्था कुशलतापूर्वक प्रबंधित एवं संचालित नहीं है तो ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करके उस व्यवसाय में संलग्न विभिन्न वर्गों के हितों की सुरक्षा करती है, जबकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा व्यवसायी को अधिक महत्व दिया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए व्यवसायी को सरकार की नीतियों का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए। उन्हीं के अनुकूल व्यवसाय की नीतियों का निर्धारण करना चाहिए। इसके संबंध में व्यवसायी के सरकार के प्रति निम्न दायित्व होते हैं :

1. व्यवसाय से संबंधित सरकारी नियमों तथा उपनियमों का पूर्णतया पालन करना।
2. सरकार द्वारा निर्धारित करों का भुगतान करना।

3. वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके एवं जमाखोरी तथा मिलावट से मुनाफाखोरी न करना।
4. सरकार की नीतियों के अनुसार समाज कल्याण के कार्यों में सरकार को सहायता प्रदान करना।

व्यवसाय के उद्देश्यों का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि व्यवसाय के ये सारे उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवसायी व्यावसायिक साधनों को जीवित रखने के लिए उचित दर का लाभ तभी अर्जित कर सकता है यदि उसे समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति एवं सरकार के प्रति अपने दायित्वों का आभास हो और इन दायित्वों को पूर्णरूप से निभाए। इसके विपरीत व्यवसायी इन दायित्वों को तभी पूरा कर सकता है जब उसे व्यवसाय में उचित दर की आय प्राप्त हो रही हो। निष्कर्ष में समाज के साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से संयोजन एवं संचालन करके तथा उचित किस्म की वस्तुएं उत्पादित करके उनको उचित मूल्यों में बेच कर उचित दर का लाभ कमाना व्यवसाय का उद्देश्य होना चाहिए। व्यवसाय में यह एक आदर्श स्थिति है क्योंकि व्यवहार में व्यवसायी इन समस्त उद्देश्यों को संतुलित करते हुए अपने मुख्य उद्देश्य (उचित लाभ कमाना) को पूरा करता है। इनमें से कुछ दायित्वों को तो वह पूर्णतया निभाता है और कुछ उद्देश्यों के प्रति उसमें उदासीनता बनी रहती है।

व्यवसाय का संगठन

व्यावसायिक क्रिया कुछ निर्दिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संचालित की जाती है। व्यवसाय की सफलता, प्रगति व विकास इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति पर निर्भर हैं। व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संस्था में विभिन्न कर्मचारी एवं श्रमिक नियुक्त किए जाते हैं जो तमाम कार्य एवं क्रियाएं निष्पादित करते हैं। संस्था में समस्त कर्मचारियों के कार्यों एवं क्रियाओं को सुव्यवस्थित ढंग से संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समन्वित करना संगठन कहलाता है।

विशेष रूप से सामूहिक क्रियाओं द्वारा सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठनात्मक ढांचा तैयार किया जाना आवश्यक है क्योंकि स्पष्ट संगठन के ढांचे के अभाव में विभिन्न व्यक्ति अलग अलग तरह से कार्य करेंगे और उनके कार्य में किसी प्रकार का तालमेल नहीं रहेगा। यदि संगठनात्मक ढांचा तैयार किया गया है तो इस ढांचे में प्रत्येक व्यक्ति की एक स्थिति होगी और उसका कार्य अन्य कर्मचारियों के कार्यों से जुड़ा रहेगा। इससे संस्था के सामान्य उद्देश्य आसानी से प्राप्त किए जा सकेंगे।

जैसा हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यावसायिक विचार अथवा प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए तमाम आवश्यक साधनों को एकत्रित किया जाता है। समस्त साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाए, यह तभी संभव है जब इन साधनों का प्रयोग करने वाले समस्त कर्मचारियों तथा श्रमिकों का कार्य एक सुव्यवस्थित ढंग से संगठित किया जाए।

व्यापक अर्थों में संगठन में वे सभी प्रारंभिक तथा व्यावहारिक कार्य सम्मिलित हैं जिन्हें व्यावसायिक संस्था को स्थापित करने तथा उसे सुचारु रूप से संचालित करने के लिए निष्पादित किया जाता है, इसके अंतर्गत व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मानवीय तथा गैर मानवीय साधनों को एकत्रित करना तथा उनका अधिकतम प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करना सम्मिलित है।

संगठन शब्द को विभिन्नलेखकों द्वारा अलग अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। कुछ परिभाषाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है। एल० एच० हैने के अनुसार,

'किसी सामान्य उद्देश्य तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न विशिष्ट अंगों की समन्वित व्यवस्था का संगठन कहा जाता है । इस परिभाषा में संगठन शब्द को व्यापक अर्थों में परिभाषित किया गया है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार संस्था अपने सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समस्त आवश्यक साधनों को समन्वित ढंग से संयोजित करती है अर्थात व्यवसाय के तमाम साधनों, जैसे पूंजी, श्रम, भूमि, भवन, मशीन, प्रबंध आदि में समन्वय उत्पन्न करके अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उनका उपयोग करती है ।

ह्वीलर के शब्दों में, 'संगठन कार्य की रूपरेखा है जिसके फलस्वरूप संस्था के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों को संचालित करने हेतु यंत्र संरचना तैयार होती है ।' इस परिभाषा के अंतर्गत व्यवसाय के विभिन्न साधनों की समन्वित व्यवस्था के ऊपर बल न देकर संगठन को संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की यंत्र संरचना कहा गया है । यह यंत्र संरचना कार्यों की रूपरेखा से उत्पन्न होती है जिसके अनुसार कार्य करके संस्था अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती है, इस परिभाषा को पूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इसमें केवल कार्य की रूपरेखा पर अधिक बल दिया गया है जबकि व्यवहार में बिना समन्वय के सामूहिक क्रियाओं से सामान्य उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है ।

इसी प्रकार कुन्ट्ज ओ० डोनेल के अनुसार, 'संगठन संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक क्रियाओं का समूहीकरण है और इसके अंतर्गत प्रत्येक समूह को इसका निरीक्षण करने के लिए आवश्यक अधिकारों के साथ प्रबंधकों मे वितरित कर दिया जाता है ।' संगठन शब्द की यह परिभाषा संगठनात्मक ढांचे की ओर संकेत करती है न कि संगठन प्रक्रिया की ओर क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समस्त क्रियाओं को विभिन्न समूहों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक समूह आवश्यक अधिकारों के साथ प्रबंधकों में वितरित कर दिया जाता है ।

ऊपर बताई गई परिभाषाओं के अनुसार संगठन या तो संगठनात्मक ढांचा है जो संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए तैयार की गई कार्यों की रूपरेखा है और जिसमें प्रत्येक कार्य दूसरे कार्य के साथ संबंधित तथा समन्वित रहता है, या संगठन को एक प्रक्रिया समझा जा सकता है जिसके द्वारा संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मानवीय तथा गैर मानवीय साधनों को एकत्रित किया जाता है और अधिकम कुशलतापूर्वक उनका उपयोग किया जाता है ।

यदि संगठन को एक प्रक्रिया या कार्य पद्धति के रूप में समझा जाए जो कार्य की रूपरेखा से भी संबंधित है तो इस कार्यपद्धति या प्रक्रिया में निम्न मूल तत्व सम्मिलित रहते हैं ।

1. कार्य का निर्धारण : इसमें व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक क्रियाओं तथा कार्यों का निर्धारण कर लिया जाता है और उन कार्यों तथा क्रियाओं की एक विस्तृत सूची तैयार कर ली जाती है ।

2. कार्य का विभाजन : इस प्रकार निर्धारित कार्यों तथा क्रियाओं को उनकी प्रकृति तथा उन्हें निष्पादित करने के लिए आवश्यक कुशलता निपुणता एवं योग्यता को ध्यान में रखकर समस्त कार्यों एवं क्रियाओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है ।

3. कार्य का वितरण : समान प्रकृति के कार्यों को एक ही वर्ग में रखते हुए इस प्रकार तैयार प्रत्येक वर्ग को संस्था में रचित विभिन्न विभागों में वितरित कर दिया जाता है, और प्रत्येक विभाग अथवा कर्मचारी उस कार्य को करने के लिए जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है ।

4. अधिकार सौंपना : कार्य का विभिन्न वर्गों में या व्यक्तियों में वितरण करने के पश्चात यह आवश्यक है कि उन विभागों तथा व्यक्तियों को उन्हें सौंपे गए कार्य के निष्पादन से संबंधित आवश्यक अधिकार भी सौंप दिए जाते हैं ताकि वे अपने कार्य को कुशलतापूर्वक प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित कर सकें।

5. समन्वय उत्पन्न करना : संगठन को रचित करने का एकमात्र उद्देश्य संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति को सहज एवं सुगम बनाना है तथा उसके लिए समस्त कर्मचारियों का सहयोग प्रदान करना है। यह तभी संभव है जबकि, संस्था के संगठन के अंतर्गत विभिन्न विभागों तथा कर्मचारियों के कार्यों एवं क्रियाओं में तालमेल उत्पन्न किया जाए अथवा उन्हें समन्वित किया जाए। संस्था के आकार में वृद्धि के फलस्वरूप संगठनात्मक ढांचा अधिक जटिल होता जाता है क्योंकि इससे कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होती है और कार्यों में विशिष्टीकरण उत्पन्न होने लगता है जिसके फलस्वरूप समन्वय उत्पन्न करने का कार्य भी और गंभीर प्रकृति का होता जाता है। अर्थात एक बड़ी व्यावसायिक संस्था में स्थापित विभिन्न विभाग यदि एक दूसरे से संबंधित तथा समन्वित न हों तो इससे व्यवसाय के उद्देश्य प्राप्त करना असंभव है। उदाहरण के लिए उत्पादन विभाग द्वारा उत्पादन योजना इस प्रकार से तैयार की जानी चाहिए कि उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए वित्त विभाग पर्याप्त वित्त प्रदान कर सके, कर्मचारी विभाग आवश्यक कर्मचारियों एवं श्रमिकों की व्यवस्था कर सके, क्रय विभाग आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध करा सके और विपणन विभाग समस्त उत्पादन को यथासमय उचित मूल्यों में बेच सके।

संक्षेप में संगठन एक ऐसी कार्य पद्धति है जिसमें संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निष्पादित की जाने वाली आवश्यक क्रियाओं के रूप में एक प्रभावपूर्ण क्रम निर्धारित किया जाता है। समय का क्रम प्रत्येक कार्य के साथ संबंधित कर दिया जाता है ताकि संस्था का प्रत्येक कार्य अधिकतम कुशलतापूर्वक निष्पादित किया जा सके।

व्यवसाय का उद्गम एवं विकास

व्यवसाय का संबंध मानव सभ्यता के विकास से है और मानव सभ्यता के विकास में उसकी आवश्यकताओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आदिकाल से ही मनुष्य किसी न किसी प्रकार अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करता आया है। मानव की यही आवश्यकताएं आविष्कार की जननी बनीं और मानव सभ्यता में विकास होते गए। प्रारंभिक काल में मनुष्य की आवश्यकताएं बिल्कुल सीमित थीं जो मुख्य रूप से पेट भरने के लिए भोजन, तन ढकने के लिए वस्त्र तथा रहने के लिए स्थान की खोज तक सीमित समझी जाती थीं और इस युग में मनुष्य जंगली फलों, कंदमूल तथा शिकार द्वारा अपने भोजन की आवश्यकता पूरी कर लेता था और जंगली जानवरों की खालों एवं पेड़ों की छालों का प्रयोग तन ढकने के लिए करता था तथा रहने के लिए गुफाओं की शरण लेता था। संक्षेप में वह अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर था।

जैसा ऐतिहासिक तथ्यों से पता चलता है कि पूर्णतया प्रकृति पर अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहने से मानव को कठिनाई महसूस होने लगी क्योंकि कभी कभी उसको भूखा रहना पड़ता था, उसके जीवन में व्यवस्था का पूर्ण अभाव था। अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ वह उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किसी व्यवस्था की तलाश करने लगा। उसकी इसी इच्छा से श्रम विभाजन तथा वस्तु विनिमय आदि पद्धतियों का विकास हुआ और मानव सभ्यता के इसी चरण से व्यवसाय का प्रादुर्भाव हुआ। हालांकि उस समय व्यावसायिक क्रिया का स्वरूप व प्रकृति बिल्कुल स्पष्ट न

थी तथापि मूल रूप से किसी न किसी स्वरूप में यह व्यवसाय का ही एक अंग था।

व्यवसाय के विकास को भलीभांति समझने के लिए इसे तीन वर्गों में बांटा जा सकता है जिसका अध्ययन मानव सभ्यता की अलग अलग क्रमागत अवस्थाओं के माध्यम से किया जा सकता है क्योंकि व्यवसाय का विकास मानव सभ्यता के विकास से संलग्न है। संपूर्ण व्यवसाय का विकास समझने के लिए इसका सुविधानुसार निम्न प्रकार अध्ययन किया जा सकता है: (1) वाणिज्य का विकास, (2) उद्योगों का विकास, (3) आधुनिक औद्योगिक युग।

वाणिज्य का विकास

1. आत्मनिर्भरता का युग : इस युग को मानव सभ्यता के विकास का प्रथम चरण समझा जाता है। इसे आत्मनिर्भरता का युग भी कहा जाता है क्योंकि इस युग में मनुष्य की आवश्यकताएं बिल्कुल सीमित थीं और उनको वह प्राकृतिक साधनों से स्वयं पूरा कर लिया करता था। हालांकि मानव इस युग में एक व्यवस्थित जीवन (परिवार के रूप में) निर्वाह करता था फिर भी प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे परिवारों पर निर्भर नहीं रहता था। इस युग में मानव की मुख्य क्रियाएं जंगली जानवरों का शिकार करना, जंगली फल एवं कंदमूल एकत्रित करना तथा लकड़ी एवं पत्थर के हथियार बनाने तक सीमित थीं। परिवार की व्यवस्था का विकास होने से सदस्य अलग अलग प्रकार के कार्य करने लगे जो श्रम विभाजन का प्रारंभिक रूप था फिर भी आत्मनिर्भरता के कारण वाणिज्य का उद्गम न हो सका।

2. पशुपालन युग : इस युग में मानव सभ्यता कुछ विकसित हुई और जीवन की व्यवस्था को अधिक महत्व मिला क्योंकि अपने जीवन का व्यवस्थित ढंग से निर्वाह करने के लिए मानव जंगली जानवरों को मारने के बजाय उनको पालने लगा और इस प्रकार उनके बालों से तन ढकने के लिए वस्त्र एवं भोजन के लिए उनसे प्रातःकाल दूध प्राप्त करने लगा। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर उन्हें मार कर वह अपनी भोज्य-व्यवस्था बनाए रखता था। इस युग में मानव भ्रमणशील बन गया और चारागाहों की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थानों तक जाने लगा। पशुपालन ही उसके जीवन निर्वाह का मुख्य साधन बन गया। इस युग में भी वह काफी हद तक स्वावलंबी बना रहा।

3. कृषि युग : मानव के ज्ञान में वृद्धि के फलस्वरूप उसको प्रकृति का रहस्य ज्ञात होने लगा और उसका ध्यान पशुपालन के अतिरिक्त पेड़-पौधे लगाने की ओर जाने लगा। उसने खेती करनी प्रारंभ कर दी। फिर इससे उसकी भ्रमणशीलता कम हो गई क्योंकि खेती की देखभाल करने के लिए उसे एक निश्चित स्थान पर ही मौजूद रहना पड़ता था। कृषि की व्यवस्था से प्रभावित होकर लोग अब समूह बना कर रहने लगे और मानव सामाजिक प्राणी बन गया। इससे कठिनाई के समय एक दूसरे की सहायता करना और परस्पर अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का लेनदेन करना प्रारंभ हुआ। धीरे धीरे ये लेन-देन 'वस्तुविनिमय' का रूप धारण करने लगा, जिसके प्रमुख कारण मानव के ज्ञान में वृद्धि, व्यवस्थित जीवन निर्वाह करने की इच्छा तथा समाज की संरचना आदि हैं। मानव विकास की इसी अवस्था से वाणिज्य का प्रादुर्भाव हुआ।

4. हस्तकला का युग : मानव सभ्यता में विकास के फलस्वरूप उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि स्वाभाविक थी और वह यह महसूस करने लगा कि वह अपनी समस्त आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता है, जैसे वह कृषि के लिए आवश्यक औजार स्वयं नहीं बना सकता था। इसी प्रकार पानी की व्यवस्था के लिए उसे चमड़े के थैलों की आवश्यकता होती थी। अतः वह अपनी इन आवश्यकताओं की वस्तुओं के लिए समाज के

अन्य वर्गों पर निर्भर रहता था। इस युग में मानव के कार्यों का विभाजन, विशिष्टीकरण तथा वस्तु विनिमय की पद्धति का पूर्णतया प्रचलन हो चुका था। जो व्यक्ति अलग अलग प्रकार का कार्य करते थे उनको कार्य में विशिष्टीकरण के कारण अलग अलग नामों से पुकारा जाता था, जैसे तेल का कार्य करने वाला व्यक्ति तेली कहलाता था और लकड़ी के औजार बनाने वाले को बढ़ई कहा जाता था। ये सब विभिन्न कार्य करने वाले व्यक्ति मुख्य रूप से खेती के कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए आवश्यक औजार तथा अन्य सामग्री उपलब्ध कराते थे। इस युग को हस्तकला का युग इसलिए कहा जाता है कि इस युग में कृषि कार्य के लिए जिन औजारों तथा अन्य आवश्यक सामग्री का प्रयोग किया जाता था वे विभिन्न व्यक्तियों द्वारा हाथ से तैयार किए जाते थे।

5. व्यापारिक युग : मनुष्य की आवश्यकताएं कालांतर में लगातार बढ़ती गईं और उनको पूरा करने के लिए नई नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। इस युग की मुख्य विशेषता यह है कि इस युग में समाज के अंतर्गत एक नए वर्ग को जन्म मिला जिसे व्यापारी वर्ग कहा जाता है। ये व्यापारी दूर दूर स्थानों से आवश्यक कच्चा माल जानवरों के माध्यम से यातायात करके हस्तकला में निपुण कारीगरों तक पहुंचाते थे और उनके द्वारा तैयार माल दूसरे गांवों में ले जाकर बेचते थे। लेनदेन में विनिमय की कठिनाई से मुद्रा का प्रादुर्भाव हुआ और व्यापार दिन प्रतिदिन विकसित होता गया। इस युग के अंत तक विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय कुछ निश्चित सुविधाजनक केंद्रों में किया जाने लगा जिन्हें बाजार कहा गया।

6. नगर अर्थव्यवस्था : व्यापारिक युग में वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए जो निश्चित केंद्र स्थापित किए गए थे उनका विस्तार हो जाने से वे धीरे धीरे कस्बों में परिवर्तित होने लगे। इस अर्थव्यवस्था के अंतर्गत व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की संख्या में वृद्धि हुई और व्यापार के पैमाने के आधार पर व्यापार को दो मुख्य भागों में बांट दिया गया : थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार। थोक व्यापारी प्रत्यक्ष रूप से किसानों से तथा कारीगरों से उनका समस्त उत्पादन क्रय करके बाजारों में स्थित छोटे छोटे व्यापारियों को थोड़ी थोड़ी मात्रा में बेचने लगे और फुटकर व्यापारी, जो कि मुख्य रूप से बाजारों में स्थित रहते थे, थोक व्यापारियों से वस्तुएं क्रय करके प्रत्यक्ष रूप से ग्राहकों को बेचते थे। इसके अतिरिक्त उत्पादन तथा वितरण को सहज बनाने के लिए बैंक, बीमा संस्थाएं, यातायात संस्थाएं अस्तित्व में आईं। व्यापार के लिए इन सब साधनों के विकास के फलस्वरूप आज एकल व्यापार, साझेदारी, संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय, संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप हमारे सम्मुख हैं और अब व्यापार कुछ विशेष स्थानों, कस्बों तथा नगरों में ही सीमित नहीं है बल्कि एक देश से अन्य देशों के बीच वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगा है जिसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है। इससे वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई, उत्पादन के लिए बड़ी बड़ी मशीनों तथा अन्य वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किया गया तथा श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण को बल मिला। इसी प्रकार वस्तुओं का वितरण करने के लिए उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच कई मध्यस्थ संस्थाएं कार्य करने लगी हैं जैसे यातायात संस्थाएं, बीमा संस्थाएं, थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी आदि। आज व्यवसाय का जटिल स्वरूप हमारे सम्मुख है। इससे यह स्पष्ट है कि वाणिज्य का विकास मानव की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हुआ।

उद्योगों का विकास

वाणिज्य के विकास की भांति उद्योगों का विकास भी कई क्रमिक अवस्थाओं में हुआ जिनका संक्षेप में आगे वर्णन किया जा रहा है।

1. दस्तकारी युग : उद्योगों के विकास के प्रथम चरणों में मनुष्य अपने कृषि कार्य के साथ साथ आवश्यक अन्य वस्तुएं भी बनाने लगा, जैसे लोहे व लकड़ी के औजार, मिट्टी के बरतन, पेड़-पौधों के रेशे से टोकरियां एवं चटाइयां, जानवरों की खालों से अन्य वस्तुएं। इसी-लिए इस युग को दस्तकारी युग कहा जाता है और जो व्यक्ति इन वस्तुओं का उत्पादन करते थे उन्हें 'दस्तकार' कहा गया। इस युग में श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण को पूर्ण महत्व मिला है क्योंकि यदि परिवार में सदस्य कम होते थे तो बाहर से लोगों को कार्य में लगाकर कृषि तथा दस्तकारी का कार्य किया जाता था। कृषि कार्य दस्तकारी से अलग था और दस्तकारी में भी अलग अलग व्यक्ति अलग अलग प्रकार का कार्य करते थे। इस प्रकार वे अपने कार्य में विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि से अच्छी किस्म की वस्तुएं बनाने लगे।

2. औद्योगिक संघ युग (गिल्ड्स स्टेज) : वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन कार्य घरों के बजाय अलग कारखानों में किया जाने लगा। आपस में सहयोग की भावना बनाए रखने के लिए एवं अपने हितों की रक्षा करने के लिए समस्त दस्तकार मिलकर संघ बनाने लगे। इसीलिए औद्योगिक विकास के इस युग को औद्योगिक संघ युग कहा जाता है। परंतु कालांतर में मानव की आवश्यकताओं में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होती गई। ये संघ धीरे धीरे समाप्त होने लगे क्योंकि ये बड़े बड़े उद्योगों के लिए उपयुक्त न थे। बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना के साथ औद्योगिक क्षेत्र में दो विशेष वर्ग उभरे। एक तो पूंजीपतियों का वर्ग जिनका मुख्य कार्य उद्योगों के लिए आवश्यक साधनों को एकत्रित करना और उन्हें आवश्यक पूंजी उपलब्ध कराना था और दूसरा उन श्रमिकों तथा दस्तकारों का वर्ग जो औद्योगिक विकास के प्रथम चरणों में स्वयं वस्तुओं का हाथ से उत्पादन करते थे और ग्राहक तथा व्यापारियों में बेचते थे पर इस युग में वे पूंजीपतियों के साथ मशीनों में श्रमिकों की हैसियत से कार्य करने लगे।

3. औद्योगिक क्रांति : अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के बीच यूरोपीय देशों में, विशेष रूप से इंग्लैंड में उद्योगों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप विश्व के समस्त उद्योग प्रभावित हुए। उद्योगों में परिवर्तनों की इन शृंखलाओं को औद्योगिक क्रांति कहा जाता है क्योंकि इस क्रांति से उद्योगों में मूल परिवर्तन हुए। औद्योगिक क्रांति के कारणों में मुख्य रूप से व्यापार का विस्तार, विज्ञान तथा तकनीकी क्षेत्र में उन्नति, मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि आदि हैं। वस्तु की बढ़ती हुई मांग को श्रम पर आधा-रित उद्योगों द्वारा पूरा न किया जा सका और उत्पादन की विधियों में आधारभूत परि-वर्तनों की आवश्यकता महसूस की गई। औद्योगिक क्रांति इंग्लैंड से इसलिए प्रारंभ हुई क्योंकि उस समय इंग्लैंड वस्तुओं के निर्यात के लिए विश्व में प्रसिद्ध था, वहां राजनीतिक स्थिरता थी, सुव्यवस्थित बैंकिंग व्यवस्था की विद्यमानता से पूंजी का अभाव न था। इन सब अनुकूल परिस्थितियों के कारण उत्पादन के नए नए तरीके अपना कर वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जानी आवश्यक समझी गई। औद्योगिक क्रांति से इंग्लैंड के उद्योगों में जो परिवर्तन हुए उनमें निम्न मुख्य हैं :

(i) उत्पादन के लिए नई मशीनों एवं उत्पादन विधियों का आविष्कार,
(ii) सूती कपड़ा कातने तथा बुनने के लिए नई यांत्रिक विधियों का आविष्कार,
(iii) वाष्प शक्ति का प्रयोग,
(iv) यातायात एवं संचार के साधनों का विकास,
(v) कोयला एवं खनिज उद्योगों का विकास,
(vi) वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए समय तथा श्रम में बचत करने वाली **मशीनों का प्रयोग।**

औद्योगिक क्षेत्र में इन सब क्रांतिकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाने लगा और वस्तुओं की उत्पादन लागत कम हो गई। यह औद्योगिक क्रांति जिसका उद्गम इंग्लैंड में हुआ, धीरे धीरे विश्व के अन्य देशों में फैलती गई और इससे वास्तव में उद्योगों को अनुकूल वातावरण उपलब्ध हो सका।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव : 1. औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन के क्षेत्र में नई मशीनों तथा नई उत्पादन विधियों के प्रयोग से समय एवं श्रम की बचत हुई।

2. बड़ी बड़ी मशीनों के प्रयोग से कारखाना पद्धति का विकास हुआ। इन मशीनों की स्थापना करने के लिए बड़ी बड़ी इमारतें बनीं और मजदूरों का एक ही स्थान में एकत्रीकरण होने से उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की देखभाल में आसानी बनी रही।

3. बड़े पैमाने पर कारखानों में उत्पादन संचालित करने के लिए व्यवसाय के विद्यमान स्वरूप एकल व्यापार तथा साझेदारी अधिक उपयुक्त नहीं समझे गए और महत्वपूर्ण स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी का विकास हुआ तथा व्यावसायिक इकाइयों के आकार में विस्तार के कारण व्यावसायिक संस्थाएं संयोजित होने लगीं।

4. उद्योगों का एकत्रीकरण उन स्थानों में होने लगा जहां आसानी से आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सके और तैयार माल की खपत के लिए बाजार नजदीक हों। इसके अतिरिक्त उत्पादन के लिए अन्य आवश्यक सुविधाएं प्रदान हो सकें।

5. औद्योगिक क्रियाओं के एकत्रीकरण से श्रम में गतिशीलता आई क्योंकि बड़ी संख्या में श्रमिक गांवों एवं देहातों से औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए आने लगे और वहां उनका एकत्रीकरण होने लगा।

6. वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने से अतिरिक्त माल की खपत करने के लिए नए नए बाजारों की तलाश की गई और इसके फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार किया जाने लगा।

7. औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यातायात के साधनों का विकास हुआ क्योंकि बड़े पैमाने के उत्पादन की खपत के लिए यह आवश्यक था कि नए नए बाजार ढूंढ़े जाएं और विद्यमान बाजारों का विस्तार किया जाए। दूर दूर स्थानों के बाजारों तक वस्तुएं पहुंचाने के लिए यातायात के पुराने साधन उपयुक्त न समझे गए। इसीलिए उनके स्थान पर तीव्र गति वाले तथा सुरक्षित साधनों का विकास हुआ। सड़क, रेल मार्गों में विस्तार किया गया और सामुद्रिक मार्गों में आवश्यक सुधार करके उन्हें यातायात के लिए अधिक उपयुक्त बनाया गया।

आधुनिक औद्योगिक युग

आधुनिक औद्योगिक युग उन औद्योगिक प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपक्व रूप है जिनका जन्म मानव सभ्यता के प्रारंभिक काल में ही हो गया था। हालांकि प्रारंभिक काल में इन प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण इन पर अधिक ध्यान न दिया गया। ये प्रवृत्तियां मुख्य रूप से उत्पादन क्रिया से संबंधित थीं, जैसे श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण तथा प्रमापीकरण आदि। इन औद्योगिक प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के अतिरिक्त विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में हुई उन्नति ने भी आधुनिक औद्योगिक युग को महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने में सहयोग दिया है। गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो मानव बहुत पहले से इन साधनों की खोज में था क्योंकि उसको वस्तुओं का उत्पादन करने में आनुपातिक रूप से कहीं अधिक मानसिक एवं शारीरिक श्रम का प्रयोग करना पड़ता था। आज कम से कम शारीरिक तथा मानसिक श्रम से यथासंभव अधिक उत्पादन किया जाना संभव है आज के औद्योगिक युग में वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए नई नई मशीनों

तथा आवश्यक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है और उत्पादन कार्य के लिए पहले ही विस्तृत योजना तैयार कर ली जाती है जिसके द्वारा उत्पादन के आवश्यक तत्व समय एवं स्थान के दृष्टिकोण से एक दूसरे से संबंधित और समन्वित रहते हैं।

संक्षेप में आधुनिक औद्योगिक युग की मुख्य प्रवृत्तियां निम्न हैं :

1. औद्योगिक इकाइयों की संख्या एवं आकार में वृद्धि एवं विस्तार, संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप तथा व्यावसायिक संयोजन ।
2. उत्पादन कार्यों में विशिष्टीकरण ।
3. उत्पादन का प्रमापीकरण ।
4. उत्पादन क्रियाओं एवं कार्यों में श्रम विभाजन ।
5. उत्पादन कार्य को संचालित एवं प्रबंधित करने के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग ।
6. औद्योगिक नियोजन ।
7. यातायात, बीमा तथा बैंकिंग सुविधाओं का सुव्यवस्थित होना ।

2

नए व्यवसाय का प्रवर्तन

किसी नए व्यवसाय को जन्म देना और उसे सफल बनाना वास्तव में एक कठिन एवं पेचीदा कार्य है। नए व्यवसाय को प्रारंभ करने एवं उसे सुचारु रूप से संचालित करने में कई समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं का समाधान करके ही व्यवसायी व्यवसाय को सफलता की ओर ले जा सकता है। जहां एक ओर व्यावसायिक क्रिया प्रारंभ करने के संबंध में तमाम वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं वहां दूसरी ओर विभिन्न साधनों को जुटाकर भविष्य की अनिश्चितताओं के बीच व्यावसायिक क्रिया को साकार बनाया जाता है। व्यवसाय में भविष्य जोखिमपूर्ण होता है और व्यावसायिक क्रिया इसी जोखिमपूर्ण वातावरण (जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक घटकों का संयोजन है) में संचालित की जाती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक व्यवसाय में बढ़ती हुई प्रतियोगिता, मानव सभ्यता का विकास तथा विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में हुई उन्नति आदि कारणों ने व्यवसाय को और अधिक विस्तृत एवं जटिल बना दिया है और आधुनिक युग में कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएं स्वयं उत्पादित नहीं कर सकता है। उनके द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण करने में हजारों व्यावसायिक इकाइयां संलग्न हैं।

व्यवसाय शब्द काफी विस्तृत एवं व्यापक है। इसमें वे तमाम आर्थिक क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण करके मानव आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। व्यवसाय प्रारंभ करने से पूर्व व्यवसायी के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वह प्रस्तावित व्यावसायिक क्रिया से संबंधित उन समस्त तत्वों का अध्ययन करे जो उसके व्यवसाय को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। वैसे व्यावसायिक सफलता के लिए सही भविष्यवाणी करना संभव नहीं है फिर भी बाह्य रूप से निर्णायक तत्वों का विश्लेषण करके यह बताना असंभव नहीं होगा कि ये तत्व भविष्य में व्यवसाय को किस प्रकार से प्रभावित कर सकते हैं।

व्यावसायिक क्रिया को प्रारंभ करने से पहले एवं उसे अनिश्चित भविष्य में साकार बनाने के लिए व्यवसायी अथवा प्रवर्तक द्वारा जो विभिन्न क्रियाएं की जाती हैं वे क्रमानुसार निम्न हैं :

1. व्यावसायिक क्रिया का चुनाव।
2. संबंधित सरकारी प्रतिबंधों का अध्ययन।
3. व्यावसायिक क्रिया के लिए आकार का निर्धारण एवं संगठन के स्वरूप का चुनाव।
4. संयंत्र एवं उत्पादन नियोजन।
5. वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण एवं प्राप्ति की व्यवस्था।

6. व्यावसायिक क्रिया को साकार बनाने के लिए आवश्यक भौतिक साधनों का एकत्रीकरण।
7. व्यवसाय का प्रबंध।

व्यावसायिक क्रिया का चुनाव

व्यवसाय में मुख्य रूप से तीन प्रकार की आर्थिक क्रियाएं सम्मिलित रहती हैं। प्रथम वर्ग में वे क्रियाएं आती हैं जिनका संबंध वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन से है, जिनको औद्योगिक क्रियाएं कहा जाता है। द्वितीय वर्ग में व्यापारिक क्रियाएं सम्मिलित हैं जिनके अंतर्गत वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। इसके अतिरिक्त वितरण को सुगम एवं सहज बनाने के लिए, अन्य सहायक क्रियाएं तृतीय वर्ग में सम्मिलित हैं, जैसे यातायात, बीमा, बैंकिंग क्रियाएं, संग्रहण आदि।

इन व्यावसायिक क्रियाओं में से कई व्यावसायिक क्रियाएं व्यवसायी के मस्तिष्क में विद्यमान हो सकती हैं। इनकी विद्यमानता या तो व्यवसायी के भूतकाल में प्राप्त अनुभव पर आधारित होती है अथवा व्यवसायी इसके लिए शोध पत्रिकाओं, व्यापारिक पत्रिकाओं तथा अन्य माध्यमों का सहारा ले सकता है। इस प्रकार व्यावसायिक क्रिया से संबंधित विचारों की पर्याप्त तलाश करने के पश्चात इन समस्त विचारों में से किसी एक विचार का चुनाव किया जाता है। प्रस्तावित व्यावसायिक विचार का चुनाव करने के लिए वाणिज्यिक सुगमता के आधार पर प्राप्त विचारों की आपस में तुलना की जाती है ताकि सबसे अधिक लाभप्रद व्यावसायिक विचार का निर्धारण किया जा सके। प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की वाणिज्यिक सुगमता ज्ञात करने के लिए विस्तृत आर्थिक सर्वेक्षण किया जाता है जिसमें विभिन्न निर्णयात्मक तत्वों का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण सम्मिलित है, जैसे वस्तु विश्लेषण, बाजार का अध्ययन, आकार, उत्पादन नियोजन आदि। इन सब तत्वों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

वस्तु विश्लेषण : प्रस्तावित व्यावसायिक विचार में जिस वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन किया जाना है उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। वस्तु विश्लेषण से हमारा अभिप्राय उत्पादित की जाने वाली वस्तु के रंग, आकार, गुण, विशेषताएं, मूल्य आदि का निर्धारण करने से है। वस्तु के बारे में ये निर्णय ग्राहकों की आवश्यकता, रुचि एवं प्राथमिकता को ध्यान में रख कर लिए जाने चाहिए ताकि ग्राहकों की आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सके। अर्थात वस्तु ग्राहकों के लिए उपयोगी हो क्योंकि आधुनिक प्रगतिशील प्रबंधक ग्राहक को व्यावसायिक क्रिया का आधार मानता है। अत: वस्तु से संबंधित समस्त आवश्यक तत्वों को ग्राहकों के दृष्टिकोण से निर्धारित किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वस्तु के उत्पादन से संबंधित तत्वों का अध्ययन किया जाना भी वांछनीय है। इसके साथ ही यह भी निश्चित किया जाना चाहिए कि, वस्तु पंक्ति में कौन सी वस्तुएं सम्मिलित की जाएं और उनका आपस में उत्पादन एवं वितरण में क्या संबंध है, या वस्तु पंक्ति में एक से अधिक वस्तुएं सम्मिलित की जाएं अथवा नहीं।

• संक्षेप में, वस्तु विश्लेषण में निम्न तत्वों का सर्वेक्षण एवं निर्धारण सम्मिलित किया जाता है :

(अ) वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल की उपलब्धि, किस्म, मूल्य आदि।
(ब) वस्तु को उत्पादित करने के लिए प्रशिक्षित श्रमिकों की आवश्यकता।
(स) वस्तु की किस्म, मूल्य, उपयोगिता का निर्धारण।
(द) प्रतियोगियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ज्ञान।

(य) प्रस्तावित मूल्य में वस्तु की विपणनता का ज्ञान।

बाजार विश्लेषण : वस्तुओं के उत्पादन का उद्देश्य उन्हें अंतिम रूप से बाजार में ग्राहकों को बेचना है। बाजार विश्लेषण के अंतर्गत प्रस्तावित वस्तु के बाजार को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों का अध्ययन होता है जैसे वस्तु की मांग एवं उसकी प्रकृति, अन्य वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा, बाजार का आकार एवं उसका विभाजन आदि। इन सब तत्वों का अध्ययन करने से प्रस्तावित वस्तु की संभावित मांग का अनुमान लगाया जा सकता है। संक्षेप में, बाजार सर्वेक्षण एवं विश्लेषण में निम्न तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

(अ) वस्तु की मांग—वर्तमान एवं संभावित।

(ब) मांग की प्रकृति—लोचदार अथवा बेलोचदार।

(स) बाजार का आकार—ग्राहकों की संख्या, रहन-सहन का स्तर, क्रय प्रवृत्ति, शिक्षा, आयु एवं आय आदि।

(द) जनसंख्या में वृद्धि तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास से ग्राहकों की आवश्यकताओं में परिवर्तन की गति।

(य) प्रस्तावित वस्तु के लिए नए बाजार की संभावना और मौजूद बाजार में विस्तार।

(र) प्रतिस्पर्धा—प्रकृति।

(ल) वस्तु के वितरण के लिए उपयुक्त माध्यम का चुनाव।

बाजार सर्वेक्षण एवं विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य उपर्युक्त तत्वों का अध्ययन करके यह पूर्वानुमान लगाना है कि प्रस्तावित वस्तु की बिक्री का आकार क्या होगा और उसमें किस सीमा तक वृद्धि संभव है।

सरकारी प्रतिबंध

सरकार का व्यवसाय के क्षेत्र में दिन प्रतिदिन हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है जो इस क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति को नियंत्रित करके उपभोक्ताओं को शोषित होने से बचाने के लिए उचित प्रतीत होता है। प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की वाणिज्यिक सुगमता को ज्ञात करने के पश्चात व्यवसायी के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को क्रियान्वित करने के संबंध में सरकारी प्रतिबंधों का भी अध्ययन करे और इसके लिए संबंधित विधान में दी गई औपचारिकताओं तथा शर्तों का अध्ययन करके उनको पूरा करे। व्यावसायिक क्रिया चाहे केंद्रीय सरकार की सीमाओं में हो अथवा राज्य सरकार या अन्य स्थानीय सरकार के दायरे में, संबंधित वैधानिक औपचारिकताएं पूरी की जानी आवश्यक हैं।

व्यावसायिक क्रिया का आकार एवं संगठन के उपयुक्त स्वरूप का चुनाव

प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को साकार बनाने के लिए व्यावसायिक क्रिया का आकार तथा संगठन के उपयुक्त स्वरूप का निर्धारण महत्वपूर्ण है। व्यावसायिक क्रिया का आकार निर्धारित करते समय, संभावित बिक्री का आकार, विपणि सुगमता, तकनीकी संभवता, वित्त की उपलब्धि आदि तत्वों को ध्यान में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त व्यवसायी को व्यावसायिक क्रिया का आकार निर्धारित करते समय बड़े पैमाने के व्यवसाय की आंतरिक एवं बाह्य मितव्ययताओं से ही आकर्षित नहीं होना चाहिए बल्कि उसे छोटे आकार की लोकप्रियता, सुगमता एवं सरकारी प्रोत्साहन को भी ध्यान में रखना चाहिए। व्यावसायिक क्रिया का आकार क्या होना चाहिए और उसे निर्धारित करने में कौन कौन से तत्व निर्णायक होते हैं, इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है।

व्यावसायिक क्रिया का आकार निर्धारित करने के पश्चात ही निर्धारित आकार के अनुसार संगठन के उपयुक्त स्वरूप का चुनाव किया जा सकता है। व्यवसाय के लिए विभिन्न स्वरूप उपलब्ध हैं, जैसे एकल व्यापार, साझेदारी, संयुक्त पूंजी कंपनी, सहकारी समिति, संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय आदि। इन स्वरूपों में से उपयुक्त स्वरूप का चुनाव करते समय प्रस्तावित व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति, आकार, व्याप्त वातावरण जिसमें व्यावसायिक क्रिया संचालित की जानी है आदि तत्वों को ध्यान में रखा जाता है। उदाहरण के लिए यदि व्यावसायिक क्रिया बड़े पैमाने पर संचालित की जानी है और वस्तुओं के उत्पादन से संबंधित है तथा उसमें अधिक जोखिम निहित हैं तो ऐसी स्थिति में संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप सबसे अधिक उपयुक्त समझा जा सकता है क्योंकि इस स्वरूप से व्यावसायिक क्रिया के लिए बड़ी मात्रा में आवश्यक वित्त भी जुटाया जा सकेगा। इसके विपरीत व्यावसायिक क्रिया का आकार छोटा है तो ऐसी दशा में विभिन्न तत्वों को ध्यान में रखते हुए एकल व्यापार तथा साझेदारी में से एक स्वरूप का चुनाव किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तावित व्यावसायिक क्रिया जितनी ही अधिक जटिल एवं पेचीदा प्रकृति की होगी उसको सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी और इसके लिए संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप उपयुक्त समझा जा सकता है। संगठन के स्वरूप का चुनाव करते समय उपयुक्त तत्वों के अलावा प्रत्येक स्वरूप में निहित लाभ एवं दोषों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए और उनकी उपयुक्तता एवं उपयोगिता ज्ञात करते समय देश के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

संयंत्र एवं उत्पादन नियोजन

प्रस्तावित व्यावसायिक क्रिया का आकार, प्रकृति एवं संगठन के स्वरूप आदि का चुनाव कर लेने के पश्चात व्यवसायी उत्पादन कार्य में मितव्ययताएं प्राप्त करने हेतु एवं उत्पादन में अपव्ययों; अकुशलता तथा क्षीणता को कम करने के उद्देश्य से संयंत्र की स्थापना तथा संपूर्ण उत्पादन कार्य के लिए विस्तृत योजना तैयार करता है। इसके लिए संयंत्र विन्यास एवं उत्पादन योजना तैयार की जाती है जिसके अंतर्गत संयंत्र, मशीन, कच्चा माल तथा उत्पादन के अन्य उपकरणों को वैज्ञानिक ढंग से संयोजित किया जाता है ताकि, उत्पादन के उपर्युक्त भौतिक साधनों में तालमेल उत्पन्न किया जा सके एवं उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में संतुलन रखा जा सके। इसके अलावा भवन में पर्याप्त स्थान उपलब्ध होना चाहिए और उपलब्ध स्थान का अधिकतम प्रयोग किया जाना चाहिए।

उत्पादन योजना में निम्न तत्व सम्मिलित हैं :

(अ) उत्पादन कर्मशाला किस स्थान में स्थापित की जाए अर्थात उत्पादन कर्मशाला के लिए उचित एवं उपयुक्त स्थान का चुनाव।

(ब) संपूर्ण उत्पादन कार्य के लिए कार्यक्रम तैयार करना एवं उत्पादन में संभव विभिन्न अवस्थाओं अथवा प्रक्रियाओं का निर्धारण करना।

(स) उत्पादन कार्य की लागत का अनुमान।

वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण एवं प्राप्ति की व्यवस्था

कोई भी व्यावसायिक विचार पर्याप्त वित्त के अभाव में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। वित्तीय व्यवस्था व्यवसाय के लिए रक्त संचार की व्यवस्था की भांति कार्य

करती है। चाहे नया व्यवसाय प्रारंभ किया जाए, व्यवसाय का विस्तार किया जाए या आधुनिकीकरण, वित्त की पर्याप्त उपलब्धता आवश्यक है। व्यवसाय के लिए वित्त प्राप्त करने की व्यवस्था करने से पूर्व व्यवसायी के लिए व्यवसाय की कुल वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करना आवश्यक है।

सामान्य तौर से व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताएं मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं : अल्पकालीन वित्त एवं दीर्घकालीन वित्त। दीर्घकालीन वित्त से हमारा अभिप्राय पूंजी के उस अंश से है जो व्यवसाय प्रारंभ करने हेतु स्थाई संपत्ति क्रय करने में विनियोजित किया जाता है, जैसे भवन, फर्नीचर, मशीन तथा उत्पादन के अन्य आवश्यक उपकरण। इस प्रकार की संपत्ति में विनियोजित पूंजी स्थाई पूंजी कही जाती है क्योंकि व्यवसाय में यह विनियोग दीर्घकाल तक के लिए किया जाता है और इसका लाभ व्यवसाय को दीर्घकाल तक मिलता है।

स्थाई पूंजी के अलावा वित्त का कुछ भाग व्यवसाय में अल्पकालीन पूंजी अथवा कार्यशील पूंजी के रूप में भी विनियोजित किया जाता है। कार्यशील पूंजी पूंजी का वह भाग है जिसका उपयोग व्यवसाय के दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए किया जाता है, जैसे कच्चे माल का क्रय, श्रमिकों को वेतन का भुगतान, किराया तथा अन्य व्यय। इस पूंजी को चक्रीय पूंजी भी कहा जा सकता है क्योंकि व्यवसाय में इस पूंजी का एक निरंतर चक्र बना रहता है, जैसे कच्चा माल क्रय करके उसमें आवश्यक व्यय करके उसे तैयार माल में परिणत किया जाना और फिर तैयार माल को बेच कर प्राप्त नकद राशि को पुनः दैनिक व्ययों का भुगतान करने में विनियोजित करना।

इसके अतिरिक्त कुल पूंजी के निर्धारण में व्यवसाय को प्रारंभ करने तक के सारे व्यय जिन्हें 'प्रारंभिक व्यय' कहा जाता है और वित्त की वह धनराशि जो व्यवसाय में स्थायित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है, भी सम्मिलित की जानी चाहिए। व्यवसाय में कुल पूंजी का निर्धारण करने के लिए इन समस्त अंगों का योग कर लिया जाता है। जहां तक व्यवसाय के लिए स्थाई पूंजी एवं कार्यशील पूंजी की आवश्यकता का प्रश्न है, पूंजी के इन भागों का निर्धारण विभिन्न तत्वों से प्रभावित होता है, जैसे व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति, आकार, उत्पादन क्रिया की प्रकृति एवं व्यवसाय में प्रचलित परंपराएं एवं रीति-रिवाज, बिक्री दर आदि।

इस प्रकार व्यवसाय के लिए कुल पूंजी को निर्धारित करने के पश्चात कुल पूंजी को प्राप्त करने की व्यवस्था की जाती है। इसके अंतर्गत पूंजी प्राप्त करने के विभिन्न साधनों में से उचित एवं उपयुक्त साधनों का चुनाव किया जाता है। इन साधनों का चुनाव पूंजी प्राप्त करने की लागत, भविष्य में वित्त की आवश्यकता, विनियोजकों की प्रवृत्ति एवं प्राथमिकता, पूंजी बाजार का रुख आदि तत्वों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। यदि पूंजी का कुछ हिस्सा प्रतिभूतियां जारी करके प्राप्त किया जाता है तो जारी करने का समय, लागत आदि का भी निर्धारण किया जाना आवश्यक है।

संक्षेप में प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को क्रियान्वित करने के लिए वित्त की जो विस्तृत योजना तैयार की जाती है उसमें निम्न तत्व सम्मिलित हैं :

(अ) कुल पूंजी का निर्धारण : स्थाई पूंजी, कार्यशील पूंजी, प्रारंभिक पूंजी एवं व्यवसाय में स्थायित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक पूंजी।

(ब) पूंजी प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों में से उचित एवं उपयुक्त साधनों का चुनाव।

(स) संबंधित प्रशासनिक कार्य : प्रतिभूतियां जारी करने का समय, लागत, दर तथा उनकी बिक्री के लिए आवश्यक व्यवस्था।

प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को क्रियान्वित एवं संचालित करने के लिए आवश्यक भौतिक साधनों का एकत्रीकरण

प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की वाणिज्यिक सुगमता, लाभप्रदता, विपणन सुगमता आदि ज्ञात करके एवं उसके लिए अन्य आवश्यक पूर्वानुमान (जैसे पूंजी, आकार, संगठन के स्वरूप का चुनाव) तैयार करने के पश्चात व्यवसायी अंतिम रूप से व्यावसायिक विचार को संचालित करने एवं उसको साकार बनाने के लिए समस्त आवश्यक भौतिक साधनों का एकत्रीकरण करता है, जैसे मशीन का क्रय, कच्चे माल का क्रय, कर्मचारियों की नियुक्ति, संयंत्र की स्थापना, विज्ञापन तथा अन्य आवश्यक व्यवस्थाएं। इन सब क्रियाओं के फलस्वरूप व्यावसायिक क्रिया को एक ठोस रूप मिल जाता है और वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन एवं वितरण कार्य प्रारंभ हो जाता है।

व्यवसाय का प्रबंध

व्यावसायिक क्रिया की सफलता काफी हद तक व्यवसाय के लिए जुटाए गए विभिन्न साधनों (श्रम, पूंजी, भवन, कच्चा माल) के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण पर निर्भर है। इन समस्त साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करने के लिए प्रबंध की उचित व्यवस्था होनी चाहिए तभी व्यवसाय सफलता के शिखर पर पहुंचाया जा सकता है। कुशल प्रबंध प्रणाली एवं पर्याप्त प्रबंधकीय कुशलता एवं चतुराई के अभाव में व्यवसाय के विभिन्न साधनों के प्रयोग से वांछनीय परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं और व्यवसाय का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। व्यवसाय में प्रबंध की क्या भूमिका है और उसके लिए उचित व्यवस्था कैसे की जाती है इसका वर्णन 'संचालन एवं प्रबंध' अध्याय में किया गया है।

इसके अतिरिक्त वे व्यक्ति अथवा संस्था, जो प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की तलाश करके एवं विभिन्न तत्वों के संदर्भ में विश्लेषण करके उसे ठोस रूप प्रदान करते हैं, प्रवर्तक भी कहलाते हैं। इन प्रवर्तकों द्वारा नए व्यवसाय को प्रारंभ करने से संबंधित भूमिका 'संयुक्त पूंजी कंपनी' अध्याय में वर्णित है।

व्यावसायिक इकाई का आकार

साधारण बोलचाल में व्यावसायिक इकाई का अर्थ व्यावसायिक संस्था द्वारा किए जाने वाले उत्पादन अथवा वितरण के पैमाने से है। वस्तु का उत्पादन कम मात्रा में भी किया जा सकता है और बड़े पैमाने पर भी। इसी प्रकार वस्तुओं का वितरण भी विस्तृत अथवा सीमित हो सकता है। व्यावसायिक इकाई का आकार एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जो संस्था की कार्यकुशलता एवं लाभ कमाने की क्षमता को प्रभावित करता है इसीलिए व्यवसाय को प्रारंभ करने से पहले व्यवसायी को व्यवसाय के आकार के बारे में निर्णय लेना पड़ता है। उसका यह निर्णय अन्य संबंधित तत्वों के अतिरिक्त, प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की वाणिज्यिक सुगमता, विपणन सुगमता, वित्त की उपलब्धि, सरकार की व्यवसाय संबंधी नीति एवं व्याप्त आर्थिक वातावरण पर आधारित रहता है और व्यवसाय के आकार पर ही विभिन्न उपलब्ध साधनों का अधिकतम कुशल उपयोग निर्भर रहता है।

व्यावसायिक इकाई के आकार का अध्ययन करने से पहले इस संदर्भ में कुछ प्रचलित शब्दों की व्याख्या की जानी आवश्यक है, जैसे संयंत्र, फर्म अथवा संस्था एवं उद्योग।

संयंत्र (प्लांट) : संयंत्र शब्द की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की गई है। संकुचित दृष्टिकोण से संयंत्र का अर्थ कारखाने में लगी हुई मशीनों तथा अन्य उपकरणों से लगाया जाता है जो अंतिम रूप से वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने हेतु प्रयुक्त होते हैं।

पर व्यापक अर्थों में संयंत्र एक ऐसा स्थान है जहां पर वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन किया जाता है अथवा उनका वितरण किया जाता है या वितरण संबंधी सेवाएं प्रदान की जाती हैं। इस व्याख्या के अनुसार संयंत्र में केवल वस्तुओं के उत्पादन हेतु लगाई मशीन व अन्य उपकरण ही सम्मिलित नहीं हैं बल्कि इसमें श्रमिकों को भी सम्मिलित किया जाता है जो उत्पादन एवं वितरण का कार्य संभव बनाते हैं। इस प्रकार संयंत्र कारखाना अथवा कर्मशाला के रूप में हो सकता है अथवा विभागीय भंडार, भंडारगृह या यातायात डिपो के रूप में। सारांश में, संयंत्र व्यवसाय के विभिन्न साधनों का एक ऐसा समन्वित रूप है जिससे वस्तुएं उत्पादित की जाती हैं अथवा उनका वितरण किया जाता है अथवा अन्य सहायक सेवाएं प्रदान की जाती हैं।

फर्म अथवा संस्था : फर्म अथवा संस्था से हमारा अभिप्राय ऐसी व्यावसायिक इकाई से है जिसके अधीन संयंत्र का स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण होता है। फर्म अथवा संस्था शब्द अधिक व्यापक एवं विस्तृत है क्योंकि एक फर्म के पास कई संयंत्रों का स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण हो सकता है, जैसे 'भारतीय इस्पात निगम' एक संस्था के रूप में कार्य करती है जिसको तीन इस्पात संयंत्रों (भिलाई, दुर्गापुर एवं राउरकेला) का स्वामित्व एवं प्रबंध तथा नियंत्रण का अधिकार प्राप्त है। आधारभूत रूप से फर्म अथवा संस्था नियंत्रण की एक ऐसी इकाई है जिसको उस भूमि, भवन, मशीनों तथा अन्य उपकरणों का स्वामित्व प्राप्त रहता है जिसमें संयंत्र स्थापित किया जाता है और उसे कार्यशील बनाया जाता है। फर्म अथवा संस्था ही अपने अधीन समस्त संयंत्रों में कार्यरत कर्मचारियों एवं श्रमिकों पर नियंत्रण रखती है और संयंत्र को संचालित करने के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था भी करती है। फर्म अथवा संस्था के स्वामित्व और प्रबंध एवं नियंत्रण में एक ही उत्पादन प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में संलग्न संयंत्र हो सकते हैं, जैसे सूती कारखाने में कताई, बुनाई एवं रंगाई आदि, अथवा प्रत्येक संयंत्र अलग अलग वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण से संबंधित हो सकता है, जैसे टाटा उद्योग जिसके अंतर्गत इस्पात के संयंत्र, प्रसाधन सामग्री बनाने के संयंत्र एवं डालडा उत्पादित करने का संयंत्र सम्मिलित है।

उद्योग : उद्योग शब्द फर्म अथवा संस्था शब्द से भी अधिक व्यापक है। जिस प्रकार फर्म में विभिन्न संयंत्र सम्मिलित रहते हैं उसी प्रकार उद्योग भी उन समस्त फर्मों का एक समूह है जो फर्में अथवा जिनके संयंत्र एक ही प्रकार की वस्तुएं उत्पादित कर रहे हों, जैसे चीनी उद्योग के अंतर्गत चीनी का उत्पादन करने वाली समस्त मिलें अथवा फर्में सम्मिलित हैं। संक्षेप में उद्योग उन समस्त फर्मों का समूह है जो मिलता-जुलता कच्चा माल प्रयोग करके और उसमें आवश्यक प्रक्रिया द्वारा एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करती हैं अथवा एक ही प्रकृति की सेवाएं प्रदान करती हैं, जैसे होटल उद्योग, परिवहन उद्योग आदि। फर्म और उद्योग में मुख्य अंतर यह है कि फर्म में सम्मिलित संयंत्र अलग अलग वस्तुओं का उत्पादन भी कर सकते हैं जबकि उद्योग के अंतर्गत केवल उन फर्मों को सम्मिलित किया जाता है जो एक ही प्रकार की वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण में संलग्न हों।

व्यावसायिक इकाई के आकार की माप

जिस प्रकार व्यावसायिक इकाइयों के स्वरूप में भिन्नता होती है, उसी प्रकार उनके द्वारा

संचालित व्यावसायिक क्रिया का आकार भी अलग अलग होता है क्योंकि व्यावसायिक क्रियाओं की प्रकृति एवं स्वरूप, उनमें विनियोजित पूंजी आदि प्रत्येक इकाई की स्थिति में अंतर होता है। कोई इकाई बड़े आकार की, कोई मध्य आकार की तो कोई लघु आकार की भी होती है। इन विभिन्न इकाइयों के आकार को मापने के लिए कोई भी एक मापदंड अपने में परिपूर्ण नहीं है क्योंकि विभिन्न व्यावसायिक इकाइयां अलग अलग प्रकृति के व्यवसाय में संलग्न रहती हैं और उनका आकार मापने में अलग अलग तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। इकाई का आकार नापते समय इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अलग अलग मापदंड आकार का लगभग सही माप दे सकते हैं और प्रत्येक मापदंड की उपयोगिता सीमित होती है। विभिन्न प्रकार के उद्योगों में संलग्न इकाइयों के आकार को मापने के लिए निम्न मापदंड प्रचलित हैं।

1. विनियोजित पूंजी : व्यावसायिक संस्था में विनियोजित पूंजी को मापदंड के रूप में प्रयोग करके इकाई का आकार नापा जा सकता है। इस मापदंड के अनुसार यदि इकाई में विनियोजित पूंजी की मात्रा अधिक है तो इसे बड़े आकार की इकाई समझा जाएगा। इसके विपरीत यदि पूंजी की मात्रा कम है तो उसे छोटे आकार की इकाई माना जाएगा। यह मापदंड इकाई के आकार की सही माप प्रतिबिंबित नहीं करता है क्योंकि इकाई के पूंजीकरण से संबंधित समस्त सूचनाएं उपलब्ध नहीं हो सकती हैं और इसके अतिरिक्त प्रत्येक इकाई के लिए पूंजी की आवश्यकता अलग अलग होती है। उन इकाइयों के पूंजी प्राप्त करने के साधन भी अलग अलग हो सकते हैं, जैसे कोई इकाई उत्पादन कार्य कर रही है तो उसमें पूंजी का विनियोजन (मशीन, संयंत्र, अन्य उपकरण) अधिक होगा, पर इसके विपरीत दूसरी इकाई जो विपणन कार्य में संलग्न है उसमें विनियोजित पूंजी की मात्रा उत्पादन इकाई से कम होते हुए भी आकार में उससे बड़ी हो सकती है।

2. उत्पादन का मूल्य : इस मापदंड से उत्पादन कार्य में संलग्न इकाइयों का आकार नापा जाता है। इसके अनुसार व्यावसायिक इकाई कुल कितने मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन कर रही है, इसके आधार पर आकार का अनुमान लगाया जाता है। इस मापदंड की उपयोगिता भी सीमित है क्योंकि इकाइयां जिन वस्तुओं का उत्पादन कर रही हैं जिनका प्रति वस्तु मूल्य भिन्न हो सकता है जिससे उनके आकार को सही प्रकार से नहीं नापा जा सकेगा, जैसे 'अ' इकाई एक माह में केवल 5 वस्तुओं का उत्पादन कर रही है उनका कुल मूल्य 5000 रु० है और 'ब' इकाई जो 500 वस्तुओं का प्रति माह उत्पादन कर रही है उनका कुल मूल्य 4000 रु० है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'ब' इकाई का आकार 'अ' से छोटा है। इसीलिए इस मापदंड का प्रयोग एक ही प्रकार की एवं एक ही लागत की वस्तुओं का उत्पादन करने वाली इकाइयों के आकार को मापने तक सीमित है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यापारिक चक्रों में एक ही वस्तु का मूल्य भिन्न भिन्न हो सकता है जैसे आर्थिक समृद्धि के युग में वस्तुओं की कीमतें तुलनात्मक रूप से अधिक होती हैं जबकि आर्थिक मंदी के युग में मांग में कमी के कारण उनके मूल्य गिर जाते हैं। इस दृष्टिकोण से भी इस मापदंड को अलग अलग समय में एक ही इकाई का आकार नापने के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है।

3. श्रमिकों की संख्या : यह व्यावसायिक इकाइयों का आकार नापने का तीसरा मापदंड है। इसके अनुसार इकाई में कार्यरत श्रमिकों की संख्या को आधार मानकर इकाई का आकार नापा जाता है। यदि श्रमिकों की संख्या अधिक है तो आकार बड़ा समझा जाएगा और यदि श्रमिकों की संख्या कम है तो आकार छोटा समझा जाएगा। इस मापदंड का प्रयोग भी एक ही प्रकृति की वस्तु का व्यवसाय करने वाली और विकास की एक ही अवस्था में पहुंची हुई इकाइयों का आकार नापने के लिए ही किया जा सकता है क्योंकि

अलग अलग प्रकृति के व्यवसाय में श्रमिकों की संख्या अलग अलग होती है और इसी प्रकार इकाई के विकास की अवस्था में अंतर भी श्रमिकों की संख्या को प्रभावित करता है।

4. उत्पादन का आकार : यह मापदंड उत्पादन मूल्य के मापदंड से मिलता जुलता है क्योंकि इसमें इकाइयों का आकार उत्पादित वस्तुओं के मूल्य के बजाय उनकी मात्रा के आधार पर नापा जाता है। अन्य मापदंडों की भांति इसकी उपयोगिता भी सीमित है क्योंकि इसके आधार पर अलग अलग प्रकृति की वस्तुओं का उत्पादन कर रही इकाइयों का आकार उचित एवं सही रूप से नहीं नापा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस मापदंड का प्रयोग उन स्थितियों में भी नहीं किया जा सकता है जब संस्थाएं एक ही वस्तु पंक्ति के अंतर्गत कई प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर रही हों।

5. कच्चे माल का प्रयोग : यदि एक ही प्रकृति की वस्तु का उत्पादन करने के लिए विभिन्न इकाइयों द्वारा एक ही प्रकार का कच्चा माल प्रयोग में लाया जा रहा है तो प्रति माह या प्रति वर्ष प्रयोग किए गए कच्चे माल के मूल्य के आधार पर उन इकाइयों का आकार नापा जा सकता है।

6. उत्पादन शक्ति का उपयोग : वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए ऊर्जा, बिजली, ईंधन आदि का प्रयोग किया जाता है। इकाइयों द्वारा कुल उपभोग के आधार पर इकाइयों का आकार नापा जा सकता है। इस मापदंड के प्रयोग में प्रति उत्पादित इकाई में उत्पादन शक्ति का उपभोग या प्रति माह उत्पादन शक्ति के उपभोग को आधार माना जा सकता है। अन्य मापदंडों की ही भांति यह भी पूर्ण नहीं है क्योंकि उत्पादन शक्ति का उपयोग कई अन्य संबंधित तत्वों के प्रभाव से कम और अधिक हो सकता है।

7. उत्पादन क्षमता : इस मापदंड का प्रयोग उन औद्योगिक इकाइयों का आकार नापने के लिए किया जाता है जो विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उत्पादित कर रही हों। इसके अनुसार उत्पादन क्षमता को आधार मान कर आकार नापा जाता है। पर इस मापदंड का प्रयोग करते समय इकाई द्वारा वास्तव में प्रयोग की जा रही उत्पादन क्षमता को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इकाई के आकार को नापने का कोई भी मापदंड अपने में पूर्ण नहीं है और अलग अलग परिस्थितियों में एक से अधिक मापदंडों का प्रयोग करके इकाइयों का आकार नापा जा सकता है।

इकाई के आकार के बारे में विभिन्न सामान्य विचार

व्यावसायिक इकाई का आकार कार्य में अधिक कुशलता प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण तत्व समझा जाता है। आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में बड़े आकार के व्यवसाय की मितव्ययताएं व लाभों से आकर्षित होकर प्रत्येक संस्था अपने विद्यमान आकार में वृद्धि एवं विस्तार को ध्यान में रखकर कार्य करती है, क्योंकि व्यवसाय के पैमाने में वृद्धि के फलस्वरूप प्रति वस्तु उत्पादन लागत कम हो जाती है और एक सीमा ऐसी आती है जहां पर प्रति वस्तु उत्पादन लागत न्यूनतम होती है। यह सीमा संस्था के लिए अधिकतम लाभदायक समझी जाती है लेकिन उत्पादन को इस सीमा से आगे बढ़ाने में प्रबंधकीय एवं वित्तीय कठिनाइयों के कारण एवं लागत व्ययों में वृद्धि के कारण विनियोग की प्रति इकाई में आय कम होने लगती है। व्यावसायिक संस्था के आकार की इस सीमा को आदर्श सीमा भी कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यावसायिक संस्था के आकार की समस्या उत्पादन में वृद्धि अथवा कमी से तथा उत्पादन कार्य में श्रम विभाजन से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। व्यावसायिक इकाई के आकार के बारे में, विभिन्न

अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न सामान्य विचार प्रस्तुत किए हैं जो मुख्य रूप से निम्न हैं :

प्रतिनिधि फर्म

प्रतिनिधि फर्म का सामान्य विचार मार्शल द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग उत्पादन लागत के संबंध में किया है और उनके अनुसार, प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म है जिसे अपने दीर्घ जीवन में पर्याप्त सफलता मिली हो, जिसका प्रबंध सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा किया गया हो, जिसे उत्पादन की कुल मात्रा के फलस्वरूप वाह्य एवं आंतरिक बचतें प्राप्त होती हों और जिसमें विपणन की दशाओं एवं आर्थिक वातावरण को ध्यान में रखकर विभिन्न वर्ग की वस्तुएं उत्पादित की गई हों। मार्शल द्वारा दी गई इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी औसत फर्म है जो काफी दीर्घकाल तक सफलता के साथ सामान्य प्रबंधकीय क्षमता से संचालित की जाती है तथा जिसमें उत्पादन का पैमाना इस प्रकार का रहा हो कि उससे फर्म को आंतरिक एवं वाह्य बचतें प्राप्त हुई हों। इस परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधि फर्म में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. प्रतिनिधि फर्म एक औसत फर्म होती है और इसका आकार सदैव समान रहता है, न इसका विकास होता है और न संकुचन क्योंकि विकास एवं संकुचन से फर्म औसत फर्म नहीं कहला सकती है।

2. इस प्रकार की फर्म को दीर्घकाल तक सफलताएं मिलती रहती हैं क्योंकि इसके आकार में परिवर्तन नहीं होता है तथा इसका प्रबंध एवं संचालन सामान्य प्रबंधकीय योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है।

3. प्रतिनिधि फर्म की सफलता का मुख्य कारण यह है कि फर्म के उत्पादन का आकार इस प्रकार का होता है कि उसमें आंतरिक तथा वाह्य बचतें निहित होती हैं।

4. प्रतिनिधि फर्म का यह सामान्य विचार दीर्घकाल में एक औसत फर्म में ही लागू होता है।

संतुलित फर्म

मार्शल द्वारा प्रतिनिधि फर्म का जो विचार प्रस्तुत किया गया था, उसी सामान्य विचार का एक संशोधित रूप प्रो० पीगू ने प्रस्तुत किया। प्रो० पीगू के अनुसार, 'संतुलित फर्म एक ऐसी फर्म है जो विस्तार की इस अवस्था में पहुंची हो जहां पर उद्यमी को उसका और विस्तार करने के लिए कोई प्रलोभन प्राप्त न हो।' इस परिभाषा के अनुसार संतुलित फर्म, फर्म का संतुलित आकार है जिसके अंतर्गत उद्यमी कमाए जा रहे लाभ की मात्रा से संतुष्ट हो और इसीलिए फर्म के आकार का विस्तार करने का इच्छुक न हो, और न ही फर्म के आकार का संकुचन करने को तैयार हो।

संक्षेप में संतुलित फर्म एक ऐसी फर्म है जिसमें सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर हो। प्रो० पीगू द्वारा प्रस्तुत किए गए सामान्य विचार के अनुसार किसी उद्योग के अंतर्गत फर्म का आकार तब संतुलित होगा जबकि संपूर्ण उद्योग में संतुलन होगा।

संतुलित फर्म का सामान्य विचार भी वास्तविकता से परे समझा जाता है क्योंकि व्यवहार में फर्म की संतुलन की दशा को सही रूप से निश्चित करना काफी कठिन है और न फर्म के संतुलित आकार को सही ढंग से ज्ञात ही किया जा सकता है।

अनुकूलतम फर्म

उत्पादन में संलग्न प्रत्येक फर्म सदैव यह प्रयास करती है कि न्यूनतम उत्पादन लागत पर

वस्तुओं का उत्पादन किया जाए ताकि लाभ कमाने की क्षमता में अधिकतम वृद्धि की जा सके, परंतु व्यवहार में यह तभी संभव है यदि उत्पादन के उपलब्ध साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्ण एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग किया जाए, कोई साधन निष्क्रिय न रहे और उत्पादन में अपव्ययों तथा क्षीणता को न्यूनतम स्तर पर रखा जाए।

दूसरे शब्दों में, फर्म के उत्पादन के जिस आकार में समस्त उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम प्रयोग किया जा रहा हो और जिसके फलस्वरूप प्रतिवस्तु उत्पादन लागत न्यूनतम हो, वह आकार अनुकूलतम आकार कहा जाता है, और जो फर्म इस आकार में कार्य कर रही हो उसे अनुकूलतम फर्म की संज्ञा दी जाती है। संक्षेप में फर्म का अनुकूलतम आकार उत्पादन के विभिन्न साधनों—भूमि, भवन, पूंजी, मशीन, श्रम, साहस एवं संगठन का न्यूनतम लागत में संयोजन भी समझा जा सकता है।

राबिन्सन के शब्दों में, 'अनुकूलतम आकार वाली फर्म एक ऐसी फर्म है जिसमें मौजूदा तकनीकी एवं संगठन योग्यता की परिस्थितियों में प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत न्यूनतम हो। जबकि लागत में वे सारी लागतें सम्मिलित कर ली गई हों जो एक दीर्घकाल में वहन की जा सकती हैं।' इस परिभाषा के अनुसार अनुकूलतम फर्म में उत्पादन लागत न्यूनतम होती है और उत्पादन लागत में उन लागतों को भी सम्मिलित किया जाता है जो फर्म दीर्घकाल में वहन करती है, जैसे संपत्तियों में ह्रास आदि। इस परिभाषा को ही एक उपयुक्त परिभाषा समझा जा सकता है क्योंकि इसमें उत्पादन लागत का निर्धारण करने के लिए दीर्घकालीन लागतों को भी ध्यान में रखा जाता है।

इसी प्रकार आर० टी० वाई० के अनुसार, 'अनुकूलतम व्यावसायिक इकाई व्यावसायिक उपक्रम का ऐसा संगठन है जो तकनीकी एवं वस्तु के विपणन से संबंधित दी गई विद्यमान हालतों में दीर्घकाल में वस्तुओं का उत्पादन प्रति वस्तु औसत न्यूनतम लागत में कर सकती है।' यह परिभाषा अन्य परिभाषाओं से व्यापक समझी जा सकती है क्योंकि इसमें उत्पादन के लिए तकनीकी परिस्थितियों के अतिरिक्त विपणन की परिस्थितियों को भी सम्मिलित किया गया है, और यह काफी हद तक तर्कसिद्ध भी है क्योंकि वस्तुओं के उत्पादन की परिस्थितियां एवं उत्पादन लागतें विपणन की परिस्थितियों से भी प्रभावित हो सकती हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक अनुकूलतम फर्म में निम्न विशेषताएं होनी चाहिए :

1. फर्म के अनुकूलतम आकार को ज्ञात करने में औसत न्यूनतम उत्पादन लागत को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

2. अनुकूलतम आकार में उपलब्ध उत्पादन के साधनों को इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि समस्त साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जा सके।

3. अनुकूलतम फर्म में उत्पादन लागत ज्ञात करते समय वे सारी लागतें ध्यान में रखी जाती हैं जो फर्म को अल्पकाल एवं में दीर्घकाल वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए वहन करनी होती हैं, जैसे ह्रास, ब्याज आदि।

4. अनुकूलतम आकार स्थाई अवस्था नहीं है क्योंकि इसका निर्धारण तकनीकी एवं प्रबंधकीय योग्यता की विद्यमान परिस्थितियों के आधार पर किया जाता है और तकनीकी क्षेत्र तथा प्रबंधकीय योग्यता के स्तर में विकास स्वाभाविक रूप से अनुकूलतम आकार को प्रभावित करेंगे। इसी के अनुसार अनुकूलतम आकार भी परिवर्तित होता रहेगा।

5. अनुकूलतम फर्म में उत्पादन के साधनों का संभव सदुपयोग पूर्ण कुशलता के साथ किया जाता है ताकि उत्पादन में अपव्ययों एवं क्षीणता को भी न्यूनतम स्तर पर लाया जा सके।

अनुकूलतम फर्म के सामान्य विचार को निम्न रेखाचित्र से भली भांति समझा जा सकता है।
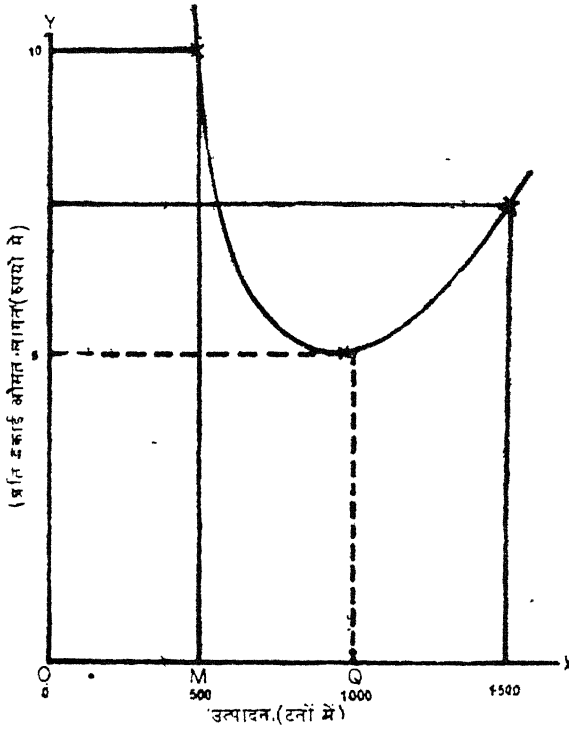
उपर्युक्त रेखाचित्र में 'OY' रेखा वस्तु की औसत लागत दिखाती है और 'OX' रेखा द्वारा वस्तु का उत्पादन सूचित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वस्तुओं के उत्पादन का आकार 'OM' अर्थात 500 टन है तो प्रति टन औसत उत्पादन लागत 90 रु० होगी और यदि फर्म 1000 टन का उत्पादन करे (OQ) तो औसत उत्पादन लागत 5 रु० प्रति टन होगी और यदि फर्म 1500 टन का उत्पादन करती है तो औसत उत्पादन लागत 7.50 रु० प्रति टन होगी। इन तीनों परिस्थितियों में फर्म के उत्पादन के साधनों का अनुकूलतम संयोजन तथा कुशलतापूर्ण प्रयोग केवल 1000 टन के उत्पादन पर ही संभव है और इसके फलस्वरूप इस पैमाने पर औसत उत्पादन लागत न्यूनतम होगी। इसी आकार को फर्म का अनुकूलतम आकार समझा जाएगा। अत: अनुकूलतम आकार उस परिस्थिति अथवा पैमाने का सूचक है जहां पर न्यूनतम लागत में अधिकतम उत्पादन किया जा सके।

अनुकूलतम फर्म के सामान्य विचार की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है :

1. अनुकूलतम फर्म के अस्तित्व के लिए पूर्ण प्रतिस्पर्धा का विद्यमान होना आवश्यक है, पर व्यवहार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति बहुत कम पाई जाती है और इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रतिस्पर्धा को सही रूप से नहीं नापा जा सकता है।

2. इस सामान्य विचार में विरोधाभास विद्यमान है, क्योंकि अनुकूलतम फर्म के लिए यह माना जाता है कि ऐसी फर्म केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धा में ही विद्यमान होती है पर

व्यवहार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में भी अनूकूल फर्म अस्तित्व में पाई जाती है।

3. अनुकूलतम आकार की सीमा का निर्धारण एक जटिल कार्य है क्योंकि यह ज्ञात करना काफी कठिन है कि एक उद्योग के अंतर्गत कौन कौन सी फर्में अनुकूलतम आकार की फर्में हैं, और अनुकूलतम आकार उद्योग में व्याप्त परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। ये परिस्थितियां बदलती रहती हैं।

अनुकूलतम आकार को प्रभावित करने वाले तत्व

फर्म का अनुकूलतम आकार उद्योग में व्याप्त परिस्थितियों पर निर्भर रहता है और ये परिस्थितियां विभिन्न तत्वों के संयोजन से बनती हैं, अर्थात ये तत्व फर्म के अनुकूलतम आकार को प्रभावित करते हैं। इन तत्वों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है : (i) तकनीकी तत्व, (ii) प्रबंधकीय तत्व, (iii) वित्तीय तत्व, (iv) विपणन तत्व, (v) जोखिम एवं उतार-चढ़ाव से संबंधित तत्व।

तकनीकी तत्व : तकनीकी तत्वों का संबंध मूल रूप से उत्पादन की विधियों से होता है। इनमें श्रम विभाजन, उत्पादन विधियों का प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा उत्पादन विधियों का एकीकरण आदि सम्मिलित हैं। इन्हीं तत्वों के कुशल संयोजन के फलस्वरूप उत्पादन में मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं। तकनीकी तत्वों से मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाए ताकि मशीन, उपकरण आदि संचालित करने की लागत एवं उसमें विनियोजित पूंजी की लागत भी कम की जा सके। इसके लिए उत्पादन केवल बड़े पैमाने पर ही नहीं होना चाहिए बल्कि कुल उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग किया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि जब अधिक वस्तुओं का उत्पादन होगा और उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग होगा तभी प्रति उत्पादित वस्तु लागत कम हो सकेगी। अर्थात एक संस्था तकनीकी अनुकूलतम आकार तब प्राप्त कर सकेगी जब उत्पादन तकनीकी क्षमता के सर्वोच्च स्तर पर पहुंचेगा जहां पर औसत उत्पादन लागत न्यूनतम हो। एक बड़े आकार की संस्था तकनीकी अनुकूलतम आकार निम्न विधियों से प्राप्त कर सकती है : (i) श्रम विभाजन, (ii) उत्पादन प्रक्रियाओं का एकीकरण।

श्रम विभाजन : बड़े पैमाने पर उत्पादन की सफलता के लिए श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के सिद्धांतों को लागू किया जाना आवश्यक है क्योंकि इन सिद्धांतों को लागू करने से संपूर्ण उत्पादन क्रिया को कई प्रक्रियाओं में अथवा छोटे छोटे हिस्सों में विभाजित करके प्रत्येक हिस्सा अलग अलग श्रमिक को उनकी योग्यता एवं अनुभव के अनुसार सौंप दिया जाता है। एक ही श्रमिक द्वारा एक कार्य को बार बार किए जाने से उसे वह कार्य करने में आसानी महसूस होती है और उसके ज्ञान व अनुभव का विकास होता है जिसके फलस्वरूप कम समय और कम श्रम में ही वह उस कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित कर लेता है। इसके अतिरिक्त बड़े आकार की संस्था में विशेष प्रकार की मशीनों तथा उपकरणों से कार्य करने के लिए विशिष्ट ज्ञान वाले श्रमिकों की सेवाएं भी उपलब्ध हो सकती हैं। इस प्रकार कार्य के श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण से तकनीकी विकास का लाभ उठाया जा सकता है और श्रमिकों के कार्य को आसान बनाकर उनकी उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है।

उत्पादन प्रक्रियाओं का एकीकरण : तकनीकी मितव्ययताएं उत्पादन प्रक्रियाओं के एकीकरण से भी प्राप्त की जा सकती हैं, क्योंकि उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में अलग अलग मशीनों के प्रयोग से एक तो उत्पादन का क्रम संतुलित नहीं रह पाता है और प्रत्येक

प्रक्रिया में अलग अलग मशीनों को संचालित करने के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इसीलिए उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं को सुनियोजित क्रम में रख कर एक ही मशीन अन्य मशीनें जोड़ दी जाएं तो स्वाभाविक रूप से इसमें श्रम तथा समय की बचत होगी। उदाहरण के लिए पुस्तकों का प्रकाशन करने वाली मशीन के साथ जिल्द लगाने वाली मशीन को जोड़ दिया जाए तो इससे किताबों की उत्पादन लागत तुलनात्मक रूप से कम होगी।

उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं का एकीकरण एक ही मशीन के अंतर्गत एवं एक ही क्रम में करने के लिए अधिक कीमत वाली बड़ी मशीनों की आवश्यकता होती है जिन्हें केवल बड़े आकार की संस्थाएं ही क्रय कर सकती हैं।

श्रम विभाजन एवं उत्पादन प्रक्रियाओं के एकीकरण के अतिरिक्त तकनीकी अनुकूलतम आकार को प्राप्त किया जाना इन तत्वों पर भी आधारित रहता है :

(i) श्रम के स्थान पर मशीनों का अधिक प्रयोग,
(ii) उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग,
(iii) जटिल एवं बहुप्रक्रियात्मक मशीनों का प्रयोग,
(iv) उत्पादित वस्तुओं का प्रमापीकरण,
(v) उत्पादन में विस्तार।

प्रबंधकीय तत्व : उत्पादन की क्रिया जितनी अधिक जटिल होती है, उसमें जितना ही अधिक विशिष्टीकरण एवं श्रमविभाजन होता है और संस्था का आकार जितना ही अधिक विस्तृत होता है, इन सब तत्वों का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए प्रबंध के क्षेत्र में उतने ही अधिक विशिष्टीकरण की आवश्यकता होती है। पर्याप्त प्रबंधकीय कुशलता के अभाव में वहु प्रक्रियात्मक मशीनों, श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण का आशाजनक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है। संस्था के अनुकूलतम आकार को प्रबंधकीय तत्व भी प्रभावित करते हैं, क्योंकि संस्था का अनुकूलतम आकार प्राप्त करने के लिए प्रबंधकीय क्रियाओं का विभाजन, उनका निष्पादन करने हेतु संस्था में विभिन्न विभागों की रचना, एवं कुशल प्रबंधकों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति आवश्यक है। व्यवहार में एक बड़ी संस्था ही कुशल प्रबंधकों की नियुक्ति कर सकती है, जैसे कर्मचारी विभाग में दक्ष एवं निपुण मनोविज्ञान के ज्ञाता की नियुक्ति, उत्पादन विभाग में इंजीनियर की नियुक्ति, वित्त विभाग में निपुण लेखाकार की नियुक्ति तथा विपणन विभाग में विपणन क्रियाओं में कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति आदि। इन्हीं कुशल प्रबंधकों एवं विशेषज्ञों की नियुक्ति के फलस्वरूप प्रबंध की प्रत्येक क्रिया, चाहे वह मूल नीतियों व उद्देश्यों के निर्धारण से संबंधित हो या इनके क्रियान्वयन से, उत्पादन नियोजन का कार्य हो या विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने का, प्रत्येक कार्य कुशल एवं विशिष्ट ज्ञान वाले प्रबधकों द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित किया जा सकता है। पर यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि नियुक्त प्रबंधकों की प्रबंधकीय क्षमता का संस्था के आकार पर प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि संस्था का लगातार विस्तार एक सीमा के बाद प्रबंधकीय कार्यों में जटिलता उत्पन्न कर सकता है। इसके विपरीत छोटे आकार की संस्थाओं की क्रियाओं को प्रबंधित करना तुलनात्मक रूप से आसान है। इसीलिए प्रबंधकीय मितव्ययताएं न केवल बड़े आकार वाली संस्थाओं द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं बल्कि छोटे आकार की संस्थाएं भी अधिक संख्या में कुशल एवं विशिष्ट प्रबंधकों की नियुक्ति के बिना ही उनके विशिष्ट ज्ञान का लाभ उठा सकती हैं। इसके लिए उन्हें विशिष्ट ज्ञान वाले निपुण प्रबंधकों से अपनी समस्याओं के बारे में परामर्श करने के लिए उचित शुल्क का भुगतान करना पड़ता है।

वित्तीय तत्व : किसी भी संस्था का स्थायित्व एवं विकास संस्था की अपना व्यवसाय

संचालित करने के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने की क्षमता पर निर्भर रहता है। यदि संस्था को पर्याप्त वित्तीय सुविधाएं उपलब्ध न हों तो इससे संस्था का विस्तार एवं विकास ही प्रतिबंधित नहीं होता बल्कि उस संस्था का विद्यमान अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। अतः यथासमय उचित शर्तों में आवश्यक वित्त प्राप्त करने की क्षमता का भी संस्था के आकार पर निश्चित प्रभाव होता है। संस्था की पूंजी प्राप्त करने की क्षमता व्यवसाय की प्रकृति, पूंजी बाजार की दशाएं, संस्था की लाभ क्षमता, वित्तीय व्यवहार, आर्थिक स्थिति तथा संगठन के स्वरूप आदि तत्वों पर आधारित है।

व्यवहार में यह पाया जाता है कि छोटे आकार की संस्थाएं अपने व्यवसाय का विस्तार करने के लिए आवश्यक वित्त नहीं जुटा पाती हैं क्योंकि इनके वित्त प्राप्त करने के साधन सीमित होते हैं। इसके विपरीत बड़े आकार वाली संस्थाएं जिनके पास तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्य की संपत्ति होती है इन संपत्तियों को गिरवी रखकर, बैंक या अन्य वित्तीय संस्थाओं से आवश्यक ऋण लेकर अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त बड़ी बड़ी संस्थाएं, जिनकी लाभ क्षमता अच्छी होती है, प्रतिवर्ष अर्जित लाभ का कुछ अंश संचित कोषों में हस्तांतरित करके इनसे भविष्य में संभावित आर्थिक कठिनाइयों का सामना कर सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वित्तीय मितव्ययताएं सामान्य तौर से बड़े आकार की संस्थाओं को ही प्राप्त होती हैं क्योंकि पर्याप्त साधनों की उपलब्धता में वे आवश्यक वित्त आसानी से उचित शर्तों में प्राप्त कर लेती हैं। छोटी संस्थाओं की वित्त प्राप्त करने की क्षमता बड़ी संस्थाओं की अपेक्षा काफी कमजोर होती है, जैसे एकल व्यापार, साझेदारी और कुछ सीमा तक निजी कंपनियों का विस्तार अक्सर पर्याप्त वित्त के अभाव से अवरोधित होता है क्योंकि वे उचित शर्तों पर तथा यथासमय विस्तार की योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त नहीं कर सकती हैं। इसीलिए ये संस्थाएं प्राप्त वित्त का अधिकतम कुशलतापूर्ण प्रयोग करके अपनी लाभ क्षमता में वृद्धि करने का प्रयास करती हैं ताकि आर्थिक साख में वृद्धि करके भविष्य में आवश्यक वित्त प्राप्त कर सकें।

इसके अतिरिक्त बड़ी संस्थाओं (विशेष रूप से सार्वजनिक कंपनी) के पास पर्याप्त वित्तीय साधनों की उपलब्धता के फलस्वरूप पूंजी प्राप्त करने का आकर्षण एवं अत्यधिक उत्साह उन्हें अतिपूंजीकरण की ओर ले जा सकता है जिससे उनकी लाभ क्षमता में क्षीणता स्वाभाविक है।

अतः बड़े आकार वाली संस्था द्वारा वित्तीय मितव्ययताएं निम्न प्रकार से प्राप्त की जा सकती हैं :

1. सही वित्तीय योजना तैयार करना और कुल पूंजी का निर्धारण करने के लिए व्यवसाय की वर्तमान एवं भावी वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखना।

2. पूंजी प्राप्त करने के उचित एवं उपयुक्त साधनों का चुनाव करके पूंजी के ढांचे में पर्याप्त लोच बनाए रखना।

3. संस्था में भविष्य के लिए ऋण के भुगतान की, ब्याज के भुगतान की, ह्रास एवं बट्टे खाते की उचित व्यवस्था करना।

4. प्राप्त वित्त का अधिकतम कुशलतापूर्ण एवं प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करना।

विपणन तत्व : विपणन व्यवसाय की एक महत्वपूर्ण क्रिया है। इसका भी संस्था के आकार पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। विपणन में वस्तुओं का विक्रय ही सम्मिलित नहीं है बल्कि वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए कच्चे माल की खरीद, वस्तु की विस्तृत योजना तैयार करना, बाजार का सर्वेक्षण करके ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं का अध्ययन करना, उत्पादित वस्तु के बारे में ग्राहकों को सूचित करना, और वस्तु की

मांग उत्पन्न करके उसे ग्राहकों तक पहुंचाने की उचित व्यवस्था करना आदि समस्त क्रियाएं भी विपणन में सम्मिलित हैं।

विपणन की इन समस्त क्रियाओं को संचालित करने तथा उनसे मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए संस्था का आकार बड़ा होना चाहिए क्योंकि बड़ी मात्रा में कच्चे माल को क्रय करके उससे तैयार माल को बड़े स्तर पर बेचने से बड़ी मात्रा के क्रय-विक्रय की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकेंगी और विपणन की अन्य सहायक क्रियाओं, जैसे बाजार सर्वेक्षण, शोध कार्य, प्रभावशाली विज्ञापन, वस्तु विकास योजना आदि में आवश्यक धनराशि व्यय करके इनका पूरा पूरा लाभ उठाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि संस्था कई प्रकार की वस्तुएं उत्पादित कर रही है अथवा उनका व्यापार कर रही है तो ऐसी संस्था को वस्तुओं का विज्ञापन करने तथा बिक्रीवर्द्धक प्रयत्नों में किए जाने वाले व्ययों में मितव्ययता प्राप्त हो सकती है, इससे संस्था वस्तुओं की विद्यमान मांग कायम रख सकती है और भविष्य में मांग बढ़ाई जा सकती है। एक बड़ी संस्था जो वस्तुओं का उत्पादन कर रही है स्वयं पृथक विपणन विभाग की स्थापना करके उसमें कुशल एवं निपुण प्रबंधकों तथा कर्मचारियों को नियुक्त करके उत्पादित वस्तुओं को स्वयं अंतिम ग्राहकों तक पहुंचा कर मध्यस्थों के द्वारा लिए जाने वाले लाभ में बचत प्राप्त कर सकती है। हालांकि व्यवहार में उत्पादन एवं विपणन में संतुलन एवं व्यवस्थित संबंध बनाए रखना एक जटिल कार्य है।

इसके विपरीत आकार में छोटी संस्था विपणन की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त नहीं कर सकती है। फिर भी सरकार द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण, प्राथमिकता एवं अन्य विपणन सुविधाओं का लाभ उठा कर विपणन व्ययों में कमी ला सकती है। इसके अतिरिक्त छोटी संस्थाएं आपस में मिल कर स्वयं 'केंद्रीय बिक्री गृह' की स्थापना करके मध्यस्थों के चंगुल से मुक्त हो सकती हैं, और संयुक्त रूप से बड़ी संस्थाओं के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकती हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विपणन की मितव्ययताएं बड़े आकार की संस्थाओं तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि व्यवहार में छोटी छोटी संस्थाएं भी इस स्थिति में होती हैं कि उनके विपणन व्ययों में भी कमी की जा सकती है। विपणन तत्वों से मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए व्यवसाय का आकार निर्धारित करने हेतु वस्तु की मांग की प्रकृति, प्रतिस्पर्धा, उपलब्ध वितरण के माध्यम आदि तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

जोखिम एवं उतार-चढ़ाव : व्यावसायिक क्रिया विभिन्न घटकों (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक) के संयोग से तैयार वातावरण में, भविष्य में संचालित की जाती है, इसीलिए व्यवसाय में वातावरण के किसी भी घटक में अवांछनीय परिवर्तन (जो व्यवसाय को विपरीत रूप से प्रभावित करता है) के फलस्वरूप संभावित हानि का जोखिम बना रहता है। इन घटकों में परिवर्तन विभिन्न कारणों से हो सकते हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है। जोखिम एवं व्यवसाय में उतार-चढ़ाव के तत्व भी संस्था के आकार को प्रभावित करते हैं क्योंकि संस्था का आकार इतना बड़ा होना चाहिए कि व्यावसायिक वातावरण में परिवर्तनों के दुष्परिणामों को सहन किया जा सके अर्थात उनके लिए उचित व्यवस्था की जा सके। और दूसरी ओर संस्था का आकार इतना छोटा होना चाहिए कि इन परिवर्तनों को बिना किसी गंभीर हानि के आसानी से नियोजित किया जा सके। इस संबंध में हम विशेष रूप से वस्तु की मांग में परिवर्तनों का विस्तृत वर्णन कर रहे हैं। वैसे तो व्यवसाय की प्रत्येक क्रिया में जोखिम संलग्न रहता है फिर भी व्यवहार में वस्तु की मांग में परिवर्तन का जोखिम अधिक गंभीर प्रकृति का होता है जो संपूर्ण व्यवसाय के अस्तित्व को प्रभावित करता है।

क्रिया को संचालित करता है। इसके फलस्वरूप संभावित लाभ-हानि के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। व्यवसाय का स्वामित्व पूर्णतया उसी तक सीमित होता है।

व्यवसाय का यह स्वरूप अन्य स्वरूपों की तुलना में सबसे अधिक सरल एवं सुगम है क्योंकि व्यवसाय के इस स्वरूप में स्वामित्व, प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण तथा निहित जोखिम पूर्णतया व्यक्ति विशेष का होता है। इस स्वरूप की कुछ परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं जिनके आधार पर हम इस स्वरूप की मूल विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

जे० ए० सुविन के शब्दों में, 'एकल स्वामित्व वाले व्यवसाय में व्यक्ति विशेष ही व्यवसाय को संगठित करता है, उसी के पास व्यवसाय का स्वामित्व होता है और व्यवसाय को वह अपने व्यक्तिगत नाम से चलाता है।' इस परिभाषा में यह बताया गया है कि एकल व्यापार को किसी व्यक्ति विशेष द्वारा संगठित किया जाता है जो उसका स्वामी कहलाता है। वह व्यवसाय को अपने व्यक्तिगत नाम से चलाता है अर्थात व्यवसाय का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर निर्भर है। पर इस परिभाषा में व्यवसाय में निहित जोखिम के वहन का वर्णन नहीं किया गया है हालांकि स्वामित्व पर ही जोखिम वहन निर्भर होता है।

एल० एच० हैने के अनुसार, 'व्यक्तिगत साहसी पद्धति अथवा एकल साहसी पद्धति, जैसाकि कभी कभी कहा जाता है, वह औद्योगिक क्रम है जिसके अंतर्गत व्यवसाय व्यक्तियों अथवा परिवारों द्वारा चलाया जाता है। व्यावसायिक संगठन का एकल व्यापार ऐसा स्वरूप है जिसका मुखिया सामान्य तौर से एक ही व्यक्ति होता है। यह व्यक्ति समस्त कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है, समस्त क्रियाएं संचालित करता है और असफलता के जोखिम को अकेले वहन करता है।' हैने की इस परिभाषा के अंतर्गत एकल व्यापार की व्याख्या व्यापक रूप से की गई है। इसमें बताया गया है कि एकल व्यापार या तो व्यक्ति विशेष द्वारा या व्यक्ति विशेष के नाम से परिवार द्वारा भी चलाया जा सकता है परंतु परिवार का मुखिया ही व्यवसाय का संचालन करता है और स्वयं हानि-लाभ के जोखिम को वहन करता है।

इसी प्रकार किवल और किवल के अनुसार, 'एकल व्यापारी अपने देश के सामान्य एवं विशिष्ट कानूनों के अंतर्गत अपने व्यवसाय के समस्त मामलों का सर्वोच्च न्यायाधीश होता है।' इस परिभाषा के अंतर्गत एकल व्यापार की मूल विशेषताओं का वर्णन करने के बजाय एकल व्यापार में एकल व्यापारी की स्थिति का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार कानूनी मामलों में सर्वोच्च न्यायाधीश का निर्णय अंतिम होता है, ठीक उसी प्रकार एकल व्यापारी भी अपने व्यवसाय के समस्त मामलों में स्वयं अंतिम रूप से निर्णय ले सकता है।

इन सब परिभाषाओं को आधार मान कर एकल व्यापार की कुछ मूल विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है। एकल व्यापार की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं:

व्यक्तिगत स्वामित्व : एकल व्यापार का स्वामित्व एक ही व्यक्ति विशेष के पास होता है और उस व्यक्ति तथा उसके व्यवसाय का अस्तित्व एक दूसरे से जुड़ा हुआ रहता है। एकल व्यापार का उसके स्वामी से पृथक कोई अस्तित्व नहीं होता है।

पूंजी का प्रबंध : एकल व्यापार में पूंजी का प्रबंध भी उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिस व्यक्ति द्वारा व्यापार प्रारंभ किया जाता है तथा. जो व्यवसाय का स्वामी होता है। वह या तो अपनी भूतकाल में की गई बचतों से अथवा अपने मित्रों तथा संबंधियों से एवं अन्य संस्थाओं से व्यक्तिगत ऋण लेकर अपने व्यवसाय के लिए पूंजी एकत्र करता है।

संचालन एवं प्रबंध : व्यावसायिक क्रिया को संचालित, प्रबंधित तथा नियंत्रित करने के

समस्त अधिकार व्यवसाय के स्वामी को ही प्राप्त होते है हालांकि व्यवहार में व्यवसाय का विस्तार होने पर वह अपनी सहायता के लिए प्रवंधक तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता है ताकि व्यावसायिक क्रिया को सुचारु रूप से संचालित किया जा सके।

जोखिम वहन : एकल व्यापार में व्यवसाय का स्वामी ही व्यवसाय से होने वाले लाभ-हानि के लिए पूर्ण रूप से जिम्मेदार होता है, विशेष रूप से भविष्य में अनिश्चित घटनाओं के घटित होने पर संभावित हानि का जोखिम पूर्णतया उसे ही वहन करना पड़ता है।

असीमित दायित्व : एकल व्यापार में व्यवसाय के स्वामी का दायित्व असीमित होता है क्योंकि व्यवसाय का अस्तित्व स्वामी के अस्तित्व से पृथक नहीं है। अत: यदि एकल व्यापारी को व्यवसाय में कोई हानि हो जाए जिसे व्यवसाय की संपत्ति से पूरा न किया जा सके तो इस प्रकार बकाया हानि अथवा देनदारी के लिए व्यापारी की व्यक्तिगत संपत्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

सीमित क्षेत्र : एकल व्यापार चूंकि एक ही व्यक्ति द्वारा प्रारंभ किया जाता है और वही व्यक्ति व्यवसाय के लिए अपने व्यक्तिगत साधनों से पूंजी एकत्र करता है, अत: इसकी व्यावसायिक क्रिया का क्षेत्र सीमित ही रह पाता है। अधिकांश दशाओं में एकल व्यापार छोटे पैमाने पर व्यवसाय करने के लिए अपनाया जाता है।

एकल व्यापार से लाभ

व्यवसाय का यह स्वरूप विकास में सबसे प्रथम होते हुए भी आधुनिक युग तक सबसे अधिक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण समझा जाता है। किंवल और किंवल के शब्दों में, 'एकल व्यापार सबसे पुराना, सरल तथा कुछ पक्षों में सबसे अधिक स्वाभाविक स्वरूप है।' व्यवसाय के इस स्वरूप से निम्न लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं :

सरल स्थापना : एकल व्यापार प्राय: छोटे पैमाने में प्रारंभ किया जाता है इसीलिए इसकी स्थापना सबसे अधिक सरल समझी जाती है। कोई व्यक्ति जो एकल व्यापार स्वरूप के अंतर्गत व्यवसाय प्रारंभ करना चाहता है वह किन्हीं जटिल वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा किए बिना कम समय में तथा अल्प व्यय से ही व्यवसाय प्रारंभ कर सकता है। केवल उसे व्यवसाय प्रारंभ करने के संबंध में स्थानीय नियमों का पालन करना पड़ता है।

परिश्रम एवं पारिश्रमिक में प्रत्यक्ष संबंध : एकल व्यापार में स्वामी के द्वारा किया जाने वाला परिश्रम उसको प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। इससे एकल व्यापारी को अधिक परिश्रम तथा लगन से कार्य करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि वह इस बात से अवगत रहता है कि, अपने अतिरिक्त परिश्रम से जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा उससे वही पूर्णतया लाभान्वित होता है।

प्रबंध एवं संचालन में कुशलता : एकल व्यापारी अधिक परिश्रम से प्राप्त अतिरिक्त लाभ की प्रेरणा से तथा अपने असीमित दायित्व के तत्व से प्रभावित होकर व्यवसाय का संचालन एवं प्रबंध सतर्कतापूर्वक करता है।

असीमित दायित्व : एकल व्यापारी का दायित्व असीमित होता है। जहां इससे एक ओर उसे अपनी व्यक्तिगत संपत्ति का भय रहता है वहीं दूसरी ओर उसका दायित्व असीमित होने के कारण उसे पूजी प्राप्त करने में सरलता रहती है और व्यवसाय के लिए ऋण आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं।

निर्णयों में शीघ्रता : व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यावसायिक क्रियाओ से संबंधित निर्णय उचित समय में लिए जाएं। चूंकि एकल व्यापारी व्यवसाय के प्रबंध, सचालन एवं नियंत्रण में पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता है इसलिए आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र निर्णय ले सकता है।

गोपनीयता : एकल व्यापार में व्यवसाय का संचालन, प्रबंध एवं नियंत्रण अधिकांश दशाओं में स्वयं व्यवसाय के स्वामी द्वारा किया जाता है और व्यवसाय में होने वाली घटनाओं का ज्ञान स्वामी तक ही सीमित रहता है। उसको वह अपने व्यावसायिक हितों की सुरक्षा के लिए पूर्णतया गोपनीय रख सकता है।

लोच : एकल व्यापार का स्वरूप पूर्णतया लोचपूर्ण है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यवसाय के आकार में समय व आवश्यकता के साथ आसानी से परिवर्तन किए जा सकते हैं।

ग्राहकों की व्यक्तिगत देखभाल : एकल व्यापार प्रायः काफी छोटे पैमाने पर संचालित किया जाता है जिससे व्यापारी अपने ग्राहकों से व्यक्तिगत संबंध बनाए रख सकता है और उसे ग्राहकों की आवश्यकता, रुचि तथा प्राथमिकताओं का पर्याप्त ज्ञान भी होता है जिसका वह लाभ उठा सकता है।

कर्मचारियों से प्रत्यक्ष संबंध : एकल व्यापार में व्यवसाय के स्वामी का अपने सीमित संख्या के कर्मचारियों से प्रत्यक्ष संबंध भी बना रहता है। इससे वह उनकी कठिनाइयों तथा समस्याओं के बारे में शीघ्र अवगत हो जाता है और उनको दूर करके वह कर्मचारियों के साथ मधुर संबंध बनाए रख सकता है।

रोजगार की व्यवस्था : एकल व्यापार को व्यवसायी द्वारा अपनी आजीविका कमाने के लिए तथा अपने को स्वयं रोजगार प्रदान करने के लिए भी उचित व्यवस्था समझा जाता है।

एकल व्यापार के दोष

एकल व्यापार में उपर्युक्त बताए गए लाभों के साथ साथ कुछ कमियां अथवा दोष भी हैं। इन्हीं दोषों को दृष्टि में रख कर व्यवसाय के अन्य स्वरूपों का विकास हुआ है। ये दोष निम्न हैं :

अपर्याप्त पूंजी : एकल व्यवसायी व्यवसाय के लिए पूंजी केवल अपने व्यक्तिगत साधनों से ही एकत्रित करता है और ये साधन सीमित होते हैं। इस कारण उसे अपने व्यवसाय के लिए पर्याप्त पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के विस्तार को साकार बनाने के लिए भी पर्याप्त पूंजी आवश्यक है। पूंजी के अभाव में व्यवसाय का विस्तार नहीं हो पाता है।

असीमित दायित्व : एकल व्यापारी का दायित्व असीमित होता है। अपनी व्यक्तिगत संपत्ति के खतरे के भय से वह व्यवसाय में जोखिममय कार्य नहीं कर पाता है। इससे उसके व्यवसाय के विस्तार में रुकावट पड़ती है और वह पर्याप्त लाभ अर्जित नहीं कर सकता है।

प्रबंध में विशिष्टीकरण का अभाव : व्यावसायिक क्रिया को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यवसाय का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण कुशल और प्रभावशाली हो। प्रबंध की क्रिया या कार्य इतने जटिल हो गए हैं कि सब कार्यों को एक ही व्यक्ति स्वयं निष्पादित नहीं कर सकता है। इससे व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित नहीं किया जा सकता है।

अनिश्चितता : एकल व्यापार का स्वरूप अनिश्चित होता है। व्यवसायी के व्यक्तिगत जीवन में तमाम अनिश्चित घटनाओं के घटित होने से व्यवसाय का दैनिक कारोबार तथा स्थाई अस्तित्व प्रभावित होता है। व्यवसायी की लंबी बीमारी, दिवालिया घोषित होना, मृत्यु आदि से व्यवसाय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

सीमित आकार : एकल व्यापार प्रायः काफी छोटे पैमाने पर प्रारंभ किया जाता है। इसके विपरीत व्यावसायिक जगत की अन्य व्यावसायिक संस्थाएं हैं जो बड़े आकार पर

व्यवसाय करके, विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त करती हैं। इन बड़ी संस्थाओं के साथ छोटा व्यवसायी प्रतिस्पर्धा में अधिक समय तक नहीं टिक सकता है।

कमजोर लेनदेन क्षमता : एकल व्यापार का आकार छोटा होने के कारण व्यवसायी का वस्तु के उत्पादन एवं बाजार पर कहीं कोई प्रभाव नहीं होता है। इसके फलस्वरूप बाजार में हुए छोटे छोटे परिवर्तनों से भी व्यवसायी विपरीत रूप से प्रभावित होता है।

एकल व्यापार की उपयोगिता

एकल व्यापार के ऊपर बताए गए लाभ व दोषों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग के बड़े बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की तुलना में यह स्वरूप अधिक उपयोगी नहीं समझा जाता है। परंतु इसके बावजूद व्यवसाय का यह स्वरूप सबसे अधिक सरल, लोचपूर्ण एवं स्वाभाविक समझा जाता है। इस स्वरूप को निम्न प्रकार की व्यावसायिक क्रियाओं का संचालन करने के लिए सबसे अधिक उपयोगी समझा जाता है :

1. कम जोखिम वाली व्यावसायिक क्रियाएं जिनमें लाभ की मात्रा कम लेकिन स्थाई होती है, इस स्वरूप के अंतर्गत संचालित की जा सकती हैं।

2. ऐसी व्यावसायिक क्रियाएं जिनको संचालित करने के लिए तुलनात्मक रूप से कम पूंजी की आवश्यकता होती है और जो सीमित प्रबंधकीय क्षमता द्वारा संचालित की जा सकती हैं, जैसे फुटकर व्यापार, टेलरिंग कार्य, छोटे पैमाने पर चिकित्सा कार्य, आदि।

3. व्यवसाय के इस स्वरूप को उन वस्तुओं के विक्रय कार्य के लिए भी उपयोगी समझा जा सकता है जिनको बेचने के बाद आवश्यक सेवा की आवश्यकता होती है, जैसे घरेलू उद्योग की छोटी छोटी मशीनें, रेडियो, टेलीविजन इत्यादि।

4. उन वस्तुओं के व्यापार के लिए भी यह स्वरूप उपयोगी है जिन वस्तुओं की मांग व पूर्ति में मौसमी परिवर्तन होते हैं, जैसे फैशन की वस्तुएं, श्रृंगार प्रसाधन आदि।

भारत में एकल व्यापार का भविष्य

एकल व्यापार व्यवसाय के अन्य स्वरूपों में सबसे अधिक पुराना एवं आधुनिक समय तक सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप है और इस स्वरूप की मुख्य विशेषता यह है कि यह संसार के प्रत्येक देश में चाहे वे विकसित देश हों अथवा विकासशील या अल्पविकसित, यह स्वरूप लोकप्रिय रहा है। जहां तक भारतवर्ष में इस स्वरूप के भविष्य का प्रश्न है इसका भविष्य काफी उज्ज्वल है क्योंकि इस देश में आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दशाएं इसके अनुकूल एवं उपयुक्त हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है :

भारत आर्थिक रूप से अभी तक पिछड़े देशों में गिना जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि देश औद्योगिक क्षेत्र में अभी तक आशाजनक विकास नहीं कर पाया है। इसका मुख्य कारण सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित मुद्रा बाजार का अभाव है जिसके फलस्वरूप बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए पर्याप्त पूंजी उपलब्ध नहीं हो पाती है। इन परिस्थितियों में पूंजी की अल्प मात्रा से छोटे छोटे व्यवसाय प्रारंभ किए जा सकते हैं जो अधिकांश दशाओं में एकल व्यापार के रूप में हो सकते हैं और इस प्रकार छोटे पैमाने के व्यापार, व्यवसाय एवं उद्योगों से ही देश के औद्योगिक विकास की गति बढ़ाई जा सकती है और देश आर्थिक रूप से खुशहाल बन सकता है।

आर्थिक परिस्थितियों की भांति राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियां भी व्यवसाय के एकल व्यापार के स्वरूप को ही अधिक आकर्षित करती हैं। देश में जनतांत्रिक

शासन पद्धति होने के फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद से सरकार ने इस बात पर जोर दिया है कि देश में पर्याप्त छोटे छोटे कुटीर एवं लघु उद्योग स्थापित किए जाएं और इस दिशा में सरकार ने बड़े बड़े उद्योगों के साथ ही साथ छोटे स्तर के उद्योगों को समय समय पर आर्थिक सुविधाएं तथा अन्य प्रोत्साहन एवं छूटें प्रदान की हैं। इसी प्रकार जहां तक सामाजिक परिस्थितियों का प्रश्न है, देश की लगभग 80% जनता गांवों में रहती है जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति देश के गिने-चुने शहरों में स्थित व्यापारिक गृहों के द्वारा नहीं की जा सकती है। वितरण की इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि ग्रामों में स्थित जनसंख्या के अधिकांश तक वस्तुएं वितरित करने के लिए एकल व्यापार का स्वरूप सबसे अधिक उपयुक्त एवं प्रभावपूर्ण है। इसके अतिरिक्त देश के कोने कोने में स्थित ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनके निकट ही छोटे स्तर पर वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करके उन तक आसानी से पहुंचाया जा सकता है।

संक्षेप में, देश में ग्रामीण क्षेत्र का महत्व, सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित मुद्रा बाजार का अभाव एवं सरकार की लघु स्तर एवं कुटीर उद्योगों के प्रति उदारता एवं लोकप्रिय नीति आदि कारणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एकल व्यापार के स्वरूप का भविष्य भारत जैसे देश में उज्ज्वल है।

साझेदारी

कालांतर में वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति के फलस्वरूप तथा मानव आवश्कताओं में वृद्धि के कारण, व्यावसायिक क्रिया को संचालित करने के लिए एकल व्यापार का स्वरूप अपर्याप्त एवं अपूर्ण समझा गया क्योंकि इस स्वरूप के अंतर्गत पर्याप्त पूंजी का अभाव, आवश्यक प्रबंधकीय क्षमता का अभाव एवं छोटे पैमाने पर वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तथा वितरण, असीमित दायित्व, अस्थिरता एवं संपूर्ण जोखिम का केंद्रीकरण आदि सीमाएं निहित हैं। मुख्य रूप से इन्हीं सीमाओं के कारण व्यवसाय के अन्य स्वरूपों का जन्म हुआ है ताकि इन सीमाओं के बाहर व्यावसायिक क्रिया का विस्तार किया जा सके। नए विकसित स्वरूपों में साझेदारी का स्वरूप भी एक महत्वपूर्ण स्वरूप है। इसके अंतर्गत दो या दो से अधिक व्यक्ति आपस में समझौता करके एवं पर्याप्त पूंजी की व्यवस्था करके, व्यावसायिक क्रिया प्रारंभ करते हैं और इसके स्वामित्व, प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण तथा निहित जोखिम को समझौते के अनुसार आपस में विभाजित करते हैं।

प्रो० मेकनाटन ने ठीक ही कहा है कि व्यवसाय के लिए अधिक पूंजी प्राप्त करने हेतु तथा विभिन्न व्यक्तियों की पूरक क्षमताओं का लाभ उठाने के उद्देश्य से व्यवसायी साझेदारी की स्थापना करते हैं। व्यवसाय के इस महत्वपूर्ण स्वरूप को विभिन्न लेखकों ने परिभाषित किया है।

किवल और किवल के अनुसार, 'साझेदारी फर्म, जैसा कि इसे प्रायः कहा जाता है, उन व्यक्तियों का समूह है जो संयुक्त रूप से किसी व्यवसाय को क्रियान्वित करने के लिए पूंजी या सेवाएं प्रदान करते हैं।' इस परिभाषा को पूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि साझेदारी स्वरूप के अंतर्गत व्यवसाय का संचालन कैसे किया जाता है और लाभ-हानि को किस विधि से वितरित किया जाएगा, क्योंकि ये दोनों तत्व व्यवसाय के परिणाम के रूप में समझे जाते हैं। केवल संयुक्त रूप से पूंजी विनियोजित करने एवं आवश्यक सेवाएं प्रदान करने को ही साझेदारी नहीं समझा जा सकता है।

विलियम आर० स्प्रीगल के शब्दों में, 'साझेदारी में दो या दो से अधिक सदस्य होते हैं, उनमें से प्रत्येक सदस्य साझेदारी के दायित्वों के लिए जिम्मेदार होता है, प्रत्येक साझेदार अपने कार्यों से अन्य साझेदारों को बाध्य कर सकता है और प्रत्येक साझेदार की निजी संपत्ति को भी फर्म के ऋणों की अदायगी के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।' इस परिभाषा में यह नहीं बताया गया है कि साझेदार लाभ-हानि को कैसे वितरित करते हैं और साझेदारों के बीच साझेदारी का संबंध कैसे उत्पन्न होता है। परंतु इसमें साझेदारी के संबंध को परखने के लिए साझेदारी की मूल विशेषता से अवगत कराया गया है। साझेदारी का संबंध एजेंसी के संदर्भ में आधारित होता है क्योंकि साझेदार अपने अधिकारों के भीतर साझेदारी के व्यवसाय में किए गए कार्यों से अन्य साझदारों को बाध्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में साझेदार के असीमित दायित्व की ओर भी संकेत किया गया है क्योंकि साझेदार की व्यक्तिगत संपत्ति फर्म के ऋणों का भुगतान करने के लिए प्रयोग की जाती है।

इन सब परिभाषाओं की तुलना में साझेदारी अधिनियम में दी गई परिभाषा सबसे अधिक उपयुक्त समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा में साझेदारी के समस्त मूल तत्वों को संयोजित किया गया है। इस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार, 'साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संबंध है जिनके द्वारा ऐसे व्यवसाय के लाभ को वितरित करने का समझौता किया गया है जो उनमें से सबके द्वारा संचालित किया जाता है अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अन्य साझेदारों की ओर से संचालित किया जाता है।' इस परिभाषा के अनुसार साझेदारी में निम्न मूल विशेषताएं होनी चाहिए :

साझेदारों की संख्या : साझेदारी स्थापित करने के लिए कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। साझेदारी अधिनियम के अनुसार सामान्य व्यवसाय के लिए सदस्यों की अधिकतम संख्या 20 और बैंकिंग व्यवसाय के लिए 10 नियत की गई है।

साझेदारी संबंध की उत्पत्ति : साझेदारी का संबंध साझेदारों में एक अनुबंध के द्वारा उत्पन्न होता है क्योंकि जितने व्यक्ति मिलकर साझेदारी की स्थापना करना चाहते हैं वह आपस में एक समझौता या अनुबंध कर लेते हैं जिसके फलस्वरूप वे आपस में साझेदार कहलाते हैं। अत: साझेदारी पूर्णरूप से एक अनुबंध का ही परिणाम है।

व्यवसाय : साझेदारी समझौता किसी व्यावसायिक क्रिया को संचालित करने के लिए किया जाता है। व्यवसाय शब्द में समस्त वैधानिक व्यापार, औद्योगिक कार्य, कारोबार अथवा पेशा भी सम्मिलित किया जाता है।

व्यवसाय का संचालन : साझेदारी अधिनियम में जो परिभाषा दी गई है उससे स्पष्ट है कि प्रत्येक साझेदार को साझेदारी के व्यवसाय को संचालित, प्रबंधित एवं नियंत्रित करने का अधिकार है पर व्यवहार में प्रबंध संचालन का यह अधिकार कुछ ही साझेदारों को सौंपा जाता है और उनके द्वारा अन्य साझेदारों की ओर से व्यवसाय का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण किया जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि साझेदारों में एजेंसी का संबंध है। जो साझेदार व्यवसाय को संचलित करने के लिए एजेंट के रूप में कार्य करता है वे सारे कार्य फर्म के अन्य साझेदारों के लिए वैधानिक रूप से बाध्य होते हैं। अत: साझेदारी में संयुक्त दायित्व का तत्व भी विद्यमान होता है।

लाभ का वितरण : साझेदारी का व्यवसाय लाभ कमाने के उद्देश्य से संचालित किया जाता है और इस प्रकार अर्जित लाभ समस्त साझेदारों में वितरित किया जाता है। लाभ के वितरण के लिए साझेदारी अनुबंध में संबंधित व्यवस्था रहती है। इस व्यवस्था के अभाव में फर्म द्वारा अर्जित लाभ समस्त साझेदारों में बराबर के अनुपात में बांटा जाएगा।

साझेदारी अधिनियम की परिभाषा में हानि शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। इसी-लिए यह अर्थ निहित है कि जिस प्रकार लाभ का वितरण किया जाएगा उसी विधि के अनुसार हानि में भी साझेदारी की जाएगी।

साझेदारों का दायित्व : अधिकांश दशाओं में साझेदारों का दायित्व असीमित होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि फर्म की संपत्ति फर्म के दायित्वों एवं ऋणों का भुगतान करने के लिए अपर्याप्त है तो साझेदारों की व्यक्तिगत संपत्ति से इन ऋणों का भुगतान किया जा सकता है।

हित का हस्तांतरण : साझेदारी फर्म का कोई भी साझेदार बिना अन्य साझेदारों की सहमति से उसे प्राप्त हित अन्य किसी व्यक्ति को हस्तांतरित नहीं कर सकता है। हित से हमारा अभिप्राय साझेदार के फर्म की संपत्तियों व लाभ में हिस्से से है।

साझेदारी के भेद

साझेदारों के बीच साझेदारी अनुबंध की शर्तों के अनुसार साझेदारी को निम्न तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

इच्छानुकूल साझेदारी : यदि साझेदारी संस्था की स्थापना अनिश्चित काल के लिए की गई हो और साझेदारी अनुबंध में इसके समापन के लिए यह व्यवस्था दी गई हो कि फर्म का समापन किसी भी समय किसी एक साझेदार द्वारा समापन की सूचना अन्य साझेदारों को देकर की जा सकती है तो ऐसी साझेदारी 'इच्छा पर साझेदारी' समझी जाएगी। इसका अस्तित्व पूर्ण रूप से फर्म के साझेदारों की इच्छा पर निर्भर है।

विशेष साझेदारी : 'इच्छा पर साझेदारी' के विपरीत यदि साझेदारी संस्था की स्थापना किसी विशेष कारोबार या व्यवसाय को करने के लिए अथवा किसी निश्चित अवधि के लिए की जाए तो इस प्रकार की साझेदारी को विशेष साझेदारी कहा जाता है। उस विशेष कारोबार के पूरा हो जाने पर अथवा निश्चित अवधि समाप्त हो जाने पर स्वतः ही फर्म का समापन हो जाएगा। यदि साझेदारी संस्था का व्यवसाय इस प्रकृति का है कि उसे अल्पकाल में ही पूरा किया जा सकता हो या निश्चित अवधि काफी सीमित है तो इस प्रकार की साझेदारी को 'संयुक्त उपक्रम' की संज्ञा दी गई है।

सीमित साझेदारी : यदि किसी साझेदारी संस्था में किसी एक साझेदार को छोड़ कर, अन्य साझेदारों का दायित्व सीमित हो अर्थात वे फर्म के कार्यों के लिए तथा फर्म के दायित्वों के लिए फर्म में प्राप्त हित तक ही जिम्मेदार हों, तो ऐसी साझेदारी को 'सीमित साझेदारी' कहा जाता है। इस प्रकार की फर्मों का प्रचलन इस स्वरूप के विकास के प्रथम चरणों में विशेष रूप से इंग्लैंड में अधिक था। इस स्वरूप के विकास के समय लोग फर्म में साझेदार नहीं बनना चाहते थे क्योंकि अन्य साझेदारों के द्वारा किए गए कार्यों के लिए वे अपनी व्यक्तिगत संपत्ति को खतरे में नहीं डालना चाहते थे।

इस प्रकार की साझेदारी की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

1. सीमित साझेदारी फर्म का पंजीकरण आवश्यक है।

2. इस प्रकार की फर्म में एक साझेदार का दायित्व असीमित होना आवश्यक है और अन्य साझेदारों का दायित्व सीमित हो सकता है।

3. सीमित दायित्व वाले साझेदार फर्म के व्यवसाय को संचालित करने में हिस्सा नहीं ले सकते हैं और उनके द्वारा किए गए कार्य फर्म पर बाध्य नहीं होते हैं।

4. सीमित दायित्व वाले साझेदारों की मृत्यु हो जाने पर अथवा दिवालिया घोषित होने पर फर्म का समापन नहीं होता है बशर्ते फर्म में कम से कम दो साझेदार असीमित दायित्व वाले हों।

5. सीमित दायित्ववाला साझेदार अपनी पूंजी वापस ले सकता है।

6. सीमित दायित्ववाले साझेदार को फर्म के खातों का निरीक्षण करने का अधिकार होता है।

पर भारतीय साझेदारी अधिनियम में इस प्रकार की सीमित साझेदारी को कोई मान्यता नहीं दी गई। इसीलिए हमारे देश में इस प्रकार की साझेदारी फर्में नहीं पाई जाती हैं।

साझेदारों के भेद

साझेदारी अनुबंध में दी गई विभिन्न व्यवस्थाओं के अनुसार साझेदार की स्थिति जानी जा सकती है क्योंकि अनुबंध में सम्मिलित होते समय समस्त साझेदार यह निश्चित कर लेते हैं कि उनके क्या अधिकार एवं दायित्व होंगे, लाभ में एवं फर्म के व्यवसाय के संचालन में उनकी स्थिति क्या होगी। इसके अतिरिक्त व्यवहार में साझेदारों के कुछ भेद प्रचलित हैं जिनका वर्णन संक्षेप में किया जा रहा है।

सामान्य अथवा सक्रिय साझेदार : यह एक ऐसा साझेदार है जो फर्म के व्यवसाय में पूंजी विनियोजित करता है, व्यवसाय के प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में हिस्सा लेता है और अर्जित लाभ व हानि के लिए जिम्मेदार होता है। इसके अतिरिक्त वह फर्म के कार्यों के प्रति जिम्मेदार होता है तथा उसके द्वारा किए गए कार्य भी फर्म पर बाध्य होते हैं।

निष्क्रिय साझेदार : यह साझेदार सामान्य साझेदार की भांति साझेदारी व्यवस्था में पूंजी विनियोजित करता है, लाभ-हानि में हिस्सा प्राप्त करता है और फर्म के कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है परंतु वह फर्म के व्यवसाय के संचालन एवं प्रबंध में हिस्सा नहीं लेता है, ऐसे साझेदार का दायित्व अन्य साझेदारों की भांति असीमित होता है।

नाम मात्र का साझेदार : यदि किसी व्यक्ति को किसी विशेष व्यवसाय में प्रसिद्धि प्राप्त है और वह किसी साझेदारी फर्म को (जो उसी के सगे संबंधियों अथवा मित्रों द्वारा स्थापित की गई है और संचालित है) अपनी प्राप्त ख्याति अथवा प्रसिद्धि से लाभान्वित करने के लिए, अपना नाम प्रयोग करने का अधिकार देता है तो ऐसा व्यक्ति फर्म में नाममात्र का साझेदार कहलाएगा क्योंकि न तो वह व्यवसाय में पूंजी विनियोजित करता है न संचालन व प्रबंध में भाग लेता है और न ही उसे लाभ-हानि में हिस्सा दिया जाता है। परंतु फर्म को अपना नाम प्रयोग करने का अधिकार देने के फलस्वरूप ऐसा साझेदार, फर्म द्वारा तीसरे पक्षकारों के साथ किए गए समस्त लेन-देनों के लिए एक सामान्य साझेदार की भांति उत्तरदायी होता है।

नाबालिग साझेदार के रूप में : साझेदारी का संबंध एक अनुबंध के द्वारा उत्पन्न होता है। अतः इस अनुबंध में सम्मिलित होने वाले समस्त व्यक्तियों में अनुबंध करने की वैधानिक क्षमता होना आवश्यक है। इसीलिए किसी भी नाबालिग को फर्म का सामान्य साझेदार नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि भारतीय अनुबंध अधिनियम के अनुसार नाबालिग में अनुबंध करने की वैधानिक क्षमता नहीं होती है। इससे यह स्पष्ट है कि नाबालिग को फर्म में सामान्य साझेदार नहीं बनाया जा सकता है। परंतु यदि फर्म के समस्त साझेदार सहमत हों तो उसे फर्म के लाभों में हिस्सा दिया जा सकता है। ऐसे नाबालिग का फर्म के कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व फर्म में उसकी संपत्ति एवं लाभ में प्राप्त हिस्से तक ही सीमित होता है और उसे किसी भी स्थिति में फर्म के कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। ऐसा नाबालिग फर्म की हिसाब की पुस्तकों की जांच कर सकता है और जब तक वह फर्म के लाभ में भागीदार बना रहेगा तब तक अपने हिस्से के लिए फर्म के ऊपर वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता है। बालिग होने के बाद 6 माह

के भीतर उसे यह सार्वजनिक घोषणा करनी पड़ेगी कि वह फर्म में साझेदार के रूप में है अथवा नहीं। यदि वह यह घोषणा नहीं करता है तो उसे साझेदार माना जाएगा और फर्म के कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकेगा। यदि ऐसा नाबालिग फर्म में साझेदार रहना चाहता है तो उस तिथि से उसे सामान्य साझेदार की भांति उत्तरदायी ठहराया जा सकेगा जिस तिथि पर उसे फर्म के लाभों में भागीदार बनाया गया था।

नाबालिग को फर्म के लाभों में हिस्सा देने का आधार मानवीय है जैसे यदि किसी साझेदार की मृत्यु हो जाए तो ऐसी स्थिति में साझेदार द्वारा फर्म में किए कार्यों एवं बलिदान को ध्यान में रखते हुए उसके नाबालिग पुत्र को फर्म के लाभों में सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रदर्शन द्वारा अथवा गत्यवरोध साझेदार : यदि कोई व्यक्ति लिखित या मौखिक रूप से या अपने आचरण और व्यवहार से दूसरे व्यक्ति को इस बात पर विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है कि वह किसी अमुक फर्म में साझेदार है, (जबकि वास्तव में वह साझेदार नहीं है) इस प्रकार प्रेरित होकर यदि वह दूसरा व्यक्ति फर्म के साथ कोई लेनदेन करता है तो इस लेनदेन में प्रेरित करने वाला व्यक्ति उस दूसरे व्यक्ति के प्रति अन्य साझेदारों की भांति जिम्मेदार ठहराया जा सकता है और उसे प्रदर्शन द्वारा या गत्यवरोध साझेदार समझा जाएगा।

सीमित दायित्ववाला साझेदार : यदि किसी साझेदार का दायित्व फर्म की संपत्तियों एवं लाभ में प्राप्त हिस्से तक ही सीमित हो तो उसे सीमित दायित्ववाला साझेदार कहा जाएगा। इसका वर्णन सीमित साझेदारी में किया जा चुका है।

साझेदारी अनुबंध अथवा समझौता

साझेदारी संबंध की स्थापना अनुबंध द्वारा होती है और समस्त साझेदार इस अनुबंध में सम्मिलित होते समय सामान्य रूप से उन सभी मामलों के लिए उचित व्यवस्था करते हैं जो भविष्य में उनके संबंधों को प्रभावित कर सकते हैं, और जिनसे फर्म का व्यवसाय प्रभावित हो सकता है।

दूसरे शब्दों में साझेदारी समझौता एक ऐसा लिखित प्रलेख है जिसके अंतर्गत उन तमाम नियमों तथा उपनियमों का उल्लेख किया जाता है जो फर्म के व्यवसाय को संचालित करने के लिए आवश्यक होते हैं। यह प्रलेख फर्म के समस्त साझेदारों द्वारा हस्ताक्षरित होता है। इस प्रलेख को तैयार करने से एक ओर तो फर्म का व्यवसाय संचालित करने के लिए आवश्यक नियमावली उपलब्ध होती है और दूसरी ओर इसमें दिए गए नियमों तथा उपनियमों का पालन करने के लिए समस्त साझेदारों को वैधानिक रूप से जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। उनमें उत्पन्न मतभेद तथा मनमुटाव की स्थिति को सुलझाया जा सकता है। सामान्य तौर से इस प्रलेख में इन मामलों से संबंधित व्यवस्थाएं सम्मिलित की जाती हैं : (i) फर्म का नाम, (ii) फर्म के व्यवसाय की प्रकृति, (iii) साझेदारों द्वारा विनियोजित पूंजी का ब्यौरा, (iv) साझेदारों के अधिकार एवं कर्तव्य, (v) साझेदारों के नाम व पते, (vi) व्यवसाय का स्थान, (vii) साझेदारी की अवधि एवं समापन संबंधी व्यवस्थाएं, (viii) लाभ-हानि का वितरण, (ix) संचालन संबंधी व्यवस्था, (x) साझेदारों द्वारा अवकाश प्राप्त करने की शर्तें, (xi) साझेदारों को निलंबित करने की व्यवस्था, (xii) नए साझेदार का प्रवेश, (xiii) पारिश्रमिक, (xiv) ख्याति, (xv) फर्म के समापन की दशा में संपत्तियों का वितरण, (xvi) न्याय पंचायत द्वारा मतभेदों का निपटारा।

साझेदारी फर्म का पंजीकरण

भारतीय साझेदारी अधिनियम के अंतर्गत फर्म का पंजीकरण आवश्यक नहीं है। पर व्यावहारिक रूप से लगभग सभी फर्में अपना पंजीकरण करा लेती हैं क्योंकि अपंजीकृत फर्म को कुछ वैधानिक असुविधाओं तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी-लिए अप्रत्यक्ष रूप से यह आवश्यक है कि फर्म पंजीकृत हो।

फर्म का पंजीकरण काफी सरल है। किसी भी समय इच्छुक फर्म इसके लिए एक निर्धारित फार्म को भर कर नियत शुल्क के साथ, निम्न विवरणों को संलग्न करके पंजी-करण करा सकती है : (i) फर्म का नाम, (ii) व्यवसाय करने का मुख्य स्थान, (iii) साझेदारों के नाम व पते, (iv) साझेदारों की फर्म में सम्मिलित होने की तिथि, (v) साझेदारी की अवधि, (vi) यदि फर्म की अन्य शाखाएं हों तो उनका स्थान।

साझेदारी अधिनियम की धारा 58 के अनुसार इन विवरणों की जांच करके इसमें प्रत्येक साझेदार को अपने हस्ताक्षर करने आवश्यक है। यदि उपर्युक्त दिए गए विवरणों से रजिस्ट्रार संतुष्ट हो तो संस्था का नाम अपने रजिस्टर में दर्ज करके संस्था को पंजी-करण का नंबर आवंटित कर देता है और फर्म पंजीकृत हो जाती है।

साझेदारी अधिनियम की धारा 69 के अनुसार यदि साझेदारी फर्म पंजीकृत न हो तो इसे निम्न वैधानिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है :

1. कोई भी अपंजीकृत फर्म अथवा ऐसी फर्म का कोई भी साझेदार, अनुबंध में प्राप्त अधिकारों के लिए तीसरे पक्षकार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

2. यदि कोई साझेदारी फर्म पंजीकृत नहीं है तो ऐसी फर्म का कोई भी साझेदार फर्म के अन्य साझेदारों के विरुद्ध या फर्म के विरुद्ध अनुबंध में प्राप्त अधिकारों के लिए वाद प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

3. अपंजीकृत फर्म प्रतिवाद के दावे (क्लेम आफ सेट आफ) प्रस्तुत नहीं कर सकती है। ये दावे न्यायालय द्वारा दिए गए दंड की मात्रा को कम करवाने के लिए किए जाते हैं।

साझेदारों के अधिकार

सामान्य तौर से साझेदारों के अधिकार एवं कर्तव्य उनके द्वारा अनुबंध में सम्मिलित होते समय परस्पर राय मशविरा करके तय कर लिए जाते हैं। यदि किन्हीं कारणोंवश ऐसा न किया जा सके तो इस संबंध में साझेदारी अधिनियम की धारा 7 से लेकर 19 तक के अंतर्गत दिए गए अधिकार एवं कर्तव्यों का पालन किया जाता है।

1. प्रत्येक साझेदार साझेदारी फर्म के व्यवसाय को संचालित करने में हिस्सा ले सकता है और साझेदारी में लिए गए निर्णयों के लिए उसे अपना मत प्रकट करने का अधिकार है।

2. साझेदार द्वारा पूंजी के अतिरिक्त जो धनराशि ऋण के रूप में फर्म को दी जाती है उस धनराशि पर उसे 6% वार्षिक दर से ब्याज प्राप्त करने का अधिकार है।

3. यदि किसी साझेदार को फर्म को हानि से बचाने के लिए कोई क्षति हुई है तो वह फर्म से इस क्षति की पूर्ति करा सकता है।

4. प्रत्येक साझेदार फर्म की संपत्ति का फर्म के व्यवसाय के लिए प्रयोग कर सकता है।

5. साझेदार फर्म में रखी गई लेखों की पुस्तकों का निरीक्षण कर सकता है और उनकी प्रतिलिपि प्राप्त कर सकता है।

6. प्रत्येक साझेदार तब तक फर्म में साझेदार बना रहेगा जब तक कि साझेदारी अनुबंध की व्यवस्थाओं के अनुसार उसे फर्म से निष्कासित न किया जाए।

7. किसी भी साझेदार द्वारा फर्म से अवकाश ग्रहण करने की स्थिति में अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके खाते में पूंजी की बकाया राशि पर लाभ का हिस्सा या 6% वार्षिक ब्याज फर्म द्वारा साझेदार या उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को दिया जाएगा।

8. यदि साझेदारी समझौते में लाभ-हानि वितरण का अनुपात नहीं दिया गया है तो ऐसी स्थिति में प्रत्येक साझेदार को बराबर अनुपात में लाभ-हानि में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।

9. इसके अतिरिक्त आपातकालीन स्थिति में फर्म को हानि से बचाने के लिए प्रत्येक साझेदार को यह अधिकार है कि वह सारे उचित एवं आवश्यक प्रयास कर सकता है जो उसी प्रकार की स्थिति में एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति अपने को हानि से बचाने के लिए करता।

साझेदारों के कर्तव्य

1. साझेदारी संबंध का जन्म परस्पर विश्वास पर आधारित अनुबंध के द्वारा होता है। अतः प्रत्येक साझेदार का यह मूल कर्तव्य है कि वह अन्य साझेदारों के प्रति विश्वसनीय एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करे और व्यवसाय का संचालन समस्त साझेदारों के सामान्य लाभ के लिए करे।

2. साझेदार को जो कार्य सौंपा जाए वह उस कार्य को सावधानीपूर्वक सामान्य ज्ञान व चतुराई का प्रयोग करते हुए करे।

3. यदि किसी साझेदार द्वारा जानबूझकर की गई लापरवाही तथा कपट से फर्म को कोई क्षति होती है तो उसे इस क्षति की पूर्ति करनी होगी।

4. साझेदार को फर्म का हिसाब-किताब रखने की जिम्मेदारी सौंपे जाने पर उसका यह कर्तव्य है कि वह समस्त लेनदेन के लिए सही एवं उचित हिसाब किताब की बहियां रखे और अन्य साझेदारों द्वारा मांगे जाने पर प्रस्तुत करे।

5. साझेदार को चाहिए कि वह फर्म की संपत्तियों को अपने व्यक्तिगत उद्देश्य के लिए प्रयोग में न लाए।

6. साझेदार को जो अधिकार दिए गए हों उसे उन्हीं अधिकारों के भीतर कार्य करना चाहिए।

7. साझेदार फर्म के लेनदेन में कोई गुप्त लाभ न कमाए। यदि उसे कोई इस प्रकार का लाभ प्राप्त होता है तो उसका कर्तव्य है कि वह इसे फर्म के सुपुर्द करे।

8. प्रत्येक साझेदार का यह कर्तव्य है कि बिना अन्य साझेदारों की सहमति के वह अपना हित अन्य पक्षकार को हस्तांतरित न करे।

साझेदारों के गर्भित अधिकार

जैसाकि साझेदारी की विशेषताओं के संबंध में बताया जा चुका है कि साझेदारों के बीच एजेंसी का संबंध होता है। किसी भी साझेदार द्वारा उसको प्राप्त अधिकारों की सीमा के भीतर प्राप्त किया गया कार्य फर्म के अन्य साझेदारों पर बाध्य होता है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में साझेदार प्राप्त अधिकारों की सीमा के बाहर किए गए कार्यों से भी फर्म को बाध्य कर सकते हैं बशर्ते ऐसा कार्य साझेदार ने व्यवसाय की सामान्य दशाओं में किया हो और वह फर्म के व्यवसाय के अंतर्गत आता हो। साझेदार के इस अधिकार को गर्भित अधिकार कहा जाता है। साझेदार के गर्भित अधिकार में निम्न अधिकार

सम्मिलित हैं : (1) फर्म की ओर से वस्तुओं का क्रय-विक्रय करना, (2) फर्म की ओर से भुगतान करना और उसकी रसीद जारी करना, (3) फर्म की साख पर फर्म के लिए धन उधार लेना, (4) फर्म के व्यवसाय के कर्मचारी नियुक्त करना, (5) फर्म के साथ लेनदेन करने वाले तीसरे पक्षकार को संबंधित भुगतान करना।

गर्भित अधिकारों की सीमाएं : (1) फर्म से संबंधित विवाद को न्याय पंचायत के सुपुर्द न करना। (2) फर्म की ओर से बैंक में अपने नाम पर खाता न खोलना। (3) फर्म की ओर से किया गया मुकदमा वापस न लेना। (4) फर्म के विरुद्ध किए गए मुकदमे में कोई उत्तरदायित्व स्वीकार न करना। (5) फर्म की ओर से किसी विवाद में राजीनामा न करना। (6) फर्म की ओर से अचल संपत्ति न खरीदना और उसे अन्य पक्षकार को हस्तांतरित न करना। (7) फर्म की ओर से अन्य साझेदारी में सम्मिलित न होना।

उपर्युक्त कार्यों को कोई भी साझेदार तब तक नहीं कर सकता है जब तक कि उसे इन कार्यों को करने के लिए स्पष्ट रूप से अधिकार न दिए जाएं।

साझेदारी फर्म का समापन

सामान्य तौर पर साझेदारी का समापन एवं साझेदारी फर्म का समापन शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किए जाते हैं, परंतु यह उचित एवं सही नहीं है। क्योंकि साझेदारी अधिनियम में साझेदारी के समापन तथा साझेदारी फर्म के समापन में स्पष्ट भेद किया गया है और ये दोनों स्थितियां एक दूसरे से भिन्न हैं। साझेदारी के समापन से अर्थ साझेदारी अनुबंध या समझौते के समापन से है। यदि किन्हीं कारणों से साझेदारों के बीच हुआ समझौता समाप्त हो जाए तो इसे साझेदारी का समापन कहा जाएगा। यदि साझेदारी समझौते के समाप्त होने के साथ ही फर्म का व्यवसाय भी समाप्त हो जाए तो इसे साझेदारी फर्म का समापन कहा जाएगा। अतः साझेदारी फर्म का समापन साझेदारी के समापन से अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें समझौते के साथ व्यवसाय भी समाप्त हो जाता है। यदि फर्म में तीन साझेदार हैं तो उनमें से एक की मृत्यु हो जाने पर साझेदारी समझौता समाप्त हो जाएगा। अन्य साझेदार नया समझौता करके फर्म के उसी व्यवसाय को कायम रख सकते हैं, परंतु यदि फर्म में केवल दो साझेदार हैं, उनमें से एक की मृत्यु हो जाए तो इस स्थिति में साझेदारी समझौते के साथ ही साथ फर्म का व्यवसाय भी समाप्त हो जाएगा और इसे साझेदारी फर्म का समापन कहा जाएगा।

साझेदारी फर्म का समापन निम्न प्रकार से हो सकता है :

1. जैसे साझेदारी की स्थापना परस्पर अनुबंध के द्वारा होती है, इसी प्रकार समस्त साझेदारों के बीच समझौता करके साझेदारी को समाप्त किया जा सकता है।

2. इच्छा पर साझेदारी का समापन किसी भी समय एक साझेदार द्वारा समापन की सूचना अन्य समस्त साझेदारों को देकर की जा सकती है।

3. अनिश्चित घटनाओं के घटित होने पर भी साझेदारी फर्म का समापन हो सकता है जैसे, (अ) यदि साझेदारी की स्थापना किसी विशेष व्यवसाय या निश्चित अवधि के लिए की गई हो तो व्यवसाय पूरा हो जाने पर अथवा अवधि समाप्त हो जाने पर साझेदारी स्वतः समाप्त हो जाएगी। (ब) किसी भी साझेदार की मृत्यु हो जाने पर या दिवालिया घोषित होने पर साझेदारी समाप्त हो सकती है।

4. साझेदारी फर्म अनिवार्य रूप से भी समाप्त हो सकती है यदि : (अ) किसी एक साझेदार को छोड़कर अन्य साझेदारों की मृत्यु हो जाए या वे दिवालिया घोषित हो जाएं। (ब) यदि फर्म का व्यवसाय अवैधानिक घोषित हो जाए।

5. उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त कुछ स्थितियों में न्यायालय द्वारा आदेश जारी

करके साझेदारी को समाप्त किया जा सकता है। (अ) यदि कोई साझेदार पागल हो जाए। (ब) यदि कोई साझेदार किसी बीमारी या दुर्घटना के कारण अपने कर्तव्यों का पालन करने में हमेशा के लिए शारीरिक रूप से असमर्थ हो जाए। (स) यदि फर्म का कोई साझेदार दुराचरण का दोषी हो जिसका व्यवसाय पर विपरीत प्रभाव पड़ा हो। (द) साझेदार द्वारा समझौते की व्यवस्थाओं का जानबूझकर उल्लंघन करने पर। (य) साझेदार द्वारा अन्य साझेदारों की सहमति के बिना अपना हित तीसरे पक्षकार को हस्तांतरित करने पर। (र) फर्म का व्यवसाय इस स्थिति में आ जाए कि उसे बिना हानि के न चलाया जा सकता हो। (ल) इसके अतिरिक्त यदि न्यायालय फर्म का समापन न्यायपूर्ण एवं उचित समझे तो समापन का आदेश जारी कर सकता है।

साझेदारी के गुण व दोष

व्यवसाय के स्वरूपों में साझेदारी का स्वरूप एकल व्यापार के दोषों को दृष्टि में रखते हुए विकसित किया गया। इस स्वरूप में भी कुछ मुख्य कमियां थीं और इससे भी व्यावसायिक क्रिया के विस्तार एवं उसके सुचारु रूप से संचालन के लिए उपयुक्त ढांचा प्रदान न किया जा सका। इसी के फलस्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप का विकास हुआ। अतः साझेदारी के गुण व दोषों का वर्णन एकल व्यापार व संयुक्त पूंजी कंपनी की तुलना में किया गया है।

लाभ : 1. साझेदारी फर्म की स्थापना भी एकल व्यापार की भांति सरल एवं सुगम है क्योंकि साझेदारी की स्थापना के लिए इच्छुक व्यक्ति किसी भी समय, बिना अधिक व्यय व परिश्रम के आपस में अनुबंध कर लेते हैं। (2) फर्म का प्रत्येक साझेदार व्यवसाय के संचालन एवं प्रबंध में हिस्सा ले सकता है। अतः एकल व्यापार की तुलना में इस स्वरूप के अंतर्गत प्रबंधकीय कुशलता में वृद्धि स्वाभाविक है क्योंकि अलग अलग साझेदार व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष एवं निपुण हो सकते हैं। (3) जोखिम व्यवसाय में निहित है परंतु साझेदारी में दो या दो से अधिक व्यक्तियों के पास व्यवसाय का स्वामित्व होने से संबंधित जोखिम उन सब साझेदारों में बंट जाता है। (4) साझेदारी संस्था में एकल व्यापार की अपेक्षाकृत पूंजी प्राप्त करने के अधिक साधन उपलब्ध होते हैं। फर्म में कोई भी साझेदार अधिक धनी होने के कारण फर्म को समय समय पर ऋण प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त साझेदारों का दायित्व असीमित होने से भी फर्म को ऋण आदि लेने में आसानी रहती है क्योंकि ऋणदाता को यह तथ्य पता होता है कि यदि फर्म की संपत्ति ऋण का भुगतान करने के लिए अपर्याप्त हो तो बकाया राशि साझेदारों की व्यक्तिगत संपत्ति से भी वसूल की जा सकेगी। (5) साझेदारी फर्म में दो या दो से अधिक साझेदार होने के फलस्वरूप व्यवसाय की दैनिक कार्यवाही में एकल व्यापार की अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रहती है। एक साझेदार किन्हीं कारणों से व्यवसाय से अनुपस्थित रहता है तो अन्य साझेदार दैनिक कारोबार चला सकते हैं। (6) फर्म के प्रत्येक साझेदार को यह अधिकार है कि व्यवसाय में जो निर्णय लिए जाते हैं उनके लिए अपना मत प्रकट कर सकता है, इससे अल्पमत के हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं। (7) फर्म के व्यवसाय में महत्वपूर्ण निर्णयों में समस्त साझेदारों को सम्मिलित किया जाता है इससे निर्णय अधिक सही एवं प्रभावपूर्ण हो सकते हैं। (8) साझेदारी स्वरूप से कुछ सीमा तक व्यावसायिक क्रिया का विस्तार संभव है क्योंकि विस्तार के लिए इस स्वरूप के अंतर्गत अतिरिक्त पूंजी एवं आवश्यक प्रबंधकीय कुशलता की व्यवस्था की जा सकती है।

दोष : (1) साझेदारी में असीमित दायित्व का तत्व व्यक्तियों को साझेदार बनने में

हतोत्साहित करता है क्योंकि उनको इस बात का भय बना रहता है कि संस्था की देनदारियों का भुगतान करने के लिए किसी भी समय संस्था की संपत्तियों की अपर्याप्तता में उनकी व्यक्तिगत संपत्ति प्रयोग में लाई जा सकती है। (2) साझेदारों के ज्ञान के स्तर, व्यवहार एवं प्रकृति आदि में भिन्नता के कारण समस्त साझेदारों को एक ही निर्णय के लिए सहमत करना काफी कठिन है। प्रत्येक साझेदार अपनी अपनी रुचियों एवं प्राथमिकताओं के अनुसार कार्य करता है जिससे समन्वय का अभाव स्वाभाविक है। (3) साझेदारी फर्म में किसी साझेदार की मृत्यु हो जाने से अथवा उसके दिवालिया घोषित हो जाने से साझेदारी का अस्तित्व भी प्रभावित होता है। इससे सदैव फर्म के अस्तित्व में अस्थिरता बनी रहती है। (4) साझेदारी फर्म में कोई भी साझेदार अन्य साझेदारों की सहमति के बिना अपना हित तीसरे पक्षकार को हस्तांतरित नहीं कर सकता है। इससे यदि कोई साझेदार व्यवसाय की परिस्थितियों से संतुष्ट न हो तो भी उसे फर्म में साझेदार बना रहना पड़ता है। (5) हालांकि साझेदारी में पूंजी प्राप्त करने के साधन एकल व्यापार की तुलना में अधिक हैं फिर भी व्यवहार में पर्याप्त पूंजी के अभाव में व्यवसाय का विस्तार विपरीत रूप से प्रभावित होता है क्योंकि साझेदारी में अधिकतम सदस्य संख्या बीस है, इससे एक सीमा के बाद पूंजी प्राप्त करने की क्षमता भी सीमित हो जाती है। (6) साझेदारी के व्यवसाय के प्रति जनता का पूर्ण विश्वास नहीं रहता है क्योंकि व्यवसाय में जो लेनदेन किए जाते हैं उनसे संबंधित खातों को प्रकाशित नहीं किया जाता है। इसके अतिरिक्त फर्म के व्यवसाय पर कोई वैधानिक नियंत्रण नहीं रहता है।

उपर्युक्त लाभ व दोषों को देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि व्यवसाय के इस स्वरूप से व्यावसायिक क्रिया के विस्तार एवं विकास में पूरी पूरी सहायता मिली है। विशेष रूप से उन देशों में जहां पर्याप्त पूंजी के अभाव व प्रबंधकीय कुशलता के अभाव में बड़े पैमाने पर व्यवसाय प्रारंभ करना कठिन है। व्यावसायिक क्रिया को संचालित करने के लिए इस स्वरूप को महत्वपूर्ण एवं उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि सीमित पैमाने का व्यवसाय करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त व्यक्तियों को कुछ धनी व्यक्तियों के साथ संयोजित करके साझेदारी फर्म की स्थापना की जा सकती है।

संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय

हिंदू रीति रिवाज व परंपराओं तथा 'हिंदू ला' के अंतर्गत जिन स्थानों में पैतृकता की मिताक्षरा पद्धति (मिताक्षरा सिस्टम आफ इनहेरीटेन्स) लागू है (असम व बंगाल को छोड़कर) उन स्थानों में अपने पूर्वजों से प्राप्त संपत्ति में परिवार के समस्त पुरुष सदस्य भागीदार होते हैं और पूर्वजों से इस प्रकार प्राप्त संपत्ति का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण परिवार का सबसे अधिक आयु वाला सदस्य (जिसे पुरखा कहा जाता है) चलाता है। संपत्ति के प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण की इस पद्धति को 'संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय' कहा जाता है क्योंकि सामान्य व्यवसाय की भांति इसमें भी संपत्तियों का प्रबंध एवं संचालन सदस्यों के लाभ के लिए किया जाता है। जहां तक इसकी सदस्यता का प्रश्न है परिवार में ज्योंही कोई लड़का जन्म लेता है तो स्वत: बिना किसी वैधानिक कार्यवाही या अनुबंध के वह इस व्यवसाय का सदस्य बन जाता है। सन 1956 में 'हिंदू सक्सेशन ऐक्ट' बनने के पश्चात अब पुरुष सदस्य की मृत्यु के बाद स्त्री संबंधी (फीमेल रिलेटिव) उसके हिस्से की भागीदार हो सकती है। इस प्रकार के व्यवसाय में सदस्यों के अधिकार एवं कर्तव्य 'हिंदू ला' में दी गई विभिन्न व्यवस्थाओं के अनुसार निर्धारित होते हैं।

संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय एक पारिवारिक व्यवसाय पद्धति है। इसकी

विभिन्न क्रियाएं 'हिंदू ला' की व्यवस्थाओं द्वारा शासित एवं नियंत्रित होती हैं।

2. व्यवसाय मे सदस्यता प्राप्त करने के लिए न तो कोई अनुबंध करना पड़ता है और न अन्य सदस्यों की सहमति लेनी पड़ती है क्योंकि कोई भी पुरुष सदस्य परिवार में जन्म लेते ही इसका सदस्य बन जाता है।

3. संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण परिवार के मुखिया (सबसे अधिक आयु वाला व्यक्ति) द्वारा चलाया जाता है। पर व्यवहार में वह इसके लिए अन्य सदस्यों की सहायता भी लेता है।

4. इस प्रकार के व्यवसाय में मुखिया का दायित्व असीमित होता है परंतु अन्य सदस्यों का दायित्व व्यवसाय में प्राप्त हिस्से तक सीमित होता है।

5. सयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में प्रत्येक पुरुष सदस्य होता है चाहे उसमें अनुबंध करने की वैधानिक क्षमता हो या न हो।

6. संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय के सदस्य, व्यवसाय के अतिरिक्त अपने नाम पर व्यक्तिगत संपत्ति रख सकते हैं।

लाभ : (1) इस प्रकार के व्यवसाय में साझेदारी की अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता एवं निरंतरता बनी रहती है क्योंकि इसमें सदस्य की मृत्यु अथवा दिवालियापन का व्यवसाय के अस्तित्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (2) इस प्रकार के व्यवसाय का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण मुखिया के हाथों में होता है। वह सारे निर्णय स्वयं लेता है और अन्य सदस्य इसमे कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं, इससे प्रबंध की केंद्रीय व्यवस्था बनाई रखी जा सकती है। (3) संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय हिंदू ला द्वारा शासित होता है। इसमें सदस्यों की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गई है अतः इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। (4) मुखिया को छोड़कर व्यवसाय के अन्य सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। (5) व्यवसाय का प्रबंध व संचालन एक ही व्यक्ति के पास होने से एकल व्यापार की भांति निर्णय में शीघ्रता एवं गोपनीयता बनी रहती है। (6) संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय पुश्त दर पुश्त चलता है इससे वर्तमान मुखिया को पिछली पुश्तों में व्यवसाय की ख्याति का लाभ प्राप्त हो सकता है। (7) संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में मुखिया का दायित्व असीमित होने के कारण अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने में सुविधा बनी रहती है।

दोष : (1) इस प्रकार के व्यवसाय में मुखिया का दायित्व असीमित होता है। यदि व्यवसाय की संपत्तियों मे देनदारियों का भुगतान नहीं किया जा सकता है तो ऐसी स्थिति में मुखिया की व्यक्तिगत संपत्ति भी जोखिम में पड़ जाती है। (2) संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में प्रयत्नों का पारितोषिक से प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता है क्योंकि यदि मुखिया अधिक परिश्रम एवं ईमानदारी से कार्य करके अधिक आय अर्जित करता है तो उसको समस्त सदस्यों में वितरित किया जाता है। इससे मुखिया को कोई प्रेरणा नहीं मिलती है। (3) संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में प्रबंध संचालन व नियंत्रण का अधिकार केवल मुखिया तक सीमित रहने के कारण अन्य सदस्यों की व्यवसाय के प्रति रुचि एवं जिम्मेदारी कम हो जाती है तथा उनकी रचनात्मक क्षमताओं का कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता है। इससे व्यवसाय के प्रबंध एवं संचालन में विशिष्टीकरण का अभाव उत्पन्न होना है और मुखिया के लिए यह संभव नहीं होता है कि वह संपूर्ण व्यवसाय की क्रियाओं को सुचारु रूप से संचालित करे जिसके फलस्वरूप प्रबंध में शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। (4) व्यवमाय के विस्तार की दशा में एकल व्यापार की भांति पर्याप्त पूजी तथा आवश्यक प्रबंधकीय क्षमता का सदैव अभाव बना रहता है। (5) हालांकि सदस्यों के अस्तित्व का व्यवसाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है फिर भी सदस्यों में परस्पर मतभेद

उत्पन्न होने के कारण व्यवसाय को किसी भी समय भंग किया जा सकता है। इससे व्यवसाय में अस्थिरता एवं अनिश्चितता बनी रहती है।

संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय व साझेदारी

संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय व साझेदारी में कुछ समानताएं होते हुए भी ये दोनों स्वरूप एक दूसरे से भिन्न हैं।

साझेदारी की स्थापना साझेदारी अधिनियम के अंतर्गत पक्षकारों में परस्पर अनुबंध के द्वारा होती है और अनुबंध में पूर्ण व्यवस्थाओं के अभाव में साझेदारी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाएं लागू होती हैं जबकि संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में पुरुष सदस्य के पैदा होते ही उसको सदस्यता प्राप्त हो जाती है और उसे इसके संबंध में अन्य कोई वैधानिक कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, तथा यह व्यवसाय 'हिंदू ला' की संबंधित व्यवस्थाओं द्वारा शासित होता है।

साझेदारी अधिनियम में फर्म के लिए कम से कम दो सदस्य होने चाहिए और यह संख्या सामान्य व्यवसाय में अधिकतम 20 तथा बैंकिंग व्यवसाय में 10 नियत की गई है जबकि संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में इस प्रकार की कोई सीमाएं नहीं दी गई हैं। सदस्यता की सीमितता के फलस्वरूप साझेदारी में अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने में कठिनाई होती है क्योंकि इससे फर्म के साधन कुछ हद तक सीमित हो जाते हैं।

सदस्यों की स्थिति व दायित्व के आधार पर भी इन दोनों स्वरूपों में मूल अंतर पाया जाता है। फर्म के सदस्य साझेदार कहलाते हैं और संयुक्त हिंदू परिवार के सदस्य स्वामी होते हैं। हालांकि स्वामित्व के आधार पर तो स्थिति कुछ मिलती जुलती है पर व्यवसाय के प्रबंध संचालन में उनकी स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। क्योंकि साझेदारों को प्रबंध व संचालन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है पर संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय का प्रबंध संचालन पूर्ण रूप से परिवार के मुखिया तक ही सीमित है। अन्य सदस्य इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त साझेदारों का दायित्व असीमित होता है परंतु सं० हि० प० व्यवसाय में केवल मुखिया का दायित्व असीमित होता है, अन्य सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। यह कुछ सीमा तक न्यायपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि सदस्यों का दायित्व प्रबंध संचालन के अधिकार से संबंधित किया गया है, और व्यवहार में यदि असीमित दायित्ववाला सदस्य प्रबंध व संचालन करे तो स्वाभाविक रूप से वह इसमें अपने दायित्व को ध्यान में रखते हुए पूर्ण सावधानी एवं सतर्कता बरतेगा।

इसके अतिरिक्त सदस्यों के व्यवसाय के अस्तित्व से संबंध के आधार पर इन दोनों में भेद किया जा सकता है। क्योंकि साझेदारी में साझेदार के कार्य (प्राप्त अधिकारों के अंतर्गत) फर्म पर बाध्य होते हैं परन्तु संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में यह स्थिति नहीं है। साझेदारी फर्म के किसी भी साझेदार की मृत्यु हो जाए या वह दिवालिया घोषित हो जाए तो इससे साझेदारी का समापन हो जाता है जबकि संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय में सदस्यों के अस्तित्व का व्यवसाय के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

अंत में, साझेदारी स्वरूप में प्रत्येक साझेदार को संयुक्त हिंदू परिवार के सदस्यों की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त हैं क्योंकि साझेदार के प्रबंध व संचालन के अधिकार के अतिरिक्त साझेदारों को कुछ गर्भित अधिकार प्राप्त हैं और वे फर्म की हिसाब की पुस्तकों का निरीक्षण कर सकते हैं, उनकी प्रतिलिपि प्राप्त कर सकते हैं जबकि संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय के सदस्यों को इस प्रकार के कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं।

साझेदारी एवं संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय की समस्त विशेषताओं, लाभों व दोषों की तुलना करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संयुक्त हिंदू परिवार व्यव-

साय व्यवसाय के स्वरूप के रूप में पूर्ण नहीं है। यह केवल पारिवारिक व्यवस्था है जिसका संबंध परिवार के सदस्यों के हितों से ही है। फिर भी इसे व्यवसाय के स्वरूप की भांति समझा जाता है क्योंकि इसमें व्यवसाय की तरह संपत्तियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण किया जाता है, स्वाभाविक रूप से जिसका उद्देश्य सदस्यों को अधिक से अधिक लाभान्वित करना है जैसाकि व्यवसाय के अन्य स्वरूपों में भी हो सकता है। संयुक्त हिंदू परिवार व्यवसाय व्यवसाय का एक पूर्ण स्वरूप नहीं है। इसकी कुछ विशेषताएं एकल व्यापार से मिलती हैं और कुछ विशेषताओं में यह साझेदारी के स्वरूप से मिलता जुलता है।

अभी तक किए गए वर्णन में व्यवसाय के तीन स्वरूपों का वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त बाकी अन्य तीन महत्वपूर्ण स्वरूपों (संयुक्त पूंजी कंपनी, सहकारी संगठन और राजकीय उपक्रम), का विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्यायों (अध्याय 4, 5 और 6) में किया जा रहा है।

4

संयुक्त पूंजी कंपनी

व्यवसाय एवं वाणिज्य के क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप व्यावसायिक क्रिया, कालांतर में काफी व्यापक एवं जटिल होती गई है। इससे मानव की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए, व्यावसायिक क्रिया को संचालित करने हेतु एकल व्यापार का स्वरूप व साझेदारी की व्यवस्था पर्याप्त नहीं समझी गई क्योंकि एक ओर इन स्वरूपों में कुछ मुख्य दोष निहित थे जैसे पर्याप्त पूंजी का अभाव, सीमित प्रबंधकीय क्षमता, व्यवसाय के विस्तार की अनुपयुक्त व्यवस्था आदि, और दूसरी ओर बड़े पैमाने पर व्यवसाय की तमाम मितव्ययताएं एवं विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के लाभों का आकर्षण। इन दोनों पहलुओं के संयोजन से व्यवसाय के एक नए महत्वपूर्ण स्वरूप को जन्म मिला, वह है संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप।

ह्वीलर के अनुसार संयुक्त पूंजी कंपनी के विकास में निम्न तत्व सहयोगी रहे हैं: (1) कुशल प्रबंध, (2) वस्तुओं एवं सेवाओं में बदलती परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन, (3) अधिक उपयोगी नई वस्तुओं के उत्पादन के लिए शोध का प्रयोग, (4) व्यवसाय के बाहर से अतिरिक्त पूंजी की प्राप्ति, (5) एक ही प्रकार की वस्तुएं बनाने वाली फर्मों का संयोजन, (6) पूर्ण उत्पादन क्रिया में विभिन्न प्रक्रियाओं में संलग्न फर्मों का संयोजन।

संक्षेप में संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप मुख्य रूप से इसके पूर्व विकसित स्वरूपों (एकल व्यापार व साझेदारी) की अनुपयुक्तता एवं उनमें निहित दोषों को दूर करने के उद्देश्य से विकसित हुआ। हालांकि यह स्वरूप पूर्णरूप से विकसित हो चुका है फिर भी विभिन्न न्यायाधीशों तथा लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाएं अपने में पूर्ण नहीं हैं। इसकी कुछ परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं। न्यायाधीश जेम्स के शब्दों में कंपनी ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित हुए हों। 'यह परिभाषा केवल कंपनी की स्थापना के उद्देश्यों की ओर संकेत करती है। अन्य मूल विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

इस शब्द की इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा एल० एच० हैने ने दी है। हैने के अनुसार, 'संयुक्त पूंजी कंपनी, लाभ अर्जित करने के लिए व्यक्तियों का एक ऐसा ऐच्छिक संगठन है जिसकी पूंजी हस्तांतरणीय अंशों में विभक्त रहती है और अंशों का स्वामित्व ही सदस्यता की शर्त होती है।

इस परिभाषा में हैने ने संयुक्त पूंजी कंपनी की पूंजी की व्यवस्था पर बल दिया है। इनके अनुसार कंपनी की पूंजी छोटे छोटे अंशों में विभक्त रहती है, जिसमें से प्रत्येक हस्तांतरणीय होता है। अंश क्रय करके ही इसकी सदस्यता प्राप्त की जाती है जिसमें स्वामित्वका तत्व निहित है। इस बात का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि सामान्य अंश खरीद कर ही सदस्य को कंपनी में स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त

इस परिभाषा में यह नहीं बताया गया है कि कंपनी के अस्तित्व की क्या प्रकृति है जिसे इसकी मूल विशेषता समझा जाता है।

इसी प्रकार न्यायाधीश मार्शल के अनुसार, 'कंपनी विधान की दृष्टि में एक कृत्रिम, एवं अदृश्य व्यक्ति है।' इस परिभाषा में कंपनी की वैधानिक स्थिति का वर्णन किया गया है और इसके अस्तित्व की ओर प्रकाश डाला गया है। इस परिभाषा के अनुसार कंपनी विधान के समक्ष एक कृत्रिम व्यक्ति है जो अमूर्त तथा अदृश्य है और इसको केवल विधान की दृष्टि में ही अस्तित्व प्रदान है। इस परिभाषा से भी कंपनी की समस्त मूल विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता है। अतः ऊपर दी गई समस्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखकर इस शब्द की एक उपयुक्त परिभाषा जिसमें कंपनी की समस्त मूल विशेषताओं का समावेश हो, निम्न प्रकार से दी जा सकती है।

'कंपनी कानून द्वारा कृत्रिम व्यक्ति है जो अदृश्य है जिसका जीवन शाश्वत होता है तथा जिसकी सामान्य पूंजी छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजित रहती है जिन्हें हस्तांतरित किया जा सकता है और जिसकी एक सार्वमुद्रा (कामन सील) होती है।'

इस परिभाषा में कंपनी की लगभग समस्त मूल विशेषताएं सम्मिलित की गई हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. कंपनी कानून द्वारा निर्मित एक कृत्रिम व्यक्ति है क्योंकि इसकी स्थापना संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं के अंतर्गत की जाती है, और इसे एक प्राकृतिक व्यक्ति की भांति अधिनियम या विधान द्वारा कुछ अधिकार प्राप्त रहते हैं, जैसे कंपनी अपने नाम से व्यवसाय चला सकती है, संपत्ति का क्रय-विक्रय कर सकती है, इसके विरुद्ध न्यायालय में वाद प्रस्तुत किया जा सकता है और इसी प्रकार कंपनी तीसरे पक्षकार के विरुद्ध वाद प्रस्तुत कर सकती है।

2. कंपनी को पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त होता है। इसकी स्थापना कानून द्वारा होती है इसलिए इसे सदस्यों से भिन्न एवं पृथक अस्तित्व प्राप्त है। कंपनी की इस विशेषता के फलस्वरूप कंपनी द्वारा किए गए कार्यों के लिए सदस्य जिम्मेदार नहीं ठहराए जा सकते हैं और सदस्यों द्वारा किए गए कार्य इस पर बाध्य होते हैं। कंपनी की यह मूल विशेषता इसमें अन्य स्वरूपों से भिन्नता उत्पन्न करती है।

3. कंपनी का जीवन शाश्वत या निर्विघ्न होता है क्योंकि इसका अस्तित्व सदस्यों के अस्तित्व से पृथक है और सदस्यों के अस्तित्व में परिवर्तन कंपनी के अस्तित्व को प्रभावित नहीं करता है। कोई भी सदस्य इच्छानुसार अपने अंशों का हस्तांतरण कर सकता है, एवं उसकी मृत्यु हो जाने पर या दिवालिया होने से कंपनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और कंपनी ज्यों की त्यों बनी रहती है।

4. कंपनी की पूंजी सामान्य पूंजी होती है जो छोटे छोटे हिस्सों में विभाजित रहती है। प्रत्येक हिस्सा पृथक रूप से अंश कहलाता है। अंशों का क्रय करके ही इसकी सदस्यता प्राप्त की जाती है और सामान्य अंशों में इसका स्वामित्व भी निहित होता है। कंपनी के अंश स्वतंत्र रूप से हस्तांतरणीय होते हैं।

5. कंपनी के सदस्यों का दायित्व सामान्य तौर से सीमित होता है क्योंकि कंपनी का अस्तित्व सदस्यों के अस्तित्व से भिन्न एवं पृथक है। कंपनी अपने ऋणों का भुगतान अपनी संपत्ति से ही करती है और संपत्तियों की अपर्याप्तता की दशा में सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किए गए अंशों में अदत्त राशि तक ही सीमित होता है।

6. कंपनी की अपनी सार्वमुद्रा (कामन सील) होती है जिसके ऊपर कंपनी का पूरा नाम खुदा रहता है। यह व्यवस्था इसलिए आवश्यक है कि कंपनी केवल कानून की दृष्टि में व्यक्ति स्वरूप है, भौतिक रूप से इसका कोई अस्तित्व नहीं है। विभिन्न दस्ता-

वेजों में हस्ताक्षर के स्वरूप इस सार्वमुद्रा का प्रयोग किया जाता है। यह सार्वमुद्रा अधिकांश दशाओं में कंपनी के सचिव के पास रहती है। जहां इसका प्रयोग किया जाता है वहां कंपनी के दो संचालक अपने हस्ताक्षर करके इसका प्रमाणन करते हैं।

संयुक्त पूंजी कंपनी का वर्गीकरण

संयुक्त पूंजी कंपनी को अलग अलग दृष्टिकोणों से वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम, समामेलन की दृष्टि से, द्वितीय, सदस्यों के दायित्व के दृष्टिकोण से तथा अंतिम जनता के हितों के दृष्टिकोण से।

समामेलन के दृष्टिकोण से समस्त कंपनियां निम्न तीन वर्गों में विभाजित की जाती हैं :

1. विशेष अधिकार पत्र या राजआज्ञा द्वारा निर्मित कंपनियां : कंपनी के समामेलन की यह सबसे पुरानी विधि है। इस विधि के अनुसार कंपनी की स्थापना विशेष अधिकार पत्र या राज आज्ञा के द्वारा की जाती है, जैसे 'ईस्ट इंडिया कंपनी', चार्टर्ड बैंक आफ आस्ट्रेलिया, बैंक आफ इंगलेंड आदि। इस प्रकार की कंपनियों का पृथक वैधानिक अस्तित्व होता है और इनकी अधिकार सीमाएं संबंधित अधिकार पत्र द्वारा निर्धारित होती हैं।

2. संसद में विशेष कानून बनाकर कंपनी का निर्गमन : देश के आर्थिक विकास को संतुलित रखने के लिए एवं राष्ट्र हितों की सुरक्षा के लिए सरकार समय समय पर संसद में विशेष अधिनियम पास करके आवश्यक कंपनी की निर्दिष्ट उद्देश्यों के लिए स्थापना करती है अथवा आवश्यक अध्यादेश जारी करके विद्यमान कंपनी में आधे से अधिक स्वामित्व का अधिकार प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार की कंपनियों को सरकारी कंपनी कहा जाता है। इनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संबंधित अधिनियम के अनुसार सरकारी विभाग द्वारा किया जाता है, जैसे रिजर्व बैंक आफ इंडिया, औद्योगिक वित्त निगम, जीवन बीमा निगम, आदि।

3. कंपनी अधिनियम के अंतर्गत निर्मित कंपनियां : उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त कंपनी अधिनियम में दी गई समस्त वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करके भी कंपनी की स्थापना की जाती है। अधिकांश कंपनियों की स्थापना इसी प्रकार की जाती है।

सदस्यों के दायित्व को दृष्टि में रखकर भी कंपनियों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है :

1. असीमित दायित्व वाली कंपनियां : इस प्रकार की कंपनियों की स्थापना केवल इस स्वरूप के विकास के प्रथम चरण में ही की गई। अब ऐसी कंपनियां प्रचलन में नहीं हैं। इन कंपनियों में सदस्यों का दायित्व असीमित होता था, अर्थात यदि कंपनी की देनदारियों का भुगतान करने के लिए संपत्ति अपर्याप्त हो तो बकाया राशि का भुगतान करने के लिए सदस्यों की व्यक्तिगत संपत्ति भी प्रयोग में लाई जा सकती है।

2. गारंटी द्वारा सीमित दायित्व वाली कंपनियां : यदि किसी कंपनी में उसके सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किए गए अंशों की अदत्त राशि के अतिरिक्त उनके द्वारा दी गई गारंटी की राशि तक सीमित हो तो ऐसी कंपनियां गारंटी द्वारा सीमित दायित्ववाली कंपनियां कहलाती हैं।

3. सीमित दायित्व वाली कंपनी : व्यवहार में इस प्रकार की कंपनियां ही सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हैं क्योंकि इनमें सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा क्रय किए गए अंशों के अंकित मूल्य की अदत्त राशि की सीमा तक ही सीमित रहता है।

अंत में जनता के हितों को ध्यान में रखकर पुनः कंपनियों का निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. निजी कंपनी : कंपनी अधिनियम की धारा 1 उपधारा (i) के खंड (iii) के अनुसार निजी कंपनी एक ऐसी कंपनी है जिसमें (अ) सदस्यों के अंश हस्तांतरण के अधिकार को प्रतिबंधित किया गया हो। (ब) जिसमें अधिकतम सदस्य संख्या (कर्मचारियों को छोड़ कर) 50 तक सीमित हो। (स) तथा जो अपने अंश एवं ऋणपत्र क्रय करने के लिए आम जनता को आमंत्रित न करती हो।

2. सार्वजनिक कंपनी : कंपनी अधिनियम की धारा 3 एवं 4 के अनुसार सारी कंपनियां, जो निजी कंपनी न हों, सार्वजनिक कंपनी कहलाती हैं अर्थात जिस कंपनी में निजी कंपनी की एक भी विशेषता विद्यमान न हो वह कंपनी सार्वजनिक कंपनी कहलाती है।

3. सरकारी कंपनी : कंपनी अधिनियम की धारा 617 के अनुसार सरकारी कंपनी एक ऐसी कंपनी है जिसमें या तो केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार या दोनों का मिल कर पूंजी में हिस्सा 51% से कम न हो। पूंजी में हिस्से से हमारा अभिप्राय स्वामित्व पूंजी से है।

साझेदारी एवं संयुक्त पूंजी कंपनी में तुलना

व्यवसाय में साझेदारी का स्वरूप तथा संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो संयुक्त पूंजी कंपनी साझेदारी का विस्तार है। इन दोनों स्वरूपों में कुछ मूल तत्वों को आधार मानकर अंतर ज्ञात किया जा सकता है।

साझेदारी की स्थापना इच्छुक व्यक्तियों के परस्पर अनुबंध से होती है और व्यवसाय का यह स्वरूप साझेदारी अधिनियम की व्यवस्थाओं द्वारा शासित एवं नियंत्रित होता है, जबकि संयुक्त पूंजी कंपनी की स्थापना कंपनी अधिनियम में दी गई समस्त वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करने से होती है और कंपनी का व्यवसाय कंपनी अधिनियम द्वारा नियंत्रित होता है।

संयुक्त पूंजी कंपनी कानून द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति के समान है जिसे समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाने के बाद पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त होता है। इसीलिए इसका जीवन भी निर्विघ्न है क्योंकि जो सदस्य इसके स्वामी समझे जाते हैं उनके अस्तित्व में परिवर्तन कंपनी के अस्तित्व को प्रभावित नहीं करता है। परंतु साझेदारी फर्म में स्थिति भिन्न है। फर्म को सदस्यों से पृथक कोई अस्तित्व प्राप्त नहीं रहता है और इसीलिए फर्म के किसी भी साझेदार की मृत्यु हो जाने पर या उसके दिवालिया घोषित होने पर साझेदारी समाप्त हो जाती है, अतः कंपनी का अस्तित्व साझेदारी फर्म की अपेक्षा अधिक स्थाई एवं स्थिर है।

प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण की व्यवस्था भी दोनों स्वरूपों में भिन्न है। साझेदारी फर्म में साझेदारों के सीमित संख्या में होने से समस्त साझेदार प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में हिस्सा ले सकते हैं। परंतु कंपनी में सदस्य असीमित संख्या में होते हैं इसीलिए इसका प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण संभालने के लिए सामान्य अंशधारियों द्वारा प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाता है जिन्हें संचालक कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कंपनी में पूर्वाधिकार अंशधारियों को प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता है।

साझेदारी फर्म में कंपनी की तुलना में पूंजी प्राप्त करने के साधन तथा प्रबंधकीय क्षमता के स्रोत सीमित हैं। कंपनी विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का निर्गमन करके उन्हें जनता में बेचकर पर्याप्त पूंजी प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक कार्यों में दक्ष एवं विषय का

विशिष्ट ज्ञान रखने वाले प्रबंधकों द्वारा चलाया जाता है।

साझेदारी का संबंध एक अनुबंध द्वारा होता है और जिस प्रपत्र में इस अनुबंध की समस्त शर्तें उल्लिखित रहती हैं समस्त साझेदारों के सहमत होने पर उसे परिवर्तित किया जा सकता है। परंतु कंपनी का समामेलन जिन प्रपत्रों के आधार पर किया जाता है (पार्षद सीमा नियम, अंतरनियम) उनमें, विशेष रूप से पार्षद सीमा नियम में, परिवर्तन एक जटिल कार्य है।

संयुक्त पूंजी कंपनी का स्वरूप साझेदारी स्वरूप से अधिक विश्वसनीय तथा लोकप्रिय समझा जाता है क्योंकि कंपनी अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार प्रत्येक कंपनी के लिए समस्त लेनदेन को उचित हिसाब किताब की पुस्तकों में सही करना, वर्ष के अंत में अंतिम खाते तैयार करना तथा उनका योग्यता प्राप्त अंकेक्षक से अंकेक्षण कराना, इन खातों को प्रकाशित कराना एवं समय समय पर अंशधारियों एवं संचालक मंडल की सभाएं बुलाना आवश्यक है। इससे व्यवहार में कंपनी की प्रत्येक क्रिया का ज्ञान हो सकता है और अंशधारी अपनी बैठकों में इसकी आलोचना कर सकते हैं। साझेदारी फर्म में इस व्यवस्था का पूर्ण अभाव है।

इसके अतिरिक्त सदस्यता, सदस्य संख्या, सदस्यों के दायित्व को लेकर भी इन दोनों स्वरूपों में अंतर किया जा सकता है। साझेदारी में सदस्य संख्या कम से कम 2 और अधिकतम साधारण व्यवसाय के लिए 20 तथा बैंकिंग व्यवसाय के लिए 10 है जबकि कंपनी की दशा में निजी कंपनी में कम से कम दो तथा अधिकतम 50 सदस्य हो सकते हैं और सार्वजनिक कंपनी में कम से कम 7 एवं अधिकतम संख्या असीमित है। इसी प्रकार साझेदारी में सदस्यता अनुबंध में सम्मिलित होकर प्राप्त की जाती है जबकि कंपनी में सामान्य अंश खरीदकर सदस्य बना जा सकता है। सामान्य दशाओं में साझेदारों का दायित्व असीमित होता है और कंपनी के सदस्यों का दायित्व (कुछ स्थितियों को छोड़ कर) उनके द्वारा क्रय किए गए अंश में अदत्त राशि तक सीमित होता है और सार्वजनिक कंपनी के सदस्य अपना हित हस्तांतरण कर सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों स्वरूपों में अंतर संचालन व प्रबंध की व्यवस्था, सदस्यों की स्थिति, उनके दायित्व, व्यवसाय के अस्तित्व, अधिनियम का कड़ा नियंत्रण स्थापना के स्वरूप आदि मूल तत्वों के आधार पर किया जाता है।

निजी कंपनी तथा सार्वजनिक कंपनी

दोनों प्रकार की कंपनियों की स्थापना एक ही अधिनियम के अंतर्गत होते हुए भी इन दोनों में काफी हद तक भिन्नता है। निजी कंपनी का स्वरूप कुछ विशेषताओं में साझेदारी के स्वरूप से मिलता जुलता है। इसके अतिरिक्त निजी कंपनी को कंपनी अधिनियम के अंतर्गत कुछ छूटें दी गई हैं जिसके फलस्वरूप इन दोनों में भिन्नता अधिक व्यापक होती है।

निजी कंपनी में सार्वजनिक कंपनी की तुलना में पूंजी प्राप्त करने के साधन एवं प्रबंधकीय क्षमता सीमित हैं। एक तो निजी कंपनी में अधिकतम सदस्य संख्या 50 तक ही सीमित है, निजी कंपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए निर्गमित प्रतिभूतियों को आम जनता में बेचने के लिए प्रस्तुत नहीं कर सकती है और इसके अंशों का हस्तांतरण अधिनियम द्वारा प्रतिबंधित किया गया है। इसके विपरीत सार्वजनिक कंपनी प्रतिभूतियां निर्गमित करके उन्हें आम जनता में बेच कर पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्राप्त कर सकती है और अंशों की हस्तांतरणीयता पूंजी को गतिशील बनाने में सहायक है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त उपलब्ध आर्थिक साधनों में नियंत्रण होने से विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों को प्रबंधकीय कार्यों

का निष्पादन करने के लिए नियुक्त किया जा सकता है।

निजी कंपनी को कंपनी अधिनियम द्वारा प्राप्त छूटों से इन दोनों में भिन्नता अधिक व्यापक हो जाती है।

1. निजी कंपनी समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के तुरंत पश्चात व्यापार प्रारंभ कर सकती है जबकि सार्वजनिक कंपनी के लिए व्यापार प्रारंभ करने का प्रमाणपत्र प्राप्त करना आवश्यक है।

2. निजी कंपनी के लिए प्रविवरणपत्र जारी करके उसकी एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार को भेजना आवश्यक नहीं है क्योंकि निजी कंपनी अपनी प्रतिभूतियों को आम जनता में नहीं बेच सकती है।

3. निजी कंपनी के लिए समामेलन के बाद वैधानिक सभा बुलाकर वैधानिक रिपोर्ट रजिस्ट्रार को भेजना आवश्यक नहीं है, जबकि सार्वजनिक कंपनी के लिए ऐसा करना अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार आवश्यक है।

4. निजी कंपनी के लिए, नए अंश निर्गमित करने में यह आवश्यक नहीं है कि इन अंशों को सर्वप्रथम विद्यमान अंशधारियों को प्रस्तावित किया जाए जबकि सार्वजनिक कंपनी में सामान्य अंशधारियों को यह अधिकार है कि नए अंश सर्वप्रथम उन्हें प्रस्तावित किए जाएं। ऐसा न करने पर इससे सामान्य अंशधारियों के अधिकार विपरीत रूप से प्रभावित हो सकते हैं।

5. निजी कंपनी में कम से कम दो संचालकों का होना आवश्यक है और उनके वेतन, नियुक्ति तथा अवकाश आदि के संबंध में कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाएं लागू नहीं होती हैं परंतु सार्वजनिक कंपनी में कम से कम तीन संचालक होने चाहिए और अधिनियम से संबंधित सारी व्यवस्थाओं का पूर्ण पालन करना आवश्यक है।

6. इसके अतिरिक्त निजी कंपनी किसी फर्म अथवा समामेलित संस्था को प्रबंधक नियुक्त कर सकती है और प्रबंधकीय वेतन से संबंधित नियम इसमें लागू नहीं होते हैं।

निजी कंपनी को ऊपर बताई गई छूटें एवं अधिकार निम्न दो परिस्थितियों में उपलब्ध नहीं होते हैं :

1. यदि कोई निजी कंपनी कंपनी अधिनियम की धारा 3 उपधारा (i) खंड (iii) के अंतर्गत दी गई शर्तों में से किसी एक अथवा एक से अधिक शर्त का खंडन करती है।

2. यदि किसी निजी कंपनी की कुल चुकता पूंजी का 25% या इससे अधिक किसी समामेलित संस्था या संस्थाओं द्वारा लगाया गया हो।

कंपनी के लाभ एवं हानि

कंपनी व्यवसाय के संगठन का एक महत्वपूर्ण स्वरूप है। इसमें एकल व्यापार तथा साझेदारी की अपेक्षा कई अन्य गुण मौजूद रहत हैं। इन्हीं गुणों की विद्यमानता के कारण यह स्वरूप इतना अधिक प्रचलित हुआ है। इसके मुख्य लाभ निम्न हैं :

1. **पर्याप्त पूंजी** : कंपनी अपने व्यवसाय के लिए पूंजी कई साधनों से प्राप्त कर सकती है। पूंजी प्राप्त करने के ये साधन अन्य स्वरूपों की तुलना में अधिक व्यापक एवं विस्तृत हैं। संयुक्त पूंजी कंपनी की पूंजी छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त रहती है जिन्हें अंश कहा जाता है। अंश एवं ऋण पत्रों को खरीदने के लिए कंपनी आम जनता को आमंत्रित करती है और समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति इन अंशों एवं ऋण पत्रों को अपनी अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार कम अथवा अधिक संख्या में खरीदते हैं। इससे उनको कंपनी के अंश एवं ऋण पत्र खरीदने में कोई आर्थिक भार महसूस नहीं होता है। इस प्रकार विनियोजकों की अधिक संख्या तथा अंशों एवं ऋण पत्रों की अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार खरीद

के फलस्वरूप कंपनी अपने व्यवसाय के लिए बड़ी मात्रा में पर्याप्त पूंजी प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त कंपनी द्वारा जारी किए गए अंशों एवं ऋणपत्रों के क्रय-विक्रय के लिए शेयर बाजार का उपलब्ध होना तथा इनका आसानी से हस्तांतरण, ये दोनों तत्व भी विनियोजकों को अपना धन कंपनी में विनियोजित करने के लिए प्रेरित करते हैं।

2. अंशों की हस्तांतरणीयता : कंपनी के अंश हस्तांतरणीय होते हैं अत: कोई भी सदस्य जिसके पास कंपनी के अंश हों, आवश्यकता पड़ने पर इन्हें अन्य व्यक्तियों को आसानी से हस्तांतरित कर सकता है। अंशों की यह हस्तांतरणीयता एक ओर तो कंपनी को अपनी पूंजी प्राप्त करने में सहायक है, क्योंकि जो व्यक्ति अंशों को खरीदते हैं वे इस बात से अवगत रहते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर वे इन अंशों को बेच कर अथवा गिरवी रख कर अपनी वित्तीय आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं, और दूसरी ओर प्रतिभूतियों में हस्तांतरणीयता का गुण विनियोजकों के लिए सुविधाजनक सिद्ध होता है क्योंकि वे आवश्यकता पड़ने पर एक कंपनी के अंश बेच कर दूसरी कंपनी के अंश खरीद सकते हैं।

3. सीमित दायित्व : कंपनी के सदस्यों का दायित्व सीमित होता है और वे केवल उनके द्वारा क्रय किए गए अंशों में अदत्त धनराशि तक ही उत्तरदायी ठहराए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में यदि किसी कंपनी में उसकी देनदारियों का भुगतान उसकी संपत्ति को बेच कर प्राप्त रकम से अधिक है तो इसके लिए अंशधारी जिम्मेदार नहीं होते हैं। अत: अंशधारियों को कंपनी की क्रियाओं के परिणाम का कोई भय नहीं रहता है और न उनकी व्यक्तिगत संपत्ति इससे प्रभावित होती है। सदस्यों के दायित्व में सीमितता के कारण इस स्वरूप के विकास को बढ़ावा मिला है।

4. प्रतिभूतियों के क्रेताओं (अंशधारियों तथा ऋणपत्रधारियों) एवं जनता के हितों का वैधानिक संरक्षण : कंपनी की स्थापना एवं व्यवसाय पग पग पर कंपनी विधान द्वारा नियमित एवं नियंत्रित होता है। व्यवसाय की गतिविधियों एवं क्रियाकलापों को नियंत्रित करने के लिए कंपनी विधान में दी गई विभिन्न व्यवस्थाएं लागू होती हैं, जैसे व्यवसाय में किए गए लेनदेन से संबंधित खातों का अंकेक्षण तथा उनको प्रकाशित किया जाना आदि। इसके अतिरिक्त कंपनी के लिए यह भी आवश्यक है कि कंपनी अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेजों, जैसे संचालकों की रिपोर्ट आदि को जनता की सूचना के लिए प्रकाशित करे। इससे कंपनी के प्रबंध संचालन में निहित दोष एवं कमियां प्रकट हो सकती हैं और कंपनी के ऊपर जनता का पूर्ण विश्वास बना रहता है।

5. स्थिरता : व्यवसाय के अन्य स्वरूपों, एकल व्यापार तथा साझेदारी की तुलना में कंपनी के व्यवसाय में पूर्ण स्थिरता रहती है क्योंकि कंपनी का समामेलन हो जाने के बाद कंपनी को अपना पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त हो जाता है और यह अस्तित्व सदस्यों के अस्तित्व से प्रभावित नहीं होता है चाहे कोई अंशधारी अपने अंशों को दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित कर दे, उसकी मृत्यु हो जाए अथवा वह दिवालिया घोषित हो जाए। इससे कंपनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और कंपनी का व्यवसाय निरंतर चलता रहता है।

6. जोखिम में कमी : संयुक्त पूंजी कंपनी में सामान्य अंशधारी ही कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं जो काफी अधिक संख्या में होते हैं। यदि कंपनी के व्यवसाय में हानि हो जाए तो यह हानि समस्त सामान्य अंशधारियों में बंट जाएगी। इसके फलस्वरूप हानि का जोखिम बड़ी संख्या के सदस्यों में वितरित हो जाता है और प्रत्येक सदस्य के लिए जोखिम कम हो जाता है।

7. बड़े पैमाने के व्यवसाय की मितव्ययताएं : कंपनी व्यवसाय के विभिन्न स्वरूपों में सबसे अधिक विस्तृत एवं व्यापक स्वरूप है। इसका विकास ही बड़े पैमाने पर वस्तुओं

का उत्पादन करने हेतु तथा बड़े पैमाने पर उनका वितरण करने के लिए हुआ है क्योंकि कंपनी के द्वारा बड़े पैमाने पर व्यवसाय करने के लिए पर्याप्त पूंजी प्राप्त की जा सकती है और व्यवसाय का प्रबंध विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा किया जा सकता है। अत: कंपनी बड़े पैमाने पर व्यवसाय संचालित करके उत्पादन, क्रय, विक्रय, वित्त एवं प्रबंध आदि क्षेत्रों में विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त कर सकती है। इसके फलस्वरूप अधिक वस्तुओं के उत्पादन से उनका लागत मूल्य कम किया जा सकता है जिससे केवल कंपनी ही नहीं बल्कि संपूर्ण समाज लाभान्वित हो सकता है। संक्षेप में, बड़ी मात्रा में पूंजी की पर्याप्तता से बड़े आकार का व्यवसाय प्रारंभ किया जा सकता है और उत्पादन के लिए कीमती मशीनों आदि का प्रयोग किया जा सकता है तथा विशिष्ट ज्ञान वाले प्रबंधकों की सेवाओं का लाभ उठाया जा सकता है।

8. विशिष्टीकरण के लाभ : कंपनी बड़ी मात्रा में पूंजी एकत्र करके बड़े पैमाने का व्यवसाय प्रारंभ कर सकती है और व्यवसाय की प्रत्येक क्रिया को संचालित एवं प्रबंधित करने के लिए उस क्रिया से संबंधित क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त अनुभवी प्रबंधकों को आकर्षित वेतन आदि देकर नियुक्त कर सकती है। और उनके विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव का पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है,जैसे लागत लेखाकार, इंजीनियर, विज्ञापन विशेषज्ञ, वाणिज्यिक कलाकार, वित्त विशेषज्ञ आदि।

9. जनतांत्रिक प्रबंध : कंपनी के सामान्य अंशधारी कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं। वे कंपनी के व्यवसाय की क्रियाओं को प्रबंधित, संगठित एवं नियंत्रित करने के लिए आपस में मिलकर कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। यह चुनाव बहुमत के अनुसार किया जाता है और जो व्यक्ति चुने जाते हैं उन्हें संचालक कहा जाता है। ये संचालक ही वास्तव में कंपनी के व्यवसाय के प्रबंध, संगठन एवं नियंत्रण का अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त कंपनी के व्यवसाय से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण मामलों में अंशधारियों की बैठक बुलाकर उनसे भी राय-मशविरा किया जाता है, जैसे लाभांश की घोषणा, शुद्ध लाभ का नियोजन, अंकेक्षण की नियुक्ति आदि। संक्षेप में, कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण जनतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है।

10. शोध कार्य से लाभ : बड़े आकार की कंपनी अपनी वस्तुओं को अधिक लोकप्रिय बना कर बड़ी मात्रा में बेचने के लिए संगठन के अंतर्गत शोधकार्य विभाग की स्थापना कर सकती है ताकि यह विभाग समय समय पर वस्तु के बाजार, मांग, प्रतिस्पर्धा, सरकार की व्यावसायिक नीति आदि के बारे में आवश्यक तथ्य एवं आंकड़े एकत्र करके कंपनी के विभिन्न विभागों के प्रबंधकों को प्रदान कर सके। ये प्रबंधक इन तथ्य एवं आंकड़ों को किसी भी मामले के संबंध में निर्णय लेने के लिए प्रयोग कर सकते हैं।

11. अतिरिक्त पूंजी की पर्याप्तता : कंपनी के पास पूंजी प्राप्त करने के कई साधन उप्रलब्ध हैं। व्यवसाय के लिए बड़ी मात्रा में पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने के अलावा कंपनी कभी भी आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त पूंजी प्राप्त कर सकती है। चाहे अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता व्यवसाय का विस्तार करने के लिए हो अथवा किसी अन्य आर्थिक कठिनाई का सामना करने के लिए, कंपनी अधिकांश दशाओं में प्रतिवर्ष कमाए गए लाभ में से कुछ राशि अलग करके अपने पास व्यवसाय में संचित कोष के रूप में सुरक्षित रखती है और भविष्य में इससे किसी भी प्रकार की आर्थिक कठिनाई को दूर किया जा सकता है।

संयुक्त पूंजी कंपनी के दोष

1. स्थापना में कठिनाई : कंपनी की स्थापना वास्तव में एक जटिल कार्य है क्योंकि कंपनी को अस्तित्व प्रदान करने के लिए कंपनी अधिनियम में दी गई समस्त वैधानिक औप-

चारिकताएं पूरी की जानी आवश्यक हैं। इनमें धन एवं समय अधिक खर्च होता है क्योंकि इसके लिए तमाम महत्वपूर्ण प्रपत्र (पार्षद सीमा नियम एवं अंतरनियम) तैयार करने पड़ते हैं और उनको निर्धारित मुद्रांक सहित नियत शुल्क देकर रजिस्ट्रार के पास भेजना पड़ता है।

2. अधिनियम का अत्यधिक नियंत्रण : कंपनी के समस्त कार्यकलाप कंपनी अधिनियम में दी गई व्यवस्थाओं से नियंत्रित होते हैं। इससे विनियोगकर्ताओं तथा लेनदेन करने वाले पक्षकारों के हितों की सुरक्षा तो बनी रहती है परंतु कंपनी की कार्य प्रणाली में जटिलता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि किसी भी कार्य को करने के लिए अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं का पालन करना अनिवार्य है।

3. प्रबंधकीय दोष : कंपनी जहां एक ओर विशिष्ट ज्ञान व अनुभव वाले प्रबंधकों की नियुक्ति करके प्रबंधकीय क्षेत्र में विशिष्टीकरण तथा कार्य में श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त करती है वहीं दूसरी ओर व्यवहार में यह पाया गया है कि कंपनी के प्रबंधकीय ढांचे की रचना एवं इसकी संपूर्ण व्यवस्था इस प्रकार की है कि इससे अल्पजन शासन की स्थिति उत्पन्न होती है और प्रबंधकीय क्षमता में शिथिलता पनपने लगती है क्योंकि कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण कुछ ही गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में होता है। हालांकि बाहर से कंपनी का प्रबंध व संचालन जनतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है क्योंकि कंपनी के व्यवसाय का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण करने के लिए संचालक गणों का चुनाव करने में प्रत्येक सामान्य अंशधारी को मत देने का अधिकार है, तथापि व्यवहार में अंशधारियों का दूर दूर स्थानों में स्थित होना, कंपनी के दैनिक कार्यों के प्रति अभिरुचि का अभाव, एवं उनके पास कम संख्या में अंशों का होना, ये सारे तत्व कंपनी में अल्पजन शासन की स्थिति उत्पन्न करते हैं। क्योंकि प्रत्येक सामान्य अंशधारी संचालक गणों के चुनाव में सम्मिलित नहीं हो पाता है अतः कुछ अंशधारियों का समूह ही अंतिम रूप से संचालक गणों का चुनाव करता है।

4. प्रबंध में नीरसता : संयुक्त पूंजी कंपनी में स्वामित्व एवं प्रबंध के पृथक्करण से प्रबंध में नीरसता उत्पन्न होती है क्योंकि वास्तव में व्यवसाय का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण वेतनभोगी प्रबंधक चलाते हैं और उन्हें पूर्ण रूप से संचालक मंडल से प्राप्त निर्देश एवं आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। अतः उनमें प्रेरणा का अभाव, जिम्मेदारी के प्रति नीरसता पनपने लगती है और वे अपनी रचनात्मक क्षमताओं का प्रयोग नहीं कर पाते हैं।

5. निर्णयों में देरी : कंपनी में व्यवसाय से संबंधित कोई भी निर्णय लेने के लिए (चाहे वह संचालक मंडल द्वारा लिया जाना हो या अंशधारियों द्वारा) संचालकों या अंशधारियों की बैठक बुलाई जाती है तथा इससे संबंधित समस्त वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करनी होती हैं, जैसे कोरम की पूर्ति, बैठक की उचित सूचना आदि। इसके फलस्वरूप कोई भी निर्णय शीघ्र नहीं लिया जा सकता है।

6. विनियोजन में सावधानी की आवश्यकता : किसी भी व्यक्ति, जो अपना धन कंपनी द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में विनियोजित करना चाहता है, के लिए यह आवश्यक है कि मूलधन की सुरक्षा एवं उचित दर की आय प्राप्त करने के उद्देश्य से वह कंपनी की लाभक्षमता एवं आर्थिक स्थिति के बारे में समस्त सूचनाओं से अवगत हो। पर अधिकांश दशाओं में कंपनी का आकार विस्तृत व जटिल होने के कारण विनियोगकर्ता कंपनी की वास्तविक स्थिति से भलीभांति अवगत नहीं हो पाता है। इससे उसका विनियोजन कुछ दशाओं में जोखिममय सिद्ध हो सकता है।

7. विभिन्न हितों में द्वंद्व : कंपनी अपनी पूंजी प्रायः ऋणपत्र, पूर्वाधिकार अंश एवं सामान्य अंश निर्गमित करके प्राप्त करती है। इन प्रतिभूतियों में धन विनियोजित करने वाले

विनियोगकर्ताओं के हितों में भिन्नता होती है, जैसे ऋणपत्रधारी अपने मूलधन की सुरक्षा के लिए कंपनी की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखना चाहते हैं और सामान्य अंश-धारी अपने मूलधन में वृद्धि का लाभ प्राप्त करने के लिए निश्चित रूप से यह चाहेगे कि कंपनी का विस्तार हो और कंपनी प्रगतिशील तथा समृद्धिशालो बन सके। इसके अति-रिक्त ऋणपत्रधारी यह चाहते हैं कि सामान्य अंशों में उचित दर का लाभाश वितरित करके बकाया लाभ राशि संचित कोषों मे हस्तांतरित कर दी जाए जबकि समस्त सामान्य अंशधारी इससे सहमत नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार विभिन्न हितों में द्वंद्व कंपनी की सफ-लता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

8. धन एवं नियंत्रण अधिकार का एकत्रीकरण : कंपनी के नियंत्रण में बड़ी मात्रा में पूंजी विद्यमान रहती है क्योंकि कंपनी के पास पूंजी प्राप्त करने के विभिन्न साधन हैं। पूजी की पर्याप्तता एवं आवश्यक प्रबंधकीय क्षमता की उपलब्धता से व्यवसाय में निरंतर विस्तार संभव है। इस प्रकार धन एवं नियंत्रण के अधिकार का एकत्रीकरण गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में होने लगता है। इसके अतिरिक्त, उसी प्रकार का व्यवसाय करने वाली छोटी छोटी संस्थाएं कपनी के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाती हैं। इससे कंपनी धीरे धीरे एकाधिकार की स्थिति की ओर अग्रसर होती है। इसे ग्राहकों तथा अन्य व्याव-सायिक संस्थाओं के हित में नहीं समझा जाता है।

9. अवांछनीय परिकल्पना: : व्यवहार मे यह भी पाया जाता है कि कंपनी में जिन व्यक्तियों या संचालकों को नियंत्रण का अधिकार प्राप्त रहता है वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए कपनी के सामान्य अंशों में वितरित की जाने वाला लाभांश दर को अनु-चित रूप से घटा-बढ़ाकर उनके बाजार मूल्यों में उतार-चढ़ाव उत्पन्न कर देते हैं। इससे एक ओर विनियोगकर्ताओं के हितों को ठेस पहुंचती है और कंपनी के अंशों मे अवांछ-नीय परिकल्पना की प्रवृत्ति को प्रेरणा मिलती है।

निष्कर्ष

(संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप में निहित लाभ व दोषों का वर्णन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि व्यवसाय का यह स्वरूप कुछ दोषों के बावजूद काफी महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय है। इस स्वरूप के अंतर्गत बड़ी मात्रा में पूंजी प्राप्त करके वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा सकता है और प्रति वस्तु उत्पा-दन लागत कम करके जनता के रहन-सहन के स्तर को सुधारा जा सकता है। विनियोग की दर को बढ़ाया जा सकता है और बेरोजगारी की समस्या को कुछ हद तक सुलझाया जा सकता है। अत: इससे केवल स्वामियों को ही लाभ प्राप्त नहीं होता बल्कि इससे संपूर्ण समाज लाभान्वित होता है। इसके अतिरिक्त संयुक्त पूंजी कंपनी में स्वामित्व विस्तृत होता है क्योंकि समस्त सामान्य अंशधारी इसके वास्तविक स्वामी होते हैं। इस स्वरूप को अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कंपनी में विनियोजित पूंजी का प्रयोग अधिकतम कुशलतापूर्वक एवं प्रभावशाली ढंग से किया जाए। जहां तक इसके दोषों का प्रश्न है कुछ दोष तो इस स्वरूप की प्रकृति में निहित हैं, जैसे अल्पजन शासन की स्थिति, प्रबंधकीय शिथिलता आदि। बाकी अन्य कुछ दोष कंपनी अधिनियम की व्यवस्थाओं से भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि कंपनी के कार्य-कलापों में कंपनी अधिनियम का अत्यधिक नियंत्रण है जिससे प्रत्येक कार्य करने के लिए संबंधित समस्त वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं। इसमें अधिक धन एवं समय नष्ट होता है और यथा समय शीघ्र निर्णय नहीं लिए जा सकते हैं। बाकी अन्य दोष इन व्यक्तियों के हाथ में प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण की बागडोर सौंपने से उत्पन्न होते

हैं जो न तो समाज सेवा की भावना से प्रेरित होते हैं और न अधिक लगन तथा परिश्रम से ईमानदारीपूर्वक कार्य कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रबंधकीय दोषों को छोड़ कर बाकी अन्य दोष गंभीर प्रकृति के नहीं हैं। उन्हें कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन करके तथा कंपनी की संपूर्ण व्यवस्था में सुधार करके दूर किया जा सकता है और इस प्रकार इस स्वरूप को उपयोगी बनाया जा सकता है।

भविष्य

व्यवसाय के इस महत्वपूर्ण स्वरूप का विकास भारतवर्ष में काफी आधुनिक है। सन 1850 में प्रथम कंपनी अस्तित्व में आई। तब से यह स्वरूप लगातार तेज गति से विकसित होता रहा है। भारत में इसकी लोकप्रियता तथा विकास के निम्न प्रमुख कारण हैं : (अ) आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की गति बढ़ाना, (ब) बेरोजगारी की समस्या को सुलझाना, (स) वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि करना, (द) जनता के रहन-सहन का स्तर सुधारना, (य) सरकारी कोषों में वृद्धि करना, (र) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि इस स्वरूप में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करना, आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण तथा अल्पजन शासन की स्थिति आदि प्रमुख दोष हैं जो देश में व्याप्त जनतांत्रिक शासन प्रणाली के अनुकूल नहीं समझे जा सकते हैं। इसके बावजूद इस स्वरूप की प्रकृति में आवश्यक सुधार करके, एकाधिकार की स्थिति को नियंत्रित करके इसे प्रचलित बनाया जा रहा है। हालांकि भारतवर्ष में देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए लघुस्तरीय तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाता रहा है और उन्हें आवश्यक प्राथमिकताएं दी जा रही हैं फिर भी संयुक्त पूंजी कंपनी के विकास में कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया है। इससे इनका भविष्य उज्ज्वल होने की संभावना है बशर्ते ये कंपनियां समाज शोषण, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा अवांछनीय परिकल्पना आदि प्रवृत्तियों को न पनपने दें।

कंपनी का प्रवर्तन एवं समामेलन

व्यावसायिक संस्था को जन्म देने के लिए किसी न किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में संबंधित विचार उत्पन्न होना आवश्यक है क्योंकि संस्था की स्थापना उसी प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को साकार बनाने के लिए की जाती है। ये प्रस्तावित व्यावसायिक विचार अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे नई वस्तु का उत्पादन उत्पादन की नई विधि का प्रयोग, विद्यमान वस्तु में आवश्यक परिवर्तन करके उसे अधिक उपयोगी बनाना, व्यवसाय का विस्तार, अथवा बचे हुए कच्चे माल के अवशेष से नई वस्तु का उत्पादन आदि। प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की वाणिज्यिक सुगमता तथा अन्य दृष्टिकोणों से गहन अध्ययन करके संस्था को अस्तित्व में लाने के लिए अन्य आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है। इससे संबंधित समस्त तत्वों का वर्णन 'नए व्यवसाय की स्थापना' अध्याय में किया गया है।

व्यावसायिक संस्था को अस्तित्व में लाने के लिए एवं उससे पूर्व जो सारे आवश्यक कार्य किए जाते हैं और जिन औपचारिकताओं को पूरा किया जाता है उन समस्त कार्यों एवं औपचारिकताओं की प्रक्रिया को 'प्रवर्तन' (प्रमोशन) कहा जाता है और जो व्यक्ति इस प्रक्रिया को निष्पादित करके संस्था को वैधानिक अस्तित्व प्रदान कराते हैं, अर्थात इस कार्य में अगुआ होते हैं उनको प्रवर्तक कहा जाता है। अत: किसी भी कंपनी की स्थापना इन्हीं प्रवर्तकों के प्रयासों के परिणाम स्वरूप होती है। कंपनी की स्थापना करने के लिए किया गया प्रवर्तन कार्य काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि मस्तिष्क में उत्पन्न व्यावसायिक विचार को लाभप्रद वास्तविकता में परिणत करना एक जटिल कार्य है। इसके लिए

प्रवर्तक को विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष, निपुण एवं विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है और तमाम अन्य आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं। प्रवर्तन की संपूर्ण प्रक्रिया को निम्न क्रमों में विभाजित करके उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. व्यावसायिक विचार का आविष्कार : कंपनी की स्थापना मूल रूप से किसी व्यावसायिक विचार को क्रियान्वित करने के लिए की जाती है। प्रवर्तकों के मस्तिष्क में कई व्यावसायिक विचार हो सकते हैं। ये विचार प्रवर्तकों को या तो उनके पिछले ज्ञान एवं अनुभव से प्राप्त हो सकते हैं अथवा इसके संबंध में सरकारी तथा गैर सरकारी विभागों द्वारा किए गए शोधकार्य से प्राप्त तथ्यों तथा आंकड़ों का विश्लेषण करके व्यावसायिक विचार की तलाश की जा सकती है।

2. प्रस्तावित विचार की गहन जांच-पड़ताल : विभिन्न व्यावसायिक विचारों में से सार्थक, सुगम एवं व्यावहारिक विचार का चुनाव करने के पश्चात कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्वों की रोशनी में विचार की लाभप्रदता का विश्लेषण किया जाता है। इसमें वस्तु के संभावित बाजार का ज्ञान प्राप्त करना, मांग का विश्लेषण, अनुमानित बिक्री की राशि का निर्धारण, वस्तु की उत्पादन लागत को आंकना, एवं बिक्री के खर्चों का वैज्ञानिक ढंग से अनुमान लगाना आदि सम्मिलित हैं। इन समस्त तत्वों के आधार पर भविष्य में कमाए जा सकने वाले संभावित लाभ का अनुमान लगाया जा सकता है।

3. वित्त के दृष्टिकोण से प्रस्तावित विचार की उपयुक्तता ज्ञात करना : प्रस्तावित व्यावसायिक विचार की ला.प्रदता ज्ञात करने के पश्चात उसे क्रियान्वित करने से पहले उसके लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था का भी विश्लेषण किया जाना अनिवार्य है। कोई भी व्यावसायिक विचार पर्याप्त वित्त के अभाव में साकार नहीं बनाया जा सकता है। इसके लिए प्रवर्तक विस्तृत वित्तीय योजना तैयार करते हैं जिसके अंतर्गत कुल पूंजी का निर्धारण, पूंजी प्राप्त करने के उपलब्ध साधनों में से उपयुक्त साधनों का चुनाव, विभिन्न प्रतिभूतियों के अनुपात का निर्धारण तथा प्रतिभूतियों की निर्गमित करने व उनका वितरण करने की व्यवस्था का निर्धारण आदि सम्मिलित हैं। प्रवर्तकों द्वारा वित्तीय योजना सही ढंग से तैयार की जानी चाहिए क्योंकि दोषयुक्त वित्तीय योजना कंपनी में अवपूंजीकरण या अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

4. उत्पादन के साधनों की व्यवस्था : प्रस्तावित व्यावसायिक विचार को साकार बनाने के लिए वित्तीय योजना तैयार करने के पश्चात उसे वास्तविकता में बदलने के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों की उचित व्यवस्था की जानी आवश्यक है। साधनों के एकत्रीकरण में भवन, मशीन, संयंत्र, कच्चा माल तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का क्रय किया जाना या क्रय करने के लिए संबंधित पक्षकार से अनुबंध करना सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त आवश्यक श्रम की व्यवस्था करने हेतु विभिन्न श्रमिकों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी अनिवार्य है।

5. समामेलन की तैयारी : व्यावसायिक विचार के लिए उपर्युक्त समस्त व्यवस्थाओं एवं योजनाओं को तैयार करने के पश्चात कंपनी को वैधानिक रूप से अस्तित्व में लाने के लिए प्रवर्तकों द्वारा कंपनी विधान में दी गई समस्त औपचारिकताओं को पूरा किया जाता है क्योंकि कंपनी को समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त होने के बाद ही पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त होता है।

कंपनी का समामेलन

समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए कंपनी द्वारा कंपनी अधिनियम के अनुसार निम्न समस्त औपचारिकताओं को पूरा किया जाना आवश्यक है जिसमें विभिन्न प्रपत्रों

को तैयार करना, उन्हें अन्य आवश्यक सूचनाओं तथा निर्धारित शुल्क सहित कंपनी के रजिस्ट्रार के पास भेजा जाना सम्मिलित है।

1. कंपनी के पार्षद सीमा नियम की एक प्रतिलिपि (निजी कंपनी में दो सदस्यों द्वारा तथा सार्वजनिक कंपनी के लिए कम से कम सात सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित) आवश्यक मुद्रांक एवं पंजीकरण शुल्क सहित रजिस्ट्रार को भेजना।

2. कंपनी के अंतरनियमों की प्रतिलिपि (जो पार्षद सीमा नियम में हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित होनी चाहिए) निर्धारित मुद्रांक एवं शुल्क सहित रजिस्ट्रार को भेजना। एक सार्वजनिक कंपनी के लिए अंतरनियमों की प्रतिलिपि भेजना आवश्यक नहीं है। यदि सार्वजनिक कंपनी अंतरनियम तैयार करके उसकी प्रतिलिपि नहीं भेजती है तो ऐसी कंपनी के ऊपर कंपनी अधिनियम की सारणी 'ए' में दिए गए नियम तथा उपनियम लागू होते हैं।

3. कंपनी को समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए अपने प्रस्तावित रजिस्टर्ड कार्यालय का पता भी भेजना पड़ता है। यदि रजिस्ट्रेशन के समय यह पता न दिया जा सके तो रजिस्ट्रेशन के 30 दिन के भीतर यह पता रजिस्ट्रार को अवश्य भेजा जाना चाहिए।

4. सार्वजनिक कंपनी के लिए यह आवश्यक है कि संचालकों की लिखित सहमति—कि वे कंपनी में संचालक के पद पर कार्य करने के लिए तैयार एवं इच्छुक हैं—की प्रतिलिपि उनके नाम, पते एवं हस्ताक्षर सहित रजिस्ट्रार को भेजी जाए।

5. इसके अतिरिक्त संचालकों द्वारा योग्यता अंश क्रय करने के लिए की गई प्रतिज्ञा भी मुद्रांक सहित रजिस्ट्रार को भेजना।

6. अंत में कंपनी के एडवोकेट या संचालक या सचिव द्वारा हस्ताक्षरित घोषणापत्र (जिसमें उनके द्वारा यह घोषणा की जाती है कि कंपनी अधिनियम में कंपनी के समामेलन के लिए दिए गए समस्त नियमों का पालन किया गया है) रजिस्ट्रार को भेजा जाना।

उपर्युक्त समस्त प्रपत्रों को आवश्यक मुद्रांक, रजिस्ट्रेशन शुल्क एवं फायलिंग शुल्क के साथ कंपनी के रजिस्ट्रार को भेज दिया जाता है। इन प्रपत्रों में दी गई सूचनाओं की जांच पड़ताल करने के पश्चात यदि रजिस्ट्रार संतुष्ट हो जाए तो वह कंपनी को समामेलन का प्रमाणपत्र निर्गमित कर देता है जो इस बात का अंतिम प्रमाण है कि कंपनी को पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त हो गया है और इस संबंध में समस्त वैधानिक औपचारिकताएं पूरी कर दी गई हैं।

समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के पश्चात निजी कंपनी किसी भी समय अपना व्यवसाय प्रारंभ कर सकती है क्योंकि निजी कंपनी के लिए पूंजी प्राप्त करने के लिए प्रतिभूतियों को जनता को प्रस्तावित करना प्रतिबंधित है और इसके सदस्य ही आपस में इन प्रतिभूतियों को क्रय करके कंपनी के लिए पूंजी उपलब्ध कराते हैं।

परंतु सार्वजनिक कंपनी के लिए समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के पश्चात व्यवसाय प्रारंभ करने हेतु, 'व्यवसाय प्रारंभ करने का प्रमाणपत्र' भी प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रमाणपत्र को प्राप्त करने के लिए निम्न सूचनाएं तथा प्रपत्र रजिस्ट्रार को भेजे जाने आवश्यक हैं :

1. कंपनी द्वारा इस बात की घोषणा की जाती है कि प्रविवरणपत्र में उल्लिखित न्यूनतम अभिदान (मिनिमम सब्स्क्रिप्शन) की राशि प्राप्त कर ली गई है और इस राशि की पूर्ति के बराबर अंश आवंटित कर दिए गए हैं।

2. संचालकों द्वारा योग्यता अंश खरीद लिए गए हैं और उनमें मांगी गई धनराशि

का भुगतान प्राप्त हो चुका है।

3. कंपनी द्वारा जारी किए गए 'प्रविवरणपत्र' अथवा स्थानापन्न प्रविवरणपत्र की एक प्रतिलिपि भेजना।

4. इस बात की घोषणा कि, (संचालक अथवा सचिव द्वारा) व्यवसाय प्रारंभ करने का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए कंपनी अधिनियम में दी गई समस्त वैधानिक औपचारिकताएं पूरी कर ली गई हैं।

ऊपर बताई गई सूचनाओं एवं प्रपत्रों को प्राप्त करके रजिस्ट्रार कंपनी को व्यवसाय प्रारंभ करने का प्रमाणपत्र जारी कर देता है।

कंपनी के महत्वपूर्ण प्रलेख अथवा प्रपत्र और कंपनी द्वारा अंशों का निर्गमन

पार्षद सीमा नियम

पार्षद सीमा नियम कंपनी का एक महत्वपूर्ण एवं मूल प्रपत्र है क्योंकि इस प्रपत्र को तैयार करके एवं रजिस्ट्रार के पास इसकी एक प्रतिलिपि भेज कर ही कंपनी को समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त होता है। इस प्रपत्र को कंपनी का 'उद्देश्यपत्र' भी कहा जाता है क्योंकि इस प्रपत्र के माध्यम से जनता को यह सूचना दी जाती है कि कंपनी की स्थापना किन किन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की गई है। पार्षद सीमा नियम के द्वारा कंपनी के कार्य क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण भी किया जाता है और कोई भी कंपनी इस प्रपत्र में उल्लिखित कार्य सीमा के बाहर कोई कार्य नहीं कर सकती है।

वैधानिक रूप से कंपनी का पार्षद सीमा नियम कंपनी एवं कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले पक्षकारों के बीच एक अनुबंध है क्योंकि यदि कंपनी इसमें निर्दिष्ट सीमाओं के बाहर कोई लेनदेन करती है तो वह वैधानिक रूप से व्यर्थ समझा जाएगा। इस प्रपत्र के माध्यम से कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले व्यक्ति को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है कि वह कंपनी के साथ कौन कौन से लेनदेन कर सकता है।

कंपनी का पार्षद सीमा नियम निजी कंपनी की दशा में कम से कम दो सदस्यों द्वारा तथा सार्वजनिक कंपनी में कम से कम सात व्यक्तियों द्वारा हस्ताक्षरित रहता है। इस दस्तावेज को पूरी सावधानी से तैयार किया जाना चाहिए क्योंकि इसमें परिवर्तन वास्तव में एक जटिल कार्य है जो केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में किया जा सकता है। इसीलिए इस प्रपत्र में दी जाने वाली सूचनाओं को स्पष्ट रूप से अलग अलग खंडों में विभाजित किया जाता है, जिनको पार्षद सीमा नियम के वाक्य कहा जाता है।

1. नाम वाक्य : इस वाक्य के अंतर्गत कंपनी का प्रस्तावित नाम (जिससे कंपनी का समामेलन हुआ है) दिया रहता है। निजी कंपनी के नाम के अंत में 'प्राइवेट' शब्द तथा सार्वजनिक कंपनी के नाम के अंत में 'लिमिटेड' शब्द जुड़ा रहना आवश्यक है क्योंकि इससे कंपनी के अस्तित्व की स्थिति एवं प्रकृति ज्ञात की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कंपनी का नाम दूसरी अन्य कंपनियों के नाम से मिलता जुलता नहीं होना चाहिए। कंपनी का नाम केंद्रीय सरकार की ओर से किसी रूप में प्रतिबंधित नहीं होना चाहिए।

2. स्थान वाक्य : स्थान वाक्य में उस राज्य का नाम दिया रहता है जिसमें कंपनी का रजिस्टर्ड कार्यालय स्थापित करना प्रस्तावित किया गया है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि कंपनी के साथ पत्रव्यवहार रजिस्टर्ड कार्यालय के माध्यम से किया जाता है। इसके अतिरिक्त रजिस्टर्ड कार्यालय की स्थिति से ही कंपनी रजिस्ट्रार का कार्यक्षेत्र स्पष्ट होता है।

3. उद्देश्य वाक्य : यह पार्षद सीमा नियम का महत्वपूर्ण वाक्य है क्योंकि इसमें वे सारी क्रियाएं तथा उद्देश्य उल्लिखित रहते हैं जिनको पूरा करने के लिए कंपनी की स्थापना की जा रही है। कंपनी के उद्देश्यों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त करके अलग अलग वर्गों में सम्मिलित समस्त उद्देश्यों का इस प्रपत्र में उल्लेख रहता है, जैसे मुख्य उद्देश्य तथा सहायक उद्देश्य।

4. पूंजी वाक्य : इस वाक्य में कंपनी की अधिकृत पूंजी तथा उसका विभाजन एवं प्रत्येक अंश का अंकित मूल्य दिया रहता है।

5. दायित्व वाक्य : इस वाक्य के अंतर्गत इस बात का उल्लेख रहता है कि कंपनी के सदस्यों के दायित्व की क्या प्रकृति है। उनका दायित्व अंशों के अंकित मूल्य तक ही सीमित है या उनके द्वारा दी गई गारंटी तक।

6. संघ वाक्य : संघ वाक्य के अंतर्गत उन सदस्यों द्वारा, जिन्होंने पार्षद सीमा नियम में अपने हस्ताक्षर किए हों, यह घोषणा की जाती है कि वे व्यक्ति वास्तव में कंपनी की स्थापना करने के इच्छुक हैं और वे उनके नाम के आगे उल्लिखित अंश क्रय करने के लिए तत्पर हैं।

पार्षद सीमा नियम में परिवर्तन

जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है कि पार्षद सीमा नियम के वाक्यों में कोई परिवर्तन किया जाना वास्तव में एक जटिल एवं पेचीदा कार्य है क्योंकि इसके लिए कंपनी को उन तमाम वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा करना पड़ता है। परिवर्तन कुछ ही परि-स्थितियों में किया जा सकता है (विशेष रूप से उद्देश्य वाक्य में परिवर्तन)।

1. नाम वाक्य में परिवर्तन : कंपनी को अपना नाम बदलने के लिए निम्न वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं :

(अ) केंद्रीय सरकार की लिखित अनुमति प्राप्त करना।

(ब) नाम परिवर्तन के लिए विशेष प्रस्ताव पास करना।

(स) इस प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि 30 दिन के अंतर्गत रजिस्ट्रार के पास भेजना।

(द) रजिस्ट्रार से पुन: नया समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करना।

यदि कोई कंपनी अपने नाम के आगे से 'प्राइवेट' शब्द हटाना चाहती है या जोड़ना चाहती है (निजी कंपनी का सार्वजनिक कंपनी में परिवर्तन या इसके विपरीत) तो इसके लिए केंद्रीय सरकार से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक नहीं है।

2. स्थान वाक्य में परिवर्तन : (अ) यदि कंपनी अपना रजिस्टर्ड कार्यालय एक ही शहर के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान में हस्तांतरित करना चाहती है तो इसके लिए 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को इसकी सूचना देना पर्याप्त है।

(ब) यदि रजिस्टर्ड कार्यालय एक ही राज्य में एक शहर से दूसरे शहर में हस्तांत-रित किया जा रहा है तो इसके लिए एक विशेष प्रस्ताव पास करके उसकी एक प्रति-लिपि 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजी जाती है।

(स) यदि कंपनी का रजिस्टर्ड कार्यालय एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाया जाना है तो इसके लिए निम्न औपचारिकताएं पूरी की जाती हैं :

(i) विशेष प्रस्ताव पास करके उसकी प्रतिलिपि 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजना, (ii) न्यायालय की अनुमति प्राप्त करना, (iii) प्राप्त अनुमति को 3 माह के भीतर दोनों राज्यों के रजिस्ट्रारों के पास जमा करना, (iv) दोनों राज्यों के रजिस्ट्रारों से परिवर्तन का प्रमाणपत्र प्राप्त करना, (v) कार्यालय के नए स्थान की सूचना परि-

वर्तन के 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजना ।

3. उद्देश्य वाक्य में परिवर्तन : उद्देश्य वाक्य में परिवर्तन केवल निम्न दशाओं में किया जा सकता है :

(अ) व्यवसाय अधिक मितव्ययता से चलाने के लिए ।

(ब) व्यवसाय में अधिक विकसित साधनों का प्रयोग करने के लिए,

(स) किसी नए व्यवसाय को स्थापित करने के लिए अथवा दूसरी कंपनी के साथ संयोजित होने के लिए,

(द) व्यवसाय के क्षेत्र को कम करने के लिए,

(य) पार्षद सीमा नियम में उल्लिखित उद्देश्यों में से किसी उद्देश्य को पूरा करने में रोक लगाने के लिए ।

आवश्यक कार्यवाही : (i) न्यायालय की अनुमति प्राप्त करना, (ii) विशेष प्रस्ताव पास करना, (iii) विशेष प्रस्ताव व न्यायालय की अनुमति की एक एक प्रतिलिपि 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजना ।

4. पूंजी वाक्य में परिवर्तन : कोई भी कंपनी पूंजी वाक्य में परिवर्तन तभी कर सकती है जब इसके अंतरनियमों में इसके लिए व्यवस्था की गई हो ।

कार्यवाही : एक साधारण प्रस्ताव पास करके इसकी प्रतिलिपि 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजी जाती है ।

अंशपूंजी में परिवर्तन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(अ) अंशों के अंकित मूल्य बदल कर,

(ब) निर्गमित पूंजी एवं चुकता पूंजी में कमी एक विशेष प्रस्ताव पास करके एवं न्यायालय की अनुमति लेकर की जाती,

(स) पूंजी का पुनर्गठन, जिससे विद्यमान अंशधारियों के अधिकारों पर प्रभाव पड़ता है। इसके लिए भी विशेष प्रस्ताव पास करके न्यायालय की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है ।

कंपनी के अंतरनियम

कंपनी के समामेलन के लिए जो दूसरा महत्वपूर्ण प्रपत्र रजिस्ट्रार को भेजा जाता है वह है कंपनी के अंतरनियम । सार्वजनिक कंपनी के लिए यह प्रपत्र भेजना आवश्यक नहीं है ।

कंपनी की अंतरनियमावली एक ऐसा प्रपत्र है जिसमें कंपनी के आंतरिक मामलों को सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक नियम तथा उपनियम दिए रहते हैं । कंपनी का अंतरनियम कंपनी और कंपनी के अंशधारियों तथा कंपनी के कर्मचारियों के बीच एक ठहराव है। इसमें दिए गए नियमों तथा उपनियमों के द्वारा ही समस्त कर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले कार्य नियंत्रित किए जाते हैं । इसके अतिरिक्त कंपनी तथा कंपनी के सदस्यों के समस्त अधिकार एवं कर्तव्य इसी में उल्लिखित रहते हैं।

कंपनी की अंतरनियमावली को पार्षद सीमा नियम का सहायक प्रपत्र समझा जाता है क्योंकि पार्षद सीमा नियम में कंपनी के उद्देश्य उल्लिखित रहते हैं जबकि अंतरनियमों में उस कार्य विधि या व्यवस्था की रूपरेखा दी रहती है जिसके द्वारा ये उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं, अर्थात अंतरनियम उद्देश्य पूर्ति के लिए दिशा निर्धारित करते हैं ।

अंतरनियमावली की विषयसामग्री : कंपनी के अंतरनियमों में प्रायः उन सभी नियमों अथवा व्यवस्थाओं का समावेश रहता है जो कंपनी अधिनियम की सारणी 'ए' में हैं । मुख्य रूप से कंपनी अपने अंतरनियमों में निम्न मामलों से संबंधित नियम सम्मिलित करती है ।

1. विभिन्न प्रकार के अंशधारियों के अधिकार,
2. अंशों का याचना मूल्य (काल) एवं उसे मांगने की विधि,
3. अंशों का हस्तांतरण, उनका जब्त किया जाना तथा उनका पुनर्निर्गमन,
4. अंशों का स्टाक में परिवर्तन,
5. पूंजी में परिवर्तन के निमय,
6. अंशधारियों की बैठकों से संबंधित नियम,
7. सदस्यों का मत देने का अधिकार,
8. संचालकों की नियुक्ति, वेतन अधिकार एवं कर्तव्य तथा अवकाश,
9. संचालकों की सभाएं,
10. प्रबंधकों की नियुक्ति, उनका वेतन, उनके अधिकार एवं कर्तव्य,
11. कंपनी की सार्वमुद्रा,
12. लाभ का वितरण, नियोजन एवं लाभांश,
13. कंपनी के खातों का निरीक्षण एवं अंकेक्षण,
14. लाभ का पूंजीकरण,
15. कंपनी का समापन।

अंतरनियमों में परिवर्तन

कंपनी के अंतरनियमों का परिवर्तन पार्षद सीमा नियम में परिवर्तन की अपेक्षा काफी सरल है। कंपनी किसी भी समय एक विशेष प्रस्ताव पास करके अंतरनियमों में परिवर्तन कर सकती है बशर्ते ऐसा परिवर्तन कंपनी अधिनियम की व्यवस्थाओं एवं कंपनी के पार्षद सीमा नियम के क्षेत्र के भीतर हों एवं उनके अनुकूल हों तथा ऐसा परिवर्तन सद्भावना-पूर्वक कंपनी के हित में किया गया हो। इसके लिए पारित प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि 30 दिन के भीतर रजिस्ट्रार को भेजी जानी आवश्यक है और परिवर्तित अंतरनियमों की एक प्रतिलिपि प्रस्ताव पास होने के बाद तीन माह के भीतर रजिस्ट्रार को भेजी जानी आवश्यक है।

पार्षद सीमा नियम एवं अंतरनियम

पार्षद सीमा नियम कंपनी का मूल एवं महत्वपूर्ण प्रपत्र है क्योंकि इस प्रपत्र को रजिस्ट्रार को भेजे बिना कंपनी का समामेलन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रपत्र में दी गई सूच-नाओं से कंपनी का ढांचा तैयार होता है। कंपनी के अंतरनियम को एक सहायक प्रपत्र समझा जाता है क्योंकि सार्वजनिक कंपनी इस प्रपत्र को रजिस्ट्रार के पास भेजे बिना भी समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त कर सकती है अत: यह प्रपत्र कंपनी के अस्तित्व के लिए सीमा नियम से कम महत्वपूर्ण है।

पार्षद सीमा नियम को कंपनी का अधिकारपत्र या उद्देश्यपत्र कहा जाता है क्योंकि इसमें कंपनी के उन सब उद्देश्यों का समावेश होता है जिनको प्राप्त करने के लिए कंपनी की स्थापना की ज़ाती है परंतु कंपनी के अंतरनियम में कंपनी के आंतरिक प्रबंध व प्रशा-सन की व्यवस्था से संबंधित आवश्यक नियम तथा उपनियम दिए रहते हैं।

कंपनी का पार्षद सीमा नियम कंपनी तथा कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले बाह्य व्यक्तियों के बीच का ठहराव है क्योंकि कंपनी इस प्रपत्र की सीमाओं से बाहर कोई लेन-देन नहीं कर सकती है परंतु अंतरनियम कंपनी और कंपनी के सदस्यों तथा कर्मचारियों के बीच ठहराव है क्योंकि अंतरनियमों में कंपनी के आंतरिक प्रबंध व प्रशासन की व्यवस्था से संबंधित नियम एवं उपनियम दिए रहते हैं और इस आंतरिक व्यवस्था में

सदस्यों तथा कर्मचारियों की स्थिति महत्वपूर्ण है।

पार्षद सीमा नियमों की तुलना में अंतरनियमों में परिवर्तन सरल एवं आसान है। पार्षद सीमा नियमों में परिवर्तन करने के लिए कई वैधानिक औपचारिकताओं का पालन करना पड़ता है जो काफी जटिल एवं पेचीदी हैं जबकि अंतरनियमों में परिवर्तन एक साधारण प्रस्ताव और कुछ दशाओं में विशेष प्रस्ताव पास करके किया जा सकता है।

पार्षद सीमा नियम का क्षेत्र अंतरनियमों से अधिक व्यापक है। यदि कंपनी पार्षद सीमा नियम से बाहर कोई लेनदेन करती है तो यह लेनदेन पूर्ण रूप से व्यर्थ होगा परंतु यदि कंपनी ने कोई लेनदेन अंतरनियमों के बाहर किया है और पार्षद सीमा नियम के भीतर है तो इसकी पुष्टि करके इसे वैध बनाया जा सकता है।

इस तुलना से यह स्पष्ट है कि ये दोनों प्रपत्र कंपनी के अस्तित्व को कायम रखने के लिए तथा व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं। फिर भी अंतरनियम पार्षद सीमा नियम का सहायक एवं पूरक प्रपत्र है।

रचनात्मक सूचना का सिद्धांत तथा आंतरिक प्रबंध का सिद्धांत

कंपनी को वैधानिक अस्तित्व प्रदान करने हेतु समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए कंपनी के पार्षद सीमा नियम तथा अंतरनियमों की एक एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार को भेजी जाती है। कंपनी का समामेलन हो जाने के बाद ये दोनों प्रपत्र सार्वजनिक प्रपत्र समझे जाते हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था, जो कंपनी के साथ लेनदेन करने की इच्छुक है, रजिस्ट्रार के कार्यालय में निर्धारित शुल्क जमा करके इनकी प्रतिलिपि प्राप्त कर सकते हैं। कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले व्यक्ति से वैधानिक रूप से यह आशा की जाती है कि कंपनी के साथ लेनदेन में सम्मिलित होने से पहले उसने इन प्रपत्रों में दी गई सूचनाओं को भलीभांति पढ़ लिया है और समझ लिया है क्योंकि इन प्रपत्रों के अध्ययन से उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है कि वह कंपनी के साथ जो लेनदेन कर रहा है वैसा लेनदेन कंपनी की कार्यसीमा के अंतर्गत है अथवा नहीं।

इसके बावजूद यदि कोई व्यक्ति कंपनी के पार्षद सीमा नियम में उल्लिखित कार्य सीमाओं के बाहर कंपनी के साथ कोई लेनदेन करता है अथवा अनुबंध करता है तो ऐसा अनुबंध या लेनदेन कंपनी के ऊपर वैधानिक रूप से बाध्य नहीं किया जा सकेगा। इसी को रचनात्मक सूचना का सिद्धांत कहा जाता है।

आंतरिक प्रबंध का सिद्धांत रचनात्मक सूचना के सिद्धांत का अपवाद है अर्थात आंतरिक प्रबंध के सिद्धांत के अनुसार कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले व्यक्ति के लिए पार्षद सीमा नियम तथा अंतरनियम का अध्ययन करना तो आवश्यक है, इसके आगे लेनदेन करने वाले व्यक्ति के लिए इस बात की जांच पड़ताल करना आवश्यक नहीं है कि क्या कंपनी अंतरनियमों का पालन पूर्ण रूप से कर रही है या इनके संबंध में कोई अनियमितता बरती जा रही है। दूसरे शब्दों में उसे वैधानिक रूप से यह मानने का अधिकार है कि कंपनी के आंतरिक प्रशासन एवं प्रबंध में अंतरनियमों का पूर्ण रूप से पालन किया जा रहा है। इस सिद्धांत के निम्न अपवाद हैं :

1. यदि कंपनी के साथ लेनदेन करने वाला व्यक्ति उपलब्ध साधनों का सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति की भांति प्रयोग करके यह ज्ञात कर सकता था कि अनियमितता बरती जा रही है।

2. कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले व्यक्ति को कंपनी के आंतरिक प्रबंध के बारे में पूर्ण सूचनाएं स्पष्ट रूप से ज्ञात थीं।

3. कंपनी द्वारा किया गया लेनदेन पूर्ण रूप से व्यर्थ है।

4. यदि कंपनी के एजेंट ने उसको दिए गए अधिकारों से बाहर कार्य किया है।

प्रविवरणपत्र (प्रास्पेकटस)

कंपनी को समामेलन का प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाने के बाद निजी कंपनी तो अपने सदस्यों से ही अंशदान प्राप्त करके पूंजी प्राप्त कर लेती है और व्यवसाय प्रारंभ कर सकती है परंतु सार्वजनिक कंपनी के लिए व्यवसाय प्रारंभ करने से पहले व्यवसाय प्रारंभ करने का प्रमाणपत्र प्राप्त करना पड़ता है और फिर कंपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए प्रतिभूतियों को निर्गमित करके जनता में विक्रय के लिए प्रस्तावित करती है और अपनी कुल पूंजी का अधिकांश जनता में प्रतिभूतियों को बेच कर ही प्राप्त करती है।

कंपनी के लिए निर्गमित प्रतिभूतियों (सामान्य अंश, ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश) को जनता में बेचने के लिए यह आवश्यक है कि कंपनी संभावित विनियोगकर्ताओं को निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करने के लिए प्रेरित करने हेतु उन्हें कंपनी की आर्थिक स्थिति, लाभ क्षमता तथा प्रबंध के बारे में समस्त सूचनाएं प्रदान करे। कंपनी इसी उद्देश्य से एक प्रपत्र जारी करती है जिसको प्रविवरणपत्र कहा जाता है। इसके माध्यम से कंपनी आम जनता को निर्गमित प्रतिभूतियां खरीदने के लिए आमंत्रित करती है। प्रविवरणपत्र प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए निमंत्रण मात्र नहीं समझा जाना चाहिए बल्कि यह एक सूचनापत्र भी है जिसमें विनियोगकर्ताओं के लिए विनियोजन के निर्णय को प्रभावित करने से संबंधित समस्त तत्वों के बारे में पूरी जानकारी दी रहती है।

संक्षेप में, प्रविवरणपत्र एक ऐसा प्रपत्र है जिसके द्वारा कंपनी जनता को निर्गमित प्रतिभूतियां खरीदने का निमंत्रण देती है और उन्हें इस निमंत्रण को स्वीकार करने से संबंधित सूचनाएं प्रदान करती है ताकि कंपनी द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों की मांग उत्पन्न की जा सके। इसके लिए संभावित विनियोगकर्ताओं में प्रतिभूतियों के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा उन्हें विनियोजन के लिए प्रलोभित किया जाना आवश्यक है।

कंपनी अधिनियम की धारा 2 (36) के अनुसार 'प्रविवरणपत्र का तात्पर्य ऐसे प्रपत्र से है जिसको प्रविवरणपत्र की भांति जारी किया गया हो, जिसमें जनता द्वारा कंपनी के अंश एवं ऋणपत्र खरीदने के लिए विवरणक सूचना, या विज्ञापन अथवा आमंत्रण सम्मिलित' किए गए हों।

कंपनी अधिनियम के अनुसार कोई भी कंपनी तब तक प्रविवरणपत्र जारी नहीं कर सकती है जब तक कि जारी किए जाने वाले प्रविवरणपत्र की एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार को न भेजी जाए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रविवरणपत्र के साथ अंश आवेदनपत्र संलग्न किया जाना चाहिए। प्रविवरणपत्र में निर्गमन तिथि होनी चाहिए तथा यह प्रपत्र समस्त संचालकों द्वारा हस्ताक्षरित होना चाहिए।

विनियोगकर्ताओं के हित के संरक्षण के लिए कंपनी अधिनियम के अनुसार जारी किए गए प्रविवरणपत्र में निम्न सूचनाएं सम्मिलित की जानी चाहिए :

1. कंपनी का नाम, उद्देश्य तथा रजिस्टर्ड कार्यालय का पता।
2. पार्षद सीमा नियम में हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों के नाम व पते तथा उनके द्वारा क्रय किए गए अंशों की संख्या।
3. कंपनी की अधिकृत पूंजी, उसका विभाजन तथा अंशधारियों के अधिकार।
4. न्यूनतम अभिदान अंश राशि एवं अंशों के आवंटन का समय।
5. अंशों के आवेदन एवं आवंटन में मांगी जाने वाली राशि।
6. संचालकों, प्रबंधकों, सचिव, कोषाध्यक्ष, बैंकर, एडवोकेट, दलाल तथा लेखा

निरीक्षक के नाम व पते।
7. संचालकों के लिए योग्यता अंशों की संख्या।
8. अंशों में दिया जाने वाला डिस्काउंट अथवा प्रीमियम।
9. कंपनी द्वारा क्रय की गई संपत्ति का ब्यौरा (विक्रेता का नाम, कीमत तथा प्रकृति)।
10. अभिगोपन से संबंधित सूचना (अभिगोपकों का नाम, पता तथा उनको दिया जाने वाला कमीशन इत्यादि)।
11. अंशों के निर्गमन से संबंधित व्यय का विवरण।
12. प्रवर्तकों का नाम, पता व उनको दिया जाने वाला पारिश्रमिक।
13. संचालक तथा प्रवर्तकों का कंपनी की स्थापना में संलग्न हित।
14. स्थान व समय जहां कंपनी का लाभ-हानि खाता, चिट्ठा एवं लेखा, निरीक्षक की रिपोर्ट, निरीक्षित की जानी है।
15. कंपनी के समस्त महत्वपूर्ण अनुबंधों का विवरण (तिथि एवं पक्षकारों के नाम)।
16. कंपनी द्वारा अंशों का शेयर बाजार में सूचियन।

प्रत्येक कंपनी को जो प्रतिभूतियां निर्गमित करके जनता को उन्हें खरीदने का आमंत्रण देती है, अपने प्रविवरणपत्र में उपर्युक्त सूचनाओं के अतिरिक्त कंपनी अधिनियम की सूची (11) में दिए गए विषयों के बारे में सूचना एवं निर्धारित रिपोर्ट्स सम्मिलित करना आवश्यक है।

कंपनी अधिनियम की धारा 62 व 63 के आधार पर यदि कंपनी का प्रविवरणपत्र तैयार करते समय आवश्यक सूचना का छुपाव किया जाता है अथवा जानबूझकर जनता को धोखा देने के अभिप्राय से प्रविवरणपत्र में कोई गलत सूचना दी जाती है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव कंपनी में धन अपना विनियोजित करने वाले व्यक्तियों की इच्छा पर पड़ता है तो इसके लिए संचालक एवं प्रविवरणपत्र तैयार करने में संलग्न व्यक्ति कानूनी रूप से जिम्मेदार ठहराए जा सकेंगे।

1. यदि किसी व्यक्ति ने प्रविवरणपत्र में दिए गए मिथ्या वर्णन से प्रभावित होकर प्रतिभूति क्रय करने का अनुबंध किया है तो ऐसा व्यक्ति अनुबंध निरस्त कर सकता है और प्रत्येक संचालक, प्रवर्तक या अन्य संलग्न व्यक्ति से मुआवजा प्राप्त करने के लिए उनमें से किसी के विरुद्ध न्यायालय में वाद प्रस्तुत कर सकता है।

2. प्रत्येक संचालक, प्रवर्तक और प्रविवरणपत्र तैयार करके जारी करने में संलग्न व्यक्ति को (विशेषज्ञ को छोड़कर) प्रविवरणपत्र में दिए मिथ्यावर्णन के लिए 2 वर्ष की सजा या 5000 रु० तक दंड या दोनों से दंडित किया जा सकता है।

3. यदि संचालक अथवा अन्य व्यक्ति धोखा देकर किसी व्यक्ति को कंपनी में अपना धन विनियोजित करने के लिए प्रलोभित करते हैं तो उनको 5 वर्ष की सजा या 10,000 रु० जुर्माना अथवा दोनों से दंडित किया जा सकता है।

स्थानापन्न प्रविवरण पत्र

यदि सार्वजनिक कंपनी अपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए आम जनता को प्रतिभूतियां क्रय करने के लिए आमंत्रित नहीं करती हैं बल्कि गिने-चुने व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से इस प्रकार से पूंजी प्राप्त कर लेती है तो ऐसी कंपनी के लिए प्रविवरणपत्र जारी करना आवश्यक नहीं है और प्रविवरणपत्र के स्थान पर एक दूसरा विवरणपत्र अंशों का आवंटन करने से तीन दिन पूर्व रजिस्ट्रार को भेजना पड़ता है। इसको स्थानापन्न प्रविवरणपत्र कहा जाता है। व्यावहारिक रूप में इस विवरणपत्र में भी उन सारी सूचनाओं को सम्मि-

लित किया जाता है जो आम तौर से कंपनी के प्रविवरणपत्र में दी जाती हैं क्योंकि यह विवरणपत्र कंपनी और कंपनी द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करने वाले व्यक्तियों के बीच अनुबंध का आधार होता है। स्थानापन्न विवरणपत्र समस्त संचालकों द्वारा हस्ताक्षरित होना आवश्यक है।

न्यूनतम अभिदान राशि (मिनिमम सब्स्क्रप्शन)

यह निर्गमित पूंजी का वह भाग है जो कंपनी का व्यवसाय प्रारंभ करने के लिए आवश्यक समझा जाता है। अर्थात यह ऐसी धनराशि है जिसको संचालक निम्न खर्चों की पूर्ति के लिए नकद अंशदान के रूप में प्राप्त करते हैं :

1. अचल संपत्ति क्रय करने के लिए।
2. अचल संपत्ति क्रय करने के लिए लिए गए ऋण का भुगतान करने के लिए।
3. प्रारंभिक खर्चों का भुगतान करने के लिए।
4. प्रतिभूतियों का वितरण करने हेतु अभिगोपकों या दलालों को कमीशन का भुगतान करने के लिए।
5. कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पूरी करने के लिए।

प्रविवरणपत्र की प्रकृति; क्या प्रविवरणपत्र सूचनात्मक हैं अथवा विनियोगकर्ताओं के लिए सुरक्षात्मक भी

कंपनी अधिनियम के अनुसार प्रविवरणपत्र में वे समस्त सूचनाएं दी जानी चाहिए जिनका प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव विनियोगकर्ता के विनियोजन के निर्णय पर पड़ता है। इन आवश्यक सूचनाओं का छुपाव करने में अथवा जानबूझकर धोखा देने के अभिप्राय से गलत सूचना देने में कंपनी के संचालक, प्रवर्तक तथा प्रविवरणपत्र तैयार करके जारी करने में संलग्न व्यक्तियों को दंडित किया जाता है क्योंकि प्रविवरणपत्र के माध्यम से ही कंपनी जनता को प्रतिभूतियां क्रय करने के लिए आमंत्रित करती है और इस आमंत्रण को स्वीकार करने से संबंधित समस्त आवश्यक जानकारी भी देती है। इस दृष्टिकोण से प्रविवरणपत्र आमंत्रण के साथ ही सूचना पत्र भी है। परंतु इसमें दी गई सूचना को विनियोगकर्ताओं को इस बात का आश्वासन नहीं समझा जा सकता है कि उनके द्वारा विनियोजित धन सुरक्षित है। वास्तव में यदि प्रविवरणपत्र में दी गई समस्त सूचनाओं का गहन अध्ययन करके और उनका विश्लेषण करके विनियोगकर्ता अपने धन का विनियोजन करने का निर्णय लेता है तो प्रविवरणपत्र उसके लिए सूचनात्मक ही नहीं है बल्कि इसमें दी गई सूचनाएं उसे कुछ सीमा तक सुरक्षा भी प्रदान करती हैं। सुरक्षा के दृष्टिकोण से संभावित विनियोगकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रविवरणपत्र में दी गई सूचनाओं का विश्लेषण करके निम्न तत्वों को विशेष रूप से ध्यान में रखे :

1. कंपनी के व्यवसाय की प्रकृति—जोखिम, प्रतिस्पर्धा आदि।
2. कंपनी की आर्थिक दशा—ऋणपूंजी व अंशपूंजी का अनुपात, कार्यशील पूंजी व स्थाई पूंजी में संबंध।
3. अभिगोपकों के साथ किए गए अनुबंध तथा अंशों का शेयर बाजार में सूचियन।
4. कंपनी का प्रबंधकीय ढांचा।
5. कंपनी के उद्देश्य व इनका आर्थिक वातावरण से संबंध।
6. लाभ का नियोजन तथा वितरण।
7. यदि कंपनी द्वारा पहले अंश जारी किए जा चुके हैं तो नए निर्गमन का उद्देश्य तथा गत वर्षों में कंपनी की लाभक्षमता।

अंशों का निर्गमन

कंपनी द्वारा जारी किए गए प्रविवरणपत्र की प्रत्येक प्रतिलिपि के साथ अंश आवेदन पत्र संलग्न रहता है। अंशों को क्रय करके पूंजी का विनियोजन करने का इच्छुक व्यक्ति प्रविवरणपत्र में दी गई सूचनाओं का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण करके यदि इससे संतुष्ट हो जाए तो संलग्न आवेदन पत्र को भरकर निर्धारित आवेदन राशि के साथ कंपनी के निर्दिष्ट बैंक को भेज देता है। अंश आवेदन की अंतिम तिथि पूरी हो जाने के बाद कंपनी इन आवेदन पत्रों को संचालकों की सभा में प्रस्तुत करती है और संचालकों द्वारा सभा में इनकी जांच पड़ताल करके आवंटन का निर्णय लिया जाता है। जिन व्यक्तियों को अंश आवंटित किए जाने होते हैं उनकी एक सूची तैयार कर ली जाती है और सूची के अनुसार कंपनी का सचिव उन व्यक्तियों को आवंटन पत्र भेज कर आवंटन राशि की याचना करता है। वैधानिक रूप से अंश आवंटित किए जाने के बाद ही उनको कंपनी का अंशधारी माना जाता है क्योंकि प्रविवरणपत्र के माध्यम से कंपनी केवल संभावित विनियोगकर्ता को प्रतिभूतियां क्रय करने का प्रस्ताव देने का आमंत्रण देती है। उनके द्वारा आवेदनपत्र दिया जाना प्रस्ताव है और उनको अंशों का आवंटन इस प्रस्ताव की स्वीकृति है। अंश आवंटित करने के बाद ही कंपनी एवं इन सदस्यों के बीच अनुबंध स्थापित हो जाता है। कंपनी अधिनियम के अनुसार सार्वजनिक कंपनी के लिए अंशों का आवंटन करने से पूर्व निम्न शर्तों को पूरा करना आवश्यक है :

1. प्रविवरण पत्र में उल्लिखित न्यूनतम अभिदान की राशि प्राप्त कर ली गई हो।
2. कंपनी ने अंशों के अंकित मूल्य का 5% आवेदन राशि के रूप में प्राप्त कर लिया हो।
3. अंशों में प्राप्त आवेदन राशि बैंक में जमा की गई हो।
4. अंशों का आवंटन प्रविवरणपत्र जारी करने के 120 दिन के भीतर पूरा कर लिया जाना चाहिए अन्यथा कंपनी को आवेदन राशि अगले 10 के भीतर वापस करनी पड़ेगी।
5. प्रविवरणपत्र जारी करने के 5 दिन तक अंशों का आवंटन नहीं किया जा सकता है।
6. यदि प्रविवरणपत्र में प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन का उल्लेख किया गया है तो प्रविवरणपत्र जारी करने के बाद 10 दिन के भीतर शेयर बाजार की अनुमति प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र दे दिया जाना चाहिए और अंशदान की अंतिम तिथि के बाद 4 सप्ताह तक (जो कुछ दशाओं में 7 सप्ताह भी हो सकती है) यदि शेयर बाजार से अनुमति न मिले तो ऐसे प्रविवरणपत्र के आधार पर किया गया अनुबंध व्यर्थ समझा जाएगा।

अनियमित आवंटन

यदि कंपनी द्वारा अंशों का आवंटन करने में कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं का पूर्णतया पालन नहीं किया गया है अथवा कुछ व्यवस्थाओं का उल्लंघन किया गया है तो ऐसा आवंटन अनियमित आवंटन कहलाता है। इस प्रकार के आवंटन के फलस्वरूप स्थापित अनुबंध पीड़ित पक्षकार की इच्छा पर व्यर्थ माना जाएगा। अर्थात पीड़ित पक्षकार को यह अधिकार है कि वह इस अनुबंध को निरस्त कर सकता है। पीड़ित पक्षकार इस अधिकार का प्रयोग कंपनी की वैधानिक सभा हो जाने के और आवंटन की तिथि के 2 माह के भीतर ही कर सकता है। यदि अंशों का आवंटन अनियमित रूप से किया गया है तो

संचालक कंपनी के प्रति और पीड़ित पक्षकार के प्रति हुई क्षति के लिए जिम्मेदार ठहराए जा सकेंगे। संचालकों से क्षतिपूर्ति कराने के लिए आवंटन की तिथि के बाद दो वर्षों तक ही उनके विरुद्ध वाद प्रस्तुत किया जा सकता है।

कंपनी के प्रबंध का ढांचा

कंपनी के सामान्य अंशधारी ही कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं और कंपनी के व्यवसाय का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अंतिम अधिकार उन्हीं को प्राप्त होता है, परंतु व्यवहार में विभिन्न कारणों से (प्रबंधकीय क्षमता का अभाव, प्रबंध के प्रति रुचि का अभाव, असीमित संख्या में होना आदि) समस्त सामान्य अंशधारी कंपनी के दैनिक प्रबंध एवं संचालन में हिस्सा नहीं लेते हैं। अत: अपने में से कुछ योग्य एवं कुशल व्यक्तियों को चुन कर (जिन्हें संचालक कहा जाता है) प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार उन्हें सौंप देते हैं। व्यवहार में ये संचालक गण अथवा अंशधारियों के प्रतिनिधि कंपनी के प्रबंध के ढांचे में सर्वोच्च स्तर पर कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कंपनी द्वारा कुछ अन्य विशेषज्ञों तथा प्रबंधकों की नियुक्ति भी की जाती है क्योंकि कंपनी का व्यवसाय सामान्य तौर से बड़े पैमाने पर होता है और व्यवसाय की समस्त क्रियाएं केवल संचालकों द्वारा निष्पादित नहीं की जा सकती हैं। ये प्रबंधक तथा विशेषज्ञ पूर्ण रूप से संचालकों के नियंत्रण में कार्य करते हैं और संचालकों द्वारा इन प्रबंधकों को प्राप्त अधिकारों का कुछ अंश सौंप दिया जाता है। कंपनी के प्रबंधकीय ढांचे को निम्न चार्ट द्वारा भली भांति समझा जा सकता है :

सामान्य अंशधारी
↓
संचालक मंडल
↓
प्रबंध समिति या कार्यकारी समिति
↓
मुख्य प्रबंधक
↓
विभागीय प्रबंधक
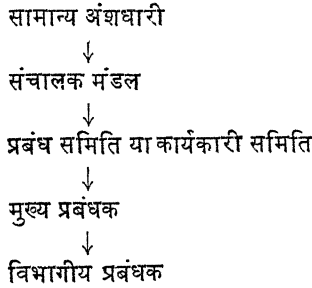
(1) विपणन प्रबंधक, (2) उत्पादन प्रबंधक, (3) क्रय प्रबंधक, (4) वित्त प्रबंधक, (5) कर्मचारी प्रबंधक, (6) शोध एवं विकास प्रबंधक।

सामान्य तौर से व्यवहार में कंपनी के व्यवसाय का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण करने के लिए ऊपर बताया गया प्रबंधकीय ढांचा प्रयोग में लाया जाता है और इसमें कंपनी का आकार, व्यवसाय की प्रकृति आदि तत्वों को ध्यान में रखकर आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं। इस प्रबंधकीय ढांचे में मुख्य रूप से संचालक, प्रबंध संचालक तथा विभागीय प्रबंधकों की स्थिति महत्वपूर्ण है और इनको प्रबंधकीय ढांचे का आवश्यक अंग समझा जाता है।

संचालक

संचालक कंपनी विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है क्योंकि इसको विधान द्वारा प्राकृतिक व्यक्ति के कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं। विधान द्वारा दिए गए अधिकारों का प्रयोग करने के लिए इसे मानव प्रतिनिधि की आवश्यकता पड़ती है। इसका प्रतिनिधित्व सामान्य अंशधारियों (जो कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं) द्वारा चुने गए संचालकों द्वारा किया

जाता है। कंपनी के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार इन्हीं संचालकों को सौंपा जाता है।

कंपनी अधिनियम की धारा 2 (13) के अनुसार 'संचालक से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो संचालक की स्थिति में कार्य करता है चाहे वह किसी नाम से पुकारा जाए।' इस परिभाषा के अनुसार संचालकों की स्थिति का सही ज्ञान नहीं होता है और न उनके कर्तव्यों एवं अधिकारों की प्रकृति का ज्ञान हो सकता है। अतः इस संबंध में ब्रिटिश अधिनियम में दी गई परिभाषा उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण समझी जा सकती है। इस अधिनियम के अनुसार 'संचालक एक ऐसा व्यक्ति है जिसको कंपनी के विभिन्न मामलों को संचालित, निर्देशित, प्रबंधित एवं नियंत्रित करने का अधिकार प्राप्त है।' इस परिभाषा में संचालकों के कार्य की प्रकृति एवं उनके अधिकारों की सीमा का वर्णन किया गया है।

इन परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संचालक एक ऐसा व्यक्ति है जिसको कंपनी के व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का अधिकार प्राप्त है और जो कंपनी के व्यवसाय को अंशधारियों के लाभ के लिए संचालित करता है तथा कंपनी में एक प्रतिनिधि एवं विश्वसनीय अधिकारी के रूप में कार्य करता है।

कंपनी के सारे अनुबंध कंपनी की ओर से इन्हीं संचालकों द्वारा किए जाते हैं। इनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने की सीमा कंपनी के पार्षद सीमा नियम, अंतरनियम तथा कंपनी अधिनियम द्वारा निर्धारित की जाती है। निर्धारित सीमा के बाहर किए गए कार्य कंपनी के ऊपर बाध्य नहीं होते हैं। संचालकों को कंपनी का एक विश्वसनीय अधिकारी भी समझा जाता है क्योंकि कंपनी की समस्त संपत्ति व पूंजी संचालित एवं नियंत्रित करने के लिए इनको सौंप दी जाती है और उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे कंपनी की संपत्ति का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग सामान्य अंशधारियों के हित में करें।

कंपनी अधिनियम में संचालकों की स्थिति से संबंधित निम्न व्यवस्थाएं दी गई हैं :

1. संचालकों की संख्या : निजी कंपनी में कम से कम दो संचालक तथा सार्वजनिक कंपनी में कम से कम तीन संचालक होने आवश्यक हैं। इनकी अधिकतम सीमा सामान्य तौर से कंपनी के अंतरनियमों में उल्लिखित रहती है। सार्वजनिक कंपनी में संचालकों की संख्या में वृद्धि करने के लिए साधारण प्रस्ताव पास किया जाता है। यदि संचालकों की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप संचालकों की कुल संख्या 12 से अधिक हो जाए तो केंद्रीय सरकार से इसके लिए अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक है।

2. संचालकों की नियुक्ति : अधिकांश दशाओं में कंपनी के प्रथम संचालकों का नाम अंतरनियमों में दिया रहता है। यदि अंतरनियमों में संचालकों का नाम न दिया हो तो प्रथम संचालकों की नियुक्ति पार्षद सीमा नियम में हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों द्वारा की जाती है। यदि संचालकों का नाम अंतरनियमों में नहीं दिया गया है और उनकी नियुक्ति पार्षदसीमा नियम में हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों द्वारा नहीं की जाती है तो ऐसी स्थिति में पार्षद सीमा नियम में हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों को तब तक कंपनी का संचालक समझा जाएगा जब तक कि संचालकों की नियुक्ति न हो जाए।

कंपनी अधिनियम की धारा 255 के अनुसार कंपनी के कुल संचालकों में से केवल $\frac{1}{3}$ संचालक स्थाई रूप से कार्य करेंगे और बाकी $\frac{2}{3}$ संचालकों में से प्रतिवर्ष $\frac{1}{3}$ संचालक क्रमवार अवकाश ग्रहण करेंगे। ऐसे संचालकों की नियुक्ति, जो बारी से अवकाश ग्रहण करेंगे, सामान्य अंशधारियों द्वारा वार्षिक सभा में अलग अलग साधारण प्रस्ताव पास करके की जाती है। बाकी संचालकों की नियुक्ति कंपनी के अंतरनियमों के अनुसार अन्य

पक्षकारों द्वारा, मनोनीत करके की जाती है, जैसे ऋणपत्रधारी, बैंक तथा अन्य संस्थाएं जिन्होंने कंपनी को ऋण प्रदान किया हो।

इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में संचालकों की नियुक्ति संचालक मंडल एवं केंद्रीय सरकार के द्वारा भी की जाती है, जैसे यदि कोई संचालक तीन माह से अधिक अवकाश ग्रहण करता है या संचालक का पद अन्य कारणों से रिक्त हो जाता है तो संचालक मंडल संचालक की नियुक्ति कर सकता है। ऐसा संचालक आने वाली वार्षिक सभा तक कार्य कर सकता है।

कंपनी अधिनियम की धारा 408 के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह कभी भी दो अतिरिक्त संचालकों को मनोनीत कर सकती है। केंद्रीय सरकार इस अधिकार का प्रयोग कुछ अपवादिक स्थितियों में ही करती है।

3. योग्यता अंश : कंपनी के अंतरनियमों में यह दिया रहता है कि जो व्यक्ति संचालक के रूप में कार्य करने को इच्छुक हो उसको कुछ निर्धारित योग्यता अंश खरीदने होंगे। योग्यता अंशों का मूल्य 5000 रु० से अधिक नहीं हो सकता है। प्रत्येक संचालक को (अंतरनियमों में जिन्हें छूट प्रदान की गई हो, उन्हें छोड़कर) निर्धारित योग्यता अंश नियुक्ति के बाद दो माह के भीतर प्राप्त करना आवश्यक है। योग्यता अंश क्रय करने का मुख्य उद्देश्य यह हो सकता है कि संचालकों को अंशधारियों के हितों की रक्षा करना बार बार स्मरण होता रहे क्योंकि मूल रूप से वह भी तो अंशधारी है।

4. संचालकों की योग्यता : कंपनी अधिनियम की धारा 266 के अनुसार कोई भी व्यक्ति संचालक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है यदि उसने कंपनी के अंतरनियमों के रजिस्ट्रेशन से या प्रविवरणपत्र जारी किए जाने से पहले :

(i) संचालक के पद पर कार्य करने की लिखित स्वीकृति रजिस्ट्रार को न दे दी हो।

(ii) योग्यता अंश क्रय करने के लिए पार्षद सीमा नियम पर हस्ताक्षर न कर लिए हों तथा उन पर भुगतान करने के लिए सहमत न हो गया हो।

(iii) और इसकी सूचना रजिस्ट्रार को न दे दी गई हो कि उसने योग्यता अंश क्रय कर लिए हैं और याचित राशि का भुगतान कर दिया है।

इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति जो अस्वस्थ मस्तिष्क का हो, या दिवालिया घोषित हो गया हो, या अपराधी घोषित हो या संचालक पद पर कार्य करने के लिए न्यायालय द्वारा अयोग्य घोषित हो गया हो, ऐसा व्यक्ति संचालक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

5. संचालक पद से हटाया जाना : साधारण सभा में एक साधारण प्रस्ताव पास करके किसी भी संचालक को (सरकार द्वारा मनोनीत संचालक को छोड़कर) निर्धारित समय से पहले पद से हटाया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव की सूचना कंपनी को 14 दिन के भीतर देनी आवश्यक है जिससे कंपनी इसे सभा के कार्यक्रम के साथ सारे सदस्यों को भेज सके। हटाए जाने वाले संचालक को यह अधिकार है कि वह इसके संबंध में लिखित रूप से कोई कथन दे सकता है। इसकी प्रतिलिपि प्रत्येक सदस्य को भेजी जानी आवश्यक है।

यदि सरकार द्वारा न्यायालय में किसी संचालक के कंपनी प्रबंध से संबंधित व्यवहार एवं योग्यता की जांच कराई जाए तो ऐसे संचालक को केंद्रीय सरकार द्वारा पद से हटाया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त, यदि न्यायालय की दृष्टि में कंपनी का प्रबंध न्यायोचित ढंग से नहीं किया जा रहा है तो न्यायालय किसी भी संचालक को पद से हटाने का आदेश

जारी कर सकता है या कंपनी एवं संचालक के बीच हुए अनुबंध को परिवर्तित कर सकता है बशर्ते ऐसा किया जाना कंपनी के सदस्यों के हित में हो।

6. संचालकों का पारिश्रमिक : (i) समस्त संचालकों को दिया जाने वाला कुल वार्षिक पारिश्रमिक उस वर्ष कंपनी द्वारा कमाए गए शुद्ध लाभ का 11% से अधिक नहीं हो सकता है। यदि लाभ अपर्याप्त हो तो ऐसा पारिश्रमिक 50,000 रु० तक दिया जा सकता है बशर्ते इसके लिए केंद्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली गई हो।

(ii) संचालकों को पारिश्रमिक या तो मासिक वेतन के रूप में दिया जा सकता है या संचालक मंडल की सभाओं में सम्मिलित होने के लिए भत्ते के रूप में दिया जा सकता है।

(iii) प्रबंध संचालक तथा पूर्णकालीन संचालकों को पारिश्रमिक या तो प्रति माह दिया जा सकता है अथवा लाभ का निर्धारित प्रतिशत (एक संचालक के लिए शुद्ध लाभ का 5% या एक से अधिक संचालकों की दशा में 10% तक) दिया जा सकता है।

(iv) यदि कोई प्रबंध संचालक या पूर्णकालीन संचालक कंपनी से कोई कमीशन प्राप्त करता है तो ऐसा संचालक कंपनी की अन्य सहायक कंपनी या कंपनियों से कोई पारिश्रमिक या कमीशन प्राप्त नहीं कर सकता है।

(v) संचालक के पारिश्रमिक में बृद्धि केंद्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए।

(vi) अंशकालीन संचालक को भी पारिश्रमिक मासिक, त्रैमासिक या वार्षिक रूप से दिया जा सकता है। इसके लिए केंद्रीय सरकार से अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक है, अथवा विशेष प्रस्ताव पास करके ऐसे संचालक को पारिश्रमिक कमीशन आदि के रूप में भी दिया जा सकता है, (एक संचालक के लिए शुद्ध लाभ का 10% तक और एक से अधिक संचालकों के लिए अधिकतम 3% तक)।

संचालकों के कर्तव्य

संचालक कंपनी के विश्वसनीय अधिकारी एवं प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। इस संबंध में संचालकों को निम्न कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है :

1. कंपनी के सदस्यों द्वारा कंपनी की पूंजी तथा संपत्ति को संचालित करने का पूर्ण अधिकार संचालकों को दे दिया जाता है अतः संचालकों का यह कर्तव्य है कि वे अपने व्यक्तिगत हितों को महत्व न देकर समस्त कार्य सदस्यों के हित में ईमानदारीपूर्वक एवं परिश्रम से करें।

2. संचालक कंपनी की ओर से लेनदेनों में कंपनी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका यह कर्तव्य है कि वे इन लेनदेनों में कोई गुप्त लाभ न कमाएं।

3. कंपनी के प्रत्येक संचालक का यह कर्तव्य है कि वह उसे सौंपे गए कार्य को ठीक उसी प्रकार निष्पादित करे जैसे कि एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति उन हालातों में स्वयं अपने लिए करता।

4. यदि किसी संचालक की लापरवाही से कंपनी को कोई क्षति हो जाए तो संचालक क्षतिपूर्ति के लिए जिम्मेदार होगा।

5. कंपनी के प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण से संबंधित विभिन्न मामलों में निर्णय लेने के लिए समय समय पर संचालक मंडल की बैठकें आयोजित की जाती हैं। प्रत्येक संचालक का यह कर्तव्य है कि वह इन सभी बैठकों में सम्मिलित होकर लिए जाने वाले निर्णयों के संबंध में अपनी राय प्रस्तुत करे क्योंकि संचालकों को कंपनी के प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है।

6. संचालक कंपनी का विश्वसनीय अधिकारी भी समझा जाता है क्योंकि कंपनी तथा उसके बीच विश्वासाश्रित संबंध होता है। इसलिए यदि वह कंपनी के साथ कोई अनुबंध करे जिसमें उसका व्यक्तिगत हित सम्मिलित हो तो उसे चाहिए कि वह कंपनी को अपना व्यक्तिगत हित प्रकट कर दे। उसे कंपनी के साथ कोई ऐसा अनुबंध नहीं करना चाहिए या ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसके कर्तव्य एवं हित में द्वंद्व उत्पन्न हो।

संचालकों के अधिकार

1. निर्गमित अंशों में याचना की मांग करना।
2. ऋणपत्र निर्गमित करना।
3. कंपनी के वित्त का नियोजन करना।
4. कंपनी के व्यवसाय के हिस्से को बेचना अथवा पट्टे पर देना।
5. प्रतिभूतियों में विनियोजन।
6. कंपनी की ओर से दान आदि देना।

इन समस्त अधिकारों का प्रयोग करने के लिए सामान्य अंशधारियों की सामान्य सभा में उनका अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक है।

अन्य अधिकार

1. कंपनी के व्यवसाय के लिए उद्देश्यों एवं उनको प्राप्त करने के लिए मूल नीतियों का निर्धारण भी संचालकों द्वारा ही किया जाता है क्योंकि कंपनी के प्रबंधकीय ढांचे में संचालक गण सर्वोच्च स्तर पर कार्य करते हैं और उन्हें व्यवसाय के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार प्राप्त रहता है।

2. संचालक कंपनी के व्यवसाय का दैनिक प्रशासन चलाने के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति भी कर सकते हैं क्योंकि उनका अधिकांश समय कंपनी के व्यवसाय की नीतियों का निर्धारण करने में व्यतीत हो जाता है। अतः प्रबंधकीय कार्य करने के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यक है।

3. कंपनी के संचालक व्यवसाय के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कर्मचारियों को आवश्यकतानुसार निर्देश एवं आदेश दे सकते हैं और उनके द्वारा किए गए कार्यों का निरीक्षण तथा नियंत्रण कर सकते हैं क्योंकि इसके लिए वे अंशधारियों के प्रति जिम्मेदार होते हैं।

4. कंपनी के सामान्य अंशधारियों से राय मशविरा करके लाभांश घोषित करके वितरित करने का अधिकार भी उन्हीं को प्राप्त है।

5. इसके अतिरिक्त संचालकों को कंपनी की ओर से अनुबंध करने तथा कंपनी के व्यवसाय को संचालित करने के लिए अन्य आवश्यक कार्य करने का अधिकार भी प्राप्त है।

संचालकों का दायित्व

संचालकों के दायित्वों को जानने से पहले कंपनी में संचालकों की स्थिति जानना आवश्यक है क्योंकि उनकी इस कार्य स्थिति से ही उनकी जिम्मेदारियां उत्पन्न होती हैं। संचालक गण सामान्य अंशधारियों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि हैं जो कंपनी को कंपनी अधिनियम में प्राप्त अधिकार कंपनी की ओर से उसके वास्तविक स्वामियों (सामान्य अंशधारी) के हित में दिलाते हैं और उनको कंपनी के व्यवसाय के संचालन, प्रबंध एवं नियंत्रण का

अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिए उन्हें कंपनी का प्रतिनिधि तथा विश्वसनीय अधिकारी समझा जाता है। वे केवल कंपनी के लिए ही जिम्मेदार नहीं होते हैं बल्कि वे सामान्य अंशधारियों के प्रति तथा कंपनी के साथ लेनदेन करने वाले तीसरे पक्षकार के प्रति भी जिम्मेदार ठहराए जा सकते हैं।

कंपनी के प्रति दायित्व : (अ) सचालक चूंकि कंपनी की ओर से प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं अत: उनको चाहिए कि वे प्राप्त अधिकारों की सीमा के भीतर ही कार्य करें। यदि वे इन अधिकार सीमाओं के बाहर कार्य करते हैं तो इन कार्यों के लिए वे व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार होंगे।

(ब) संचालक तथा कंपनी के बीच विश्वासाश्रित संबंध होता है, अत: यदि उनकी लापरवाही से कंपनी को कोई क्षति होती है तो उन्हे इस क्षति की पूर्ति करनी होगी।

(स) इसके अतिरिक्त यदि संचालक के दुराचरण से कंपनी को कोई क्षति होती है तो वह इसके लिए कंपनी के प्रति जिम्मेदार होंगे।

अंशधारियों के प्रति दायित्व : कंपनी के सामान्य अंशधारी ही कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं और उनके द्वारा कंपनी की पूंजी एवं संपत्ति का संचालन अधिकार संचालकों को एक विश्वसनीय अधिकारी के रूप में सौंपा जाता है। उनका यह कर्तव्य है कि वे इस पूंजी एवं संपत्ति का सामान्य अंशधारियों के हित में अधिकतम कुशलता से संचालन करें। यदि संचालकों द्वारा इस संबंध में कोई विश्वासघात किया जाता है तो इसके लिए वे अंशधारियों के प्रति जिम्मेदार ठहराए जा सकेंगे।

तीसरे पक्षकार के प्रति दायित्व : कंपनी के संचालक प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं अत: कंपनी से प्राप्त अधिकारों के अंतर्गत उनके द्वारा जो कार्य किए जाते हैं वे सारे कार्य कंपनी के ऊपर बाध्य होंगे परंतु यदि वे अधिकार सीमा से बाहर कार्य करते हैं तो इन कार्यों के लिए वे तीसरे पक्षकार के प्रति उत्तरदायी ठहराए जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त संचालक उनके द्वारा किए गए लेनदेन के लिए उन समस्त स्थितियों में भी व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार होंगे जिन स्थितियों में एक एजेंट व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार होता है।

इसके अतिरिक्त यदि संचालक किसी कार्य को करने में कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं का पूर्णतया पालन नहीं करते हैं तो इसके लिए वे कंपनी अधिनियम के अंतर्गत दोषी ठहराए जाएंगे और निर्धारित दंड के भागी होंगे।

प्रबंध संचालक

कंपनी के सामान्य अंशधारियों द्वारा कंपनी के संचालकों को व्यवसाय प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का अधिकार दिया जाता है। कंपनी के संचालक इस अधिकार का प्रयोग संयुक्त रूप से संचालक मंडल के माध्यम से करते हैं अत: संचालक मंडल का सभापतित्व करने के लिए तथा अंशधारियों की आम वार्षिक बैठक का निरीक्षण करने हेतु संचालक आपस में से किसी एक पूर्णकालीन संचालक को चुन लेते हैं। ऐसे संचालक को प्रबंध संचालक कहा जाता है।

कंपनी अधिनियम के अनुसार, 'प्रबंध संचालक एक ऐसा संचालक है जिसको कंपनी के साथ ठहराव द्वारा, आम सभा में पारित प्रस्ताव के द्वारा, या संचालक मंडल द्वारा पारित प्रस्ताव द्वारा या कंपनी के पार्षद सीमा नियम तथा अंतरनियम द्वारा कंपनी का प्रबंध व संचालन करने का वास्तविक अधिकार दिया गया हो, जिसका प्रयोग अन्यथा वह नहीं कर सकेगा।'

इस परिभाषा के अंतर्गत केवल प्रबंध संचालक की नियुक्ति का वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रबंध संचालक, संचालक मंडल द्वारा दिए गए निर्देशों के

अनुसार मंडल के निरीक्षण, नियंत्रण तथा इसके द्वारा दी गई दिशा के अनुसार कार्य करता है और उसका मुख्य कार्य समस्त संचालकों के कार्य में समन्वय बनाए रखना है। प्रबंध संचालक के संबंध में कंपनी अधिनियम की निम्न व्यवस्थाएं लागू होती हैं :

नियुक्ति : (i) किसी ऐसे व्यक्ति को प्रबंध संचालक नियुक्त नहीं किया जा सकता है जो दिवालिया घोषित हो या दिवालियापन से वैधानिक रूप से मुक्त न हुआ हो, या जो जमानत वर्जित अपराध का दोषी हो। (ii) प्रबंध संचालक की नियुक्ति तथा पुर्ननियुक्ति केंद्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित होनी आवश्यक है। नई कंपनी की दशा में प्रबंध संचालक की नियुक्ति एवं उसका अनुमोदन समामेलन के बाद तीन माह के भीतर हो जाना आवश्यक है। (iii) प्रबंध संचालक की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है और इस अवधि के समाप्त होने पर नियुक्ति ठहराव का नवीकरण किया जा सकता है।

पारिश्रमिक : प्रबंध संचालक को पारिश्रमिक या तो मासिक रूप से या शुद्ध लाभ के निर्धारित प्रतिशत के रूप में दिया जा सकता है। एक प्रबंध संचालक की दशा में यह प्रतिशत शुद्ध लाभ के 5% से अधिक नहीं हो सकता है और एक से अधिक प्रबंध संचालकों की स्थिति में अधिकतम 10% नियत है। यदि प्रबंध संचालक को पारिश्रमिक शुद्ध लाभ के निर्धारित प्रतिशत के रूप में दिया जा रहा है तो ऐसा प्रबंध संचालक कंपनी की अन्य सहायक कंपनियों से कोई पारिश्रमिक प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रबंध संचालकों की संख्या : एक प्रबंध संचालक दो कंपनियों से अधिक में नियुक्त नहीं किया जा सकता है। यदि केंद्रीय सरकार चाहे तो कुछ परिस्थितियों में प्रबंध संचालक को दो या दो से अधिक कंपनियों में कार्य करने की अनुमति दे सकती है बशर्ते ऐसी कंपनियों के प्रबंध एवं संचालन में एकरूपता या समानता हो।

यदि कोई प्रबंध संचालक 5 वर्ष से पूर्व ही पद से हटा दिया जाता है तो ऐसे प्रबंध संचालक को कुछ परिस्थितियों में कंपनी से क्षतिपूर्ति कराने का अधिकार प्राप्त होता है।

प्रबंधक

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि कंपनी के व्यवसाय का दैनिक प्रशासन एवं प्रबंध कंपनी के विभागीय प्रबंधकों द्वारा किया जाता है क्योंकि कंपनी के संचालकगण तो मुख्य रूप से व्यवसाय का उद्देश्य पूरा करने के लिए मूल नीतियों के निर्धारण में तथा अन्य महत्वपूर्ण मामलों के संबंध में निर्णय लेने में व्यस्त रहते हैं। संचालकों द्वारा तैयार की गई योजनाओं तथा कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए विभागीय प्रबंधक नियुक्त किए जाते हैं जो पूर्णतया संचालक मंडल के अधीन संचालकों द्वारा दिए गए आदेश तथा निर्देशों के अनुसार कार्य करते हैं।

प्रबंधक से हमारा अभिप्राय ऐसे अधिकारी से है जो संचालक मंडल के निर्देशन एवं नियंत्रण में कंपनी के दैनिक कार्यों का प्रबंध एवं संचालन करता है। उसे संचालक मंडल से अधिकार प्राप्त होते हैं और वह संचालक मंडल के प्रति जिम्मेदार होता है।

वैसे तो कंपनी के किसी संचालक को भी प्रबंधक नियुक्त किया जा सकता है पर व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण प्रबंधक सामान्य रूप से भिन्न व्यक्ति को ही नियुक्त किया जाता है क्योंकि कंपनी के समस्त कार्यों को उनकी प्रकृति के अनुसार विभाजित करके उन्हें निष्पादित करने के लिए कंपनी में अलग अलग विभागों का गठन किया जाता है और प्रत्येक विभाग के कार्यों का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण उस विभाग के प्रबंधक द्वारा संचालक मंडल के आदेश तथा निर्देशों के अनुसार किया जाता है। ये प्रबंधक सामान्य तौर से प्रबंधकीय सिद्धांतों से परिचित होते हैं और प्रबंधकीय कला में दक्ष एवं निपुण होते हैं। इनमें प्रबंधकीय योग्यता का होना आवश्यक है क्योंकि वास्तव में विभा-

गीय प्रबंधक ही कर्मचारियों से कार्य करवाते हैं और उनके कार्य पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखते है।

कंपनी अधिनियम के अनुसार प्रबंधक के पद पर व्यक्तियों के समूह अथवा संस्था को नियुक्त नहीं किया जा सकता है, प्रबंधक सदैव व्यक्ति विशेष होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रबंधक की नियुक्ति, पारिश्रमिक, पुनर्नियुक्ति आदि के संबंध में कंपनी अधिनियम की वे समस्त व्यवस्थाएं लागू होती हैं जो एक प्रबंध संचालक के लिए लागू हैं।

कंपनी में अल्पजन शासन एवं प्रबंध

सामान्य रूप से व्यावसायिक जगत में यह पाया जाता है कि व्यवसाय के स्वामित्व के साथ प्रबंध संचालन के अधिकार तथा संबंधित जोखिम संलग्न रहते हैं अर्थात जिस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के पास व्यवसाय का स्वामित्व होता है उन्हें ही उस व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का अंतिम अधिकार प्राप्त होता है और वे ही व्यवसाय में निहित जोखिम भी वहन करते हैं।

परंतु संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। वैसे तो कंपनी के सामान्य अंशधारी ही कंपनी के वास्तविक स्वामी होते हैं और कंपनी के व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का अधिकार भी उन्हीं को प्राप्त रहता है और जोखिम भी वही वहन करते है तथापि वास्तव में कंपनी का स्वामित्व प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण से पृथक होता है। कंपनी के वास्तविक स्वामी सामान्य अंशधारी प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधिकार का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग नहीं कर पाते जिसके फलस्वरूप कंपनी का प्रबंध एवं संचालन कंपनी के वास्तविक स्वामियों के पास न रह कर उनके द्वारा चुने गए कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित हो जाता है। इससे व्यवहार में कंपनी कुछ ही व्यक्तियों द्वारा शासित होने लगती है। प्रबंध में इस स्थिति को 'अल्पजन शासन' (आलगेरकिक मेनेजमेंट) कहा जाता है और यह स्थिति कंपनी में कुप्रबंध को जन्म देती है।

दूसरे शब्दों में संयुक्त पूंजी कंपनी को व्यवसाय के क्षेत्र में सबसे अधिक जनतांत्रिक समझा जाता है क्योंकि इसका स्वामित्व अनेक सामान्य अंशधारियों के पास होता है परंतु उनके द्वारा स्थापित कंपनी के व्यवसाय का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सामान्य अंशधारियों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों, जिन्हें संचालक कहा जाता है (और संयुक्त रूप से समस्त सचालकों को संचालक मंडल), के द्वारा चलाया जाता है। इस संचालक मंडल में कुछ संचालक पूर्णकालीन संचालक होते हैं और कुछ संचालक अंशकालीन भी हो सकते हैं। इसीलिए व्यवहार में संचालक मंडल द्वारा एक कार्यकारी समिति गठित की जाती है जो संचालक मंडल तथा विभागीय प्रबंधकों के बीच एक कड़ी का कार्य करती है, और समय समय पर सचालक मंडल द्वारा दिए गए आदेशों एवं नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए विभागीय प्रबंधकों तक संचारित करती है क्योंकि कंपनी के दैनिक व्यवसाय का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण इन्हीं विभागीय प्रबंधकों द्वारा किया जाता है और संचालक मंडल अपना महत्वपूर्ण समय व्यवसाय के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए मूल नीतियों के निर्धारण में तथा अन्य महत्वपूर्ण मामलों से संबंधित निर्णय लेने में व्यतीत करते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कंपनी का प्रबंध एवं संचालन जनतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित होते हुए भी अल्पजन शासित है क्योंकि केवल स्वामित्व के फैलाव से तथा संचालकों का चुनाव मतदान द्वारा करने से ही कंपनी जनतांत्रिक संस्था नहीं समझी जा सकती है। कंपनी के प्रबंध में 'अल्पजन शासन' की स्थिति निम्न कारणों से उत्पन्न होती है :

1. कंपनी के सामान्य अंशधारी इतनी अधिक संख्या में होते हैं कि उन सब के लिए यह संभव नहीं है कि वे कंपनी के व्यवसाय को प्रबंधित एवं संचालित करने में सक्रिय रूप से भाग ले सकें।

2. कंपनी के अंशधारी दूर दूर स्थानों में रहते हैं इससे उनके लिए यह संभव नहीं होता है कि वे अपने सामान्य हितों की सुरक्षा के लिए संयुक्त रूप से कार्य कर सकें।

3. अंशधारी विनियोजन में निहित जोखिम का फैलाव करने के लिए कई कंपनियों के अंशों को क्रय करते हैं। इससे वे किसी कंपनी में कम संख्या में अंश होने के कारण उस कंपनी की बैठकों में हिस्सा नहीं लेते हैं।

4. कंपनी के समस्त सामान्य अंशधारी कंपनी के व्यवसाय के प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण में दिलचस्पी नहीं लेते हैं।

5. कंपनी का व्यवसाय अधिकांश दशाओं में काफी बड़े पैमाने पर होता है जिसके प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के लिए विशिष्ट प्रबंधकीय कुशलता की आवश्यकता पड़ती है। यह क्षमता व्यवहार में समस्त सामान्य अंशधारियों में नहीं पाई जाती है।

6. मत देने के अधिकार का प्रयोग करने के लिए सामान्य अंशधारी कंपनी अधिनियम में दी गई सुविधाओं के अनुसार किसी भी व्यक्ति को मत देने के लिए (प्रौक्सी के रूप में) चुन लेते हैं।

7. कंपनी के व्यवसाय की क्रियाएं बड़े पैमाने पर संचालित करने से उनमें व्यापकता तथा जटिलता उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप समस्त सामान्य अंशधारियों को कंपनी की समस्त क्रियाओं के बारे में पूर्ण आवश्यक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती है। केवल वर्ष के अंत में 'अंतिम खातों' (लाभ-हानि खाता तथा चिट्ठा) की प्रतिलिपि से सामान्य अंशधारियों को कंपनी के बारे में विस्तृत ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि इन अंतिम खातों में कंपनी द्वारा वर्ष भर के लेनदेन का संक्षिप्त मौद्रिक ब्यौरा दिया रहता है। इसके अतिरिक्त कंपनी के संचालक अंतिम खातों में कंपनी की वास्तविक स्थिति छुपा कर गलत सूचनाएं दे सकते हैं। समस्त सामान्य अंशधारी अंतिम खातों में दी गई सूचनाओं का उचित प्रकार से विश्लेषण करने की क्षमता एवं ज्ञान नहीं रखते हैं। अतः अंतिम खातों के आधार पर सामान्य अंशधारी यह ज्ञात नहीं कर सकते हैं कि किस कार्य विशेष में कंपनी के संचालकों ने कुशलतापूर्वक कार्य नहीं किया और कंपनी के व्यवसाय के प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण में क्या क्या मुख्य कमियां या दोष रहे हैं।

8. कंपनी के सामान्य अंशधारी अपने अधिकांश अधिकारों का प्रयोग अंशधारियों की सभाओं में हिस्सा लेकर कर सकते हैं परंतु व्यवहार में यह पाया जाता है कि न तो समस्त अंशधारी बैठकों में उपस्थित हो पाते हैं और न उनको बैठकों की कार्यवाही के प्रति विशेष रुचि रहती है। इससे ये बैठकें भी निरर्थक सिद्ध होती हैं और इनमें कुछ विशेष अंशधारियों के समूह के द्वारा ही समस्त निर्णय बहुमत से ले लिए जाते हैं। इससे अल्पसंख्यक अंशधारी और अधिक हतोत्साहित हो सकते हैं।

9. व्यवसाय में राजनीतिक तत्वों के अवांछनीय हस्तक्षेप से भी व्यवसाय का वातावरण दूषित होता है। राजनीतिक दलों से प्रभावित सामान्य अंशधारी कंपनी में अंशधारियों की बैठकों में पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और सभा में विभिन्न प्रकार की बाधाएं उत्पन्न करते हैं जिसके फलस्वरूप समस्त सामान्य अंशधारी अपने अधिकारों का प्रयोग प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं कर पाते हैं और उन्हें हतोत्साहित होना पड़ता है।

10. कंपनी का संचालक मंडल प्रबंधकीय ढांचे में सर्वोच्च अंग है जिसे कंपनी के व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित तथा नियंत्रित करने का अंतिम अधिकार प्राप्त होता है। व्यवहार में यह पाया जाता है कि संचालक मंडल की रचना में कुछ संचालक

प्रबंधकीय क्षमता में दक्ष एवं निपुण नहीं होते हैं, कुछ संचालक अंशधारियों के समूह में प्रभावशील होने के कारण उनका चुनाव हो जाता है और कुछ ही संचालकों में वास्तव में प्रबंधकीय क्षमता पाई जाती है। यही संचालक कंपनी के व्यवसाय के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में कार्यशील रहते हैं और बाकी संचालक नाममात्र के संचालक सिद्ध होते हैं। इससे भी प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति उत्पन्न होती है।

कंपनी के प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति उत्पन्न होने से इसका निम्न प्रभाव संभव है :

1. सामान्य अंशधारियों को न्यायोचित व्यवहार नहीं मिल पाता है, क्योंकि अल्प-संख्यक सामान्य अंशधारी किसी भी स्थिति में महत्वपूर्ण रूप से अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

2. अंशधारियों का धन पूजी के रूप में संचालक मंडल के सुपुर्द रहता है जिसका संचालन कुछ ही व्यक्तियों की ओर से विशेष समूह के हितों को ध्यान में रख कर किया जाता है जिससे आम अंशधारी अधिकतम रूप से लाभान्वित नहीं हो सकता है।

3. कंपनी के प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति से संभावित विनियोगकर्ताओं का उत्साह एवं विश्वास कम हो जाता है।

4. प्रबंध में भ्रष्टाचार, बेईमानी एवं भाई-भतीजावाद की प्रवृत्ति पैदा होने लगती है।

5. कुप्रबंध के कारण कंपनी के व्यवसाय का संपूर्ण वातावरण दूषित हो जाता है जिसके फलस्वरूप पूंजी की गतिशीलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है।

6. कंपनी की पूंजी एवं अन्य साधनों से संबंधित नियंत्रण का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों तक केंद्रित रहता है और उनके एकाधिकार की स्थिति बढ़ती जाती है।

7. कुप्रबंध के कारण कर्मचारियों की उत्पादकता एवं कार्यकुशलता में क्षीणता उत्पन्न होने लगती है और कंपनी इस स्थिति में नहीं रहती है कि जनता को उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर प्रदान कर सके।

8. नियंत्रण का अधिकारप्राप्त संचालक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि करने के उद्देश्य से लाभांश की दर में अनावश्यक परिवर्तन करते रहते हैं जिससे परिकल्पनात्मक सौदा (सट्टा) प्रोत्साहित होता है और वास्तविक विनियोगकर्ताओं के हितों को ठेस पहुंचती है।

कंपनी के प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति को सुधारने के लिए सुझाव

ऊपर किए गए वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि कंपनी के प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप तथा कंपनी अधिनियम की अपर्याप्त उपयुक्त व्यवस्थाओं एवं रचना में निहित है। इसके परिणामस्वरूप न तो समस्त सामान्य अंशधारी प्राप्त अधिकारों को प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल कर सकते हैं और न ही प्रबंध संचालन तथा नियंत्रण का अधिकार स्वामित्व के साथ व्यावहारिक रूप में संलग्न किया जा सकता है। अत: कंपनी के प्रबंध एवं संचालन को वास्तव में जनतांत्रिक बनाने के लिए कंपनी अधिनियम में ऐसे संशोधन किए जाएं जिससे कंपनी की पूंजी एवं संपत्ति का आम सामान्य अंशधारियों के हित में प्रयोग संभव हो। हालांकि कंपनी अधिनियम में समय समय पर संशोधन किए जाते रहे हैं पर उन संशोधनों को पर्याप्त समझना उचित नहीं है।

न्यायाधीश मिलिन के शब्दों में 'कंपनी को स्थापित करने के प्रयत्न तथा कंपनी के संचालन को विनियोगकर्ताओं तथा लेनदारों के हित में चलाने के प्रयत्न कभी पूर्ण एवं अंतिम नहीं हो सकते हैं।' मिलिन का यह कथन काफी हद तक उचित प्रतीत होता है

क्योंकि चाहे कितने ही प्रयत्न किए जाएं पर इस स्वरूप की मूल प्रकृति तथा इससे संबंधित अधिनियम की रचना का रूप पूर्णतया परिवर्तित नहीं किया जा सकता है और न ऐसा किया जाना वांछनीय ही है। अतः जब तक सामान्य अंशधारियों में इसके प्रति जागरूकता उत्पन्न नहीं होगी तब तक अन्य प्रयास सफल नहीं हो सकते हैं। कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन करके संचालकों के अधिकार, दायित्व, पारिश्रमिक आदि में कुछ परिवर्तन अवश्य किए जा सकते हैं परंतु प्रबंधकीय ढांचे में विद्यमान समस्त कमियों को दूर करने के लिए ये परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं हैं।

कंपनी अधिनियम के अंतर्गत अल्पजन शासन की स्थिति को सुधारने के लिए समय समय पर निम्न व्यवस्थाएं की गई हैं :

(i) अंशधारियों की आम वार्षिक सभा से 21 दिन पूर्व सभा के कार्यक्रम के साथ, अंतिम खातों की प्रतिलिपि, संचालकों की रिपोर्ट की प्रतिलिपि, अंकेक्षक की रिपोर्ट, कंपनी के व्यवसाय की स्थिति, प्रस्तावित लाभांश की राशि, शुद्ध लाभ के नियोजन आदि का विवरण प्रत्येक सदस्य को भेजा जाना आवश्यक है।

(ii) कोई भी कंपनी ऐसे अंश निर्गमित नहीं कर सकती है जिनमें मताधिकार गैर आनुपातिक हो।

(iii) प्रत्येक सदस्य (जो सभा में उपस्थित नहीं हो सकता है) को एक प्राक्सी फार्म भेज दिया जाता है। वह उसमें अपने प्रतिनिधि का नाम लिखकर सभा के 48 घंटे पूर्व तक कंपनी को भेज सकता है।

(iv) सदस्य रजिस्टर बंद करने के एक सप्ताह पूर्व इसकी आम सूचना दी जानी आवश्यक है। यह रजिस्टर वर्ष में 45 दिन से अधिक के लिए तथा एक बार 30 दिन से अधिक के लिए बंद नहीं किया जा सकता है।

(v) संचित मताधिकार की व्यवस्था की गई है।

(vi) प्रबंधकों के कार्यों पर नियंत्रण की व्यवस्था है।

(vii) दोषी प्रबंधकों के विरुद्ध कार्यवाही की भी व्यवस्था है।

यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो केवल उपर्युक्त व्यवस्थाओं से अल्पजन शासन की स्थिति सुधारना संभव नहीं है। इस संबंध में कुछ सुझाव निम्न हैं :

1. अंशधारियों का संगठन : जैसा पहले बताया जा चुका है, कंपनी के स्वरूप में अल्पजन शासन निहित है क्योंकि एक ओर तो स्वामित्व तथा प्रबंध का पृथक्करण है और दूसरी ओर पृथक्करण के साथ ही साथ स्वामित्व एवं प्रबंध के बीच समन्वय का अभाव होता है जिससे अल्पजन शासन की स्थिति और गंभीर हो जाती है। अतः स्वामित्व तथा प्रबंध में समन्वय बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि कंपनी के समस्त सामान्य अंशधारी संयुक्त रूप से सामूहिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए संगठित होकर कार्य करें। यह तभी संभव है यदि सामान्य अंशधारी या तो उद्योगों के अनुसार, कंपनियों के अनुसार या क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर पर अपने संगठनों की स्थापना करें। अंशधारियों के ऐसे संगठनों को शक्तिशाली तथा प्रभावशील बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन करके इन संगठनों को वैधानिक मान्यता प्रदान की जाए और साथ ही साथ अंशधारियों को संचालकों के चुनाव के अधिकार के साथ यह अधिकार भी दिया जाए कि वे समय समय पर संचालकों द्वारा किए गए कार्यों का निरीक्षण कर सकें तथा दोषी संचालक को शीघ्र उसके पद से हटा सकें। इससे संचालक मंडल के कार्यकलापों पर उनका नियंत्रण रह सकेगा तथा उनके द्वारा प्रबंध एवं संचालन में सुधार के लिए सुझाव दिए जा सकेंगे। ऐसे संगठनों की सभाएं वर्ष में कई बार बुलाई जानी चाहिए ताकि इनमें विचार विमर्श करके प्रबंध की कमजोरी को शीघ्र

दूर किया जा सके। अंशधारियों के संगठन के नियंत्रण में एक 'कार्यकारी समिति' गठित की जा सकती है जो समस्त सदस्यों को कंपनी की दैनिक कार्यवाही के बारे में समय समय पर सूचना भेज सकती है ताकि सदस्य कंपनी की स्थिति के बारे में पूर्णतया अवगत रहें तथा प्रबंध एवं संचालन के प्रति उनमें रुचि उत्पन्न की जा सके।

अंशधारियों के संगठन के निम्न मुख्य कार्य हो सकते हैं :

1. कंपनी के दैनिक प्रशासन, नीतियों एवं योजनाओं से संबंधित सूचनाएं एकत्र करना।

2. सदस्यों की समय समय पर सभाएं आयोजित करना, उनको प्राप्त सूचनाओं से अवगत कराना, तथा विचार विमर्श करके उनसे सुझाव प्राप्त करना।

3. अंशधारियों के संगठन की सभाओं में लिए गए निर्णयों को तथा सुझावों को संचालक मंडल तक पहुंचाना और यह देखना कि इन निर्णयों तथा सुझावों पर अमल किया जा रहा है या नहीं।

4. कंपनी की सही आर्थिक स्थिति एवं लाभ क्षमता से सदस्यों को अवगत कराना तथा विस्तार योजना के लिए सदस्यों में सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

5. सदस्यों को वार्षिक सभा में उनके अधिकारों से अवगत कराना, जो सदस्य सभा में उपस्थित नहीं हो सकते हैं उनसे प्राक्सी फार्म प्राप्त करना और उनका प्रयोग संगठन द्वारा लिए गए निर्णयों के पक्ष में करना।

6. यदि कंपनी का प्रबंध सुचारु रूप से नहीं किया जा रहा है तो इसके लिए संयुक्त रूप से वैधानिक उपचार अपनाना और आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों का प्रतिनिधित्व कराके केंद्रीय सरकार से हस्तक्षेप की मांग करना।

7. संचालक मंडल को आवश्यक सूचनाएं सही रूप से प्रसारित करने के लिए बाध्य करना।

इससे यह स्पष्ट है कि इन संगठनों को स्थापित करके तथा कार्यों में सक्रिय रखकर संचालकगणों को सदस्यों के सामूहिक हितों को सुरक्षित रखने पर बाध्य किया जा सकता है बशर्ते इन संगठनों के कार्यकर्ताओं को समस्त सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो और ये कार्यकर्ता अपने कार्य में चतुर, ईमानदार तथा योग्य हों और उनमें संगठनात्मक क्षमता विद्यमान हो। इस प्रकार के संगठनों की स्थापना अमरीका में काफी प्रचलित है और इन संगठनों को वहां संचालकगणों को कंपनी की समस्त क्रियाओं का ब्यौरा देने पर बाध्य करने में प्रशंसनीय सफलता मिली है। परंतु दुर्भाग्यवश हमारे देश में इस प्रकार के संगठन कुछ ही गिने चुने औद्योगिक क्षेत्रों में अनौपचारिक रूप से स्थापित हो पाए हैं, जैसे 'बंबई शेयर होल्डर्स एसोसिएशन' आदि।

2. अंशधारियों को प्रबंध संचालन में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा देना : कंपनी के प्रबंध में अल्पजन शासन की स्थिति को सुधारने के लिए व्यवसाय के अन्य स्वरूपों की भांति इस स्वरूप के अंतर्गत भी वास्तविक स्वामियों को (सामान्य अंशधारी) कंपनी के व्यवसाय के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में प्रत्यक्ष रूप से भागीदार बनाया जा सकता है। इसके लिए सामान्य अंशधारियों की विभिन्न समितियां गठित की जा सकती हैं जिसमें 5 से 10 तक सदस्य सम्मिलित किए जा सकते हैं। इन समितियों को मुख्य रूप से दो प्रकार से गठित किया जा सकता है—'सदस्य सलाहकार समितियां' तथा 'सदस्य कार्यकारी समितियां'। इन दोनों प्रकार की समितियों को संपूर्ण प्रबंधकीय ढांचे में प्रत्येक स्तर पर आवश्यकतानुसार गठित किया जा सकता है। संक्षेप में, कंपनी के प्रबंधकीय ढांचे में मुख्य दो स्तर होते हैं। एक तो संचालक मंडल का सर्वोच्च स्तर, जिसका मुख्य कार्य व्यवसाय के लिए उद्देश्यों तथा मूल नीतियों का निर्धारण करना तथा अन्य

महत्वपूर्ण निर्णय लेना होता है। और दूसरा मुख्य स्तर है विभागीय प्रबंधकों का जो संचालक मंडल से प्राप्त आदेश एवं निर्देशों के अनुसार अपने अपने विभागों की समस्त क्रियाओं का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण करते हैं अर्थात संचालक मंडल द्वारा तैयार की गई योजनाओं तथा निर्णयों को क्रियान्वित करते हैं।

सदस्य सलाहकार समिति का गठन प्रबंध के सर्वोच्च स्तर पर किया जाना वांछनीय होगा क्योंकि यह समिति संचालक मंडल को मूल नीतियों के निर्धारण में तथा अन्य महत्वपूर्ण निर्णय लेने में समय समय पर आवश्यक सुझाव व सलाह दे सकती है और आम सामान्य अंशधारियों का प्रतिनिधित्व कर सकती है। इसके अतिरिक्त सदस्य कार्यकारी समितियों का गठन प्रबंध के उस स्तर पर किया जाना चाहिए जिस स्तर पर मूल नीतियों को तथा योजनाओं को क्रियान्वित किया जाता है, जैसे विभागीय प्रबंध स्तर। ये कार्यकारी समितियां प्रबंध स्तर की पूरक समितियां भी समझी जाती हैं। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव उस स्तर पर किए जाने वाले कार्य पर होता है। इन समितियों को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वे संबंधित विभाग के प्रबंधक के कार्य में आवश्यक हस्तक्षेप कर सकें (विशेष रूप से जब प्रबंधक मूल नीतियों एवं योजनाओं को क्रियान्वित करने में सतर्कता नहीं बरतते हैं या उनको पूर्णतया प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित नहीं करते हैं) तथा संबंधित विभाग की महत्वपूर्ण क्रियाओं पर नियंत्रण रख सकें।

इन दोनों प्रकार की समितियों में पूर्णतया समन्वय बना रहना चाहिए ताकि कार्यकारी समितियां अपवादित स्थितियों को सदस्य सलाहकार समिति तक सूचित करके शीघ्र आवश्यक सुधार की व्यवस्था करवा सकें। इन समितियों की संख्या प्रबंधकीय कार्यों की जटिलता तथा व्यापकता पर आधारित की जा सकती है।

जहां तक इन समितियों में कार्य करने वाले सदस्यों के पारिश्रमिक की समस्या का प्रश्न है, उसे कई विधियों से सुलझाया जा सकता है। इन समितियों के सदस्यों को पारिश्रमिक या तो अन्य प्रबंधकों के पारिश्रमिक की भांति इसे आयगत व्यय मानकर मासिक भत्ते के रूप में दिया जा सकता है। चूंकि इन समितियों की विद्यमानता से (विशेष रूप से कार्यकारी समितियां) प्रबंधकों के कार्य भार में कमी होती है अतः इसके सदस्यों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक आयगत व्यय समझा जाना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि समस्त सामान्य अंशधारी सहमत हों तो लाभ संचित कोषों में से भी सदस्यों को दिए जाने वाले पारिश्रमिक की व्यवस्था की जा सकती है क्योंकि लाभ संचित कोषों की धनराशि सामान्य अंशधारियों की होती है और इसे उनके सामूहिक हितों की सुरक्षा के लिए प्रयोग में लाना अनुचित नहीं समझा जाना चाहिए। इस सुझाव की सफलता भी अंशधारियों में जागरूकता, पारस्परिक सहयोग तथा कंपनी अधिनियम में किए जाने वाले आवश्यक संशोधनों पर निर्भर है। कंपनी के सामान्य अंशधारियों में जब तक इस प्रकार की जागरूकता उत्पन्न नहीं होगी उनकी स्थिति वर्तमान स्थिति की भांति बनी रहेगी और उनके समस्त अधिकार केवल संचालकों का चुनाव करने तक ही सीमित रह पाएंगे।

3. संचित मतदान प्रणाली : संचालकों के चुनाव में संचित मतदान प्रणाली का लागू किया जाना भी कुछ सीमा तक 'अल्पजन शासन' की स्थिति को सुधारने में सहायक है। इस प्रणाली को लागू करने से अल्पसंख्यक अंशधारी भी कुछ संचालकों को संचालक मंडल के लिए चुन सकते हैं। इस मतदान प्रणाली की कंपनी अधिनियम में व्यवस्था तो की गई है पर इसे कंपनी अपनी इच्छानुसार अपना सकती है। अतः इस मतदान प्रणाली को लागू करके अल्पसंख्यक अंशधारियों को संचालन एवं प्रबंध में आनुपातिक प्रतिनिधित्व देने के लिए, कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए

और इसे अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

मतदान की इस प्रणाली के अनुसार प्रत्येक अंशधारी को एक अंश में उतने मतदान अधिकार प्राप्त होते हैं जितने संचालक चुने जाते हैं। इस प्रकार अल्पसंख्यक अंशधारी भी अपने समस्त मतदान अधिकार का कुछ ही संचालकों के पक्ष में प्रयोग करके उनका चुनाव कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि कंपनी की वार्षिक सभा में प्राक्सी लगाकर कुल 1000 अंशधारी उपस्थित हैं और 5 संचालकों का चुनाव किया जाना है तो मौजूदा मतदान प्रणाली के अनुसार यदि 501 सदस्य अपना समूह बना लें तो वे समस्त संचालकों का चुनाव कर लेंगे। परंतु संचित मतदान प्रणाली के अनुसार प्रत्येक सदस्य को 5 मत देने का अधिकार प्राप्त होगा और यदि वह चाहे तो समस्त 5 मतों को एक या दो संचालकों के पक्ष में दे सकता है। 501 अंशधारियों के समूह के लिए यह संभव नहीं होगा कि वे समस्त 5 संचालकों का चुनाव अपनी इच्छानुसार कर लें क्योंकि इस प्रणाली के अनुसार एक संचालक का चुनाव करने के लिए 168 अंशों की आवश्यकता होगी।

$$\frac{1000+1}{5+1} = 1001/6 = 168$$

अल्पसंख्यक अंशधारी कम से कम दो संचालकों का चुनाव करके संचालक मंडल में अपना प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं।

4. संचालकों की स्थिति से संबंधित सुझाव : संचित मतदान प्रणाली के अतिरिक्त कंपनी अधिनियम के अंतर्गत संचालकों को अंशधारियों के ऊपर जो महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है (जिसका प्रयोग वे अनुचित प्रकार से करते हैं) उसके लिए जब तक अधिनियम में संशोधन करके उचित व्यवस्था नहीं की जाएगी तब तक अंशधारियों के हित उनके हाथों में सुरक्षित नहीं हैं, जैसे लाभांश वितरण के संबंध में संचालकों का निर्णय अंतिम होता है हालांकि इसको भी जनतांत्रिक बनाने के लिए सामान्य अंशधारियों से संचालक लाभांश घोषित करने के लिए राय लेते हैं जो बिल्कुल अप्रभावशील है क्योंकि अंशधारियों को यदि कम लाभांश दिया जा रहा है, तो वे संचालकों को लाभांश की दर बढ़ाने के लिए बाध्य नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त संचालक मंडल की संरचना में कुछ संचालक अधिक आयु वाले और कुछ संचालक कुछ कम आयु के (नौजवान) होते हैं। इससे अधिक आयु वाले संचालकों के ज्ञान एवं अनुभव का इस्तेमाल नौजवान संचालकों द्वारा पूरे उत्साह से किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि कंपनी में कुछ संचालक सरकार द्वारा मनोनीत किए जा रहे हैं तो संचालक मंडल में संतुलन बनाए रखा जाना चाहिए ताकि व्यवसाय से बाहर के व्यक्तियों का ज्ञान व अनुभव भी कुशलतापूर्वक प्रयोग में लाया जा सके।

5. आवश्यक तथ्यों की सही जानकारी : कंपनी अधिनियम की संशोधित व्यवस्थाओं के अनुसार कंपनी केवल वर्ष के अंत में अंतिम खातों की प्रतिलिपि, संचालकों की रिपोर्ट, अंकेक्षक की रिपोर्ट, प्रस्तावित लाभांश की दर, लाभ का नियोजन आदि सूचनाएं समस्त अंशधारियों को अनिवार्य रूप से भेजती है। यह कंपनी द्वारा वर्ष भर में किए गए कार्यों का संक्षिप्त एवं मौद्रिक आंकड़ों के रूप में प्रदर्शन है जिसको प्रत्येक अंशधारी ठीक से नहीं समझ सकता है और इससे अंशधारियों को कंपनी की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता है। इस संबंध में कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं को संशोधित करके कंपनी के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि प्रत्येक सदस्य को समय समय पर (कम से कम वर्ष में 4 बार) कंपनी द्वारा किए गए कार्यों का विस्तृत ब्यौरा दिया जाए ताकि अंशधारी कंपनी की कार्यकुशलता तथा लाभ क्षमता से अवगत हो सके और उसको वर्ष के अंत में प्राप्त अंतिम खातों को समझने में आसानी हो।

ऊपर के वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता ह कि अल्पजन शासन की स्थिति को सुधारने में सबसे अधिक योगदान सामान्य अंशधारियों द्वारा ही दिया जा सकता है। इसके लिए उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना, संयुक्त दायित्व की भावना तथा कंपनी के कार्यों के प्रति जागरूकता का होना आवश्यक है और वे ही विभिन्न स्थितियों का हवाला देकर कंपनी अधिनियम मंडल को तथा सरकार को कंपनी अधिनियम में आवश्यक संशोधन करने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

5

सहकारी संगठन

सहकारिता शब्द बहुत समय से प्रचलित है। यह शब्द 'सह कार्य' शब्द से बना है जिसका अर्थ है मिलजुल कर कार्य करना। सहकारिता अथवा मिलजुलकर कार्य करना मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से ही मानव जीवन के मूल सिद्धांत के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। सहकारिता एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत समानता के आधार पर कुछ व्यक्ति अपने सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से मिलजुलकर कार्य करते हैं। 'पारस्परिक सहायता से स्वयं को सहायता पहुंचाना', 'प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए' सहकारिता के मूल सिद्धांत रहे हैं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, सहकारिता मानव के सामाजिक जीवन के मूल सिद्धांत के रूप में बहुत पहले से अपनाई गई है। आधुनिक युग में सहकारिता का प्रचलन व्यवसाय के क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है।

व्यावसायिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप सहकारिता की व्यवस्था को वाणिज्य, व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में बल मिला है क्योंकि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज में आर्थिक एवं सामाजिक असंतुलन व विषमता बढ़ी जिसका प्रमुख कारण यह था कि समाज का धनी वर्ग ही व्यवसाय के क्षेत्र में ग्राहकों, श्रमिकों व अन्य छोटे छोटे व्यापारियों का शोषण करते हुए आगे बढ़ा और समाज में भी उसे अधिक प्रतिष्ठा मिली। औद्योगिक क्रांति के इन घातक परिणामों से बचे रहने के लिए श्रमिक, ग्राहक तथा समाज के कमजोर वर्ग अपने सामाजिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा के लिए परस्पर मिलजुलकर कार्य करने की बात गंभीरतापूर्वक लेने पर मजबूर हो गए ताकि वे अपने को पूंजीपतियों के शोषण से बचा सकें। इसी विचारधारा व उद्देश्य को दृष्टि में रखकर सहकारिता आंदोलन को पूर्ण समर्थन दिया गया और विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों को स्थापित किया गया। सहकारिता आंदोलन का मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि समाज के कमजोर वर्ग के व्यक्तियों को सहकारिता व्यापार पद्धति से अवगत कराके उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया जाए कि वे अपने सामान्य आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए पारस्परिक मेलजोल से कार्य करें।

संक्षेप में, सहकारिता व्यवस्था समाज के कमजोर वर्ग के सदस्यों द्वारा अपने सामाजिक एवं आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए बनाई गई एक सुरक्षात्मक पद्धति है। इसके अंतर्गत सदस्य लाभोपार्जन के उद्देश्य से नहीं बल्कि सेवा भावना के उद्देश्य से कार्य करते हैं। व्यावसायिक संगठन के रूप में सहकारिता पद्धति काफी प्रचलित हो चुकी है और इस स्वरूप के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियां एवं संगठन स्थापित किए जा चुके हैं। अधिकांश दशाओं में यह पाया गया है कि ये समितियां तथा संगठन समाज के शोषित वर्गों द्वारा स्थापित किए गए हैं जैसे उपभोक्ता सहकारी समितियां, सहकारी साख समितियां तथा उपभोक्ता भंडार आदि।

परिभाषा

सहकारिता शब्द काफी प्रचलित शब्द है जिसका अर्थ सामान्य हितों को सुरक्षित रखने के लिए मिलजुल कर कार्य करना है। इसके अतिरिक्त इस शब्द को कई विद्वानों ने परिभाषित किया है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

टालमैक्की के शब्दों में, 'सहकारिता उन कमजोर व्यक्तियों का संघ है जो अपनी सामान्य आर्थिक आवश्यकताओं के लिए इकट्ठे होते हैं और जो अपने को व्यावसायिक संगठन द्वारा कमजोर से शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करते हैं'। हालांकि इस परिभाषा में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि सहकारिता की व्यवस्था विशेष रूप से समाज के कमजोर वर्ग के सदस्यों द्वारा अपनी सामान्य आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनाई जाती है फिर भी इस परिभाषा से सहकारिता के मूल सिद्धांतों का ज्ञान नहीं हो पाता है जिससे इस परिभाषा को पूर्ण नहीं समझा जाता है।

इसी प्रकार सैलिगमैन के अनुसार, 'सहकारिता इसके तकनीकी अर्थों में वितरण तथा उत्पादन में प्रतिस्पर्धा समाप्त करके सब प्रकार के मध्यस्थों को हटाना है।' यह परिभाषा भी पहली परिभाषा की तरह अपूर्ण है क्योंकि इसमें न तो सहकारिता के उद्देश्यों की ओर संकेत किया गया और न उसके मूल सिद्धांतों का वर्णन किया गया है।

प्रोफेसर कालवर्ड के शब्दों में, 'सहकारिता सहयोग की भावना का दूसरा नाम है'। उनके अनुसार 'सहकारिता एक प्रकार का संगठन है जिसमें लोग मानव के नाते समानता के आधार पर अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिए सहयोग करते हैं।' यह परिभाषा भी अन्य परिभाषाओं की तरह उपयुक्त एवं पूर्ण नहीं है। फिर भी इसे अन्य परिभाषाओं की तुलना में कुछ अधिक विस्तृत एवं उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि परिभाषा के अंतर्गत समानता के आधार तथा सदस्यों के आर्थिक हितों की उन्नति की ओर संकेत किया गया है।

प्रो० हेरिक के शब्दों में, 'सहकारिता स्वेच्छा से संगठित व्यक्तियों का एक कार्य है जिसमें वे अपनी शक्तियों का या अपने साधनों का या दोनों का पारस्परिक प्रबंध पारस्परिक लाभ-हानि के लिए करते हैं।' इस परिभाषा में सहकारिता के कुछ सिद्धांतों एवं उद्देश्यों की ओर संकेत अवश्य किया गया है फिर भी इस परिभाषा से सहकारिता व्यवस्था की प्रकृति स्पष्ट नहीं हो पाती है।

ऊपर दी गई परिभाषाओं का विश्लेषण करके सहकारिता की एक उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है : 'सहकारिता संगठन एक ऐसा ऐच्छिक संगठन है जिसकी स्थापना सदस्य पारस्परिक सहयोग एवं समानता के आधार पर सेवाभाव से अपने सामान्य आर्थिक हितों का संवर्द्धन करने के उद्देश्य से करते हैं'। वैसे तो सहकारिता व्यापार व्यवस्था के रूप में प्रचलित है पर यदि हम ऊपर बताई गई परिभाषाओं का गंभीरतापूर्वक मूल्यांकन करें तो यह पाते हैं कि सहकारिता के अपने कुछ आधार हैं जो इसे व्यवसाय के अन्य स्वरूपों से भिन्न बताते हैं और इसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारने में सहायक सिद्ध होते हैं। सहकारिता के मुख्य आधार निम्न हैं :

1. समानता : समानता सहकारिता का मूल आधार है क्योंकि प्रत्येक सहकारी संगठन 'एक व्यक्ति एक मत' पर आधारित होता है। इसका अभिप्राय यह है कि सहकारी संगठन अथवा समिति में सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। सदस्य किसी धर्म का हो, धनी हो अथवा गरीब, उसे समिति के प्रबंध में भाग लेने का अधिकार प्राप्त रहता है। समिति के किसी सदस्य के पास चाहे समिति के कितने ही अंश हों उसे अन्य सदस्यों की तरह केवल एक मत देने का अधिकार होता है। इससे सहकारी संगठन के प्रबंध को पूर्ण-

तथा प्रजातांत्रिक रूप मिलता है और इससे अल्पसंख्यक अंशधारियों के हितों की सुरक्षा होती है।

2. सेवा : व्यवसाय में प्रचलित संगठन के अन्य स्वरूपों की भांति सहकारी संगठन का मुख्य उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं होता बल्कि सेवा भावना के उद्देश्य को सामने रख कर संगठन अपने सदस्यों की अधिकतम सेवा करता है। यदि सहकारी संगठन का उद्देश्य भी प्रत्यक्ष रूप से लाभ कमाना ही हो तो इस क्षेत्र में भी सामान्य व्यवसाय की भांति उचित तथा अनुचित तरीकों से लाभ कमाने की होड़ लगी रहेगी। सेवा भावना का उद्देश्य लुप्त होने लगेगा। संगठन के उद्देश्य के आधार पर सहकारिता के स्वरूप को व्यवसाय के अन्य स्वरूपों से पृथक किया जाता है। हालांकि सेवा की भावना अथवा उद्देश्य भी लाभ के मार्ग में स्थित होता है फिर भी इस उद्देश्य को प्राप्त करने की विधि भिन्न होती है। सहकारी समितियों द्वारा उनके सदस्यों को उचित किस्म की वस्तु उचित मूल्य पर प्रदान की जाती है और उन्हें उचित ब्याज की दर पर आवश्यकता पड़ने पर वित्त की सुविधा प्रदान की जाती है इससे सदस्यों की सेवा भावना से उन्हें ही लाभान्वित किया जाता है।

3. पारस्परिक सहयोग : सहकारिता का पर्यायवाची शब्द सहयोग समझा जाता है। जब तक सदस्यों में सहयोग की भावना नहीं होती है तब तक सहकारिता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। सहकारिता संगठन की स्थापना करने का मुख्य उद्देश्य सदस्यों के सामूहिक आर्थिक हितों की रक्षा करना तथा उनका संवर्धन करना है। अत: इसमें व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामूहिक हितों को प्राथमिकता दी जाती है। व्यक्तिगत स्वार्थ को कोई स्थान एवं महत्व नहीं दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य सामूहिक हितों के संवर्द्धन के उद्देश्य से संगठन के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेता है और सामूहिक लाभ बढ़ाने में अपना पूरा योगदान देता है। उसे इस बात का ज्ञान रहता है कि यदि सामूहिक लाभ अधिक होंगे तभी उसके व्यक्तिगत लाभ में भी वृद्धि संभव है। सामूहिक लाभ पर ही सदस्यों के व्यक्तिगत लाभ निर्भर होने से उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त जैसा पहले बताया गया है, सहकारी संगठन अधिकांश दशाओं में समाज के कमजोर तथा शोषित वर्ग द्वारा स्थापित किए जाते हैं इसीलिए यदि वे पारस्परिक सहयोग की भावना नहीं रखेंगे तो उनके हितों की सुरक्षा नहीं हो पाएगी।

सहकारिता के उद्देश्यों को पूरा करने हेतु इस स्वरूप को और अधिक प्रचलित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसके सदस्य चरित्रवान और ईमानदार हों क्योंकि उनके चरित्र से ही पारस्परिक सहयोग की भावना तथा कर्तव्यपरायणता को प्रोत्साहनमिलता है। यदि सदस्यों का चरित्र संतोषजनक न हो तो वे व्यक्तिगत स्वार्थों को अधिकमहत्व देंगे एवं सामूहिक हितों के संवर्द्धन के लिए कोई प्रयास नहीं करेंगे। चरित्रहीन सदस्यों के द्वारा संगठन का प्रबंध, संचालन अधिकतम कार्यकुशलतापूर्वक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं किया जाएगा और इस प्रकार सहकारी संगठन अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थ एवं अयोग्य हो जाएगा।

सहकारी संगठन की कार्यप्रणाली

ऐच्छिक संगठन : सहकारी संगठन व्यक्तियों का ऐच्छिक संगठन है। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार इसकी सदस्यता प्राप्त कर सकता है। न तो किसी व्यक्ति को इसका सदस्य बनने के अधिकार से वंचित किया जा सकता है और न किसी व्यक्ति को इसका सदस्य बनने पर मजबूर किया जा सकता है। व्यवहार में यह पाया जाता है कि इसकी

सदस्यता केवल वे व्यक्ति स्वीकार करते हैं जिनके आर्थिक हितों में समानता होती है और जो पारस्परिक सहयोग से मिलजुलकर कार्य करके इन सामूहिक हितों की रक्षा करना चाहते हैं और इनके संवर्धन के इच्छुक होते हैं।

स्थापना : भारत में सहकारी समितियों तथा संगठनों की स्थापना सहकारी समिति अधिनियम 1912 के अंतर्गत होती है। चूंकि इसका क्षेत्र विभिन्न राज्यों से संबंधित होता है इसलिए समिति का पंजीकरण प्रादेशिक सहकारी समिति के रजिस्ट्रार के यहां कराया जाता है। समिति का पंजीकरण होने के पश्चात समिति को पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त होता है। समिति का पंजीकरण कराने के लिए निम्न शर्तों का पालन किया जाना आवश्यक है :

(i) कम से कम 10 व्यक्ति समिति की सदस्यता स्वीकार करने के इच्छुक हों।

(ii) समस्त इच्छुक सदस्य एक ही क्षेत्र, गांव अथवा व्यवसाय से संबंधित हों।

(iii) पंजीकरण के लिए दिए जाने वाले आवेदनपत्र में समिति के उद्देश्य, समिति का प्रस्तावित नाम, अंश पूंजी का विवरण एवं समिति के सदस्यों का विवरण आदि सूचनाएं दी जानी चाहिए।

(iv) समिति के व्यवसाय का प्रबंध चलाने के लिए तैयार किए गए उपनियमों की दो प्रतिलिपियां भी रजिस्ट्रार को भेजी जानी चाहिए।

अस्तित्व : पंजीकरण से संबंधित उपयुक्त सूचनाओं को रजिस्ट्रार के पास भेजने के बाद रजिस्ट्रार द्वारा इन सूचनाओं की छानबीन एवं विश्लेषण किया जाता है और यदि रजिस्ट्रार संतुष्ट हो जाए तो समिति का नाम निर्धारित रजिस्टर में लिखकर संगठन का पंजीकरण कर दिया जाता है। इसी पंजीकरण के परिणामस्वरूप समिति को इसका पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त हो जाता है और समिति संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति अपने नाम से संपत्ति रख सकती है, अनुबंध कर सकती है तथा इसके विरुद्ध न्यायालय में दावा किया जा सकता है और समिति दावा कर सकती है। इसके अतिरिक्त समिति को शाश्वत उत्तराधिकार तथा सामान्य सील अथवा सार्वमुद्रा भी प्राप्त हो जाती है।

पूंजी : सहकारी समिति की पूंजी भी अंशों में विभाजित होती है। इसके लिए इच्छुक सदस्यों द्वारा अंशदान दिया जाता है। कोई भी व्यक्ति कम से कम एक अंश खरीदकर इसका सदस्य बन सकता है। जहां तक अंशों की अधिकतम संख्या का प्रश्न है, कोई भी व्यक्ति समिति की कुल पूंजी का 6% से अधिक या 1000 से अधिक के अंश नहीं खरीद सकता है।

अंशों का हस्तांतरण : साझेदारी स्वरूप की भांति सहकारी समिति के सदस्यों को भी स्वतंत्रतापूर्वक अपने अंशों को दूसरे व्यक्तियों को हस्तांतरित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। यदि कोई सदस्य समिति की सदस्यता का परित्याग करना चाहता है तो वह अपने अंशों को समिति को वापस लौटाकर ऐसा कर सकता है।

समिति अपनी इच्छा से उन अंशों को किसी दूसरे व्यक्ति को आवंटित कर सकती है। यदि किसी सदस्य की मृत्यु हो जाए तो उसके अंशों का स्वामित्व उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है।

दायित्व : सरकारी समितियों का दायित्व सीमित अथवा असीमित हो सकता है। प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित समितियों में उनके सदस्यों का दायित्व असीमित होता है और शहरी क्षेत्रों में सीमित दायित्व वाली समितियां भी पाई जाती हैं। सीमित दायित्ववाली समिति के नाम में सीमित शब्द लिखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि अधिकांश साख समितियों में सदस्यों का दायित्व असीमित होता है और उपभोक्ता सहकारी समितियों में सदस्यों का दायित्व सीमित होता है।

समिति का प्रबंध : सहकारी समितियों की प्रबंध व्यवस्था पूर्णतया प्रजातांत्रिक होती है। समिति के प्रत्येक सदस्य को प्रबंध में भाग लेने का अधिकार होता है पर व्यवहार में समिति का प्रबंध चलाने के लिए कुछ सदस्यों का चुनाव करके एक प्रबंधकीय समिति बना ली जाती है। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार कुछ अन्य उपसमितियां भी बनाई जाती हैं जो समिति के दैनिक प्रशासन की देखभाल करती हैं। प्रबंध के लिए सदस्यों का चुनाव संयुक्त पूंजी कंपनी की अपेक्षा अधिक जनतांत्रिक है क्योंकि सहकारी समिति में 'एक व्यक्ति एक वोट' का सिद्धांत अपनाया जाता है न कि अंशों की संख्या के अनुसार मताधिकार।

नकद व्यापार : सहकारी समितियां अधिकांशतः लेनदेन नकद के रूप में करती हैं। हालांकि कुछ विशेष परिस्थितियों में सदस्यों की आर्थिक दशा को दृष्टि में रखते हुए उन्हें वस्तुएं उधार भी बेची जा सकती हैं। पर यह नीति सहकारी समितियों के लिए वांछनीय नहीं समझी जाती है।

अतिरेक या लाभ का वितरण : यद्यपि सहकारी समिति का उद्देश्य लाभ कमाकर उसे सदस्यों में बांटना नहीं है फिर भी वर्ष के अंत में समिति की कुल आय का व्यय में आधिक्य जिसे अतिरेक कहा जाता है, सदस्यों द्वारा लगाई गई पूंजी के अनुपात में अथवा खरीद की मात्रा के अनुसार या उनके लेनदेनों की मात्रा के अनुसार सदस्यों के बीच बांट दिया जाता है। समिति द्वारा जो अतिरेक प्राप्त किया जाता है उसका केवल कुछ हिस्सा प्रतिफल के रूप में दे दिया जाता है और अतिरेक की बकाया राशि संचित कोषों अथवा सदस्य कल्याणकारी योजनाओं के लिए हस्तगत कर दी जाती है।

विनियोग के लिए प्रोत्साहन : चूंकि सहकारी समिति का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं है इसलिए सदस्यों को उनकी पूंजी में सीमित प्रतिफल ही प्राप्त हो पाता है। इसके अतिरिक्त एक सदस्य को एक मत देने का अधिकार होता है। इन दोनों तत्वों से विनियोजन की इच्छा विपरीत रूप से प्रभावित होती है अतः सदस्यों को पूंजी का विनियोग करने में प्रेरित करने हेतु समिति के लाभ में से अधिकतम $6\frac{1}{4}\%$ तक पूंजी में ब्याज दिया जाता है ताकि समिति में धन के विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जा सके।

लेखों का अंकेक्षण : सहकारी समिति द्वारा किए गए समस्त लेनदेन के लि ए हिसाब-किताब की उपयुक्त बहियां रखना आवश्यक है और वर्ष के अंत में सरकार द्वारा नियुक्त अंकेक्षक समस्त लेनदेन की सत्यता की जांच करता है। उसके बाद ही सदस्यों की आम सभा बुलाकर लाभ-हानि खाता एवं चिट्ठा प्रस्तुत किया जाता है।

सहकारी समिति तथा संयुक्त कंपनी में भेद

हालांकि सहकारी समिति का व्यवसाय के क्षेत्र में एक पूर्ण स्वरूप की भांति प्रचलन दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है फिर भी व्यवसाय के महत्वपूर्ण स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी और सहकारी समिति में मूल अंतर के कुछ आधार विद्यमान हैं :

उद्देश्य : सहकारी समिति का मूल उद्देश्य लेनदेन से अधिकतम लाभ कमाना नहीं है बल्कि इसके सदस्य आपस में मिलकर सेवाभावना से कार्य करते हैं जो इसके प्रचलन में सहायक सिद्ध हुआ है। जब कि संयुक्त पूंजी कंपनी में वस्तुओं व सेवाओं का वितरण करके लाभ कमाना मुख्य उद्देश्य होता है।

सदस्यता की प्रकृति, संख्या एवं दायित्व : सहकारी समिति की स्थापना चूंकि भारतीय सहकारी अधिनियम 1912 के अंतर्गत होती है इसलिए इसमें कम से कम 10 सदस्यों का होना आवश्यक है। इन सदस्यों का दायित्व सीमित या असीमित हो सकता है तथा प्रत्येक सदस्य को केवल एक मत देने का ही अधिकार प्राप्त होता है जबकि कंपनी

अधिनियम के अनुसार निजी कंपनी में कम से कम 2 सदस्य और सार्वजनिक कंपनी में कम से कम 9 सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों का दायित्व अधिकांश दशाओं में सीमित होता है और मत देने का अधिकार सदस्यों द्वारा क्रय किए गए अंशों की संख्या पर निर्भर है।

अंशों का हस्तांतरण : सहकारी समिति में अंशों का हस्तांतरण प्रतिबंधित है। यदि कोई सदस्य सदस्यता का परित्याग करना चाहता है तो उसे क्रय किए गए अंश समिति को वापस लौटाने होते हैं जबकि सार्वजनिक कंपनी में अंशों के हस्तांतरण पर कोई रोक नहीं होती है और सदस्य अपने अंश अपनी इच्छानुसार किसी अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित कर सकता है।

अतिरेक का वितरण : सहकारी समिति में अतिरेक का वितरण सदस्यों को उनके द्वारा समिति के साथ किए गए लेनदेन की संख्या के अनुसार किया जाता है जबकि संयुक्त पूंजी कंपनी में यह अतिरेक लाभांश के रूप में सदस्यों द्वारा क्रय किए गए अंशों की संख्या के अनुसार वितरित किया जाता है।

कार्यक्षेत्र एवं प्रकृति : सहकारी समितियों की कार्य प्रणाली संयुक्त पूंजी कंपनी की तुलना में सीमित और अधिक जनतांत्रिक होती है क्योंकि समिति का आकार अधिकांश दशाओं में काफी छोटा होता है और इसकी कार्य प्रणाली में 'एक सदस्य एक मत' का सिद्धांत पूर्णतया लागू होता है जबकि संयुक्त पूंजी कंपनी में सदस्यों द्वारा जितनी पूंजी लगाई जाती है उसी के अनुपात में उन्हें मताधिकार प्राप्त होते हैं। कंपनी में पूंजी अथवा पूंजी के अनुपात का जनतंत्र मौजूद होता है।

विशेष छूटें : सहकारी संगठन को प्रोत्साहित करने और अधिक प्रचलित बनाने के लिए, इसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए सरकार की ओर से कई छूटें प्रदान की जाती हैं, जैसे आयकर, मुद्रांक तथा रजिस्ट्रेशन फीस आदि में छूट, जबकि संयुक्त पूंजी कंपनी को इस प्रकार की छूटें उपलब्ध नहीं हैं।

सहकारी संगठनों के लाभ एवं दोष

लाभ

समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान : सहकारिता के सिद्धांतों में कार्य करके समाज के कमजोर वर्ग अन्य वर्गों के शोषण से अपने को बचा सकते हैं और परस्पर सहयोग की भावना को जाग्रत करके अपने सामूहिक आर्थिक हितों को सुरक्षित रख सकते हैं तथा उनका संवर्धन कर सकते हैं।

अस्वस्थ प्रतियोगिता तथा मध्यस्थों की शोषण नीति से संरक्षण : आधुनिक व्यवसाय में बढ़ती हुई अस्वस्थ प्रतियोगिता तथा मध्यस्थ व्यापारियों की शोषण नीति से समाज को जो आर्थिक हानि उठानी पड़ती है उसको सहकारी संगठन द्वारा दूर किया जा सकता है और अस्वस्थ प्रतियोगिता को स्वस्थ प्रतियोगिता में परिणत करके समाज को लाभान्वित किया जाता है।

सेवा उद्देश्य : सहकारी समितियों का संगठन सेवा के उद्देश्य से किया जाता है और इसके सदस्य अपने व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामूहिक हितों को प्राथमिकता देते हुए कार्य करते हैं। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य सदस्यों की अधिकतम सेवा करना है।

प्रजातांत्रिक प्रबंध : सहकारी समितियों का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित है क्योंकि इसमें प्रत्येक सदस्य को समिति के प्रबंध में भाग लेने का अधिकार होता है और प्रत्येक सदस्य केवल एक मत दे सकता है चाहे उसके पास थोड़े से

अंश हों।या उसके पास ज्यादा अंश हो सकें।

प्रतिरेक का वितरण : सहकारी समिति के वर्ष भर के व्ययों में आय का आधिक्य अतिरेक कहलाता है। इस अतिरेक की पूर्ण राशि को वितरित नहीं किया जाता बल्कि इसमें से कुछ हिस्सा संचित कोषों में और कुछ सदस्यों के कल्याणकारी कार्यों के लिए अलग कर दिया जाता है तथा अतिरेक की बची हुई राशि को सदस्यों की पूंजी के अनुपात में न बांट कर सदस्यों द्वारा समिति के साथ किए गए लेनदेन की मात्रा के अनुसार बांटा जाता है।

बचत को प्रोत्साहन : सहकारी समितियों द्वारा जारी किए गए अंशों का अंकित मूल्य काफी कम होता है और कोई भी व्यक्ति अपनी बचत में से आसानी से अंश खरीद सकता है। चूंकि अन्य लाभों के अतिरिक्त इन समितियों में पूंजी पर ब्याज भी दिया जाता है इससे जनता में बचत को प्रोत्साहन मिलता है।

सरल कार्य प्रणाली : सहकारी समितियों की स्थापना तथा इनकी कार्य प्रणाली संयुक्त पूंजी कंपनी की अपेक्षा काफी सरल एवं सहज है।

जनता का पूर्ण विश्वास : जनता का विश्वास इस स्वरूप को व्यवसाय के क्षेत्र में भी अधिक प्रचलित बनाने में सहायक रहा है क्योंकि सहकारी समितियों द्वारा वर्ष भर किए गए लेनदेन के लिए उपयुक्त लेखा जोखा रखा जाता है और इसका निरीक्षण तथा अंकेक्षण सरकार द्वारा किया जाता है। इसके हिसाब में किसी तरह की गड़बड़ी होने की संभावना नहीं रहती है।

उपयोगिता : सहकारी संगठन व्यवसाय का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी स्वरूप समझा जाने लगा है क्योंकि एक तो इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है, दूसरे इसमें समानता के सिद्धांत को पूर्ण महत्व दिया जाता है। अंत में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सहकारी संगठन व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय का अनुकूल संयोग होता है।

दोष

कार्यकुशलता में कमी : सहकारी समितियों को न तो किसी प्रतियोगिता का मुकाबला करना पड़ता है और न अपनी वस्तुओं व सेवाओं के लिए नए नए बाजारों की तलाश क्योंकि इन सदस्यों की समितियों द्वारा वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय पूर्ण अनुमान के आधार पर होता है। अतः इसका समिति की कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

पूंजी की कमी : अधिकांश दशाओं में यह पाया जाता है कि सहकारी संगठन अपनी आवश्यकतानुसार पूंजी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि सहकारी समितियों में विनियोजित पूंजी पर सीमित प्रतिफल दिया जाता है और ब्याज की दर भी तुलनात्मक रूप से कम होती है। अतः सदस्य भी केवल सदस्यता प्राप्त करने भर के लिए आवश्यक पूंजी का विनियोजन करते हैं।

कुशल प्रबंधकों व कर्मचारियों का अभाव : सहकारिता संगठन चूंकि सेवा उद्देश्य से ही स्थापित किए जाते हैं इसलिए इन संगठनों के लिए यह संभव नहीं हो पाता है कि अच्छे वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्रदान करके कुशल प्रबंधकों तथा कर्मचारियों को आकर्षित कर सकें।

सीमित क्षेत्र : सहकारी संगठन का उद्देश्य चूंकि लाभोपार्जन नहीं होता है इसलिए अभी तक इस स्वरूप के प्रति संदेह व्यक्त किया जाता रहा है और इसके इस स्वरूप को आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने के लिए नहीं अपनाया जाता है।

अनिश्चितता : सहकारी संगठनों की सफलता मूल रूप से सदस्यों में सहयोग तथा मिल-जुल कर कार्य करने की भावना पर आधारित होती है। ज्योंही सदस्य सामूहिक हितों

की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व देने लगता है तो इस व्यवस्था की सफलता खतरे में पड़ जाती है।

सहकारी समितियों के भेद

विभिन्न सहकारी संस्थाओं द्वारा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को जो सेवाएं प्रदान की जाती हैं उन सेवाओं की प्रकृति को दृष्टि में रख कर समस्त सहकारी समितियों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

1. सहकारी साख समिति,
2. उपभोक्ता सहकारी भंडार,
3. औद्योगिक सहकारी समितियां,
4. विपणन सहकारी समितियां,
5. सहकारी कृषि समितियां,
6. सहकारी आवास समितियां।

सहकारी साख समितियां

स्थापना एवं उद्देश्य : सहकारी साख समितियों की स्थापना मूल रूप से सदस्यों को अल्प-कालीन तथा मध्यकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से की जाती है। ये समितियां अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करके वित्तीय सहायता पहुंचाती हैं। इन समितियों के द्वारा उपभोग तथा उत्पादन दोनों प्रकार के कार्यों के लिए सदस्यों को ऋण प्रदान किए जाते हैं ताकि कमजोर व्यक्ति जो सामान्य दशाओं में बैंक आदि से ऋण प्राप्त नहीं कर सकते हैं. महाजनों के शोषण से बचाए जा सकें।

सदस्यता : इन सहकारी साख समितियों की सदस्यता प्रायः समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए कमजोर व्यक्तियों तक ही सीमित रहती है। छोटे छोटे कृषक, कलाकार, वेतनभोगी कर्मचारी तथा श्रमिक आपस में मिलकर इन समितियों की स्थापना करते हैं ताकि वे अपनी मासिक बचतों के आधार पर पारस्परिक सहयोग से उन सदस्यों को वित्तीय सहायता पहुंचा सकें जिन्हें वित्त की आवश्यकता है।

पूंजी के साधन : सहकारी साख समितियां अपनी पूंजी विभिन्न साधनों से प्राप्त करती हैं, जैसे सदस्यों से निर्धारित सदस्यता शुल्क प्राप्त कर, उन्हें अंश बेचकर, अन्य व्यक्तियों से जमा स्वीकार कर, सरकार से ऋण लेकर तथा अपने पास संचित कोषों का निर्माण करके।

कार्य क्षेत्र की दृष्टि से सहकारी साख समितियां मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं :

1. प्राथमिक समितियां,
2. शहरी सहकारी बैंक : (i) केंद्रीय सहकारी बैंक, (ii) राज्य सहकारी बैंक।

प्राथमिक समितियां : इन समितियों की स्थापना मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में की जाती है। इनकी सदस्यता छोटे छोटे कृषकों, मजदूरों, ग्रामीण कलाकारों एवं छोटे छोटे व्यापारियों तक सीमित रहती है। प्राथमिक साख समितियों को जर्मनी में प्रचलित 'रैफीसन माडल' के आधार पर संगठित एवं संचालित किया जाता है। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य सदस्यों को बैंकिंग सुविधाएं प्रदान करना तथा उनमें बचत की भावना को प्रोत्साहन देना है ताकि वे अपनी छोटी छोटी बचतों को सुरक्षित रखकर भविष्य में उत्पन्न आर्थिक कठिनाई का मुकाबला संयुक्त रूप से कर सकें। प्राथमिक साख समितियां अपनी पूंजी सदस्यों को अंश जारी करके तथा शहरी बैंकों से ऋण लेकर प्राप्त करती हैं। सदस्यों को ऋण लेते समय प्रतिभू के अलावा व्यक्तिगत जमानत प्रस्तुत करनी पड़ती है और

सदस्यों को दिए गए ऋण की अदायगी आसान छोटी छोटी किस्तों में की जाती है। प्राथमिक साख समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है।

शहरी सहकारी बैंक : ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक समितियों की भांति शहरों में भी सहकारी साख समितियों को सहकारी बैंकों के रूप में स्थापित किया गया है। ये बैंक मुख्य रूप से शहरी क्षेत्रों में निम्नवर्गीय तथा मध्यवर्गीय आय वाले व्यक्तियों को ऋण की सुविधाएं प्रदान करते हैं। व्यक्तियों को इसकी सदस्यता प्राप्त करने के लिए अंश क्रय करने पड़ते हैं, जिनका अंकित मूल्य प्राथमिक साख समितियों द्वारा जारी किए गए अंशों की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। ये बैंक अपने सदस्यों से तथा गैर सदस्यों से जमा प्राप्त करके सदस्यों की आर्थिक समस्याओं का समाधान करते हैं। ये बैंक दो प्रकार के होते हैं।

(i) केंद्रीय सहकारी बैंक : केंद्रीय सहकारी बैंक राज्य सहकारी बैंक के नियंत्रण एवं निरीक्षण में कार्य करते हैं। ये बैंक जिले अथवा उसके कुछ हिस्सों में स्थापित साख समितियों के कार्यकलापों को नियंत्रित करते हैं। और उनको आवश्यकता पड़ने पर ऋण आदि की सुविधाएं प्रदान करते हैं। इन बैंकों की कार्य पद्धति लगभग राज्य सहकारी बैंकों के समान है।

(ii) राज्य सहकारी बैंक : ये बैंक शीर्ष बैंक होते हैं और सहकारिता आंदोलन का निर्देशन करना इन्हीं बैंकों की जिम्मेदारी होती है। प्रत्येक राज्य में एक सहकारी बैंक होता है जो राज्य में समस्त केंद्रीय बैंकों की देखभाल करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनका मार्गदर्शन करके उन्हें ऋण आदि की सुविधाएं प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त राज्य सहकारी बैंक जमा स्वीकार करना, हुंडी भुनाना आदि अन्य बैंकिंग कार्य भी करता है।

उपभोक्ता सहकारी भंडार

स्थापना एवं उद्देश्य : दैनिक आवश्यकता की उचित किस्म की तमाम वस्तुएं उचित मूल्य पर प्राप्त करने के उद्देश्य से उपभोक्ताओं द्वारा आपस में मिल कर सहकारी उपभोक्ता भंडारों की स्थापना की जाती है। ये भंडार थोक मात्रा में वस्तुएं क्रय करके उचित मूल्यों पर अपने सदस्यों को बेचते हैं। इस प्रकार सदस्य उपभोक्ता मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा किए जाने वाले शोषण से बच जाते हैं। आपस में संगठित होने से उनकी लेनदेन करने की शक्ति बढ़ जाती है और वे उचित मूल्य में उचित वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। उपभोक्ताओं द्वारा यह कदम अपने सामूहिक हितों की रक्षा एवं उनका संवर्द्धन करने की दिशा में है। इससे वे उत्पादक तथा व्यापारियों को इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि वे ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं को दृष्टि में रख कर उचित किस्म की वस्तुओं का उत्पादन करें तथा उचित मूल्य पर उनका वितरण करें।

इस प्रकार के भंडारों की स्थापना भारत जैसे देश में कमजोर वर्गों के लिए वरदान सिद्ध हुई है। इससे भारतीय व्यवसायी इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए बाध्य हुआ है कि वह व्यवसाय केवल अधिकतम लाभ कमाने के लिए ही संचालित नहीं कर सकता है बल्कि उसके लिए समाज के प्रति कुछ उत्तरदायित्व निभाना आवश्यक है।

सदस्यता : कोई भी वयस्क व्यक्ति इन भंडारों का सदस्य बन सकता है। व्यवहार में यह पाया गया है कि समाज के कमजोर वर्ग के व्यक्ति ही इसकी सदस्यता ग्रहण करते हैं जो अन्यथा उचित किस्म की वस्तु उचित मूल्य में प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं और जिनके ज्ञान के अभाव का लाभ उठाकर व्यापारी घटिया किस्म की वस्तुएं ऊंचे मूल्यों पर बेच कर उनका शोषण कर सकता है। प्रारंभ में इनकी स्थापना शहरों तक ही सीमित रही पर अब इनकी लोकप्रियता ग्रामीण क्षेत्रों में भी बढ़ती जा रही है।

पूंजी : अन्य सहकारी समितियों की भांति उपभोक्ता भंडारों की पूंजी भी छोटे छोटे अंशों में विभाजित रहती है और इन्हीं अंशों को क्रय करके सदस्यता प्राप्त की जाती है। इन अंशों का अंकित मूल्य सामान्य रूप से काफी कम होता है ताकि इच्छुक व्यक्ति इन्हें आसानी से क्रय कर सकें। इसके अतिरिक्त सदस्यों और गैर सदस्यों से तथा सहकारी बैंकों से ऋण प्राप्त करके ये भंडार अपनी वित्तीय आवश्यकताएं पूरी करते हैं। सदस्यों द्वारा क्रय किए गए अंशों से प्रतिवर्ष भंडार द्वारा कमाए गए अतिरेक को लाभांश में वितरित किया जाता है।

लाभ : उपभोक्ताओं द्वारा सहकारी भंडारों की स्थापना करके निम्न लाभ प्राप्त किए जाते हैं :

1. उचित किस्म की वस्तुओं की उपलब्धि,
2. वस्तुओं की निरंतर उचित मूल्यों पर प्राप्ति,
3. बचत को प्रोत्साहन,
4. मध्यस्थों का उन्मूलन,
5. पारस्परिक मेलजोल का संवर्धन,
6. लेनदेन की क्षमता में वृद्धि,
7. वितरण में संतुलन।

औद्योगिक सहकारी समितियां

स्थापना एवं उद्देश्य : हालांकि बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन के लिए सहकारिता का स्वरूप उपयुक्त नहीं समझा जाता है फिर भी औद्योगिक क्षेत्र में छोटे पैमाने पर कृषि वस्तुओं एवं औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में सहकारी समितियों का महत्व दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। औद्योगिक सहकारी समिति एक ऐसा सहकारी संगठन है जिसके अंतर्गत छोटे छोटे उत्पादक तथा कारीगर अपने सामूहिक हितों की रक्षा करने तथा उनका संवर्धन करने के लिए स्वेच्छा से संगठित होकर वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इन समितियों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना, उत्पादन की किस्म में सुधार करना, सदस्यों की व्यक्तिगत औद्योगिक निपुणता का प्रयोग करना तथा अंतिम रूप से उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारना है।

सदस्यता : इन समितियों की सदस्यता प्राय: छोटे छोटे उत्पादकों तथा कारीगरों तक सीमित है जो पूंजी के अभाव, तकनीकी सलाह तथा उत्पादन उपकरणों की अपर्याप्तता के कारण संतुलित रूप से वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर पाते हैं।

कार्य : इन समितियों का प्राथमिक कार्य सदस्यों को उत्पादन कार्य में उपयुक्त तकनीकी सलाह प्रदान करना, उत्पादित वस्तुओं के लिए विपणन की सुविधाएं प्रदान करना तथा वित्त एवं प्रबंध के क्षेत्र में अन्य सहायताएं पहुंचाना है। इसके अतिरिक्त ये समितियां अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर कच्चा माल तथा अन्य उत्पादन सामग्री भी उपलब्ध कराती हैं।

लाभ : औद्योगिक सहकारी समितियों से निम्न लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं :

1. लघु तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है।
2. बेरोजगारी की समस्या का समाधान होता है।
3. वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होती है।
4. पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होता है।
5. बड़े उद्योगों के विरुद्ध प्रतिस्पर्धा शक्ति में वृद्धि होती है।
6. उपलब्ध साधनों का प्रभावपूर्ण प्रयोग संभव है।

विपणन सहकारी समितियां

स्थापना व उद्देश्य : आधुनिक व्यवसाय में विपणन की क्रियाओं में बढ़ती हुई जटिलता को छोटे छोटे उत्पादक व्यक्तिगत रूप से नहीं सुलझा सकते हैं क्योंकि एक ओर बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा, बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण, दूसरी ओर कालांतर में ग्राहकों की बदलती हुई रुचि, आवश्यकता एवं प्राथमिकता इन सब कारणों से छोटे छोटे उत्पादकों के लिए अपनी वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को बेचना कठिन होता जा रहा है। विपणन के क्षेत्र में व्याप्त इन जटिलताओं का समाधान करने तथा व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने के लिए छोटे छोटे उत्पादक आपस में मिलकर एक समिति का गठन कर लेते हैं। जो समितियां अपने सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को क्रय करके विपणन संबंधी अन्य क्रियाएं निष्पादित करती हैं उन्हें विपणन समितियां कहा जाता है।

संक्षेप में, विपणन सहकारी समिति छोटे छोटे उत्पादकों द्वारा स्वेच्छा से गठित एक ऐसा संगठन है जो अपने सदस्यों को विपणन की सुविधाएं प्रदान करके, उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का वितरण संभव बनाती है और सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार का विस्तार करती है। ये समितियां एक केंद्रीय बिक्री विभाग की भांति कार्य करती हैं। समस्त सदस्यों से उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं खरीद कर और उन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रमापीकरण, श्रेणीकरण आदि के द्वारा पण्योपयोगी बनाकर अंतिम उपभोक्ताओं को बेचती हैं।

कार्य : विपणन सहकारी समितियां निम्न कार्य करती हैं :

1. सदस्यों के उत्पादन का एकत्रीकरण,
2. सदस्यों को वस्तुओं के बाजार के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रदान करना,
3. उत्पादकों को कच्चा माल, अन्य उत्पादन सामग्री उपलब्ध कराना,
4. मांग व पूर्ति में संतुलन बनाए रखकर वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व लाना,
5. सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का प्रमापीकरण, श्रेणीकरण, नामांकन आदि।

ये समितियां या तो प्रत्यक्ष रूप से सदस्यों से पूर्व निर्धारित मूल्य पर वस्तुओं को क्रय करके अपने जोखिम पर विक्रय कार्य करती हैं अथवा ये समितियां कमीशन एजेंट की भांति सदस्य उत्पादकों का उत्पादन बाजार में अनुकूल मूल्य पर बेचती हैं और अपना कमीशन तथा अन्य खर्चे कम करके बिक्री की बकाया राशि सदस्यों को वापस कर देती हैं। इस प्रकार कार्य करके विपणन की क्रियाओं का जोखिम सदस्य उत्पादकों पर ही रहता है।

लाभ : 1. मध्यस्थों का उन्मूलन,
2. उत्पादन कार्य तथा विपणन कार्य में पृथक्करण,
3. विपणन संबंधी समस्त सुविधाएं प्रदान करना,
4. बिक्री के केंद्रीकरण से बिक्री व्ययों में मितव्ययता प्राप्त करना,
5. वस्तुओं के बाजार का विस्तार,
6. उत्पादकों की लेनदेन की क्षमता में वृद्धि।

सहकारी विपणन समितियों का प्रचलन दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि इन समितियों द्वारा देश के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे छोटे उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को शहरी क्षेत्र तक पहुंचाया जा सकता है जो उचित मूल्य पर प्राप्त की जा सकती हैं और दूसरी ओर उत्पादक को वस्तु के बितरण की चिंता नहीं रहती है। वह अपने उत्पादन कार्य में व्यस्त रहता है। इससे उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों को सुविधा होती है।

सहकारी कृषि समितियां

स्थापना एवं उद्देश्य : सहकारी कृषि समितियों की स्थापना स्वेच्छापूर्वक कृषकों द्वारा सामूहिक रूप से कृषि कार्य करने के लिए की जाती है। इसकी स्थापना करने का मुख्य उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में नए नए उपकरणों, औजारों तथा विधियों का प्रयोग करके कृषि उत्पादन की किस्म में सुधार तथा वृद्धि करना है। इस प्रकार की समितियां गठित करके कृषि कार्य को बड़े पैमाने पर किया जा सकता है तथा समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं। संक्षेप में, इन समितियों की स्थापना के फलस्वरूप कृषि कार्य को वैज्ञानिक रूप मिला है। इससे कृषि कार्य में मशीनों का प्रयोग, अच्छे किस्म के बीजों की व्यवस्था, सिंचाई सुविधाएं, उपयुक्त खाद की व्यवस्था का पूर्णतया लाभ उठाया जा सकता है। इन समस्त सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि कार्य बड़े पैमाने पर किया जाए। इसी से प्रेरित होकर सहकारी कृषि समितियों की स्थापना पर अधिक बल दिया जा रहा है।

लाभ : 1. कृषि उत्पादन में वृद्धि,
2. उत्पादित वस्तुओं की किस्म में सुधार,
3. कृषकों को आवश्यक उपकरण, बीज, खाद एवं सिंचाई सुविधाएं प्रदान करना,
4. बड़े पैमाने पर कृषि की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त करना,
5. कृषकों में परस्पर सहयोग की भावना जाग्रत करना,
6. वैज्ञानिक ढंग से कृषि कार्य करने के लिए आवश्यक सलाह की उपलब्धि।

कृषि सहकारी समितियां अनेक प्रकार की होती हैं :

सहकारी कृषि सुधार समितियां : इस स्वरूप के अंतर्गत प्रत्येक सदस्य अपनी भूमि का स्वामी बना रहता है पर कृषि कार्य में समस्त सदस्य एक दूसरे के सहयोग से कार्य करते हैं ताकि कृषि उत्पादन में वृद्धि एवं सुधार किया जा सके। समिति समस्त सदस्यों के कृषि कार्यों के लिए एक विस्तृत योजना तैयार करती है और सदस्य स्वतंत्रतापूर्वक इस योजना के अंतर्गत कार्य करते हैं। मुख्य रूप से बीज, खाद एवं आवश्यक उपकरणों का प्रयोग व क्रय सामूहिक रूप से किया जाता है।

सहकारी किराया कृषि समितियां : इस प्रकार की समितियों में भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है अर्थात स्वामित्व समिति के पास होता है और प्रत्येक सदस्य को भूमि पट्टे पर निश्चित अवधि के लिए आवंटित कर दी जाती है तथा प्रत्येक सदस्य अपनी भूमि से संबंधित कृषि कार्य में स्वतंत्र होता है। फिर भी कृषि कार्य में एकरूपता एवं समन्वय बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य को समिति द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार कार्य करना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य को आवंटित भूमि के लिए एक निश्चित धनराशि किराए के रूप में समिति को चुकानी पड़ती है इसलिए इसको सहकारी किराया कृषि समिति कहा जाता है।

सहकारी संयुक्त कृषि समितियां : इन समितियों में विभिन्न कृषक आपस में मिलकर कृषि कार्य संयुक्त रूप से करते हैं हालांकि उनका कृषि भूमि पर पृथक स्वामित्व बना रहता है। प्रत्येक सदस्य समिति द्वारा दिए गए निर्देशों के अनुसार कार्य करता है और उसे उसके कार्य के लिए मजदूरी दी जाती है। सदस्यों द्वारा किया गया उत्पादन संयुक्त रूप से समिति द्वारा बेचा जाता है और जो आय प्राप्त होती है उसे सदस्यों में उनके द्वारा प्राप्त मजदूरी की राशि के अनुपात में विभाजित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राप्त अतिरेक में से कुछ धनराशि भूमि के किराए के रूप में भी सदस्यों में वितरित की जाती है।

सहकारी सामूहिक कृषि समितियां : इस स्वरूप के अंतर्गत कृषि भूमि का स्वामित्व भी सामूहिक होता है। सदस्य सामूहिक रूप से जो कार्य करते हैं उसके बदले उन्हें मजदूरी दी जाती है और कृषि उत्पादन को समिति द्वारा बेच कर प्राप्त अतिरेक को सदस्यों में संयुक्त कृषि समितियों की भांति मजदूरी की राशि के अनुपात में बांट दिया जाता है। इस स्वरूप में प्रत्येक सदस्य न तो कृषि भूमि का पृथक स्वामी होता है और न स्वतंत्रतापूर्वक कृषि कार्य करता है। अतः कृषि कार्य तथा भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है।

सहकारी आवास समितियां

स्थापना एवं उद्देश्य : इन समितियों की स्थापना सदस्यों को आवास सुविधाएं प्रदान करने के लिए की जाती है। आवास सुविधाएं या तो स्वामित्व के आधार पर प्रदान की जाती हैं अथवा सदस्यों को उचित किराए में आवासगृह उपलब्ध कराया जाता है। इन समितियों की सदस्यता प्रायः निम्न आयवर्ग तथा मध्य आयवर्ग के व्यक्तियों में अधिक प्रचलित है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन वर्गों के व्यक्ति आर्थिक रूप से इतने संपन्न नहीं होते हैं कि आवासगृह का निर्माण स्वयं कर सकें। इसके अतिरिक्त शहरों में आवास की समस्या दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही है और आम व्यक्ति के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह उचित प्रतिफल में उपयुक्त आवासगृह प्राप्त कर सके। आवास की समस्याओं को सुलझाने के लिए ही सहकारी आवास समितियों की स्थापना की जाती है।

ये समितियां सदस्यों को आवासगृहों का निर्माण करने के लिए भूखंड उपलब्ध कराती हैं, उन्हें वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं तथा आवास संबंधी अन्य सुविधाएं प्रदान करती हैं।

लाभ : 1. सदस्यों को आवासगृहों का निर्माण करने के लिए भूखंड प्रदान करना,
2. गृह निर्माण के लिए वित्तीय सहायता सुलभ कराना,
3. सदस्यों को अन्य आवास सुविधाएं प्रदान करने वाले दलालों आदि से शोषित होने से बचाना,
4. आवास संबंधी समस्याओं का समाधान,
5. आवासगृहों में रोशनी, बिजली आदि की व्यवस्था करना,
6. सदस्यों की ओर से प्रतिनिधित्व करना,
7. सदस्यों में मेलजोल की भावना बनाए रखना।

सहकारी आवास समितियां अनेक स्वरूपों के अंतर्गत कार्य करती हैं। इनमें दो स्वरूप प्रमुख हैं। प्रथम साधारण आवास समितियां, द्वितीय गृह निर्माण समितियां।

साधारण आवास समितियां : सदस्यों के लिए भूखंड प्राप्त करके उसको छोटे छोटे हिस्सों में बांट कर सदस्यों को आवंटित करती हैं और इन भूखंडों में गृह निर्माण कार्य के लिए सदस्यों को ऋण देती हैं। सदस्यों को इस ऋण की अदायगी 15 से लेकर 20 वर्ष के भीतर आसान किस्तों में करनी होती है।

आवास गृह निर्माण समितियां : समिति सदस्यों की ओर से प्राप्त भूखंड में आवास गृह का निर्माण करती है और गृहों का निर्माण हो जाने के पश्चात उनको सदस्यों के नाम आवंटित करती है। आसान मासिक किस्तों में उसका लागत मूल्य वसूल करके उन्हें स्वामित्व प्रदान कर दिया जाता है। इससे सदस्यों को उचित लागत पर आवासगृह मिल जाते हैं और उनका स्वामित्व आसान किस्तों में लागत मूल्य का भुगतान करके प्राप्त हो जाता है। ये समितियां आवासगृहों का निर्माण करके सदस्यों को स्वामित्व के आधार पर न देकर उचित किराए में भी उपलब्ध कराती हैं। इससे सदस्यों को दलालों तथा गृह-

मालिकों के शोषण से बचाया जा सकता है।

भारत में सहकारिता

भारत में सहकारिता आंदोलन का प्रारंभ 1904 से हुआ है। इस आंदोलन को प्रारंभ करने का मुख्य कारण विभिन्न राज्यों में व्याप्त ऋणग्रस्तता तथा महाजनों द्वारा समाज के कमजोर वर्गों का शोषण रहा है। इन्हीं कारणों को दृष्टि में रखते हुए सबसे पहले मद्रास सरकार ने एफ० निकोल्सन को जर्मनी में सहकारी संगठनों का अध्ययन करने के लिए मनोनीत किया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया कि समाज के कमजोर वर्गों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की जाए और 1901 में फैमिन कमीशन ने भी सरकार को यही सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप 1904 में सहकारी समिति अधिनियम पास हुआ जिसके द्वारा सहकारी समितियों की स्थापना के लिए एक प्रकार से वैधानिक स्वीकृति मिली। 1906-11 तक 843 समितियां स्थापित हो चुकी थीं जिनकी संख्या बढ़ कर 1911-12 के अंत तक 8177 हो गई। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में सहकारिता को किस तरह लोकप्रियता मिलती गई।

सहकारिता के क्षेत्र को और अधिक व्यापक बनाने के लिए नया सहकारिता अधिनियम 1912 पास किया गया और इसमें सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियों जैसे—विक्रय सहकारी समिति, आवास सहकारी समिति आदि को स्थापित करने की व्यवस्था भी की गई। इसके अतिरिक्त समस्त सहकारी समिति के कार्यों को समन्वित करने और उसमें एकरूपता लाने के लिए सहकारी संघ, सहकारी बैंक आदि की स्थापना को प्रोत्साहन दिया गया। 1919 के पश्चात सहकारिता के क्षेत्र को पूर्णतया राज्यों की निगरानी में छोड़ दिया गया जिसके परिणामस्वरूप सहकारी समितियों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 1925 के अंत तक सहकारी समितियां संख्या में 57 हजार और 1939-40 तक 1 लाख 37 हजार हो गईं। इस समय के अंत तक सहकारिता आंदोलन की मुख्य विशेषता यह रही है कि अधिक से अधिक संख्या में बहुउद्देश्यीय सहकारी समितियों का गठन किया जाता रहा ताकि एक ही समिति सदस्यों को वित्तीय सहायता भी प्रदान कर सके, उन्हें कृषि कार्यों के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करा सके तथा उत्पादन के वितरण में भी उनको सहायता प्रदान कर सके।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात सहकारी समितियों का विकास और तेज गति से हुआ क्योंकि कृषि पदार्थों के मूल्य में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि सहकारी समितियों की स्थिति और मजबूत हुई। 1946-47 के अंत तक देश में कुल 1 लाख 37 हजार 1 सौ 36 समितियां गठित की गई थीं। स्वतंत्रता के पश्चात 1951 से सरकार ने देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए पंचवर्षीय योजना प्रारंभ की और इन योजनाओं के अंतर्गत सहकारिता के क्षेत्र को अतिरिक्त महत्व एवं प्रोत्साहन प्रदान किया गया। यही कारण है कि सहकारिता का यह स्वरूप संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में और आर्थिक ढांचे में दिन प्रतिदिन महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है। एक ओर तो यह स्वरूप स्वामित्व, प्रबंध संचालन व नियंत्रण के अधिकारों का विकेंद्रीकरण संभव बनाता है और दूसरी ओर इस स्वरूप के अंतर्गत संगठित होकर छोटे व्यापारी, उत्पादक तथा समाज के कमजोर वर्गों के सदस्य अपने को कुछ सीमा तक बड़े बड़े उद्योगपतियों व पूंजीपतियों के शोषण से बचा सकते हैं।

सहकारिता आंदोलन के विकास के विभिन्न क्रमों के संक्षिप्त अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि इस सहकारिता क्षेत्र में उन्नति तो अवश्य हुई है पर यह संतोषजनक

नहीं, क्योंकि सरकार ने सहकारिता के क्षेत्र के विकास को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहित किया और इस स्वरूप को विकास के लिए अनुकूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक वातावरण मिला। फिर भी इसकी कार्यप्रणाली में कुछ प्रमुख दोष, जनता में कम विश्वास, शिक्षा का अभाव आदि कारणों से सहकारिता के विकास में बाधा पड़ती रही है। संक्षेप में, इनकी धीमी प्रगति के कारण निम्न हैं :

अशिक्षा : अधिकांश जनता, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, अशिक्षित होने के कारण सहकारिता के उद्देश्यों और कार्यों को भली भांति नहीं समझ पाती है। इसी ज्ञान के अभाव के कारण उनमें सहकारी समितियों की सदस्यता स्वीकार करके लाभ उठाने की भावना जाग्रत नहीं हो पाई है।

शोषण करने वाले व्यक्तियों द्वारा विरोध : विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित महाजनों ने जो कृषकों का हर प्रकार से शोषण करते रहे हैं, बराबर यह प्रयास किया कि सहकारिता अधिक सफल न हो सके और इसके लिए वे जनता को सहकारिता के बारे में दी गई सूचनाओं का खंडन और जनता के सहयोग को कम करते रहे हैं।

प्रबंधकीय कुशलता का अभाव : सहकारी समिति के लिए यह संभव नहीं हो पाता है कि समिति का कारोबार चलाने के लिए अधिक वेतन इत्यादि देकर कुशल प्रबंधक आकर्षित किए जा सकें। अधिकांशतः यह पाया गया है कि कुशल प्रबंध के अभाव में समिति अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकी।

कार्यप्रणाली में जटिलता : सहकारी समितियों के गठन से तो यह प्रतीत होता है कि इसकी कार्यप्रणाली सरल है पर व्यवहार में सदस्यों को समिति के साथ लेनदेन करने में कई औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं जिससे उसकी कार्यप्रणाली में जटिलता उत्पन्न हो जाती है। कार्य में जटिलता के कारण अशिक्षित लोग इसके प्रति संदेह करने लगते हैं और उनका विश्वास कम होने लगता है।

छोटा आकार : सहकारी समितियां समाज के कमजोर व्यक्तियों द्वारा अपने सामाजिक व सामूहिक हितों की रक्षा तथा संवर्धन के लिए स्थापित की जाती हैं। इसीलिए प्रायः उनका आकार काफी सीमित होता है और परिणामस्वरूप वे बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से प्रतियोगिता नहीं कर पाती हैं।

सीमित क्षेत्र : अधिकांश सहकारी समितियां एक उद्देश्यीय होती हैं अथवा समाज के विशेष वर्ग द्वारा गठित होती हैं अतः उनका कार्य वर्ग विशेष तक ही सीमित रहा है जिससे वर्ग भेद की भावना को बल मिला है।

साख समस्या पर अधिक बल : अधिकतर सहकारी समितियां विकास के प्रारंभिक चरणों से ही साख समितियों के रूप में गठित की गईं। इससे अन्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अन्य आवश्यक समितियां पनप नहीं सकीं।

स्वार्थ सिद्धि : सहकारी समितियां अपने कारोबार के प्रबंध के लिए कुशल प्रबंधक नियुक्त नहीं कर पाती हैं और व्यवहार में उनका प्रबंध एवं संचालन कुछ गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया जाता है। ये अन्य सदस्यों की अज्ञानता को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करने में सफल हो जाते हैं।

दोषयुक्त लेखा प्रणाली : इन समितियों की लेखा प्रणाली दोषयुक्त समझी जाती है क्योंकि इनके द्वारा किए गए लेनदेन का जो भी ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है इससे उसकी वास्तविक स्थिति का हवाला नहीं मिल पाता है।

वसूली में शिथिलता : ये समितियां सदस्यों से ऋण वसूल करने में असमर्थ रही हैं क्योंकि इनके द्वारा सदस्यों को उपभोग के लिए भी ऋण प्रदान किया जाता है जिसके फलस्वरूप उनकी ऋण वापसी की क्षमता कम हो जाती है।

सहकारी समितियों की उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

1. बहु-उद्देश्यीय सहकारी समितियों का संतुलित विकास,
2. समितियों के आकार एवं कार्य क्षेत्र में आवश्यक विस्तार,
3. सहकारिता आंदोलन को और अधिक लोकप्रिय बनाना,
4. विभिन्न समितियों में उचित तालमेल,
5. प्रबंध में संलग्न सदस्यों का प्रशिक्षण,
6. उत्पादन कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करना,
7. सहकारिता के बारे में शिक्षा एवं प्रशिक्षण।

भारत में सहकारिता का भविष्य

भारत एक विकासशील देश है। हमारी अर्थव्यवस्था काफी हद तक कृषि पर आधारित है और कुल जनसंख्या का लगभग 80% ग्रामीण क्षेत्र में निवास करता है। सरकार का उद्देश्य समाज के लिए समाजवादी ढांचा तैयार करना है। इन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक घटकों के संयोग से तैयार वातावरण में एक ओर बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया जाना है, दूसरी ओर आम जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा करना है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देश में कार्यरत छोटे छोटे कृषकों, उत्पादकों एवं व्यापारियों के हितों को सुरक्षित किया जाए तथा उन्हें प्रोत्साहन दिया जाए। इसके लिए सहकारिता की व्यवस्था सबसे अधिक उपयुक्त समझी जाती है। सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि व्यवसाय के क्षेत्र में भी इसे लाभप्रद ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है क्योंकि वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए यदि छोटे छोटे उत्पादकों को आवश्यक सलाह, वित्त तथा विपणन की सुविधाएं प्रदान की जाएं तो उससे उत्पादकों को बड़े बड़े व्यावसायिक संस्थानों की अस्वस्थ प्रतियोगिता से बचाया जा सकता है और देश के कुल उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि वितरण के क्षेत्र में भी इस स्वरूप को प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग में लाकर ग्राहकों को व्यापारियों के शोषण से बचाया जा सकता है और वस्तुओं के वितरण को सहज बनाया जा सकता है। विभिन्न सहकारी संस्थाओं की स्थापना तुलनात्मक रूप से कम पूंजी की मात्रा से ही की जाती है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शहरों में उन वर्गों द्वारा, जो समाज के कमजोर वर्गों में गिने जाते हैं, आसानी से इन संस्थाओं को स्थापित करके अपने सामूहिक हितों की रक्षा करके अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है। सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत भी सहकारी क्षेत्र को विशेष संरक्षण तथा छूटें प्रदान की जाती हैं जिससे उनका विकास और तीव्र गति से हो सके। हालांकि सहकारिता के स्वरूप को देश के बड़े बड़े उद्योगों को संचालित करने के लिए वांछनीय नहीं समझा जाता है फिर भी लघु उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों को पूर्णतया विकसित करने के लिए (जिसको सरकार भी प्रोत्साहित कर रही है) इस स्वरूप को अपनाया जाना चाहिए।

6

राजकीय या सार्वजनिक उपक्रम

संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास

भारतवर्ष में राजकीय उपक्रमों का विकास काफी आधुनिक है। वैसे तो स्वतंत्रता प्राप्त करने से पूर्व भी सरकार आवश्यकतानुसार समय समय पर व्यवसाय में हस्तक्षेप करती रही है, फिर भी स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद विशेष रूप से आर्थिक संतुलन बनाए रखने के लिए, औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए एवं आम जनता के जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की वस्तुएं उन्हें उपलब्ध कराने के लिए व्यावसायिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप में वृद्धि हुई है। नियोजित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत इस संबंध में राष्ट्र-हित के महत्वपूर्ण उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किया जाना आवश्यक समझा गया क्योंकि व्यावसायिक क्षेत्र द्वारा इन महत्वपूर्ण उद्योगों को विभिन्न कारणों से पूर्ण तया संवर्धित नहीं किया गया।

स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात 1947 में एक औद्योगिक गोष्ठी बुलाई गई जिसने देश के औद्योगिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र के महत्व को ध्यान में रखते हुए यह सिफारिश की कि सरकार शीघ्र इस संबंध में अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा करे। इसके फलस्वरूप 1948 में सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति का मुख्य उद्देश्य देश के संपूर्ण आर्थिक ढांचे में सार्वजनिक उद्योगों को प्रोत्साहित करना रहा है। इसके पश्चात सरकार ने इस क्षेत्र को पूर्ण रूप से विकसित करने के लिए लगातार गंभीर प्रयास किए। 1952 में योजना आयोग ने भी इस बात पर बल दिया कि सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र को एक दूसरे के विरुद्ध न समझकर उन्हें एक दूसरे का सहायक एवं पूरक समझा जाए और सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहित किया जाए।

सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को 1956 में एक महत्वपूर्ण दिशा मिली क्योंकि इस वर्ष सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए यह पूर्णतया स्वीकार किया कि राष्ट्र का उद्देश्य लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करना है ताकि देश के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का लाभ प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह नितांत आवश्यक समझा गया कि सरकार देश के औद्योगिक विकास की जिम्मेदारी प्रत्यक्ष रूप से अपने ऊपर ले और व्यवसाय तथा उद्योग के क्षेत्र में महत्व-पूर्ण भूमिका अदा करे ताकि देश के आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण निजी उद्योग के क्षेत्र में न हो पाए और आवश्यकता की वस्तुओं को बड़े पैमाने पर उत्पादित करके एवं उनका सुव्यवस्थित वितरण संभव बनाकर जनता के रहन-सहन के स्तर को सुधारा जा सके और बढ़ती हुई आर्थिक खाई को कम किया जा सके।

सार्वजनिक उपक्रमों को विकसित करने की दिशा में इस बात की आवश्यकता

अनुभव की गई कि व्यवसाय एवं उद्योग के उस क्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाए जिसमें सरकार अपना नियंत्रण रखेगी और आवश्यकता पड़ने पर समय समय पर नए उद्योग स्थापित कर सकेगी क्योंकि व्यवसाय एवं उद्योग का क्षेत्र काफी व्यापक एवं विस्तृत है और इस संपूर्ण क्षेत्र के उस भाग में ही सरकार का हस्तक्षेप वांछनीय है जो राष्ट्र हितों को पूर्णतया सुरक्षित रखने के लिए महत्वपूर्ण है। अन्यथा इससे निजी क्षेत्र जो औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, का विकास विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। इसीलिए देश के संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया।

इस वर्गीकरण के प्रथम वर्ग में वे उद्योग सम्मिलित किए गए जिनका नियंत्रण एवं विकास पूर्ण रूप से सरकार के हाथों में होगा और आवश्यकता पड़ने पर सरकार इस क्षेत्र में नई नई औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना कर सकेगी। इस वर्ग में बिजली उत्पादन तथा वितरण, जहाज निर्माण, रेल व हवाई यातायात, हथियार व बारूद उत्पादन, बड़ी बड़ी मशीनों का उत्पादन, लोहा व इस्पात उत्पादन तथा अणु शक्ति आदि उद्योग सम्मिलित किए गए। इस प्रकार इसमें कुल सम्मिलित उद्योगों की संख्या 17 थी।

द्वितीय वर्ग को संयुक्त क्षेत्र भी कहा जाता है। इस क्षेत्र में उन बड़े बड़े उद्योगों को सम्मिलित किया गया जिनके विकास के लिए सरकार भी नई संस्थाओं की स्थापना कर सकेगी। साथ ही निजी क्षेत्र को भी यह अवसर दिया जाएगा कि वह आवश्यकता पड़ने पर इस क्षेत्र में नई संस्थाएं स्थापित करे। इस क्षेत्र में मशीन एवं औजार उत्पादन, बड़े बड़े रासायनिक उद्योग, उर्वरक, सड़क एवं सामुद्रिक परिवहन आदि कुल मिलाकर 12 उद्योग सम्मिलित किए गए।

उपर्युक्त दो वर्गों के अतिरिक्त अन्य समस्त बचे उद्योगों को तीसरे वर्ग में रखा गया और इनके विकास को निजी क्षेत्र को सौंपा गया। सरकार ने भी इस क्षेत्र में कृषि क्षेत्र की सहकारिता पर आधारित नई नई संस्थाओं को स्थापित करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने की इच्छा प्रकट की।

देश के उद्योगों का यह विभाजन समय के साथ अधिक उपयुक्त नहीं समझा गया और सरकार ने 1970 में नई औद्योगिक लाइसेंस नीति की घोषणा की जिसके अंतर्गत सारे उद्योगों का नए सिरे से पुन: वर्गीकरण किया गया, जो इस प्रकार है:

(अ) आधारभूत अथवा महत्वपूर्ण क्षेत्र (कोर सेक्टर) : इस वर्ग में वे सारे उद्योग सम्मिलित हैं जो 1956 की औद्योगिक नीति के प्रथम वर्ग में थे। इस वर्ग को संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण भाग समझा गया और इस क्षेत्र को विदेशी मुद्रा आदि में प्राथमिकता दी गई। 1956 की औद्योगिक नीति के अनुसार किए गए वर्गीकरण के अतिरिक्त इस क्षेत्र में कुछ नए उद्योग भी सम्मिलित किए गए जो सरकार से लाइसेंस प्राप्त करके निजी क्षेत्र के लिए खुले रखे गए।

(ब) भारी विनियोग क्षेत्र (हेवी इन्वेस्टमेंट सेक्टर) : महत्वपूर्ण क्षेत्र के उद्योगों के साथ ऐसे सारे नए उपक्रम जिनमें धन का विनियोजन पांच करोड़ रु० से अधिक हो, भारी विनियोग क्षेत्र में सम्मिलित किए गए और इन उद्योगों को भी निजी क्षेत्र के लिए खुला रखा गया। यदि इस क्षेत्र के लिए सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान की जाएगी तो सरकार इनमें नीतियों के निर्धारण आदि में नियंत्रण रख सकेगी और वित्तीय संस्थाओं को यह अधिकार होगा कि वे आवश्यकता पड़ने पर ऋण को सामान्य अंशों में परिवर्तित कर सकें क्योंकि इससे उन्हें उस संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में अधिकार प्राप्त हो सकेगा।

(स) मध्यस्थ क्षेत्र (मिडिल सेक्टर) : इस क्षेत्र में वे सारे उद्योग सम्मिलित किए गए

जिन्हें स्थापित करने के लिए एक करोड़ से पांच करोड़ रु० तक की पूंजी की आवश्यकता होती है और इस क्षेत्र में उन निजी औद्योगिक संस्थाओं को नई इकाइयां स्थापित करने की अनुमति दी गई जिनकी कुल संपत्ति 35 करोड़ रु० से अधिक न हो।

(द) **लघु उद्योग क्षेत्र (स्माल स्केल सेक्टर)** : इस क्षेत्र में वे संस्थाएं तथा उद्योग सम्मिलित किए गए जिनमें कुल विनियोजन 750,000 रु० तक हो और इस क्षेत्र को सुरक्षित रखने की नीति जारी रखी गई ताकि इनके विकास को प्रोत्साहन मिल सके।

1970 में घोषित औद्योगिक नीति के फलस्वरूप सार्वजनिक उद्योगों तथा लघुस्तरीय उद्योगों को विशेष रूप से फिर प्रोत्साहन मिला क्योंकि सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमों को भी यह छूट दे दी कि वे भी सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। पर इस औद्योगिक नीति से भी उद्देश्यों की आशानुकूल प्राप्ति न की जा सकी क्योंकि इस नीति में लघुस्तरीय उद्योगों को प्रोत्साहन अवश्य दिया गया पर उन्हें कच्चे माल आदि की उपलब्धता के संबंध में कोई व्यवस्था न की गई। इसके अतिरिक्त औद्योगिक नीति में पूरक प्रयासों का अभाव रहने से यह ज्ञात नहीं हो पाया कि जिन संस्थाओं को उत्पादन के लिए लाइसेंस जारी किए गए। वे संस्थाएं क्या निर्धारित मात्रा का उत्पादन कर पा रही थीं या नहीं। औद्योगिक नीति में इन कमियों को ध्यान में रखते हुए पुन: 1973 में सरकार ने नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के अंतर्गत देश के औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को और अधिक महत्व दिया गया, विशेष रूप से कुछ उद्योगों में, जैसे जनसेवार्थ संस्थाएं, आम उपभोग की वस्तुएं उत्पादित करने वाली संस्थाओं और जिन्हें स्थापित करने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं है ऐसी संस्थाओं में भी सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया। इसके अतिरिक्त कृषि क्षेत्र में सहकारी उद्योग भी प्रोत्साहित किए गए।

सरकार द्वारा घोषित विभिन्न औद्योगिक नीतियों के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र को प्राप्त प्रोत्साहन के अतिरिक्त इस क्षत्र क विकास में कुछ अन्य तत्वों ने भी सक्रिय भूमिका अदा की है।

(अ) देश के संपूर्ण आर्थिक ढांचे में विभिन्न अंगों को सुव्यवस्थित एवं संतुलित ढंग से विकसित करने के लिए सरकार का औद्योगिक क्षेत्र में हस्तक्षेप आवश्यक था जो केवल कुछ उद्योगों में नियंत्रण लगाने से ही पूर्ण न हो सका बल्कि इसके लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए महत्वपूर्ण संस्थाओं को स्वयं स्थापित करे और स्वयं उनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण करे, जैसे आम उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन, कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक उर्वरक आदि का उत्पादन तथा वितरण तथा रक्षा संबंधी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन आदि।

(ब) श्रमिक वर्गों के हितों की सुरक्षा करने के लिए भी व्यवसाय तथा उद्योग के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है क्योंकि सरकार उद्योगों में श्रमिकों की कार्य करने की दशाएं सुधारने, उचित वेतन दिलाने आदि के संबंध में आवश्यक अधिनियम पास करके उद्योगों को नियंत्रित कर सकती है।

(स) स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास का पूर्ण भार सरकार पर रहा। इस दृष्टिकोण से भी सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि अपनी आमदनी के साधनों में वृद्धि करे, इसके लिए भी सरकार का व्यवसाय एवं उद्योग में हस्तक्षेप आवश्यक था।

(द) इसके अतिरिक्त भारत जैसे देश में, जिसकी न तो औद्योगिक आधारशिला पूर्ण थी और न पूंजी के साधन पर्याप्त थे, संतुलित एवं सुव्यवस्थित आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए इस क्षत्र में सरकार का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आवश्यक समझा गया

क्योंकि निजी क्षेत्र के उद्योग विशेष रूप से उन उद्योगों में, जिनके परिपक्व होने में अधिक समय लगता है, धन का विनियोजन नहीं करते थे और देश के पिछड़े इलाकों में औद्योगिक संस्थाएं स्थापित करने के लिए इच्छुक नहीं थे।

उपर्युक्त कारणों के अलावा समाजवाद में निहित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए भी सार्वजनिक क्षेत्र का पूर्ण विकास आवश्यक समझा गया ताकि संतुलित औद्योगिक विकास, सामाजिक न्याय एवं आर्थिक समानता के सिद्धांतों को उचित प्रकार से क्रियान्वित किया जा सके।

परिभाषा

साधारण बोलचाल के शब्दों में सार्वजनिक अथवा राजकीय उपक्रमों का अभिप्राय उन औद्योगिक संस्थाओं से है जिनका स्वामित्व केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार के पास हो और जिनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण जनता की ओर से सरकार द्वारा मनोनीत प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। सार्वजनिक या राजकीय उपक्रम की मूल विशेषताओं तथा प्रकृति को समझने के लिए कुछ अन्य परिभाषाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण आवश्यक है।

एस० एस० खेरा के शब्दों में, 'राजकीय उपक्रमों से आशय केंद्रीय सरकार द्वारा या राज्य सरकार के द्वारा या उनके द्वारा मिलकर संचालित की गई आर्थिक, वाणिज्यिक और औद्योगिक क्रियाओं से है।' इस परिभाषा को पूर्ण नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसमें केवल आर्थिक, वाणिज्यिक तथा औद्योगिक क्रियाओं के सरकारी संचालन को ही राजकीय उपक्रम कहा गया है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि इन उपक्रमों में राज्य के स्वामित्व की क्या स्थिति एवं प्रकृति होती है और यह स्वामित्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राजकीय उपक्रम केवल केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार या दोनों द्वारा मिलकर ही स्थापित नहीं किए जाते हैं जैसाकि एस० एस० खेरा का कहना है, बल्कि इनका स्वामित्व स्थानीय सरकार के पास भी हो सकता है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में दी गई परिभाषा के अनुसार, 'सार्वजनिक उपक्रम से अभिप्राय ऐसे उपक्रम से है जिसमें केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार अथवा स्थानीय सरकार का स्वामित्व होता है जो मूल्य के बदले वस्तुएं एवं सेवाएं प्रदान करते हैं और स्वतः समर्थित आधार (सेल्फ स्पोर्टिंग) पर संचालित होते हैं। ये उपक्रम अंतरराज्यीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय हो सकते हैं।' यह परिभाषा पहली परिभाषा से व्यापक है अवश्य क्योंकि इसमें राजकीय उपक्रम के स्वामित्व की प्रकृति को विस्तार में समझाया गया है। इस परिभाषा के अनुसार राजकीय उपक्रम का स्वामित्व या तो केंद्रीय सरकार के पास या राज्य सरकार या स्थानीय सरकार के पास हो सकता है। इसके अतिरिक्त इन उपक्रमों को दो राज्य अथवा दो देश मिलकर भी संयुक्त रूप से संचालित कर सकते हैं। परंतु अन्य परिभाषाओं की तरह इस परिभाषा से भी राजकीय उपक्रमों के स्वामित्व की स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती है, क्योंकि राजकीय उपक्रमों में सरकार सहस्वामी के रूप में भी हो सकती है या उपक्रम का स्वामित्व पूर्णतया सरकार के पास हो सकता है।

अतः संक्षेप में, सार्वजनिक या राजकीय उपक्रम एक ऐसा उपक्रम है जो या तो पूर्णतया केंद्रीय, राज्य अथवा स्थानीय सरकार के स्वामित्व के अधीन स्थापित किया गया है अथवा जिसमें सरकार ने कुल अंशपूंजी का 50% से अधिक अंशदान देकर आंशिक स्वामित्व प्राप्त किया हो और जिसका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण तदनुसार सरकार द्वारा चलाया जाता हो। इस परिभाषा का विश्लेषण करने से सार्वजनिक अथवा राजकीय उपक्रम में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

स्वामित्व : राजकीय उपक्रमों का स्वामित्व या तो पूर्णतया केंद्रीय, राज्य अथवा स्थानीय सरकार या इनके पास संयुक्त रूप से होता है और या सरकार का उपक्रम में सहस्वामित्व (अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के साथ) हो सकता है, क्योंकि यदि सरकार किसी उपक्रम या संस्था में 50% से अधिक अंश पूंजी का अंशदान करती है तो स्वाभाविक रूप से ऐसे उपक्रम में सरकार को आंशिक स्वामित्व प्राप्त होगा।

स्थापना : सार्वजनिक अथवा राजकीय उपक्रमों की स्थापना सामान्य रूप से संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र के उस हिस्से में की जाती है जो हिस्सा सार्वजनिक और आर्थिक दृष्टिकोण से राष्ट्र के हितों के लिए महत्वपूर्ण हो। इन उपक्रमों की स्थापना सरकार द्वारा संसद या विधानसभा में विशेष अधिनियम पास करके की जाती है।

संचालन, प्रबंध तथा नियंत्रण : सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति सरकार द्वारा मनोनीत संचालकों द्वारा या तो विभागीय उपक्रम के रूप में, या निगम के रूप में या सरकारी कंपनी के रूप में किया जाता है जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है।

उद्देश्य : राजकीय उपक्रमों की स्थापना अन्य व्यावसायिक संस्थाओं की भांति मुख्य रूप से लाभ कमाने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि इनको स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास में संतुलन बनाए रखते हुए विकास की गति तीव्र करना है। आर्थिक विषमता को कम करने के लिए एवं आर्थिक साधनों में नियंत्रण प्राप्त करके समाज कल्याण हेतु उनका प्रयोग करने के लिए इनको स्थापित किया जाता है।

दायित्व की प्रकृति : सामाजिक या राजकीय उपक्रमों में दायित्व की प्रकृति व्यावसायिक संस्था से विस्तृत एवं भिन्न है। इनकी स्थापना मुख्य रूप से सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। ये उपक्रम केवल सरकार के प्रति ही जिम्मेदार नहीं होते हैं बल्कि जनता एवं संसद के प्रति भी इनका दायित्व होता है क्योंकि जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि इन उपक्रमों की असफलता, अकुशलता, प्रगति आदि के बारे में संसद में टीका टिप्पणी कर सकते हैं।

औद्योगिक संबंध : सामान्य रूप से सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों में औद्योगिक संबंध उदार होते हैं क्योंकि इन उपक्रमों की स्थापना मूल रूप से सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की जाती है और इनमें कर्मचारी, समाज एवं उपभोक्ताओं के हितों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है।

सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों का महत्व

भारत जैसे विकासशील देश में औद्योगिक विकास के संपूर्ण ढांचे में सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है क्योंकि राजकीय उपक्रमों की स्थापना करके एक ओर औद्योगिक विकास की गति तीव्र की जा सकी है और दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र ने देश के लिए औद्योगिक आधारभूत संरचना के निर्माण में भी सहायता प्रदान की है और देश का वर्तमान आर्थिक एवं औद्योगिक ढांचा सार्वजनिक क्षेत्र के योगदान का परिणाम है। इसके द्वारा एक ओर आम उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर एवं उनको उचित मूल्यों में वितरित करके जनता के रहन सहन का स्तर सुधारने में सहायता मिल रही है और दूसरी ओर राजकीय उपक्रमों के माध्यम से वस्तुओं के आवश्यकता से अधिक उत्पादन को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा रही है।

सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित दृष्टिकोणों से किया जाता है :

आर्थिक दृष्टिकोण : देश के सुव्यवस्थित एवं संतुलित आर्थिक विकास के लिए निर्धारित

आर्थिक नियोजन को क्रियान्वित करके उसे सफल बनाने में सार्वजनिक उपक्रमों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आर्थिक नियोजन के अंतर्गत सरकार उपलब्ध साधनों का प्रयोग प्राथमिकताओं के अनुसार करती है अर्थात उन उद्योगों में धन के विनियोजन की व्यवस्था की जाती है जो कम लाभ की संभावना से निजी क्षेत्र के द्वारा नकारे गए हैं और सामाजिक एवं राष्ट्रहित में महत्वपूर्ण हैं। प्रो० हेन्सन ने ठीक ही कहा है कि 'बिना योजना के सार्वजनिक उपक्रम कुछ प्राप्त कर सकते हैं लेकिन बिना सार्वजनिक उपक्रमों के योजना केवल कागजों तक ही सीमित रह जाती है।' क्योंकि नियोजित अर्थव्यवस्था की सफलता के लिए केवल उपलब्ध साधनों का प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों में सदुपयोग ही पर्याप्त नहीं है बल्कि नियोजन के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करना अधिक महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना से आर्थिक विकास की दर में निश्चित वृद्धि हुई है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है, विनियोग के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया गया है और विभिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना करके क्षेत्रीय असमानताएं कुछ सीमा तक दूर की जा सकी हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण : सार्वजनिक या राजकीय उपक्रम केवल देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में ही सहायक नहीं हैं बल्कि इनकी स्थापना कुछ दशाओं में केवल सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भी की जाती है, क्योंकि राष्ट्र का उद्देश्य वर्गरहित समाज की स्थापना करना है। यह तभी संभव हो सकता है जब आम उपभोग की वस्तुएं उचित मूल्यों पर आम जनता को वितरित की जा सकें ताकि आर्थिक विषमता कम हो सके और विकास से समाज का प्रत्येक वर्ग समान रूप से लाभान्वित हो। इस संबंध में निजी क्षेत्र की भूमिका निराशाजनक रही है क्योंकि इस क्षेत्र में व्यवसायी अथवा उद्योगपति केवल उसी व्यवसाय में पूंजी का विनियोजन करता है और व्यवसाय का विस्तार करता है जिसमें उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। अधिकतम लाभ अर्जित करने की चेष्टा में उसने न तो ग्राहकों की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखा, न श्रमिक वर्ग के हितों की सुरक्षा का और न सामाजिक कल्याण की योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए सरकार की सहायता की है। निजी क्षेत्र के समाज के प्रति इस उदासीन रवैये से सार्वजनिक उपक्रमों के महत्व में वृद्धि हुई है क्योंकि इन उपक्रमों में सरकार कुछ लाभ अर्जित करके उसे समाज कल्याण की योजनाओं में लगाती है। श्रमिकों के हितों को सुरक्षित रखने में सार्वजनिक क्षेत्र ने 'आदर्श नियोक्ता' की हैसियत से कार्य किया है ताकि निजी क्षेत्र भी मधुर एवं कुशल श्रम नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित हो सके। इसके अतिरिक्त देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की गति में तीव्रता के कारण रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है और इन सब तत्वों के फलस्वरूप समाज लाभान्वित हुआ है।

औद्योगिक दृष्टिकोण : जैसा ऊपर बताया जा चुका है, सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों ने औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है क्योंकि सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना विशेष रूप से उद्योगीकरण में पिछड़े हुए इलाकों में की गई है और सार्वजनिक उपक्रमों में कुल विनियोजन का लगभग 60% विनियोजन देश के उद्योगीकरण में पिछड़े हुए राज्यों, जम्मू कश्मीर, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा एवं राजस्थान में किया गया है। इससे क्षेत्रीय विषमता कम हुई है और औद्योगिक विकास संतुलित ढंग से किया जा सका है।

सार्वजनिक क्षेत्र ने जनसेवार्थ या जनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण कार्य भी संभाला है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए निजी क्षेत्र के व्यवसायी बिल्कुल इच्छुक न थे जबकि यह क्षेत्र समाज के अतिरिक्त

औद्योगिक विकास के लिए भी महत्वपूर्ण सेवाएं प्रदान करता है, जैसे बिजली एवं ऊर्जा, पानी, यातायात तथा संचार आदि।

सार्वजनिक क्षेत्र से पूंजीगत तथा महत्वपूर्ण उद्योगों के विकास को भी प्रोत्साहन मिला है क्योंकि इस क्षेत्र में इन उद्योगों के विकास तथा विस्तार पर विशेष ध्यान दिया गया है, जैसे लोहा, इस्पात, भारी मशीन, रासायनिक उद्योग एवं उर्वरक आदि का उत्पादन, देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन आदि। इन उद्योगों को निजी क्षेत्र के अंतर्गत रखना उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस प्रकार के उद्योगों को स्थापित करने के लिए एक तो अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है और वस्तुओं के उत्पादन के लिए कई प्रकार की सामग्री आयात की जाती है जो निजी क्षेत्र के लिए कठिन कार्य होता है, दूसरे इन वस्तुओं के उत्पादन कार्य को निजी क्षेत्र के सुपुर्द करना राष्ट्र हित में भी नहीं समझा जाता है।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों को स्थापित करके वस्तुओं का निर्यात करके औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जा सकी है क्योंकि विकासशील देशों को औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए कई प्रकार के उपकरण तथा सामग्री विदेशों से आयात करनी पड़ती है और जिसका भुगतान विदेशी मुद्रा में किया जाना होता है। इस संबंध में कई राजकीय उपक्रम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते आए हैं, जैसे 'राज्य व्यापार निगम', खनिज एवं धातु व्यापार निगम, चाय व्यापार निगम, हेंडीक्राफ्ट और हेंडलूम निर्यात निगम आदि।

सार्वजनिक उपक्रमों के ऊपर बताए गए महत्व को ध्यान में रख कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सार्वजनिक या राजकीय उपक्रम न केवल आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं बल्कि सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से भी समाज के सर्वोन्मुखी विकास में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है क्योंकि इन उपक्रमों के माध्यम से सामाजिक उद्देश्य, आर्थिक समानता एवं सामाजिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने में कुछ हद तक सहायता मिल रही है।

सार्वजनिक उपक्रमों का वर्गीकरण

समस्त सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम स्वामित्व को आधार मानकर और द्वितीय इनके प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण की विधि को आधार मानकर। जहां तक स्वामित्व का प्रश्न है, जैसाकि सार्वजनिक उपक्रम की विशेषताओं में बताया जा चुका है, इन उपक्रमों का स्वामित्व या तो केंद्रीय सरकार के पास, या राज्य सरकार के पास या किसी स्थानीय सरकार या संयुक्त रूप से राज्य सरकारों या स्थानीय सरकारों के पास होता है। और स्वामित्व या तो पूर्णतया सरकारी हो सकता है और या सरकार को इनका आंशिक स्वामित्व अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं के साथ सहस्वामी के रूप में प्राप्त हो सकता है।

प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण की व्यवस्था के अनुसार समस्त सार्वजनिक या राजकीय उपक्रम तीन मुख्य स्वरूपों के अंतर्गत संचालित किए जाते हैं :

(अ) विभागीय उपक्रम,
(ब) सार्वजनिक निगम,
(स) सरकारी कंपनी।

विभागीय उपक्रम

सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने का सबसे पुराना तथा सबसे अधिक प्रचलित

स्वरूप विभागीय उपक्रम है। इस स्वरूप के अंतर्गत उपक्रम तथा उद्योग का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार के संबंधित मंत्रालय के द्वारा किया जाता है और इसी संबंधित मंत्रालय का उस उपक्रम या उद्योग की समस्त क्रियाओं में पूर्णतया नियंत्रण रहता है। और इन उपक्रमों का संचालन, नियंत्रण एवं वित्त व्यवस्था ठीक उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार उस मंत्रालय के अधीन अन्य सरकारी प्रशासनिक विभागों की। वित्त व्यवस्था के लिए प्रतिवर्ष बजट तैयार करके सरकार की स्वीकृति ले ली जाती है। इसके अतिरिक्त उस उपक्रम द्वारा वर्ष भर के कार्य कलापों, प्रगति एवं अन्य संबंधित मामलों की रिपोर्ट तैयार करके संसद या विधानसभा में प्रस्तुत की जाती है, जैसे भारतीय रेलवे, डाक एवं टेलीफोन सेवा, आर्डिनेन्स फैक्ट्रीज, चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स आदि विभागीय उपक्रमों के उदाहरण हैं। विभागीय उपक्रमों में निम्न विशेषताएं होती हैं।

(अ) संचालन प्रबंध एवं नियंत्रण : विभागीय उपक्रमों का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण पूर्णतया संबंधित मंत्रालय के अधिकारियों के द्वारा किया जाता है और संबंधित मंत्रालय का मंत्री इस उपक्रम का सर्वोच्च अधिकारी समझा जाता है।

(ब) वित्त व्यवस्था : इस प्रकार के उपक्रमों के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता प्रतिवर्ष बजट तैयार करके सरकारी खजाने से पूरी कर ली जाती है और अर्जित आय का कुछ भाग छोड़कर बाकी राशि सरकारी खजाने में जमा कर दी जाती है।

(स) लेखा अंकेक्षण : संबंधित मंत्रालय की अन्य क्रियाओं की भांति उपक्रमों की तमाम क्रियाओं एवं कार्यकलापों का पूर्ण लेखा रखा जाता है। उसका अंकेक्षण किया जाता है तथा इसके अतिरिक्त बजट आदि से संबंधित समस्त नियम लागू होते हैं।

(द) कर्मचारियों की नियुक्ति : इन उपक्रमों में जो कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं वे सरकारी कर्मचारी की भांति कार्य करते हैं तथा उनकी नियुक्ति एवं कार्य करने की शर्तें सरकारी नीति के अनुसार अन्य सरकारी कर्मचारियों की भांति होती है।

विभागीय उपक्रमों के लाभ

(अ) प्रत्यक्ष एवं केंद्रीय नियंत्रण : राजकीय उपक्रमों का नियंत्रण प्रभावपूर्ण होता है क्योंकि राजकीय उपक्रम संबंधित मंत्रालय द्वारा प्रत्यक्ष एवं केंद्रीय रूप से नियंत्रित किया जाता है।

(ब) इन उपक्रमों में जो कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं उनकी स्थिति ठीक सरकारी कर्मचारी की भांति होती है और वे अपने संगठन के प्रति पूर्ण जिम्मेदारी, विश्वास तथा निष्ठापूर्वक कार्य करते हैं।

(स) विभागीय उपक्रमों में जनता का अधिक विश्वास होता है क्योंकि उपक्रम द्वारा वर्ष भर की समस्त क्रियाओं एवं कार्यकलापों की रिपोर्ट तैयार करके संसद या विधानसभा में प्रस्तुत की जाती है तथा समस्त लेनदेन का अंकेक्षण किया जाता है और इस पर बजट संबंधी तमाम नियम लागू होते हैं। इससे जनता के धन का दुरुपयोग संभव नहीं है।

(द) नियमित संचालन व्यवस्था : इन उपक्रमों का संचालन सरकार द्वारा पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार किया जाता है और इस प्रकार उपक्रम के ऊपर सरकार का पूर्ण नियंत्रण बना रहता है और उपक्रम व्यक्तिगत नीतियों से परे रहता है।

दोष

(अ) प्रबंध एवं संचालन में अकुशलता : विभागीय उपक्रम केंद्रीय नियंत्रण में होने से संचालन एवं प्रबंध में इससे अकुशलता बढ़ती है, क्योंकि प्रबंधक न तो निर्णयों में

व्यक्तिगत रुचि लेते हैं और न आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र निर्णय ले पाते हैं।

(ब) प्रोत्साहन का अभाव : विभागीय उपक्रमों में प्रबंधकों को अधिक परिश्रम एवं लगन से कार्य करने के लिए प्रेरणा नहीं मिलती है, क्योंकि इन उपक्रमों द्वारा अर्जित आय सरकारी खजाने में जमा कर दी जाती है और प्रबंधक अपनी रचनात्मक क्षमता के अनुसार इस राशि को स्वयं प्रयोग में नहीं ला सकता है।

(स) विभागीय उपक्रमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं की किस्म अधिकांश दशाओं में घटिया होती है क्योंकि इन उपक्रमों में प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है और इससे वस्तुओं एवं सेवाओं की किस्म तथा उपक्रम की कुशलता विपरीत रूप से प्रभावित हो सकती है।

(द) यदि विभागीय उपक्रम हानि वहन कर रहे हों तो इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव जनता पर पड़ता है क्योंकि इन उपक्रमों में हुई हानि की पूर्ति सरकारी खजाने से की जाती है जिसके लिए सरकार को अतिरिक्त कर आदि लगाने पड़ते हैं।

(य) विभागीय उपक्रमों में लोच का अभाव होता है क्योंकि इनका प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर न तो ग्राहकों की बदलती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जा सकता है और न ही उत्पादन में विकसित नई विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। प्रो० आर० के० जैन के शब्दों में, 'सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने की यह विधि लोच एवं स्वत: प्रेरणा की भावना, जो व्यावसायिक संस्था के सफल संचालन के लिए आवश्यक है, की विरोधी है।' अर्थात इसमें लोच एवं प्रेरणा का पूर्ण अभाव है।

सार्वजनिक निगम

सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों को संचालित करने का यह स्वरूप सबसे आधुनिक समझा जाता है क्योंकि यह स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी के विकास के बाद प्रचलित हुआ है। इसके अंतर्गत उपक्रम का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण चलाने के लिए संसद या विधानसभा में विशेष अधिनियम पास करके निगम की स्थापना कर दी जाती है। यह निगम आधारभूत विशेषताओं में संयुक्त पूंजी कंपनी से मिलता-जुलता है। केवल इनमें यह अंतर है कि निगम की स्थापना सरकार द्वारा विशेष अधिनियम पास करके की जाती है जबकि संयुक्त पूंजी कंपनी की स्थापना कंपनी अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार होती है। निगम का कार्यक्षेत्र, अधिकार सीमाओं आदि का निर्धारण उसी अधिनियम के द्वारा किया जाता है जिसके द्वारा इसकी स्थापना की गई हो। सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने के लिए निगम की स्थापना करके सरकार द्वारा किया जाने वाला व्यावसायिक और औद्योगिक कार्य सरकार के सामान्य प्रशासनिक कार्य से अलग कर दिया जाता है। सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने का यह स्वरूप दिन-प्रतिदिन काफी प्रचलित होता जा रहा है क्योंकि इस स्वरूप के अंतर्गत उपक्रम का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण सरकार के अधीन होते हुए भी इसका संचालन व्यावसायिक एवं औद्योगिक सिद्धांतों के अनुसार किया जाता है। 1956 में 'योजना आयोग' ने भी इस बात पर बल दिया कि सार्वजनिक उद्योगों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण पूर्णतया सरकार के अधीन होते हुए इसके प्रबंध संचालन में लोच का गुण विद्यमान होना आवश्यक है। सार्वजनिक निगम को विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषित किया गया है। कुछ परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं।

हरबर्ट मोरीसन के शब्दों में, 'यदि कहना चाहें तो सार्वजनिक निगम जनता के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक स्वामित्व, सार्वजनिक उत्तरदायित्व एवं

व्यावसायिक प्रबंध का संयोजन है।'

हालांकि इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि सार्वजनिक निगम की स्थापना सार्वजनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती है और इसमें सार्वजनिक स्वामित्व एवं उत्तरदायित्व तथा व्यावसायिक प्रबंध को संयोजित किया जाता है अर्थात सार्वजनिक निगम का स्वामित्व एवं नियंत्रण सरकार के पास होते हुए भी इसका प्रबंध एवं संचालन व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है। फिर भी इस परिभाषा को पूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इसमें निगम की मूल विशेषताओं की चर्चा नहीं की गई है।

अर्नेस्ट डेविज के शब्दों में, 'सार्वजनिक निगम पृथक अस्तित्व रखने वाली संस्था है जो दावा कर सकती है और जिस पर दावा किया जा सकता है तथा जो अपनी वित्तीय व्यवस्था के लिए स्वयं जिम्मेदार होती है।' इस परिभाषा में निगम की मूल विशेषता की ओर संकेत किया गया है कि सार्वजनिक निगम कानून की दृष्टि में पृथक वैधानिक अस्तित्ववाली संस्था है जिसको प्राकृतिक व्यक्ति के कुछ अधिकार दिए गए हैं जैसे निगम पर दावा किया जा सकता है और निगम दावा प्रस्तुत कर सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी बताया गया है कि सार्वजनिक निगम अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए स्वयं व्यवस्था करता है अर्थात सरकारी खजाने से राजकीय उपक्रमों की भांति इनकी वित्तीय आवश्यकताएं पूरी नहीं की जाती हैं।

अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० रूजवेल्ट के अनुसार, 'सार्वजनिक निगम एक ऐसा संगठन है जो सरकारी सत्ता का परिधान पहने हुए है और जो निजी उद्योग की भांति लोचपूर्ण है।' इस परिभाषा के अनुसार सार्वजनिक निगम एक ऐसा संगठन है जिसको सरकारी सत्ता के अधिकार प्राप्त होते हैं (क्योंकि इसकी स्थापना सरकार द्वारा विशेष अधिनियम पास करके की जाती है।) साथ ही इसमें निजी उद्योग की भांति पूर्ण लोच होती है क्योंकि इसका संचालन एवं प्रबंध व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है।

संक्षेप में, सार्वजनिक निगम सरकार द्वारा बनाए गए अधिनियम के अंतर्गत स्थापित पृथक वैधानिक अस्तित्ववाली संस्था है जिसके ऊपर वाद प्रस्तुत किया जा सकता है और जो वाद प्रस्तुत कर सकती है तथा जिसका प्रबंध एवं संचालन व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर किया जाता है, जैसे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम, जीवन बीमा निगम आदि।

ऊपर बताई गई परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए एक सार्वजनिक निगम में निम्न विशेषताएं होनी चाहिए।

पृथक वैधानिक अस्तित्व : सार्वजनिक निगम की मूल विशेषता यह है कि इसे पृथक वैधानिक अस्तित्व प्राप्त होता है क्योंकि इसकी स्थापना सरकार द्वारा बनाए गए अधिनियम के द्वारा की जाती है और इसे कानून की दृष्टि में प्राकृतिक व्यक्ति की भांति कुछ अधिकार प्राप्त रहते हैं (वाद प्रस्तुत करने का अधिकार, अनुबंध करने का अधिकार आदि)।

समामेलित संस्था : सार्वजनिक निगम एक समामेलित संस्था है क्योंकि जिस अधिनियम के अंतर्गत इसे स्थापित किया जाता है उससे निगम की कार्यसीमा, उद्देश्य, अधिकार आदि स्पष्ट रूप से परिभाषित हैं।

स्वामित्व : सार्वजनिक निगम का स्वामित्व पूर्णतया केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार या स्थानीय सरकार के पास होता है इसीलिए इसे सार्वजनिक स्वामित्ववाली संस्था भी कहा गया है।

वित्त व्यवस्था : सार्वजनिक निगम की वित्त व्यवस्था स्वतंत्र होती है क्योंकि इसका आय-व्यय सरकारी बजट में नहीं दिखाया जाता है और ये निगम अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने साधनों के द्वारा पूंजी प्राप्त करके करता है। इस पर सरकारी आय-व्यय से संबंधित नियम लागू नहीं होते हैं।

सरकारी नियंत्रण : सार्वजनिक निगम पूर्णतया सरकार द्वारा नियंत्रित होते हैं क्योंकि इनकी स्थापना सरकार द्वारा बनाए गए अधिनियम के अंतर्गत की जाती है।

कर्मचारियों की नियुक्ति : निगम पृथक वैधानिक अस्तित्ववाली संस्था है। इसीलिए यह अपने कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं करता है और उनकी स्थिति सरकारी कर्मचारी की भांति नहीं होती है।

संचालन एवं प्रबंध : सार्वजनिक निगम का प्रबंध एवं संचालन व्यावसायिक सिद्धांतों पर आधारित है क्योंकि इनका प्रबंध एवं संचालन करने के लिए संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति संचालक मंडल की रचना की जाती है और संचालकगण सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। इन निगमों का प्रबंध एवं संचालन काफी हद तक स्वतंत्र व्यावसायिक संस्था की भांति किया जाता है क्योंकि संचालकगण संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार निगम का दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन स्वयं चलाते हैं और सरकारी विभाग का हस्तक्षेप बहुत कम होता है।

उद्देश्य : सार्वजनिक निगम सरकारी अधिनियम द्वारा एक कृत्रिम व्यावसायिक संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना है और उन्हें उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर प्रदान करना है अतः लाभ कमाने को निगम में गौण उद्देश्य समझा जाता है।

सार्वजनिक उत्तरदायित्व : निगम प्रबंध संचालन एवं अपनी वित्त व्यवस्था में स्वतंत्र होते हुए भी जनता के प्रति उत्तरदायी है क्योंकि इनके द्वारा जो लेखे तैयार किए जाते हैं (जिनमें इनकी समस्त क्रियाएं एवं कार्यकलाप प्रतिबिंबित होते हैं) उनका महा-अंकेक्षक द्वारा निरीक्षण किया जाता है तथा इनकी सफलता एवं प्रगति से संबंधित अन्य विवरण संसद में बहस के लिए पेश किए जाते हैं।

सार्वजनिक निगम की विशेषताओं से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने का एक ऐसा स्वरूप है जो सरकारी स्वामित्व एवं नियंत्रण में होते हुए भी व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर स्वतंत्र रूप से संचालित किया जाता है अतः इसमें विभागीय उपक्रम तथा संयुक्त पूंजी कंपनी दोनों के लाभ विद्यमान हैं।

(अ) सार्वजनिक निगम का प्रबंध एवं संचालन स्वतंत्र तथा लोचपूर्ण होता है क्योंकि सार्वजनिक निगम की स्थापना एक पृथक वैधानिक अस्तित्ववाली व्यावसायिक संस्था की भांति सरकारी अधिनियम के द्वारा की जाती है। इसका दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

(ब) सार्वजनिक निगम के दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन में सरकारी कर्मचारियों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है क्योंकि दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन पूर्णतया संचालक मंडल द्वारा चलाया जाता है।

(स) सार्वजनिक निगमों की स्थापना करके सरकारी नीतियों को आसानी से क्रियान्वित किया जा सकता है क्योंकि निगम के संचालकगण अंतिम रूप से संबंधित मंत्रालय या विभाग के अधीन कार्य करते हैं और उनको निगम का दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन चलाने के लिए उस सरकारी अधिनियम की समस्त व्यवस्थाओं का पूर्णतया पालन करना पड़ता है जिनके अंतर्गत निगम की स्थापना हुई है।

(द) पृथक वैधानिक अस्तित्ववाली संस्था होते हुए भी सार्वजनिक निगम का जनता के प्रति दायित्व बना रहता है क्योंकि इसके लेखों, प्रगति, सफलता या असफलता की संसद में रिपोर्ट प्रस्तुत की जाती है और जनता के प्रतिनिधि उस पर बहस एवं टीका-टिप्पणी कर सकते हैं।

(य) सार्वजनिक निगम में प्रबंधकीय कुशलता का तत्व विद्यमान रहता है क्योंकि इसका दैनिक कारोबार चलाने के लिए निगम अच्छे वेतन तथा अन्य अतिरिक्त सुविधाएं देकर कुशल एवं निपुण प्रबंधकों तथा कर्मचारियों को आकर्षित कर सकता है।

(र) सार्वजनिक निगमों द्वारा अपनी आवश्यकतानुसार यथासमय पर्याप्त वित्त प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि इन निगमों का स्वामित्व पूर्णतया सरकार के अधीन होता है और विनियोगकर्ता मूलधन की सुरक्षा से प्रभावित होकर बिना किसी हिचक के निगम द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करते हैं।

(ल) सार्वजनिक निगमों के व्यवसाय में राजकीय उपक्रमों की तुलना में अधिक स्थिरता एवं स्वतंत्रता रहती है क्योंकि इन निगमों के दैनिक प्रबंध एवं प्रशासन में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता है और चूंकि इनको एक व्यावसायिक संस्था की भांति संचालित किया जाता है इसीलिए इनपर राजनीतिक परिवर्तनों का प्रत्यक्ष एवं गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता है और इनके अस्तित्व में स्वतंत्रता एवं स्थिरता बनी रहती है।

सार्वजनिक निगम में कुछ दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं :

1. सार्वजनिक निगमों की उपयोगिता सीमित होती है क्योंकि इस स्वरूप को केवल बड़े बड़े सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने के लिए उपयुक्त समझा जाता है।

2. सार्वजनिक निगमों की स्थिति वित्तीय असंतुलन भी उत्पन्न कर सकती है क्योंकि इन निगमों को पूंजी प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। इससे प्रेरित होकर आवश्यकता से अधिक पूंजी एकत्र करके उस पर उचित दर की आय अर्जित नहीं कर पाते हैं और इससे अतिपूंजीकरण की स्थिति को प्रोत्साहन मिलता है।

3. सार्वजनिक निगमों में पूर्ण सरकारी नियंत्रण तथा पूर्ण स्वतंत्रता के बीच की संदेहजनक स्थिति के कारण. प्रबंधकीय कुशलता में कमजोरी उत्पन्न होती है क्योंकि व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर संचालित होते हुए भी इनका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता है।

4. सार्वजनिक निगम पूर्णतया प्रत्यक्ष रूप से सरकार के नियंत्रण में नहीं होते। अतः जनता के प्रति इनके उत्तरदायित्व की सीमा में कमी स्वाभाविक है और कुछ दशाओं में प्राप्त स्वतंत्रता के कारण निगम सरकारी नीतियों की अवहेलना करने लगते हैं।

5. कार्यकुशलता में कमी तथा विस्तार एवं विकास में बाधा भी इन निगमों के दोष समझे जा सकते हैं क्योंकि इनमें प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है जिससे इनकी कार्यकुशलता एवं विकास विपरीत रूप से प्रभावित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त लाभ कमाना मुख्य उद्देश्य न होने से भी इनकी कार्यकुशलता में शिथिलता उत्पन्न होती है।

सरकारी कंपनी

व्यवसाय के महत्वपूर्ण स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी को भी सार्वजनिक उपक्रमों को संचालित करने के लिए काम में लाया गया है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में सरकार के लिए यह संभव नहीं है कि वह उपक्रम को स्थापित करके उसका पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर सके।

भारतीय कंपनी अधिनियम 1956 की धारा 617 के अनुसार 'सरकारी कंपनी का अर्थ एक ऐसी कंपनी से है जिसकी कुल चुकता अंशपूंजी का 50% से अधिक केंद्रीय

सरकार या किसी राज्य सरकार या संयुक्त रूप से केंद्रीय एवं राज्य सरकार द्वारा लगाया गया हो।' अत: सरकारी कंपनी ऐसी कंपनी है जिसकी अंशपूंजी का अधिकांश स्वयं सरकार द्वारा लगाया जाता है और इस प्रकार सरकार उस कंपनी का आंशिक स्वामित्व प्राप्त कर लेती है और उसके प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण का अधिकार प्राप्त कर लेती है। सरकारी कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति कंपनी अधिनियम में दी गई व्यवस्थाओं के अनुसार चलाया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार कंपनी अधिनियम के अंतर्गत प्राप्त अधिकार का प्रयोग करके किसी भी कंपनी को यह निर्देश दे सकती है कि उस कंपनी को कंपनी अधिनियम की कुछ व्यवस्थाओं से मुक्त किया जाए अथवा सरकारी कंपनी इस अधिनियम की किन्हीं व्यवस्थाओं को अपवाद के रूप में या उनमें आवश्यक परिवर्तन करके प्रयोग करे। इस निर्देश की एक प्रतिलिपि, जो राजकीय घोषणा के रूप में होती है, कम से कम 30 दिन के भीतर संसद सत्र में संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त सरकारी कंपनी में सरकारी कंपनी के अधीन सहायक कंपनियों को भी सम्मिलित किया जाता है।

स्थापना : सरकारी कंपनी की स्थापना अन्य संयुक्त पूंजी कंपनियों की भांति कंपनी अधिनियम की समस्त व्यवस्थाओं का पूर्णतया पालन करके की जाती है। इससे संबंधित समस्त वैधानिक औपचारिकताएं पूरी की जानी आवश्यक हैं।

अंशपूंजी : सरकारी कंपनी की अंश पूंजी या तो पूर्णतया केंद्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा या दोनों द्वारा संयुक्त रूप से लगाई जाती है। सरकार इन कंपनियों की कुल चुकता अंश पूंजी का अधिकांश स्वयं विनियोजित करती है और बाकी हिस्सा जनता द्वारा लगाया जाता है।

उद्देश्य : सरकारी कंपनियों का मुख्य उद्देश्य आवश्यक रूप से लाभ कमाना नहीं होता है। इनको विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है।

प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण : सरकारी कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संचालकमंडल द्वारा किया जाता है जिसमें संचालकगणों को सरकार मनोनीत करती है क्योंकि इन कंपनियों में कुल चुकता अंश पूंजी का 50% से अधिक हिस्सा सरकार द्वारा लगाया जाता है। इससे सरकार को संचालक मंडल की रचना में बहुमत प्राप्त हो जाता है।

मंत्रालय का नियंत्रण : सरकारी कंपनी हालांकि संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति स्वतंत्र समामेलित संस्था है फिर भी व्यवहार में संचालकों का चुनाव संबंधित मंत्रालय के द्वारा किया जाता है और संचालकगण मंत्रालय के अधीन कार्य करते हैं। संबंधित मंत्रालय का मंत्री आवश्यकता पड़ने पर कोई निर्देश जारी कर सकता है और कंपनी से किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है।

वित्त व्यवस्था तथा प्रशासनिक मामलों में स्वतंत्रता : सरकारी कंपनी को अपनी वित्त व्यवस्था तथा प्रशासनिक मामलों में संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहती है। इसमें विभागीय उपक्रम तथा सार्वजनिक निगमों की तरह से सरकारी प्रशासन के जटिल नियम लागू नहीं होते हैं।

इसके अतिरिक्त सरकारी कंपनियों के लिए कंपनी अधिनियम में कुछ महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं की गई हैं जो निम्न हैं :

1. अंकेक्षक की नियुक्ति : सरकारी कंपनी के खातों व बहियों का अंकेक्षण करने के लिए अंकेक्षक की नियुक्ति कंपनी अधिनियम के अंतर्गत की जाती है। इस संबंध में महानिरीक्षक को यह अधिकार है कि वह नियुक्त अंकेक्षक को अंकेक्षण विधि के बारे में आवश्यक निर्देश दे सकता है और कंपनी की बहियों तथा खातों की जांच करा सकता है।

2. वार्षिक खातों का प्रस्तुतीकरण : केंद्रीय सरकार के लिए यह आवश्यक है कि सरकारी कंपनी के अंकेक्षित खातों से संबंधित रिपोर्ट एवं वार्षिक रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत करे। यदि कंपनी का स्वामित्व किसी राज्य सरकार के पास है तो इन रिपोर्टों को विधानसभा में प्रस्तुत किया जाएगा।

3. केंद्रीय सरकार किसी भी सरकारी कंपनी को सरकारी गजट के द्वारा यह आदेश दे सकती है कि कंपनी अधिनियम की धारा 618 एवं 619 को छोड़कर शेष धाराओं में से कोई एक या एक से अधिक धारा सरकारी कंपनी पर लागू नहीं होगी। यह आदेश संसद के दोनों सदनों द्वारा पास किया जाना आवश्यक है।

सरकारी कंपनियों का वर्गीकरण

समस्त सरकारी कंपनियों को विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

स्वामित्व के दृष्टिकोण से सरकारी कंपनी का वर्गीकरण इस प्रकार है :

पूर्ण स्वामित्व वाली कंपनी : इन कंपनियों में कुल अंश पूंजी केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा लगाई जाती है, जैसे हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड, इंडियन टेलीफोन आदि।

मिश्रित स्वामित्व वाली कंपनी : इन कंपनियों में कुल अंश पूंजी का अधिकांश केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा लगाया जाता है और बाकी हिस्सा जनता या अन्य संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है अर्थात सरकार जनता के साथ कंपनी की सहस्वामी होती है, जैसे हिंदुस्तान मशीन टूल लि०, हिंदुस्तान केबल्स, हिंदुस्तान ऐंटीबायटिक्स आदि।

उद्देश्य के दृष्टिकोण से सरकारी कंपनी को निम्न वर्गों में बांटा गया है :

उत्पादन कार्य में संलग्न कंपनी : इस प्रकार की कंपनियों की स्थापना मुख्य रूप से राष्ट्र-हित के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए की जाती है, जैसे हिंदुस्तान स्टील लि०, सिन्द्री उर्वरक, हिंदुस्तान मशीन टूल लि० आदि।

प्रवर्तन कार्य में संलग्न सरकारी कंपनियां : इस वर्ग में वे सरकारी कंपनियां सम्मिलित हैं जिनकी स्थापना मुख्य रूप से औद्योगिक प्रवर्तन कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए की जाती है, जैसे राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम आदि।

विपणन कार्य में संलग्न सरकारी कंपनी : इस प्रकार की सरकारी कंपनियों का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण को सहज एवं सुगम बनाना है और व्यापार को प्रोत्साहित करना है, जैसे राज्य व्यापार निगम, निर्यात साख गारंटी निगम आदि।

तकनीकी ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न कंपनियां : ये सरकारी कंपनियां मिश्रित स्वामित्व के अंतर्गत स्थापित सरकारी कंपनियों के लिए तकनीकी ज्ञान प्राप्त करके उसे उन्हें उप-लब्ध कराने के लिए स्थापित की जाती हैं, जैसे हिंदुस्तान केबल्स लि०, भारी इंजी-नियरिंग निगम आदि।

सरकारी कंपनी के लाभ

कार्य में पर्याप्त स्वतंत्रता : सरकारी कंपनियों को कार्य में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है क्योंकि इन कंपनियों की स्थापना अधिनियम के अंतर्गत होती है और इसी अधिनियम की व्यव-स्थाओं के अनुसार ये कंपनियां स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं।

प्रबंध एवं संचालन में पर्याप्त लोच : सरकारी कंपनियों के प्रबंध एवं संचालन में पर्याप्त लोच का तत्व विद्यमान रहता है क्योंकि इनका प्रबंध एवं संचालन कंपनी अधिनियम की व्यवस्थाओं के अंतर्गत अंतरनियमों में दिए गए नियमों के अनुसार किया जाता है और

आवश्यकता पड़ने पर केंद्रीय सरकार सरकारी गजट के द्वारा आदेश जारी करके अधि-नियम की कुछ व्यवस्थाओं से कंपनी को मुक्त कर सकती है। इससे कंपनी के प्रबंध एवं संचालन में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

अवांछनीय विभागीय हस्तक्षेप से मुक्त : सरकारी कंपनियां अनावश्यक और अवांछनीय विभागीय हस्तक्षेप से मुक्त होती हैं क्योंकि सरकारी कंपनी अंतिम रूप से सरकार के नियंत्रण में होते हुए भी सरकारी विभाग के कर्मचारियों के हस्तक्षेप से मुक्त रहती है और सरकारी कंपनियों की कार्य पद्धति संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति स्वतंत्र होती है।

सरकारी कंपनियों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा : इन कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति होता है। इसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र की कंपनियों और सरकारी कंपनियों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। इससे कंपनियों की कार्यकुशलता में वृद्धि तथा उन्नति संभव है।

प्रबंधकीय दक्षता एवं तकनीकी ज्ञान का लाभ : सरकारी कंपनियों में संयुक्त स्वामित्व के फलस्वरूप निजी क्षेत्र की प्रबंधकीय दक्षता एवं तकनीकी ज्ञान का लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है और जिससे प्रबंधकीय एवं उत्पादन कुशलता में वृद्धि संभव है।

सरकारी कंपनी के दोष

सरकारी कंपनी में उपर्युक्त लाभों के बावजूद कुछ दोष भी हैं।

सरकारी नियंत्रण : सरकारी कंपनी में अंशपूंजी या तो पूर्ण रूप से या अंशपूंजी का अधि-कांश सरकार द्वारा लगाया जाता है। इससे कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सर-कार के अधीन हो जाता है और व्यवहार में कंपनी की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है।

मंत्रालय का हस्तक्षेप : बाहर से तो यह प्रतीत होता है कि सरकारी कंपनी विभागीय हस्तक्षेप से मुक्त होती है पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि संबंधित मंत्रालय का मंत्री अथवा सचिव समय समय पर सरकारी कंपनी के प्रबंध एवं संचालन में अवांछनीय हस्त-क्षेप करते हैं और संबंधित नीतियों पर उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है।

सार्वजनिक उत्तरदायित्व में कमी : सार्वजनिक उपक्रमों के अन्य स्वरूपों की तुलना में सर-कारी कंपनी का जनता के प्रति दायित्व कम हो जाता है क्योंकि सरकार किसी भी समय आदेश जारी करके कंपनी को संबंधित व्यवस्थाओं का पालन करने से मुक्त कर सकती है और जनता की आलोचना से बच सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा इन कंपनियों के संबंध में जो आदेश जारी किए जाते हैं (कुछ को छोड़कर), उनके लिए संसद के दोनों सदनों की अनुमति प्राप्त की जानी आवश्यक नहीं है। इससे भी सरकारी कंपनी का जनता के प्रति दायित्व सीमित हो जाता है।

संचालकों की स्थिति : संचालकों की विचित्र स्थिति से उनकी कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है क्योंकि इन कंपनियों में संचालक एक ओर वेतन भोगी कर्मचारी होते हैं और कुछ स्थितियों में उन्हें अंशकालीन संचालकों के रूप में भी नियुक्त किया जाता है। इससे न तो वे अपना पूर्ण समय कंपनी के संचालन में लगा पाते हैं और न वे संचालन में विशेष रुचि ही लेते हैं। समय समय पर सरकारी विभाग से हस्तक्षेप होने के कारण उनकी व्यक्तिगत रुचि कम होना स्वाभाविक है।

सार्वजनिक उपक्रमों के विभिन्न स्वरूपों में निहित लाभ एवं दोषों का वर्णन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्वरूप का अलग अलग स्थितियों में पूंजी की मात्रा, उद्योग के उद्देश्य, सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता आदि की दृष्टि से अपना महत्व है, जैसे बड़े बड़े उद्योगों को संचालित करने के लिए विभागीय उपक्रमों को सबसे अधिक उपयुक्त समझा जा सकता है जबकि कुछ अन्य दशाओं में राष्ट्रहित के लिए महत्व-

पूर्ण औद्योगिक क्रिया सार्वजनिक निगम की स्थापना करके संचालित की जा सकती है। पर व्यवहार में अन्य स्वरूपों की तुलना में सरकारी कंपनी की उपयुक्तता एवं उपयोगिता अधिक व्यापक एवं विस्तृत है क्योंकि यह स्वरूप सरकारी नियंत्रण, स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यावसायिक सिद्धांतों का पूर्ण एवं विधिवत संयोजन है और इस स्वरूप के माध्यम से सरकार केवल कंपनी की अधिकांश अंशपूंजी स्वयं लगाकर उस पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेती है।

इस स्वरूप में मुख्य दोष अनावश्यक विभागीय हस्तक्षेप एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व में कमी विषयक है जो अधिक गंभीर प्रकृति के प्रतीत नहीं होते हैं। सरकारी कंपनियों को कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं में आवश्यक संशोधन करके इन दोषों से मुक्त किया जा सकता है ताकि इनके संचालन एवं प्रबंध में संबंधित विभाग का अवांछनीय एवं अनावश्यक हस्तक्षेप कम किया जा सके और जहां भी हस्तक्षेप किया जाए, इसके लिए संसद को विश्वास में लेना आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उपक्रमों का यह स्वरूप निम्नलिखित दशाओं में विशेष रूप से उपयुक्त एवं उपयोगी समझा जाता है :

1. उद्योग का आकार छोटा हो।

2. यदि सरकार किसी उद्योग को मिश्रित स्वामित्व के आधार पर संचालित करना चाहती है ताकि निजी क्षेत्र में उपलब्ध प्रबंधकीय दक्षता एवं तकनीकी ज्ञान का पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सके।

3. सरकार इस स्वरूप का प्रयोग उन उद्योगों के लिए भी कर सकती है जो किसी वित्तीय संकट के कारण सुचारु रूप से संचालित नहीं किए जा रहे हैं।

4. राष्ट्रहित के लिए महत्वपूर्ण वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने के लिए भी यह स्वरूप उपयुक्त समझा जा सकता है क्योंकि उद्योग में कुछ ही पूंजी लगाकर उत्पादन पूर्णतया नियंत्रित किया जा सकता है।

5. यदि किसी उद्योग द्वारा जनता के हितों को सुरक्षित न रखा जा रहा हो, भ्रष्टाचार एवं शोषण के तत्व पनप रहे हों तो ऐसे उद्योगों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए भी यह महत्वपूर्ण है।

6. इसके अतिरिक्त यदि सरकार किसी उद्योग के कार्यकलापों को राष्ट्रहित में पूर्णतया गोपनीय रखना चाहती है तो पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करके सरकारी कंपनी को संचालित किया जाना वांछनीय होगा।

सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों की कार्यविधि

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास वैसे तो काफी आधुनिक है फिर भी इसके विकास की गति काफी तेज रही है। भारत में इसके विकास के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक वातावरण काफी अनुकूल रहा है। विशेष रूप से स्वतंत्रता के पश्चात नियोजित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत देश के संतुलित आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने के लिए इस क्षेत्र को विशेष महत्व दिया और इनकी संख्या तथा इन पर विनियोजित धनराशि में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है जिसे पृ० 128 की तालिका से ज्ञात किया जा सकता है।

इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों की संख्या में एवं उनमें विनियोजित राशि में महत्वपूर्ण वृद्धि नियोजित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत हुई है, जैसे प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में इनकी संख्या केवल 5 थी और इनमें विनियोजित धनराशि 29 करोड़ रु० थी। 1974 तक यह संख्या बढ़कर 120 हो गई और विनियोजित धनराशि 5750 करोड़ रु० हो गई। इसका मुख्य कारण सार्वजनिक उपक्रमों की संपूर्ण आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में अदा की गई महत्वपूर्ण भूमिका है।

वर्ष	इकाइयों की संख्या	विनियोजित राशि (करोड़ों रुपये में)
अप्रैल 1951	5	29
,, 1956	21	89
,, 1961	48	953
मार्च 1966	74	2415
,, 1967	77	2841
,, 1968	83	3333
,, 1969	85	3902
,, 1972	101	5052
,, 1973	113	5571
,, 1974	120	5750

मार्च 1972 तक सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न उद्योगों में कुल विनियोजित धनराशि 5052 करोड़ रु० का विवरण निम्न है :

इस्पात	1694 करोड़ रु०
इंजीनियरिंग एवं जहाज निर्माण	1022 ,,
रसायन	614 ,,
पेट्रोल एवं तेल	394 ,,
खान एवं खनिज	484 ,,
हवाई तथा जल यातायात	320 ,,
व्यापारिक संस्थाएं	354 ,,
जीवन बीमा निगम	005 ,,
विविध उद्योग	164 ,,
	5052

इस तालिका पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि सार्वजनिक उपक्रमों ने केवल विभिन्न प्रकार की सेवाएं ही प्रदान नहीं की हैं बल्कि वस्तुओं के उत्पादन तथा व्यापार में भी इन उपक्रमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सार्वजनिक उपक्रमों की लाभ क्षमता : किसी भी व्यावसायिक संस्था की सफलता एवं कार्य निष्पादन को नापने के लिए उस संस्था द्वारा कमाया गया लाभ एक महत्वपूर्ण तत्व है। विशेष रूप से निजी क्षेत्र की संस्थाओं की सफलता पूर्णतया लाभक्षमता के आधार पर ही मापी जाती है क्योंकि इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है। परंतु सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थाओं की सफलता केवल लाभ क्षमता के सिद्धांत से नहीं नापी जा सकती है क्योंकि इन संस्थाओं की स्थापना कुछ निर्दिष्ट सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती है और लाभ कमाना इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य नहीं होता है। हालांकि सार्वजनिक उपक्रमों को व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर संचालित किया जाता है फिर भी इनसे यह आशा नहीं की जाती है कि ये उपक्रम अधिकतम लाभ कमाएं बल्कि इनका मुख्य उद्देश्य निर्दिष्ट सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के साथ ही व्यावसायिक क्रिया में संलग्न विभिन्न वर्गों, जैसे श्रमिक एवं कर्मचारी, उपभोक्ता एवं जनता आदि के हितों को सुरक्षित रखना भी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक उपक्रमों की सफलता एवं प्रगति लाभक्षमता के सिद्धांत

पर नहीं बल्कि इस आधार पर नापी जानी चाहिए कि सार्वजनिक उपक्रम जिन उद्देश्यों के लिए स्थापित किए गए हैं उनको वे किस सीमा तक प्राप्त कर पाए हैं। इसके लिए इनकी सफलता नापने के लिए कुछ अन्य सामान्य तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए, जैसे कुल राष्ट्रीय आय में इनका योगदान, बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने में इनकी भूमिका तथा औद्योगिक विकास के लिए इनके द्वारा तैयार की गई आधार-शिला आदि। अतः इस आधार पर इनकी आलोचना उचित एवं न्यायसिद्ध नहीं होगी कि ये उपक्रम पर्याप्त लाभ नहीं कमा सके अथवा नहीं कमा पा रहे हैं।

पर चूंकि सार्वजनिक उपक्रम व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर संचालित किए जाते हैं इसलिए इन्हें कुछ लाभ कमाना भी आवश्यक है। यदि ये उपक्रम लगातार पर हानि वहन करें तो इससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बजाय राष्ट्रीय साधनों में क्षीणता उत्पन्न हो जाएगी और इसक फलस्वरूप देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। अतः इन उपक्रमों को अपने मुख्य सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करते हुए साधनों के लिए पारितोषिक के रूप में कुछ लाभ भी अर्जित करना चाहिए।

सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा कमाए गए लाभ व वहन की गई हानि का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार से है: 1972 के पूर्व सार्वजनिक उपक्रमों की लाभ की स्थिति असंतोषजनक रही है क्योंकि 1972-73 में 101 सार्वजनिक उपक्रमों में से 67 उपक्रमों ने 104.46 करोड़ रु० का लाभ अर्जित किया और 34 उपक्रमों ने 86.72 करोड़ रु० की हानि वहन की अर्थात इन समस्त उपक्रमों को मिलाकर कुल लाभ की स्थिति 17.74 करोड़ रु० की थी। इनमें से भारतीय तेल निगम द्वारा 22.17 करोड़ रु० का सबसे अधिक लाभ कमाया गया और हिंदुस्तान स्टील लि० को 27.80 करोड़ रु० की सबसे अधिक हानि हुई। 1973-74 के दौरान सार्वजनिक उपक्रमों की कुल लाभ की स्थिति में कुछ सुधार हुआ और कुल शुद्ध लाभ 17.74 करोड़ रु० से बढ़कर 66 करोड़ रु० हो गया जिसमें से 81 उपक्रमों ने लाभ कमाया और 39 उपक्रमों ने हानि वहन की। इस वर्ष सबसे अधिक लाभ 53.18 करोड़ रुपया खान एवं खनिज व्यापार निगम द्वारा कमाया गया।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक उपक्रमों में लाभ कमाने की क्षमता की स्थिति संतोषजनक नहीं थी, पर इस संबंध में यह कहने से पहले कि इन उपक्रमों द्वारा राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग किया गया है, इन उपक्रमों क द्वारा आर्थिक, औद्योगिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में अदा की गई भूमिका के महत्व को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि इन उपक्रमों के सम्मुख कौन कौन सी समस्याएं आई हैं और इनके स्वरूप में कौन कौन सी कमियां एवं दोष निहित हैं। इन समस्याओं का समाधान करके तथा इनके प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में कमियों को दूर करके ही इनकी कुशलता में वृद्धि की जा सकती है और इनके महत्व को पूर्णतया साकार बनाया जा सकता है।

सार्वजनिक उपक्रमों की समस्याएं

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों की कार्य पद्धति में निहित कुछ दोष एवं कमियों के अतिरिक्त इनको विभिन्न समस्याओं का सामना भी करना पड़ा है जिनके कारण इनकी कार्य-कुशलता में आशाजनक वृद्धि नहीं की जा सकी है। सार्वजनिक उपक्रमों की मुख्य समस्याएं प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण से संबंधित हैं। कुछ दशाओं में अत्यधिक सरकारी नियंत्रण इनकी असफलता का कारण रहा है और कुछ स्थितियों में प्रबंध में संदेहजनक स्थिति इनके लिए घातक सिद्ध हुई है और अन्य स्थितियों में सरकारी नियंत्रण में ढील इनकी

अकुशलता का कारण रहा है। इनमें व्याप्त मुख्य कमियों तथा समस्याओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

उद्देश्यों में अस्पष्टता : प्रत्येक संगठन की सफलता मूल रूप से उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति पर निर्भर है क्योंकि संगठन आधारभूत रूप से कुछ उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ही स्थापित किया जाता है। यदि संगठन के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किए गए हैं और उनसे संदेहजनक स्थिति उत्पन्न होती है तो इससे न तो उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है और न संगठन की सफलता मापी जा सकती है। सार्वजनिक उपक्रमों के सम्मुख यह प्रमुख समस्या रही है कि अधिकांश दशाओं में उनको स्थापित करने के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किए जा सके हैं क्योंकि सार्वजनिक उपक्रम बहुउद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित किए जाते रहे हैं और उनमें स्पष्टता एवं निश्चितता का अभाव रहा है जो इनकी सफलता में बाधक सिद्ध हुआ है क्योंकि यदि उद्देश्य स्पष्ट एवं निश्चित न हों तो उनकी प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। इस समस्या के समाधान हेतु 'प्रशासनिक सुधार आयोग' ने अपनी रिपोर्ट में सरकार को यह सिफारिश पेश की है कि सार्वजनिक उपक्रमों के उद्देश्य एवं दायित्व विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किए जाएं और उपक्रमों के वित्तीय तथा आर्थिक दायित्वों के संबंध में सरकार को व्यापक सिद्धांत निर्धारित करने चाहिए, जैसे संचित कोषों का निर्माण, स्वतः वित्तीय उत्तर-दायित्व, पूंजी में अनुमानित आय, विवेकपूर्ण वेतन के ढांचे एवं मूल्य निर्धारण का आधार आदि। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना से प्रत्येक सार्वजनिक उपक्रम के उद्देश्यों तथा उनके उत्पादन, बिक्री, लागत, लाभ आदि के बारे में अनुमानित बजट तैयार करने की व्यवस्था कर दी है। पर दुर्भाग्यवश व्यावहारिक एवं प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण अभी तक बहुत सारे उपक्रमों में पुरानी ही स्थिति चल रही है।

प्रबंधकीय समस्याएं : सार्वजनिक उपक्रम प्रबंधकीय समस्याओं से भी जकड़े हुए हैं क्योंकि एक ओर तो इनमें कार्यरत प्रबंधकों में प्रबंधकीय क्षमता एवं ज्ञान का अभाव है और दूसरी ओर सरकारी विभाग का अनावश्यक तथा अवांछनीय हस्तक्षेप प्रबंधकीय शिथि-लता उत्पन्न कर रहा है जिसके फलस्वरूप नियुक्त प्रबंधक अपने प्रबंधकीय कार्य को रुचिप्रद ढंग से सुचारु रूप से नहीं चला पाए हैं। प्रबंधकीय क्षमता एवं अनुभव के अभाव का प्रमुख कारण यह रहा है कि इन उपक्रमों का प्रबंध एवं संचालन चलाने के लिए सर-कारी कर्मचारियों (आई० ए० एस० कर्मचारी) को ही प्रबंधकों के पद पर नियुक्त किया जाता रहा है और जो उपक्रम को निजी क्षेत्र के प्रबंधकों की भांति संचालित नहीं कर पाते हैं। सरकारी विभाग के प्रशासन की विधि एवं ढंग को पूर्णतया इन व्यावसायिक सिद्धांतों पर आधारित उपक्रमों पर लागू नहीं किया जा सकता है। अतः सार्वजनिक उप-क्रमों की कुशलता में वृद्धि के लिए ताकि ये उपक्रम सफलतापूर्वक अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें यह आवश्यक है कि इन उपक्रमों में विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों को प्रबंधक के पद पर नियुक्त किया जाए और संचालक मंडल को राजनीति से अलग रखा जाए। विभिन्न क्रियाओं में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों को सलाहकार के रूप में नियुक्त किया जाए और उपक्रम के लिए संचालक मंडल का गठन उपक्रम की कुशलता तथा राष्ट्रहित को ध्यान में रखते हुए किया जाए क्योंकि प्रबंधकीय कुशलता के अभाव में संगठन के उपलब्ध साधनों को अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है और जिससे संगठन के उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं।

अत्यधिक संसदीय नियंत्रण और सार्वजनिक जवाबदेही : सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबंधक अत्यधिक संसदीय नियंत्रण एवं सार्वजनिक जवाबदेही के कारण भी कुशलतापूर्वक प्रबंध-

कीय कार्य नहीं चला पाते हैं। प्रबंधकीय कुशलता बनाए रखने और उसमें वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रबंधकों को प्रबंधकीय मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाए। परंतु सार्वजनिक उपक्रमों में स्थिति विचित्र है क्योंकि प्रबंधक अपनी रचनात्मक क्षमताओं का प्रयोग नहीं कर सकता है और बार बार उसे सरकारी विभाग के अधिकारियों को कई प्रकार के स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इससे एक ओर तो उसकी प्रबंधकीय स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है और दूसरी ओर प्रबंधक का महत्वपूर्ण समय सरकारी विभाग के विभिन्न अधिकारियों को स्पष्टीकरण देने एवं उनसे पत्र व्यवहार करने में नष्ट हो जाता है। इन दोनों तत्वों से उसकी प्रबंधकीय कुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है और वह सरकारी आदेशों को आगे बढ़ाने में केवल कड़ी बन कर रह जाता है। प्रबंधकीय स्वतंत्रता के अभाव के अतिरिक्त अत्यधिक सामाजिक जवाबदेही भी उसकी प्रबंधकीय क्षमता में क्षीणता उत्पन्न कर सकती है। निश्चित रूप से यह सही है कि सार्वजनिक या राजकीय उपक्रमों में जनता का धन विनियोजित रहता है पर इस धन के प्रयोग के लिए सरकार के प्रति, जनता के प्रति एवं संसद के प्रति जवाबदेही उचित एवं वांछनीय नहीं समझी जा सकती है क्योंकि इस धन का कुशलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि इस पर अत्यधिक नियंत्रण न रख कर प्रबंधक को वित्तीय संचालन में कुछ सीमा तक स्वतंत्रता दी जाए और वित्तीय संचालन में लोच का गुण विद्यमान हो। हालांकि ऐसा कहा जाता है कि सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबंधकों को पर्याप्त स्वायत्तता एवं स्वतंत्रता दी गई है पर व्यवहार में वे अत्यधिक संसदीय नियंत्रण तथा सार्वजनिक जवाबदेही से कुशलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाते हैं और जिससे इन उपक्रमों का अधिकतम प्रभावशाली उपयोग नहीं हो पाया है।

अत्यधिक व्यय एवं अतिपूंजीकरण की समस्या : सार्वजनिक उपक्रमों की सफलता अत्यधिक व्यय तथा अतिपूंजीकरण की स्थिति के फलस्वरूप विपरीत रूप से प्रभावित हुई है क्योंकि सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना अधिकांशत: उन क्षेत्रों में की गई है जो उद्योगीकरण में पिछड़े हुए हैं और उन उपक्रमों को उन औद्योगिक एवं व्यावसायिक कार्यों के लिए भी स्थापित किया गया है जिनकी परिपक्वता में तुलनात्मक रूप से अधिक समय लगता है। इन सब कारणों से उनके व्ययों में वृद्धि स्वाभाविक है। यह प्रयत्न किए जाने चाहिए कि इन उपक्रमों में अवांछनीय व्यय कम किए जाएं। इसके अतिरिक्त कुछ सार्वजनिक उपक्रमों में अतिपूंजीकरण की स्थिति भी पाई गई है जिससे उन उपक्रमों की लाभ क्षमता में क्षीणता उत्पन्न होती जा रही है, जैसे हेवी इंजीनियरिंग निगम, हिंदुस्तान एरोनोटिक्स, उर्वरक निगम की ट्रांबे में स्थित इकाई आदि। इन उपक्रमों में अतिपूंजीकरण का मुख्य कारण पूंजी का अकुशल प्रबंध एवं संचालन रहता है, इसके अतिरिक्त कुछ दशाओं में पर्याप्त साधनों की उपलब्धता एवं प्रबंध में अकुशलता से भी अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हुई है। इस स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक है कि इन संस्थाओं में पूंजी का जो भाग कुशलतापूर्वक प्रयोग में नहीं लाया जा रहा है उसे उन उपक्रमों में प्रयोग में लाया जाए जहां अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता हो ताकि सभी उपक्रम पूर्ण क्षमतापूर्वक कार्य कर सकें।

श्रम संबंधी समस्याएं : प्रत्येक औद्योगिक एवं व्यावसायिक कार्य के लिए श्रम महत्वपूर्ण घटक है क्योंकि बिना श्रम के गैर मानवीय साधनों का प्रयोग संभव नहीं है। सार्वजनिक उपक्रम श्रम संबंधी समस्याओं से भी ग्रस्त हैं क्योंकि आए दिन इन उपक्रमों में श्रमिकों की हड़तालें होती रहती हैं, जैसे दुर्गापुर स्टील प्लांट, सिंदरी फर्टीलाइजर प्लांट, हेवी इलैक्ट्रीक्स भोपाल श्रम समस्याओं से अधिक पीड़ित रहते हैं। इसका मुख्य कारण अकुशल श्रम नीतियों का कार्यान्वयन है क्योंकि श्रमिक मूल रूप से मानव है, उसकी अपनी प्रतिष्ठा

होती है और उसे कार्य निष्पादन में तब संतोष प्राप्त हो सकता है यदि उसे वही कार्य सौंपा जाए जिसको निष्पादित करने के लिए उसमें रुचि, योग्यता एवं अनुभव हो। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की तमाम भौतिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक है अन्यथा वे अधिकतम कुशलता से कार्य नहीं कर सकते हैं।

हालांकि सार्वजनिक उपक्रमों को आदर्श नियोक्ता का प्रतीक समझा जाता है पर व्यवहार में स्थिति भिन्न है। इन उपक्रमों में सरकारी कर्मचारियों को प्रबंधक के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है और वे अपने तानाशाही व्यवहार के कारण श्रमिकों को अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरित करने में अकुशल सिद्ध हुए हैं। इन सब कारणों के अलावा वेतन का विवेकपूर्ण ढांचा, श्रम कल्याण योजनाओं का क्रियान्वयन, श्रमिकों को उनकी क्षमता का पूर्ण विकास करने का अवसर प्रदान किया जाना और लाभभागिता में उन्हें सम्मिलित किया जाना, श्रम संबंधी समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक समझा गया है। तभी ये उपक्रम आदर्श नियोक्ता की स्थिति में समझे जा सकते हैं। श्रम समस्याओं से भी इन उपक्रमों की कुशलता विपरीत रूप से प्रभावित हुई है और जब तक कुशल श्रम नीतियों का निर्धारण एवं क्रियान्वयन नहीं किया जाएगा श्रमिकों से अधिकतम कार्य नहीं लिया जा सकता है।

मूल्य निर्धारण की समस्याएं : सार्वजनिक उपक्रमों में मूल्य निर्धारण की समस्या भी प्रमुख है क्योंकि कुछ लोग तो यह चाहते हैं कि इन उपक्रमों को 'न लाभ न हानि' के सिद्धांत पर संचालित किया जाना चाहिए और कुछ विद्वानों का मत है कि सार्वजनिक उपक्रमों को कुछ लाभ अवश्य अर्जित करना चाहिए। इन उपक्रमों को भी व्यावसायिक सिद्धांतों पर संचालित किया जा रहा है अतः इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को उचित मूल्य में बेच कर कुछ लाभ कमाया जा सकता है। लाभ कमाने का यह तत्व प्रत्येक उपक्रम के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि कुछ स्थितियों में इन उपक्रमों को पूर्णतया सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करनी पड़ती है अथवा राष्ट्रहित में कार्य करना पड़ता है। फिर भी यदि ये उपक्रम अधिकतम कुशलता से कार्य करें तो कुछ लाभ अर्जित करना अनुचित एवं असंभव नहीं है। इस संबंध में सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा मूल्य निर्धारण के लिए तीन मुख्य सिद्धांत लागू किए हैं : प्रथम, सार्वजनिक उपक्रम आर्थिक इकाई है, इसकी कुशलता एवं लाभ क्षमता में वृद्धि करने के लिए सभी प्रयास किए जाने चाहिए। द्वितीय, जिन सार्वजनिक उपक्रमों को निजी क्षेत्र की संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होगा। तृतीय, यदि सार्वजनिक उपक्रम को एकाधिकार अथवा अर्धएकाधिकार की स्थिति प्राप्त है तो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य, सामान्यतः उसी प्रकार की आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य से अधिक नहीं होना चाहिए।

इन समस्याओं के अतिरिक्त सार्वजनिक उपक्रमों में उत्पादन नियोजन का अभाव भी विद्यमान है जिसके कारण ये उपक्रम अपनी पूर्ण उत्पादन क्षमता पर कार्य नहीं कर पाते हैं, इससे उनकी उत्पादन कुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है। कुछ स्थितियों में यह भी पाया गया है कि सरकार उपक्रम को संचालित करने के लिए उपयुक्त स्वरूप का निर्धारण उचित प्रकार से नहीं कर पाती है और आवश्यकता पड़ने पर स्वरूप में परिवर्तन करने पड़ते हैं जिससे उनमें अनिश्चितता का तत्व उत्पन्न होता है।

सार्वजनिक क्षेत्र की उपरोक्त समस्याओं एवं कमियों का वर्णन करने से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश समस्याएं उपलब्ध मानवीय तथा गैर मानवीय साधनों के उपयोग से संबंधित हैं क्योंकि कुछ उपक्रमों में श्रम समस्याएं व्याप्त हैं तो कुछ स्थितियों में उपक्रम अतिपूंजीकृत है और कुछ स्वरूपों के अंतर्गत अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप से प्रबंध-

कीय क्षमता में क्षीणता उत्पन्न हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब तक इन उपक्रमों की कुशलता में वृद्धि नहीं की जाएगी तब तक न तो ये अपने उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं और न इस क्षत्र के महत्व को साकार ही बनाया जा सकता है क्योंकि इस क्षेत्र की महत्ता में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि ये उपक्रम अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें। उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए प्राप्त साधनों का कुशल एवं प्रभावशाली प्रयोग नितांत आवश्यक है। संक्षेप में, सार्वजनिक क्षेत्र की सफलता इस बात में निहित है कि इनकी समस्त समस्याओं एवं कमियों का समय समय पर अध्ययन करके उनका समाधान करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किए जाएं ताकि आर्थिक एवं औद्योगिक ढांचे के इस महत्वपूर्ण अंग को प्रभावशाली बना कर आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की गति में वृद्धि की जा सके और वर्गरहित समाज का स्थापना की ओर बढ़ा जा सके।

7

व्यावसायिक संयोजन

व्यावसायिक संयोजन औद्योगिक क्रांति की देन है क्योंकि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा अतिरिक्त उत्पादन की खपत करने के लिए आवश्यक साधनों के विकास को प्रोत्साहन मिला। वस्तुओं का उत्पादन बड़ पैमाने पर संचालित करने के लिए व्यवसाय के महत्वपूर्ण स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी को जन्म मिला ताकि पर्याप्त बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोजन करके बड़ी बड़ी मशीनें एवं अन्य आवश्यक उत्पादन के उपकरण खरीदे जा सकें और बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए अन्य समस्त साधन उपलब्ध कराए जा सकें और व्यावसायिक संस्था बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं तथा अन्य लाभ प्राप्त कर सके। व्यवसाय में विस्तार की इस आवश्यकता से औद्योगिक संस्थाओं में प्रतिस्पर्धा बढ़ती गई, यहां तक कि प्रतिस्पर्धा की इस दौड़ में सफलता प्राप्त करने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। धीरे धीरे व्यावसायिक जगत में व्याप्त इस अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के दुष्परिणामों को समाप्त करने के लिए और इससे उद्योगों में बढ़ती हुई अकुशलता तथा क्षीणता को कम करने के लिए उद्योगपतियों तथा व्यापारियों ने यही उचित समझा कि वे आपस में मिलजुलकर एक दूसरे के सहयोग से कार्य करें। इसके अतिरिक्त औद्योगिक इकाइयों के आकार में असमानता, सरकार का व्यवसाय में दिन प्रतिदिन बढ़ता हस्तक्षेप तथा अन्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों आदि ने व्यावसायिक जगत को इस बात पर गंभीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर दिया कि वे व्यावसायिक क्षेत्र में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए एकता की भावना से पारस्परिक सहयोग के साथ संयुक्त रूप से कार्य करें। इसी भावना के व्यावहारिक रूप ने संयोजन की स्थिति को जन्म दिया। हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी तक औद्योगिक इकाइयों का विस्तार जनता एवं सरकार के हित में नहीं समझा जाता था क्योंकि उद्योगपति औद्योगिक इकाइयों का प्रयोग पूर्णतया अपने निजी स्वार्थों के लिए करते थे और उनका मुख्य उद्देश्य किसी न किसी प्रकार आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण करके बाजार में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करना तथा ग्राहकों का शोषण करके अधिकतम लाभ कमाना था। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात ग्राहकों के शोषण को रोकने के लिए तथा आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को नियंत्रित करने के लिए, केंद्रीय सरकार ने उद्योगों के अनावश्यक विस्तार पर कड़ी निगरानी रखी और समाज के विभिन्न वर्गों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए ग्राहकों में जागृति उत्पन्न की। व्यवसायी को इस बात का आभास हुआ कि संपूर्ण समाज, ग्राहक, मजदूर वर्ग तथा देश की सरकार के प्रति भी उसकी कुछ जिम्मेदारियां हैं जिनको न निभाने से व्यवसाय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। इस विचार से व्यावसायिक संयोजनों को औद्योगिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना समझा जाता है क्योंकि अब व्यवसाय में

विस्तार से उद्योगपति अधिक लाभ कमा सकता है साथ ही इससे ग्राहकों को भी उचित किस्म की वस्तु उचित मूल्य पर प्राप्त हो सकती है। श्रमिकों की कार्य करने की स्थिति में सुधार करके उनकी कार्यक्षमता बढ़ाई जा सकती है। बेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है और सरकारी खजाने में वृद्धि की जा सकती है।

इससे यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक संयोजन केवल उद्योगपतियों तथा व्यापारियों की स्वार्थसिद्धि का ही परिणाम नहीं है बल्कि अन्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कारण भी व्यावसायिक संयोजन में सहयोगी रहे हैं। हालांकि प्रारंभ में व्यावसायिक संयोजनों को अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा ने जन्म दिया था परंतु बाद में अन्य तमाम कारणों से भी इनको प्रोत्साहन मिला है जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

सामान्य तौर से संयोजन का अर्थ दो या दो से अधिक व्यक्तियों या व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा कुछ विशेष उद्देश्यों को पूरा करने हेतु अपने कार्यों को संयुक्त एवं संयोजित करना है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट नहीं होता है कि संयोजन का वास्तविक रूप किस प्रकार का होता है अर्थात व्यावसायिक संस्थाएं अपने कार्यों को कैसे संयोजित करती हैं।

इस संबंध में एल० एच० हैने द्वारा दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार, 'संयोजित होने का अर्थ कुछ सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए व्यक्तियों का एक समुदाय के रूप में संगठित होना है।' हैने की इस परिभाषा के अनुसार व्यावसायिक संयोजन किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। यह सामान्य उद्देश्य मूल्यों को नियमित करना, उत्पादन में नियमितता लाना, या व्यावसायिक संस्थाओं के अस्तित्व को कायम रखना हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि संयोजन का रूप पूर्ण का एक भाग बनना हो सकता है, जैसे संस्थाओं का एकीकरण या विलयन आदि या संयोजन केवल व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा आपस में संगठित होकर भी बनाया जा सकता है, जैसे व्यापारिक मंडल, कार्टेल्स, पूल्स इत्यादि।

पूर्णाकार का भाग बनने में तो संस्था अपना अस्तित्व खोकर नई संस्था का एक हिस्सा बन जाती है। संगठन पर आधारित संयोजन में व्यावसायिक संस्थाएं अपने व्यवसाय की पृथकता एवं स्वतंत्रता को बनाए रखती हैं परंतु कुछ व्यावसायिक क्रियाओं को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए आपस में कोई समझौता करके या किसी प्रकार से संगठित हो जाती हैं। ये व्यावसायिक संयोजन के दोनों छोर हैं और व्यावसायिक संयोजन इन दो छोरों के बीच किसी स्थिति में किया जा सकता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक संयोजन में दो या दो से अधिक व्यावसायिक संस्थाएं—जो एक ही प्रकार का व्यवसाय कर रही हों या उनका उत्पादन एक दूसरे का पूरक हो, या विपणन के दृष्टिकोण से उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं एक ही पंक्ति में आती हों अथवा एक दूसरे से संबंधित हों—सामूहिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए पारस्परिक समझौते के अंतर्गत समन्वित होकर एवं संगठित होकर कार्य करती हैं या किसी नई संस्था को जन्म देती हैं।

व्यावसायिक संयोजन के कारण

जैसाकि इससे पहले बताया जा चुका है, व्यावसायिक संस्थाएं कई राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक कारणों से तथा पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण तथा अन्य कई कारणों से बने हैं। इनमें से कुछ मुख्य कारणों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. अस्वस्थ एवं कटु प्रतियोगिता : व्यवसाय में अस्वस्थ तथा कटु प्रतिस्पर्धा को व्यावसायिक संयोजनों का मूल कारण माना जाता है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व व्यावसायिक संस्थाओं में प्रतिस्पर्धा का तत्व इतना पनप चुका था कि उसके परिणाम से एक

ओर तो छोटी छोटी संस्थाएं अपना अस्तित्व कायम न रख सकीं और दूसरी ओर बाजार में अधिक हिस्सा प्राप्त करने के लिए संस्थाओं ने विज्ञापन, प्रचार तथा यातायात आदि में अनावश्यक एवं अनुपयोगी व्यय किए जिसके कारण व्यवसाय में अकुशलता तथा क्षीणता पनपती गई और वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के कारण कुछ संस्थाएं अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग नहीं कर सकीं जिससे समाज के साधनों का दुरुपयोग संभव था और एक स्थिति में व्यवसायों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से बढ़ती हुई अकुशलता तथा क्षीणता को कम करने के लिए पारस्परिक सहयोग को ही उचित उपाय समझा गया जो व्यावसायिक संयोजन के रूप में हमारे सम्मुख है।

किम्बल और किम्बल के शब्दों में व्यावसायिक संयोजन घातक प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए अस्तित्व में आए।

2. बड़े पैमाने के व्यवसाय की मितव्ययताएं : बड़े पैमाने के व्यवसाय की समस्त मितव्ययताओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से भी व्यावसायिक संयोजनों को प्रोत्साहन मिला क्योंकि यदि दो या दो से अधिक छोटी संस्थाएं आपस में मिलकर नई संस्था स्थापित कर लें तो स्वाभाविक रूप से नई स्थापित संस्था के कारोबार के पैमाने में भी वृद्धि होगी और इस प्रकार संयोजित होने वाली संस्थाओं के सामान्य व्ययों में मितव्ययता प्राप्त की जा सकेगी, जैसे संचालन एवं प्रबंध व्यय, विपणन व्यय आदि। इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से कच्चे माल का क्रय, बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग एवं कुशल तथा निपुण कर्मचारियों की नियुक्ति से संबंधित समस्त लाभ प्राप्त किए जा सकेंगे। इस प्रकार प्राप्त मितव्ययताओं एवं लाभों से वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आएगी और व्यावसायिक संस्थाएं उचित मूल्य पर उचित किस्म की वस्तुएं प्रदान करके अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकती हैं।

3. एकाधिकार की इच्छा : उद्योगपतियों की बाजार में एकाधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी व्यावसायिक संयोजन का एक महत्वपूर्ण कारण है क्योंकि यदि व्यावसायिक संस्थाएं, जो एक ही प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर रही हैं, आपस में मिल कर बड़ी इकाई की स्थापना कर लें तो इससे प्रतिस्पर्धा समाप्त होती जाएगी और कुछ ही संस्थाएं बाजार में एकाधिकार की स्थिति प्राप्त कर लेंगी। इससे वे वस्तुओं के मूल्यों एवं बिक्री से संबंधित शर्तों को अपनी इच्छानुसार निर्धारित कर सकती हैं। विशेष रूप से उन परिस्थितियों में जबकि वस्तु की मांग बेलोचदार हो। एकाधिकार की स्थिति व्यवसायी के लिए सबसे अधिक लाभप्रद होती है।

4. यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास : यातायात तथा संचार व्यवस्था में विकास के फलस्वरूप यातायात एवं संचार के तीव्र गति वाले प्रगतिशील साधनों के विकास ने भी व्यावसायिक संयोजनों को प्रोत्साहित किया है क्योंकि यातायात तथा संचार के विकसित साधनों के माध्यम से तुलनात्मक रूप से काफी कम समय में उत्पादित वस्तुओं को दूर दूर स्थानों तक आसानी से पहुंचाया जा सकता है और वस्तुओं के बाजार का विस्तार किया जा सकता है। बाजार में विस्तार से वस्तुओं की मांग में वृद्धि को पूरा करने के लिए बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन आवश्यक है। बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य करने के लिए छोटी छोटी औद्योगिक इकाइयां आपस में संयोजित होने लगीं ताकि उत्पादन के साधनों का एकत्रीकरण करके बड़े पैमाने पर वस्तुएं उत्पादित की जा सकें।

5. व्यापारिक चक्र : व्यवसाय में विभिन्न व्यापारिक चक्रों के घातक परिणामों को सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने के लिए तथा व्यवसाय में स्थिरता बनाए रखने के लिए संयोजन एकमात्र उपाय समझा जाता है क्योंकि आर्थिक समृद्धि के युग में जबकि आर्थिक क्रियाएं चरम सीमा पर होती हैं वस्तु की मांग में वृद्धि को पूरा करने के लिए लगभग

प्रत्येक संस्था, चाहे वह छोटे आकार की हो या बड़े आकार की, कुशल हो अथवा अकुशल, कम से कम उचित दर का लाभ कमा लेती हैं। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए नई नई संस्थाएं भी स्थापित की जाती हैं पर इसके बाद जब आर्थिक मंदी का युग आता है जिसमें वस्तुओं की मांग काफी कम हो जाती है तो औद्योगिक संस्थाओं के लिए यह संभव नहीं होता है कि वे आपस में कटु प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकें और अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग कर सकें। यहां तक कि मूल्यों में कमी करके भी अपर्याप्त मांग के कारण वस्तुएं बेचना काफी कठिन हो जाता है। इस स्थिति में विभिन्न छोटी छोटी संस्थाएं या तो संयोजित हो जाती हैं और या उन्हें अपना व्यवसाय बंद करना पड़ता है। अधिकांश दशाओं में व्यवहार में यह पाया जाता है कि कमजोर एवं छोटे आकार की इकाइयां आपस में संयोजित होकर इस आर्थिक मंदी का मुकाबला करती हैं।

6. प्रशुल्क एवं संरक्षण नीति : प्रत्येक देश अपने औद्योगिक विकास के लिए अन्य देशों से किए जाने वाले आयात तथा उनको वस्तुएं निर्यात करने पर प्रतिबंध लगाता रहता है। यदि वस्तुओं का आयात नियमित एवं नियंत्रित न किया जाए तो देश के लोग अपनी आवश्यकताओं की उन वस्तुओं को भी जो देश के उद्योगों द्वारा उत्पादित की जा सकती हैं, अन्य देशों से क्रय करना चाहेंगे। इससे देश के उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति को रोकने के लिए सरकार अपने देश के उद्योगों को विभिन्न प्रकार से संरक्षण प्रदान करती है। ठीक इसी प्रकार विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए उन वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित किया जाता है जो देश के उद्योगों द्वारा आसानी से अधिक मात्रा में उत्पादित की जा सकती हैं। सरकार द्वारा इस प्रकार दिए जाने वाले संरक्षण तथा अन्य प्रोत्साहनों का लाभ उठाने के लिए नई व्यावसायिक संस्थाएं स्थापित होने लगती हैं और धीरे धीरे उनमें बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा तथा वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति में असंतुलन के कारण फिर वही स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें प्रत्येक संस्था अपना अस्तित्व कायम नहीं रख पाती है और अस्तित्व में स्थिरता बनाए रखने के लिए कमजोर एवं छोटी इकाइयां आपस में संयोजित होने लगती हैं।

7. संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप का विकास : ऐतिहासिक रूप से व्यावसायिक संयोजन संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के विकास से संबंधित है और संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप के विकास से व्यावसायिक संयोजन के आंदोलन को बल मिला है क्योंकि इस स्वरूप के विकास से एक ओर तो छोटे छोटे एकल व्यापारी तथा साझेदारी संस्थाएं बड़े पैमाने के व्यवसाय के लाभ व मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए आपस में संयोजित होने लगीं और दूसरी ओर छोटी छोटी कंपनियां जो बड़ी बड़ी कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा का मुकाबला नहीं कर पाईं वे बड़ी कंपनियों में विलीन होने लगीं। कुछ दशाओं में सामान्य खर्चों में मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए भी विभिन्न कंपनियां एक दूसरे से संयोजित होकर कार्य करने लगीं।

8. विवेकीकरण : व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन में तमाम क्षीणताओं एवं अपव्ययों को कम किया जाए और साथ ही उत्पादन क्षमता का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जाए। इससे वस्तुओं की उत्पादन लागत में कमी आएगी और संस्था प्रतिस्पर्धा का मुकाबला कर सकेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि उद्योग के अंतर्गत संस्थाएं आपस में मिलकर सुव्यवस्थित ढंग से वस्तुओं का उत्पादन करें ताकि बेकार उत्पादन क्षमता का आपस में मिलकर पूर्ण प्रयोग करने के लिए, दुर्लभ कच्चे माल का प्रयोग करने के लिए और उत्पादित वस्तुओं का प्रमापीकरण करने के लिए, उनमें संबंधों का पुनर्गठन करके यह क्षमता लाई जा सके। इससे व्यावसायिक संयोजन और प्रोत्साहित होते हैं।

9. विशाल आकार से सम्मान की इच्छा : व्यवसाय में भी मानव प्रतिष्ठा का तत्व सम्मिलित है क्योंकि व्यवसायी सदैव यह प्रयत्न करता है कि वह एक बड़े उपक्रम का स्वामी कहलाए तथा उसे व्यावसायिक समुदाय और समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो। सम्मान प्राप्त करने की इच्छा से वह या तो बड़ी व्यावसायिक संस्था में हिस्सेदार बन जाता है, या अपने व्यवसाय को विशाल बनाने के लिए उसे पुनर्गठित करता है। मानव प्रतिष्ठा का यह तत्व भी संयोजन में सहायक सिद्ध होता है।

10. आत्मनिर्भरता : यदि किसी वस्तु की उत्पादन विधि काफी जटिल एवं विस्तृत है जिसमें वस्तु को तैयार माल का रूप देने के लिए संबंधित कच्चा माल विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है और प्रत्येक अवस्था में उत्पादन कार्य अलग अलग संस्था द्वारा निष्पादित किया जा रहा है तो इन विभिन्न अवस्थाओं में उत्पादन कार्य को समन्वित, नियमित एवं सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करके विभिन्न मितव्ययिताएं प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न अवस्थाओं में संलग्न इकाइयां आपस में संयोजित होने लगती हैं और इस प्रकार एक दूसरे पर निर्भर रहने के बजाय आत्मनिर्भर हो जाती हैं।

11. सरकार का व्यवसाय में हस्तक्षेप : व्यवसाय में सरकार के नियंत्रण एवं हस्तक्षेप को अनुकूल बनाए रखने के लिए व्यावसायिक जगत में पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत हुई है क्योंकि जब कभी सरकार किसी उद्योग से संबंधित कोई कानून पास करती है तो उस उद्योग की अधिकांश इकाइयां आपस में संयोजित होकर सरकार के पास अपना प्रतिनिधि भेजती हैं और एकता के साथ उस कानून का विरोध करके कुछ सीमा तक उसे अपने हित में बना लेती हैं।

12. प्लांट एवं मशीनों का आधुनिकीकरण : विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप समय समय पर उत्पादन के लिए भी नई उपयुक्त मशीनों का आविष्कार होता रहता है। संस्था को इन मशीनों को क्रय करने या अपनी विद्यमान मशीनों तथा प्लांट का आधुनिकीकरण करने या नवीकरण करने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए छोटी छोटी संस्थाएं आपस में मिलकर बड़ी संस्था स्थापित कर लेती हैं ताकि उद्योग अपने व्यवसाय में मशीनों तथा अन्य उपकरणों का आधुनिकीकरण अथवा नवीकरण करने के लिए आवश्यक पर्याप्त पूंजी जुटा सकें।

13. उत्पादन में विविधता : व्यवसाय में वस्तुओं की मांग में परिवर्तन के जोखिम को कम करने के उद्देश्य से भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उत्पादित करने वाली संस्थाएं आपस में संयोजित हो सकती हैं। यदि संस्था एक ही वस्तु का उत्पादन कर रही है तो वस्तु की मांग में कभी भी अवांछनीय परिवर्तन हो सकते हैं और संस्था इस प्रकार की हानि का सामना नहीं कर पाती है। अत: अलग अलग वस्तुएं उत्पादित करने वाली कई संस्थाएं आपस में संयोजित होकर वस्तु की मांग में परिवर्तन के जोखिम का विभिन्न वस्तुओं में फैलाव कर देती हैं।

14. कुशल एवं निपुण प्रबंधकों की सेवाओं का प्रयोग : व्यावसायिक क्रियाएं दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही हैं। उनको सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विशिष्ट प्रबंधकीय क्षमता वाले प्रबंधकों की आवश्यकता पड़ती है और यह क्षमता कुछ गिने चुने व्यक्तियों में ही पाई जाती है। इसीलिए दुर्लभ, चतुर एवं कुशल प्रबंधकों की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए और उनका निर्देशन प्राप्त करने के उद्देश्य से औद्योगिक इकाइयां आपस में प्रबंधकीय गठजोड़ कर लेती हैं अर्थात प्रबंधकीय स्तर पर संयोजित हो जाती हैं, जैसे संचालकों का गँठजोड़ (इंटरलाकिंग आफ डाइरेक्टरशिप)।

व्यावसायिक संयोजन के उपरोक्त कारण हमें इस निष्कर्ष परप हुंचने में सहायता प्रदान करते हैं कि व्यावसायिक संयोजन का मूल कारण व्यावसायिक जगत में एकता,

परस्पर सहयोग एवं सामान्य उद्देश्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए आपस की अस्वस्थ एवं कटु प्रतियोगिता समाप्त करना रहा है। कटु प्रतिस्पर्धा वास्तव में व्यवसाय के लिए घातक है, क्योंकि इससे विभिन्न छोटे आकार की संस्थाएं प्रतिस्पर्धा न कर सकने के कारण समाप्त हो जाती हैं, व्यवसाय में क्षीणता तथा अपव्यय बढ़ने लगते हैं एवं संस्थाएं अपनी वस्तुएं कम मूल्यों पर बेचना प्रारंभ कर देती हैं जो कि संस्था को तेजी से हानि की स्थिति में पहुंचा देती है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक जगत में बड़े पैमाने के व्यवसाय की मितव्ययताएं एवं लाभों की प्रेरणा को भी व्यावसायिक संस्थाओं के संयोजन का मूल कारण समझा जा सकता है क्योंकि व्यवहार में यह पाया गया है कि विभिन्न छोटी छोटी संस्थाएं अपने उत्पादन को सुव्यवस्थित एवं नियमित करने के उद्देश्य से भी आपस में संयोजित हुई हैं ताकि वे भी बड़े पैमाने के उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त करके अपनी उत्पादन लागत कम कर सकें।

संयोजनों के प्रकार

व्यावसायिक संयोजन निम्न प्रकार के हो सकते हैं :

1. समतल या क्षैतिज संयोजन
2. शीर्ष या लंबवत संयोजन
3. पार्श्व संयोजन
4. चक्रीय संयोजन
5. विकर्णी संयोजन।

समतल या क्षैतिज संयोजन

यदि दो या दो से अधिक औद्योगिक इकाइयां जो एक ही प्रकार की या मिलती जुलती वस्तुओं का उत्पादन कर रही हों, अपने सामान्य हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण के स्वरूप में आ जाएं तो इस प्रकार का संयोजन समतल या क्षैतिज संयोजन कहलाता है। इस प्रकार के संयोजन में जो संस्थाएं सम्मिलित होती हैं वे एक ही प्रकार की वस्तु के उत्पादन कार्य में संलग्न होती हैं, जैसे 'इंपीरिकल टोबैको कंपनी', 'एसोसियेटेड सिमेंट कंपनी' तथा 'हिंदुस्तान स्टील कंपनी' आदि। इस प्रकार के संयोजनों में प्रतिस्पर्धात्मक संस्थाएं जो एक ही वस्तु का उत्पादन कर रही हैं, अपने सामान्य अथवा सामूहिक हितों की सुरक्षा करने के लिए आपस में संयोजित होती हैं। इंपीरिकल टोबैको कंपनी तंबाकू एवं सिगरेट का उत्पादन करने वाली विभिन्न संस्थाओं का संयोजन है और एसोसियेटेड सिमेंट कंपनी में सिमेंट का उत्पादन करने वाली विभिन्न संस्थाएं सम्मिलित हैं। इसी प्रकार हिंदुस्तान स्टील कंपनी विभिन्न स्टील कंपनियों के संयोजन से बनी है। इस प्रकार के संयोजन को समान स्तर की संस्थाओं का सम्मिलन भी कहा जा सकता है।

विशेषताएं : 1. समतल संयोजन एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करने वाली प्रतियोगी संस्थाओं का संयोजन है।

2. इस प्रकार के संयोजन में संयोजित होने वाली संस्थाएं एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवंनियंत्रण में कार्य करती हैं।

3. समतल संयोजन का मुख्य उद्देश्य पारस्परिक प्रतिस्पर्धा कम करना, बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययताएं प्राप्त करना, मांग एवं उत्पादन में संतुलन बनाए रखना तथा बिक्री में नियंत्रण प्राप्त करना हो सकता है।

लाभ : 1. जैसाकि समतल संयोजन की विशेषताओं से प्रकट होता है यह संयोजन समान

स्तर की संस्थाओं का संयोजन है जिनमें परस्पर अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। यदि वे संस्थाएं आपस में संयोजित हो जाती हैं तो उनके बीच कटु एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा समाप्त होना स्वाभाविक है।

2. समतल संयोजन के फलस्वरूप एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करने वाली संस्थाएं एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण में आ जाती हैं और उनके उत्पादन का आकार बड़ा हो जाता है। इससे उन्हें न केवल बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययताएं ही प्राप्त होती हैं बल्कि वे सामान्य व्ययों, जैसे विपणन व्यय, प्रबंध व्यय आदि में भी बचतें प्राप्त करती हैं।

3. एक ही उद्योग में संलग्न संस्थाओं के आपस में परस्पर सहयोग तथा समन्वित होकर कार्य करने से वस्तु के बाजार में उन्हें नियंत्रण प्राप्त हो सकता है और वे बाजार में एक मजबूत स्थिति प्राप्त करके विक्रय मूल्य तथा वस्तु विक्रय की तमाम शर्तों का स्वयं निर्धारण करके लाभ में वृद्धि कर सकती हैं।

4. एक ही प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने वाली संस्थाएं संयोजित होकर उत्पादन को नियमित कर सकती हैं ताकि वस्तु की मांग एवं पूर्ति में संतुलन बना रहे। इससे मूल्यों में परिवर्तन की संभावना कम हो जाती है और इस प्रकार ग्राहक तथा उत्पादक दोनों लाभान्वित हो सकते हैं।

5. समतल संयोजन से आपस में संयोजित होने वाली संस्थाओं की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ हो जाती है क्योंकि विभिन्न संस्थाओं के आर्थिक साधन एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण में आ जाते हैं। लाभ स्थिति अच्छी होने से वे अर्जित लाभों में से कुछ राशि संचित कोषों में भविष्य की अनिश्चितताओं का मुकाबला करने के लिए सुरक्षित रख सकती हैं।

6. समतल संयोजन में सम्मिलित संस्थाओं में से कुछ अकुशल भी हो सकती हैं जो किन्हीं कारणों से अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग न कर पा रही हों। पर संयोजन से पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के बजाय पारस्परिक सहयोग उत्पन्न होने के कारण उनके अस्तित्व में भी स्थिरता आ जाती है (जो कि अन्यथा अकुशलता के कारण समाप्त हो सकती थी)।

दोष : 1. समतल संयोजन आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न संस्थाओं के समस्त आर्थिक साधन एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण में आ जाते हैं। इन साधनों पर जिन व्यक्तियों का नियंत्रण रहता है वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए प्राप्त साधनों का दुरुपयोग भी कर सकते हैं।

2. एकाधिकार की स्थिति : समतल संयोजन से एकाधिकार की स्थिति भी उत्पन्न होती है क्योंकि एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करने वाली संस्थाएं संयोजित होकर बाजार में मजबूत स्थिति प्राप्त कर लेती हैं और मनमाने ढंग से वस्तुओं के विक्रय मूल्य तथा विक्रय संबंधी शर्तों का निर्धारण करके ग्राहकों के हितों को ठेस पहुंचाती हैं।

3. स्थिति का लाभ उठाने के लिए समतल संयोजन में सम्मिलित संस्थाएं जान-बूझकर वस्तुओं के उत्पादन को प्रतिबंधित करके कृत्रिम मांग उत्पन्न कर देती हैं ताकि वस्तुओं को ऊंचे मूल्यों पर बेच कर अधिक लाभ कमाया जा सके।

4. व्यवसाय के आकार की विशालता तथा लाभ अर्जित करने की स्थिति में सुदृढ़ता सरकार का हस्तक्षेप आमंत्रित करते हैं, क्योंकि अधिक लाभ कमाने से सामान्य तौर पर यह संदेह उत्पन्न होता है कि व्यवसाय में ग्राहक, श्रमिक तथा अन्य संलग्न वर्गों के हितों को पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं रखा जा रहा है। सरकार ऐसे व्यवसाय को नियमित या नियंत्रित करने के लिए किसी न किसी प्रकार हस्तक्षेप करती रहती है।

5. समतल संयोजन से अतिपूंजीकरण की स्थिति को भी जन्म मिल सकता है।

समस्त आर्थिक साधनों का कुछ ही गिने-चुने व्यक्तियों के हाथों में नियंत्रण होने से वे अनावश्यक रूप से पूंजी एकत्र कर सकते हैं और या प्राप्त पूंजी का कुशलतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकते हैं। इससे संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में क्षीणता उत्पन्न हो जाती है।

6. एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करने के लिए कई संस्थाओं के सम्मिलन से स्थापित संस्था में जोखिम का एकत्रीकरण हो जाता है क्योंकि यदि किन्हीं कारणों से वस्तु की मांग कम हो जाए तो इससे मूल्यों में भारी कमी संभव है।

7. व्यावसायिक संस्थाओं में प्रतिस्पर्धा का अभाव एकाधिकार की स्थिति को प्रोत्साहित करता है और इससे ग्राहकों का शोषण भी संभव है।

8. स्वस्थ प्रतिस्पर्धा सदैव व्यावसायिक संस्थाओं की कुशलता में वृद्धि का प्रेरक तत्व है। इसके अभाव में संस्थाओं में अकुशलता तथा क्षीणता उत्पन्न होने लगती है और उनका विकास प्रतिबंधित हो जाता है।

समतल संयोजन के लाभ व दोषों का वर्णन करने के पश्चात इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समतल संयोजन उसी सीमा तक उचित तथा वांछनीय है जहां तक संस्थाएं इस प्रकार संयोजित होकर परस्पर अस्वस्थ एवं कटु प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययताएं प्राप्त कर सकें और व्यवसाय में अकुशलता एवं क्षीणता को कम कर सकें। और इस सीमा के बाहर यदि संयोजित संस्थाएं अनुचित तरीकों से एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करके ग्राहकों का शोषण करने लगती हैं तो इससे समतल संयोजन की उपयोगिता एवं उपयुक्तता भी संदिग्ध हो जाती है।

शीर्ष संयोजन

शीर्ष संयोजन व्यावसायिक संयोजन का दूसरा महत्वपूर्ण प्रकार है। समतल संयोजन के विपरीत इसमें वस्तु की उत्पादन प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए उत्पादन के विभिन्न क्रमों में संलग्न इकाइयों को संयोजित किया जाता है। शीर्ष संयोजन उत्पादन के विभिन्न क्रमों का सम्मिलन कहा जाता है।

किम्बल तथा किम्बल के शब्दों में, 'सम्मिलन में कच्चे माल से लेकर ग्राहक तक, एक ही पंक्ति की वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की समस्त क्रमिक अवस्थाओं पर वांछनीय नियंत्रण प्राप्त करने के सभी प्रयत्न शामिल होते हैं।'

इस परिभाषा के अनुसार शीर्ष संयोजन में एक ही पंक्ति की वस्तुओं के उत्पादन अथवा वितरण में विभिन्न क्रमों में संलग्न समस्त संस्थाओं को संयोजित कर दिया जाता है ताकि उत्पादन तथा वितरण के विभिन्न क्रमों को एक दूसरे से समन्वित करके वस्तुएं ग्राहकों को प्रदान की जा सकें। इसी प्रकार रोबिन्सन के शब्दों में, 'एक ही उद्योग की क्रमागत क्रियाओं को निष्पादित करने वाली इकाइयों का संयोजन शीर्ष संयोजन कहलाता है।'

किसी भी वस्तु को उत्पादित करने के लिए कच्चे माल को तैयार माल में परिणत करने हेतु कच्चे माल को विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। उत्पादन की ये क्रमागत अवस्थाएं स्वतंत्र एवं पृथक इकाइयों द्वारा संचालित की जाती हैं। इन सब इकाइयों को संयोजित करके पूर्ण संस्था में (जिसे समस्त क्रमों का नियंत्रण प्राप्त हो) बदल देना शीर्ष संयोजन कहलाता है। कपास से कपड़ा तैयार करने के लिए, कपास विभिन्न क्रमागत अवस्थाओं से अर्धतैयार माल के रूप में गुजरता है और कई प्रक्रियाओं के बाद कपड़ा तैयार होता है। सर्वप्रथम कपास को चुना जाता है, उसे ओटा जाता है फिर उसकी धुनाई की जाती है, तब उससे धागा निकाला जाता है। फिर कपड़े की बुनाई की

जाती है, उसके बाद रंगाई एवं छपाई का कार्य किया जाता है। यदि इन विभिन्न प्रक्रियाओं में संलग्न समस्त इकाइयों को मिलाकर एक पूर्ण संस्था की स्थापना कर दी जाए तो यह शीर्ष संयोजन कहलाएगा। इसी प्रकार सरसों से तेल का उत्पादन करने के लिए सफाई, पिराई तथा अन्य परिरूपण क्रियाएं करने वाली समस्त संस्थाओं को मिलाया जा सकता है। यह शीर्ष संयोजन कहलाता है।

विशेषताएं : 1. शीर्ष संयोजन उन उद्योगों में संभव है जिनमें कच्चे माल को तैयार माल में परिणत होने के लिए विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

2. शीर्ष संयोजन में एक ही वस्तु के उत्पादन में संलग्न विभिन्न क्रमिक पृथक संस्थाओं को संयोजित किया जाता है।

3. शीर्ष संयोजन में एक ही पंक्ति की वस्तुओं का वितरण करने में विभिन्न क्रमागत अवस्थाओं का भी सम्मिलन सम्मिलित है।

4. शीर्ष संयोजन दो प्रकार से किया जाता है : अग्रगामी संयोजन तथा प्रतिगामी संयोजन। यदि किसी उद्योग में वस्तुओं का उत्पादन करने के पश्चात उसके वितरण से संबंधित सहायक उद्योगों को उत्पादन उद्योग में मिला दिया जाए तो इसे अग्रगामी शीर्ष संयोजन कहा जाएगा क्योंकि इसमें उत्पादन से आगे वितरण के कार्य में संलग्न संस्था मूल उत्पादन संस्था से संयोजित हो जाती है जैसे पुस्तक प्रकाशन कार्य में विक्रय कार्य को संयोजित करना।

इसके विपरीत प्रतिगामी शीर्ष संयोजन में मूल उत्पादन उद्योग में उत्पादन कार्य में सहायक संस्था को संयोजित किया जाता है जो मूल उद्योग को कच्चा माल या अर्द्धतैयार माल प्रदान करती है, जैसे कपास उत्पादन कार्य को कपड़ा मिल के साथ संलग्न करना।

लाभ : 1. शीर्ष संयोजन से वस्तु के उत्पादन कार्य में निरंतरता तथा स्थायित्व बनाए रखा जा सकता है क्योंकि इसमें उत्पादन क्रिया की समस्त क्रमागत अवस्थाएं संचालित करने वाली संस्थाएं संयोजित हो जाती हैं और उत्पादन कार्य बिना किसी रुकावट के जारी रखा जा सकता है।

2. शीर्ष संयोजन से उत्पादन से संबंधित समय तथा विभिन्न व्ययों में बचत प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि इसमें पूर्ण उत्पादन क्रिया की समस्त अवस्थाएं एक दूसरे से संबंधित एवं समन्वित हो जाती हैं और एक ही स्थान में स्थित रहती हैं।

3. कुछ दशाओं में शीर्ष संयोजन से उत्पादित वस्तु के बाजार की अनिश्चितता कुछ हद तक समाप्त हो जाती है। विशेष रूप से अग्रगामी शीर्ष संयोजन जिसमें उत्पादन कार्य में वितरण कार्य संयोजित कर दिया जाता है, बाजार की अनिश्चितता समाप्त करने में सहायक है।

4. एक ही वस्तु के उत्पादन से संबंधित समस्त क्रमिक इकाइयों का सम्मिलन हो जाने से वे समस्त इकाइयां एक ही प्रशासनिक स्वरूप के अंतर्गत कार्य करती हैं। इससे प्रशासनिक व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं।

5. शीर्ष संयोजन से नई स्थापित संस्था की कुशलता एवं उत्पादकता में वृद्धि संभव है क्योंकि उत्पादन क्रिया की समस्त क्रमागत अवस्थाएं संयोजित होने से उनमें पूर्णतया संतुलन एवं समन्वय बनाए रखा जा सकता है और पूर्ण उत्पादन क्रिया नियोजित कार्यक्रम के अनुसार संचालित की जा सकती है।

6. शीर्ष संयोजन उत्पादन तथा वितरण कार्यों का एकीकरण भी है। इससे इन दोनों महत्वपूर्ण कार्यों को समन्वित करके मांग तथा पूर्ति में संतुलन उत्पन्न किया जा सकता है और दूसरी ओर वितरण के व्ययों में बचत प्राप्त की जा सकती है तथा ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित होने के कारण उनकी बदलती हुई आवश्यकताओं तथा प्राथ-

मिकताओं को वस्तु का उत्पादन करते समय ध्यान में रखा जा सकता है।

दोष : 1. शीर्ष संयोजन में लोच का अभाव रहता है क्योंकि एक बार पूर्ण उत्पादन क्रिया की समस्त क्रमागत अवस्थाओं का एकीकरण करने से उनमें से किसी भी क्रमागत अवस्था में कोई परिवर्तन करना जटिल एवं जोखिमभरा हो जाता है क्योंकि इससे पूर्ण उत्पादन क्रिया प्रभावित हो सकती है।

2. यदि शीर्ष संयोजन अग्रगामी शीर्ष संयोजन है जिसमें उत्पादन कार्य एवं वितरण कार्यों का एकीकरण कर दिया जाता है, तो ऐसी स्थिति में उत्पादन तथा वितरण में समन्वय बनाए रखना काफी जटिल कार्य है और इसके लिए अतिरिक्त प्रशासनिक व्यय करने पड़ते हैं।

3. शीर्ष संयोजन से बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययताएं नहीं होती हैं क्योंकि विभिन्न क्रमागत अवस्थाओं के एकीकरण से संस्था का आकार अवश्य विशाल हो जाता है परंतु उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं हो पाता है।

4. शीर्ष संयोजन समतल संयोजन की तुलना में कम उपयोगी है क्योंकि शीर्ष संयोजन कुछ ही प्रकार के उद्योगों में विभिन्न संस्थाओं को संयोजित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। विशेष रूप से तब जब वस्तु की उत्पादन विधि काफी जटिल तथा विस्तृत हो, या एक संस्था द्वारा उत्पादित वस्तुएं दूसरी संस्था में कच्चे माल के रूप में प्रयोग की जाती हों अथवा संस्थाओं की क्रियाएं एक दूसरे की पूरक हों, शीर्ष संयोजन उपयोगी एवं उपयुक्त है।

शीर्ष संयोजन के लाभ व दोषों के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि समतल संयोजन की तुलना में शीर्ष संयोजन कम उपयोगी है क्योंकि इससे केवल पूर्ण उत्पादन क्रिया को नियोजित ढंग से संचालित करके कुछ मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं और इसके अतिरिक्त प्रबंध के व्ययों में बचतें तथा विपणन व्ययों में बचतें भी प्राप्त की जा सकती हैं। परंतु इसके विपरीत शीर्ष संयोजन से न तो व्यावसायिक संस्थाएं अस्वस्थ प्रतियोगिता को समाप्त कर सकती हैं और न उत्पादन का पैमाना बढ़ाकर अन्य मित-व्ययताएं ही प्राप्त कर सकती हैं। हालांकि इसमें आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण होना स्वाभाविक है फिर भी स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने से साधनों का दुरुपयोग कुछ सीमा तक रोका जा सकता है।

पार्श्व संयोजन

यदि दो या दो से अधिक औद्योगिक संस्थाएं जो या तो एक ही प्रकार का कच्चा माल प्रयोग करके अलग अलग वस्तएं उत्पादित करती हों या उनके द्वारा संचालित उत्पादन क्रिया एक दूसरे की सहायक या पूरक हो, या उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से संबंधित हों, आपस में संयोजित हो जाएं तो इस प्रकार का संयोजन पार्श्व संयोजन कहा जाता है, जैसे भवन निर्माण संस्था में अन्य सहायक संस्थाएं जो सिमेंट, लोहा, ईंट तथा लकड़ी का उत्पादन कर रही हों, संयोजित हो जाएं तो यह पार्श्व संयोजन होगा।

विशेषताएं : 1. इस प्रकार के संयोजन में मूल उद्योग की सहायक संस्थाओं को मूल उद्योग के साथ संयोजित किया जाता है जिनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं एक दूसरे की सहा-यक या पूरक होती हैं या किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से संबंधित होती हैं।

2. इस प्रकार के संयोजन से एक ही प्रकार का कच्चा माल प्रयोग करके विभिन्न वस्तुएं बनाने वाली संस्थाएं भी स्थापित की जा सकती हैं।

पार्श्व संयोजन दो प्रकार का हो सकता है : अंतर्मुखी संयोजन तथा बहिर्मुखी

संयोजन। अंतर्मुखी पार्श्व संयोजन में मूल संस्था को उसकी सहायक संस्थाओं के साथ संयोजित किया जाता है, जैसे प्रकाशन कार्य के साथ रोशनाई, कागज तथा टाइप मशीन वाली संस्थाएं संयोजित हो जाएं तो यह संयोजन अंतर्मुखी पार्श्व संयोजन कहलाएगा। यदि मूल उद्योग के साथ उन विभिन्न संस्थाओं को संयोजित कर दिया जाए जो मूल उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु को कच्चे माल के रूप में अन्य वस्तुएं उत्पादित करने के लिए प्रयोग करती हैं, जैसे इस्पात उत्पादन कारखाने के साथ इस्पात का प्रयोग करके विभिन्न वस्तुएं बनाने वाली संस्थाओं, तार बनाने वाली संस्था, ट्यूब बनाने वाली संस्था तथा बरतन बनाने वाली संस्थाओं को संयोजित कर दिया जाए तो इसे बहिर्मुखी पार्श्व संयोजन कहा जाएगा।

पार्श्व संयोजन से कच्चे माल का अधिकतम प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि यदि एक ही प्रकार का कच्चा माल प्रयोग करके विभिन्न वस्तुएं उत्पादित करने वाली संस्थाएं संयोजित हो जाएं तो एक वस्तु का उत्पादन करने के पश्चात बचा हुआ कच्चा माल दूसरी संस्था द्वारा प्रयोग में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पार्श्व संयोजन में मूल संस्था में अन्य सहायक संस्थाओं को संयोजित करने से जो मूल संस्था द्वारा उत्पादित वस्तुओं को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करती हैं, कच्चे माल की उपलब्धि के संबंध में उसे आत्म-निर्भरता प्राप्त हो जाएगी तथा मूल उद्योग को उत्पादित वस्तु के विक्रय का जोखिम वहन नहीं करना पड़ेगा।

चक्रीय संयोजन

चक्रीय संयोजन में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाली औद्योगिक संस्थाएं आपस में मिलकर केंद्रीय स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण में आ जाती हैं। इस प्रकार के संयोजन में संयोजित होने वाली संस्थाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं में उत्पादन तथा वितरण से संबंधित कोई गहरा संबंध नहीं होता है, जैसे टाटा उद्योग में इस्पात से लेकर तेल, साबुन और प्रसाधन सामग्री आदि का उत्पादन करने वाली विभिन्न संस्थाओं को संयोजित किया गया है। इसके अतिरिक्त जे० के० उद्योग तथा बिड़ला उद्योग भी इसी संयोजन पर आधारित हैं।

विशेषताएं : 1. चक्रीय संयोजन में दो या दो से अधिक औद्योगिक संस्थाएं आपस में संयोजित होती हैं जिनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं अथवा प्रयोग में आने वाली उत्पादन क्रियाएं एक दूसरे से संबंधित नहीं होती हैं।

2. इस प्रकार का संयोजन बड़े बड़े उद्योगपति अपनी समस्त विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं को केंद्रीय प्रबंध तथा नियंत्रण में लाने के लिए करते हैं।

3. चक्रीय संयोजन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं को मिलाकर एक विशाल संस्था स्थापित करना है।

लाभ : 1. चक्रीय संयोजन से प्रबंध एवं प्रशासनिक व्ययों में बचत प्राप्त होती है और कुशल एवं निपुण प्रबंधकों की सेवाओं का लाभ प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि इसमें विभिन्न संस्थाएं एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण के स्वरूप के अंतर्गत लाई जाती हैं।

2. चक्रीय संयोजन से संस्था का आकार विशाल हो जाता है जबकि इससे एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि विशाल आकार की संस्था अलग अलग प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने वाली संस्थाओं को संयोजित करके बनाई जाती है। चूंकि इससे एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होती अतः सरकार द्वारा इन उद्योगों में बहुत कम हस्तक्षेप किया जाता है।

3. चक्रीय संयोजन से जोखिम का फैलाव संभव है क्योंकि एक ही विशाल संस्था द्वारा

कई प्रकार की वस्तुएं उत्पादित की जाती हैं और यदि किसी वस्तु की मांग किन्हीं कारणों से कम हो जाए तो उपलब्ध उत्पादन के साधनों का प्रयोग दूसरी वस्तु का उत्पादन करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार एक वस्तु की मांग में गिरावट के कारण उत्पन्न हानि को अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने वाली संस्थाओं के लाभ में से पूरा कर लिया जाता है।

इस प्रकार के संयोजनों का मुख्य दोष यह है कि हालांकि इनसे वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं की जाती है फिर भी विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करनेवाली संस्थाओं को एक ही स्वामित्व, प्रबंध एवं नियंत्रण में संयोजित करने से आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण कुछ गिने चुने उद्योगपतियों के हाथों में होने लगता है जो जनतांत्रिक प्रशासन प्रणाली में वांछनीय नहीं है।

विकर्णी संयोजन

मूल उद्योगों में उत्पादन क्रिया बिना किसी रुकावट के जारी रखने के लिए कुछ सहायक तथा अतिरिक्त सेवाओं की आवश्यकता होती है। यदि सहायक अथवा अतिरिक्त सेवा प्रदान करने वाली ये संस्थाएं मूल औद्योगिक संस्था में सम्मिलित कर ली जाएं तो इसे विकर्णी संयोजन कहा जाएगा। इस प्रकार का संयोजन पार्श्व संयोजन से मिलता जुलता है क्योंकि दोनों प्रकार के संयोजनों में सहायक संस्थाएं मूल औद्योगिक संस्था के साथ संयोजित होती हैं। इन दोनों प्रकार के संयोजनों में मूल अंतर यह है कि विकर्णी संयोजन में जिन संस्थाओं को मूल औद्योगिक संस्था से संयोजित किया जाता है वे मूल संस्था को सहायक सेवाएं प्रदान करती हैं, जैसे बड़े मशीन के कारखाने में मरम्मत सेवा संस्था को सम्मिलित करना जबकि पार्श्व-संयोजन में सहायक औद्योगिक संस्थाओं को मूल संस्था में संयोजित कर दिया जाता है, जैसे बाइसकिल कंपनी में ट्यूब, टायर तथा अन्य पुर्जे बनाने वाली संस्थाओं का सम्मिलन।

व्यावसायिक संयोजन के रूप

व्यवसाय के विभिन्न स्वरूपों की भांति व्यावसायिक संयोजन के भी कई स्वरूप प्रचलित हैं जिनमें औपचारिक समझौतों से लेकर पूर्ण विलयन तक कई रूप सम्मिलित हैं। हालांकि व्यावसायिक संयोजनों के इन समस्त स्वरूपों की प्रकृति एक ही है, फिर भी इनमें मूल अंतर यह है कि प्रत्येक स्वरूप के अंतर्गत संस्थाओं की आपस में अस्वस्थ तथा कटु प्रतियोगिता को कम करने के लिए दिए गए सहयोग की सीमा तथा सामान्य नीतियों का पालन करने की विधियां भिन्न हैं। किसी रूप में संस्थाओं के पृथक अस्तित्व को ही मिटा दिया जाता है और इस प्रकार संस्थाएं सामान्य नीतियों का पूर्ण पालन करती हैं और कुछ परिस्थितियों में उनके सामूहिक हितों को सुरक्षित रखने तथा उनमें सहयोग की भावना बनाए रखने के लिए उनके बीच कोई समझौता करके उनके व्यवसाय के महत्वपूर्ण तत्वों, जैसे उत्पादन, मूल्य आदि को नियमित तथा नियंत्रित किया जाता है और इकाइयां अन्य तत्वों में स्वतंत्र इकाई की हैसियत से कार्य करती हैं।

व्यावसायिक संयोजनों के निम्न चार स्वरूप हैं :

1. मंडल (एसोसिएशन)
2. संघ (फेडरेशन)
3. आंशिक संघनन (पारसियल कंसोलीडेशन)
4. पूर्ण संघनन (कंपलीट कंसोलीडेशन)

इन मुख्य स्वरूपों के अंतर्गत भी संयोजन कई प्रकार से किया जा सकता है।

व्यावसायिक संयोजन

मंडल	संघ	आंशिक संघनन	पूर्ण संघनन
(i) व्यापारिक मंडल	(i) पूल	(i) ट्रस्ट	(i) सम्मिलन
(ii) चैंबर आफ कामर्स	(ii) कार्टल	(ii) हित एकता	(ii) विलयन
(iii) अनौपचारिक समझौते		(iii) सूत्रधारी कंपनी	
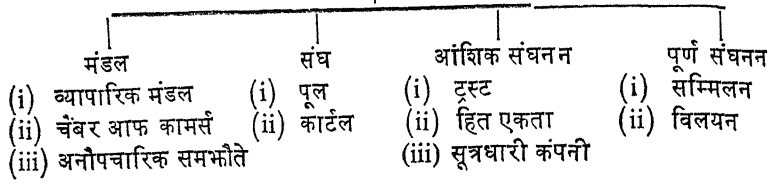
मंडल

मंडल एक ऐसा संगठन है जो विभिन्न व्यापारियों एवं उत्पादकों द्वारा अपने सामान्य हितों को सुरक्षित रखने, उनका संवर्धन करने और पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए गठित किया जाता है। इन मंडलों का सदस्य किसी भी वस्तु से संबंधित व्यापारी अथवा उत्पादक हो सकता है और इनकी सदस्यता पूर्णरूप से ऐच्छिक होती है। इस प्रकार के संयोजन के रूप में सदस्य संस्थाएं स्वतंत्र रूप से अपना अपना व्यवसाय चलाती हैं। मंडल द्वारा कुछ महत्वपूर्ण मामलों में जो निर्णय लिए जाते हैं उनका समस्त सदस्य पालन करते हैं क्योंकि इन मामलों का संबंध उनके सामूहिक हितों से रहता है। मंडल के निर्णयों का पालन करने के लिए सदस्य संस्थाओं को बाध्य नहीं किया जा सकता है। इन मंडलों की स्थापना व्यापारिक मंडल, चैंबर आफ कामर्स तथा अनौपचारिक समझौतों के रूप में की जा सकती है।

व्यापारिक मंडल

व्यापारिक मंडल एक ऐसी संस्था अथवा संगठन है जिसका गठन एक ही प्रकार के व्यापार, उद्योग तथा व्यवसाय में संलग्न विभिन्न संस्थाओं द्वारा अपने सामूहिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक हितों को बढ़ावा देने के लिए किया जाता है। इसकी विशेषताएं निम्न-लिखित हैं :

1. व्यापारिक मंडल एक ऐच्छिक संगठन है क्योंकि इसकी सदस्यता स्वीकार करना सदस्यों की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार कोई भी सदस्य इसकी सदस्यता का किसी भी समय परित्याग कर सकता है।

2. एक ही प्रकार का व्यवसाय या व्यापार करने वाली संस्थाएं इसकी सदस्यता ग्रहण कर सकती हैं।

3. व्यापारिक मंडल स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य इसके सदस्यों में परस्पर मेल-जोल तथा सहयोग की भावना जाग्रत करना और उनके सामूहिक हितों की सुरक्षा करना तथा उनका संवर्धन करना है।

4. व्यापारिक मंडल व्यावसायिक संयोजन का एक ढीला तथा अप्रभावशाली रूप है क्योंकि मंडल द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनका पालन करवाने के लिए सदस्यों को वैधानिक रूप से बाध्य नहीं किया जा सकता है।

5. व्यापारिक मंडल की सदस्यता प्राप्त करने पर भी सदस्य संस्थाएं अपना पृथक स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती हैं और व्यापारिक मंडल तथा इसका कोई अन्य सदस्य दूसरे सदस्य के व्यवसाय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

संगठन : भारतवर्ष में व्यापारिक मंडलों की स्थापना कंपनी अधिनियम के अंतर्गत अथवा 'ट्रेड यूनियन ऐक्ट' के अंतर्गत संस्था को मंडल के रूप में पंजीकृत कराके की जा सकती है। इस प्रकार स्थापित संस्था का उद्देश्य सदस्य संस्थाओं को विभिन्न प्रकार की सेवाएं

प्रदान करना होता है न कि व्यावसायिक संस्था की भांति लाभ कमाना। व्यापारिक मंडलों की स्थापना स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर की जा सकती है, जैसे 'चीनी मिल एसोसिएशन', 'भारतीय कागज मिल एसोसिएशन' तथा 'भारतीय जूट मिल एसोसिएशन'। इन मंडलों की स्थापना राष्ट्रीय स्तर पर की गई है, इसी तरह स्थानीय स्तर पर 'बंबई मिल मालिक एसोसिएशन', 'अहमदाबाद मिल मालिक एसोसिएशन' आदि मंडलों की स्थापना की गई है।

कार्य : 1. व्यापारिक मंडलों का प्रमुख कार्य व्यवसाय से संबंधित तथ्य तथा आंकड़ों का संकलन करना और इनको सदस्यों के लाभ के लिए उनमें वितरित करना है।

2. व्यापारिक मंडलों द्वारा सामूहिक नीतियों का निर्धारण करके और उनका पालन करवाकर सदस्यों के बीच अस्वस्थ तथा कटु प्रतिस्पर्धा समाप्त करना भी व्यापारिक मंडल का कार्य समझा जाता है क्योंकि इन मंडलों की स्थापना एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली संस्थाओं अथवा व्यापारियों द्वारा की जाती है।

3. व्यापारिक मंडलों द्वारा सदस्य इकाइयों को समय समय पर उनके व्यवसाय से संबंधित अधिनियम के बारे में सलाह भी दी जाती है।

4. सरकार द्वारा सदस्यों के व्यवसाय को प्रभावित करने वाले कानून पास करने में सदस्यों की ओर से उनके सामूहिक हितों का प्रतिनिधित्व किया जाता है।

5. व्यापारिक मंडलों के द्वारा कुछ दशाओं में शोध विभाग की स्थापना करके अपने सदस्यों को शोध निष्कर्षों से लाभान्वित कराया जाता है और सदस्यों को व्यावसायिक जगत की नवीनतम गतिविधियों से अवगत भी कराया जाता है, जैसे 'अहमदाबाद टेक्सटाइल रिसर्च एसोसिएशन' की स्थापना।

6. इन मंडलों द्वारा सदस्यों को वस्तुओं के बाजार का सर्वेक्षण करके मांग में परिवर्तन से तथा ग्राहकों की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं से अवगत कराया जाता है।

चैंबर आफ कामर्स

चैंबर आफ कामर्स व्यापारिक मंडल की ही भांति एक ऐच्छिक संगठन है जिसका गठन वाणिज्य, व्यापार तथा उद्योग में संलग्न विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। इसकी सदस्यता केवल व्यापारिक अथवा औद्योगिक संस्था तक ही सीमित नहीं है बल्कि वित्तीय संस्थाएं, बैंकर्स, प्रशासन एवं प्रबंध में दक्ष एवं निपुण व्यक्ति, चार्टर्ड एकाउंटेंट अर्थशास्त्री आदि को भी इसका सदस्य बनाया जाता है। क्योंकि चैंबर आफ कामर्स किसी क्षेत्र अथवा संपूर्ण देश के समस्त व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करता है और अपने विशिष्ट ज्ञान वाले सदस्यों की सेवाओं व सलाह का लाभ समस्त सदस्य संस्थाओं को पहुंचाता है। चैंबर आफ कामर्स अपने सदस्यों को उनके व्यवसाय से संबंधित समस्त महत्वपूर्ण तत्वों से समय समय पर अवगत कराता रहता है। चैंबर आफ कामर्स मूल रूप से मंडल का ही रूप है फिर भी व्यापारिक मंडलों की तुलना में इसका कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक एवं विस्तृत है क्योंकि व्यापारिक मंडलों की सदस्यता एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली औद्योगिक या व्यापारिक संस्थाओं तक सीमित होती है जबकि चैंबर आफ कामर्स में सदस्यता व्यवसाय के प्रत्येक कोने तक फैली रहती है और व्यावसायिक संस्थाओं के अतिरिक्त व्यवसाय से संबंधित विशिष्ट ज्ञान वाले गणमान्य व्यक्तियों को भी इसका सदस्य बनाया जाता है। संक्षेप में, चैंबर आफ कामर्स किसी विशेष क्षेत्र या संपूर्ण देश के समस्त औद्योगिक, व्यापारिक तथा व्यावसायिक हितों को सुरक्षित रखकर उनको विकास की दिशा प्रदान करता है।

विशेषताएं : 1. चैंबर आफ कामर्स की सदस्यता अन्य व्यापारिक मंडलों की सदस्यता की

भांति स्वैच्छिक होती है क्योंकि कोई भी व्यवसायी अथवा व्यावसायिक संस्था कभी भी इसकी सदस्यता प्राप्त कर सकती है और अपनी इच्छानुसार किसी भी समय इसकी सदस्यता का परित्याग कर सकती है।

2. चैंबर आफ कामर्स की स्थापना का मुख्य उद्देश्य किसी क्षेत्र या संपूर्ण देश के व्यावसायिक हितों को सुरक्षित रखना तथा उनका संवर्धन करना है।

3. चैंबर आफ कामर्स अपनी गतिविधियों एवं कार्यों को संचालित करने के लिए आवश्यक वित्त अपने सदस्यों से प्रवेश शुल्क तथा वार्षिक शुल्क के रूप में प्राप्त करता है।

4. चैंबर आफ कामर्स का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के व्यावसायिक हितों को सुरक्षित रखना और उनका संवर्धन करना है। इसके लिए चैंबर आफ कामर्स सदस्यों के व्यवसाय को समन्वित करके, उनके बीच व्यावसायिक सूचनाओं का आदान-प्रदान करके, उनके बीच सहयोग तथा मेलजोल की भावना उत्पन्न करता है। सदस्य संस्थाएं अपना व्यवसाय स्वतंत्र रूप से संचालित करती हैं और उनके व्यवसाय में चैंबर आफ कामर्स का कोई हस्तक्षेप नहीं रहता है।

5. चैंबर आफ कामर्स की स्थापना क्षेत्रीय, राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर की जाती है और इनका कार्य क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत होता है।

कार्य : चैंबर आफ कामर्स देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं क्योंकि जहां इनके द्वारा एक ओर सदस्यों के हितों की रक्षा करके उनका संवर्धन किया जाता है वहीं दूसरी ओर चैंबर आफ कामर्स समय समय पर सरकार को इस बात से अवगत कराते रहते हैं कि देश के औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए किस प्रकार के संरक्षण तथा नियंत्रण की आवश्यकता है ताकि व्यवसाय से संबंधित कानून बनाते समय सरकार इन महत्वपूर्ण सूचनाओं को ध्यान में रख सके। चैंबर आफ कामर्स द्वारा जो कार्य किए जाते हैं उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) सदस्यों की ओर से प्रतिनिधि के रूप में कार्य।
(2) सदस्यों को तकनीकी तथा प्रशासनिक सलाह प्रदान करना।
(3) सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत करना।

सदस्यों की ओर से प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना : चैंबर आफ कामर्स विशेष रूप से सदस्य व्यावसायिक संस्थाओं तथा सरकार के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। इनकी यह भूमिका देश के व्यावसायिक क्षेत्र तथा सरकार के बीच तालमेल उत्पन्न करके औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण समझी जाती है। इस संबंध में चैंबर आफ कामर्स के द्वारा निम्न कार्य किए जाते हैं :

(अ) चैंबर आफ कामर्स अपने सदस्यों की ओर से वक्ता के रूप में कार्य करते हैं क्योंकि इनके द्वारा सरकार की औद्योगिक नीति पर टीका टिप्पणी करके व्यवसाय में उनके विपरीत प्रभाव की आलोचना करके उनमें आवश्यक संशोधन कराने का प्रयत्न किया जाता है।

(ब) चैंबर आफ कामर्स सरकार को देश की औद्योगिक एवं व्यावसायिक दशाओं के बारे में समय समय पर आवश्यक सूचनाएं प्रदान करते हैं ताकि सरकार औद्योगिक विकास को तीव्र करने के लिए आवश्यक अधिनियम बना सके और उद्योगों को उचित संरक्षण प्रदान कर सके।

(स) चैंबर आफ कामर्स राजनीति के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करके सरकार पर यह दबाव डालते हैं कि उद्योगपतियों तथा व्यापारियों के उचित हितों की रक्षा की जाए। इसके लिए संयुक्त रूप से सदस्यों की ओर से प्रतिनिधि चुनने के लिए राजनीतिक समर्थन प्रदान करवाते हैं।

सदस्यों को तकनीकी तथा प्रशासनिक सलाह एवं सहायता : चैंबर आफ कामर्स व्यापारिक मंडलों की भांति अपनी सदस्य संस्थाओं के सामान्य व्यावसायिक हितों की रक्षा करने के लिए गठित किए जाते हैं। इसके लिए चैंबर आफ कामर्स समय समय पर अपने सदस्यों को व्यावसायिक क्षेत्र में हुए नए परिवर्तनों से अवगत कराते हैं ताकि सदस्य भी उन परिवर्तनों के अनुकूल अपने व्यवसाय में आवश्यक परिवर्तन कर सकें। इस संबंध में चैंबर आफ कामर्स द्वारा निम्न कार्य किए जाते हैं :

(अ) व्यवसाय से संबंधित तथ्य एवं आंकड़ों का संकलन करना तथा सदस्यों के बीच वितरित करना ताकि वे लाभान्वित हों।

(ब) वस्तुओं के बाजार का सर्वेक्षण करके ज्ञात परिवर्तनों से सदस्यों को अवगत कराना।

(स) सदस्यों को उनके ग्राहकों की आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक स्थिति से परिचित कराना।

(द) सदस्य इकाइयों को आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक तकनीकी, प्रशासनिक एवं वैधानिक सलाह प्रदान करना।

(य) चैंबर आफ कामर्स के द्वारा वाणिज्य, व्यापार एवं उद्योग की सामान्य उन्नति के लिए समय समय पर औद्योगिक प्रदर्शनियां भी आयोजित की जाती हैं ताकि सदस्यों को इन प्रदर्शनियों के माध्यम से संबंधित नवीनतम विधि-व्यवहारों का ज्ञान कराया जा सके।

(र) चैंबर आफ कामर्स द्वारा समय समय पर व्यवसाय से संबंधित विचार गोष्ठियां आयोजित की जाती हैं जिससे सदस्य आपस में व्यावसायिक सूचनाओं व अपने विचारों का आदान प्रदान कर सकते हैं। यह एक दूसरे के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

(ल) चैंबर आफ कामर्स निर्यात प्रमाणपत्र तथा उद्‌गम प्रमाणपत्र भी जारी करते हैं। इससे वस्तुओं का निर्यात करने में आसानी रहती है।

चैंबर आफ कामर्स सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत करता है :

(अ) चैंबर आफ कामर्स विभिन्न व्यापारियों, व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों का एक मंडल है जो आपस में मिल कर संपूर्ण व्यवसाय के हितों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। एक ही मंडल का सदस्य होने के नाते अलग अलग प्रकार का व्यवसाय करने वाली संस्थाओं के बीच पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत होती है।

(ब) चैंबर आफ कामर्स द्वारा सरकार की व्यावसायिक तथा औद्योगिक नीतियों में सुधार लाने के लिए और उनमें आवश्यक संशोधन करवाने के लिए अपने सदस्यों में एकता एवं मेलजोल की भावना उत्पन्न की जाती है।

(स) सदस्यों के बीच उत्पन्न विवादों को सुलझाने के लिए मंडल द्वारा न्याय पंचायत की व्यवस्था की जाती है ताकि सदस्य न्यायालय में वाद प्रस्तुत करने के बजाय न्याय-पंचायत द्वारा ही विवादों का निपटारा कर सकें।

(द) व्यवसाय में आपसी प्रतिस्पर्धा कम करने और व्यवसाय को नियमित रखने के लिए चैंबर आफ कामर्स द्वारा एक 'व्यवहार संहिता' तैयार की जाती है और समस्त सदस्य संस्थाएं इस संहिता के नियम तथा उपनियमों का पालन करती हैं।

(य) चैंबर आफ कामर्स की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी की जा सकती है। उसके माध्यम से दो देशों के बीच व्यापारिक संबंधों को सुधार कर अन्य क्षेत्रों में भी पारस्परिक सहयोग की भावना जाग्रत की जाती है और इस प्रकार विभिन्न देशों की तमाम अन्य सामूहिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

संक्षेप में, चैंबर आफ कामर्स के कार्यों का वर्णन करने से यह विदित होता है कि इस

प्रकार के मंडल देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं क्योंकि इनके द्वारा देश के संपूर्ण औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र में समन्वय उत्पन्न किया जाता है और उसे नियमित बनाए रखा जाता है। इसीलिए इनको व्यावसायिक जगत का संरक्षक, मार्गदर्शक एवं प्रतिनिधि समझा गया है।

चैंबर आफ कामर्स का संगठन : चैंबर आफ कामर्स मूल रूप से मंडल का स्वरूप है। इसीलिए इसका गठन भी अन्य व्यापारिक मंडलों की भांति एक ऐच्छिक संगठन के रूप में किया जाता है। इसको संगठित करने का मुख्य उद्देश्य सदस्यों के सामूहिक हितों को सुरक्षित रखना है। कुछ यूरोपीय देशों, जैसे फ्रांस आदि में इस प्रकार के मंडलों की स्थापना सरकार द्वारा कानून पास करके की जाती है और मंडल पूर्णतया सरकारी नियंत्रण में कार्य करता है और आवश्यक वित्त भी सरकारी खजाने से ही प्राप्त करता है। परंतु अमरीका, इंग्लैंड तथा भारतवर्ष में इनकी स्थापना किसी क्षेत्र या राष्ट्र के स्तर पर स्वयं विभिन्न व्यवसायियों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों द्वारा की जाती है जो इसके माध्यम से अपने सामूहिक हितों की रक्षा एवं संवर्धन करते हैं। इन मंडलों की वित्तीय आवश्यकताएं सदस्यों से प्रवेश शुल्क तथा वार्षिक शुल्क प्राप्त करके पूरी की जाती हैं। चैंबर आफ कामर्स का प्रशासनिक ढांचा अन्य व्यापारिक मंडलों की भांति होता है।

चैंबर आफ कामर्स का भारत में विकास : भारत में चैंबर आफ कामर्स गठित करने का श्रेय यूरोपीय व्यापारियों को है। इसीलिए चैंबर आफ कामर्स का ढांचा, कार्य विधि तथा क्षेत्र आदि भी इंग्लैंड के चैंबर आफ कामर्स की भांति हैं। भारत में सबसे पहले चैंबर आफ कामर्स की स्थापना सन 1834 में कलकत्ता में हुई। इसके पश्चात यूरोपीय व्यापारियों ने ही 1836 में मद्रास तथा बंबई में क्षेत्रीय स्तर पर चैंबर आफ कामर्स की स्थापना की। भारतीय व्यवसायियों ने सबसे पहले 1885 में कोकनद में चैंबर आफ कामर्स की स्थापना की। इसके पश्चात 1885 में ही कलकत्ता में चैंबर आफ कामर्स गठित किया गया जो बंगाल चैंबर आफ कामर्स के नाम से प्रसिद्ध था। इस मंडल की महत्वपूर्ण सेवाओं से प्रेरित होकर इसका कार्य क्षेत्र केवल कलकत्ता तक ही सीमित नहीं रखा गया बल्कि देश के अन्य भागों के व्यवसायी, उद्योगपति तथा व्यापारी इसके सदस्य बने। धीरे धीरे देश के प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं औद्योगिक केंद्र में इनकी स्थापना होती रही। इनकी संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप संघ की आवश्यकता महसूस की गई और 1920 में यूरोपीय उद्योगपतियों ने 'ऐसोसिएटेड चैंबर आफ कामर्स' की स्थापना की और 15 क्षेत्रीय स्तर के मंडल इसके सदस्य बने। इसी के साथ भारतीय उद्योगपतियों ने 1926 में 'फेडरेशन आफ इंडियन चैंबर आफ कामर्स ऐंड इंडस्ट्रीज' की स्थापना की और इसकी सदस्यता 24 क्षेत्रीय स्तर के चैंबर आफ कामर्स ने स्वीकार की। अब लगभग 15 अखिल भारतीय चैंबर आफ कामर्स कार्य कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त दो फेडरेशन आफ चैंबर आफ कामर्स भी स्थापित किए गए हैं। प्रथम 'एसोसिएटेड चैंबर आफ कामर्स आफ कलकत्ता' और द्वितीय 'फेडरेशन आफ चैंबर आफ कामर्स ऐंड इंडस्ट्रीज'।

फेडरेशन आफ चैंबर आफ कामर्स ऐंड इंडस्ट्रीज : इस फेडरेशन की स्थापना 1926 में भारतीय उद्योगपतियों द्वारा की गई है। इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली में स्थित है। इस फेडरेशन को सरकार ने व्यावसायिक समुदाय के रूप में मान्यता प्रदान की है। इसकी सदस्यता का ब्यौरा निम्न है :

(अ) सामान्य सदस्य : इस मंडल की सामान्य सदस्यता में देश के विभिन्न भागों में कार्य कर रहे व्यापारिक मंडल और क्षेत्रीय चैंबर आफ कामर्स सम्मिलित हैं। इन सदस्यों की कुल संख्या 123 है।

(ब) एसोसिएटेड सदस्य : इस प्रकार के सदस्यों में व्यावसायिक संस्थाएं, फर्म तथा

व्यक्तिगत व्यवसायी सम्मिलित हैं। इनकी कुल संख्या 214 है।

(स) ओवरसीज सदस्य : इस फेडरेशन की सदस्यता विदेशों में कार्य कर रहे चेंबर आफ कामर्स ने भी स्वीकार की है। इनकी कुल संख्या 9 है।

इस फेडरेशन के द्वारा किए गए कार्यों में निम्न महत्वपूर्ण कार्य सम्मिलित हैं : (i) सदस्यों का प्रतिनिधित्व करना, (ii) सरकार व सदस्यों के बीच कड़ी के रूप में कार्य करना, (iii) विचार गोष्ठियों का आयोजन करना, (iv) औद्योगिक प्रदर्शनियां आयोजित करना, (v) व्यवसाय, व्यापार एवं उद्योग से संबंधित समस्त आवश्यक सूचनाओं का संकलन करके सदस्यों के लाभ के लिए उनमें वितरित करना, (vi) सरकार द्वारा समय समय पर गठित विभिन्न समितियों में अपने प्रतिनिधि भेजना, जैसे आयात-निर्यात सलाहकार समिति, औद्योगिक केंद्रीय सलाहकार समिति आदि।

अनौपचारिक समझौते

अनौपचारिक समझौता व्यवसायियों के बीच नैतिक आधार पर किया गया लिखित अथवा मौखिक समझौता है जिसके द्वारा समझौते में सम्मिलित होने वाले व्यवसायी अपने व्यवसाय से संबंधित कुछ नीतियों एवं व्यवहारों को निर्धारित नियमों तथा शर्तों के अनुसार क्रियान्वित करते हैं। अनौपचारिक समझौता व्यावसायिक संयोजन का सबसे अधिक अप्रभावशाली तथा ढीला स्वरूप समझा जाता है क्योंकि यह समझौता पूर्ण रूप से व्यवसायियों की इसके प्रति निष्ठा तथा उनकी नैतिकता पर आधारित रहता है। इसका कोई वैधानिक आधार नहीं होता है।

विशेषताएं : 1. अनौपचारिक समझौता नैतिक आधार पर किया गया ठहराव है क्योंकि इसे व्यवसायी अनौपचारिक ढंग से चाय की मेजों पर अथवा अन्य किसी सामूहिक सम्मिलन के स्थान में तय करते हैं।

2. इस प्रकार के समझौते मौखिक अथवा लिखित हो सकते हैं और इनकी सफलता व्यवसायियों के नैतिक आचरण पर आधारित है।

3. इस प्रकार के समझौतों का उद्देश्य सदस्यों के लिए उन नियमों तथा उपनियमों का निर्धारण करना है जिनका पालन करते हुए वे व्यवसाय संबंधी नीतियों एवं व्यवहारों को क्रियान्वित करते हैं, जैसे उत्पादन नियंत्रण, मूल्य निर्धारण अथवा वस्तु बाजार के विभाजन से संबंधित नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक नियमों तथा उपनियमों का निर्धारण।

4. अनौपचारिक समझौतों से सदस्य पक्षों के व्यवसाय के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सदस्य को केवल कुछ नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए निर्धारित नियमों तथा उपनियमों का पालन करना पड़ता है।

5. अनौपचारिक समझौते प्रायः अल्प अवधि के लिए किए जाते हैं।

6. यदि कोई सदस्य इन समझौतों के अंतर्गत नियमों तथा उपनियमों का पूर्ण पालन नहीं करता है तो उसके विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है। इसीलिए इन समझौतों को भद्र पुरुषों के समझौते (जेंटिलमैंस ऐग्रीमेंट) कहा जाता है।

लाभ : 1. स्थापना में सुगमता : इस प्रकार के समझौतों को व्यवसायी बिना किसी व्यय के आसानी से तय कर लेते हैं और इनको तय करने के लिए किसी औपचारिकता को पूरा करने की आवश्यकता नहीं होती है।

2. लोचपूर्ण : अनौपचारिक समझौता व्यावसायिक संयोजन का सबसे अधिक ढीला स्वरूप समझा जाता है और इसमें आसानी से आवश्यकता पड़ने पर सदस्य नियमों तथा उपनियमों में परिवर्तन कर सकते हैं।

3. प्रतिस्पर्धा में कमी : अनौपचारिक समझौतों के फलस्वरूप सदस्य व्यवसायियों को 'व्यवहार संहिता' के नियमों तथा उपनियमों के अनुसार नीतियों तथा व्यवहारों को क्रियान्वित करना पड़ता है अतः उनमें अस्वस्थ तथा कटु प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।

4. व्यवसाय में स्वतंत्रता : इन समझौतों में सम्मिलित होने पर व्यवसायी के व्यवसाय की स्वतंत्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और एक सदस्य दूसरे सदस्य के व्यवसाय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

दोष : अनौपचारिक समझौते व्यवहार में अप्रभावशील होते हैं क्योंकि इनका कोई वैधानिक आधार नहीं होता है और यह पूर्णतया सदस्यों की निष्ठा एवं वचनबद्धता पर निर्भर है कि वे समझौते में तय नियमों तथा उपनियमों का पूर्ण रूप से पालन करें या नहीं। यदि कोई सदस्य तय 'व्यवहार संहिता' को नहीं अपनाता है तो अन्य सदस्य निस्सहाय होते हैं क्योंकि व्यवहार में संहिता का उल्लंघन करने वाले सदस्य के विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

संघ

व्यावसायिक संयोजन के प्रथम स्वरूप मंडल के दोषों को दृष्टि में रखते हुए संयोजन के दूसरे रूप का विकास किया गया जिसे संघ की संज्ञा दी जाती है। मंडल स्वरूप के अंतर्गत इनकी अप्रभावशीलता, इनके प्रति सदस्यों में शिथिलता तथा इनकी स्थिरता आदि प्रमुख दोष विद्यमान थे जिनके कारण ये समझौते तथा मंडल प्रायः निष्क्रिय तथा निष्फल हो जाते थे क्योंकि इनका उल्लघंन करने वाले सदस्य के लिए दंड की व्यवस्था नहीं की गई है।

संघ एक ही व्यवसाय में संलग्न उन व्यावसायिक संस्थाओं का एक मंडल अथवा समूह है जो पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के उद्देश्य से एक औपचारिक समझौते के अंतर्गत सामान्य नीतियों को स्वीकार करके उनका पूर्णतया पालन करते हैं। इस प्रकार संयोजन में सदस्य इकाइयों का पृथक स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है और उनके आंतरिक प्रबंध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता है। केवल वे अपने कुछ बाह्य व्यवहारों में सामूहिक हितों की रक्षा करने के लिए सामान्य नीतियों का पालन करने पर बाध्य होते हैं तथा इसके सदस्यों के अधिकार, कर्तव्य तथा संघ की केंद्रीय इकाई के अधिकारों को एक निश्चित ठहराव द्वारा निर्धारित तथा नियमित किया जाता है।

संघ दो प्रकार के होते हैं : पूल तथा कार्टल।

पूल या निकाय

हैने के शब्दों में, 'पूल या निकाय व्यावसायिक संगठन का वह स्वरूप है जो व्यावसायिक इकाइयों के संघ से स्थापित किया जाता है। इसके सदस्य मूल्य में नियंत्रण प्राप्त करने के लिए मूल्य का निर्धारण करने वाले तत्वों का कुछ अंश केंद्रीय रूप से संयोजित करके सदस्य इकाइयों में विभाजित कर देते हैं।'

पूल या निकाय की यह परिभाषा काफी व्यापक और उपयुक्त समझी जाती है क्योंकि इसमें एक ओर तो यह स्पष्ट किया गया है कि पूल या निकाय की स्थापना कैसे होती है और दूसरी ओर इसकी कार्य विधि की ओर संकेत किया गया है कि इसमें सदस्यों द्वारा मूल्य में नियंत्रण प्राप्त करने के लिए मूल्य को प्रभावित करने वाले तत्वों को आंशिक रूप से एक केंद्रीय निधि को सुपुर्द कर दिया जाता है और फिर केंद्रीय निधि द्वारा इनको संयोजित करके सदस्यों में विभाजित कर दिया जाता है। फिर भी यह परिभाषा पूर्ण नहीं समझी

जाती है क्योंकि इसमें पूल या निकाय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य मूल्यों में नियंत्रण प्राप्त करना बताया गया है जबकि व्यवहार में पूल या निकाय अन्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भी स्थापित किए जाते हैं, जैसे यातायात पूल, पेटेंट पूल, लाभ वितरक पूल आदि। और इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में यह भी नहीं बताया गया है कि पूल या निकाय की स्थापना एक औपचारिक समझौते के द्वारा होती है।

रिचार्ड आबिन्स के शब्दों में, 'पूल अथवा निकाय ऐसे कार्यकारी समझौते हैं जो एक निश्चित ठहराव पर आधारित रहते हैं और लिखित होते हैं तथा जिनके अंतर्गत उल्लंघन करने वाले के लिए दंड की व्यवस्था भी रहती है।'

हालांकि इस परिभाषा को भी पूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इसमें भी पूल या निकाय को स्थापित करने के उद्देश्यों पर प्रकाश नहीं डाला गया है फिर भी इससे यह स्पष्ट होता है कि पूल या निकाय की स्थापना एक औपचारिक समझौते के द्वारा होती है और इसमें समझौते की शर्तों का उल्लंघन करने वाले सदस्य के लिए दंड की व्यवस्था भी रहती है।

संक्षेप में, पूल अथवा निकाय एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली संस्थाओं का औपचारिक समझौते पर आधारित संघ है जिसकी स्थापना सदस्य इकाइयां सामूहिक रूप से अपने उत्पादन या वस्तुओं के बाजार को नियमित करके या आय को केंद्रीय रूप से विभाजित करके करती हैं और सामूहिक रूप से लाभान्वित होती हैं।

ऊपर बताई गई परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए एक पूल अथवा निकाय में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं:

(अ) पूल अथवा निकाय समतल संयोजन है क्योंकि इसमें एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली संस्थाएं सम्मिलित होती हैं।

(ब) पूल या निकाय की स्थापना सदस्य इकाइयों में एक औपचारिक समझौते पर आधारित संघ द्वारा की जाती है और समझौते की समस्त शर्तें समस्त सदस्यों पर बाध्य होती हैं। यदि कोई सदस्य इसका उल्लंघन करता है तो समझौते में उसके लिए दंड की व्यवस्था रहती है।

(स) इसकी स्थापना मुख्य रूप से उत्पादन को तथा वस्तु के बाजार को नियमित करने या लाभ का केंद्रीय वितरण करने के लिए की जा सकती है और अप्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं के मूल्यों में नियंत्रण प्राप्त करके सामूहिक लाभ कमाने के लिए की जाती है।

(द) इसमें सम्मिलित होने वाली संस्था का आंतरिक प्रबंध स्वतंत्र तथा पृथक बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है।

(य) सदस्य इकाइयां उत्पादन को या वस्तु के बाजार को नियमित करने के लिए अथवा लाभ के केंद्रीय वितरण के लिए एक केंद्रीय इकाई की स्थापना करती हैं जो वास्तव में पूल अथवा निकाय के उद्देश्यों को पूरा करती है और जिसे सदस्य इकाइयों द्वारा एक निश्चित ठहराव के द्वारा व्यवसाय से संबंधित कुछ बाह्य मामलों के विषय में नीतियां निर्धारित करने और प्रशासनिक व्यवस्था करने के अधिकार सुपुर्द कर दिए जाते हैं।

(र) पूल अथवा निकाय में सम्मिलित समस्त सदस्य इकाइयां केंद्रीय संधान द्वारा निर्धारित नीतियों का पालन करने के लिए बाध्य हैं और यदि कोई सदस्य इन सामान्य नीतियों की अवहेलना करता है तो उसे निर्धारित दंड दिया जाता है।

पूल अथवा निकाय के प्रकार : पूल अथवा निकाय की स्थापना स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अलग अलग उद्देश्यों के लिए की जा सकती है। इनके उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर पूल या निकाय निम्न प्रकार के हो सकते हैं :

1. उत्पादन पूल या निकाय (आउटपुट पूल) : इस प्रकार के पूल को स्थापित करने का

मुख्य उद्देश्य वस्तु के उत्पादन को नियमित करके उसका मूल्य नियंत्रित करना है। उत्पादन पूल या निकाय एक ऐसा समझौता है जिसके अंतर्गत सदस्य इकाइयों द्वारा उत्पादित वस्तु की कुल मांग का निर्धारण करके प्रत्येक सदस्य को उत्पादन का निश्चित कोटा आवंटित कर दिया जाता है और सदस्य निर्धारित कोटे से अधिक उत्पादन नहीं कर सकते हैं। सदस्यों में उत्पादन कोटे का आवंटन करते समय उनकी उत्पादन क्षमता, पिछली बिक्री का आकार आदि तत्वों को ध्यान में रखा जाता है। उत्पादन पूल या निकाय सदस्य इकाइयों द्वारा किए जाने वाले उत्पादन को नियमित करके बाजार में वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करते हैं जिससे उन्हें कुछ सीमा तक वस्तु के मूल्य में नियंत्रण प्राप्त हो सकता है।

2. बाजार पूल या निकाय : वस्तु के बाजार में प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए प्रतिस्पर्धात्मक सदस्य इकाइयों द्वारा जिस पूल या निकाय की स्थापना की जाती है उसे बाजार पूल कहा जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुओं के बाजार का निर्धारण कर लिया जाता है और फिर संपूर्ण बाजार का वस्तुओं के अनुसार, उपभोक्ताओं के अनुसार या क्षेत्रों के अनुसार सदस्यों में विभाजन कर लिया जाता है। कोई भी सदस्य उसको आवंटित वस्तु के अतिरिक्त वस्तु अथवा आवंटित ग्राहकों के अतिरिक्त किसी और ग्राहक को या फिर उसको दिए गए निर्धारित क्षेत्र के अतिरिक्त और किसी क्षेत्र में वस्तु को नहीं बेच सकता है।

इस प्रकार के पूल अथवा निकाय स्थापित करने से सदस्य इकाइयों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा कम हो जाती है। विपणन व्ययवों में मितव्ययता प्राप्त होती है और नए नए बाजारों की तलाश होने से वस्तु के बाजार का विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप सदस्य इकाइयों द्वारा कमाए जाने वाले लाभ में वृद्धि स्वाभाविक है।

3. आय या लाभ वितरण निकाय : आय या लाभ निकाय विभिन्न इकाइयों के बीच एक ऐसा समझौता है जिसके द्वारा इसके सदस्य केंद्रीय इकाई द्वारा निर्धारत मूल्य पर वस्तुएं बेचते हैं और सदस्य इकाइयों द्वारा जितनी वस्तुएं बेची जाती हैं उससे अर्जित लाभ का अधिकांश केंद्रीय इकाई में जमा कर देते हैं। फिर उसे सदस्यों में पूर्वनिर्धारित अनुपात में बांट दिया जाता है। वितरण का अनुपात तय करने के लिए उनके उत्पादन, पूंजी और बिक्री आदि को ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार के पूल या निकाय का एक और रूप भी हो सकता है जिसमें पूल द्वारा एक न्यूनतम औसत लागत मूल्य निश्चित कर लिया जाता है और प्रत्येक सदस्य उस मूल्य से अधिक जितना मूल्य वसूल करते हैं उसे केंद्रीय निधि में जमा कर दिया जाता है। उसमें से पूल के समस्त व्यय घटा करके बची हुई राशि को सदस्यों में पूर्व निर्धारित अनुपात में बांट दिया जाता है। इस प्रकार के पूल या निकाय अधिक उपयोगी नहीं समझे जाते हैं क्योंकि इनसे एक ओर तो सदस्यों में प्रतिस्पर्धा कम हो जाती है जो उनके विकास के लिए आवश्यक है और दूसरी ओर कुशल इकाई द्वारा अर्जित लाभ में से औसत इकाई या औसत से भी नीचे की इकाइयों को हिस्सा प्राप्त होता है।

4. यातायात पूल या निकाय : अन्य व्यवसायियों तथा उत्पादकों की भांति यातायात के व्यवसाय में संलग्न संस्थाएं भी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए यातायात पूल या निकाय का निर्माण करती हैं। यातायात पूल के द्वारा यातायात संस्थाओं द्वारा वसूल किए जाने वाले भाड़े की दर का पूर्वनिर्धारण कर दिया जाता है और किसी विशेष स्थान, क्षेत्र या संपूर्ण देश के यातायात के व्यवसाय को यातायात के रास्तों के अनुसार या यातायात के साधनों के अनुसार सदस्य संस्थाओं में बांट दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी संस्था आवंटित यातायात के रास्ते या साधन के बाहर

यातायात सेवाएं संचालित नहीं कर सकती है।

इस प्रकार के पूल या निकाय की स्थापना विशेष रूप से जहाजी कंपनियों द्वारा की जाती रही है। इस प्रकार के पूल या निकाय के अंतर्गत उपलब्ध जहाजी यातायात का व्यवसाय विभिन्न जहाजी कंपनियों में वितरित कर दिया जाता है। उनके द्वारा विभिन्न वस्तुओं के लिए वसूल किया जाने वाला भाड़ा निर्धारित कर दिया जाता है। जहाजी यातायात पूल का दूसरा रूप भी प्रयोग में लाया जाता है जिसे स्थगित छूट विधि (डेफर्ड रिबेट सिस्टम) कहा जाता है। इसके अनुसार यातायात के साधनों का प्रयोग करने वाले ग्राहकों को भाड़े में कुछ छूट दे दी जाती है बशर्ते वे पूल की सदस्य कंपनियों की यातायात सेवाओं का भविष्य में एक निश्चित अवधि तक प्रयोग करते रहें। भाड़े में छूट की राशि वास्तव में तब नियोजित की जाती है यदि ग्राहक निश्चित अवधि तक यातायात के साधन का प्रयोग पूल के माध्यम से करे। इस प्रकार के समझौतों से सदस्य कंपनियों को पर्याप्त व्यवसाय प्राप्त होता रहता है।

यातायात पूल या निकाय की स्थापना से सदस्य इकाइयों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है, उनके कार्यशील व्ययों में कमी होती है, सदस्यों को पर्याप्त व्यवसाय निरंतर रूप से उपलब्ध होता रहता है और अंतिम रूप से सदस्य कंपनियों की आय में वृद्धि होती है।

5. पेटेंट्स पूल या निकाय : इस प्रकार के पूल अमरीका में बहुत पहले से प्रचलित रहे हैं। इस प्रकार के पूल में उत्पादक आपस में मिलकर पेटेंट अधिकारों को केंद्रीय रूप से विभिन्न दक्ष एवं निपुण व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से क्रय करके एकत्रित कर लेते हैं और फिर प्रत्येक सदस्य को उसकी उत्पादन क्षमता आदि को ध्यान में रखकर विभिन्न पेटेंट आवंटित कर दिए जाते हैं। प्रत्येक सदस्य स्वयं को आवंटित पेटेंट का ही प्रयोग कर सकता है। इसका ज्वलंत उदाहरण 'रेडियो कारपोरेशन आफ अमेरिका' है। इस कारपोरेशन ने लगभग 4000 कंपनियों से पेटेंट अधिकार क्रय करके उन्हें सदस्य इकाइयों में प्रयोग करने के लिए वितरित किया है।

पूल या निकाय के लाभ : 1. पूल या निकाय की स्थापना भी काफी आसान एवं सरल है क्योंकि इन्हें स्थापित करने के लिए कोई वैधानिक औपचारिकता पूरी नहीं करनी पड़ती है और सदस्य इकाइयां आपस में एक समझौता करके केंद्रीय रूप से संयोजित हो जाती हैं।

2. पूल संयोजन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें पर्याप्त लोच विद्यमान रहती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर संबंधित समझौते में आवश्यक अनुकूल परिवर्तन किए जा सकते हैं।

3. व्यावसायिक संयोजन के इस रूप में भी सम्मिलित सदस्य इकाइयों का पृथक अस्तित्व बना रहता है और आंतरिक प्रबंध में प्रत्येक सदस्य इकाई पूर्ण रूप से स्वतंत्र होती है।

4. पूल या निकाय की स्थापना से सदस्य इकाइयों के बीच व्याप्त अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा समाप्त की जा सकती है और उत्पादन या बाजार से संबंधित अन्य तत्वों को नियमित करके बाजार की अनिश्चितता समाप्त की जा सकती है।

5. पूल या निकाय में सम्मिलित सदस्य इकाइयां पूर्णतया उत्पादन कार्य में व्यस्त रहती हैं और आय में वृद्धि करने के लिए सदस्य इकाइयां उत्पादन की आंतरिक कुशलता पर अधिक बल देती हैं। इससे वस्तुओं की लागत में कमी आ सकती है और उनकी किस्म में सुधार हो सकता है।

दोष : 1. पूल या निकाय की स्थापना का उद्देश्य उत्पादन तथा वस्तु के बाजार से संबंधित अन्य तत्वों को नियंत्रित करके मूल्यों पर नियंत्रण प्राप्त करना होता है। इस दृष्टि से

पूल ग्राहकों के हित में नहीं समझे जा सकते हैं क्योंकि पूल या निकाय की स्थापना के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा में कमी के कारण उन्हें उचित मूल्यों में वस्तुएं प्राप्त नहीं होती हैं।

2. पूल या निकाय की स्थापना से उत्पादन को मांग से संतुलित रखने के लिए अनावश्यक रूप से प्रतिबंधित कर दिया जाता है और इस प्रकार सदस्य इकाइयां उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती हैं।

3. पूल या निकाय के अंतर्गत विभिन्न व्यावसायिक इकाइयां आपस में मिलकर संघ की स्थापना करती हैं और आय या लाभ का वितरण या उत्पादन कोटे का आवंटन केंद्रीय रूप से किया जाता है। इससे उन औसत इकाइयों अथवा औसत से नीचे कम कुशलतावाली इकाइयों को भी कुशल इकाइयों द्वारा अर्जित आय में से न्यूनतम आय प्राप्त हो जाती है। सदस्य इकाइयों की कुशलता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

4. पूल या निकाय की स्थापना केवल एक समझौते के आधार पर होती है। इससे पूल का अस्तित्व स्थाई नही रहता है क्योंकि कभी भी सदस्य आपसी मनमुटाव के कारण या नियमों का उल्लंघन करके इनके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते हैं।

5. व्यवहार में कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत पूल या निकाय के बाहर गैर सदस्यों से कटु प्रतिस्पर्धा के कारण पूल के उद्देश्य प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं।

कार्टेल

अमरीका में जिन संघों को पूल या निकाय के नाम से जाना जाता है उन्हीं संघों को यूरोपीय देशों में कार्टेल कहा जाता है। मूल रूप से ये दोनों प्रकार के संघ लगभग एक ही भांति स्थापित होते हैं और उनके उद्देश्यों में काफी हद तक समानता है। डा० ईसा के शब्दों में, 'कार्टेल स्वतंत्र व्यवसायों का एक ऐसा संघ है जो सदस्य इकाइयों के उत्पादन, क्रय, मूल्य निर्धारण या अन्य व्यावसायिक शर्तों से संबंधित दायित्वों को क्रियात्मक रूप देता है और प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध बाजार को प्रभावित करता है।'

इस परिभाषा से कार्टेल की प्रकृति तथा स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि न तो परिभाषा में कार्टेल की स्थापना की विधि का उल्लेख है और न इसके उद्देश्यों को ही स्पष्ट किया गया है। कार्टेल का उद्देश्य उत्पादन, क्रय या मूल्य निर्धारण के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण शर्तों का निर्धारण तथा क्रियान्वयन भी हो सकता है।

दूसरे शब्दों में कार्टेल भी समतल संयोजन की भांति एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली संस्थाओं के बीच एक ऐसा समझौता है जिसके द्वारा सदस्यों की लाभक्षमता बढ़ाने के लिए उनका उत्पादन नियमित किया जाता है, वस्तु के बाजार का विभाजन किया जाता है, बिक्री का केंद्रीकरण किया जाता है और सामान्य मूल्य नीति निर्धारित की जाती है।

विशेषताएं : 1. कार्टेल समतल संयोजन की भांति एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाली व्यावसायिक संस्थाओं के बीच एक समझौता है।

2. कार्टेल में भी पूल की भांति सदस्य इकाइयों का पृथक अस्तित्व बना रहता है और आंतरिक प्रबंध में प्रत्येक इकाई स्वतंत्र होती है।

3. इस प्रकार के संघों में केंद्रीय संगठन द्वारा निर्धारित विशिष्ट नीतियों का सदस्यों द्वारा पूर्णतया पालन किया जाता है।

4. कार्टेल को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सदस्य इकाइयों की लाभक्षमता में वृद्धि करना होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उत्पादन किया जाता है और बाजार का विभाजन किया जाता है ताकि सदस्यों के बीच कटु प्रतिस्पर्धा समाप्त की जा सके।

5. कार्टेल की मुख्य विशेषता यह है कि कार्टेल के साथ एक केंद्रीय बिक्री संगठन भी संलग्न रहता है जो सदस्यों से उत्पादन एकत्रित करके उसे केंद्रीय रूप से बेचता है।

कार्टेल के उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर इन्हें निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

शर्त निर्धारण कार्टेल : यह सदस्यों के बीच एक ऐसा समझौता है जिसके अंतर्गत वे वस्तुओं की बिक्री कार्टेल द्वारा निर्धारित समान शर्तों पर करते हैं। समझौते के अंतर्गत वस्तु की बिक्री से संबंधित समस्त शर्तें पूर्व निर्धारित कर दी जाती हैं और प्रत्येक सदस्य इकाई इन शर्तों का पूर्णतया पालन करती है। बिक्री से संबंधित शर्तें—जैसे डिस्काउंट, यातायात व्यय, सुपुर्दगी के खर्चे, उधार बिक्री की अवधि आदि हो सकती हैं। इस प्रकार के कार्टेल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्यों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा कम करना, मूल्यों में अनावश्यक कमी प्रतिबंधित करना तथा वस्तु की बिक्री में उचित मूल्य प्राप्त करना आदि हो सकते हैं।

मूल्य निर्धारण कार्टेल : शर्त निर्धारण कार्टेल की भांति मूल्य निर्धारण कार्टेल का मुख्य उद्देश्य भी वस्तु के मूल्यों को नियंत्रित करके सदस्यों को वस्तुओं का उचित मूल्य दिलाना है। इस प्रकार के समझौतों में कार्टेल द्वारा एक न्यूनतम मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है और कोई भी सदस्य इकाई इस न्यूनतम मूल्य से नीचे मूल्य पर वस्तुएं नहीं बेच सकती है।

क्षेत्रीय कार्टेल : क्षेत्रीय कार्टेल के समझौते के अंतर्गत सदस्य इकाइयों को अपनी वस्तुएं बेचने के लिए विभिन्न क्षेत्र आवंटित कर दिए जाते हैं और प्रत्येक सदस्य केवल उसे आवंटित क्षेत्र में ही वस्तुएं बेच सकता है। इससे भी सदस्यों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है और प्रत्येक क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करके अच्छे मूल्य पर वस्तुएं बेची जा सकेंगी।

उत्पादन कार्टेल : उत्पादन पूल या निकाय की भांति उत्पादन कार्टेल के सदस्य भी आपस में समझौता करके कुल उत्पादन को मांग से संतुलित करके वस्तु के मूल्य में स्थिरता कायम कर लेते हैं। इस प्रकार अत्यधिक उत्पादन की संभावना कम करके प्रत्येक उत्पादक वस्तुओं की किस्म में सुधार करके अपनी आंतरिक कुशलता बढ़ाने का प्रयास करता है।

सिंडीकेट कार्टेल : सिंडीकेट कार्टेल कार्टेल का वास्तविक रूप समझा जाता है क्योंकि कार्टेल के इस रूप में उत्पादन कार्य विपणन कार्य से संलग्न रहता है। सदस्यों द्वारा इस प्रकार के कार्टेल की स्थापना उत्पादन को केंद्रीय रूप से वितरित करने के लिए की जाती है। इस प्रकार के कार्टेल की स्थापना के संबंध में समस्त सदस्य परस्पर समझौता करके एक 'केंद्रीय बिक्री संगठन' कार्टेल के साथ संलग्न कर देते हैं और समस्त सदस्यों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन लेखा मूल्य या हिसाब मूल्य (एकाउंटिंग प्राइस) जो वस्तु की उत्पादन लागत से कुछ अधिक होता है, पर इस 'केंद्रीय बिक्री संगठन' को बेच दिया जाता है। फिर यह केंद्रीय बिक्री संगठन बाजार में अधिकतम प्राप्त मूल्य पर वस्तुएं अंतिम रूप से ग्राहकों को बेचता है। इस प्रकार केंद्रीय बिक्री संगठन द्वारा जो लाभ अर्जित किया जाता है सदस्यों के बीच उनके द्वारा किए गए उत्पादन के अनुपात में वितरित कर दिया जाता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक सदस्य कितना उत्पादन इस केंद्रीय बिक्री संगठन को बेचेगा। इसकी सीमा पूर्वनिर्धारित रहती है और निर्धारित उत्पादन से अधिक उत्पादन करने में सदस्य दंडित किया जाता है। इस दंड से उन सदस्यों को मुआवजा दे दिया जाता है जो आवंटित कोटे से कम उत्पादन इस संगठन को बेचते हैं। परंतु कोई भी सदस्य प्रत्यक्ष रूप से अपना उत्पादन बाजार में नहीं बेच

सकता है। सिंडीकेट कार्टेल में हालांकि वस्तु के उत्पादन तथा वितरण में समन्वय तथा संतुलन रहता है और उत्पादक को उत्पादित वस्तु के बाजार की अनिश्चितता नहीं रहती है फिर भी इस प्रकार के कार्टेल में अकुशल इकाइयां भी न्यूनतम लाभ कमा लेती हैं और इस प्रवृत्ति का कुशल इकाइयों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

कार्टेल के लाभ : हालांकि कार्टेल भी संघ का ही एक रूप है और विशेषताओं में पूल या निकाय से मिलता जुलता है .फिर भी इसमें पूल या निकाय के अतिरिक्त कुछ अन्य गुण भी विद्यमान हैं।

(अ) कार्टेल की स्थापना भी पूल या निकाय की स्थापना की भांति सरल और आसान है क्योंकि इसको स्थापित करने के लिए केवल सदस्य इकाइयां आपस में एक औपचारिक समझौता करती हैं और अन्य कोई औपचारिकता नहीं करनी पड़ती है।

(ब) काटल के साथ केंद्रीय बिक्री संगठन संलग्न रहने के कारण उत्पादन और वितरण संतुलित तथा समन्वित रहते हुए भी एक दूसरे से पृथक होते हैं। इस प्रकार के संयोजन में सदस्य इकाइयां पूर्णतया अपने उत्पादन कार्य में व्यस्त रहती हैं। इससे उनकी कुशलता में वृद्धि हो सकती है और उत्पादन की किस्म में सुधार हो सकता है। दूसरी ओर केंद्रीय बिक्री संगठन की विद्यमानता में उन्हें अपने उत्पादन के लिए बाजार की अनिश्चितता नहीं रहती है।

(स) सदस्य इकाइयों के उत्पादन का केंद्रीय वितरण होने से एक ओर केंद्रीय बिक्री संगठन को वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति प्राप्त हो जाती है और दूसरी ओर वितरण से संबंधित सामान्य व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं क्योंकि प्रत्येक सदस्य अपना उत्पादन व्यक्तिगत रूप में बेचने के बजाय केंद्रीय बिक्री संगठन को पूर्व निर्धारित मूल्य में वेचता है और फिर केंद्रीय संगठन इस उत्पादन को प्रत्यक्ष रूप से अंतिम ग्राहकों में वितरित करता है।

(द) वस्तुओं का वितरण कार्य केंद्रीय बिक्री संगठन के द्वारा किए जाने से सदस्य इकाइयों को वितरण के मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और इस प्रकार उनके द्वारा लिया जाने वाला लाभ ग्राहक तथा उत्पादक में बंट जाता है।

(य) कार्टेल की स्थापना करने से सदस्यों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन मांग से संतुलित कर दिया जाता है। इससे वस्तुओं के मूल्यों में अनावश्यक परिवर्तनों की संभावना समाप्त हो जाती है।

(र) कार्टेल की स्थापना के फलस्वरूप प्रत्येक सदस्य इकाई अपना समस्त उत्पादन केंद्रीय बिक्री संगठन को पूर्व निर्धारित न्यूनतम बिक्री मूल्य पर वेचती है। इससे सदस्यों को न्यूनतम लाभ की गारंटी बनी रहती है क्योंकि न्यूनतम बिक्री मूल्य में उत्पादन लागत के अतिरिक्त कुछ लाभ का प्रतिशत भी सम्मिलित रहता है।

इन लाभों के अतिरिक्त कार्टेल में कुछ दोष भी हैं जिनके आधार पर इसकी आलोचना की जाती है।

(अ) कार्टेल में केंद्रीय बिक्री संगठन की स्थापना के फलस्वरूप ग्राहकों के हित विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं क्योंकि केंद्रीय बिक्री संगठन द्वारा वस्तुओं का वितरण होने से प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है और ये संगठन एकाधिकार की स्थिति प्राप्त करके ग्राहकों से मनमाने मूल्य वसूल करते हैं।

(ब) कार्टेल की स्थापना से समस्त सदस्य इकाइयों को न्यूनतम लाभ की गारंटी बनी रहती है और इसके अतिरिक्त यदि कोई इकाई आवंटित कोटे से कम उत्पादन करती है तो उसे मुआवजा दिया जाता है। कम उत्पादन अकुशलता के कारण हो सकता है फिर भी उस इकाई को इन कार्टेल्स में आश्रय मिलता रहता है।

(स) कार्टेल की इस व्यवस्था के अंतर्गत जहां अकुशल इकाइयां शरण प्राप्त कर लेती हैं धीरे धीरे कुशल इकाइयों की कुशलता भी क्षीण होने लगती है क्योंकि वे निर्धारित कोटे से अधिक उत्पादन नहीं कर सकती हैं अन्यथा उन्हें दंडित किया जाता है।

(द) कार्टेल में सदस्यों को उनकी कुशलता एवं उत्पादकता बढ़ाने के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिलती है क्योंकि उनका उत्पादन न्यूनतम मूल्य पर केंद्रीय बिक्री संगठन द्वारा क्रय कर लिया जाता है और बाद में केंद्रीय बिक्री संगठन द्वारा अर्जित लाभ समस्त सदस्यों में उत्पादन के अनुपात में बांट दिया जाता है। इससे कोई भी सदस्य अच्छी किस्म की वस्तुएं कुशलतापूर्वक उत्पादित करने के लिए प्रेरित नहीं हो सकता है।

(य) पूल या निकाय की भांति कार्टेल का अस्तित्व अधिक स्थाई समझा जाता है फिर भी सदस्यों के बीच मनमुटाव उत्पन्न होने के कारण इनका शीघ्र विघटन हो सकता है।

कार्टेल तथा पूल या निकाय के लाभ व दोषों का वर्णन करने से यह प्रतीत होता है कि व्यवहार में ग्राहकों के लिए पूल का निकाय कुछ परिस्थितियों में कार्टेल की अपेक्षा कम हानिकारक है क्योंकि इनमें कार्टेल की भांति वितरण कार्य के लिए केंद्रीय बिक्री संगठन को स्थापित करके ग्राहकों से मनमाने मूल्य वसूल नहीं किए जाते हैं। हालांकि पूल या निकाय भी वस्तुओं का उत्पादन, बाजार आदि को नियमित करके मूल्यों पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयास करते हैं किंतु व्यवहार में उन्हें बहुत ही कम परिस्थितियों में मूल्य पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त कार्टेल में उत्पादन तथा वितरण को समन्वित तथा संतुलित किया जाता है, पर वास्तव में देखा जाए तो उत्पादन तथा वितरण कार्य में पूर्णतया संतुलन बनाए रखना काफी जटिल है और कुछ विशेष परिस्थितियों में ही संभव है। कार्टेल का मुख्य उद्देश्य सदस्य इकाइयों की लाभक्षमता बढ़ाना है। यदि लाभक्षमता बढ़ाने के लिए उचित तरीके अपनाए जाएं, जैसे कुशलता तथा उत्पादकता में वृद्धि, व्ययों में मितव्ययता आदि, तो इनका अस्तित्व वांछनीय हो सकता है। पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि कार्टेल की व्यवस्था के अंतर्गत अकुशल इकाइयों को भी आश्रय मिलता है और कुशल इकाइयों को प्रेरणा के अभाव में कुशलता में वृद्धि करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। अतः इन दोनों रूपों में लाभ व दोषों की समानता है तथा व्यवहार में अलग अलग परिस्थितियों में इनकी उपयुक्तता तथा उपयोगिता भी भिन्न होती है। दोनों स्वरूपों में व्यवसाय का पृथक अस्तित्व तथा स्वतंत्र प्रबंध प्रणाली के दोषों के कारण ये अधिक प्रभावशील नहीं समझे जाते हैं।

आंशिक संघनन

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, व्यावसायिक संयोजन के मंडल तथा संघ स्वरूप दोनों में उनकी असफलता तथा अप्रभावशीलता के मुख्य कारण संयोजित होने वाले सदस्यों के व्यवसाय के अस्तित्व की पृथकता तथा आंतरिक प्रबंध तथा संचालन में पूर्ण स्वतंत्रता आदि हैं क्योंकि आंतरिक प्रबंध एवं संचालन पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने के कारण इन स्वरूपों की प्रबंध प्रणाली में एकरूपता का अभाव रहा है और पृथक अस्तित्व के कारण इनमें स्थायित्व नहीं लाया जा सका है। इन स्वरूपों के मुख्य दोषों को दृष्टि में रखते हुए व्यावसायिक संयोजन का एक अन्य स्वरूप विकसित किया गया जो आंशिक संघनन के नाम से प्रचलित है।

आंशिक संघनन व्यावसायिक संयोजन का वह रूप है जिसके अंतर्गत सदस्य इकाइयां अपने अपने व्यवसाय का अस्तित्व पृथक रूप से कायम रखते हुए व्यावहारिक रूप से संयुक्त स्वामित्व, प्रबंध तथा नियंत्रण के अंतर्गत आ जाती हैं। इसे आंशिक

संघनन कहा जाता है क्योंकि इसमें सदस्य इकाइयों का अस्तित्व आंशिक रूप से सामूहिक अस्तित्व में विलीन हो जाता है और आंशिक रूप से पृथक रहता है। इस प्रकार के संयोजन का मुख्य उद्देश्य संयोजन को स्थायित्व प्रदान करना तथा सदस्य इकाइयों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में एकरूपता लाना है।

आंशिक संघनन तीन प्रकार से किया जा सकता है : (i) संयोजन ट्रस्ट, (ii) सामुदायिक हित या हित एक्यता, (iii) सूत्रधारी कंपनी (होल्डिंग कंपनी)।

संयोजन ट्रस्ट

साधारण अर्थों में ट्रस्ट एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक ठहराव द्वारा, जिसे 'ट्रस्ट करार' कहा जाता है, किसी व्यक्ति की संपत्ति उस व्यक्ति की ओर से उसके लाभ के लिए संचालित एवं प्रबंधित करने के लिए दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को सौंप दी जाती है। जो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह संपत्ति का प्रबंध एवं संचालन करता है उसे ट्रस्टी कहा जाता है और जिसके लाभ के लिए संपत्ति का प्रबंध एवं संचालन किया जाता है उसे लाभाधिकारी (बेनीफिशियरी) कहते हैं। व्यवहार में इस प्रकार की व्यवस्था प्राय: नाबालिग, धार्मिक संस्थाओं तथा अन्य सेवा संस्थाओं की संपत्ति का प्रबंध एवं संचालन करने के लिए की जाती है।

ट्रस्ट द्वारा संपत्ति के प्रबंध व संचालन की व्यवस्था व्यवसाय में भी प्रयोग की जाती रही है। इस व्यवस्था के अंतर्गत छोटी छोटी संस्थाएं अपनी संपत्ति को संचालित एवं नियंत्रित करने का अधिकार कुछ प्रतिष्ठित, कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों को सौंपकर स्वयं उसकी लाभाधिकारी बन जाती हैं। इस प्रकार के ट्रस्टों को 'साधारण व्यावसायिक ट्रस्ट' कहा जाता है।

ट्रस्टों के विकास के प्रारंभ में अमरीका में मताधिकार ट्रस्ट भी प्रचलित थे जिनको बाद में अवैधानिक घोषित कर दिया गया क्योंकि इस व्यवस्था को अंशधारियों के हित में नहीं समझा जाता था। इसके अंतर्गत कंपनियों के सामान्य अंशधारी अपने अंशों से संबंधित अधिकारों को कुछ व्यक्तियों को सौंपते थे और ट्रस्टियों को मूल अंशधारी के अंश से संबंधित समस्त अधिकार प्राप्त हो जाते थे।

ट्रस्ट स्वरूप के विकास के फलस्वरूप सामान्य व्यावसायिक ट्रस्टों और मताधिकार ट्रस्टों का मिश्रित रूप उत्पन्न हुआ जिसे 'संयोजन ट्रस्ट' कहा जाता है। यह स्वरूप अन्य ट्रस्टों से अधिक प्रभावशाली तथा सुदृढ़ समझा जाता है।

संक्षेप में, संयोजन ट्रस्ट व्यावसायिक संयोजन का एक ऐसा स्वरूप है जिसके अंतर्गत इनका गठन करने वाली कंपनियों के सामान्य अंशधारी अंशों की वह संख्या, जो कंपनी के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के लिए आवश्यक हो, एक ठहराव के द्वारा निश्चित समय तक के लिए ट्रस्ट प्रमाणपत्रों के बदले में ट्रस्ट को हस्तांतरित कर देते हैं और ट्रस्ट उन समस्त कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण चलाने के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करता है और फलस्वरूप विभिन्न सदस्य कंपनियों की प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण की व्यवस्था में एकरूपता लाई जाती है। इसके अतिरिक्त ये ट्रस्ट सदस्य कंपनियों के द्वारा घोषित लाभांश केंद्रीय रूप से एकत्रित करके उसमें से ट्रस्ट के व्ययों को कम करके ट्रस्ट प्रमाणपत्रों के धारकों को उनके हित के अनुपात में बांट देते हैं। व्यावसायिक संयोजन ट्रस्टों में निम्न विशेषताएं होती हैं :

1. ट्रस्ट व्यवस्था के अंतर्गत सदस्य इकाइयों का अपना पृथक अस्तित्व बना रहता है।

2. सदस्य कंपनियों के सामान्य अंशधारियों द्वारा अपने अंशों की वह संख्या ट्रस्ट

को हस्तांतरित कर दी जाती है जो कंपनी के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार प्राप्त करने के लिए आवश्यक हो।

3. जिन ट्रस्टों को ये अंश हस्तांतरित किए जाते हैं वे ट्रस्ट ट्रस्ट अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत होते हैं। ये ट्रस्ट अंशधारियों को अंशप्रमाणपत्र के बदले ट्रस्ट प्रमाणपत्र जारी करते हैं।

4. संयोजन ट्रस्ट का गठन या तो समतल संयोजन की भांति पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए या शीर्ष संयोजन की भांति आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है।

5. संयोजन ट्रस्ट स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सदस्य कंपनियों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में एकरूपता लाना है और उनके संयोजन के अस्तित्व को स्थाई बनाना है।

6. संयोजन ट्रस्ट में लाभांश प्रत्येक कंपनी से प्राप्त करके केंद्रीय रूप में एकत्रित किया जाता है और उसमें से ट्रस्ट के व्यय कम करके ट्रस्ट प्रमाणपत्र धारकों में उनके हित के अनुपात में विभाजित कर दिया जाता है।

संयोजन ट्रस्ट से लाभ : 1. व्यावसायिक संयोजन का यह रूप मंडल एवं संघ की तुलना में अधिक स्थाई होता है क्योंकि ट्रस्ट समझौते के अंतर्गत एक निश्चित अवधि तक के लिए सामान्य अंशधारी अपने अंशों को ट्रस्ट को हस्तांतरित कर देते हैं।

2. संयोजन के इस स्वरूप में सदस्य इकाइयों के प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण में एकरूपता रखी जाती है क्योंकि प्रत्येक कंपनी का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण अलग अलग संचालक मंडलों द्वारा न होकर ट्रस्ट के द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है।

3. सदस्य कंपनियों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में एकरूपता के साथ ही साथ प्रबंध एवं प्रशासनिक व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त की जाती हैं क्योंकि प्रत्येक कंपनी को संचालित करने के लिए सामान्य ट्रस्ट मंडल स्थापित किया जाता है।

4. संयोजन ट्रस्ट में विभिन्न सदस्य इकाइयों को एक ही सामान्य प्रबंध व प्रशासनिक ढांचे के अंतर्गत रख दिया जाता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक सदस्य कंपनी के साधनों का अधिकतम उपयोग संभव है क्योंकि यदि कंपनी कटु प्रतिस्पर्धा के कारण या कच्चे माल की दुर्लभता के कारण अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग नहीं कर पा रही है तो इस प्रकार के संयोजन से उस कंपनी को कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सकता है और कटु प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके अपव्ययों में कमी की जा सकती है।

5. संयोजन ट्रस्टों के गठन के फलस्वरूप केंद्रीय प्रबंध एवं संचालन से सदस्य कंपनियों को विभिन्न प्रकार की मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं जिससे उनकी उत्पादन लागत में कमी स्वाभाविक है और इससे ग्राहक उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों में प्राप्त कर सकता है और कंपनी अधिक लाभ कमा सकती है।

संयोजन ट्रस्टों की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है :

1. संयोजन ट्रस्ट इससे पूर्व संयोजन के स्वरूपों की तुलना में अधिक स्थाई समझे जाते हैं क्योंकि इनमें सामान्य अंशधारी एक निश्चित समय के लिए अपने अंश ट्रस्ट को हस्तांतरित करते हैं। पर व्यवहार में यह पाया गया है कि संयोजन ट्रस्ट भी अस्थाई प्रकृति के होते हैं क्योंकि विभिन्न कंपनियों के अंशधारियों में आपसी मतभेद उत्पन्न होने से इनके अस्तित्व को सदैव खतरा बना रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समस्त सदस्य कंपनियां एक ही प्रबंधकीय तथा प्रशासनिक ढांचे में होने से भी समान दर की आय नहीं कमा पाती हैं।

2. संयोजन ट्रस्ट के गठन से विभिन्न सदस्य कंपनियों के आर्थिक साधनों पर ट्रस्ट के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों का एकाधिकार हो जाता है तथा साधनों के एकत्रीकरण से कंपनियों में अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और अंशधारियों को हानि हो सकती है।

3. संयोजन ट्रस्टों की स्थापना से प्रबंध में कठिनाई तथा अकुशलता उत्पन्न हो सकती है क्योंकि प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण एक जटिल कार्य है और यदि विभिन्न कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में है तो व्यवहार में इससे तमाम प्रबंधकीय कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं और वे व्यक्ति कुशलतापूर्वक समस्त सदस्य इकाइयों का प्रबंध एवं संचालन नहीं कर सकते हैं।

4. संयोजन ट्रस्ट आंशिक संघनन होने के कारण इनमें लोच का अभाव रहता है। यदि ट्रस्ट द्वारा कंपनियों का प्रबंध एवं संचालन कुशलतापूर्वक नहीं चलाया जाता है तो अंशधारी निश्चित अवधि समाप्त होने से पहले इस व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन नहीं कर सकते हैं।

5. यदि संयोजन ट्रस्ट की स्थापना से कंपनियों का प्रबंध एवं संचालन कुशलता-पूर्वक नहीं किया जाता है तो इससे अंशधारी, ग्राहक तथा श्रमिकों के हित विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं और इससे सरकारी हस्तक्षेप की संभावना बढ़ जाती है।

सामुदायिक हित या हितैक्य (कम्यूनिटी इंटरेस्ट)

सामुदायिक हित एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत विभिन्न कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण किसी औपचारिक केंद्रीय संगठन की स्थापना के बिना और कंप-नियों का पृथक अस्तित्व मिटाए बिना अंशधारियों, संचालकों या प्रबंधकों के सामान्य समूह के सुपुर्द हो जाता है और यही सामान्य समूह उन सभी कंपनियों के लिए मूल नीतियों का निर्धारण करके उनको क्रियान्वित करवाता है।

हैने के अनुसार, 'सामुदायिक हित व्यावसायिक संगठन का एक ऐसा रूप है जिसमें किसी औपचारिक केंद्रीय संगठन के बिना विभिन्न कंपनियों की व्यावसायिक नीति कुछ सार्व अंशधारियों या संचालकों के समूह द्वारा नियंत्रित की जाती है।'

हैने द्वारा दी गई इस परिभाषा को पूर्ण एवं उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि इस परिभाषा से सामुदायिक हित के उद्देश्यों को भलीभांति समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त परिभाषा में यह भी स्पष्ट किया गया है कि सामुदायिक हित की व्यवस्था कैसे स्थापित की जाती है। सामुदायिक हित की व्यवस्था में निम्न विशेताएं पाई जाती हैं।

1. इस प्रकार के संयोजन में सदस्य इकाइयों का पृथक अस्तित्व कायम रहता है।

2. इस प्रकार के संयोजन में किसी औपचारिक केंद्रीय संगठन की स्थापना नहीं की जाती है।

3. इस व्यवस्था में कुछ अंशधारियों, संचालकों या प्रबंधकों का समूह समस्त कंपनियों में सामान्य होता है और यही सामान्य समूह समस्त कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण चलाता है।

4. सामूहिक हित व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य किसी औपचारिकता को पूरा किए बिना कुछ कंपनियों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में एकरूपता लाना है।

5. सामूहिक हित की व्यवस्था निम्न तीन विधियों में से किसी एक विधि के द्वारा की जा सकती है :

(अ) प्रबंधकीय एकीकरण (मेनेजीरियल इंटिग्रेशन)

(ब) प्रशासनिक एकीकरण (ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंटिग्रेशन)

(स) वित्तीय एकीकरण (फाइनेन्शियल इंटिग्रेशन)

प्रबंधकीय एकीकरण : सामूहिक हित को उत्पन्न करने की यह विधि 'मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली' के रूप में प्रचलित थी। इसके अंतर्गत कुछ गिने चुने मैनेजिंग एजेंट कई कंपनियों का प्रवर्तन एवं समामेलन करके, उनको आवश्यक वित्त प्रदान करके स्वयं उनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण भी चलाते थे, जैसे टाटा, बिड़ला, गोयनका आदि औद्योगिक संस्थाएं। इस प्रकार की व्यवस्था में स्वाभाविक रूप से वे समस्त कंपनियां एक ही मैनेजिंग एजेंट अथवा संस्था द्वारा संचालित होती थीं। परंतु मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली में उभरते हुए दोषों के फलस्वरूप 1970 में इसका उन्मूलन कर दिया गया।

प्रशासनिक एकीकरण : यदि दो या दो से अधिक कंपनियों के संचालक मंडल में संचालकों का एक सामान्य समूह विद्यमान हो तो स्वाभाविक है कि संचालकों का एक सामान्य समूह उन सब कंपनियों के सामूहिक हितों की रक्षा करने के लिए उनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सामान्य नीतियों के आधार पर करेगा और इस प्रकार का प्रशासनिक एकीकरण संचालक पद का अंतर्ग्रंथन कहा जाता है।

वित्तीय एकीकरण : इस प्रकार के एकीकरण में कोई वित्तीय संस्था, जैसे बैंक, बीमा कंपनी या विशिष्ट वित्तीय संस्था यदि दो या दो से अधिक औद्योगिक संस्थाओं को इस प्रकार वित्तीय सहायता प्रदान करती है कि उनके प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में उसे अधिकार प्राप्त हो जाता है तो इसे वित्तीय एकीकरण कहा जाएगा। क्योंकि इसमें विभिन्न संस्थाओं का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण एक दूसरे से इसलिए जुड़ा हुआ है कि उन संस्थाओं ने एक ही वित्तीय संस्था से पूंजी का महत्वपूर्ण हिस्सा प्राप्त किया है। वित्तीय एकीकरण के लिए वित्तीय संस्था विभिन्न संस्थाओं में प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के लिए पर्याप्त संख्या के सामान्य अंश खरीद लेती है और उन सब कंपनियों को प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण की दृष्टि से एक सूत्र में बांध देती है।

सामूहिक हित की व्यवस्था से लाभ : सामूहिक हित की व्यवस्था संयोजन ट्रस्ट की अपेक्षा सरलतापूर्वक स्थापित की जा सकती है क्योंकि यह व्यवस्था कुछ तत्वों के स्वत: संघटित होने से उत्पन्न हो जाती है और इसके लिए कोई औपचारिकता पूरी नहीं की जाती है। सामूहिक हित व्यवस्था से विभिन्न कंपनियों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण किसी औपचारिक केंद्रीय संगठन की स्थापना किए बिना संचालकों या अंशधारियों के सामान्य समूह को प्राप्त हो जाता है। इससे उन समस्त कंपनियों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में एकरूपता बनी रहती है। इस व्यवस्था को आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तित किया जा सकता है और विभिन्न कंपनियां अपना पृथक अस्तित्व खोए बिना बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययताएं प्राप्त कर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में अस्थिरता बनी रहती है क्योंकि सामान्य संचालकों के प्रति किसी भी समय अंशधारियों का विश्वास खत्म हो सकता है। इससे एक ओर प्रबंधकीय अधिकारों का कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में एकत्रीकरण हो जाता है और दूसरी ओर प्रबंधकीय क्षमता तथा योग्यतावाले नए प्रबंधकों को प्रबंध का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता है।

सूत्रधारी कंपनी

यदि कोई कंपनी किसी दूसरी कंपनी अथवा कंपनियों के 51% या इससे अधिक सामान्य अंश क्रय करके दूसरी कंपनी अथवा कंपनियों के संचालक मंडल की संरचना पर नियंत्रण प्राप्त कर लेती है तो इस प्रकार की कंपनी को सूत्रधारी कंपनी कहा जाता है इसके विपरीत जिस कंपनी अथवा जिन कंपनियों में नियंत्रणात्मक हित प्राप्त किए

जाते हैं उनको सहायक कंपनी कहा जाता है।

हैने के शब्दों में, 'सूत्रधारी कंपनी व्यावसायिक संगठन का ऐसा रूप है (जो आंशिक अथवा पूर्ण संघनन द्वारा स्थापित किया जाता है) जो अन्य संस्थाओं को उनके अंशों की नियंत्रणात्मक संख्या क्रय करके उन्हें आपस में संयोजित करने के लिए बनाया जाता है।' यह परिभाषा काफी व्यापक एवं विस्तृत है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार सूत्रधारी कंपनी या तो अन्य कंपनियों के अंशों की नियंत्रणात्मक संख्या क्रय करके उसके प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में अधिकार प्राप्त कर लेती है, या पूर्ण संघनन के द्वारा एक कंपनी दूसरी कंपनी की स्थापना करके उसके 51% या उससे अधिक सामान्य अंश स्वयं प्राप्त कर लेती है ताकि उसे सहायक कंपनी पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त हो सके।

संयोजन का यह रूप काफी लोकप्रिय बन चुका है क्योंकि एक ओर तो यह व्यवहार में सबसे अधिक प्रभा .शील समझा जाता है और दूसरी ओर इस रूप को सही ढंग से क्रियान्वित करने के लिए कंपनी अधिनियम में भी आवश्यक व्यवस्थाएं की गई हैं।

सूत्रधारी कंपनी को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है :

प्रमुख सूत्रधारी कंपनी : यदि किसी भी सूत्रधारी कंपनी की सहायक कंपनी किसी अन्य कंपनी की सूत्रधारी हो तो इस शीर्षस्थ सूत्रधारी कंपनी को प्रमुख सूत्रधारी कंपनी कहा जाता है। यह प्रमुख सूत्रधारी कंपनी अपनी समस्त सहायक कंपनियों पर नियंत्रण रखती है और अन्य किसी कंपनी की सहायक कंपनी नहीं होती है। इसे प्राथमिक अथवा मूल सूत्रधारी कंपनी भी कहा जा सकता है क्योंकि यह कंपनी सूत्रधारी कंपनी की भी सूत्रधारी कंपनी होती है।

मध्यस्थ सूत्रधारी कंपनी : मध्यस्थ सूत्रधारी कंपनी कुछ कंपनियों की सूत्रधारी कंपनी होते हुए भी कुछ अन्य कंपनियों या कंपनी की सहायक कंपनी होती है, जैसे यदि कंपनी 'अ' कंपनी 'ब' की सूत्रधारी कंपनी है और कंपनी 'स' की सहायक कंपनी तो कंपनी 'अ' को मध्यस्थ सूत्रधारी कंपनी कहा जाएगा।

विशुद्ध सूत्रधारी कंपनी : शुद्ध सूत्रधारी कंपनी एक ऐसी कंपनी है जिसको अन्य कंपनियों के नियंत्रणात्मक संख्या के अंश क्रय करने के लिए स्थापित किया जाता है। इस कंपनी का अपना कोई मुख्य कारोबार नहीं होता है और यह कंपनी अपनी सहायक कंपनियों का प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण चलाती है और उन्हें समय समय पर वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

मिश्रित सूत्रधारी कंपनी : इस प्रकार की सूत्रधारी कंपनी का अपना पृथक व्यवसाय होता है और इस व्यवसाय के साथ ही साथ वह अन्य कंपनियों के नियंत्रणात्मक संख्या में अंश क्रय करके उन्हें अपनी सहायक कंपनी बना लेती है।

जननिक सूत्रधारी कंपनी : इस प्रकार की सूत्रधारी कंपनी पहले से ही अस्तित्व में रहती है और बाद में अन्य कंपनियों की स्थापना करके उनको अपनी सहायक कंपनी बना लेती है।

स्वामित्व सूत्रधारी कंपनी : यदि कोई सूत्रधारी कंपनी अपनी सहायक कंपनी के सारे अंश क्रय करके उसका पूरा स्वामित्व प्राप्त कर ले तो इसे स्वामित्व सूत्रधारी कंपनी कहा जाएगा।

संयोजित सूत्रधारी कंपनी : इस प्रकार की सूत्रधारी कंपनी की स्थापना मुख्य रूप से कुछ अन्य कंपनियों को प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण की दृष्टि से संयोजित करने के लिए की जाती है और इस प्रकार की कंपनी के निर्माण से वर्तमान कंपनियां प्रबंध के एक सूत्र में बंध जाती हैं।

सूत्रधारी कंपनी के लाभ : व्यावसायिक संयोजन का यह स्वरूप दिन प्रतिदिन प्रचलित होता जा रहा है। इस स्वरूप को अमरीका में विशेष महत्व दिया गया है। प्रारंभ में संयोजन की इस विधि को वहां जन सेवार्थ संस्थाओं को संयोजित करने के लिए प्रयोग में लाया गया और अब संपूर्ण व्यवसाय में इस स्वरूप को अपनाया जाता है। भारतवर्ष में सूत्रधारी कंपनियां सार्वजनिक एवं निजी दोनों औद्योगिक क्षेत्रों में प्रचलित हैं, जैसे एसोसिएटेड सिमेंट कंपनी, भारतीय सिमेंट विपणन कंपनी, ब्रुक बांड आफ इंडिया लिमिटेड, जयश्री टी कंपनी आदि। अर्थात संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में इनका प्रचलन बढ़ता जा रहा है क्योंकि इस स्वरूप में इससे पहले बताए गए स्वरूपों की तुलना में निम्न लाभ पाए जाते हैं :

1. संयोजन का यह स्वरूप स्थापना के दृष्टिकोण से काफी सरल एवं सुगम है क्योंकि कोई भी कंपनी अपने वित्तीय साधनों का विनियोजन दूसरी कंपनी के 51% या इससे अधिक सामान्य अंश क्रय करके सूत्रधारी कंपनी बन जाती है।

2. सूत्रधारी कंपनी विभिन्न कंपनियों को, जो अलग अलग प्रकार का व्यवसाय कर रही हों, अपनी सहायक कंपनी बनाकर व्यवसाय के जोखिम को संतुलित करके कम कर सकती है।

3. व्यावसायिक संगठन का यह स्वरूप लोचपूर्ण है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर सूत्रधारी कंपनी अपनी सहायक कंपनी के अंश बेचकर दूसरी कंपनी को अपनी सहायक कंपनी बनाकर अपने विनियोजन में परिवर्तन कर सकती है।

4. सूत्रधारी कंपनी द्वारा विभिन्न कंपनियों में नियंत्रणात्मक संख्या के अंश क्रय करके उनको सहायक कंपनी बना दिया जाता है और इन विभिन्न सहायक कंपनियों का केंद्रीय रूप से प्रबंध एवं संचालन होने के कारण एक ओर तो प्रबंध में एकरूपता बनी रहती है और दूसरी ओर प्रबंधकीय व्ययों में बचतें प्राप्त होती हैं।

5. सहायक कंपनियों के प्रबंध, संचालन व नियंत्रण का केंद्रीकरण होने से उनके व्यवसाय में गोपनीयता रखी जा सकती है क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रबंध से संबंधित नीतियों का प्रतिस्पर्धात्मक संस्थाओं को ज्ञान नहीं हो सकता है।

6. सूत्रधारी कंपनी के नियंत्रण में कई सहायक कंपनियां होने से उन सबको एक दूसरे की ख्याति का लाभ प्राप्त हो सकता है और सूत्रधारी कंपनी के प्रभावपूर्ण एवं कुशल प्रबंध एवं संचालन से उनकी ख्याति में वृद्धि संभव है।

7. सूत्रधारी कंपनी के निर्माण से विभिन्न सहायक कंपनियों में कटु एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है क्योंकि समस्त सहायक कंपनियों का प्रबंध, संचालन व नियंत्रण सूत्रधारी कंपनी ही करती है। इससे उनमें पारस्परिक सहयोग तथा मेलजोल की भावना जाग्रत होती है।

8. सूत्रधारी कंपनी के अंशधारियों को कम जोखिम वहन करना पड़ता है क्योंकि सूत्रधारी कंपनी का कई अलग अलग प्रकार का व्यवसाय करनेवाली सहायक कंपनियों में पूंजी का विनियोजन रहता है और समय समय पर आवश्यकता पड़ने पर सूत्रधारी कंपनी अपने विनियोजन में परिवर्तन कर सकती है।

9. सूत्रधारी कंपनी सहायक कंपनियों में नियंत्रणात्मक संख्या के अंश क्रय करके उन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेती है जबकि सहायक कंपनी की शेष पूंजी अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा लगाई जाती है। इस प्रकार सूत्रधारी कंपनी के नियंत्रण में पर्याप्त वित्तीय साधन आ जाते हैं और पूंजी का अभाव समाप्त हो जाता है।

दोष : 1. व्यावसायिक संयोजन के इस स्वरूप में भी अन्य स्वरूपों की भांति वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करके ग्राहकों का शोषण संभव है।

2. सूत्रधारी कंपनी के निर्माण से आर्थिक साधनों का कुछ ही गिने चुने व्यक्तियों के हाथों में एकत्रीकरण हो जाता है क्योंकि सूत्रधारी कंपनी को कई सहायक कंपनियों में नियंत्रणात्मक संख्या के अंश क्रय करके उनके समस्त आर्थिक साधनों पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है।

3. सूत्रधारी कंपनी को दायित्वों की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त रहते हैं क्योंकि सूत्रधारी कंपनी का सहायक कंपनियों के आर्थिक साधनों पर पूर्ण नियंत्रण का अधिकार होते हुए भी उनके प्रति कोई निश्चित दायित्व नहीं होता है और किसी भी सहायक कंपनी की असफलता की स्थिति में सूत्रधारी कंपनी उस सहायक कंपनी के अंशों को बाजार में बेच कर हानि के जोखिम से बच सकती है।

4 सूत्रधारी कंपनी का सहायक कंपनी के प्रति न तो कोई निश्चित दायित्व होता है और न सहायक कंपनी की असफलता का भय। इससे कुशल प्रबंध की प्रेरणा का अभाव बना रहता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में सूत्रधारी कंपनी समस्त सहायक कंपनियों के अलग अलग व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित तथा प्रबंधित नहीं कर सकती है।

5. सूत्रधारी कंपनी व्यवहार में अपनी सहायक कंपनियों का शोषण भी करती है क्योंकि सूत्रधारी कंपनी द्वारा सहायक कंपनियों को जो सेवाएं प्रदान की जाती हैं उनके लिए वह अत्यधिक मनमाना पारितोषिक वसूल करती है और सहायक कंपनियों को अपने दबाव में रख कर मनमानी शर्तों पर उनसे ऋण लेती है।

6. कुशल एवं प्रभावपूर्ण प्रबंधकीय क्षमता का अभाव और पर्याप्त आर्थिक साधनों की विद्यमानता स्वभावत: अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न करते हैं और जिससे दिन प्रतिदिन कंपनी की लाभक्षमता में क्षीणता आने लगती है।

सूत्रधारी कंपनी के समस्त लाभ व दोषों का वर्णन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि संयोजन का यह स्वरूप अन्य स्वरूपों की तुलना में अधिक उपयुक्त और प्रभावशील है। जहां एक ओर इस स्वरूप की स्थापना सरल एवं सुगम है और प्रबंध संचालन की एकरूपता से और केंद्रीकरण से संबंधित व्ययों में बचतें प्राप्त की जा सकती हैं वहीं आवश्यकतानुसार परिवर्तन की सुविधा से इसमें जोखिम की मात्रा भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त सूत्रधारी कंपनी को पर्याप्त आर्थिक साधनों का लाभ भी प्राप्त हो सकता है बशर्ते इन समस्त साधनों का कुशलतापूर्वक सदुपयोग किया जाए क्योंकि इस स्वरूप में कुप्रबंध की स्थिति शीघ्र उत्पन्न हो सकती है और कुशल प्रबंध की प्रेरणा का अभाव रहता है।

पूर्ण संघनन

इससे पहले व्यावसायिक संयोजन के जिन स्वरूपों का वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि इन स्वरूपों में अस्तित्व की स्थिरता, हितों का टकराव और मुख्य रूप से आंतरिक प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में व्याप्त अकुशलताओं तथा क्षीणताओं की विद्यमानता के कारण इन्हें प्रभावशील ढंग से कार्यान्वित करने में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। इन सब दोषों को दूर करने के उद्देश्य से संयोजन के एक और स्वरूप को जन्म मिला जिसे पूर्ण संघनन कहा जाता है।

पूर्ण संघनन व्यावसायिक संयोजन का अंतिम छोर समझा जाता है क्योंकि इस स्वरूप के बाहर संयोजन की संभावना समाप्त हो जाती है। पूर्ण संघनन में संयोजित होने वाली व्यावसायिक संस्थाओं को एक सूत्र में बांधने के लिए वे पूर्णतया एक दूसरे के साथ विलीन हो जाती हैं।

हैने के शब्दों में, 'पूर्ण संघनन व्यावसायिक संगठन का वह रूप है जिसे संयोजित होने

वाली कंपनियों की संपत्तियों को प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके और इन संपत्तियों को एक व्यावसायिक इकाई में विलयित या सम्मिलित करके स्थापित किया जाता है।'

इस परिभाषा के अनुसार पूर्ण संघनन में एक संस्था की समस्त संपत्तियां दूसरी संस्था द्वारा प्रत्यक्ष रूप से क्रय कर ली जाती हैं और इस प्रकार वह संस्था दूसरी संस्था में विलीन हो जाती है तथा उसका पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

विशेषताएं : (1) पूर्ण संघनन में कंपनियां पूर्ण रूप से एक दूसरे में विलीन हो जाती हैं। (2) सदस्य इकाइयों का अपना पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। (3) पूर्ण संघनन दो प्रकार से किया जा सकता है, सम्मिलन और विलयन द्वारा।

यदि दो या दो से अधिक कंपनियां जो एक ही प्रकार का व्यवसाय कर रही हों, आपस में संयोजित होकर किसी नई संस्था को जन्म देती हैं तो इस प्रकार का संयोजन सम्मिलन कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि संयोजित होने वाली कंपनियां समाप्त हो जाती हैं और उनकी संपत्तियों तथा दायित्वों को खरीदने के लिए नई कंपनी की स्थापना की जाती है। समाप्त हुई संयोजित कंपनी के अंशधारियों को उनके मूलधन की वापसी कर दी जाती है या उन्हें नई स्थापित कंपनी में अंश आवंटित कर दिए जाते हैं।

यदि कोई बड़ी व्यावसायिक संस्था किसी छोटी संस्था के व्यवसाय को अपने व्यवसाय में मिला ले तो इसे विलयन कहा जाता है। इसमें विलीन होने वाली संस्था ही समाप्त होती है और जिस संस्था के व्यवसाय में विलीन हुई संस्था के व्यवसाय को मिलाया जाता है उस संस्था का अस्तित्व बना रहता है। वह केवल विलीन होने वाली संस्था की संपत्तियों तथा दायित्वों को क्रय करती है।

पूर्ण संघनन से लाभ : 1. व्यावसायिक संयोजन का यह स्वरूप अन्य स्वरूपों की तुलना में पूर्णतया स्थाई एवं स्थिर है क्योंकि विलय होने वाली संस्था का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

2. पूर्ण संघनन के अंतर्गत संयोजित होने वाली संस्थाएं स्वामित्व, प्रबंध एवं संचालन के दृष्टिकोण से पूर्णतया एक सूत्र में बंध जाती हैं अतः उनमें आंतरिक प्रतिस्पर्धा, मनमुटाव तथा हितों के टकराव का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है।

3. पूर्ण संघनन में संस्थाएं एक दूसरे में विलीन होकर नई संस्था की स्थापना करती हैं और स्वाभाविक रूप से नई स्थापित संस्था का कारोबार बड़े पैमाने पर होगा और इस प्रकार बड़े पैमाने के कारोबार की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकेंगी।

4. पूर्ण विलयन के फलस्वरूप विभिन्न संस्थाएं एक ही प्रबंधकीय तथा प्रशासनिक ढांचे में आ जाती हैं। इसमें प्रबंध के व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं।

5. पूर्ण संघनन में पूर्ण विलयन के फलस्वरूप नई संस्था को तमाम मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं जिससे उनकी लाभक्षमता में वृद्धि होती है और अंशधारियों को अधिक लाभांश दिया जा सकता है।

6. व्यावसायिक संयोजन का यह स्वरूप सबसे अधिक प्रभावशाली समझा जाता है क्योंकि इसके अंतर्गत न केवल संस्था का आकार विशाल होता है बल्कि संस्था इस विशाल आकार के व्यवसाय को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए पूर्णतया जिम्मेदार होती है।

दोष : 1. पूर्ण संघनन व्यवहार में काफी जटिल समझा जाता है क्योंकि इसमें संस्थाएं पूर्णतया विलय हो जाती हैं और इसके लिए समस्त सामान्य अंशधारियों की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संपत्ति तथा दायित्वों का सही सही मूल्यांकन और क्रय मूल्य के निर्धारण तथा क्रय संबंधी अन्य शर्तों का निर्धारण करने में कठिनाई उत्पन्न होती है।

2. संस्था का आकार अधिक विशाल हो जाने के कारण प्रबंध में भी जटिलताएं उत्पन्न होती हैं क्योंकि संस्था की प्रत्येक क्रिया तथा कार्य सुचारु रूप से संचालित एवं नियंत्रित करना कठिन कार्य हो जाता है।

3. इस स्वरूप से भी एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और ग्राहकों का शोषण किया जा सकता है।

4. यदि संयोजित होने वाली संस्थाओं को दिया गया क्रय मूल्य संस्था के वास्तविक मूल्य से अधिक हो तो इससे नई संस्था में अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और संस्था की लाभक्षमता कम होने लगती है।

5. पूर्ण संघनन में संस्थाओं का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है अतः उनके नाम से संलग्न ख्याति भी समाप्त हो जाती है।

पूर्ण संघनन के ऊपर बताए गए लाभ व दोषों की विवेचना करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पूर्ण संघनन का स्वरूप अन्य स्वरूपों की तुलना में अधिकांश दशाओं में उपयुक्त, वांछनीय तथा सबसे अधिक प्रभावशाली है। इसमें संस्थाएं पूर्णरूप से विलीन होकर अपना पृथक अस्तित्व समाप्त करके दूसरी संस्था के साथ संयोजित होती हैं। इससे नई स्थापित संस्था का अस्तित्व पूर्णतया स्थाई रहता है। संस्था बड़े पैमाने की समस्त मितव्ययताएं तथा प्रबंधकीय व्ययों में बचतें प्राप्त कर सकती है जिसके फलस्वरूप उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर प्रदान की जा सकती हैं। अंशधारियों को उनके विनियोजन में उचित दर का लाभांश दिया जा सकता है। पर व्यवहार में पूर्ण संघनन कठिन एवं जटिल है क्योंकि यदि संस्था अपना व्यवसाय सुचारु रूप से संचालित कर रही है तो सामान्य अंशधारी बहुत ही कम परिस्थितियों में विलयन के लिए सहमत होते हैं। इसके अतिरिक्त पूर्ण संघनन से संयोजन के अन्य स्वरूपों की भांति कुछ सीमा तक आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण होने लगता है जिसका उचित प्रकार से संचालन वांछनीय है।

व्यावसायिक संयोजन से लाभ : व्यावसायिक संयोजन के बारे में अभी तक किए गए वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि संयोजन का प्रत्येक स्वरूप अलग अलग परिस्थितियों और अलग अलग प्रकार के व्यवसाय के लिए उपयुक्त है। प्रत्येक स्वरूप में कुछ लाभ होते हुए भी कुछ दोष निहित हैं। प्रत्येक स्वरूप का अलग अलग अध्ययन करके हमें व्यावसायिक संयोजन की उपयोगिता एवं उपयुक्तता का सही सही ज्ञान नहीं हो पाता है। इसीलिए अब व्यावसायिक संयोजन के सामान्य लाभों एवं दोषों का वर्णन किया जा रहा है ताकि व्यावसायिक जगत में इनकी स्थिति एवं महत्ता का ज्ञान हो सके।

व्यावसायिक संयोजन से निम्न लाभ संभव हैं :

1. बड़े पैमाने के व्यवसाय की मितव्ययताएं एवं लाभ : व्यावसायिक संयोजन से बड़े पैमाने के व्यवसाय की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं क्योंकि इसमें विभिन्न संस्थाएं आपस में मिलकर एक विशाल आकार की संस्था को जन्म देती हैं। इस विशाल आकार की संस्था को व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की बचतें एवं मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(अ) क्रय से संबंधित बचतें एवं लाभ : एक बड़े आकार की संस्था वस्तुओं और उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल का क्रय बड़ी मात्रा में करती है। इससे क्रय में स्वाभाविक रूप से छूटें प्राप्त हो सकती हैं और क्रय उचित शर्तों में किया जा सकता है क्योंकि वस्तुओं का क्रय करने के लिए संस्था अलग विभाग स्थापित करके एक नियोजित तथा वैज्ञानिक ढंग से दक्ष एवं निपुण व्यक्तियों द्वारा वस्तुएं क्रय करती है। विशेष रूप से शीर्ष संयोजन में संस्था कच्चे माल की पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर हो जाती है क्योंकि वस्तु के उत्पादन की विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं में संलग्न संस्थाओं को संयोजित कर लिया जाता

है और एक अवस्था में उत्पादित वस्तुएं दूसरी अवस्था में कच्चे माल के रूप में प्रयोग की जाती हैं। इससे कच्चे माल की उपलब्धता में निरंतरता बनी रहती है।

(ब) उत्पादन के क्षेत्र में लाभ : संयोजन के पश्चात संस्था कच्चे माल की पूर्ति के संबंध में आत्मनिर्भर हो जाती है। इससे उत्पादन कार्य बिना किसी बाधा के लगातार जारी रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन कार्य को वितरण कार्य से पृथक करने के फलस्वरूप उत्पादक संस्था पूर्णतया उत्पादन में व्यस्त रहती है। इससे उत्पादन में विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के समस्त लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। वस्तुओं की किस्म में सुधार संभव है और नियमित तथा नियोजित उत्पादन उत्पादन में कुशलता को प्रोत्साहित करता है।

(स) प्रबंध के क्षेत्र में बचतें : विभिन्न संस्थाओं के संयोजित होने से उन सब संस्थाओं का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण केंद्रीय रूप से किया जाता है। इससे एक ओर तो सामान्य प्रबंधकीय व्ययों में बचत होती है और प्रबंधकीय कार्य कुशलतापूर्वक किया जाता है क्योंकि इस कार्य के लिए संस्था अच्छा पारिश्रमिक एवं अन्य लाभ प्रदान करके प्रबंध में दक्ष एवं निपुण व्यक्तियों को आकर्षित कर सकती है और दूसरी ओर समस्त संयोजित संस्थाएं उन निपुण एवं कुशल प्रबंधकों की सेवाओं का लाभ प्राप्त कर सकती हैं जो संयोजन के बिना उनके लिए संभव न होता।

(द) विपणन के क्षेत्र में मितव्ययताएं एवं लाभ : एक बड़े आकार की संस्था विपणन के क्षेत्र में भी तमाम बचतें प्राप्त कर सकती है। साधनों की पर्याप्तता के कारण संस्था शोध विभाग की स्थापना करके बाजार में व्याप्त नई नई प्रवृत्तियों से अवगत हो सकती है और ग्राहकों की रुचि, आवश्यकता तथा प्राथमिकताओं के बारे में आवश्यक सूचना प्राप्त करके उत्पादन में आवश्यक परिवर्तन कर सकती है तथा वस्तुओं का विक्रय करने के लिए कुशल एवं निपुण विक्रयकर्ताओं की नियुक्ति करके बिक्री का आकार बढ़ा लेती है। इसके अतिरिक्त संयोजित होने वाली समस्त संस्थाओं की विपणन नीतियों में एक-रूपता बनी रहती है। उन सब संस्थाओं के लिए संयुक्त रूप से विज्ञापन कर और विपणन कार्य को केंद्रीय रूप से संचालित करके विपणन के सामान्य व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त की जाती हैं, विशेष रूप से सिंडीकेट कार्टेल की स्थापना करके विपणन व्ययों में बचत के अतिरिक्त बाजार की अनिश्चितता को भी समाप्त किया जाता है।

(य) वित्त के क्षेत्र में बचतें व लाभ : व्यावसायिक संयोजन से विभिन्न संस्थाओं के आर्थिक साधन केंद्रीय रूप से संचालित होते हैं। इससे व्यवसाय में पर्याप्त वित्त की उपलब्धता बनी रहती है और आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त वित्त उचित शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है जिससे व्यवसाय का विस्तार संभव है। विशेष रूप से सूत्रधारी कंपनी अन्य कंपनियों के 51% या उससे अधिक सामान्य अंश क्रय करके, उसे अपनी सहायक कंपनी बना कर उसके आर्थिक साधनों पर पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त कर लेती है। इसके अतिरिक्त संयोजित होने वाली समस्त संस्थाओं के लिए वित्त की विस्तृत योजना बनाकर उन समस्त संस्थाओं में वित्त का अधिकतम कुशलतापूर्ण एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाना संभव है क्योंकि जिस संस्था में वित्त का अभाव है उसे अन्य संस्थाओं से वित्त उपलब्ध कराके समस्त वित्तीय साधनों का सुव्यवस्थित ढंग से प्रयोग किया जाता है।

2. व्यावसायिक संयोजन से संयोजित होने वाली संस्थाओं को वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति के लाभ भी प्राप्त होते हैं क्योंकि संयोजन मूल रूप से संस्थाओं में कटु और अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए किया जाता है और संयोजित होने वाली संस्थाएं मूल्य निर्धारण में आवश्यक तत्वों को नियंत्रित करके (जैसे उत्पादन नियमित करना, बाजार का विभाजन आदि) वस्तु के बाजार में अपना प्रभुत्व

जमा लेती हैं तथा बिक्री की समस्त शर्तों को अपने अनुकूल बना कर अधिक लाभ अर्जित करती हैं।

3. व्यावसायिक संयोजन से संस्थाओं में पारस्परिक सहयोग तथा मेलजोल की भावना जाग्रत होती है। अपने सामूहिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए तथा उनका संवर्धन करने के लिए वे आपस में संयोजित होती हैं। व्यावसायिक समुदाय में सहयोग की भावना जाग्रत होने से व्यवसाय में स्थिरता लाई जा सकती है, सदस्य संस्थाएं आपस में सूचनाओं का आदान-प्रदान करके लाभान्वित हो सकती हैं तथा संयुक्त रूप से अनुसंधान एवं शोध कार्य की व्यवस्था करके प्राप्त निष्कर्षों का उपयोग कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त वे व्यावसायिक समुदाय में एकता की भावना उत्पन्न करके सरकार द्वारा निर्धारित की जाने वाली व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेती हैं। इस संबंध में विभिन्न मंडलों (व्यापारिक मंडल, चैंबर आफ कामर्स) की भूमिका महत्वपूर्ण है क्योंकि ये मंडल सरकार को समय समय पर व्यवसाय के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके और अपने सदस्यों का विभिन्न मामलों में प्रतिनिधित्व करके राजनीतिक हस्तक्षेप को व्यवसाय के विकास के अनुकूल बनाए रखते हैं।

4. समाज को लाभ : व्यावसायिक संयोजन समाज के लिए भी लाभप्रद सिद्ध होता है क्योंकि छोटी छोटी संस्थाएं आपस में संयोजित होकर बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने लगती हैं इससे उत्पादन लागत में। कमी होती है, उत्पादन कार्य में विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन से उत्पादन कुशलता में वृद्धि होती है तथा उत्पादित वस्तुओं की किस्म में सुधार होता है और ग्राहक उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक संयोजन व्यवसाय में स्थिरता कायम रखते हैं क्योंकि व्यावसायिक संयोजन से व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन या अन्य किन्हीं कारणों से व्यावसायिक संस्था के अस्तित्व में अनिश्चितता समाप्त की जा सकती है। व्यवसाय में स्थायित्व उत्पन्न होने से ग्राहकों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएं नियमित रूप से प्राप्त होती रहती हैं और श्रमिकों के लिए रोजगार की व्यवस्था बनी रहती है। संक्षेप में व्यावसायिक संयोजन से संस्थाओं में अस्वस्थ एवं कटु प्रतिस्पर्धा समाप्त करके अपव्ययों तथा क्षीणता में कमी की जाती है और संस्थाओं की कुशलता में वृद्धि होती है। इससे विनियोगकर्ता को उचित दर की आय प्राप्त होती रहती है और संभावित विनियोगकर्ता भी औद्योगिक संस्थाओं में धन का विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहित होता है।

व्यावसायिक संयोजन के उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त व्यवहार में इसमें कुछ महत्वपूर्ण दोष भी पाए जाते हैं जिनके आधार पर इसकी आलोचना की जाती है।

व्यावसायिक संयोजनों से वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न होती है क्योंकि विभिन्न संस्थाओं के संयोजित हो जाने से परस्पर प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है और वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण नियंत्रित करके मनमाने मूल्यों पर तथा बिक्री की शर्तों पर ग्राहकों को वस्तुएं बेची जाती हैं। इससे ग्राहकों का शोषण संभव है क्योंकि न तो उनको उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर प्राप्त होती हैं और न उत्पादन में उनकी रुचि, प्राथमिकता एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है। अतः व्यावसायिक संयोजन केवल उसी सीमा तक वांछनीय है जहां तक कि उनकी स्थापना से ग्राहकों को उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर मिलें अर्थात यदि संयोजन परस्पर कटु एवं अस्वस्थ प्रतियोगिता को समाप्त करके कुशलता में वृद्धि करके उचित किस्म की वस्तुओं को उचित मूल्य पर प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित किया जाए।

व्यावसायिक संयोजनों की आलोचना करने का मुख्य आधार यह है कि इनकी स्थापना के फलस्वरूप आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण कुछ ही व्यक्तियों या संस्थाओं के

पास हो जाता है। इसे प्रजातांत्रिक प्रशासन प्रणाली में वांछनीय नहीं समझा जाता है क्योंकि आर्थिक साधनों में जिन व्यक्तियों को नियंत्रण अधिकार प्राप्त होता है वे प्रायः अपने निजी स्वार्थों के लिए इन अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं, जरूरतमंद संस्था को ये साधन उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, सामाजिक तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार पैदा होता है और इस प्रकार इन साधनों के दुरुपयोग से देश की संपूर्ण अर्थव्यवस्था असंतुलित एवं अव्यवस्थित होने का भय रहता है। आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण का यह परिणाम व्यावसायिक संयोजन में मूलरूप से निहित है। विशेष रूप से आंशिक संघनन तथा पूर्ण संघनन में इसकी प्रकृति और भी गंभीर हो जाती है क्योंकि इस प्रकार के संयोजनों में या तो एक संस्था दूसरी संस्था में पूर्णतया विलीन हो जाती है या फिर बिना निश्चित दायित्वों के अन्य संस्थाओं के आर्थिक साधनों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेती है (सूत्रधारी कंपनी)।

आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण से अति पूंजीकरण की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है क्योंकि संयोजन से व्यावसायिक संस्था का आकार विशाल हो जाता है और पूंजी प्राप्त करने के साधनों की पर्याप्तता बनी रहती है। आकार को और बड़ा बनाने की इच्छा से आवश्यकता से अधिक पूंजी प्राप्त की जाती है। प्राप्त पूंजी का कुशल एवं प्रभावपूर्ण उपयोग न होने के कारण पूंजी में सामान्य दर की आय अर्जित नहीं हो पाती है और संस्था अतिपूंजीकृत हो जाती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक साधनों में नियंत्रण प्राप्त व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए संस्था की प्रतिभूतियों के मूल्यों में अनावश्यक उतार-चढ़ाव लाकर सट्टे को प्रोत्साहित करते हैं जिससे एक ओर वास्तविक विनियोगकर्ताओं के हितों को ठेस पहुंचती है और दूसरी ओर पूंजी बाजार में संस्था की साख कम हो जाती है।

व्यावसायिक संयोजन प्रबंधकीय क्षमता में क्षीणता तथा जटिलता भी उत्पन्न करते हैं क्योंकि व्यावसायिक संयोजन के विभिन्न स्वरूपों में (पूर्ण संघनन को छोड़कर) संस्थाओं का अस्तित्व एवं स्वामित्व तो पृथक बना रहता है परंतु उनका प्रबंध एवं संचालन और नियंत्रण केंद्रीय रूप में होता है। इससे प्रबंध में अकुशलता बढ़ जाती है क्योंकि प्रबंधकों को बिना दायित्व के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार प्राप्त होता है और इन अधिकारों को वे पूर्ण जिम्मेदारी के साथ प्रयोग में नहीं लाते हैं। इसके अलावा व्यावसायिक संयोजन से प्रबंधकीय कार्य अधिक जटिल एवं पेचीदा हो जाता है क्योंकि संस्था के आकार में वृद्धि के फलस्वरूप समस्त प्रबंधकीय कार्य विद्यमान प्रबंधकीय ढांचे के अंतर्गत कुशलतापूर्वक निष्पादित नहीं किए जा सकते हैं। प्रत्येक प्रबंधक की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति सीमित होती है और वह केवल सीमित संख्या के कर्मचारियों के कार्यों को संतोषजनक ढंग से नियंत्रित कर सकता है।

संपूर्ण व्यावसायिक ढांचे में लघुस्तरीय व्यवसाय कम महत्वपूर्ण नहीं है परंतु संयोजन के फलस्वरूप इनके विकास में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि संयोजन के फलस्वरूप कुछ संस्थाओं का आकार विशाल होता जाता है। इससे बाजार में उसी प्रकार के व्यवसाय में संलग्न छोटी छोटी संस्थाओं की स्थिति और कमजोर तथा दयनीय हो जाती है क्योंकि न तो वे बड़ी संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा कर सकती हैं और न उनको व्यवसाय में बड़ी संस्था की भांति तमाम क्षेत्रों में मितव्ययताएं ही प्राप्त होती हैं।

व्यावसायिक संयोजन मूलरूप से विभिन्न संस्थाओं में कटु तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए किया जाता है पर इसकी प्रकृति के कारण व्यवहार में इससे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा भी समाप्त हो जाती है। इससे संस्थाओं के विकास में कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से संस्थाओं में अधिक कुशलता को प्रेरणा

मिलती है और उत्पादकता में वृद्धि होती है।

व्यावसायिक संयोजन के उपरोक्त लाभ व दोषों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यावसायिक संयोजन निस्संदेह देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है बशर्ते उनसे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों (एकाधिकार, आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण, स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का अभाव आदि) को पूर्णतया नियंत्रित किया जाए। अन्यथा इनकी उपयोगिता समाप्त हो सकती है क्योंकि व्यावसायिक संयोजनों से संस्थाओं की कुशलता में वृद्धि होती है और तमाम मितव्ययताएं प्राप्त करके उत्पादन लागत में कमी की जा सकती है एवं संस्था के विस्तार को साकार बनाया जा सकता है। पर ये समस्त लाभ तभी प्राप्त किए जा सकते हैं यदि संस्था प्राप्त साधनों को विभिन्न हितों को दृष्टि में रखते हुए अधिकतम कुशलता से प्रयोग करे और अपनी कुशलता में वृद्धि करके अधिक लाभ अर्जित करे, न कि एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करके, ग्राहकों का शोषण करके अधिक लाभ कमाने की चेष्टा करे।

भारत में व्यावसायिक संयोजनों का नियंत्रण : व्यावसायिक संयोजन औद्योगिक विकास के लिए वरदान समझा जाता है क्योंकि इससे संस्थाएं एक ओर तो बड़े पैमाने की समस्त मितव्ययताएं व लाभ प्राप्त करती हैं, दूसरी ओर व्यवसाय में कटु तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा कम करके अपव्ययों में कमी लाकर कुशलता को बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं में परस्पर सहयोग, एकता तथा मेलजोल की भावना उत्पन्न होती है जो व्यावसायिक क्रिया को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए महत्वपूर्ण है।

हालांकि भारत में व्यावसायिक संयोजन का उद्गम एवं विकास काफी देर से हुआ है फिर भी भारतीय औद्योगिक जगत इससे छूटा नहीं रह सका। समय समय पर आवश्यकता पड़ने पर व्यावसायिक संयोजन के विभिन्न रूप गठित होते रहे हैं। व्यापारिक मंडल से लेकर पूर्ण संघनन तक संयोजन के सभी रूप भारतीय व्यवसाय व उद्योग में प्रचलित हैं। परंतु एक ओर तो व्यावसायिक संयोजन का उद्गम काफी देर से हुआ और दूसरी ओर इसके विकास की गति काफी धीमी रही क्योंकि देश में उद्योगीकरण काफी देर से प्रारंभ होने के कारण संयोजन के स्वरूपों का विकास भी धीमी गति से हुआ और भारतीय अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए श्रम पर आधारित उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया। व्यावसायिक संयोजन के कुछ स्वरूप मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली के अंतर्गत मौजूद थे परंतु इनकी प्रकृति अस्पष्ट होने के कारण इनका अस्तित्व नहीं के बराबर था। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता के पश्चात सरकार ने औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने के लिए लघु उद्योगों को प्राथमिकता दी और आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण के बजाय उनके विकेंद्रीकरण को प्रोत्साहन दिया गया।

इन सब कारणों के बावजूद स्वतंत्रता के पश्चात व्यावसायिक संयोजनों के विकास की गति तीव्र हुई और आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण बढ़ता गया। स्वतंत्रता के पश्चात सरकार ने औद्योगिक विकास को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप कुछ ही बड़ी कंपनियों ने जो औद्योगिक क्षेत्र में प्रसिद्ध थीं, अपने व्यवसाय में वृद्धि की और आर्थिक साधनों को और प्रोत्साहित किया। यही बड़ी औद्योगिक संस्थाएं प्रारंभ से ही बैंक, बीमा तथा अन्य वित्तीय कंपनियों से जुड़ी हुई थीं। वे अवसर प्राप्त करते ही पर्याप्त पूंजी प्राप्त करके ब्रिटिश औद्योगिक संस्थाओं का व्यवसाय भी क्रय करती गईं और देश के आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण कुछ ही प्रभावपूर्ण उद्योगपतियों अथवा संस्थाओं के पास होता गया। इनमें डालमिया, बिड़ला, जैन समूह वेंगुटस आदि मुख्य थे। हालांकि सरकार ने औद्योगिक लाइसेंसिंग विधि के अंतर्गत लघुस्तरीय संस्थाओं की

स्थापना को प्राथमिकता प्रदान की परंतु व्यवहार में वही संस्थाएं नई संस्था स्थापित करने के लिए लाइसेंस प्राप्त कर सकीं जो बड़े आकार की थीं और जो संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाए हुए थीं। इसके अलावा सीमित बाजार, कच्चे माल की अपर्याप्तता और उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरणों का अभाव छोटी छोटी संस्थाओं के लिए बाधक सिद्ध हुआ और साधनों के एकत्रीकरण को और बढ़ावा मिला। आर्थिक साधनों के इस एकत्रीकरण से आय के वितरण में असमानता बढ़ी और विकास का सबसे अधिक लाभ समाज के धनी वर्ग को ही मिला। आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से है जिसके अंतर्गत आर्थिक क्रियाओं के प्रबंध के अधिकार, संपत्तियों के ऊपर, रोजगार व्यवस्था तथा आय के बहाव के ऊपर कुछ ही गिने चुने व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को नियंत्रण प्राप्त होता है।

भारत जैसी प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली में जहां सरकार वर्गरहित समाज के लिए कटिबद्ध है, यह आवश्यक है कि व्यावसायिक संयोजन को और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को उसी सीमा तक विकसित होने दिया जाए, जहां तक व्यवसाय के पैमाने में विस्तार करके समस्त मितव्ययताएं प्राप्त करके व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि हो सके और उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर समाज को प्राप्त हो सकें क्योंकि आर्थिक साधनों के कुछ ही व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के पास एकत्रीकरण के फलस्वरूप उनके द्वारा अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा अनुचित प्रकार से वस्तु के बाजार में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न की जाती है और फिर मनमाने मूल्यों पर एवं अनुचित शर्तों पर उत्पादन को बेचने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए सरकार ने औद्योगिक विकास को संतुलित बनाए रखने के लिए तथा आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण एवं एकाधिकार की स्थिति को नियंत्रित करने के लिए समय समय पर विभिन्न कदम उठाए हालांकि इन अप्रभावशील तथा अपर्याप्त प्रयत्नों से स्थिति पर केवल आंशिक नियंत्रण प्राप्त किया जा सका है। आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण तथा उत्पन्न एकाधिकार की स्थिति को सरकार ने व्यावसायिक संयोजनों के संबंध में समय समय पर विभिन्न अधिनियमों में निम्न व्यवस्थाएं करके नियंत्रित करने का प्रयास किया है :

1. मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली से विशेष रूप से प्रबंधकीय क्षमता का एकत्रीकरण हुआ क्योंकि ये मैनेजिंग एजेंट नई नई संस्थाओं का प्रवर्तन तथा समामेलन करके उनके प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेते थे। इस स्थिति को रोकने के लिए सरकार ने 1970 में मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली का औद्योगिक क्षेत्रों से पूर्णतया उन्मूलन कर दिया है।

2. सम्मिलन तथा विलयन से व्यावसायिक संस्था के आकार में वृद्धि होती है और आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण होता है क्योंकि इस प्रकार के संयोजन में दो या दो से अधिक संस्थाएं अपने पृथक अस्तित्व को पूर्ण रूप से मिटाकर नई संस्था की स्थापना करती हैं और विलयन में एक संस्था दूसरी संस्था में विलीन हो जाती है। व्यावसायिक संयोजन से इस प्रकार आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को रोकने के लिए कंपनी अधिनियम में कुछ व्यवस्थाएं की गई हैं, जैसे सम्मिलन की स्थिति में पूंजी का निर्गमन करने के लिए पूंजी निर्गमन नियंत्रक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

3. बहुसंचालक पद्धति तथा संचालक पद के अंतर्ग्रंथन पर नियंत्रण : संचालन की इस पद्धति के फलस्वरूप भी कुछ गिने चुने अंशधारी अथवा संचालक ही विभिन्न कंपनियों में संचालन, प्रबंध एवं नियंत्रण का अधिकार प्राप्त करके प्रबंधकीय क्षमता तथा आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को प्रोत्साहन देते हैं। इस स्थिति को नियंत्रित करने के लिए

कंपनी अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि कोई भी व्यक्ति 20 कंपनियों से अधिक में संचालक पद पर कार्य नहीं कर सकता है। यह सीमा प्रभावपूर्ण नहीं है क्योंकि यदि 20 कंपनियों का संचालन एक ही संचालक मंडल के नियंत्रण में हो तो इससे काफी हद तक प्रबंधकीय क्षमता तथा आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण बना रहता है।

4. राष्ट्रीयकरण से पूर्व देश के बड़े बड़े बैंक कुछ विशेष उद्योगों के प्रति उदारता का व्यवहार करते रहे हैं और अन्य औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने में इन बैंकों ने कोई रुचि नहीं ली। इसीलिए संतुलित औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल दिशा में पूंजी की गतिशीलता बनाए रखने के लिए जुलाई 1969 में देश के 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

5. इसके अतिरिक्त सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत लघुस्तरीय उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित किया है। सहकारिता संगठन के विकास के लिए सहकारी क्षेत्र को विस्तृत किया है; श्रम पर आधारित उद्योगों को प्राथमिकता दी है और लाइसेंस प्रणाली में आवश्यक संशोधन करके उन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना को सुगम बनाया है जो उद्योगीकरण में पिछड़े हुए हैं।

6. उपर्युक्त प्रयासों के अतिरिक्त व्यावसायिक संयोजनों के फलस्वरूप उत्पन्न एकाधिकार की स्थिति को प्रभावपूर्ण ढंग से नियंत्रित करने के लिए 'एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार अधिनियम' भी बनाया गया है जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

7. आयात के लिए लाइसेंस जारी करते समय उपभोक्ताओं के हितों को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाए।

आयोग द्वारा की गई सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए 1967 में संसद में 'एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार बिल' पेश किया गया। 1969 में यह बिल पास हुआ तथा 1970 में 'एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार अधिनियम' के रूप में सामने आया। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

(अ) आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को रोकना।

(ब) उन एकाधिकारी तथा प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों को रोकना जो जनता के हितों के लिए घातक सिद्ध हैं।

(स) केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया जाना कि वह किसी भी समय आवश्यकता पड़ने पर किसी भी व्यावसायिक इकाई के विलयन या विस्तार के लिए आदेश जारी करे।

इसी अधिनियम के अंतर्गत 1970 में ही 'एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार आयोग' की स्थापना हुई है जो एक स्थाई वैधानिक संस्था के रूप में कार्य कर रही है। इसमें कम से कम 2 और अधिकतम 9 सदस्य हो सकते हैं (जिसमें अध्यक्ष भी सम्मिलित है)। इस आयोग के मुख्य कार्य निम्न हैं : (अ) विभिन्न उद्योगों में आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण की स्थिति का अध्ययन करके सरकार को उसके बारे में सूचना प्रदान करना ताकि अधिनियम में उचित व्यवस्था करके स्थिति को नियंत्रित किया जा सके। (ब) देश के संपूर्ण व्यावसायिक क्षेत्र में व्याप्त प्रतिबंधात्मक गतिविधियों की जांच-पड़ताल करना। (स) विशेष रूप से केंद्रीय सरकार द्वारा सुपुर्द एकाधिकार की स्थितियों की जांच पड़ताल करके सरकार को सूचना प्रदान करना। (द) जिन उद्योगों में पूंजी 20 करोड़ रु० से अधिक है या जो ऐसी कंपनी की सूत्रधारी कंपनी है, उनके विलयन एवं विस्तार पर विचार करना।

एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार आयोग के इन कार्यों के अतिरिक्त एकाधिकार प्रतिबंधात्मक व्यापार अधिनियम में आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण तथा एकाधिकार की

स्थिति को नियंत्रित करने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए हैं जिसका विश्लेषणात्मक वर्णन आगे किया जा रहा है।

एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार आयोग की स्थापना

भारत में व्यावसायिक संयोजनों के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण एवं बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा उत्पन्न एकाधिकार की स्थिति ने 1960 के पश्चात गंभीर रूप धारण किया। सरकार ने इन स्थितियों का सर्वेक्षण करने के लिए 13 अक्तूबर 1960 को 'महालनिविस कमेटी' का गठन किया। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि आर्थिक नियोजन के 10 वर्षों बाद भी आर्थिक साधनों के वितरण में असमानता विद्यमान है। इस कमेटी के सुझाव पर ही एक पूर्णकालीन संस्था 'एकाधिकार जांच आयोग' के नाम से 1964 में स्थापित की गई। इस आयोग के अध्यक्ष श्री के० सी० दासगुप्ता थे। इस आयोग ने आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण की विस्तृत जांच की और इससे उत्पन्न सामाजिक तथा आर्थिक दुष्परिणामों का अध्ययन करके सरकार को इसके संबंध में आवश्यक वैधानिक उपचार अपनाने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त इस आयोग ने आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण तथा एकाधिकार की स्थिति को नियंत्रित करने के संबंध में सरकार के समक्ष निम्न महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत कीं :

(अ) लघुस्तरीय उद्योगों को लाइसेंस देने में उदारता बरती जाए और उनके विकास को प्रोत्साहित किया जाए।

(ब) निजी क्षेत्र में एकत्रीकरण को रोकने के लिए सार्वजनिक संस्थाएं स्थापित की जाएं और उनकी कार्य कुशलता बढ़ाई जाए।

(स) उपभोक्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिए उपभोक्ता संघ तथा उपभोक्ता सहकारी संस्थाओं की स्थापना की जाए और उनके विकास को प्रोत्साहित किया जाए।

(द) बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा राजनीतिक दलों को दिए जाने वाले चंदे पर पूर्ण रोक लगाई जाए।

(य) अंतर संस्था विनियोग प्रवृत्ति पर प्रतिबंध लगाए जाएं ताकि आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण कुछ ही व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के हाथों में न हो।

(र) बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा जो अंश निर्गमित किए जाते हों उनका जनता में विस्तृत रूप से वितरण किया जाए।

वितरण करने के लिए उनको निम्न दो प्रकार की व्यवस्थाओं—आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण से संबंधित तथा प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों—से संबंधित में बांटा गया है :

(अ) आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण से संबंधित व्यवस्थाएं :

(i) इस अधिनियम द्वारा एकाधिकारवादी तथा प्रबल व्यावसायिक तथा अन्य विशाल संस्थाओं की प्रतिबंधात्मक गतिविधियों को नियमित एवं नियंत्रित करके, आर्थिक शक्ति के एकत्रीकरण को तथा एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों को रोका जाता है क्योंकि इन्हीं एकाधिकारवादी एवं विशाल प्रभुत्वशाली संस्थाओं द्वारा अधिकांश दशाओं में आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण होता है जिससे छोटी छोटी संस्थाएं इनसे प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाती हैं तथा इनको एकाधिकार की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

(ii) उन समस्त गैर सरकारी व्यावसायिक संस्थाओं के लिए जो इस अधिनियम के अनुसार प्रबल संस्था (डोमिनेंट इंटरप्राइज) समझी जाती हैं अथवा जिनकी पूंजी 20

करोड़ रु० से अधिक है, यह आवश्यक है कि वे इस आकार को प्राप्त करने के बाद 60 दिन के भीतर केंद्रीय सरकार से पंजीकृत कराई जाएं। इससे केंद्रीय सरकार को इन विशाल व्यावसायिक संस्थाओं के बारे में आवश्यक सूचना प्राप्त हो सकेगी और सरकार अप्रत्यक्ष रूप से इनकी गतिविधियों पर निगरानी रखेगी।

(iii) प्रबल एवं एकाधिकारवादी संस्थाओं को विलयन या सम्मिलन के पूर्व केंद्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।

(iv) किसी भी व्यावसायिक संस्था का संचालक (जिस संस्था पर यह अधिनियम लागू होता है) केंद्रीय सरकार की अनुमति बिना किसी अन्य संस्था में संचालक पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

(v) यदि केंद्रीय सरकार को किसी व्यावसायिक संस्था के बारे में (जिस पर यह अधिनियम लागू होता है) यह महसूस हो कि संस्था जनता के हितों के लिए घातक है अथवा इससे एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है तो केंद्रीय सरकार ऐसी संस्था को एक से अधिक संस्थाओं में विभाजित करने के लिए इसकी जांच पड़ताल कर सकती है।

(ब) प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों से संबंधित व्यवस्थाएं :

(i) इस अधिनियम के द्वारा कोई भी व्यापारिक समझौता जो प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों के अंतर्गत आता है, प्रतिबंधात्मक गतिविधियों के रजिस्ट्रार के पास 45 दिन के भीतर पंजीकृत कराया जाना आवश्यक है।

(ii) प्रतिबंधात्मक व्यापारिक गतिविधियों के अंतर्गत निम्न गतिविधियां सम्मिलित हैं:

(अ) वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण को सीमित एवं नियंत्रित करके अनुचित कीमत का निर्धारण करने के लिए की गई कार्यवाही।

(ब) वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण में अनुचित रूप से प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए अथवा कम करने के लिए किया गया समझौता।

(स) पूंजी के विनियोग तथा तकनीकी विकास को सीमित करने के संबंध में किया गया समझौता जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं एवं सेवाओं की किस्म में गिरावट आ सकती है।

आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण एवं एकाधिकार की स्थिति का मूल्यांकन : समाजवाद एवं समाजवादी व्यवस्था पर प्रारंभ से ही बल दिए जाने के बावजूद बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं की संपत्ति में वृद्धि हुई है और देश में काले धन की एक समानांतर अर्थव्यवस्था बन गई है। समाजवाद का मुख्य उद्देश्य आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण है पर वास्तव में स्थिति और गंभीर होती जा रही है क्योंकि सरकार ने देश में व्याप्त निर्धनता को कम करने के लिए विभिन्न विकास योजनाएं लागू कीं। इन विकास कार्यों से आय की विषमता और बढ़ी है क्योंकि विकास से कम आय वाले वर्गों की अपेक्षा समाज का धनी वर्ग अधिक लाभान्वित हुआ है। ठीक यही स्थिति औद्योगिक क्षेत्र में भी रही है क्योंकि एक ओर तो सरकार ने आर्थिक साधनों के केंद्रीकरण को कम करने एवं नियंत्रित करने के उद्देश्य से 'एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम' पास किया है, दूसरी ओर अपनी औद्योगिक नीति के अंतर्गत बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं के पुनः विस्तार को प्रोत्साहन दिया है, जैसे 1972 में सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के अंतर्गत 65 औद्योगिक संस्थाओं की अनधिकृत क्षमता को वैध घोषित किया था। इसी प्रकार 1975 में 30 एकाधिकार औद्योगिक संस्थाओं को लाइसेंस प्राप्त क्षमता से ऊपर असीमित विस्तार करने की अनुमति दी है। सरकार की इस नीति से

औद्योगिक संस्थाओं में यह प्रवृत्ति बनी रही है कि बड़ी औद्योगिक संस्थाएं पहले अनधिकृत रूप में अपनी क्षमता बढ़ा लेती हैं और बाद में सरकार उसे वैध घोषित कर देती है। हालांकि इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि सरकार के सम्मुख उत्पादन बढ़ाना प्रमुख समस्या थी फिर भी वास्तविकता यह रही है कि कांग्रेस सरकार को देश के बड़े बड़े उद्योगपतियों तथा औद्योगिक संस्थाओं का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था जिसके फलस्वरूप सरकार की घोषित नीति पूंजीपतियों के पक्ष में रही।

इसके अतिरिक्त सरकार ने प्रत्येक औद्योगिक नीति में प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत लघु उद्योगों के विकास एवं विस्तार को प्रोत्साहित किया है। व्यवहार में स्थिति आशानुकूल नहीं रही क्योंकि नए नए उद्योगों को स्थापित करने के लिए लाइसेंस लघु इकाइयों के बजाय बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं को प्राप्त होते रहे हैं और पांचवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत आर्थिक विकास एवं औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए जो प्रयास एवं प्रयत्न निर्धारित किए गए हैं उनकी सूची में आर्थिक साधनों के केंद्रीयकरण को रोकने की व्यवस्था निम्न स्थान पर रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सरकार ने आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण की स्थिति को पूर्णतया नियंत्रित करने के लिए कोई प्रभावशाली प्रयास नहीं किए हैं। इससे स्थिति दिन प्रतिदिन और गंभीर होती गई है और देश के आर्थिक साधनों में कुछ ही बड़े बड़े औद्योगिक घरानों का नियंत्रण बना रहा है।

जहां तक इस स्थिति को नियंत्रित करने के लिए संरचित 'एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम' की व्यवस्थाओं का प्रश्न है, ये व्यवस्थाएं व्यवहार में अपर्याप्त एवं प्रभावहीन सिद्ध हुई हैं क्योंकि व्यवहार में यह ज्ञात करना वास्तव में एक जटिल कार्य है कि किन किन औद्योगिक संस्थाओं में एकाधिकार तथा आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण हुआ है। व्यावसायिक संस्था के आकार में वृद्धि ही आवश्यक रूप से एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न नहीं करती है।

एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम की व्यवस्थाएं राजकीय निगम तथा सरकारी कंपनियों में लागू नहीं होती हैं। इससे स्वाभाविक रूप से उद्योगीकरण के सरकारी क्षेत्र में एकाधिकार तथा आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण में वृद्धि हुई है जिसे राज्य एकाधिकार (स्टेट मोनोपली) कहा जा सकता है। सरकारी क्षेत्र में विशेष रूप से अधिक विनियोगवाले उद्योग स्थापित करके आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण को और अधिक प्रोत्साहन मिला है।

इसके साथ ही एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम की व्यवस्थाओं के अंतर्गत जो एकाधिकार जांच आयोग स्थापित किया गया है, उसके द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट से यह विदित होता है कि जांच आयोग आंशिक रूप से एकाधिकार एवं आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण के पक्ष में है। इसके द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में यह कहा गया है कि आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण से आर्थिक उन्नति में सहायता मिलती है और इससे प्रबंधकीय क्षमता एवं कुशलता में पर्याप्त वृद्धि संभव है। वास्तव में गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो पता चलता है कि आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण आर्थिक विकास की गति को मंद करता है क्योंकि व्यवसायी या व्यावसायिक संस्था अपनी विनियोजित पूंजी में अधिकतम आय अर्जित करने के लिए अर्जित अतिरेकों का प्रयोग केवल उसी व्यवसाय के विस्तार में करता है जिसमें उसे अधिक लाभ मिलने की संभावना हो और उन उद्योगों का, जो राष्ट्र हित के लिए महत्वपूर्ण हैं और जिनके द्वारा जीवन की बुनियादी जरूरत की वस्तुएं उत्पादित की जाती हैं पर्याप्त विस्तार संभव नहीं होगा। इससे आर्थिक विकास में निश्चित रूप से असंतुलन उत्पन्न होगा। इसी प्रकार प्रबंधकीय

कुशलता एवं क्षमता का भी आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण से कोई गहरा संबंध प्रतीत नहीं होता है क्योंकि आर्थिक साधनों के विकेंद्रीकरण से भी प्रबंधकीय कुशलता एवं क्षमता का पर्याप्त विकास संभव है।

अंत में, आर्थिक शक्ति के केंद्रीयकरण के लिए देश में व्याप्त व्यावसायिक वातावरण एवं व्यवसाय का ढांचा भी कुछ हद तक उत्तरदायी है। बड़े पैमाने पर व्यवसाय की मितव्ययताओं से आकर्षित होकर छोटी छोटी संस्थाएं आपस में संयोजित हो जाती हैं जिससे उनकी आर्थिक स्थिति प्रबल होती है और अधिकांश दशाओं में बड़े पैमाने के व्यवसाय को संचालित करने हेतु पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक कंपनी के स्वरूप को अपनाती है। व्यावसायिक संगठन के इस स्वरूप में आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण निहित है। हालांकि बाहर से इसका स्वामित्व काफी हद तक विकेंद्रीकृत रहता है पर व्यवहार में कुछ ही व्यक्तियों का समूह कंपनी के व्यवसाय को संचालित एवं नियंत्रित करने में प्रभावशाली रहता है।

अभी तक किए गए वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत में आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण बढ़ता जा रहा है। जैसाकि 1974 में लोकसभा में बताया गया था, 20 सर्वोच्च औद्योगिक संस्थाओं की कुल संपत्ति 330 करोड़ रु० है। यह इस बात का प्रमाण है कि आर्थिक साधनों में औद्योगिक संस्थाओं का अधिक नियंत्रण है और यह इस बात की ओर संकेत करता है कि देश में आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण बढ़ता ही जा रहा है। इसके लिए जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, सरकार की औद्योगिक लाइसेंस नीति, एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम की अपर्याप्त एवं प्रभावहीन व्यवस्थाएं तथा व्यावसायिक संगठन का स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी आदि उत्तरदायी हैं। इसके लिए सरकारी सहायता पर आश्रित निजी उद्योगों को निजी लाभ की खुली छूट से वंचित किया जाना चाहिए और नई योजना के अंतर्गत ग्रामीण उद्योगों की स्थापना, लघु उद्योगों को पर्याप्त प्रोत्साहन तथा सार्वजनिक उपक्रमों की कुशलता में वृद्धि की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त संबंधित अधिनियम में आवश्यक संशोधन किए जाने चाहिए ताकि इसे प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किया जा सके।

खण्ड दो

औद्योगिक वित्त

8

औद्योगिक वित्त

वित्त का अर्थ

किसी भी व्यावसायिक क्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। बिना पर्याप्त धन के न तो व्यावसायिक क्रिया को प्रारंभ करना संभव है और न ही उसका विस्तार किया जा सकता है। बोलचाल के शब्दों में, व्यवसाय में धन की आवश्यकता को यथासमय तथा उचित शर्तों पर धन प्राप्त करके पूरा करना वित्त कहलाता है।

वित्त शब्द काफी व्यापक एवं विस्तृत है। इसके अंतर्गत उन सभी सिद्धांतों एवं विधियों का अध्ययन सम्मिलित है जिनके माध्यम से जिन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के पास धन उपलब्ध हो उनसे यह धन प्राप्त करके, उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के हाथों इसका संचालन एवं नियंत्रण हस्तांतरित किया जाता है जिनको धन की आवश्यकता है। संक्षेप में वित्त एक ऐसी कार्य विधि है जिसके द्वारा धन के संचित कोषों का व्यावसायिक क्रियाओं के लिए उपयोग संभव होता है। वित्त शब्द को कई लेखकों ने परिभाषित किया है। इसमें से कुछ परिभाषाएं आगे दी जा रही हैं। पैश्य के शब्दों में, 'आधुनिक अर्थव्यवस्था में आवश्यकता पड़ने पर धन की व्यवस्था करना ही वित्त है।' इस परिभाषा से वित्त शब्द की व्याख्या उचित प्रकार से नहीं की जा सकती है क्योंकि इस परिभाषा में केवल आवश्यकता पड़ने पर धन की व्यवस्था करना ही वित्त समझा गया है। न तो इसमें वित्त प्राप्त करने की शर्तों का उल्लेख किया गया है और न ही वित्त प्राप्त करने की प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है। पी० जी० हैस्टिंगस के अनुसार 'वित्त धन प्राप्त करने एवं व्यय करने की कला है।' यह परिभाषा भी हालांकि पूर्ण नहीं समझी जा सकती है फिर भी पैश्य की परिभाषा से अधिक व्यापक है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार वित्त में केवल धन प्राप्त करने की प्रक्रिया सम्मिलित नहीं की गई है अपितु प्राप्त धन को व्यय करने की कला पर भी बल दिया गया है जो काफी सीमा तक तर्कसिद्ध प्रतीत होता है क्योंकि वित्त का अभिप्राय केवल व्यावसायिक क्रिया में धन की आवश्यकता को पूरा करना ही नहीं है, बल्कि वित्त व्यवसाय का एक ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है जिसके अंतर्गत आवश्यकता पड़ने पर यथासमय उचित शर्तों पर धन प्राप्त करना एवं इस प्रकार उपलब्ध धन का अधिकतम कार्यकुशल उपयोग करना सम्मिलित है। इससे यह स्पष्ट है कि वित्त में दो महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं सम्मिलित हैं :

1. यथासमय उचित शर्तों पर पर्याप्त धन प्राप्त करना : इस प्रक्रिया का संबंध धन की उपलब्धि के लिए बनाई जाने वाली योजना, धन प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त साधनों, धन प्राप्त करने के समय एवं शर्तों से है। और धन प्राप्त करने की शर्तों के

अंतर्गत ब्याज की दर, भुगतान का समय, संपत्ति में उत्पन्न आर्थिक भार आदि तत्व सम्मिलित हैं ।

2. प्राप्त धन का कुशल उपयोग : व्यवसाय में धन का प्रयोग उसकी उपलब्धि से कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस प्रक्रिया के अंतर्गत उन समस्त विधियों एवं व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जिनके माध्यम से प्राप्त धन का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग व्यावसायिक संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है । धन के इसी कुशलतापूर्ण प्रयोग के आधार पर व्यावसायिक संस्था की सफलता निर्भर रहती है ।

अत: वित्त का अर्थ धन को प्राप्त करने की प्रक्रिया के साथ साथ प्राप्त धन का कुशलतापूर्वक प्रयोग भी है ।

वित्त का व्यवसाय में महत्व

जैसाकि वित्त शब्द को परिभाषित करते समय बताया जा चुका है, वित्त एक ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है जिसके अंतर्गत उचित शर्तों में यथासमय धन प्राप्त करके उसका कुशलतापूर्वक उपयोग होता है । प्राप्त धन के कुशल उपयोग से हमारा अभिप्राय ऐसे प्रयोग से है जिसके फलस्वरूप व्यावसायिक संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके, जिसमें व्यवसाय की सफलता निहित है ।

वित्त के अभाव में व्यावसायिक क्रिया प्रारंभ नहीं की जा सकती है क्योंकि व्यवसाय में जो भी लेनदेन होते हैं उनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से धन सम्मिलित रहता है । यहां यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जिस प्रकार मानव शरीर को जीवित रखने के लिए रक्त संचार आवश्यक है ठीक उसी प्रकार व्यवसाय को जीवित रखने के लिए धन संचार आवश्यक है ।

संक्षेप में, चाहे नया व्यवसाय प्रारंभ किया जाए, विद्यमान व्यावसायिक इकाई का विस्तार किया जाए अथवा व्यवसाय में मशीनों, संयंत्रों आदि का आधुनिकीकरण किया जाए, सब कार्यों में वित्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । इसके अतिरिक्त व्यवसाय की किसी भी योजना को पर्याप्त वित्त के अभाव में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है ।

व्यापक दृष्टिकोण से व्यावसायिक क्रिया मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित की जाती है : उत्पादन तथा वितरण । इन दोनों क्षेत्रों में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने तथा उनका वितरण संभव बनाने के लिए विभिन्न क्रियाएं निष्पादित की जाती हैं । इन सब क्रियाओं के फलस्वरूप संस्था के ऊपर एक आर्थिक भार उत्पन्न होता है जिसे वहन करने के लिए पर्याप्त वित्त आवश्यक है । वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने हेतु आवश्यक मशीन, यंत्र तथा अन्य सामग्री, जैसे कच्चा माल आदि खरीदने के लिए तथा इसके पश्चात श्रमिकों एवं प्रबंधकों की नियुक्ति करके उनको वेतन आदि का भुगतान करने के लिए तथा उत्पादन से संबंधित अन्य व्ययों का भुगतान करने के लिए पर्याप्त वित्त की उपलब्धि नितांत आवश्यक है। तभी उत्पादन कार्यक्रम को क्रियान्वित किया जा सकता है । ठीक इसी प्रकार वस्तुओं का उत्पादन हो जाने के बाद उन्हें अंतिम ग्राहकों तक पहुंचाने के लिए विभिन्न अन्य क्रियाएं की जाती हैं, जैसे यातायात, बीमा, संग्रहण, श्रेणीकरण, प्रमापीकरण आदि । इन सब क्रियाओं के निष्पादन में भी वित्त की महत्ता कम नहीं है ।

व्यवसाय की बढ़ती हुई जटिल वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयास एवं प्रलोभन से व्यवसाय के नए स्वरूपों को जन्म मिला है जिसके फलस्वरूप व्यावसायिक इकाई के स्वामित्व में फैलाव, प्रबंध एवं स्वामित्व में पृथकता एवं उत्पादन कार्य में श्रम बिभाजन तथा विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त करना संभव हुआ है ।

वित्तीय योजना

वित्त का अर्थ एवं महत्व जानने के बाद यह जानना भी आवश्यक है कि वित्त के महत्व को साकार बनाने के लिए तथा वित्त में सम्मिलित दोनों प्रक्रियाओं को क्रियान्वित करने के लिए व्यवसायी किस प्रकार से वित्त की योजना तैयार करता है। वित्तीय योजना से हमारा अभिप्राय ऐसी योजना से है जिसके अंतर्गत व्यवसाय के लिए आवश्यक पूंजी का निर्धारण, उसको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों में से उपयुक्त साधनों का चुनाव एवं इस प्रकार प्राप्त वित्त के संचालन से संबंधित समस्त नीतियों का निर्धारण सम्मिलित है। वित्तीय योजना तैयार करने का मुख्य उद्देश्य ही यह है कि आवश्यक धन यथासमय, उचित शर्तों पर प्राप्त किया जा सके और उसका कुशल प्रयोग किया जा सके।

वित्तीय योजना हालांकि वित्त का ही एक अंग है फिर भी इसे वित्त से अधिक व्यापक इसलिए समझा जाता है कि इसमें केवल वर्तमान वित्तीय आवश्यकताओं को ही ध्यान में नहीं रखा जाता है बल्कि भविष्य में व्यवसाय के विस्तार की योजनाओं को साकार बनाने के लिए भी व्यवस्था की जाती है।

वित्तीय योजना में निम्न तीन तत्व सम्मिलित हैं:

1. व्यवसाय के लिए आवश्यक कुल पूंजी का निर्धारण।
2. वित्त प्राप्त करने के उपलब्ध साधनों में से उपयुक्त साधनों का चुनाव।
3. प्राप्त वित्त के संचालन से संबंधित आवश्यक नीतियों का निर्धारण, जैसे प्रतिभूतियों को जारी करने का समय वित्त प्राप्त करने की लागत आदि।

वित्तीय योजना तैयार करते समय व्यावसायिक संस्था की केवल वर्तमान वित्तीय आवश्यकताओं को ही ध्यान में नहीं रखा जाता है बल्कि दीर्घकालीन अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाली वित्तीय आवश्यकताओं को भी पूरा पूरा महत्व दिया जाना चाहिए। व्यवसाय स्थिर नहीं रहता है इसका विकास संभव होता है अतः व्यवसाय के विस्तार की योजना को साकार बनाने के लिए वित्तीय योजना में उपयुक्त व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त एक सुदृढ़, सही एवं सुव्यवस्थित वित्तीय योजना व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक तत्व है अतः इसे तैयार करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए:

1. सरलता : वित्तीय योजना इस प्रकार से तैयार की जानी चाहिए कि इसे सरलतापूर्वक समझा और क्रियान्वित किया जा सके। इस योजना के अंतर्गत चुने गए उपयुक्त साधनों का संबंध एवं अनुपात स्पष्ट एवं उचित होना चाहिए।

2. लोच : वित्तीय योजना लोचपूर्ण होनी चाहिए ताकि भविष्य में किसी भी अनिश्चित घटना के घटित होने पर इसे अनुकूल रूप में परिवर्तित किया जा सके।

3. व्यापारिक चक्रों का विश्लेषण : वित्तीय योजना तैयार करते समय व्यापारिक चक्रों का विश्लेषण किया जाना भी वांछनीय है क्योंकि व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन वित्तीय साधनों की प्रभावशीलता एवं उपयुक्तता को प्रभावित करता है।

4. भावी दृष्टिकोण : वित्तीय योजना बनाते समय व्यावसायिक संस्था की भविष्य में संभावित वित्तीय आवश्यकता को भी विश्लेषित किया जाना चाहिए क्योंकि योजना बनाते समय जिन साधनों का चुनाव किया जाएगा उनका संस्था की भविष्य में वित्त प्राप्त करने की क्षमता पर प्रभाव पड़ सकता है।

5. वित्त का कुशल उपयोग : वित्तीय योजना इस प्रकार तैयार की जानी चाहिए कि इसको क्रियान्वित करने से व्यावसायिक संस्था प्राप्त वित्त का अधिकतम कुशलतापूर्वक उपयोग कर सके। अन्यथा इससे संस्था की लाभ कमाने की क्षमता विपरीत रूप से प्रभावित हो

सकती है और संस्था अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि संस्था की स्थाई पूंजी एवं कार्यशील पूंजी में संतुलन बना रहे।

6. मितव्ययता : वित्त प्राप्त करने में लागत एक महत्वपूर्ण तत्व है। चूंकि वित्त प्राप्त करने की लागत का संस्था की लाभ क्षमता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है अत: उपलब्ध साधनों में से उपयुक्त साधनों का चुनाव करते समय यथासंभव ऐसे साधनों का चुनाव किया जाना चाहिए जिनमें लागत व्यय न्यूनतम हो। साथ ही जिनसे वित्तीय योजना में अन्य गुण भी विद्यमान रखे जा सकें।

7. तरलता : वित्तीय कठिनाई का सामना सतर्कतापूर्वक करना व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है क्योंकि इससे एक ओर व्यावसायिक संस्था की पूंजी बाजार में ख्याति बनी रहती है और दूसरी ओर कुशलतापूर्वक संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि वित्तीय योजना में यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि कुछ धनराशि संस्था के पास कार्यशील पूंजी के रूप में सदैव विद्यमान रहे ताकि व्यवसाय के दैनिक खर्चों का भुगतान बिना किसी कठिनाई के किया जा सके। इसके अतिरिक्त तरलता बनाए रखने के लिए तरल संपत्ति में क्या अनुपात होगा इसका निर्धारण सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए।

पूंजी

उपरोक्त वर्णन में अभी तक वित्त शब्द का ही प्रयोग किया गया है। आधारभूत रूप से वित्त पूंजी के रूप में प्राप्त किया जाता है और यह वित्त का मूल तत्व है। अत: यह उचित होगा कि वित्त के संदर्भ में पूंजी, पूंजीकरण आदि शब्दों को भी भलीभांति समझा जाए।

पूंजी शब्द को विभिन्न लेखकों ने अलग अलग दृष्टिकोण से अलग अलग संदर्भ में परिभाषित किया है। लेखाकार की दृष्टि में पूंजी को शुद्ध पूंजी के रूप में समझा जाता है जो संस्था की कुल संपत्ति में से कुल देनदारियों को घटा कर प्राप्त की जाती है :

कुल संपत्ति — कुल देनदारियां = शुद्ध पूंजी।

अर्थशास्त्री पूंजी को भिन्न रूप से परिभाषित करता है। उसके अनुसार पूंजी धन का वह भाग है जिसे अतिरिक्त धन अर्जित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अर्थ-शास्त्री के दृष्टिकोण से पूंजी उत्पादन का एक प्रमुख साधन है।

पर व्यवसाय में पूंजी शब्द का व्यापक अर्थ है। पूंजी का अर्थ व्यवसाय में विनि-योजित कुल धन से है। दूसरे शब्दों में, व्यवसाय प्रारंभ करने के लिए क्रय की गई संपत्ति में धन का विनियोजन तथा व्यवसाय को संचालित करने में व्ययों का भुगतान करने हेतु विनियोजित धन राशि पूंजी कही जाती है। संक्षेप में, व्यवसाय में पूंजी स्थाई पूंजी, कार्य-शील पूंजी एवं प्रारंभिक पूंजी का योग है। इस अध्याय में पूंजी शब्द का प्रयोग व्यवसाय के संदर्भ में किया गया है।

पूंजीकरण : पूंजी से ही मिलता जुलता एक अन्य शब्द है पूंजीकरण। इस शब्द को भी किसी संदर्भ में पूंजी से सीमित अर्थों में प्रयोग किया जाता है तथा कुछ स्थितियों में इसे पूंजी से अधिक विस्तृत समझा जाता है। साधारणतया पूंजीकरण का अर्थ ऐसी प्रक्रिया से लगाया जाता है जिसके द्वारा एक संस्था का पूंजी का ढांचा तैयार किया जाता है और इस ढांचे को बनाने के लिए उपयुक्त साधनों का चुनाव करके उनको कार्यशील बनाया जाता है। इस विचारधारा से पूंजीकरण वित्तीय योजना से मिलता जुलता है और यह संस्था की पूंजी की मात्रा एवं किस्म की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त पूंजीकरण शब्द का प्रयोग कुछ स्थितियों में संस्था द्वारा जारी कुल अंशों एवं ऋण पत्रों के योग के

रूप में किया जाता है। इस संदिग्ध स्थिति से उबरने के लिए इस शब्द की कुछ मुख्य परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं :

गैरस्टन वर्ग के अनुसार संस्था के पूंजीकरण में—

(i) स्वामित्व पूंजी जिसमें संचित कोष भी सम्मिलित है,
(ii) ऋणपूंजी जिसमें ऋणपत्र एवं अन्य दीर्घकालीन देनदारियां सम्मिलित हैं,
—इन दोनों को सम्मिलित किया गया है।

यह परिभाषा काफी सीमा तक उचित प्रतीत होती है पर इससे भी इस बात का स्पष्टीकरण नहीं मिल पाता है कि पूंजीकरण में अंश एवं ऋणपत्रों के अतिरिक्त जो अतिरेक भी जोड़ा जाता है उसकी प्रकृति क्या होती है क्योंकि संस्था के पास जो अतिरेक की राशि संचित कोषों के रूप में सुरक्षित रखी जाती है वह मुख्य रूप से अर्जित अतिरेक तथा पूंजीगत अतिरेक हो सकता है जो अंशधारियों में वितरणीय हो सकता है और नहीं भी।

पूंजीकरण शब्द की ऊपर दी गई परिभाषा एवं विचारधारा का विश्लेषण करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पूंजीकरण में निम्न मदों का योग सम्मिलित होता है :

(i) निर्गमित अंश पूंजी
(ii) निर्गमित ऋण पूंजी
(iii) दीर्घकालीन देनदारियां
(iv) अर्जित अतिरेक तथा पूंजीगत अतिरेक जिन्हें अंशधारियों में वितरित नहीं किया जा सकता है।

पूंजीकरण तथा पूंजी शब्द की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि पूंजी में तो संस्था की कुल संपत्तियों (स्थाई संपत्ति, चालू संपत्ति तथा अदृश्यनीय संपत्ति) में किया गया विनियोग सम्मिलित है जबकि पूंजीकरण दीर्घकालीन देनदारियों, अंशों एवं ऋणपत्रों तथा अतिरेक का योग है।

पूंजीकरण के सिद्धांत

व्यावसायिक संस्था के पूंजीकरण को ज्ञात करने के लिए मुख्य रूप से निम्न दो सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों सिद्धांत किसी न किसी प्रकार संस्था की पूंजी से संबंध रखते हैं।

लागत सिद्धांत : पूंजीकरण का यह सिद्धांत संस्था में कुल पूंजी की मात्रा के विनियोजन से संबंधित है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी संस्था का पूंजीकरण ज्ञात करने के लिए उस तमाम पूंजी के विनियोग को आधार माना जाता है जिसके फलस्वरूप संस्था की स्थापना की जाती है, व्यवसाय चलाने के लिए स्थाई, चालू एवं अदृश्यनीय संपत्ति क्रय की जाती है और व्यवसाय का दैनिक कारोबार चलाने के लिए आवश्यक व्ययों का भुगतान किया जाता है। संक्षेप में, इस सिद्धांत के अनुसार संस्था को स्थापित करके उसे संचालित करने में जो संभावित लागत आती है उसे ही संस्था का पूंजीकरण समझा जाता है। व्यवहार में इस सिद्धांत का प्रयोग प्रायः नई व्यावसायिक संस्था का पूंजीकरण ज्ञात करने के लिए किया जाता है क्योंकि एक नई संस्था के लिए, जिसे अपना व्यवसाय प्रारंभ करना है, पूंजीकरण ज्ञात करने के अन्य आधार उपयुक्त नहीं हैं और इन दशाओं में लागत सिद्धांत के आधार पर ही पूंजीकरण ज्ञात किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धांत की उपयोगिता सीमित समझी जाती है क्योंकि इसके अंतर्गत संस्था द्वारा व्यवसाय चलाने के लिए खरीदी गई संपत्ति के मूल्यों के आधार पर ज्ञात पूंजीकरण सही नहीं हो सकता है। क्योंकि संपत्ति के मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं और यदि क्रय की गई संपत्ति का व्यवसाय में पूर्ण प्रयोग न किया जाए तो ऐसी स्थिति

में भी पूंजीकरण की मात्रा तर्कसिद्ध नहीं मानी जा सकती है।

आय सिद्धांत : यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो व्यावसायिक संस्था में विनियोजित पूंजी का प्रत्यक्ष संबंध उस संस्था की लाभ कमाने की क्षमता से रहता है। यदि व्यवसाय में पूंजी अपर्याप्त है अथवा किन्हीं कारणों से विनियोजित पूंजी का प्रभावपूर्ण प्रयोग नहीं किया जा रहा है तो इससे संस्था की लाभ कमाने की क्षमता विपरीत रूप से प्रभावित होती है। इस सिद्धांत के अनुसार संस्था का पूंजीकरण उस संस्था की लाभ कमाने की क्षमता पर आधारित होता है। इस सिद्धांत के तहत सर्वप्रथम संस्था का अनुमानित लाभ-हानि खाता तैयार करके अनुमानित संभावित लाभ की राशि ज्ञात कर ली जाती है। इसके पश्चात उस उद्योग में उसी प्रकार का व्यवसाय करने वाली अन्य संस्थाओं द्वारा कमाया जाने वाला औसतन लाभ ज्ञात कर लिया जाता है और इसी अनुपात को आधार मानकर अनुमानित लाभ की राशि से संस्था का पूंजीकरण ज्ञात कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए चीनी उद्योग में चीनी मिलें औसतन 10% लाभ कमा रही हैं (100 रु० की पूंजी पर 10 रु० लाभ)। किसी एक चीनी मिल का पूंजीकरण ज्ञात करने के लिए संस्था द्वारा कमाई जाने वाली लाभ की अनुमानित राशि 50,000 रु० है तो आय सिद्धांत के आधार पर संस्था का पूंजीकरण निम्न प्रकार निर्धारित किया जाएगा :

$$50{,}000 \times \frac{100}{10} = 5{,}00{,}000 \text{ रु०}$$

नई संस्था का पूंजीकरण ज्ञात करने के लिए इस सिद्धांत को अधिक उपयोगी नहीं समझा जाता है क्योंकि पहले के अनुभव के बिना भविष्य के लिए लाभ की राशि का अनुमान अक्सर सही नहीं होता है। फिर भी यह सिद्धांत लागत सिद्धांत की तुलना में अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि संस्था का वास्तविक मूल्य लाभ कमाने की क्षमता पर निर्भर रहता है न कि संस्था को स्थापित करके उसका व्यवसाय चलाने के लिए किए गए विनियोग पर। विशेष रूप से इस सिद्धांत का प्रभावपूर्ण प्रयोग उन संस्थाओं का पूंजीकरण ज्ञात करने के लिए किया जा सकता है जो अस्तित्व में हैं और गत कुछ वर्षों से कार्य कर रही हैं।

अतिपूंजीकरण एवं अवपूंजीकरण

पूंजीकरण में असंतुलन अथवा वित्तीय योजना में कमी अतिपूंजीकरण तथा अवपूंजीकरण की स्थितियों को जन्म देती हैं। यदि संस्था का पूंजीकरण संस्था की लाभ कमाने की क्षमता से अधिक है तो संस्था अपनी पूंजी पर उचित दर का लाभ नहीं कमा पाती है। इसके विपरीत यदि पूंजीकरण लाभ क्षमता की तुलना में कम है तो इससे अवपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसीलिए यह महत्वपूर्ण है कि संस्था के पूंजीकरण का निर्धारण सही हो।

अतिपूंजीकरण

व्यावसायिक संस्था व्यवसाय में पूंजी का विनियोजन लाभ कमाने के उद्देश्य से करती है अतः यदि कोई व्यावसायिक संस्था विनियोजित पूंजी में किन्हीं कारणों से उचित दर का लाभ नहीं कमा पाती है तो ऐसी संस्था को अतिपूंजीकृत संस्था कहा जाता है। उचित लाभ की दर से हमारा अभिप्राय उस औसत लाभ की दर से है जो उस प्रकार के उद्योग में अन्य सामान्य संस्थाओं द्वारा सामान्य दशा में कमाया जाता है और जिससे संस्था अपनी ऋण पूंजी पर निश्चित ब्याज एवं अंश पूंजी पर उचित दर के लाभांश का भुगतान कर सके।

सामान्य रूप से अतिपूंजीकरण का अभिप्राय व्यवसाय में पूंजी के अनावश्यक आधिक्य से लगाया जाता है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि व्यवसाय में अतिपूंजीकरण की स्थिति केवल आवश्यकता से अधिक पूंजी एकत्र करने से ही उत्पन्न होती है। यदि कोई संस्था उपलब्ध पूंजी का अपने व्यवसाय में कुशलतापूर्वक उपयोग नहीं कर पाती है तो स्वाभाविक रूप से संस्था की लाभ कमाने की क्षमता इससे विपरीत रूप में प्रभावित होती है और संस्था अतिपूंजीकरण की स्थिति में आ जाती है।

बियेचम के शब्दों में, 'यदि कोई संस्था अपनी पूंजीकृत लाभ कमाने की क्षमता से अधिक प्रतिभूतियां जारी करती है तो इस स्थिति को अतिपूंजीकरण कहा जाता है।' इस परिभाषा के अंतर्गत पूंजीकरण को लाभ क्षमता से संबंधित किया गया है जो उचित भी है पर इससे इस बात का संकेत नहीं मिलता है कि प्राप्त पूंजी का अकुशलतापूर्वक प्रयोग संस्था को अतिपूंजीकृत बना देता है।

गैरस्टनबर्ग के अनुसार, 'अतिपूंजीकृत संस्था ऐसी संस्था है जो निर्गमित अंशों एवं ऋणपत्रों में वितरित करने के लिए उचित लाभ नहीं कमा पाती है अथवा संस्था का वर्तमान मूल्य संस्था द्वारा जारी की गई प्रतिभूतियों के अंकित मूल्य से कम हो।'

यह परिभाषा सबसे अधिक तर्कसिद्ध प्रतीत होती है क्योंकि इसमें यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि अतिपूंजीकरण की स्थिति संस्था द्वारा उचित दर का लाभ न कमाने पर उत्पन्न होती है और ऐसी स्थिति में संस्था का वर्तमान मूल्य निर्गमित प्रतिभूतियों के मूल्य की तुलना में कम रह जाता है जिसे अतिपूंजीकरण का कारण एवं परिणाम दोनों समझा जा सकता है।

अतिपूंजीकरण के कारण निम्नलिखित हैं :

1. अशुद्ध वित्तीय योजना : यदि संस्था की वित्तीय योजना तैयार करते समय आवश्यक पूंजी का निर्धारण अशुद्ध हो जिससे संस्था के पूंजीकरण तथा वर्तमान मूल्य में असंतुलन उत्पन्न हो जाए तो इससे अतिपूंजीकरण की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है (अनुमानित लाभ की राशि का अवमूल्यन)।

2. प्रारंभिक खर्चों का अनुपात : यदि संस्था को स्थापित करने में जो प्रारंभिक खर्चे किए गए हैं वे उनसे प्राप्त लाभ की तुलना में अधिक हैं तो इसका प्रभाव संस्था की लाभ कमाने की क्षमता पर विपरीत रूप से पड़ेगा और फलस्वरूप अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

3. ऋणपूंजी एवं अंशपूंजी में असंतुलन : यदि कोई संस्था अपनी कुल पूंजी का अधिकांश ऐसे ऋणपत्र निर्गमित करके प्राप्त करती है जिन पर ऊंची दर का ब्याज दिया जाना है तो इससे भी अर्जित लाभ का अधिकांश ब्याज के रूप में वितरित होगा और सामान्य अंशधारियों के लिए उचित दर का लाभांश नहीं बच पाएगा। इससे भी संस्था में अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न होगी।

4. ह्रास की उचित व्यवस्था का अभाव : संस्था द्वारा व्यवसाय में प्रयोग की जाने वाली संपत्तियों में ह्रास की उचित व्यवस्था संस्था की लाभ की कमाने की क्षमता को कायम रखने एवं मजबूत बनाने के लिए आवश्यक है। यदि संस्था संपत्तियों में ह्रास की व्यवस्था नहीं करती है तो एक समय ऐसा आ सकता है जब संस्था को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संपत्ति भी लाभ के रूप में बांटी जा रही है। इससे स्वाभाविक रूप में संस्था की लाभ क्षमता में क्षीणता उत्पन्न होगी और संस्था निर्गमित प्रतिभूतियों में उचित दर की आय वितरित नहीं कर सकेगी।

5. लाभांश वितरण नीति : संस्था के लिए अपनी आर्थिक सुदृढ़ता बनाए रखने के लिए यह उचित एवं वांछनीय समझा जाता है कि अर्जित लाभ को पूर्ण रूप से वितरित न

करके इसका कुछ अंश संस्था में संचित कोषों के रूप में रोका जाए ताकि भविष्य में आर्थिक कठिनाई उत्पन्न होने पर लाभ क्षमता को सुरक्षित रखते हुए इनको प्रयोग में लाया जा सके। इसके विपरीत यदि संस्था समस्त लाभों को अंशधारियों में बांट देती है तो अल्पकालीन दृष्टिकोण से तो यह अनुचित नहीं है पर संस्था के संचालक अल्पकालीन अनुकूल आर्थिक स्थिति से आकृष्ट होकर आवश्यकता से अधिक पूंजी एकत्र कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप दीर्घकाल में कंपनी धीरे धीरे अतिपूंजीकरण की स्थिति की ओर आ सकती है।

6. व्यापारिक चक्रों का प्रभाव : व्यापारिक चक्र भी संस्था के वर्तमान मूल्य एवं पूंजीकरण की राशि में असंतुलन उत्पन्न करते हैं, जैसे यदि कोई संस्था आर्थिक तेजी के समय में स्थापित की गई है जब कीमतों का स्तरतत्कालीन वास्तविक स्तर से अधिक होता है तो संस्था के लिए जो संपत्ति खरीदी जाएंगी उसके लिए उनके वास्तविक मूल्य से अधिक पूंजी निर्गमित की जाती है। इससे संस्था में संपत्तियों के मूल्य पूंजीकरण की राशि से कम रह जाएंगे और संस्था अतिपूंजीकृत हो जाएगी।

7. अन्य कारण : अतिपूंजीकरण की स्थिति कुछ दशाओं में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा या सरकार द्वारा अत्यधिक कर आदि लगाने से भी उत्पन्न हो सकती है। ये तत्व प्रायः उन दशाओं में अधिक कार्यशील होते हैं जबकि संस्था अनुकूल वातावरण के कारण अधिक लाभ कमा रही हो।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, अतिपूंजीकरण की स्थिति मूल रूप से संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में किन्हीं कारणों से क्षीणता आ जाने से उत्पन्न होती है, फलस्वरूप संस्था निर्गमित प्रतिभूतियों में उचित दर का ब्याज एवं लाभांश वितरित करने में असमर्थ रहती है। अतिपूंजीकरण की स्थिति निस्संदेह संस्था के लिए घातक सिद्ध होती है। केवल संस्था ही नहीं बल्कि समाज के विभिन्न वर्ग भी इसके घातक परिणामों से अछूते नहीं रहते हैं। ये परिणाम इस प्रकार हैं :

अति पूंजीकृत संस्था इस स्थिति से निम्न प्रकार प्रभावित होती है :

(अ) संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में क्षीणता से अंश बाजार एवं पूंजी बाजार में संस्था की साख पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(ब) संभावित विनियोगकर्ताओं का संस्था के ऊपर विश्वास खत्म हो जाता है जो संस्था के विस्तार को विपरीत रूप से प्रभावित कर सकता है।

(स) संस्था में अपर्याप्त लाभ के कारण आधुनिकीकरण एवं नवीकरण के कार्यक्रमों को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है।

(द) संस्था के संचालक संस्था की साख बनाए रखने के लिए अनुचित विधियों का प्रयोग करते हैं, जैसे संस्था के आवश्यकीय खर्चों में कटौती, लाभ की राशि को गलत ढंग से बढ़ा चढ़ा कर दिखाना आदि। इससे संस्था की स्थिति और अधिक गंभीर हो जाती है।

(य) पर्याप्त लाभों के अभाव में संस्था के ऊपर प्रति वर्ष देनदारियां इकट्ठी होती जाती हैं जो दीर्घकाल तक संस्था के लिए आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न करती हैं।

अतिपूंजीकरण का अंशधारियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है :

(अ) चूंकि संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभों का अंशधारियों में वितरित लाभांश पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, इसीलिए अतिपूंजीकृत संस्था निर्गमित अंशों में उचित दर का लाभांश नहीं दे पाती है।

(ब) निर्गमित अंशों में लाभांश की अपर्याप्तता के कारण अंश बाजार में अंशों के बाजार मूल्य में गिरावट संभव है।

(स) अतिपूंजीकृत संस्था द्वारा निर्गमित अंशों को ऋण लेने में गिरवी के लिए

प्राय: स्वीकार नहीं किया जाता है।

(य) निर्गमित अंशों के मूल्यों में लगातार गिरावट सट्टे को प्रोत्साहित करती है जिससे वास्तविक विनियोगकर्ता के हितों को ठेस पहुंच सकती है।

(र) यदि अतिपूंजीकृत संस्था इस स्थिति को सुधारने के लिए संस्था का पुनर्गठन करती है तो पुनर्गठन में भी मूलधन की सबसे अधिक हानि अंशधारियों को होती है।

इसका दुष्प्रभाव समाज पर भी पड़ता है :

(अ) अतिपूंजीकृत संस्था अपने लाभों में वृद्धि करने के लिए उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं की किस्म में गिरावट कर देती है। इससे उचित किस्म की वस्तु उचित मूल्य पर प्राप्त नहीं हो पाती है।

(ब) इसी प्रकार लाभ बढ़ाने के लिए मजदूरों के वेतन में कटौती तथा अन्य अनुचित विधियां इस्तेमाल की जाती हैं जिनका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है।

(स) अतिपूंजीकृत संस्था लाभ क्षमता में क्षीणता के कारण प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाती है। इससे संस्था के समापन की संभावना और अधिक बढ़ जाती है।

(द) समापन की स्थिति में संस्था के लेनदारों को मूलधन की पूरी वापसी संभव नहीं है।

(य) संस्था के समापन से बेरोजगारी बढ़ सकती है और वस्तुओं के उत्पादन में कमी आना संभव है।

अतिपूंजीकरण की स्थिति तभी सामान्य हो सकती है यदि संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में क्षीणता को रोका जा सके और पूंजीकरण तथा संस्था के वर्तमान मूल्य में संतुलन उत्पन्न किया जाए। इस स्थिति को सामान्य बनाने के लिए निम्न उपचार प्रयोग किए जा सकते हैं :

(1) ऊंची ब्याज की दर वाले ऋणपत्रों का शोधन,

(2) विद्यमान ऋणपत्रधारियों को पुराने ऋणपत्रों के बदले कम ब्याज वाले ऋणपत्रों का निर्गमन,

(3) ऊंची दर के लाभांश वाले पूर्वाधिकार अंशों का शोधन,

(4) संस्था के वर्तमान मूल्य एवं पूंजीकरण में संतुलन उत्पन्न करने के लिए सामान्य अंशों के अंकित मूल्य में कटौती।

अतिपूंजीकरण की स्थिति को नियंत्रित करने तथा उसे सामान्य बनाने के लिए ऊपर जो उपाय बताए गए हैं उनको अलग अलग परिस्थितियों में अलग अलग संस्था द्वारा प्रयोग किया जाता है। इन तमाम उपायों में से केवल उन्हीं उपायों का प्रयोग किया जाता है जिनसे संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में वृद्धि हो सके। प्रत्येक उपाय को प्रयोग में लाने से संस्था के सम्मुख आर्थिक कठिनाई उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अत: केवल उसी उपाय का प्रयोग वांछनीय होगा जो संस्था के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो, जैसे प्रथम दो उपाय—ऋणपत्रों का शोधन एवं पूर्वाधिकार अंशों का शोधन—तभी प्रयोग किए जा सकते हैं जब शोधन के लिए संस्था के पास पर्याप्त संचित कोष मौजूद हो क्योंकि नए ऋण लेकर पुराने ऋणों का शोधन करने से समस्या हल नहीं हो सकती है।

उन स्थितियों में जबकि संस्था के पास पर्याप्त संचित कोष उपलब्ध नहीं है, अतिपूंजीकरण की स्थिति को दूर करने के लिए यह वांछनीय होगा कि संस्था का पुनर्गठन किया जाए। पुनर्गठन से सामान्य अंशधारी, पूर्वाधिकार अंशधारी, ऋणपत्रधारी तथा साधारण लेनदार सभी प्रभावित हो सकते हैं।

अवपूंजीकरण

अवपूंजीकरण की स्थिति अतिपूंजीकरण की स्थिति के बिल्कुल विपरीत है। अवपूंजीकरण का अर्थ पूंजी की अपर्याप्तता से नहीं है बल्कि कोई भी संस्था जो अपनी विनियोजित पूंजी पर सामान्य दर से अधिक दर का लाभ अर्जित कर रही हो, अवपूंजीकृत संस्था कहलाती है।

गैरस्टनबर्ग के अनुसार, 'अवपूंजीकृत (अंडरकैपिटलाइज्ड) संस्था वह संस्था है जो उसी उद्योग में स्थित अन्य संस्थाओं की तुलना में काफी ऊंची दर का लाभ अर्जित कर रही हो।' इस परिभाषा में केवल अवपूंजीकृत संस्था की एक प्रमुख विशेषता पर अधिक बल दिया गया है। पर इससे अवपूंजीकृत संस्था के वास्तविक मूल्य व अंकित मूल्य अथवा वास्तविक मूल्य तथा निर्गमित अंशों व ऋण पत्रों के योग में असंतुलन स्पष्ट नहीं किया गया है।

हूगलैंड के शब्दों में, 'अवपूंजीकरण में संस्था की संपत्तियों का वास्तविक मूल्य निर्गमित अंशों व ऋणपत्रों से अधिक होता है।' इन परिभाषाओं को दृष्टि में रखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवपूंजीकरण एक ऐसी स्थिति है जिसमें संस्था उस उद्योग की अन्य समान संस्थाओं की तुलना में अधिक ऊंची दर का लाभ कमाती है और उसकी संपत्तियों का वास्तविक मूल्य निर्गमित अंशों तथा ऋणपत्रों के योग से अधिक हो। इस परिभाषा के दोनों पहलू एक दूसरे से संबंधित हैं क्योंकि संस्था की संपत्तियों के वास्तविक मूल्य निर्गमित अंशों व ऋणपत्रों के योग से अधिक होने पर सामान्य दर की आय भी अधिक ऊंची महसूस की जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि संस्था 50,000 रु० मूल्य की संपत्तियों का प्रयोग करके (जिनका अंकित मूल्य 40,000 रु० है) प्राप्त आय केवल 40,000 रु० की पूंजी में वितरित करे तो सामान्य आय की दर अधिक प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त अवपूंजीकरण की स्थिति यह संकेत करती है कि संस्था अपनी संपत्तियों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग कर रही है।

अवपूंजीकरण के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :

1. यदि वित्तीय योजना तैयार करते समय अनुमानित लाभ कम अनुमानित किए गए हों जबकि वास्तव में लाभ अधिक हों तो ऐसी संस्था का पूंजीकरण संपत्तियों के वास्तविक मूल्य से कम हो जाएगा और संस्था अवपूंजीकृत हो जाएगी। यह दोषपूर्ण वित्तीय योजना का परिणाम है।

2. जिस संस्था की स्थापना आर्थिक मंदी के युग में हो और संपत्ति तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों में प्राप्त की गई हो वह जब आर्थिक तेजी के युग में प्रवेश करती है तो अवपूंजीकरण की स्थिति स्वाभाविक है।

3. संस्था द्वारा अर्जित लाभों के व्यवसाय में पुर्नविनियोजन से भी संस्था का वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य से अधिक हो जाएगा और संस्था अवपूंजीकरण की स्थिति की ओर बढ़ेगी क्योंकि इन संचित कोषों का प्रयोग यदि संस्था की मशीन, संयंत्र आदि का आधुनिकीकरण व नवीकरण करने के लिए किया जाए तो स्वाभाविक रूप से संस्था की लाभ कमाने की क्षमता में वृद्धि होगी।

4. दीर्घकाल में संपत्तियों के मूल्यों में अकस्मात वृद्धि भी अवपूंजीकरण की स्थिति को जन्म दे सकती है।

5. वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उन्नत विधियों तथा नवविकसित मशीनों का प्रयोग भी संस्था की उत्पादकता बढ़ा सकता है जिसके फलस्वरूप लाभ की दर में वृद्धि संभव है।

अतिपूंजीकरण की स्थिति की भांति अवपूंजीकरण भी संस्था को तथा संस्था में संलग्न अन्य हितों एवं समाज को निम्न प्रकार से प्रभावित करता है :

1. संचालकों द्वारा गुप्त कोषों का निर्माण : अवपूंजीकृत संस्था, तुलनात्मक रूप से काफी अधिक दर का लाभ कमाती है। ऐसी संस्था के संचालक गुप्त संचित कोषों का निर्माण करके लाभ कम दिखाने का प्रयास करते हैं।

2. इसके अतिरिक्त संचालक संस्था का लाभ कम दिखाने के लिए अनावश्यक व्यय वहन करते हैं और अन्य अनुचित तरीके अपनाते हैं जिससे अंशों के बाजार मूल्य में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है।

3. अवपूंजीकृत संस्था की लाभ कमाने की दर से आकर्षित होकर व्यवसाय के उस क्षेत्र में कई नई संस्थाएं स्थापित हो जाती हैं। इससे विद्यमान संस्थाओं के बाजार हिस्से में कमी स्वाभाविक है और इससे अनावश्यक प्रतिस्पर्धा में वृद्धि होती है।

4. संस्था को अधिक उन्नतिशील एवं समृद्ध देख श्रमिक भी उन्नति एवं समृद्धि में अपने हिस्से की मांग करते हैं और अधिकांश दशाओं में यह पाया जाता है कि यह स्थिति श्रम संघर्षों को जन्म देती है।

5. संस्था द्वारा अर्जित अत्यधिक लाभ की दर को दृष्टि में रखते हुए उपभोक्ताओं में भी यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि संस्था अत्यधिक लाभ कमाकर उनका शोषण कर रही है।

6. अत्यधिक लाभ कमाने की स्थिति सरकार को ऐसे व्यवसायों पर अधिक कर लगाने के लिए बाध्य करती है।

अवपूंजीकरण की स्थिति नियंत्रित करने के उपाय इस प्रकार हैं :

1. अंशों को छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त करना : अवपूंजीकृत संस्था कुछ दशाओं में स्थिति पर नियंत्रण रखने के लिए निर्गमित अंशों को छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त कर देती है ताकि प्रति अंश लाभांश की दर कम की जा सके। यह उपाय केवल एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करता है और वास्तव में इससे अवपूंजीकरण की स्थिति नहीं सुधारी जा सकती है।

2. बोनस अंश जारी करना : अवपूंजीकृत संस्था पूंजीकरण एवं संपत्तियों के वास्तविक मूल्यों में संतुलन कायम करने के लिए संचित कोषों में से बोनस अंश जारी करके काफी हद तक इस स्थिति पर नियंत्रण पा सकती है।

3. संपत्तियों का समय समय पर पुनर्मूल्यांकन : अवपूंजीकरण की स्थिति को सामान्य बनाने के लिए यह सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय समझा जाता है। इस उपाय के अंतर्गत संस्था समय समय पर संपत्तियों का मूल्यांकन करके पूंजीकरण से उन्हें संतुलित करती रहती है ताकि अवपूंजीकरण की स्थिति पूर्ण रूप से नियंत्रित की जा सके। संपत्तियों का मूल्यांकन करने से यदि उनके मूल्यों में वृद्धि पाई जाती है तो संस्था उसी राशि की अतिरिक्त पूंजी एकत्र करके लाभ कमाने की दर को सामान्य बनाए रख सकती है। इसके विपरीत यदि किन्हीं संपत्तियों के मूल्यों में कमी आ जाए तो ऐसी स्थिति में ह्रास, नवीकरण आदि की उचित व्यवस्था करके संपत्तियों के वास्तविक मूल्य को उनके अंकित मूल्य के आसपास रखा जा सकता है। इस उपाय के वांछनीय परिणाम प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि संपत्तियों के मूल्यांकन की विधि उचित एवं सही हो, अन्यथा इससे स्थिति और गंभीर हो सकती है।

तुलना

अतिपूंजीकरण एवं अवपूंजीकरण के कारणों, प्रभावों एवं इन स्थितियों को सुधारने के

उपायों का वर्णन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये दोनों स्थितियां दोषयुक्त वित्तीय योजना के कारण उत्पन्न होती हैं। इन दोनों स्थितियों में या तो संस्था की लाभक्षमता एवं पूंजीकरण में असंतुलन उत्पन्न होता है या संस्था की संपत्तियों के वास्तविक मूल्य तथा अंकित मूल्य में भिन्नता आ जाती है। ये दोनों स्थितियां संस्था की वित्तीय स्थिति के लिए हानिप्रद हैं। तुलनात्मक रूप से अतिपूंजीकरण की स्थिति, जिसमें संस्था की लाभक्षमता में क्षीणता आ जाती है, अधिक घातक समझी जा सकती है क्योंकि इससे अंशधारियों को उचित लाभांश नहीं मिल पाता है। उत्पादित वस्तु की किस्म घटिया हो जाने से उपभोक्ताओं में असंतोष उत्पन्न होता है और इससे भी अधिक यदि संस्था की इस दयनीय वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए इसका पुनर्गठन किया जाए तो मूलधन की वापसी भी जोखिम में पड़ जाती है। इसकी तुलना में अवपूंजीकरण की स्थिति घातक होने के साथ अंशधारियों, ऋणदाताओं आदि के लिए अनुकूल भी समझी जाती है पर ऐसी स्थिति के विरुद्ध ग्राहकों में असंतोष, श्रमिकों में रोष एवं सरकार के हस्तक्षेप की संभावना बनी रहती है। और भी प्रतिस्पर्धा बढ़ जाने के कारण उत्पादन मांग से अधिक हो जाता है तथा कुछ स्थितियों में अवपूंजीकृत संस्था के पास समापन के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प मौजूद नहीं रहता है। इन दोनों स्थितियों की तुलना में यह भी महत्वपूर्ण है कि अतिपूंजीकरण की स्थिति आमतौर से पाई जाती है जबकि अवपूंजीकरण की स्थिति यदा-कदा उत्पन्न होती है।

तरलित पूंजी (वाटर्ड कैपिटल)

तरलित पूंजी संस्था में पूंजी का वह भाग है जिस भाग के बराबर या तो संस्था के पास संपत्ति मौजूद न हो अथवा जिस भाग की संपत्ति व्यर्थ हो, संस्था के लिए जिसकी कोई उपयोगिता न हो। तरलित पूंजी अवपूंजीकरण की स्थिति से मिलती जुलती है फिर भी ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। कुछ दशाओं में संस्था की पूंजी का भाग तरलित हो जाने के कारण अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि तरलित पूंजी से संस्था की लाभ कमाने की क्षमता विपरीत रूप से प्रभावित होती है, पर इसके विपरीत सामान्य पूंजीकरण की स्थिति में होने पर भी किसी संस्था की पूंजी का कुछ हिस्सा तरलित हो सकता है। इसके अतिरिक्त अतिपूंजीकरण की स्थिति तो मूलरूप से संस्था की लाभक्षमता में क्षीणता उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न होती है जबकि संस्था की पूंजी का हिस्सा तब तरलित समझा जाता है यदि संस्था की स्थापना के लिए प्रवर्तकों को अनुचित रूप से अत्यधिक पारिश्रमिक दे दिया गया हो (जिसका भुगतान प्रारंभिक पूंजी में से किया जाता है) अथवा व्यवसाय खरीदते समय अमूर्त संपत्तियों, जैसे ख्याति आदि के लिए अत्यधिक मूल्य चुकाया गया हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि तरलित पूंजी की स्थिति तो व्यवसाय के प्रारंभ में उत्पन्न होती है जबकि अतिपूंजीकरण की स्थिति व्यवसाय प्रारंभ करने के पश्चात धीरे धीरे उत्पन्न होती है।

संस्था की कुल पूंजी का निर्धारण

जैसाकि बताया जा चुका है, वित्त पूंजी के बिना कोई भी व्यावसायिक संस्था न तो स्थापित की जा सकती है, न उसे सुचारु रूप से संचालित किया जा सकता है और न ही उसके विस्तार को साकार बनाया जा सकता है। अत: एक व्यावसायिक संस्था को स्थापित करके उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए कुल कितनी पूंजी की मात्रा की आवश्यकता होगी, इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। संस्था के लिए कुल आवश्यक पूंजी का निर्धारण सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए क्योंकि यदि इसका

निर्धारण सही रूप से नहीं किया जाता है तो संस्था कुछ समय पश्चात अतिपूंजीकरण या अवपूंजीकरण की स्थिति में आ सकती है।

किसी भी संस्था की कुल पूंजी की आवश्यकता का निर्धारण करते समय निम्न तत्वों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है क्योंकि इनसे ही कुल पूंजी की आवश्यकता का सही अनुमान लगाया जाना संभव है :

1. **प्रारंभिक पूंजी :** प्रारंभिक पूंजी पूंजी का वह भाग है जिसका विनियोजन संस्था का प्रवर्तन करने तथा उसे स्थापित करने में किया जाता है अर्थात इस पूंजी से संस्था की स्थापना संबंधी समस्त व्ययों का भुगतान किया जाता है, जसे प्रवर्तकों के पारिश्रमिक का भुगतान, वैधानिक, तकनीकी आदि सलाह प्राप्त करने में व्यय, महत्वपूर्ण दस्तावेजों की तैयारी, उनके प्रकाशन, उनके पंजीकरण आदि में व्यय इत्यादि।

2. **स्थाई पूंजी :** संस्था के व्यवसाय को चलाने के लिए स्थाई संपत्तियों को क्रय करने में विनियोजित धनराशि स्थाई पूंजी कहलाती है, जैसे मशीन, भूमि, भवन एवं संयंत्र को क्रय करने में विनियोजित धनराशि।

3. **कार्यशील पूंजी :** संस्था का व्यवसाय चलाने के लिए स्थाई संपत्तियों के अतिरिक्त कुछ चालू संपत्तियां तथा दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए कुछ नकदी भी आवश्यक है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए पूंजी का जो भाग उपयोग में लाया जाता है उसे कार्यशील पूंजी कहा जाता है, जैसे कच्चे माल की खरीद, मजदूरों का वेतन तथा अन्य दैनिक खर्चे एवं समस्त चालू संपत्ति, जैसे नकदी, देनदार, प्राप्य बिल आदि।

4. **संचित पूंजी :** संस्था का व्यवसाय प्रारंभ करने के पश्चात प्रारंभ के कुछ वर्षों में संस्था इतनी आय नहीं कमा पाती कि सारे व्ययों का भुगतान किया जा सके। इस कमी को पूरा करने के लिए भी पूंजी का कुछ हिस्सा संचित रखा जाना चाहिए।

5. **पूंजी प्राप्त करने की लागत :** प्रतिभूतियां निर्गमित करके उन्हें विनियोजकों को बेचने में भी संस्था को कुछ व्यय करने पड़ते हैं, जैसे प्रतिभूतियां जारी करने के व्यय, प्रविवरण पत्र तैयार कराना, उसे प्रकाशित करना, प्रतिभूतियों को बेचने के लिए कमीशन का भुगतान एवं बंधक का ठहराव तैयार करने का व्यय आदि। इन व्ययों का भुगतान करने के लिए भी कुछ पूंजी की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

6. **विस्तार के लिए पूंजी की व्यवस्था :** व्यवसाय के विस्तार के लिए पूंजी का निर्धारण कुल पूंजी के निर्धारण के साथ नहीं किया जाता है पर इसे व्यवसाय की कुल पूंजी का निर्धारण करने के लिए अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विद्यमान व्यवसाय को क्रय करने की दशा में संस्था को कुछ अमूर्त संपत्ति, जैसे ख्याति आदि के लिए भी प्रतिफल चुकता करना पड़ता है। इसके लिए या तो प्रारंभिक पूंजी के साथ या अलग से व्यवस्था की जानी चाहिए।

व्यवसाय में कुल पूंजी के निर्धारण में स्थाई पूंजी एवं कार्यशील पूंजी का विशेष महत्व है क्योंकि कुल पूंजी का अधिकांश इन्हीं से निर्धारित होता है। इसीलिए इनका विस्तृत अध्ययन भी आवश्यक है।

स्थाई पूंजी एवं इसका निर्धारण

संस्था के व्यवसाय को चलाने के लिए जो स्थाई संपत्ति खरीदी जाती है उसमें विनियोजित पूंजी की राशि स्थाई पूंजी कहलाती है। स्थाई संपत्ति से हमारा अभिप्राय उन संपत्तियों से है जिन्हें दीर्घकाल तक व्यवसाय में प्रयोग करने के उद्देश्य से क्रय किया जाता है, जैसे भूमि, भवन, मशीन, संयंत्र आदि। स्थाई पूंजी निर्धारित करने के लिए प्रवर्तक संस्था के व्यवसाय को चलाने के लिए आवश्यक स्थाई संपत्तियों की एक सूची तैयार कर लेते

हैं और उनका अनुमानित मूल्य आंक लेते हैं। इसके अतिरिक्त स्थाई पूंजी की आवश्यकता भिन्न भिन्न संस्थाओं के लिए भिन्न होती है जिसका निर्धारण विभिन्न तत्वों के आधार पर किया जाता है, जैसे संस्था के व्यवसाय की प्रकृति, संस्था का आकार, उत्पादन विधि आदि।

(अ) व्यवसाय की प्रकृति : व्यवसाय की प्रकृति में भिन्नता के कारण प्रत्येक संस्था की स्थाई पूंजी की आवश्यकता भिन्न होती है। यदि संस्था औद्योगिक इकाई है जिसमें वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन किया जा रहा है तो उत्पादन कार्य करने के लिए मशीन, भूमि, भवन तथा संयंत्र को क्रय करने हेतु अधिक स्थाई पूंजी की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत व्यापारिक संस्था अथवा वितरण में संलग्न अन्य संस्थाओं, जैसे बैंकिंग संस्था, थोक व्यवसायी, बीमा कंपनी आदि को उत्पादन संस्थाओं की अपेक्षा कम स्थाई पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यवसाय की प्रकृति काफी हद तक स्थाई पूंजी की मात्रा को निर्धारित करने में निर्णायक है।

(ब) इकाई का आकार : संस्था का आकार अथवा व्यवसाय का पैमाना स्वाभाविक रूप से स्थाई पूंजी के निर्धारण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है क्योंकि संस्था का आकार जितना ही बड़ा होगा सामान्य तौर से उस संस्था को उतनी ही अधिक स्थाई पूंजी की आवश्यकता होगी।

(स) उत्पादन विधि व वस्तु की किस्म : वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न उत्पादन इकाइयों के लिए स्थाई पूंजी का निर्धारण उत्पादन विधि व वस्तु की किस्म पर भी निर्भर रहता है। यदि वस्तु को उत्पादित करने की विधि काफी जटिल है तो सामान्य तौर से ऐसी संस्था को अन्य उत्पादन संस्थाओं की अपेक्षा अधिक स्थाई पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी।

(द) स्थाई संपत्ति क्रय करने की विधि : व्यावसायिक संस्था स्थाई संपत्ति मुख्य रूप से दो विधियों से क्रय करती है : स्वामित्व के आधार पर तथा किराया क्रय पद्धति द्वारा। यदि संपत्ति स्वामित्व के आधार पर क्रय की जाती है तो अधिकांश दशाओं में संस्था को संपत्ति के पूर्णमूल्य का भुगतान तत्काल करना पड़ता है। इससे स्थाई पूंजी की आवश्यकता में वृद्धि स्वाभाविक है। इसके विपरीत 'किराया पद्धति' से संपत्तियों को क्रय करने में उनके मूल्य का भुगतान विभिन्न किस्तों में लिया जाता है जिससे संस्था को कम स्थाई पूंजी की आवश्यकता पड़ती है।

कार्यशील पूंजी एवं उसका निर्धारण

कार्यशील पूंजी पूंजी का वह भाग है जो संस्था की चालू संपत्तियों में विनियोजित किया जाता है, जिसके द्वारा व्यवसाय के दैनिक व्ययों का भुगतान किया जाता है। कार्यशील पूंजी भी स्थाई पूंजी की ही भांति कुल पूंजी का महत्वपूर्ण अंग है। इसमें कच्चे माल की खरीद, श्रमिकों को वेतन का भुगतान, ग्राहकों को वस्तु बेच कर नकदी के बजाय उनसे प्राप्य बिल प्राप्त करना तथा अन्य दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए व्यवसाय में सुरक्षित नकदी इत्यादि सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, कार्यशील पूंजी एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्था के सुचारु संचालन हेतु आवश्यक धन उपलब्ध कराया जाता है। कार्यशील पूंजी को भी अलग अलग संदर्भों में भिन्न भिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। लेखाकार कार्यशील पूंजी का अर्थ अल्पकालीन देनदारियों के ऊपर चालू संपत्तियों के आधिक्य से लगाते हैं जबकि व्यापक दृष्टिकोण से कार्यशील पूंजी का अर्थ संस्था की चालू संपत्तियों के योग से लगाया जाता है।

कार्यशील पूंजी को चक्रीय पूंजी भी कहा जाता है क्योंकि कार्यशील पूंजी का विनि-

योजन चालू संपत्तियों में किया जाता है और शीघ्र ही भविष्य में ये चालू संपत्तियां नकदी में बदल जाती हैं। फिर इस प्राप्त नकदी को चालू संपत्तियों में विनियोजित करने एवं व्यवसाय के दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए प्रयोग किया जाता है। व्यवसाय के सारे दौर में कार्यशील पूंजी का यह चक्र बना रहता है। उदाहरण के लिए कच्चा माल क्रय करने में कार्यशील पूंजी का विनियोजन किया जाना। इस कच्चे माल को तैयार माल में परिणत करके उसे बेच कर प्राप्त नकदी को पुन: कच्चे माल की खरीद में विनियोजित कर दिया जाता है। इस संबंध में गैरस्टनबर्ग द्वारा दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण है। गैरस्टनबर्ग के अनुसार कार्यशील पूंजी का अर्थ संस्था की उन चालू संपत्तियों से है जो व्यवसाय की सामान्य दशाओं में एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होती रहती हैं, जैसे नकदी का परिवर्तन चल संपत्तियों की विस्तृत सूची में और चल संपत्तियों का विस्तृत सूची प्राप्य राशि में तथा प्राप्य राशि नकदी में।

कार्यशील पूंजी की व्याख्या के संदर्भ में संस्था की चल संपत्तियों एवं अल्पकालीन दायित्वों को जानना आवश्यक है।

चल संपत्तियां : नकदी, बैंक, बकाया, देनदार, प्राप्य बिल, अल्पकाल में विपणीय प्रतिभूतियां एवं माल का रहतिया (कच्चा माल, अर्द्ध तैयार माल एवं तैयार माल)।

अल्पकालीन देनदारियां : देनदार, देय बिल, अल्पकालीन ऋण तथा अदत्त व्यय (एकरूड एक्स्पेन्सेज)।

संस्था की कार्यशील पूंजी की आवश्यकता भी तीन प्रकार की हो सकती है। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुल कार्यशील पूंजी को तीन भागों में बांटा जाता है : स्थिर कार्यशील पूंजी, चक्रीय कार्यशील पूंजी तथा विशेष कार्यशील पूंजी।

स्थिर कार्यशील पूंजी : यह कार्यशील पूंजी का वह भाग है जो स्थाई रूप से चल संपत्तियों में विनियोजित किया जाता है और जो व्यवसाय के दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए हमेशा संचित कोष के रूप में व्यवसाय में विनियोजित रहता है, जैसे चल संपत्तियों की विस्तृत सूची का सामान्य स्तर बनाए रखने के लिए और वर्ष के दौरान मजदूरी एवं वेतन का भुगतान करने के लिए आवश्यक कार्यशील पूंजी।

चक्रीय कार्यशील पूंजी : व्यवसाय की प्रकृति के अनुसार किसी विशेष मौसम में (वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाने पर) संस्था को जो अतिरिक्त कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पड़ती है, उसे चक्रीय पूंजी अथवा मौसमी कार्यशील पूंजी कहा जाता है। चक्रीय कार्यशील पूंजी की राशि समय समय पर परिवर्तित होती रहती है। इसका प्रयोग विशेष अवसर पर अतिरिक्त कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए किया जाता है।

विशेष कार्यशील पूंजी : व्यवसाय में किसी भी समय अनिश्चित घटना के घटित होने पर आर्थिक कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार उत्पन्न आर्थिक कठिनाई का सामना करने के लिए संस्था के लिए यह आवश्यक है कि कार्यशील पूंजी का कुछ हिस्सा संचित के रूप में रखा जाए ताकि किसी भी आकस्मिक घटना से व्यवसाय के अस्तित्व को प्रभावित होने से बचाया जा सके।

किसी भी व्यावसायिक संस्था की कार्यशील पूंजी की आवश्यकता विभिन्न तत्वों पर आधारित रहती है जो निम्न हैं :

1. व्यवसाय की प्रकृति : स्थाई पूंजी की ही भांति कार्यशील पूंजी के निर्धारण में व्यवसाय की प्रकृति सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व समझा जाता है। स्थाई पूंजी के ठीक विपरीत विपणन कार्य में संलग्न व्यापारिक संस्थाओं, बैंकिंग संस्था को उत्पादन संस्था की तुलना में अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार व्यवसाय की प्रकृति के अनुसार यातायात संस्था एवं जनसेवार्थ संस्थाओं को अन्य संस्थाओं की

अपेक्षा कम कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पड़ती है।

2. कच्चे माल की किस्म एवं लागत : वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाने वाला कच्चा माल उसकी किस्म एवं लागत भी कार्यशील पूंजी के निर्धारण में महत्वपूर्ण मद है। यदि प्रयोग किया जाने वाला कच्चा माल अच्छी किस्म का है और कुल उत्पादन लागत में इसका काफी महत्वपूर्ण अनुपात है तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से कच्चे माल की खरीद के लिए अधिक कार्यशील पूंजी विनियोजित की जाएगी जिससे कार्यशील पूंजी की आवश्यकता में वृद्धि होती है। जैसे चीनी उद्योग में कच्चा माल, गन्ना, चीनी की कुल उत्पादन लागत का लगभग 60% तक होता है तो इस उद्योग में अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होगी।

3. मशीनीकरण : उद्योगों में उत्पादन कार्य का अधिक भाग या तो मशीनों द्वारा किया जाता है या श्रमिकों द्वारा। यदि उत्पादन कार्य में श्रम अधिक महत्वपूर्ण है, जैसे हथकरघा हस्तकौशल, आदि ऐसे उद्योगों में श्रमिकों को वेतन का भुगतान करने के लिए आवश्यक नकदी संस्था की कार्यशील पूंजी की मात्रा में वृद्धि करती है। इसके विपरीत पूंजीगत उद्योगों में, जहां उत्पादन में श्रम के बजाय मशीनों की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है, इन उद्योगों में सामान्य तौर पर कार्यशील पूंजी की आवश्यकता अन्य उद्योगों की अपेक्षा कम होती है।

4. उत्पादन प्रक्रिया की लंबाई : वस्तु को उत्पादित करने की उत्पादन प्रक्रिया जितनी अधिक लंबी एवं जटिल होती है उस संस्था को तुलनात्मक रूप से उतनी ही अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया द्वारा वस्तु को उत्पादित करने के लिए जितना समय लिया जाएगा उस समय तक कच्चा माल उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में अर्ध तैयार माल के रूप में बना रहेगा और उत्पादन को जारी रखने के लिए तथा अर्ध तैयार माल के ऊपर अधिक धनराशि कार्यशील पूंजी के रूप में विनियोजित रहेगी। इसके विपरीत वस्तु का उत्पादन जितनी शीघ्र होगा कार्यशील पूंजी का चक्र उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। इससे कार्यशील पूंजी की आवश्यकता में कमी संभव है।

5. बिक्री गति अथवा दर : वस्तु उत्पादित होने से लेकर उसे विक्रय करने तक समय का अंतर बना रहता है। यदि इन दोनों छोरों में समय का अंतर कम है अर्थात वस्तु उत्पादित होने के बाद शीघ्र बिक जाती है तो ऐसी स्थिति में बिक्री के फलस्वरूप नकदी प्राप्त होती रहेगी जिससे अन्य तमाम दैनिक व्ययों का भुगतान संभव हो सकेगा और फलस्वरूप कार्यशील पूंजी की आवश्यकता कम हो जाएगी। जैसे माडर्न बेकरीज में उत्पादित डबल रोटी व नान की बिक्री गति काफी तीव्र है और प्रतिदिन उत्पादन हेतु कच्चा माल खरीदने एवं दैनिक व्ययों का भुगतान करने के लिए नकद बिक्री से आवश्यक धन प्राप्त होता रहता है। अतः इस संस्था को अधिक कार्यशील पूंजी संचित रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

6. क्रय एवं विक्रय की शर्त : यदि संस्था को उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल क्रय करने में नकदी का भुगतान तुरंत करने के बजाय भविष्य की तिथि के लिए स्थगित कर दिया जाता है और संस्था बिक्री नकदी के आधार पर करती है तो कार्यशील पूंजी की आवश्यकता कम होना स्वाभाविक है क्योंकि यदि कच्चा माल नकदी में क्रय किया जाए और वस्तुओं का विक्रय उधार किया जाता है तो ऐसी स्थिति में देनदारों में विनियोजित धनराशि कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को बढ़ा देगी।

7. नकदी की आवश्यकता : उन तमाम संस्थाओं को, जिनमें विभिन्न खर्चों का भुगतान करने के लिए नकदी की आवश्यकता पड़ती है, स्वाभाविक रूप से अपने पास अधिक

नकदी रखनी पड़ेगी जिससे कार्यशील पूंजी की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

8. मौसमी परिवर्तन : जैसाकि कार्यशील पूंजी के संबंध में बताया जा चुका है, प्रत्येक संस्था को किसी विशेष मौसम में अतिरिक्त कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है। इससे भी कार्यशील पूंजी की मात्रा में वृद्धि होना स्वाभाविक है। कार्यशील पूंजी की यह आवश्यकता कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है, जैसे कच्चे माल की विशेष मौसम में उपलब्धि अथवा किसी विशेष मौसम में वस्तु की अत्यधिक मांग आदि।

9. कच्चे माल की उपलब्धि : यदि संस्था को अपने उत्पादन कार्य के लिए आवश्यक कच्चा माल निरंतर प्राप्त होता रहता है तो ऐसी संस्था कच्चा माल स्टाक आदि के रूप में अधिक नहीं रखती है। इससे उसकी कार्यशील पूंजी की आवश्यकता में कमी हो जाती है। इसके विपरीत यदि कच्चे माल की उपलब्धि में निरंतरता नहीं है तो उत्पादन जारी रखने के लिए इसका स्टाक रखा जाना आवश्यक है जिससे कार्यशील पूंजी में वृद्धि संभव है।

9

पूंजी की संरचना

व्यवसाय में कुल पूंजी का निर्धारण करने के पश्चात प्रवर्तकों के सम्मुख दूसरी प्रमुख समस्या यह होती है कि पूंजी प्राप्त करने के उपलब्ध साधनों में से किन किन उपयुक्त साधनों को चुन कर आवश्यक पूंजी प्राप्त करने के लिए उनका प्रयोग किया जाए। उन विभिन्न साधनों के मिलान को, जिनके द्वारा संस्था कुल आवश्यक पूंजी प्राप्त करती है, पूंजी की संरचना अथवा पूंजी का ढांचा कहा जाता है। दूसरे शब्दों में पूंजी की संरचना से हमारा अभिप्राय यह है कि संस्था पूंजी प्राप्त करने के लिए किन साधनों का उपयोग करती है और इन साधनों में निहित प्रतिभूतियों का परस्पर क्या अनुपात है।

सामान्य तौर से संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप में कार्य करने वाली संस्था अपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए अन्य साधनों के अलावा अंशों का निर्गमन एवं ऋणपत्रों का निर्गमन करती है। इसके अतिरिक्त विद्यमान संस्था अपने पास सुरक्षित रखे हुए संचित कोषों का प्रयोग करके भी अपनी पूंजी की आवश्यकता पूरी करती है। इस अध्याय में पूंजी प्राप्त करने के उन साधनों, माध्यमों एवं विधि व्यवहारों का अध्ययन किया जा रहा है जिनका प्रयोग सामान्य दशाओं में संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप के अंतर्गत कार्य करने वाली संस्था करती है।

एक संस्था किस प्रकार की प्रतिभूतियों को निर्गमित करके पूंजी एकत्र करेगी, उसकी लाभ क्षमता को ध्यान में रखते हुए इसको निर्धारित करने में निम्न तत्व निर्णायक हैं :

1. यदि संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ निश्चित एवं स्थिर हैं तो वह पूंजी प्राप्त करने के लिए ऋणपत्र निर्गमित कर सकती है क्योंकि उनमें दिया जाने वाला ब्याज निश्चित होता है और उसका भुगतान संस्था को लाभ व हानि दोनों स्थितियों में करना पड़ता है।

2. यदि संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ अस्थिर हैं फिर भी औसतन रूप से सामान्य हैं तो ऐसी स्थिति में पूर्वाधिकार अंश जारी करना अनुचित नहीं होगा।

3. यदि संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ बिल्कुल अनिश्चित हैं (जैसाकि नई संस्था की दशा में पाया जाता है) तो ऐसी संस्था के लिए यह उचित होगा कि संस्था अपनी पूंजी सामान्य अंश जारी करके प्राप्त करे क्योंकि यदि संस्था किन्हीं वर्षों में लाभ न कमा पाए तो इसका संस्था के ऊपर कोई आर्थिक भार नहीं पड़ेगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि सामान्य अंशों में लाभांश संस्था द्वारा अर्जित किए जाने वाले लाभ पर निर्भर रहता है।

उपर्युक्त तीन आधारभूत तत्वों से ही संस्था की पूंजी की संरचना संभव एवं सुरक्षित नहीं है। इन तत्वों की सहायता से संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ के दृष्टिकोण

से प्रतिभूतियों का चुनाव मात्र किया जा सकता है। निस्संदेह संस्था की लाभ कमाने की क्षमता संस्था के पूंजी के ढांचे के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है पर व्यवहार में संस्था की लाभ कमाने की क्षमता के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी पूंजी की संरचना को प्रभावित करते हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

इक्विटी पर व्यापार

संस्था के लिए पूंजी का ढांचा तैयार करने में अथवा पूंजी की संरचना में इक्विटी पर व्यापार की विचारधारा महत्वपूर्ण है। प्रत्येक संस्था को पूंजी का ढांचा तैयार करने में लाभ क्षमता एवं पूंजी की लागत इन दोनों तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है ताकि एकत्र पूंजी में सामान्य दर का लाभ अर्जित करके संस्था की ख्याति एवं अस्तित्व कायम रखा जा सके।

इक्विटी पर व्यापार से हमारा अभिप्राय ऐसी स्थिति से है जिसमें सामान्य अंशधारियों को अतिरिक्त रूप से लाभान्वित करने के लिए संस्था पूंजी के ढांचे में निश्चित ब्याज की दर वाले ऋणपत्रों का अधिक प्रयोग करती है। हैस्टिंग्स के शब्दों में, 'इक्विटी पर व्यापार एक ऐसी सीमा है जिसके अंतर्गत संस्था अपनी संपत्तियों को प्राप्त करने के लिए ऋण पूंजी का प्रयोग करती है।'

इस परिभाषा से इक्विटी पर व्यापार की विचारधारा स्पष्ट नहीं होती है क्योंकि इसके लिए यह कहना ही पर्याप्त नहीं है कि यदि संस्था अपनी संपत्तियों को प्राप्त करने के लिए ऋण पूंजी का प्रयोग करती है तो इसे इक्विटी पर व्यापार कहा जाता है क्योंकि इक्विटी पर व्यापार की स्थिति में ऋणपूंजी एवं अंशपूंजी में इस प्रकार का संतुलन बना रहता है कि सामान्य अंशधारी सामान्य दर से भी अधिक लाभांश प्राप्त कर सकते हैं जबकि संस्था केवल सामान्य दर का लाभ अर्जित कर रही होती है।

इसी प्रकार 'गथमान एवं दोगल' के शब्दों में, 'वित्तीय आवश्यकताओं के लिए ऋण-पूंजी एवं पूर्वाधिकार अंशों का प्रयोग इक्विटी पर व्यापार कहलाता है।' यह परिभाषा भी पहली परिभाषा की तरह अपूर्ण है क्योंकि इससे भी स्थिति की मूल विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता है और न इसमें अंशपूंजी और ऋणपूंजी के संबंध की व्याख्या की गई है।

अतः यदि कोई संस्था आवश्यक पूंजी की संरचना में पूंजी का अधिकांश ऐसे ऋण-पत्र एवं पूर्वाधिकार अंश जारी करके प्राप्त करती है जिन पर दिया जाने वाला निश्चित ब्याज एवं लाभांश संस्था द्वारा कुल पूंजी में कमाए जाने वाले सामान्य लाभ की दर से कम है तो इसके फलस्वरूप संस्था के सामान्य अंशधारियों को सामान्य लाभांश की दर से अधिक लाभांश मिल सकेगा। पूंजी के ढांचे की इस स्थिति को 'इक्विटी पर व्यापार' कहा जाएगा। यह स्थिति इस बात की ओर संकेत करती है कि संस्था अपनी कुल पूंजी प्राप्त करने में सामान्य अंश, पूर्वाधिकार अंश एवं ऋणपत्रों का प्रयोग करती है पर पूर्वाधिकार अंश एवं ऋणपत्रों का अनुपात कुल पूंजी में सामान्य अंशों के अनुपात से अधिक होता है। उदाहरण के लिए यदि संस्था की कुल पूंजी 1,00,000 रु० है और इसको निम्न प्रकार प्राप्त किया जाता है :

सामान्य अंश	20,000
8% पूर्वाधिकार अंश	15,000
6% ऋण पत्र	65,000

यदि संस्था की लाभ कमाने की सामान्य दर 10% है तो संस्था प्रति वर्ष 10,000 रु० कमाएगी जिसका वितरण निम्न प्रकार किया जाएगा :

सामान्य अंश	4,900 = 29.5%
8% पूर्वाधिकार अंश	1200
6% ऋण पत्र	3900
	10,000

इक्विटी पर व्यापार की इस स्थिति में संस्था के सामान्य अंशधारी 29.5% की दर से लाभांश प्राप्त कर सकते हैं जबकि संस्था में लाभ कमाने की सामान्य दर 10% ही है।
'इक्विटी पर व्यापार' का प्रभाव : (अ) सामान्य अंशधारी सामान्य दर से अधिक लाभांश प्राप्त कर सकेंगे जिससे अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि स्वाभाविक है।

(ब) संस्था लाभ का कुछ हिस्सा संचित कोषों के रूप में सुरक्षित रखकर अपनी आर्थिक स्थिति और सुदृढ़ बना सकती है।

(स) संस्था का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में कम से कम हस्तक्षेप होगा क्योंकि ऋणपत्रधारियों एवं पूर्वाधिकार अंशधारियों को संस्था में मत देने आदि का कोई अधिकार नहीं होता है। अत: संस्था के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार सीमित संख्या के सामान्य अंशधारियों को ही प्राप्त होगा।
सीमाएं : (अ) यदि संस्था की लाभ कमाने की क्षमता ऋणपत्रों में एवं पूर्वाधिकार अंशों में दिए जाने वाले निश्चित ब्याज तथा लाभांश से कम हो तो सामान्य अंशधारियों को सामान्य दर का लाभांश भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

(ब) इस प्रकार की स्थिति में संस्था ऋणपत्र जारी करने के लिए संपत्तियों में ऋणपत्रधारियों के पक्ष में आर्थिक अधिकार उत्पन्न (गिरवी रखकर आदि) करती है जिसके फलस्वरूप संस्था के लिए भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर ऋणपत्र जारी करना संभव नहीं होता है।

(स) कोई भी संस्था यदि अपनी पूंजी का अधिकांश निश्चित ब्याज की दर व लाभांश की दर के ऋणपत्रों तथा पूर्वाधिकार अंशों को (संचयी पूर्वाधिकार अंश) जारी करके प्राप्त करती है तो इससे निश्चित रूप में संस्था के ऊपर आर्थिक बोझ बढ़ जाता है। विशेष रूप से उन वर्षों में यह आर्थिक बोझ संस्था को दयनीय आर्थिक स्थिति में डाल देता है, जबकि संस्था लाभ नहीं कमा पाती।

इक्विटी पर व्यापार के प्रभाव व सीमाओं का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह स्थिति जहां एक ओर उचित एवं न्यायपूर्ण है क्योंकि सामान्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं और उनका मूलधन सबसे अधिक जोखिमपूर्ण होता है, यदि उन्हें सामान्य दर से अधिक लाभांश दे दिया जाए तो यह अनुचित नहीं है, वहीं दूसरी ओर ऋणपत्रों के निश्चित आर्थिक बोझ (ब्याज एवं मूलधन का भुगतान) से संस्था के पूंजी के ढांचे में लोच का गुण नहीं रह जाता है और यदि ऐसी संस्था को भविष्य में कोई वित्तीय आवश्यकता पड़े तो ऋणपत्र जारी करना संभव नहीं होता है।

पूंजी के ढांचे में इक्विटी पर व्यापार का यह प्रभाव है कि यदि संस्था के प्रवर्तक संस्था के स्वामित्व को अधिक नहीं फैलाना चाहते हैं तो यह स्थिति उन्हें मंजूर होगी और इसके विपरीत स्वामित्व के विस्तार की इच्छा इस स्थिति के विपरीत होगी।

स्वामित्व एवं नियंत्रण का एकत्रीकरण

यदि संस्था के प्रवर्तक संस्था का स्वामित्व एवं नियंत्रण कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित रखना चाहते हैं तो इससे प्रेरित होकर वे संस्था के लिए पूंजी एकत्र करने में सामान्य

अंशों के बजाय पूर्वाधिकार अंशों तथा ऋणपत्रों का निर्गमन करेंगे और कम संख्या में सामान्य अंश जारी करके संस्था का स्वामित्व व नियंत्रण गिने चुने व्यक्तियों तक सीमित रखेंगे ।

पूंजी के ढांचे में लोच

पूंजी का ढांचा इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि भविष्य में व्यवसाय को प्रभावित करने वाले घटकों में परिवर्तन सरलतापूर्वक समायोजित किया जा सके । इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि पूंजी के ढांचे में अत्यधिक ऋणपत्रों व पूर्वाधिकार अंशों की विद्यमानता से पूंजी का ढांचा कठोर एवं जटिल हो जाता है और उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन असुविधाजनक प्रतीत होते हैं ।

आय की स्थिरता

संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ में स्थायित्व अथवा अस्थिरता एवं अनिश्चितता भी संस्था के पूंजी के ढांचे को प्रभावित करती है । इसका विस्तृत वर्णन प्रारंभ में किया जा चुका है ।

जोखिम, प्रतिस्पर्धा एवं सरकारी नीति

संस्था का पूंजी का ढांचा तैयार करते समय व्यवसाय में निहित जोखिम, व्याप्त प्रतियोगिता तथा व्यवसाय संबंधी सरकारी नीति को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए । जिस व्यवसाय में जोखिम एवं प्रतिस्पर्धा तुलनात्मक रूप से अधिक हो ऐसी संस्था को ऋणपत्रों के निर्गमन की अपेक्षा अंशों के निर्गमन को प्राथमिकता देनी चाहिए क्योंकि जोखिम, प्रतिस्पर्धा एवं सरकारी नीति के फलस्वरूप लाभ की मात्रा कम होने या हानि होने की स्थिति में संस्था के ऊपर कोई आर्थिक भार नहीं पड़ेगा ।

वित्त का उद्देश्य

पूंजी प्राप्त करने के साधनों का चुनाव करते समय वित्त का उद्देश्य भी दृष्टि में रखा जाता है क्योंकि प्राप्त किए जाने वाले वित्त को किस उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया जाना है और उसके उपयोग से संस्था की लाभ कमाने की क्षमता किस सीमा तक प्रभावित होती है इन सबका जारी की जाने वाली प्रतिभूतियों के चुनाव से प्रत्यक्ष संबंध होता है । जैसे, यदि संस्था प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन बढ़ाने (नई शाखा स्थापित करके) के लिए वित्त प्राप्त कर रही है तो ऐसी स्थिति में ऋणपत्र जारी किए जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त यदि संस्था वित्त की प्राप्ति उन उद्देश्यों के लिए कर रही है जिनसे संस्था की लाभ कमाने की क्षमता उसी अनुपात में प्रभावित नहीं होती (श्रमिकों के लिए आवासगृहों का निर्माण, मशीन एवं संयंत्र का आधुनिकीकरण आदि) तो इस प्रकार के वित्त को प्राप्त करने के लिए सामान्य अंश निर्गमित करना वांछनीय है क्योंकि ऋणपत्रों में निश्चित ब्याज की दर का भुगतान करने के लिए उसी अनुपात में आय में वृद्धि संभव नहीं है ।

वित्त का समय

संस्था की वित्तीय आवश्यकताएं भिन्न भिन्न अवधि की हो सकती हैं । इसका भी पूंजी के ढांचे को तैयार करने में प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि यदि संस्था को वित्त की आवश्यकता तुलनात्मक रूप से दीर्घकाल के लिए है, जैसे भूमि, भवन आदि को क्रय करने के लिए तो इस वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने के लिए सामान्य अंश निर्गमित करना

अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि संस्था को सामान्य अंश निर्गमित करने से प्राप्त पूंजी को अपने जीवनकाल में वापस नहीं करना होता है। इसके विपरीत यदि संस्था को वित्त की आवश्यकता एक निश्चित अवधि तक के लिए है और उस अवधि के बाद संस्था प्राप्त मूलधन को वापस करने की स्थिति में हो सकती है तो इसके लिए ऋणपत्र अथवा शोध्य पूर्वाधिकार अंश निर्गमित किए जा सकते हैं।

पूंजी की लागत

संस्था के पास पूंजी प्राप्त करने के कई साधन उपलब्ध हो सकते हैं। पूंजी का ढांचा तैयार करने में उनका चुनाव करने हेतु प्रत्येक साधन की तुलनात्मक लागत को भी ध्यान में रखा जाता है क्योंकि इन लागत व्ययों से संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त इसका संबंध संस्था की आर्थिक स्थिति से भी है। यदि संस्था की आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ़ है तो ऐसी संस्था कम ब्याज तथा अन्य अनुकूल शर्तों में ऋणपत्र निर्गमित करके पूंजी प्राप्त कर सकती है।

वैधानिक औपचारिकताएं

संस्था के पूंजी के ढांचे में विभिन्न प्रतिभूतियों अथवा साधनों का अनुपात संबंधित वैधानिक औपचारिकताओं से भी प्रभावित हो सकता है। इसके संबंध में संयुक्त पूंजी कंपनी को कंपनी विधान में पूंजी निर्गमन से संबंधित व्यवस्थाओं का पालन करना आवश्यक है, जैसे कोई भी बैंकिंग संस्था पूंजी प्राप्त करने के लिए केवल सामान्य अंश निर्गमित कर सकती है और ऐसी संस्था के लिए ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश जारी करना प्रतिबंधित है।

मुद्रा बाजार का सर्वेक्षण

संस्था को पूंजी प्राप्त करने के लिए प्रतिभूतियों का चुनाव करने के पश्चात उनका निर्गमन करने से पूर्व मुद्रा बाजार की प्रकृति का गहन विश्लेषण करना आवश्यक है ताकि इस विश्लेषण से संभावित विनियोगकर्ताओं की रुचि, साहस एवं प्राथमिकता को ज्ञात किया जा सके। अलग अलग व्यापारिक चक्रों में विनियोगकर्ताओं की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होती है, जैसे आर्थिक समृद्धि के युग में संस्था सामान्य अंश जारी करके सरलतापूर्वक पूंजी प्राप्त कर सकती है जबकि आर्थिक मंदी के युग में संस्था के लिए पूंजी प्राप्त करने हेतु ऋणपत्र व पूर्वाधिकार अंश निर्गमित करना अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

भावी विस्तार की योजना

व्यवसाय स्थिर नहीं रखा जा सकता है। समय में परिवर्तन के साथ ही साथ व्यवसाय में विस्तार, मशीनों एवं संयंत्रों का आधुनिकीकरण व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने के लिए आवश्यक है क्योंकि समय समय पर उपभोक्ताओं की आवश्यकताएं, रुचि एवं प्राथमिकताएं परिवर्तित होती रहती हैं। इन बदलती परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए व्यवसाय में भी अनुकूल परिवर्तन किए जाते हैं जिनमें अतिरिक्त आर्थिक बोझ निहित होता है। अतः पूंजी का ढांचा तयार करते समय भविष्य में आकस्मिक परिवर्तनों का समाधान करने के लिए एवं व्यवसाय में विस्तार की योजना को साकार बनाने के लिए भविष्य में वित्त की व्यवस्था एवं स्थिति को भी महत्ता दी जानी चाहिए।

पूंजी का मिलान

उपरोक्त तत्वों को ध्यान में रखते हुए संस्था पूंजी का जो ढांचा तैयार करती है उसे दूसरे

शब्दों में पूंजी के साधनों का मिलान अथवा 'पूंजी का मिलान' कहा जाता है। यदि संस्था अपनी कुल पूंजी का अधिकांश निश्चित ब्याज की दर वाले ऋणपत्रों तथा निश्चित लाभांश वाले पूर्वाधिकार अंशों को निर्गमित करके प्राप्त करती है, दूसरे शब्दों में कुल पूंजी में सामान्य अंशों का अनुपात तुलनात्मक रूप से कम होता है, तो पूंजी के इस ढांचे को उच्च मिलान पूंजी का ढांचा कहा जाता है। इसके विपरीत यदि संस्था ने अपनी पूंजी का अधिकांश सामान्य अंश निर्गमित करके प्राप्त किया है तो इसे नीची मिलान पूंजी का ढांचा कहा जाता है। पूंजी के मिलान की इस विचारधारा के अनुसार संस्था की पूंजी प्राप्त करने के लिए चुने गए समस्त साधनों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :

1. स्वामित्व पूंजी : इसमें संस्था के स्वामियों द्वारा लगाई गई पूंजी सम्मिलित रहती है, जैसे संयुक्त पूंजी कंपनी की दशा में सामान्य अंश पूंजी। इसे स्वामित्व पूंजी इसलिए कहा जाता है कि संयुक्त पूंजी कंपनी में सामान्य अंशधारी ही वास्तविक स्वामी होते हैं और संस्था के व्यवसाय को संचालित, प्रबंधित तथा नियंत्रित करने का अधिकार इन्हीं को प्राप्त रहता है।

2. ऋण पूंजी : संस्था केवल स्वामित्व पूंजी से ही व्यवसाय नहीं चला सकती है। इससे विभिन्न तकनीकी तथा वैधानिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं इसीलिए संस्था पूंजी का कुछ भाग ऋणपत्र निर्गमित करके तथा इसके अतिरिक्त अन्य संस्थाओं से सामान्य ऋण लेकर एकत्र करती है। इसे संस्था की ऋण पूंजी कहा जाता है।

पूंजी प्राप्त करने के साधन

पिछले अध्याय में संस्था की पूंजी की आवश्यकता को मुख्य दो वर्गों में विभक्त किया गया है : स्थाई पूंजी एवं कार्यशील पूंजी। इस संबंध में यह बताया जा चुका है कि इन दोनों प्रकार की पूंजी को कैसे निर्धारित किया जाता है और व्यवसाय में इनका उपयोग किन किन उद्देश्यों के लिए किया जाता है। इस अध्याय में उन तमाम साधनों एवं माध्यमों का वर्णन किया जा रहा है जिनसे संस्था अपनी कुल पूंजी प्राप्त करती है। समय एवं उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए पूंजी की आवश्यकता को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

1. दीर्घकालीन पूंजी : यह पूंजी सामान्य तौर से 5 वर्ष से अधिक और 20 वर्ष तक के समय के लिए प्राप्त की जाती है।

2. मध्यकालीन पूंजी : इसकी अवधि 1 वर्ष से अधिक तथा 5 वर्ष से कम समझी जाती है।

3. अल्पकालीन पूंजी : यह पूंजी प्राय: 1 वर्ष से कम अवधि के लिए प्राप्त की जाती है।

व्यावसायिक संस्था भिन्न भिन्न वित्तीय आवश्यकताओं के लिए अलग अलग साधनों का प्रयोग करती है जो वांछनीय एवं उचित हैं क्योंकि यदि दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकता अल्पकालीन साधनों से पूंजी प्राप्त करके पूरी की जाए तो संस्था की आर्थिक स्थिति गंभीर रूप से दयनीय हो सकती है जिससे संस्था के अस्तित्व को भी खतरा पहुंच सकता है।

सामान्य तौर से संस्था की स्थाई पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन पूंजी के साधनों का प्रयोग किया जाता है और स्थिर कार्यशील पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति मध्यकालीन पूंजी के साधनों से की जाती है तथा कार्यशील पूंजी की बाकी आवश्यकता अल्पकालीन पूंजी के साधनों से पूंजी प्राप्त करके पूरी की जाती है।

कोई भी व्यावसायिक संस्था जो संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप में समामेलित हो (निजी कंपनी को छोड़कर) अपनी कुल पूंजी की आवश्यकता निम्न साधनों का प्रयोग करके पूरी कर सकती है :

(अ) दीर्घकालीन पूंजी प्राप्त करने के साधन :

(i) अंश जारी करके,
(ii) ऋणपत्र जारी करके,
(iii) जनता से दीर्घकाल के जमा स्वीकार करके,
(iv) विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से दीर्घकालीन ऋण लेकर,
(v) आंतरिक वित्त व्यवस्था अथवा लाभों का पुनर्विनियोजन ।

(ब) मध्यकालीन पूंजी प्राप्त करने के साधन :

(i) अंश जारी करके (विशेष रूप से शोध्य पूर्वाधिकार अंश जारी करना),
(ii) ऋणपत्र जारी करना,
(iii) आंतरिक वित्त व्यवस्था,
(iv) विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से ऋण,
(v) जनता से जमा स्वीकार करके,
(vi) बेंकों से ऋण लेकर ।

(स) अल्पकालीन पूंजी प्राप्त करने के साधन :

(i) बेंकों से ऋण लेकर,
(ii) ग्राहकों से अग्रिम भुगतान प्राप्त करके,
(iii) किस्त उधार विधि,
(iv) व्यापारिक साख ।

दीर्घकालीन पूंजी निम्न साधनों से प्राप्त की जा सकती है :

अंश निर्गमन

व्यावसायिक संस्था के लिए दीर्घकाल के लिए स्थाई पूंजी प्राप्त करने का यह एक महत्वपूर्ण एवं सबसे अधिक उपयुक्त साधन है। अंशों का निर्गमन करके जो पूंजी प्राप्त की जाती है उसे अंश पूंजी (शेयर कैपिटल) कहा जाता है। इस प्रकार अंश निर्गमित करके पूंजी प्राप्त करने के लिए संस्था प्रविवरण पत्र जारी करके जनता को अंश खरीदने के लिए आमंत्रित करती है। अंश निर्गमन विधि का वर्णन 'संयुक्त पूंजी कंपनी' अध्याय में किया जा चुका है। यहां अंश निर्गमन केवल पूंजी प्राप्त करने के साधन के रूप में वर्णित किया जा रहा है।

संस्था की कुल अंश पूंजी छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त रहती है। प्रत्येक हिस्से को पृथक रूप से अंश कहा जाता है जो हस्तांतरणीय होता है। संस्था की अंशपूंजी के संबंध में कुछ शब्द प्रचलित हैं। इस संदर्भ में इनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

1. अधिकृत अंशपूंजी : (आथोराइज्ड कैपिटल) अधिकृत पूंजी से हमारा अभिप्राय अंशपूंजी की उस सीमा से है जिससे संस्था का समामेलन हुआ है। सामान्य दशाओं में संस्था आवश्यकता पड़ने पर अधिकृत पूंजी के बराबर तक कीमत के अंश निर्गमित कर सकती है।

2. निर्गमित अंशपूंजी (इस्यूड कैपिटल) : अधिकृत पूंजी को अधिकतम सीमा मान कर

संस्था इसके अंतर्गत अंशों का निर्गमन करती है। जितनी संख्या के अंश निर्गमित किए जाते हैं उनका कुल अंकित मूल्य (फेस वैल्यू) निर्गमित अंशपूंजी कहलाता है।

3. दत्त पूंजी (काल्ड कैपिटल) : निर्गमित अंशो के अंकित मूल्य का जो हिस्सा संस्था द्वारा मांगा जा चुका है उसे दत्त पूंजी कहते हैं। दत्त पूंजी के अंतर्गत जो धनराशि वास्तव में अंशधारियों से प्राप्त हो चुकी है उसे चुकता पूंजी कहते हैं।

4. अदत्त पूंजी (अनकाल्ड कैपिटल) : अंशों के अंकित मूल्य का वह भाग जो अभी संस्था द्वारा नहीं मांगा गया है।

5. संचित अंशपूंजी : संस्था सामान्य दशाओं में निर्गमित अंशों का समस्त अंकित मूल्य न मांग कर अंकित मूल्य का कुछ हिस्सा भविष्य की अनिश्चितताओं का सामना करने के लिए संचित कर देती है। इसे संचित अंशपूंजी कहा जाता है। संचित अंशपूंजी और अदत्त अंशपूंजी में यह भेद है कि अदत्त पूंजी की राशि को संस्था भविष्य में कभी भी मांग सकती है जबकि संचित अंशपूंजी सामान्य दशाओं में नहीं मांगी जाती है।

विभिन्न शब्दों की इस संक्षिप्त व्याख्या के पश्चात अब हम यह बताएंगे कि संस्था अपनी अंशपूंजी प्राप्त करने के लिए जो विभिन्न प्रकार के अंश निर्गमित करती है उनके परिणाम क्या होते हैं, संस्था में उनकी क्या स्थिति होती है और अलग अलग प्रकार के अंश किन किन परिस्थितियों में निर्गमित किए जाते हैं।

भारतीय कंपनी विधान के अनुसार एक समामेलित संस्था (कंपनी) दो प्रकार के अंश जारी कर सकती है :

(1) सामान्य अंश
(2) पूर्वाधिकार अंश

सामान्य अंश :

सामान्य अंश संस्था की अंशपूंजी की वह इकाई है जिसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित किया जा सकता है और जिनके धारक संस्था के वास्तविक स्वामी समझे जाते हैं। सामान्य अंशों को स्वामित्व अंश भी कहा जाता है क्योंकि संस्था के सामान्य अंशधारी ही संस्था के स्वामी होते हैं और संस्था के व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का अंतिम अधिकार इन्हीं को प्राप्त होता है। सामान्य अंश, संस्था की अंशपूंजी का सबसे अधिक जोखिममय भाग होता है क्योंकि स्वामित्व अंश होते हुए भी सामान्य अंश को संस्था द्वारा अर्जित आय में से कोई हिस्सा तब मिलता है जब संस्था द्वारा निर्गमित अन्य समस्त प्रतिभूतियों में (ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश) निश्चित दर का ब्याज एवं लाभांश दे दिया गया हो। इसके साथ ही साथ संस्था के लाभ का अन्य प्रतिभूतियों में वितरण हो जाने के बाद जो हिस्सा बचेगा उस पर सामान्य अंशधारियों का ही अधिकार होता है अतः उन्हें अन्य प्रतिभूतियों की अपेक्षा अधिक लाभ भी मिल सकता है और कम भी।

हीगलैंड के शब्दों में, 'सामान्य अंशधारी संस्था की अवशेष संपत्ति एवं आय के हिस्सेदार होते हैं।' इस परिभाषा से सामान्य अंशों की मूल विशेषताओं व स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है हालांकि परिभाषा में सामान्य अंशों की स्वामित्व की स्थिति को प्रकट नहीं किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्था के सामान्य अंशों में निम्न विशेषताएं होनी चाहिए :

(अ) सामान्य अंशों में स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार निहित होता है।

(ब) संस्था की अन्य प्रतिभूतियों में आय का वितरण होने के पश्चात ही आय का अवशेष इन्हें वितरित किया जाता है।

(स) मूलधन की वापसी के संबंध में भी सामान्य अंशधारियों को संस्था की संपत्ति में केवल उस अवशेष में हिस्सा मिलता है जो अन्य प्रतिभूतियों के मूलधन की वापसी के बाद बचता है।

संस्था द्वारा सामान्य अंश निर्गमित करने से संस्था को तथा विनियोगकर्ताओं को निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

अंश निर्गमन से संस्था को निम्न लाभ होते हैं :

1. संस्था में दीर्घकाल के लिए पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने का यह सबसे अधिक उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि संस्था सामान्य अंश निर्गमित करके लंबी अवधि के लिए स्थाई रूप से पूंजी प्राप्त कर सकती है। सामान्य अंशों के मूलधन की वापसी संस्था सामान्य तौर से अपने जीवन काल में नहीं करती है। संस्था का समापन हो जाने पर सामान्य अंशधारियों को संस्था की संपत्तियों के बचे हुए अवशेष से ही मूलधन की वापसी की जाती है।

2. सामान्य अंशों पर दिया जाने वाला लाभांश संस्था के ऊपर कोई आर्थिक बोझ नहीं डालता है क्योंकि इनको दिए जाने वाले लाभांश की दर निश्चित नहीं होती है और इनको लाभांश का भुगतान ऋणपत्रों में ब्याज एवं पूर्वाधिकार अंशों में निश्चित लाभांश का भुगतान करने के पश्चात बचे हुए लाभ में से किया जाता है।

3. सामान्य अंश निर्गमित करके पूंजी प्राप्त करने में संस्था की संपत्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। ये संपत्तियां ज्यों की त्यों बनी रहती हैं और इनमें किसी प्रकार का आर्थिक अधिकार आदि उत्पन्न नहीं होता है। इससे एक ओर तो संस्था के पूंजी के ढांचे में लोच उत्पन्न होती है और संस्था आवश्यकता पड़ने पर संपत्तियों को रेहन रखकर ऋणपत्र निर्गमित कर सकती है तथा दूसरी ओर संस्था के लेनदार व पूर्वाधिकार अंशधारी अपने को सुरक्षित स्थिति में पाते हैं।

अंश निर्गमन से विनियोगकर्ताओं को निम्न लाभ हैं :

1. संस्था द्वारा निर्गमित किए जाने वाले सामान्य अंशों का अंकित मूल्य कम होता है और संस्था संपूर्ण अंकित मूल्य को एक ही बार नहीं मांगती है। इससे जनता अपनी छोटी छोटी बचतें इन अंशों को क्रय करके विनियोजित कर सकती है।

2. हालांकि सामान्य अंश सबसे अधिक जोखिममय प्रतिभूति समझे जाते हैं फिर भी संस्था की उन्नति एवं समृद्धि का सामान्य अंशधारी को पूरा पूरा लाभ मिल पाता है क्योंकि अन्य प्रतिभूतियों में (ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश) धारकों को केवल निश्चित दर की आय प्राप्त होती है। इनमें आय का वितरण करने के पश्चात आय का अवशेष पूर्ण रूप से सामान्य अंशधारियों का समझा जाता है।

3. सामान्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं। इनको संस्था के व्यवसाय को प्रबंधित, संचालित एवं नियंत्रित करने का पूरा अधिकार होता है जो अन्य प्रतिभूतियों के धारकों को प्राप्त नहीं है।

4. यदि संस्था अपनी आवश्यकतानुसार पुनः सामान्य अंश निर्गमित करती है तो ऐसे नए अंश सर्वप्रथम विद्यमान सामान्य अंशधारियों को प्रस्तावित किए जाते हैं। इस प्रकार नए निर्गमन से उनके अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

5. सामान्य अंशधारी अपने अंशों को आवश्यकता पड़ने पर अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित कर सकता है। इससे इन अंशों में तरलता एवं विपणनता बनी रहती है।

6. संस्था द्वारा जारी किए जाने वाले सामान्य अंशों को और अधिक आकर्षक एवं

लोकप्रिय बनाने के लिए आयकर विधान के अंतर्गत इनमें विनियोजित धनराशि के लिए विनियोगकर्ता को आय कर में छूट दी गई है।

सामान्य अंश जारी करने की सीमाएं : 1. यदि संस्था केवल सामान्य अंश निर्गमित करके अपनी पूंजी प्राप्त करती है (ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश कम अनुपात में जारी करती है) तो ऐसी संस्था को 'इक्विटी पर व्यापार' के लाभ प्राप्त नहीं हो सकते हैं।

2. व्यवहार में यह पाया जाता है कि संस्था के संचालक सामान्य अंशों के निर्गमन के लाभों से प्रेरित होकर कुछ स्थितियों में आवश्यकता से अधिक पूंजी एकत्र करते हैं जिसका व्यवसाय में यदि प्रभावपूर्ण एवं कुशल प्रयोग न किया जाए तो संस्था अति-पूंजीकरण की स्थिति में आ सकती है।

3. यदि संस्था सामान्य अंशों पर स्थाई दर का लाभांश नहीं दे पाती है तो इससे अंशों के बाजार मूल्यों में परिवर्तन होते रहेंगे और ऐसे अंशों में सट्टेबाजी का तत्व मौजूद रहेगा क्योंकि संस्था द्वारा दिए जाने वाले लाभांश का अंशों के बाजार मूल्य से प्रत्यक्ष संबंध होता है और अंशों के बाजार मूल्यों में परिवर्तन सट्टेबाजी को प्रोत्साहित करते हैं।

4. सामान्य अंश अन्य प्रतिभूतियों की तुलना में सबसे अधिक जोखिममय होते हैं इसीलिए ये अंश उन विनियोगकर्ताओं के लिए उपयुक्त नहीं हैं जो कम जोखिम पर एक निश्चित दर की आय स्थाई रूप से प्राप्त करना चाहते हैं।

5. यदि कोई संस्था नए सामान्य अंश निर्गमित करना चाहती है तो इन अंशों को नए विनियोगकर्ताओं के बजाय विद्यमान सामान्य अंशधारियों को प्रस्तावित किया जाता है। इससे दीर्घकाल में संस्था के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधिकार के एकत्रीकरण का भय बना रहता है।

पूर्वाधिकार अंश

पूर्वाधिकार अंश संस्था की अंशपूंजी की वह इकाई है जिसमें संस्था की आय का वितरण सामान्य अंशों से पहले किया जाता है और संस्था के समापन की दशा में मूलधन की वापसी भी सामान्य अंशों से पूर्व की जाती है। दूसरे शब्दों में पूर्वाधिकार अंशों को लाभांश के वितरण में तथा मूलधन की वापसी में सामान्य अंशों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है। इनमें सामान्य अंशों की भांति स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार निहित नहीं होता है।

भारतीय कंपनी विधान के अनुसार पूर्वाधिकार अंशधारियों को निश्चित दर के लाभांश के भुगतान में तथा संस्था के समापन की स्थिति में मूलधन की वापसी के लिए प्राथमिकता प्रदान की जाती है।

पूर्वाधिकार अंशों में निम्न मुख्य विशेषताएं पाई जाती हैं :

(अ) लाभांश के वितरण में सामान्य अंशों की अपेक्षाकृत प्राथमिकता,

(ब) संस्था के समापन की स्थिति में मूलधन की वापसी में सामान्य अंशों की तुलना में प्राथमिकता,

(स) सामान्य दशाओं में मत देने के अधिकार का अभाव,

(द) लाभांश की दर का निश्चित होना।

उपर्युक्त विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए पूर्वाधिकार अंशों की स्थिति ज्ञात की जा सकती है। पूर्वाधिकार अंशों में कुछ विशेषताएं तो सामान्य अंशों की हैं और इनके कुछ पक्ष ऋणपत्रों से मिलते जुलते हैं। इनकी वास्तविक स्थिति सामान्य अंशों एवं ऋणपत्रों के बीच की है क्योंकि पूर्वाधिकार अंश मूल रूप से अंश हैं। इनमें सामान्य अंशों की भांति शुद्ध लाभ में से लाभांश दिया जाता है और उस स्थिति में जबकि पूर्वाधिकार

अंशधारियों के अधिकार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो रहे हैं इन्हें मत देने का अधिकार भी है। परंतु इनमें दिया जाने वाला लाभांश ऋणपत्रों में दिए जाने वाले ब्याज की निश्चित दर की भांति निश्चित होता है और सामान्य स्थितियों में इन्हें ऋणपत्रधारियों की भांति मत देने का अधिकार नहीं होता है।

पूर्वाधिकार अंशों के भेद इस प्रकार हैं :

1. संचयी एवं असंचयी पूर्वाधिकार अंश : संचयी पूर्वाधिकार अंश ऐसे अंश हैं जिनमें यदि संस्था किसी वर्ष लाभों की अपर्याप्तता के कारण लाभांश न दे सके तो लाभांश की बकाया राशि उनके पक्ष में संचित कर दी जाती है जिसका भुगतान संस्था को अगले वर्ष के लाभ में से करना पड़ता है। इसके विपरीत यदि पूर्वाधिकार अंशों में लाभांश के संचयीकरण का गुण न हो अर्थात यदि संस्था किसी वर्ष इनमें लाभांश न दे सके और अगले वर्ष गत वर्ष के लाभांश का भुगतान न किया जाए तो ऐसे पूर्वाधिकार अंश असंचयी पूर्वाधिकार अंश कहलाते हैं। इनमें पिछले वर्ष के बकाया लाभांश का भुगतान नहीं किया जाता है।

2. शोध्य एवं अशोध्य पूर्वाधिकार अंश : यदि संस्था पूर्वाधिकार अंश एक निश्चित अवधि के लिए निर्गमित करती है और उस निश्चित अवधि के समाप्त होने पर इनके मूलधन की वापसी कर दी जाती है तो ऐसे पूर्वाधिकार अंश शोध्य पूर्वाधिकार अंश कहे जाते हैं। यदि पूर्वाधिकार अंश सामान्य अंशों की भांति अनिश्चित समय के लिए निर्गमित किए गए हैं जिनके मूलधन की वापसी संस्था के समापन की दशा में की जानी है तो इन पूर्वाधिकार अंशों को अशोध्य पूर्वाधिकार अंश कहते हैं।

3. भागीदार एवं अभागीदार पूर्वाधिकार अंश : सामान्य रूप से पूर्वाधिकार अंशधारियों को एक निर्धारित दर का लाभांश वितरित करने के पश्चात लाभ का जो हिस्सा बचता है वह सामान्य अंशधारियों का होता है। यदि पूर्वाधिकार अंशधारी केवल उसी निर्धारित दर का लाभांश प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं तो ऐसे पूर्वाधिकार अंशों को अभागीदार पूर्वाधिकार अंश कहा जाएगा और यदि पूर्वाधिकार अंशधारियों को सामान्य अंशों में उचित लाभांश वितरित करने के पश्चात भी बचे हुए लाभ में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है तो ऐसे पूर्वाधिकार अंश भागीदार पूर्वाधिकार अंश कहलाते हैं।

पूर्वाधिकार अंशों के निर्गमन से संस्था को होने वाले लाभ इस प्रकार हैं :

1. पूर्वाधिकार अंशधारियों को सामान्य दशाओं में मत देने का अधिकार नहीं होता है अतः ऐसे अंशों को निर्गमित करने से संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में कोई हस्तक्षेप नहीं होता है।

2. पूर्वाधिकार अंशों को निर्गमित करने के लिए संस्था को अपनी संपत्ति गिरवी नहीं रखनी पड़ती है और उनमें पूर्वाधिकार अंशधारियों के हित में कोई प्रभार उत्पन्न नहीं किया जाता है। इससे संस्था के पूंजी के ढांचे में पर्याप्त लोच बनी रहती है।

3. संस्था के सामान्य अंशधारियों को अतिरिक्त रूप में लाभान्वित करने के लिए पूर्वाधिकार अंश निर्गमित करके, 'इक्विटी पर व्यापार' की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

4. सामान्य अंशों की भांति पूर्वाधिकार अंशधारियों को शुद्ध लाभों की पर्याप्तता में ही लाभांश का वितरण किया जाता है (केवल संचयी पूर्वाधिकार अंशों को छोड़कर)। अतः इससे संस्था के ऊपर लाभांश के भुगतान का कोई आर्थिक बोझ नहीं रहता है।

5. पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन उन संस्थाओं के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है जिस संस्था की लाभ क्षमता में स्थायित्व नहीं होता है क्योंकि यदि ऐसी संस्था ऋणपत्र निर्गमित करेगी तो उनमें हर स्थिति में निश्चित दर के ब्याज का भुगतान करना पड़ेगा और यह स्थिति संस्था को उन वर्षों में आर्थिक कठिनाई में डाल देगी जिन वर्षों

में संस्था किसी कारणवश यथेष्ट लाभ न कमा पाए।

पूर्वाधिकार अंशों के निर्गमन से विनियोगकर्ताओं को निम्न लाभ होते हैं :

1. पूर्वाधिकार अंश उन विनियोगकर्ताओं के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हैं जो अपने मूलधन की सुरक्षा के साथ एक निश्चित दर की आय प्राप्त करना चाहते हैं।

2. पूर्वाधिकार अंशों में निश्चित अवधि के बाद परिवर्तन की व्यवस्था, भागीदारी की व्यवस्था एवं निश्चित अवधि के बाद उनके मूलधन की वापसी की व्यवस्था को संलग्न करके इन्हें अधिक उपयुक्त तथा आकर्षक बनाया जा सकता है। इसका लाभ अंतिम रूप से विनियोगकर्ता प्राप्त करते हैं।

पूर्वाधिकार अंश निर्गमन की सीमा : 1. पूर्वाधिकार अंशों में निश्चित दर के लाभांश का भुगतान करने का संस्था के ऊपर एक प्रकार का बोझ बना रहता है विशेष रूप से संचयी पूर्वाधिकार अंश निर्गमित करने से यह बोझ स्थाई प्रकृति का हो जाता है।

2. पूंजी बाजार में पूर्वाधिकार अंशों की मांग अन्य प्रतिभूतियों की तुलना में कम होती है और कंपनी ऊंची लाभांश की दर वाले पूर्वाधिकार अंश जारी करके ही मांग उत्पन्न कर सकती है।

3. पूर्वाधिकार अंशों में मूलधन की सुरक्षा ऋणपत्रों की तुलना में कम होते हुए भी इन्हें संस्था के प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है। इस कारण से ये अंश अधिक प्रचलित नहीं हो सके हैं।

4. पूर्वाधिकार अंशधारियों को कंपनी की उन्नति एवं समृद्धि में कोई अतिरिक्त लाभ प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सामान्य दशाओं में उनके लाभांश का प्रतिशत निश्चित रहता है।

5. संस्था शोध्य पूर्वाधिकार अंश निर्गमित करके अथवा उनके निर्गमन में शोधन की शर्त लगाकर ऐसे समय में इनका शोधन करती है जबकि इनकी स्थिति संस्था में काफी सुदृढ़ हो चुकी हो और ऐसी स्थिति में शोधन स्वाभाविक रूप से पूर्वाधिकार अंशधारियों के हितों को विपरीत रूप से प्रभावित करता है।

ऋणपत्र निर्गमन

संस्था की समस्त वित्तीय आवश्यकताएं केवल अंश निर्गमन से पूंजी प्राप्त करके पूरी नहीं की जा सकती हैं और न ऐसी व्यवस्था संभव व वांछनीय ही समझी जाती है क्योंकि व्यवहार में यह पाया जाता है कि प्रत्येक संस्था का पूंजी का ढांचा स्वामित्व पूंजी व ऋणपूंजी के अनुकूलतम संयोग से तैयार किया जाता है और इनमें किसी प्रकार का असंतुलन संस्था के लिए आर्थिक कठिनाई उत्पन्न कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्था के लिए ऋणपूंजी भी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का एक महत्वपूर्ण साधन है।

संस्था अपनी ऋणपूंजी कई प्रकार के साधनों का प्रयोग करके प्राप्त कर सकती है, जैसे बैंक्स तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से प्रत्यक्ष रूप से ऋण लेकर, जनता में ऋण-पत्र निर्गमित करके।

ऋणपूंजी का संस्था के लिए विशेष रूप से मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में विशेष महत्व है क्योंकि संस्था मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामान्य अंश व पूर्वाधिकार अंश निर्गमित नहीं कर सकती है।

ऋणपत्रों का निर्गमन ऋणपूंजी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। ऋणपत्र निर्गमित करने के लिए भी संस्था अंशों के निर्गमन से मिलती जुलती विधि अपनाती है। प्रविवरणपत्र जारी करके इसके माध्यम से जनता को ऋणपत्र खरीदने के लिए

आमंत्रित करती है। ऋणपत्र से हमारा अभिप्राय एक ऐसे प्रपत्र से है जो संस्था की सार्वमुद्रा के अंतर्गत निर्गमित किया जाता है और जो संस्था द्वारा लिए गए ऋण का प्रमाण होता है। संस्था इस प्रपत्र में उन तमाम महत्वपूर्ण शर्तों का उल्लेख करती है जिनका संबंध ऋणपत्र के निर्गमन से होता है, जैसे ब्याज की दर एवं भुगतान, मूलधन की वापसी आदि। इसके अतिरिक्त ऋणपत्रों की प्रकृति क्या होगी तथा ऋणपत्रधारियों को क्या क्या अधिकार प्राप्त होंगे इसका निर्धारण संस्था एवं ऋणपत्रधारियों के बीच हुए ठहराव के द्वारा किया जाता है।

व्यवहार में यह पाया जाता है कि ऋणपत्र निर्गमित करने की शर्तें समस्त संस्थाओं में लगभग एक जैसी होती हैं, पर कुछ संस्थाएं जो निर्गमित ऋणपत्रों के लिए पर्याप्त मांग का अभाव महसूस करती हैं, पर्याप्त मांग उत्पन्न करने के लिए ऋणपत्रों में कुछ अतिरिक्त विशेषताएं संलग्न कर देती हैं, जैसे ऋणपत्रों का अंशों में परिवर्तन, आदि की व्यवस्था।

संस्था द्वारा निर्गमित ऋणपत्रों में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं : 1. ऋणपत्र निश्चित अवधि के लिए जारी किए जाते हैं और उस अवधि के समाप्त होने पर इनके मूलधन की वापसी की जाती है।

2. ऋणपत्रों पर एक निश्चित दर का ब्याज दिया जाता है और इस ब्याज राशि का भुगतान संस्था को हर स्थिति में करना पड़ता है चाहे संस्था को हानि हो अथवा लाभ।

3. ऋणपत्रधारी की स्थिति एक सामान्य लेनदार की तरह होती है इसीलिए इनको संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है।

4. संस्था को ऋणपत्र निर्गमित करने के लिए अधिकांश दशाओं में अपनी संपत्ति रेहन रखनी पड़ती है अथवा ऋणपत्रधारियों के पक्ष में कुछ प्रभार उत्पन्न कर दिए जाते हैं।

ऋणपत्र एवं अंशों में तुलना

संस्था द्वारा पूंजी प्राप्त करने के लिए इन दोनों प्रकार की प्रतिभूतियों (अंश एवं ऋण-पत्र) का प्रयोग किया जाता है पर दोनों प्रतिभूतियों की प्रकृति एक दूसरे से भिन्न होती है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि अंश निर्गमित करके संस्था स्वामित्व पूंजी प्राप्त करती है, पूर्वाधिकार अंशधारियों को छोड़कर अन्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं और उन्हें संस्था के व्यवसाय के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अंतिम अधिकार प्राप्त रहता है पर संस्था ऋणपूंजी ऋण लेकर प्राप्त करती है (ऋणपत्र निर्गमित करके) और संस्था के ऋणदाताओं को संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता है। वे तो केवल एक निश्चित ब्याज की दर के भुगतान एवं निश्चित अवधि के बाद मूलधन की वापसी के अधिकारों तक ही सीमित रहते हैं। इसके अतिरिक्त संस्था ऋणपूंजी का प्रयोग अपने व्यवसाय में लाभ अर्जित करने के लिए करती है अतः इनको दिया जाने वाला ब्याज शुद्ध लाभ ज्ञात करने से पहले ही नियोजित कर दिया जाता है और इस प्रकार निर्धारित शुद्ध लाभ को अंशधारियों में वितरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार संस्था का समापन हो जाने पर सर्वप्रथम लेनदारों (ऋणपत्रधारियों) के मूलधन की वापसी की जाती है और फिर संपत्तियों के बचे हुए अवशेष में से पूर्वाधिकार अंशों का मूलधन और अंत में सामान्य अंशधारियों के मूलधन की वापसी की जाती है क्योंकि सामान्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं। समापन की दशा में उन्हीं के द्वारा मूलधन की क्षति वहन की जानी उचित है। इसीलिए अंशों को ऋणपत्रों की अपेक्षा अधिक

जोखिममय समझा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामान्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं, वे ही सबसे अधिक जोखिम वहन करते हैं और उन्हीं को संस्था के प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण का अधिकार होता है। संस्था की उन्नति एवं समृद्धि में वही लाभान्वित होते हैं जबकि ऋणपत्रधारी संस्था के लेनदार होते हैं और उनको ब्याज के भुगतान तथा मूलधन की वापसी में स्वामित्व पूंजी की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान की जाती है। उन्हें संस्था की उन्नति एवं समृद्धि की स्थिति में केवल मूलधन की सुरक्षा तथा ब्याज के भुगतान में निरंतरता का लाभ होता है।

ऋणपत्रों को अलग अलग दृष्टिकोण से विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) हस्तांतरणीयता के दृष्टिकोण से ऋणपत्र दो प्रकार के हो सकते हैं : रजिस्टर्ड ऋणपत्र तथा वाहक ऋणपत्र। रजिस्टर्ड ऋणपत्र ऐसे ऋणपत्र हैं जिनके धारकों के नाम व पूरे पते संस्था के ऋणपत्रधारियों के रजिस्टर में उल्लिखित रहते हैं। वही धारक इन पर ब्याज एवं मूलधन की वापसी का दावा कर सकता है जिसका नाम ऋणपत्रधारियों के रजिस्टर में लिखा गया है। इसका वधानिक प्रभाव यह है कि इनका हस्तांतरण केवल सुपुर्दगी देकर नहीं किया जा सकता है बल्कि 'हस्तांतरण ठहराव' के अंतर्गत पहले इनका बेचान किया जाता है फिर इनकी सुपुर्दगी दी जाती है। वाहक ऋणपत्र ऐसा ऋणपत्र है जिसको इसका धारक केवल इच्छुक व्यक्ति को इसकी सुपुर्दगी देकर इसका हस्तांतरण कर सकता है। ऐसे ऋणपत्रों के साथ एक विशेष कूपन संलग्न रहता है। इस कूपन को प्रस्तुत करके ब्याज का भुगतान प्राप्त किया जा सकता है।

(ब) प्रतिभूति या जमानत के दृष्टिकोण से ऋणपत्र दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, सुरक्षित ऋणपत्र तथा असुरक्षित ऋणपत्र। जो संस्था ऋणपत्र निर्गमित करने के लिए अपनी संपत्ति गिरवी रखती है अथवा संपत्ति के ऊपर ऋणपत्रधारियों के पक्ष में कोई अधिकार उत्पन्न करती है ऐसे ऋणपत्र सुरक्षित ऋणपत्र कहलाते हैं क्योंकि इनको निर्गमित करने के लिए संस्था संपत्ति को जमानत के रूप में प्रस्तुत करती है। इससे ऋणपत्रधारियों के मूलधन की सुरक्षा बनी रहती है। ऐसे ऋणपत्र जारी करने के लिए संस्था ऋणपत्रधारियों से एक ठहराव करती है जिसे 'बंधक ठहराव' कहा जाता है जिसमें ब्याज की दर व भुगतान, गिरवी रखी गई संपत्ति का ब्यौरा तथा संबंधित अधिकारों का उल्लेख रहता है। ऋणपत्रधारियों को संपत्ति के ऊपर प्राप्त अधिकार (अथवा गिरवी की सीमा व प्रकृति) दो प्रकार के हो सकते हैं :

निर्धारित अथवा विशिष्ट अधिकार : ऋणपत्रधारी को यह अधिकार कुछ निर्धारित अथवा विशिष्ट संपत्तियों के ऊपर दिया जाता है और संस्था इन संपत्तियों में लेनदेन ऋणपत्रधारियों की अनुमति बिना नहीं कर सकती है।

सामान्य अथवा अस्थिर अधिकार : यदि ऋणपत्रधारियों को संस्था की विद्यमान एवं भविष्य में क्रय की जाने वाली समस्त संपत्तियों में अधिकार दिया जाए तो इसे सामान्य अधिकार कहा जाता है। ऐसी स्थिति में यदि संस्था निश्चित अवधि के पश्चात ऋणपत्रधारियों को मूलधन की वापसी न कर सके तो ऋणपत्रधारियों को संस्था की किसी भी संपत्ति का उनके मूलधन की वापसी के लिए नियोजन कर सकने का अधिकार होगा।

असुरक्षित ऋणपत्रधारियों को संस्था की संपत्तियों में कोई अधिकार नहीं होता है। इनकी स्थिति सामान्य लेनदारों की तरह होती है। यदि संस्था निर्धारित ब्याज का भुगतान व मूलधन की वापसी नहीं करती है तो वे इसके लिए संस्था के विरुद्ध न्यायालय में दावा प्रस्तुत कर सकते हैं।

(स) भुगतान के दृष्टिकोण से ऋणपत्रों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता

है : शोध्य ऋणपत्र एवं अशोध्यऋण पत्र । शोध्य ऋण पत्र एक निश्चित अवधि के लिए निर्गमित किए जाते हैं और इस अवधि के समाप्त होने पर इनके मूलधन की वापसी कर दी जाती है।

अशोध्य ऋणपत्र अनिश्चित अवधि के लिए निर्गमित किए जाते हैं और संस्था इच्छानुसार किसी भी समय इनका शोधन कर सकती है पर ऋणपत्रधारियों को संस्था के जीवनकाल में मूलधन को वापस मांगने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त संस्था ऋणपत्रों को अधिक प्रचलित बनाने के लिए इनमें अतिरिक्त विशेषता अथवा शर्त लगा सकती है, जैसे एक निश्चित अवधि के बाद ऋणपत्रों को सामान्य अथवा पूर्वाधिकार अंशों में परिवर्तित करना आदि। इन ऋणपत्रों को परिवर्तनशील ऋणपत्र कहा जा सकता है।

ऋणपत्र निर्गमन से संस्था को निम्नलिखित लाभ हो सकते हैं :

1. ऋणपत्रधारी संस्था के सामान्य लेनदार की स्थिति में होते हैं। उन्हें संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता है।

2. संस्था कम ब्याज वाले ऋणपत्र जारी करके 'इक्विटी पर व्यापार' कर सकती है और सामान्य अंशधारियों को अतिरिक्त रूप से लाभान्वित किया जा सकता है।

3. ऋणपत्र निर्गमन से संस्था को आयकर में बचत होती है क्योंकि इनको दिया जाने वाला ब्याज शुद्ध लाभ ज्ञात करने से पहले ही कम कर दिया जाता है।

4. ऋणपत्र संस्था में पूंजी प्राप्त करने के लिए एक वैकल्पिक साधन है क्योंकि इससे संस्था विनियोगकर्ताओं की परिवर्तित मांग को नियंत्रित कर सकती है, जैसे आर्थिक मंदी के युग में सामान्य अंशों की मांग कम हो जाती है। ऐसे समय संस्था ऋणपत्र निर्गमित करके पूंजी प्राप्त कर सकती है क्योंकि मंदी के युग में विनियोगकर्ता अपने विनियोग की पूर्ण सुरक्षा चाहता है चाहे विनियोग से प्राप्त आय कम एवं निश्चित हो।

5. ऋणपत्र निर्गमन से संस्था की वित्तीय योजना में निश्चितता एवं लोच के गुण बने रहते हैं क्योंकि संस्था को सामान्य दशाओं में एक निश्चित अवधि के बाद ऋणपत्रों में मूलधन की वापसी करनी पड़ती है और संस्था इनके भुगतान की उचित व्यवस्था (सिंकिंग फंड एवं संचित कोष निर्मित करना) बनाए रखती है ताकि मूलधन की वापसी का इकट्ठा भार संस्था के ऊपर एक ही वर्ष न पड़े। इसके अतिरिक्त यदि संस्था ने अशोध्य ऋणपत्र निर्गमित किए हों तो कभी भी पर्याप्त कोषों के उपलब्ध होने पर इनका शोधन किया जा सकता है। इससे संस्था की वित्तीय योजना में लोच बनी रहती है।

6. अतिपूंजीकरण की स्थिति को सामान्य बनाने के लिए भी संचित कोषों से ऋणपत्रों का शोधन वांछनीय है क्योंकि इनका शोधन करने से संस्था इनके ऊपर निश्चित ब्याज का भुगतान करने के भार से मुक्त हो जाती है।

विनियोगकर्ताओं को इससे होने वाले लाभ इस प्रकार हैं : 1. ऋणपत्रों पर दिया जाने वाला ब्याज निश्चित होता है और संस्था को हानि या लाभ प्रत्येक स्थिति में ब्याज का भुगतान उचित समय पर करना पड़ता है इससे विनियोगकर्ता को ब्याज के भुगतान की निश्चितता बनी रहती है।

2. अधिकांश दशाओं में ऋणपत्रों का निर्गमन संस्था अपनी संपत्तियों को गिरवी रख कर करती है। इससे ऋणपत्रधारियों के मूलधन की पूर्ण सुरक्षा बनी रहती है क्योंकि यदि संस्था निश्चित अवधि के बाद इनके मूलधन की वापसी न करे तो संस्था की संपत्ति इस भुगतान के लिए नियोजित की जा सकती है।

3. ऋणपत्रों में धन के विनियोजन के अनेक लाभ हैं किंतु यह विशेष रूप से उन विनियोगकर्ताओं के लिए अधिक उपयुक्त एवं वांछनीय है जो एक निश्चित कम आय

पर अपने मूलधन की पूर्ण सुरक्षा चाहते हैं।

ऋणपत्र निर्गमन की सीमा : 1. पूंजी प्राप्त करने के लिए अत्यधिक ऋणपत्रों का निर्गमन पूंजी के ढांचे में कठोरता एवं जटिलता उत्पन्न कर देता है क्योंकि इससे एक ओर स्वामित्व पूंजी एवं ऋणपूंजी में असंतुलन उत्पन्न होता है और दूसरी ओर ऐसी संस्था भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर पुन: ऋणपत्र निर्गमित नहीं कर पाती है। अत: इससे वित्तीय साधनों में सीमितता आती है।

2. ऋणपत्र निर्गमन में निश्चित ब्याज के भुगतान की समस्या तथा निश्चित अवधि के बाद मूलधन की वापसी संस्था को आर्थिक कठिनाई में डाल सकती है क्योंकि ब्याज का भुगतान हर स्थिति में किया जाना होता है। इसी प्रकार संस्था कैसी ही आर्थिक स्थिति में क्यों न हो निश्चित अवधि पर मूलधन वापस किया जाना आवश्यक है। विशेष रूप से उन वर्षों में जब संस्था लाभ न कमा पाए अथवा संस्था को विस्तार, आधुनिकीकरण आदि के लिए अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता हो। ब्याज का भुगतान तथा मूलधन की वापसी स्वाभाविक रूप से संस्था में गंभीर आर्थिक कठिनाई उत्पन्न कर सकती है।

3. व्यवहार में यह पाया जाता है कि आर्थिक मंदी के युग को छोड़कर बाकी समय में ऋणपत्रों की मांग काफी कम रहती है इसीलिए संस्था ऋणपत्रों की मांग बढ़ाने के लिए उनमें अतिरिक्त विशेषताएं जोड़ती है, जैसे अधिक ब्याज की दर, प्रिमियम पर शोधन, सामान्य अंशों में परिवर्तन की व्यवस्था आदि। इन सब विशेषताओं से ऋणपूंजी की लागत में वृद्धि एवं संस्था के ऊपर अतिरिक्त बोझ स्वाभाविक है।

4. ऋणपत्रों का निर्गमन करके पूंजी प्राप्त करना उन संस्थाओं के लिए उपयुक्त है जो अपनी पूंजी पर स्थिर दर से लाभ अर्जित कर सकती हैं। यदि संस्था द्वारा अर्जित लाभ की दर ऋणपत्रों के ब्याज की दर से कम हो जाए तो सामान्य अंशधारियों को उचित दर का लाभांश नहीं मिल पाएगा।

5. अधिकांश परिस्थितियों में ऋणपत्रों का निर्गमन संस्था की संपत्ति गिरवी रख कर किया जाता है। इससे एक ओर संस्था के लिए नए ऋणपत्र निर्गमित करना कठिन हो जाता है और दूसरी ओर इससे संस्था की साख विपरीत रूप से प्रभावित हो सकती है।

6. इसके अतिरिक्त विनियोगकर्ताओं के दृष्टिकोण से ऋणपत्रों में निश्चित एवं तुलनात्मक रूप से कम ब्याज की दर होते हुए भी उनको संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण पर कोई अधिकार नहीं मिलता है।

ऋणपत्रों के निर्गमन से लाभ एवं इसकी सीमाओं का अध्ययन करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ऋणपत्र निर्गमन संस्था को कुछ विशेष परिस्थितियों में ही पूंजी उपलब्ध कराने में सहायक है। यदि संस्था की आय स्थिर हो और संस्था उन्नतशील एवं समृद्धिशाली हो, संस्था की पर्याप्त संपत्ति मौजूद हो, संस्था एकाधिकार की स्थिति में हो, अथवा संस्था द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग में लोच का तत्व कम हो, जैसे जनता सेवार्थ संस्थाएं सुरक्षित रूप से ऋणपत्रों का निर्गमन करके पूंजी प्राप्त कर सकती हैं क्योंकि उनके व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा कम होती है और उन्हें समय समय पर सरकार द्वारा कई छूटें दी जाती हैं और आवश्यकता पड़ने पर वित्त की सुविधा भी प्रदान की जाती है।

संयुक्त पूंजी कंपनी द्वारा निर्गमित अंश एवं ऋणपत्र जिन्हें संयुक्त रूप से प्रतिभूति कहा जाता है कुछ महत्वपूर्ण, प्रभावशाली तत्वों के आधार पर उनका विश्लेषण आगे किया जा रहा है।

प्रतिभूतियों के निर्गमन में जोखिम, आय एवं नियंत्रक तत्वों का विश्लेषण

जैसाकि इससे पहले बताया जा चुका है संस्था अपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए तीन प्रकार की है प्रतिभूतियां निर्गमित कर सकती है, सामान्य अंश, पूर्वाधिकार अंश तथा ऋणपत्र। इन तीनों प्रकार की प्रतिभूतियों को निर्गमित करने का प्रभाव भिन्न भिन्न संस्थाओं में भिन्न हो सकता है और इनकी उपयुक्तता संस्था के व्यवसाय की प्रकृति, व्याप्त प्रति-स्पर्धा, उत्पादित वस्तु की मांग में लोच की सीमा, सरकारी संरक्षण एवं लाभ क्षमता आदि तत्वों को ध्यान में रखकर निर्धारित की जा सकती है ताकि संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा संस्था को स्थाई रूप से उन्नतशील एवं समृद्धिशाली बनाने के लिए इनका अनुकूलतम संयोजन तैयार करके यथा समय आवश्यक पूंजी प्राप्त की जा सके। इसके अतिरिक्त संस्था की पूंजी में इन प्रतिभूतियों की स्पष्ट स्थिति ज्ञात करने के लिए तथा इनका अनुपात निर्धारित करने के लिए इनसे संबंधित जोखिम, आय एवं नियंत्रण का विश्लेपण किया जाना भी आवश्यक है।

(अ) प्रतिभूतियों में जोखिम का वितरण : धन के विनियोजन में जोखिम एक महत्व-पूर्ण तत्व है जो विनियोगकर्ता के निर्णय को प्रभावित करता है। विनियोगकर्ता को जो संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में अपना धन विनियोजित करता है, सदैव इस बात का जोखिम बना रहता है कि संस्था विनियोजित धनराशि पर उसे समय पर ब्याज अथवा लाभांश का भुगतान कर सकेगी अथवा नहीं और भविष्य में मूलधन की वापसी के संबंध में उसकी क्या स्थिति होगी। यदि संस्था किन्हीं कारणों से प्राप्त पूंजी का कुशल प्रयोग न कर पाए और प्रतिवर्ष गंभीर हानि की स्थिति व्यवसाय का समापन करने पर बाध्य कर दे तो संस्था अपने समापन पर संपत्तियों से प्राप्त धनराशि को मूलधन की वापसी के लिए निम्न क्रम में प्रयोग करेगी : संपत्तियों से प्राप्त धनराशि को सर्वप्रथम ऋणपत्रधारियों के मूलधन की वापसी के लिए प्रयोग किया जाएगा, उसके पश्चात पूर्वाधिकार अंशों के मूलधन की वापसी की जाएगी और अंत में बचे हुए धन को संस्था के सामान्य अंशधारियों में वितरित कर दिया जाएगा। इस दृष्टि से सामान्य अंश सबसे अधिक जोखिममय है और ऋणपत्र सबसे कम तथा पूर्वाधिकार अंशों की स्थिति जोखिम के इन दोनों छोरों के बीच में है क्योंकि पूर्वाधिकार अंशधारियों को ऋणपत्रधारियों के पश्चात तथा सामान्य अंशधारियों से पहले मूलधन की वापसी की जाएगी।

(ब) प्रतिभूतियों में आय का वितरण : हालांकि व्यवसाय में तीनों प्रतिभूतियों के निर्ग-मन से प्राप्त पूंजी का प्रयोग एक ही प्रकार से किया जाता है परंतु उनमें उस पूंजी से अजित लाभ को वितरित करने का ढंग भिन्न है। यह मूल रूप से प्रतिभूति की प्रकृति पर निर्भर रहता है। ऋणपत्रों में दिए जाने वाले ब्याज को व्यवसाय का सामान्य व्यय समझा जाता है और शुद्ध लाभ ज्ञात करने के लिए इसे लाभ में से पहले ही कम कर दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि चाहे संस्था को लाभ हो अथवा हानि ऋणपत्रधारियों को ब्याज का भुगतान निश्चित रूप से किया जाएगा। संस्था के शुद्ध लाभ में से सर्वप्रथम पूर्वाधिकार अंशधारियों को निश्चित दर का लाभांश वितरित किया जाता है, उसके पश्चात शुद्ध लाभ के अवशेष को सामान्य अंशधारियों में वितरित किया जाता है अर्थात अंशों में लाभांश संस्था तभी वितरित करेगी जब संस्था को पर्याप्त शुद्ध लाभ उपलब्ध हो। इस दृष्टिकोण से सामान्य अंशों में सबसे अधिक जोखिम निहित होता है। ऋणपत्रों पर आय निश्चित तथा स्थिर होती है और पूर्वाधिकार अंश सामान्य अंशों से कम जोखिममय समझे जाते हैं विशेष रूप से संचयी पूर्वाधिकार अंश।

(स) प्रतिभूतियों में नियंत्रण के अधिकार का वितरण : प्रतिभूतियों की संस्था के प्रबंध,

संचालन एवं नियंत्रण के अधिकार के दृष्टिकोण से निम्न स्थिति है : सामान्य अंशधारियों को संस्था का वास्तविक स्वामी समझा जाता है और उन्हें संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अंतिम अधिकार प्राप्त रहता है। पूर्वाधिकार अंशधारियों को सामान्य दशाओं में संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में कोई अधिकार प्राप्त नहीं रहता है। केवल उन मामलों में, जिनसे उनके हित प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं, उन्हें मत देने का अधिकार दिया जाता है। इसी प्रकार ऋणपत्रधारियों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। उन्हें संस्था का लेनदार समझा जाता है और वे संस्था के प्रबंध, संचालन तथा नियंत्रण में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं।

प्रतिभूतियों का विपणन

जिस प्रकार वस्तुओं एवं सेवाओं का विक्रय करने हेतु बाजार का सर्वेक्षण करके क्रेताओं की रुचि, प्राथमिकता एवं आवश्यकताओं के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं, ठीक उसी प्रकार प्रतिभूतियों का निर्गमन करने से पूर्व संस्था भी संभावित विनियोग-कर्ताओं की मांग, रुचि तथा आवश्यकताओं के बारे में पर्याप्त सूचना प्राप्त करने के लिए विनियोग बाजार का विश्लेषण करती है और उपलब्ध माध्यमों में से उपयुक्त माध्यम का चुनाव करती है ताकि प्रतिभूतियों को कुशलतापूर्वक वितरित किया जा सके। प्रति-भूतियों को खरीदने के लिए जनता को प्रस्ताव देने हेतु संस्था इस संबंध में एक प्रविवरण पत्र जारी करती है जिसमें संस्था की आर्थिक स्थिति से संबंधित तथा अन्य आवश्यक सूचनाएं उल्लिखित होती हैं जिनका विस्तृत वर्णन 'संयुक्त पूंजी कंपनी के महत्वपूर्ण दस्तावेज' अध्याय में किया जा चुका है।

प्रविवरण में दी गई सूचनाओं के माध्यम से ही संस्था संभावित विनियोगकर्ता को अपना धन संस्था की प्रतिभूतियों में विनियोजित करने के लिए आकर्षित एवं प्रलोभित करती है। इसके पश्चात प्रतिभूतियों को संभावित विनियोगकर्ताओं में वितरित करने के लिए उपयुक्त वितरण के माध्यम का चुनाव करके प्रतिभूतियों को विनियोगकर्ताओं तक पहुंचाया जाता है। इन माध्यमों का वर्णन आगे किया जा रहा है।

प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्थाएं मुख्य रूप से दो प्रकार की हो सकती हैं : नई स्थापित संस्था और विद्यमान संस्था (जो अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने के लिए प्रतिभूतियों का निर्गमन करती है)। ठीक इसी प्रकार संभावित विनियोगकर्ता भी समाज के भिन्न भिन्न वर्गों के भिन्न लोग अथवा लोगों के समूह के रूप में हो सकते हैं : (i) व्यक्तिगत विनियोगकर्ता, (ii) संस्थागत विनियोगकर्ता। व्यक्तिगत विनियोगकर्ताओं में समाज के विभिन्न वर्गों के लोग सम्मिलित किए जाते हैं जो व्यक्तिगत रूप से अपनी बचतों को संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में विनियोजित करते हैं। इस वर्ग के विनियोगकर्ताओं की प्रवृत्ति तथा प्राथमिकता भिन्न भिन्न हो सकती है, जैसे कुछ विनि-योगकर्ता तो मूलधन की सुरक्षा पर निश्चित कम दर की आय से ही संतुष्ट रहते हैं पर कुछ विनियोगकर्ता अधिक जोखिम वहन करके अधिक आय प्राप्त करना चाहते हैं।

संस्थागत विनियोगकर्ताओं में व्यक्तियों का समूह, जैसे विनियोग ट्रस्ट, बीमा कंपनियां, बैंक्स तथा अन्य वित्तीय संस्थाएं एवं अभिगोपक संस्थाएं सम्मिलित हैं। इन संस्थाओं के उद्देश्य अलग अलग हो सकते हैं, जैसे साधारण ट्रस्ट अपने सदस्यों के धन को संयुक्त रूप से उनके हित के लिए विनियोजित करते हैं, और इसी प्रकार बैंकिंग संस्थाएं तथा बीमा कंपनियां भी सदस्यों से प्राप्त धन को विनियोजित करती हैं अतः वे अधिक जोखिम वहन नहीं करतीं। जबकि विनियोग ट्रस्ट एवं अभिगोपक संस्थाएं इस उद्देश्य से प्रतिभूतियां क्रय करती हैं कि वे उन्हें पुनः बेच कर संस्था से कमीशन प्राप्त कर सकें।

प्रतिभूतियों का विपणन करने के लिए संस्था के पास विभिन्न विधियां एवं माध्यम उपलब्ध होते हैं। मुख्य रूप से प्रतिभूतियों का विनियोगकर्ताओं में वितरण करने के लिए निम्न माध्यम प्रचलित हैं।

संस्था द्वारा प्रत्यक्ष रूप से विनियोगकर्ताओं में प्रतिभूतियों का वितरण

संयुक्त पूंजी कंपनी के अध्याय में यह वर्णन किया जा चुका है कि सार्वजनिक कंपनी निर्गमित अंशों एवं ऋणपत्रों को विनियोगकर्ताओं में वितरित करने के लिए प्रविवरण-पत्र अथवा स्थानापन्न प्रविवरण जारी करती है और जिसमें धन के विनियोग के निर्णय को प्रभावित करने वाली लगभग समस्त सूचनाओं का उल्लेख रहता है। इच्छुक विनि-योगकर्ता प्रविवरणपत्र का अध्ययन एवं विश्लेषण करके इसमें संलग्न आवेदन पत्र को भर कर आवेदन राशि के साथ संस्था के नियत बैंक के पास भेज देते हैं और आवेदनपत्रों को प्राप्त करने के पश्चात संस्था के संचालकों द्वारा प्रतिभूतियों के आवंटन का निर्णय लिया जाता है।

प्रतिभूतियों की प्रत्यक्ष बिक्री विधि विशेष रूप से विद्यमान संस्था, जो गत कई वर्षों से कार्य कर रही हो। (अतिरिक्त पूंजी एकत्र करने के लिए), के द्वारा अपनाई जाती है। ये संस्थाएं अपनी प्रतिभूतियों को तुलनात्मक रूप से कम व्यय पर (i) मौजूद अंश-धारियों में, (ii) कर्मचारियों में, (iii) तथा आम जनता में बेच सकती हैं। इस विधि का प्रयोग करके निम्न लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं:

1. प्रतिभूतियों को प्रत्यक्ष रूप से जनता, कर्मचारियों तथा विद्यमान अंशधारियों में बेचने के लिए संस्था को अधिकांश दशाओं में मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और उनको दिया जाने वाला कमीशन आदि बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि संस्था निर्गमित की जाने वाली नई प्रतिभूतियों को विद्यमान धारकों तथा अपने ही कर्म-चारियों में वितरित करती है तो इसके लिए अधिक विज्ञापन आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है।

2. संस्था द्वारा अपनी प्रतिभूतियों का विक्रय करने के लिए प्रत्यक्ष विक्रय विधि का प्रयोग करने से विनियोगकर्ताओं के हित काफी हद तक सुरक्षित रहते हैं क्योंकि संस्था संभावित विनियोगकर्ताओं को सही आर्थिक दशा एवं लाभ स्थिति का ज्ञान कराती है, जबकि मध्यस्थ प्रतिभूतियों को अधिक संख्या में बेच कर अत्यधिक कमीशन अर्जित करने के उद्देश्य से संभावित विनियोगकर्ताओं को संस्था की स्थिति का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करते हैं और कुछ स्थितियों में गलत सूचनाएं प्रस्तुत करके भी विनियोगकर्ताओं को प्रति-भूतियां क्रय करने के लिए प्रेरित करते हैं।

3. संस्था प्रतिभूतियों की प्रत्यक्ष बिक्री विधि से पूंजी बाजार में अपनी साख के बारे में आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकती है क्योंकि यदि संस्था की साख ऊंची है तो ऐसी संस्था द्वारा व्यक्तिगत रूप से निवेदन करने पर भी काफी अधिक संख्या में प्रतिभूतियों को क्रय करने के लिए आवेदन पत्र प्राप्त किए जा सकते हैं।

4. प्रत्यक्ष बिक्री विधि के अंतर्गत संस्था पूंजी बाजार में विनियोगकर्ताओं की रुचि, प्राथमिकता एवं आवश्यकता के अनुसार प्रविवरणपत्र में अनुकूल सूचनाएं आकर्षित ढंग से प्रस्तुत करके विभिन्न संभावित विनियोगकर्ताओं को अपनी पूंजी का विनियोजन करने के लिए प्रलोभित कर सकती है।

प्रत्यक्ष बिक्री विधि की सीमाएं : 1. संस्था द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्गमित प्रतिभूतियों को वितरित करने में तुलनात्मक रूप से अधिक समय नष्ट हो सकता है।

2. नई स्थापित संस्था के लिए इस विधि को उपयुक्त नहीं समझा जाता है क्योंकि

ऐसी संस्था विनियोगकर्ताओं को प्रतिभूतियों में धन के विनियोजन हेतु प्रेरित करने के लिए प्रविवरण पत्र में आर्थिक स्थिति एवं लाभ क्षमता के बारे में वे पर्याप्त सूचनाएं प्रस्तुत नहीं कर पाती हैं, जो विशेषरूप से विनियोगकर्ताओं के विनियोजन के निर्णय को प्रभावित करती हैं।

3. प्रत्यक्ष बिक्री विधि के द्वारा प्रतिभूतियों को क्रय करने के लिए उन विनियोगकर्ताओं को प्रलोभित नहीं किया जा सकता है जो पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण प्रतिभूतियों को प्रत्यक्ष रूप से संस्था से नहीं खरीदते अपितु अन्य मध्यस्थों, जैसे बैंकिंग संस्था, बीमा संस्था आदि की सलाह पर आश्रित रहते हैं।

4 संस्था द्वारा प्रत्यक्ष रूप से विनियोगकर्ताओं में प्रतिभूतियों का वितरण करने में पूर्ण अनिश्चितता बनी रहती है क्योंकि न तो इसका सही अनुमान लगाया जा सकता है और न इस बात की निश्चितता रहती है कि संस्था कितनी संख्या में अपनी प्रतिभूतियों को बेच पाएगी।

प्रत्यक्ष बिक्री विधि की उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद विद्यमान संस्था (कई वर्षों से कार्यरत) जिसकी आर्थिक स्थिति एवं लाभक्षमता संतोषजनक हो, इस विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकती है क्योंकि ऐसी संस्था द्वारा जारी किया गया प्रविवरणपत्र संस्था की संतोषजनक आर्थिक स्थिति एवं लाभक्षमता को दर्शाते हुए विनियोगकर्ताओं को प्रतिभूतियां क्रय करने के लिए उत्प्रेरक सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे संस्थाएं भी इस विधि को उपयोगी समझती हैं जो प्रतिभूतियों का वितरण कम संख्या के विनियोजकों में करती हैं, जैसे बैंकिंग संस्थाएं, बीमा संस्थाएं तथा अन्य वित्तीय संस्थाएं आदि। इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त यदि संस्था नई प्रतिभूतियों को अपने विद्यमान विनियोगकर्ताओं में, कर्मचारियों में तथा ग्राहकों में वितरित करना चाहती है तो भी इस विधि को अधिक प्रभावपूर्ण समझा जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्था में विद्यमान विनियोगकर्ता, कर्मचारी एवं ग्राहक संस्था की आर्थिक स्थिति एवं लाभक्षमता से अवगत रहते हैं और उन्हें कम प्रयत्न करके, आसानी से पुनः प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करने के लिए तैयार किया जा सकता है।

मध्यस्थों के माध्यम से प्रतिभूतियों का विक्रय

देश में सुव्यवस्थित पूंजी बाजार की सेवाओं की अपर्याप्तता एवं विनियोगकर्ताओं में संबंधित जानकारी तथा संस्था के ऊपर विश्वास का अभाव, विशेष रूप से एक नई संस्था को प्रत्यक्ष रूप में अपनी प्रतिभूतियों को विनियोगकर्ताओं में वितरित करने हेतु बाधा उत्पन्न करते हैं। अतः इन दशाओं में संस्था प्रतिभूतियां निर्गमित करके मध्यस्थों के माध्यम से विनियोगकर्ताओं में वितरित कर सकती है क्योंकि ये मध्यस्थ संस्थाएं इस कार्य में निपुण एवं दक्ष समझी जाती हैं। ये संस्थाएं अपने गंभीर प्रयासों से विनियोगकर्ता का संस्था के ऊपर विश्वास जमाने में सफल सिद्ध हुई हैं। इन संस्थाओं में मुख्य रूप से विनियोग संस्थाएं, बैंकिंग संस्थाएं, बीमा संस्थाएं, दलाल, विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं तथा अभिगोपक संस्थाएं (अंडरराइटिंग फर्म) आदि अधिक प्रचलित हैं। इस संबंध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कंपनी विधान के अनुसार प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था के लिए यह आवश्यक है कि वह कुल निर्गमन का कम से कम 49% जनता को अंशदान के लिए प्रस्तावित करे। इसके अतिरिक्त यदि संस्था ने अंश बाजार में अपनी प्रतिभूतियों का सूचियन करा लिया है तो इससे भी प्रतिभूतियों के बाजार का विस्तार संभव है। मध्यस्थों के माध्यम से प्रतिभूतियों का वितरण करने में अभिगोपक संस्थाओं की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण है अतः इन संस्थाओं का **अर्थ,**

महत्व तथ इनके लाभ-हानियों का वर्णन किया जाना आवश्यक है।

प्रतिभूतियों का अभिगोपन : अभिगोपन एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था कुछ अन्य विशिष्ट संस्थाओं के साथ एक ठहराव में सम्मिलित होती है जिसके अंतर्गत ये विशिष्ट संस्थाएं निर्गमन संस्था द्वारा जनता को प्रस्तावित प्रतिभूतियों के न बिके हुए हिस्से को स्वयं क्रय करने का दायित्व अपने ऊपर लेती हैं। जो विशिष्ट संस्थाएं इस कार्य में संलग्न रहती हैं उन्हें अभिगोपक संस्थाएं कहा जाता है।

अभिगोपक संस्थाएं प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था को इस बात की गारंटी देती हैं कि निर्गमित प्रतिभूतियां यदि जनता द्वारा न खरीदी गईं तो उनको वह स्वयं क्रय कर लेंगी। ये अभिगोपक संस्थाएं अंतिम विनियोगकर्ता नहीं होती हैं क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था के साथ प्रतिभूतियों को क्रय करने का ठहराव करके उन्हें आगे विनियोगकर्ताओं को बेचकर संस्था से कमीशन प्राप्त करना होता है, इसीलिए इनको विनियोग मध्यस्थ कहा जाता है। ये अंतिम विनियोगकर्ता तथा संस्था के बीच कड़ी का कार्य करती हैं। संस्था के साथ किए गए ठहराव के अनुसार यदि ये अभिगोपक संस्थाएं ठहराव में निश्चित प्रतिभूतियों को विनियोगकर्ताओं में नहीं बेच पाती हैं तो बची हुई प्रतिभूतियों को खरीदने का दायित्व इन संस्थाओं के ऊपर होता है। इन संस्थाओं को इस दायित्व के प्रतिफल में जो कमीशन दिया जाता है उसे 'अभिगोपन कमीशन' कहा जाता है। इस कमीशन की अधिकतम सीमा भारतीय कंपनी अधिनियम के अनुसार ऋणपत्रों के लिए $2\frac{1}{2}\%$ और अंशों के लिए 5% निर्धारित की गई है।

प्रतिभूतियों का अभिगोपन निम्न विधियों में से किसी विधि द्वारा किया जा सकता है :

1. गारंटी स्वरूप अभिगोपन : अभिगोपन की इस विधि के अनुसार अभिगोपक संस्था प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था के साथ किए गए ठहराव के तहत इस बात की गारंटी देती है कि यदि संस्था द्वारा निर्गमित नियत संख्या की प्रतिभूतियां एक निश्चित अवधि के भीतर जनता में न बिक पाएं तो ये संस्थाएं उन प्रतिभूतियों को स्वयं क्रय कर लेंगी। इस विधि के अनुसार अंशों को जनता में प्रस्तावित करने से संबंधित समस्त कार्यवाही प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था द्वारा की जाती है और अभिगोपक संस्थाओं द्वारा दी गई गारंटी के प्रभाव से संभावित विनियोगकर्ताओं का संस्था के प्रति विश्वास जाग्रत होता है जिससे वे अपने धन का संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में विनियोजन करने की दिशा में प्रवृत्त होते हैं। यदि निश्चित अवधि के भीतर संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां जनता में नहीं बिक पाती हैं तो इस अवधि की समाप्ति पर अभिगोपक संस्था को स्वयं ये प्रतिभूतियां क्रय करनी पड़ती हैं अत: अभिगोपक संस्था की जिम्मेदारी केवल जनता के अपर्याप्त अंशदान की स्थिति में ही उत्पन्न होती है।

2. प्रतिभूतियों का प्रत्यक्ष रूप से क्रय : इस विधि के अंतर्गत अभिगोपक संस्थाएं निर्गमित प्रतिभूतियों की एक निश्चित संख्या, निर्धारित मूल्यों में प्रत्यक्ष रूप से क्रय कर लेती हैं और फिर इन प्रतिभूतियों को विनियोगकर्ताओं में बेचने का भरसक प्रयत्न करती हैं। यह विधि निर्गमन करने वाली संस्था के लिए कई कारणों से उपयोगी समझी जाती है क्योंकि इस विधि से अभिगोपन के द्वारा प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था को तुरंत प्रतिभूतियों का मूल्य प्राप्त हो जाता है और प्रतिभूतियों के विक्रय की अनिश्चितता बिल्कुल समाप्त हो जाती है। संस्था को किसी निश्चित अवधि का इंतजार नहीं करना पड़ता है। अभिगोपक संस्था जिन मूल्यों में प्रतिभूतियां क्रय करती है तथा जिस मूल्य में इनका विनियोगकर्ताओं को विक्रय करती है इन दोनों मूल्यों में अंतर अभिगोपक संस्था की आय होती है।

गैरस्टनवर्ग के शब्दों में, अभिगोपन की इस विधि से निर्गमन करने वाली संस्था न केवल प्रस्तावित प्रतिभूतियों के न बिकने के जोखिम से मुक्त होती है बल्कि प्रतिभूतियों के वितरण कार्य, जो विशिष्ट प्रकृति का है और जिससे संस्था का व्यवसाय अपरिचित है, से भी मुक्त हो जाती है।

3. सिंडीकेट स्वरूप अभिगोपन : अभिगोपक संस्थाएं अभिगोपन कार्य में निश्चित रूप से प्रतिभूतियों के विक्रय से संबंधित जोखिम वहन करती है। यदि संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां कम संख्या में हैं और उनमें जोखिम की मात्रा कम है तो अभिगोपन का कार्य प्राय: व्यक्तिगत अभिगोपक संस्था द्वारा ले लिया जाता है। इसके विपरीत यदि प्रतिभूतियों का निर्गमन अधिक संख्या में हुआ है जिसमें जोखिम की मात्रा भी काफी अधिक है तो इस प्रकार की प्रतिभूतियों का अभिगोपन कार्य करने के लिए विभिन्न अभिगोपक संस्थाएं संयुक्त रूप से सिंडीकेट स्थापित करती हैं ताकि अभिगोपन में निहित अधिक जोखिम समस्त अभिगोपक संस्थाओं में बांटा जा सके। इस प्रकार स्थापित सिंडीकेट प्रत्यक्ष रूप से निर्गमन संस्था के साथ अभिगोपन ठहराव करके अभिगोपन की जाने वाली प्रतिभूतियों को अलग अलग संस्थाओं में वितरित कर देती है। इससे जहां एक ओर निर्गमन करने वाली संस्था को काफी बड़ी मात्रा में पूंजी प्राप्त हो जाती है और उसकी साख में वृद्धि होती है वहां दूसरी ओर अभिगोपन कार्य में संलग्न जोखिम विभिन्न संस्थाओं में बंट जाता है। ये विभिन्न अभिगोपक संस्थाएं संयुक्त रूप से समन्वित होकर कार्य करती हैं जिससे उन्हें अतिरिक्त लाभ हो सकता है।

अभिगोपन का महत्व : किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए सुव्यवस्थित पूंजी बाजार तथा अभिगोपन की सुविधाओं का मौजूद होना आवश्यक है ताकि औद्योगिक संस्थाएं आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियां निर्गमित करके पर्याप्त पूंजी प्राप्त कर सकें क्योंकि पूंजी उद्योगों की स्थापना एवं विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। और पर्याप्त पूजी का एकत्रीकरण तभी संभव है जब देश की जनता की छोटी छोटी बचतें एक सुव्यवस्थित पूजी बाजार के माध्यम से तथा अभिगोपक संस्थाओं के अटूट प्रयास से उद्योगों में विनियोजन हेतु आकर्षित की जाएं।

अभिगोपन पूंजी के निर्माण में सहायक तत्व है क्योंकि अभिगोपक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों को क्रय करने अथवा उनका विक्रय करने की गारंटी देने से आम विनियोगकर्ता का भी निर्गमन करने वाली संस्था के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है और वह अपने धन का निर्गमित प्रतिभूतियों में विनियोजन करने के लिए प्रेरित होता है। संस्था के पूंजी निर्माण में अभिगोपन की भूमिका एवं महत्व निम्न बातों को ध्यान में रखकर और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है :

प्रतिभूतियां निर्गमित करके पूंजी प्राप्त करने में संस्था के समक्ष संबंधित जोखिम एवं अनिश्चितता बनी रहती है। अभिगोपक संस्थाएं इस जोखिम को वहन करके पूंजी की अनिश्चितता को निश्चितता में परिणत कर देती हैं और संस्था इसी निश्चितता के तत्व के आधार पर संस्था के लिए प्राप्त पूंजी के प्रयोग हेतु आवश्यक योजना तैयार करके उसे शीघ्र क्रियान्वित कर सकती है।

अभिगोपक संस्थाएं विशेष रूप से नई संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों को प्रचलित करके विनियोगकर्ताओं को इनमें अपने धन का विनियोजन करने के लिए प्रेरित करने में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती हैं।

अभिगोपक संस्थाएं प्रतिभूतियों के निर्गमन में सस्था को महत्वपूर्ण सलाह प्रदान करती हैं क्योंकि अभिगोपक संस्थाओं को पूंजी बाजार के बारे में समस्त सूचनाएं ज्ञात रहती हैं जिससे वे निर्गमन करने वाली संस्था को सही रूप से यह बता सकती हैं कि

पूंजी बाजार में विनियोगकर्ताओं का क्या रुख है और उनकी प्रवृत्ति क्या है तथा वे किस प्रकार से प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करने के लिए प्रलोभित किए जा सकते हैं। इससे निर्गमन करने वाली संस्था विनियोगकर्ताओं की रुचि तथा प्राथमिकता के अनुसार प्रतिभूतियों में ये विशेषताएं और जोड़ सकती है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अभिगोपक संस्थाएं औद्योगिक संस्थाओं को पूंजी के निर्माण में महत्वपूर्ण रूप से सहायता पहुंचाती हैं क्योंकि ये संस्थाएं केवल निर्गमन करने वाली संस्था की प्रतिभूतियों को क्रय करने की ही गारंटी नहीं देती हैं बल्कि संस्था की निर्गमित प्रतिभूतियों के वितरण से संबंधित सारी कठिनाइयों को दूर करती हैं। संभावित विनियोजकों में इससे बचत की आदत प्रोत्साहित होती है ताकि वे अपनी बचतों का विनियोजन निर्गमित प्रतिभूतियों में कर सकें।

जनता से जमा स्वीकार करना (जन निक्षेप)

कोई भी उद्योग प्रत्यक्ष रूप से जनता से अपील करके उनकी बचतों को अपनी पूंजी की आवश्यकता पूरी करने के लिए प्रयोग कर सकता है। पूंजी प्राप्त करने का यह साधन गत दो तीन दशकों में काफी महत्वपूर्ण रहा है। हालांकि कुछ कारणों से ये साधन भारतीय उद्योगों में पूर्ण रूप से प्रचलित न हो सके फिर भी कुछ विशेष उद्योगों, जसे सूती वस्त्र उद्योग, चाय उद्योग, इंजीनियरिंग, चीनी व रासायनिक उद्योग आदि में इसका प्रचलन रहा है। इस साधन के अंतर्गत उद्योगपति अपनी साख के आधार पर तथा जनता का विश्वास जीत कर उनसे छोटी छोटी बचतें प्राप्त करके इस प्रकार प्राप्त धन को अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए प्रयोग करते हैं। इस साधन को देश में सुव्यवस्थित बैंकिंग सुविधाओं का अभाव तथा जनता का मिल मालिकों के ऊपर विश्वास, इन दोनों तत्वों से अधिक लोकप्रियता मिली क्योंकि बैंकिंग सुविधाओं के अभाव में लोग अपनी छोटी छोटी बचतों को संपत्ति आदि क्रय करने में विनियोजित न करके विश्वास की भावना से ब्याज के बदले उद्योगपतियों के पास जमा करते रहे हैं। पूंजी प्राप्त करने का यह साधन विशेष रूप से बंबई, अहमदाबाद एवं शोलापुर की कपड़ा मिलों तथा असम एवं बंगाल के चाय बगानों में काफी लोकप्रिय रहा है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार महाराष्ट्र में इनकी लोकप्रियता सबसे अधिक रही है, यहां तक कि इन राज्यों में ये सूती मिलें तथा चायबगान अपनी कुल पूंजी का लगभग 40% जनता से जमा स्वीकार करके प्राप्त कर रहे हैं। परंतु देश में बैंकिंग सुविधाओं के विकास के साथ ही इस साधन के प्रचलन में शिथिलता आती जा रही है और कुछ दशाओं में उद्योगपतियों द्वारा जनता के साथ विश्वासघात भी इस साधन के लिए घातक सिद्ध हुआ है।

इस साधन के अंतर्गत औद्योगिक संस्था 5 वर्ष से 7 वर्ष तक तथा कुछ दशाओं में 15 वर्ष तक की अवधि के लिए जनता से जमा प्राप्त करती रही है। इन पर दी जाने वाली ब्याज की दर पहले $4\frac{1}{2}\%$ से $6\frac{1}{2}\%$ के बीच थी, अब इसमें परिवर्तन होकर $6\frac{1}{2}\%$ से 10% तक हो गई है। पूंजी प्राप्त करने के इस साधन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए तथा विनियोगकर्ताओं के हितों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा समय समय पर इसके लिए उपयुक्त व्यवस्थाएं की जाती रही हैं। हालांकि अब जन निक्षेपों का नियमन करने के लिए कंपनी विधान में धारा 58-अ जोड़ दी गई है जो फरवरी 1975 से लागू की गई है। इससे पहले जनवरी 1975 तक भारतीय रिजर्व बैंक के आदेशानुसार कोई भी संस्था (बैंकिंग संस्था को छोड़कर) अपनी कुल चुकता पूंजी एवं संचित कोषों के 15% से अधिक जन निक्षेप स्वीकार नहीं कर सकती थी।

पूंजी प्राप्त करने के इस साधन में मितव्ययता, सरलता आदि गुण विद्यमान होने के कारण इसे उपयुक्त समझा गया है। संस्था को इस साधन से पूंजी प्राप्त करने में न तो संपत्ति गिरवी रखनी पड़ती है और न अधिक ऊंची दर के ब्याज का भुगतान करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप संस्था 'इक्विटी पर व्यापार' की स्थिति उत्पन्न कर सकती है। संस्था के पूंजी के ढांचे में लोच का गुण बना रहता है क्योंकि संस्था को इस साधन द्वारा भविष्य में आवश्यक पूंजी प्राप्त करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती है।

इस साधन में इन गुणों के साथ साथ अनिश्चितता, नई संस्था के लिए अनुपयुक्तता आदि दोष भी पाए जाते हैं क्योंकि इस साधन का प्रयोग करने में संस्था यह निश्चय नहीं कर पाती है कि इस साधन से कितनी पूंजी प्राप्त की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त उद्योगपतियों द्वारा विश्वासघात करके जमाकर्ता का शोषण किया जाना संभव है। हालांकि उद्योगों के लिए जन निक्षेपों से पूंजी प्राप्त की जाती रही है पर इसका पूंजी बाजार के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा है क्योंकि जनता अपनी छोटी छोटी बचतों को संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां खरीदने में विनियोजित करने के बजाय प्रत्यक्ष रूप से अपना धन उद्योगपतियों के पास जमा करती है।

आंतरिक वित्त व्यवस्था अथवा लाभों का पुनर्विनियोजन

एक नई स्थापित संस्था तो प्रारंभ में अपनी पूंजी अंश व ऋणपत्र निर्गमित करके, जनता से जमा स्वीकार करके एवं विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेकर प्राप्त करती है परंतु एक विद्यमान संस्था जो गत कई वर्षों से व्यवसाय कर रही हो अपनी अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए लाभों का व्यवसाय में पुनर्विनियोजन भी कर सकती है। भारत जैसे विकासशील देश में औद्योगिक विकास की गति तेज करने के लिए वित्त का यह साधन काफी महत्वपूर्ण है और इसे अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय बनाया जाना आवश्यक है। सरकार ने भी समय समय पर विभिन्न संबंधित अधिनियमों में आवश्यक संशोधन करके इस पद्धति को और अधिक प्रोत्साहित किया है, जैसे एक ओर तो संस्था की लाभ क्षमता बढ़ाने के लिए ह्रास पर छूट तथा विकास छूट (डेवलपमेंट रिबेट) प्रदान की है और दूसरी ओर संस्थाओं में अत्यधिक लाभ का वितरण प्रतिबंधित किया गया है ताकि संस्थाएं अर्जित लाभ का कुछ भाग व्यवसाय में रोक सकें और भविष्य में इससे अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता को पूरा कर सकें।

लाभों के पुनर्विनियोजन का अर्थ : यदि कोई व्यावसायिक संस्था प्रतिवर्ष अर्जित लाभों को पूर्णरूप से सामान्य अंशधारियों को न बांट कर (उन्हें केवल उचित दर का लाभांश देकर) लाभ के बचे हुए हिस्से को भविष्य के लिए संचित कोषों के रूप में व्यवसाय में रोकती है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त पूंजी के रूप में इन संचित कोषों का प्रयोग कर सके, तो इस पद्धति को लाभों का पुनर्विनियोजन कहा जाता है क्योंकि संस्था द्वारा अर्जित लाभ के हिस्से को व्यवसाय में पुनः विनियोजित किया जाता है।

इस पद्धति को आंतरिक वित्त व्यवस्था भी कहा जाता है क्योंकि इस व्यवस्था के अंतर्गत संस्था स्वयं अर्जित लाभ का प्रयोग वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने के लिए करती है और इससे भविष्य में उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयों का सामना कर सकती है। जिस प्रकार व्यक्तिगत स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के कुछ भाग को अपने पास बचत के रूप में भविष्य के लिए सुरक्षित रखता है ताकि भविष्य में किसी भी आर्थिक कठिनाई को आसानी से दूर किया जा सके, ठीक इसी प्रकार व्यावसायिक संस्था भी प्रत्येक वर्ष अर्जित लाभ में से कुछ अंश इकट्ठा करके, आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त पूंजी के रूप में व्यवसाय में इसका प्रयोग कर सकती है। इस विधि को 'लाभों

का पूंजीकरण' भी कहा जा सकता है।

वित्तीय प्रबंध के दृष्टिकोण से संस्था को संचित कोषों का प्रयोग व्यवसाय में तभी करना चाहिए जब संस्था ऐसे विनियोजन से उचित दर की आय अर्जित कर सके अन्यथा संचित कोष सामान्य अंशधारियों में वितरित करना अधिक उपयुक्त होगा, या उन्हें किन्हीं अन्य उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाना वांछनीय समझा जाएगा क्योंकि यदि संस्था इन संचित कोषों का प्रयोग करके उचित दर की आय न कमा पाए तो संस्था में इससे अतिपूंजीकरण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

लाभ संचित कोषों का निर्माण व्यवसाय में निम्न उद्देश्यों में से किसी भी एक अथवा एक से अधिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है :

(i) व्यवसाय में विस्तार की योजना क्रियान्वित करने के लिए।
(ii) व्यवसाय में प्रयोग की जा रही स्थाई संपत्तियों, जैसे मशीन, संयंत्र आदि का आधुनिकीकरण तथा नवीकरण करने के लिए।
(iii) संस्था द्वारा लिए गए ऋणों का भुगतान करने के लिए।
(iv) संस्था की कार्यशील पूंजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए।
(v) संस्था द्वारा सामान्य अंशों में दिए जाने वाले लाभांश में समानता एवं स्थायित्व बनाए रखने के लिए।

कुछ लोग, संस्था द्वारा सामान्य अंशों की लाभांश की दर में समानता तथा स्थिरता बनाए रखने के लिए निर्मित लाभ संचित कोषों को लाभों का व्यवसाय में पुनः विनियोजन नहीं समझते हैं परंतु यदि इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो हम यह पाते हैं कि सामान्य अंशधारियों को वितरित किया जाने वाला लाभांश प्रत्यक्ष रूप से उनके बाजार मूल्य को प्रभावित करता है। इसमें स्थायित्व का अभाव होने के कारण संस्था की साख, विनियोगकर्ताओं के हित एवं संस्था की लाभ क्षमता पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसीलिए अन्य उद्देश्यों की भांति इस उद्देश्य के लिए भी लाभ संचित कोषों का प्रयोग यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से संस्था के लाभों का पुर्नविनियोजन है।

लाभों के पुर्नविनियोजन अथवा आंतरिक वित्त व्यवस्था का महत्व : संस्था की आर्थिक दशा सुदृढ़ एवं मजबूत बनाने में आंतरिक वित्त व्यवस्था का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि इससे एक ओर तो संस्था वित्तीय साधनों के संबंध में स्वावलंबी बनती है और दूसरी ओर इससे भविष्य की अनिश्चितता काफी हद तक समाप्त की जा सकती है। फलस्वरूप संस्था स्थाई रूप से समृद्धशाली एवं उन्नतशील हो सकती है। इससे न केवल संस्था, बल्कि अंशधारी एवं समाज भी लाभान्वित होते हैं।

आंतरिक वित्त व्यवस्था से संस्था को होने वाले लाभ इस प्रकार हैं :

1. विद्यमान संस्था के लिए मध्यकालीन तथा अल्पकालीन एवं कुछ दशाओं में दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का यह सबसे सरल, सुगम एवं मितव्ययी साधन है।

2. लाभ संचित कोषों का निर्माण करके संस्था भविष्य की वित्तीय अनिश्चितता को निश्चितता में परिणत कर सकती है क्योंकि इन संचित कोषों को व्यवसाय में उत्पन्न असंतुलन (उतार चढ़ाव) और व्यापारिक चक्रों द्वारा उत्पन्न आर्थिक कठिनाई का सामना करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

3. संस्था लाभ संचित कोषों में उपलब्ध धनराशि से सामान्य अंशों में दिए जाने वाले लाभांश में समानता एवं स्थिरता बनाए रख सकती है जो संस्था की आर्थिक सुदृढ़ता के लिए नितांत आवश्यक है। इससे पूंजी बाजार में संस्था की साख बनी रहती

है और विनियोगकर्ताओं के हितों को सुरक्षित रखा जा सकता है।

4. लाभ संचित कोषों में उपलब्ध राशि से संस्था स्थाई संपत्तियों का आधुनिकीकरण एवं नवीकरण करके लाभक्षमता में वृद्धि कर सकती है।

5. स्थाई संपत्ति की जीवन क्षमता निश्चित होती है और एक निश्चित अवधि के पश्चात व्यवसाय चालू रखने के लिए उनका पुनर्स्थापन किया जाना आवश्यक है। इसके लिए संस्था ह्रास की व्यवस्था करती है। यदि ह्रास की कुल राशि नई संपत्ति के मूल्य से कम हो तो इस कमी को लाभ संचित कोषों से पूरा करके यथासमय नए उपकरण को क्रय किया जा सकता है।

6. संस्था इन लाभ संचित कोषों का प्रयोग ऊंची ब्याज दर वाले ऋणपत्रों का शोधन करने के लिए भी कर सकती है। इससे संस्था का आर्थिक भार कम हो जाएगा और संस्था की लाभक्षमता में वृद्धि होगी।

7. लाभ संचित कोष पूंजी में संतुलन बनाए रखने में सहायक हैं। इससे संस्था में अतिपूंजीकरण की स्थिति को सामान्य बनाया जा सकता है क्योंकि इन लाभ संचित कोषों से ऊंची ब्याज की दर वाले ऋणपत्रों का शोधन करके संस्था की लाभक्षमता में वृद्धि हो सकती है। ठीक इसी प्रकार लाभ संचित कोष अवपूंजीकरण की स्थिति में भी उपयोगी समझे जाते हैं क्योंकि अवपूंजीकृत संस्था इन लाभ कोषों में से बोनस अंश जारी करके लाभ कमाने की दर को सामान्य स्तर पर लाती है।

8. इसके अतिरिक्त आंतरिक वित्त व्यवस्था से संस्था के पूंजी के ढांचे में पूर्ण लोच बनी रहती है क्योंकि भविष्य में कभी आवश्यकता पड़ने पर इन संचित कोषों का पूंजीकरण किया जा सकता है अथवा इससे ऋणपत्रों का शोधन किया जा सकता है।

आंतरिक वित्त व्यवस्था का उपर्युक्त महत्व ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आंतरिक वित्त व्यवस्था संस्था की लाभ कमाने की क्षमता को बनाए रखने और उसमें वृद्धि करने में सहायक है। इसके अतिरिक्त आंतरिक वित्त व्यवस्था से संस्था की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाई जा सकती है।

अंशधारियों को निम्न लाभ होते हैं :

1. लाभ संचित कोषों का प्रयोग सामान्य अंशधारियों को दिए जाने वाले लाभांश की दर में स्थायित्व लाने व उसमें समानता बनाए रखने के लिए भी किया जा सकता है। इससे पूंजी बाजार में संस्था की साख बढ़ती है और विनियोगकर्ता ऐसी ही संस्था की प्रतिभूतियों की मांग करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप अंशों का बाजार मूल्य भी बढ़ जाता है और इससे अंशधारियों को पूंजी में वृद्धि का लाभ हो सकता है :

2. अंशों के बाजार मूल्य स्थिर रहते हैं क्योंकि उनमें दिए गए लाभांश की दर स्थिर एवं समान होती है। इससे अंशों में सट्टेबाजी का तत्व कम हो जाता है और विनियोगकर्ताओं के हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं।

3. यदि संस्था इन लाभ संचित कोषों का प्रयोग ऋणपत्रों के शोधन के लिए करती है तो इससे स्वाभाविक रूप में संस्था के सामान्य अंशधारियों को अतिरिक्त लाभ मिल सकता है। संस्था की समृद्धि एवं उन्नति का भी सबसे अधिक लाभ सामान्य अंशधारियों को ही मिल पाएगा।

समाज को निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं :

1. संस्था प्रतिवर्ष अर्जित लाभ में से कुछ हिस्सा (जो अन्यथा सामान्य अंशधारियों में बंट चुका होता) संचित कोषों में रखकर व्यक्तिगत बचत को संस्थागत बचत में बदल देती है और औद्योगिक जगत में पूंजी के रूप में इसका प्रयोग करके औद्योगिक विकास की गति में तीव्रता लाई जा सकती है।

2. लाभ संचित कोषों का निर्माण करने से संस्था भविष्य में व्यापारिक चक्रों परिवर्तन से उत्पन्न दुष्परिणामों का सामना करके व्यवसाय में स्थायित्व एवं निश्चितत ला सकती है। इससे निरंतर वस्तुएं व सेवाएं जनता को प्रदान की जा सकती हैं।

3. संस्था, लाभ संचित कोषों का प्रयोग व्यवसाय के विस्तार के लिए प्रभावपूर्ण ढं से कर सकती है। इससे व्यवसाय के पैमाने में वृद्धि होगी, संस्था बड़े पैमाने पर व्यवसा की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर सकेगी और समाज को अच्छी किस्म की वस्तुएं उचि मूल्य पर प्राप्त होंगी।

आंतरिक वित्त व्यवस्था की सीमा : 1. आंतरिक वित्त व्यवस्था से धन का एकत्रीकर कुछ ही संस्थाओं अथवा व्यक्तियों (संचालकों) के पास होने का भय बना रहता है। इस व्यवसाय में एकाधिकार की स्थिति और ग्राहकों का शोषण संभव है।

2. संस्था के संचालक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधने के लिए (अनावश्यक रूप अंशों के मूल्यों में वृद्धि एवं कमी करवा कर) इन संचित कोषों का प्रयोग कर सकते हैं

3. व्यवहार में यह पाया जाता है कि संस्था की लाभक्षमता में वृद्धि होने से संचालक गुप्त संचित कोषों का निर्माण भी करते हैं जिससे संस्था अवपूंजीकृत हो सकती क्योंकि संस्था का वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य से अधिक हो जाता है।

4. आंतरिक वित्त व्यवस्था में व्यक्तिगत बचतों को संस्थागत बचतों में परिवर्तित कर दिया जाता है। इससे अंशधारी व्यक्तिगत रूप से अपने धन का स्वयं विनियोजन नहीं कर पाते हैं।

5. यदि संस्था किसी अन्य संस्था की सहायक संस्था है या दो से अधिक संस्थाए किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं (प्रबंधकीय अथवा वित्तीय स्तर पर) तो ऐसी स्थिति में संचालक एक संस्था के लाभ संचित कोषों का प्रयोग दूसरी संस्था में कर सकते हैं। इससे संचित कोष निर्मित करने वाली संस्था के सामान्य अंशधारियों के हित विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं।

6. आंतरिक वित्त व्यवस्था संस्था के लिए उस स्थिति में उपयुक्त एवं वांछनीय है जिसमें संस्था इन संचित कोषों का व्यवसाय में पूंजी के रूप में प्रयोग करके इसके ऊपर उचित दर की आय अर्जित कर सके। अन्यथा इससे अंशधारियों को उचित लाभ नहीं मिल सकता है।

आंतरिक वित्त व्यवस्था के महत्व एवं इसकी सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए निर्णयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि कुछ दोषों (जो कोषों के दुरुपयोग अथवा असावधानी से प्रयोग करने से उत्पन्न होते हैं) के बावजूद संस्था की अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए विशेष रूप से विकासशील देशों में औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए यह पद्धति अत्यंत महत्वपूर्ण है।

संस्था की आंतरिक वित्त व्यवस्था को कुछ तत्व महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं अत: पूंजी प्राप्त करने के इस साधन को अधिक उपयोगी एवं सुदृढ़ बनाने के लिए इन तत्वों का अध्ययन भी आवश्यक है। ये तत्व निम्न हैं :

(i) संस्था की लाभ कमाने की क्षमता,
(ii) संस्था की लाभांश नीति,
(iii) सामान्य अंशधारियों की प्रवृत्ति एवं उनका सहयोग।

संस्था की लाभ कमाने की क्षमता : संस्था की आंतरिक वित्त व्यवस्था के लिए लाभ संचित कोषों का निर्माण संस्था द्वारा अर्जित लाभ के कुछ हिस्से को संचित करके किया जाता है, अत: लाभ संचित कोषों का निर्माण संस्था की लाभ क्षमता पर काफी हद तक निर्भर है। यदि संस्था प्राप्त पूंजी पर उचित दर की आय न कमा पाए तो लाभ संचित

कोषों के निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता। संस्था में विनियोजित पूंजी के ऊपर विनियोगकर्ताओं को उचित दर की आय प्रदान करना संस्था को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

संस्था के लिए व्यवसाय में आय अर्जित करने का मुख्य साधन संस्था का व्यवसाय अथवा सहायक व्यवसाय है। इस प्रकार से अर्जित आय को अर्जित अतिरेक कहा जाता है। इसके अतिरिक्त संस्था अपने मुख्य एवं सहायक व्यवसाय के अतिरिक्त कुछ अन्य साधनों से भी आकस्मिक रूप से आय अर्जित कर सकती है। इस प्रकार अर्जित आय को पूंजीगत आय या अतिरेक (कैपिटल सरप्लस) कहा जाता है क्योंकि यह अतिरेक पूंजीगत मदों में आकस्मिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न होता है, जैसे संस्था द्वारा क्रय की गई प्रतिभूतियों को उनके अंकित मूल्य से अधिक पर बेच कर अर्जित की गई आय अथवा किसी अन्य संपत्ति को उसके अंकित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेच कर कमाया गया अतिरेक आदि। अतः पूंजीगत अतिरेक का मुख्य साधन संस्था की संपत्तियों या दायित्वों में वृद्धि अथवा कमी है, पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि पूंजीगत अतिरेक यदा कदा ही उत्पन्न होते हैं इसीलिए इनको संचित कोषों के निर्माण में अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त लाभ संचित कोषों का मुख्य स्रोत संस्था द्वारा अपने व्यवसाय में अर्जित आय है। साधारण तौर से संस्था द्वारा अर्जित लाभ में से सामान्य अंशधारियों को उचित दर का लाभांश वितरित करने के पश्चात बचे हुए लाभ का कुछ हिस्सा संचित कोषों में हस्तांतरित कर दिया जाता है जो उचित एवं वांछनीय है। यदि संस्था सामान्य अंशधारियों को उनके विनियोजन में उचित दर का लाभांश न दे तो इससे दीर्घकाल में संस्था की साख कम हो सकती है और अंशधारियों में असंतोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

संस्था की लाभ कमाने की क्षमता कई तत्वों पर निर्भर रहती है, जैसे संस्था का आकार, वस्तु की मांग, बाजार में स्थिति, प्रतिस्पर्धा, प्रबंधकीय कुशलता आदि। संस्था द्वारा इस प्रकार अर्जित आय किस प्रकार वितरित की जाएगी इसका निर्णय संस्था का संचालक मंडल करता है। निर्णय लेते समय सामान्य अंशधारियों से राय अवश्य ली जाती है पर अंतिम निर्णय संचालक मंडल का होता है। संस्था के संचालक लाभ का वितरण तथा नियोजन विभिन्न तत्वों का ध्यान में रखकर करते हैं, जैसे व्यवसाय में विस्तार की संभावना, लाभों के पुर्नविनियोजन से अनुमानित आय, संस्था में मशीन एवं संयंत्र का आधुनिकीकरण एवं नवीकरण, संस्था की विद्यमान आर्थिक स्थिति आदि। कुछ परिस्थितियों में संस्था काफी अच्छी दर की आय अर्जित करते हुए भी सामान्य अंशधारियों को तुलनात्मक रूप से कम दर का लाभांश देती है।

(अ) यदि संस्था के व्यवसाय में निरंतर विस्तार किया जा रहा है तो संस्था अत्यधिक लाभ अर्जित करके सामान्य अंशधारियों को उचित दर का लाभांश ही दे सकती है क्योंकि व्यवसाय में विस्तार की योजनाओं एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से संस्था अतिरिक्त लाभ की राशि संचित कोषों में हस्तांतरित करती है अथवा उनसे वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति करती है।

(ब) ठीक इसी प्रकार यदि संस्था की स्थाई संपत्ति मशीन, संयंत्र आदि का आधुनिकीकरण किया जाना है ताकि उत्पादन की नई विधियों को अपना कर संस्था अपनी उत्पादकता बढ़ा सके, ऐसी स्थिति में भी लाभ संचित कोषों के निर्माण पर अत्यधिक बल दिया जाना उचित है।

(स) लाभ संचित कोषों के विनियोजन से अर्जित अनुमानित आय भी संस्था द्वारा कमाए गए लाभों के वितरण तथा नियोजन को प्रभावित करती है। यदि संस्था लाभों के व्यवसाय में पुर्नविनियोजन से उचित दर की आय अर्जित न कर सके तो लाभों का

पुर्नविनियोजन उचित एवं वांछनीय नहीं समझा जाएगा। जेम्स ई० वाल्टर के अनुसार यदि संस्था की लाभ कमाने की क्षमता उस उद्योग में कमाए जाने वाले औसतन लाभ की दर से अधिक है तो लाभों को संचित करके विनियोजित करना संस्था तथा संस्था के अंशधारियों के हित में होगा। इसके विपरीत यदि संस्था द्वारा कमाए जाने वाले लाभ की दर उस औसतन लाभ की दर से कम है तो संस्था के लिए यह उचित होगा कि समस्त लाभों को लाभांश के रूप में सामान्य अंशधारियों में वितरित कर दे क्योंकि अंशधारी प्राप्त लाभांश को अन्य संस्थाओं में विनियोजित करके अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

संस्था की लाभांश नीति : संस्था द्वारा कमाए गए लाभों को संस्था की स्वामित्व पूंजी का पारितोषिक समझा जाता है (क्योंकि ऋणपत्रधारियों को देय ब्याज शुद्ध लाभ का निर्धारण करने से पहले ही कम कर दिया जाता है)। इस पारितोषिक को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित किया जाता है। संस्था लाभांश वितरण के लिए जिस नीति अथवा विधि व्यवहार को अपनाती है उसका संस्था की आंतरिक वित्त व्यवस्था के साथ गहरा संबंध है, क्योंकि संस्था द्वारा अर्जित कुल शुद्ध लाभ का कितना हिस्सा अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित किया जाएगा और बचे हुए लाभ का किस प्रकार नियोजन किया जाएगा, यह निर्णय संस्था की आंतरिक वित्त व्यवस्था को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है।

संस्था की लाभांश नीति (जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव संस्था की आंतरिक वित्त व्यवस्था पर है) सामान्य दशाओं में निम्न तत्वों पर निर्भर करती है :

1. वैधानिक सीमाएं : संस्था की लाभांश नीति का निर्धारण करते समय संबंधित अधिनियम की विभिन्न व्यवस्थाओं तथा प्रतिबंधों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इन व्यवस्थाओं एवं प्रतिबंधों का मुख्य उद्देश्य यह है कि संस्था की पूंजी अछूती (इनटैक्ट) रखी जा सके और संस्था के समापन की दशा में लेनदारों को मूलधन की वापसी की जा सके। उदाहरण के लिए भारतीय कंपनी अधिनियम में यह स्पष्ट किया गया है कि कंपनी लाभांश केवल गत वर्षों के संचित लाभों (अर्जित अतिरेक) और चालू वर्ष के दौरान अर्जित शुद्ध लाभ में से ही वितरित कर सकती है। पूंजी में से लाभांश का वितरण नहीं किया जा सकेगा। चालू वर्ष के शुद्ध लाभ का निर्धारण करने के लिए संपत्ति में ह्रास की उचित व्यवस्था की जानी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कंपनी गत वर्षों के संचित लाभों को लाभांश के रूप में तभी वितरित कर सकती है यदि इसमें से चालू वर्ष की हानि को पूरा कर लिया गया हो। कंपनी की दशा में लाभांश नीति का निर्धारण इन सब व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है।

2. लाभांश का आय कमाने की क्षमता से संबंध : लाभांश का मूल स्रोत ही संस्था की आय कमाने की क्षमता है और अधिकांश दशाओं में संस्था द्वारा अर्जित लाभ एवं अंशों में वितरित लाभांश का प्रत्यक्ष संबंध होता है। यदि संस्था अधिक लाभ कमाती है तो सामान्य अंशधारियों को ऊंची दर का लाभांश दिया जाता है। इसके विपरीत लाभ की राशि कम होने की स्थिति में समन्य अंशधारी कम दर का लाभांश प्राप्त कर पाते हैं। कुछ परिस्थितियों में संस्था सामान्य अंशों में दिए जाने वाले लाभांश की दर को स्थाई एवं समान बनाए रखने के लिए लाभ संचित कोषों का भी प्रयोग करती है। हालांकि इससे संस्था की साख मजबूत बनी रहती है फिर भी इसे अधिक उपयुक्त नहीं समझा जाता है क्योंकि यदि संस्था वित्तीय वर्ष के दौरान कमाए गए लाभ से अधिक लाभांश वितरित करती है (लाभ संचित कोषों का प्रयोग करके) तो इसका संस्था की लाभ कमाने की क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है और अंशधारियों को संस्था की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः लाभांश नीति का निर्धारण करने

में संस्था की आय कमाने की वर्तमान क्षमता एवं भावी क्षमता दोनों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

3. लाभांश का वैकल्पिक प्रयोग : संस्था के संचालक मंडल को लाभांश नीति तैयार करते समय इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि वितरण योग्य लाभ का कुछ भाग व्यवसाय में विनियोजित करना व्याप्त परिस्थितियों के अनुसार उचित एवं वांछनीय है अथवा नहीं। उन्नतशील व्यवसाय में वितरण योग्य लाभों में से संचित कोष का निर्माण करके भविष्य की वित्तीय अनिश्चितता को समाप्त किया जाता है। यदि संस्था के वित्तीय ढांचे में पर्याप्त लोच है, संस्था की पूंजी बाजार में साख अच्छी है एवं संस्था लाभ संचित कोषों का विनियोजन करके तुलनात्मक रूप से उतनी आय नहीं कमा सकती है जितनी अंशधारी उस राशि को व्यवसाय से बाहर विनियोजित करके कमा सकता है तो ऐसी स्थिति में वितरण योग्य लाभ का अधिकांश सामान्य अंशधारियों में वितरित कर दिया जाना चाहिए।

अतः यदि संस्था पूंजी बाजार में अपनी साख बनाए रखना चाहती है और लाभ विनियोजन का कुशल प्रबंध कर सकती है तो लाभों का व्यवसाय में पुनर्विनियोजन अनुचित नहीं होगा।

4. नकदी की स्थिति एवं तरलता : लाभांश का भुगतान अधिकांश दशाओं में नकद में किया जाता है इसीलिए लाभांश घोषित करने से पूर्व व्यवसाय में वर्तमान नकदी की स्थिति एवं तरलता के तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। यदि संस्था द्वारा घोषित लाभांश के बराबर पर्याप्त नकदी उपलब्ध नहीं है तो इससे संस्था के सम्मुख वित्तीय कठिनाई उत्पन्न होती है विशेष रूप से संस्था की तरलता पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। यदि संस्था निकट भविष्य में नकदी की राशि अन्य स्रोतों से प्राप्त कर सकती है तो विद्यमान नकदी का प्रयोग लाभांश वितरण के लिए किया जा सकता है। अतः संस्था को लाभांश घोषित करने से पहले विद्यमान कार्यशील पूंजी की स्थिति से भली-भांति अवगत रहना चाहिए।

5. अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता : संस्था की कार्यशील पूंजी के अतिरिक्त भविष्य में स्थाई पूंजी की आवश्यकता को लाभांश नीति निर्धारित करने में ध्यान में रखा जाना चाहिए। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, पूंजी के ढांचे में पर्याप्त लोच संस्था को अधिक लाभांश वितरित करने के लिए प्रेरित कर सकती है। यदि संस्था के पास अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने के अन्य साधन उपलब्ध नहीं हैं तो लाभ संचित कोषों का निर्माण नितांत आवश्यक है।

6. अंशों का बाजार मूल्य : संस्था द्वारा वितरित लाभांश अंशों के बाजार मूल्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है क्योंकि लाभांश की दर बढ़ने से अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि होती है और लाभांश में कमी अंशों के बाजार मूल्यों में कमी ला सकती हैं। इसके अतिरिक्त समान दर का स्थाई लाभांश अंशों के बाजार मूल्यों में परिवर्तनों को रोकता है जिसके फलस्वरूप इन अंशों में सट्टेबाजी नहीं की जा सकती है और विनियोगकर्ताओं के हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं। अतः लाभांश नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि उससे विनियोगकर्ताओं के हितों को पूर्ण सुरक्षा मिले और संस्था की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे।

7. अन्य प्रभावशील तत्व : उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त लाभांश नीति तैयार करते समय संस्था के पूंजी के ढांचे की प्रकृति, लेनदार व ऋणपत्रधारियों के साथ किए गए ठहराव की प्रकृति तथा प्रतियोगी द्वारा निर्धारित लाभांश नीति आदि तत्वों का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए।

सामान्य अंशधारियों की प्रवृत्ति एवं उनका सहयोग : संस्था की आंतरिक बचत संस्था के सामान्य अंशधारियों की प्रवृत्ति व स्थिति से भी प्रभावित होती है क्योंकि संस्था द्वारा कमाया जाने वाला शुद्ध लाभ अंशपूंजी में पारितोषिक तथा सामान्य अंशधारियों द्वारा जोखिम वहन का प्रतिफल समझा जाता है। इसके संबंध में निम्न बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

(अ) यदि संस्था के सामान्य अंशधारी काफी कम संख्या में हैं और लगभग समस्त अंशधारी कुछ गिने चुने स्थानों में स्थित हैं तो ऐसी स्थिति में संस्था के संचालक गण अथवा प्रबंधक रूढ़िवादी लाभांश नीति अथवा परिवर्तनविरोधी लाभांश नीति (कन्जरवेटिव डिवीडेंड पालिसी) अपनाने के लिए राय मशविरा करके उनकी सहमति ले सकते हैं ताकि उनको उचित दर का लाभांश वितरित करके बकाया लाभ की राशि संचित कोषों में हस्तांतरित की जा सके। सामान्य अंशधारियों की इस स्थिति के विपरीत शुद्ध लाभ का अधिकांश लाभांश के रूप में वितरित किया जा सकता है।

(ब) संस्था के अंशधारियों की करदेयता की स्थिति भी उनमें वितरित किए जाने वाले लाभांश की दर को प्रभावित कर सकती है क्योंकि ऊंची आय वाले अंशधारी इस बात पर निश्चित रूप से सहमत होंगे कि उनको लाभांश का भुगतान नकद में न किया जाए अथवा उनको ऊंची दर का लाभांश देने के बजाय संस्था लाभ संचित कोषों का निर्माण करे।

(स) इसके अतिरिक्त सामान्य अंशधारियों में संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार भी उनकी प्रवृत्ति व सहयोग को प्रभावित कर सकता है। यदि संस्था को अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता हो तथा पूंजी बाजार में व्याप्त स्थिति के अनुसार ऋणपत्र एवं पूर्वाधिकार अंश जारी करके पूंजी प्राप्त करना कठिन हो तो संस्था के सामान्य अंशधारी इस स्थिति में अपने प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि वे संस्था द्वारा निर्गमित सामान्य अंशों को स्वयं क्रय कर लेंगे अथवा संस्था लाभ अर्जित कोषों का निर्माण करके अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता को पूरा करे। यदि संस्था द्वारा निर्गमित नए सामान्य अंश, नए अंशधारियों में वितरित किए जाएंगे तो इससे प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधिकार में उनका हस्तक्षेप स्वाभाविक है।

विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं

पर्याप्त पूंजी के अभाव में उद्योग के क्षेत्र में विकास संभव नहीं है, विशेष रूप से अर्धविकसित तथा विकासशील देशों में वित्त की कठिनाइयां एवं संगठन संबंधी कठिनाइयां देश के औद्योगिक विकास में बाधा उत्पन्न करती रही हैं। औद्योगिक विकास की गति तेज करने के लिए एवं संपूर्ण आर्थिक विकास के लिए वित्तीय साधनों का विस्तार किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि उद्यमी व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया जाए, उन्हें समय समय पर नए औद्योगिक विचारों से अवगत कराया जाए तथा उन्हें पर्याप्त तकनीकी सलाह एवं अन्य सुविधाएं प्रदान की जाएं ताकि वे औद्योगिक विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकें।

इस संबंध में बैंकिंग संस्थाओं की सेवाएं महत्वपूर्ण हो सकती हैं पर दुर्भाग्यवश हमारे देश में बैंकिंग संस्थाएं कुछ गिने चुने उद्योगों को ही विशेष परिस्थितियों में वित्तीय सहायता प्रदान करती आई हैं। हालांकि ये बैंकिंग संस्थाएं उद्योगों के लिए अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वरदान स्वरूप हैं फिर भी औद्योगिक संस्था पर्याप्त स्थाई पूंजी के अभाव में न ही स्थापित की जा सकती है और

न उनका विस्तार किया जाना ही संभव होता है।

हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने तथा उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से पूंजी प्रदान करने हेतु सरकार ने समय समय पर कई विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की (सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में) स्थापना की है, जैसे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम, यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया, औद्योगिक विकास बैंक आदि। इन संस्थाओं की स्थापना का मुख्य उद्देश्य जनता की छोटी छोटी बचतें एकत्र कर उसे उद्योगों में दीर्घकाल के लिए विनियोजित करना तथा संस्थाओं की स्थापना तथा विस्तार में उन्हें आवश्यकीय तकनीकी सहायता प्रदान करना है। इन विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली का विस्तार में वर्णन इससे अगले अध्याय में किया गया है।

जैसाकि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, संस्था अपनी दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति लगभग एक ही प्रकृति के साधनों से करती है। फिर भी मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में बैंकों से ऋण एवं आंतरिक वित्त व्यवस्था तथा कम अवधि के ऋणपत्र निर्गमन का विशेष महत्व है।

संयुक्त पूंजी कंपनी अपनी अल्पकालीन पूंजी अथवा कार्यशील पूंजी की आवश्यकता निम्न साधनों से पूंजी प्राप्त करके पूरी करती है।

बैंकों से ऋण

अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करने में बैंकों का प्रमुख स्थान है। विशेष रूप से हमारे देश में बैंकिंग संस्थाएं अधिकांश दशाओं में औद्योगिक संस्थाओं को कार्यशील पूंजी ही प्रदान करती रही हैं, हालांकि अब कुछ दशाओं में इनके द्वारा मध्यकालीन वित्त (टर्म लेंडिंग) भी दिया जाने लगा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यह प्रयत्न किया गया था कि कुछ औद्योगिक बैंक स्थापित किए जाएं जो उद्योगों को दीर्घकालीन पूंजी एकत्र करने में सहायता पहुंचा सकें। 1917 में 'टाटा औद्योगिक बैंक' स्थापित किया गया और इसके साथ ही साथ अन्य औद्योगिक बैंक भी स्थापित किए गए। परंतु मुख्य रूप से पर्याप्त साधनों के अभाव के कारण तथा प्रबंधकीय क्षमता के अभाव के कारण इनका विकास न हो सका और यह प्रयत्न पूर्ण रूप से असफल रहा। इन्हीं औद्योगिक बैंकों की भूमिका अदा करने के लिए विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं स्थापित की गईं जो व्यावसायिक संस्था को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करने में सहयोगी सिद्ध हुई हैं।

इसके अतिरिक्त सामान्य बैंकिंग संस्थाएं जो काफी बड़ी मात्रा में जनता से जमा स्वीकार करके धन एकत्र करती हैं, इस धन का प्रयोग उद्योगों को (विशेष रूप से मध्यस्तरीय एवं लघुस्तरीय उद्योग) कार्यशील पूंजी की सहायता प्रदान करने हेतु करती हैं। बैंकों के पास जो धनराशि जनता से जमा के रूप में आती है उसका भुगतान जमाकर्ता द्वारा मांगने पर किया जाना आवश्यक है ताकि जनता का बैंकों के ऊपर विश्वास बना रहे।

बैंकों द्वारा औद्योगिक संस्थाओं को निम्न स्वरूपों के अंतर्गत अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

1. नकद साख : बैंकों द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करने की यह पद्धति सबसे अधिक प्रचलित है। बैंक अपनी कुल वित्तीय सहायता का लगभग 60% इसी स्वरूप के अंतर्गत प्रदान करते हैं। यह पद्धति काफी सरल है। इसके अंतर्गत बैंक ऋणी को एक पूर्वनिर्धारित सीमा तक (जिसे नकद साख सीमा कहा जाता है) रुपया उधार लेने की

अनुमति दे देते हैं और ऋणी इसी निर्धारित सीमा के भीतर आवश्यकतानुसार बैंक से धन लेता रहता है। बैंक नकद ऋण के उद्देश्य, प्रस्तावित प्रतिभूति की प्रकृति, बिक्री का आकार, वस्तु की प्रकृति, स्टाक की मात्रा एवं उत्पादन की मात्रा आदि तत्वों को ध्यान में रख कर साख सीमा का निर्धारण करता है। बैंकों के द्वारा इस प्रकार के ऋण मंजूर करने में ऋणी से पर्याप्त प्रतिभूति गिरवी अथवा जमानत के रूप में मांगी जाती है। कुछ दशाओं में बिना प्रतिभूति के भी इस प्रकार के ऋण मंजूर किए जाते हैं। बैंकों द्वारा इस प्रकार मंजूर ऋण की उस राशि पर ब्याज लिया जाता है जो ऋणी द्वारा निकाली जा चुकी है। परंतु मार्च 1970 के पश्चात बैंक अप्रयुक्त राशि पर भी 1% ब्याज वसूल करते हैं जिसे कमिटमेंट चार्ज कहा जाता है।

2. ऋण : बैंक कुछ दशाओं में संस्थाओं को अल्पकाल की अवधि का ऋण भी प्रदान करते हैं। नकद साख एवं ऋण में मुख्य अंतर यह है कि बैंक ऋण की दशा में ऋण के रूप में मंजूर की गई पूर्ण राशि पर ब्याज प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं चाहे संस्था अथवा व्यवसायी ने उस धनराशि का वास्तव में प्रयोग किया हो अथवा नहीं। इसी प्रकार मंजूर ऋण की राशि संस्था को पूर्ण रूप से एक ही बार निकालनी पड़ती है जबकि नकद साख में संस्था नकद साख सीमा के अंतर्गत आवश्यकतानुसार धन निकालती रहती है।

3. अधिविकर्ष की सुविधा प्रदान करके : बैंक अल्पकालीन वित्तीय सहायता केवल नकद साख एवं ऋण के रूप में ही प्रदान नहीं करते बल्कि अधिविकर्ष (ओवरड्राफ्ट) की सुविधा का भी अल्पकालीन वित्त में महत्वपूर्ण स्थान है। यह सुविधा बैंकों द्वारा केवल उन संस्थाओं अथवा ग्राहकों को प्रदान की जाती है जिनका बैंक में चालू खाता विद्यमान हो। इस सुविधा के अंतर्गत बैंक अपने ग्राहक को उसके चालू खाते की बकाया रकम से अधिक धनराशि निकालने की अनुमति प्रदान करता है। इसी बकाया अथवा अतिरिक्त धनराशि पर बैंक ब्याज प्राप्त करता है। यह ब्याज जितने समय के लिए धनराशि प्रयोग में लाई गई हो उतने समय के लिए लिया जाता है। बैंक इस प्रकार वित्तीय सहायता प्रदान करने में ग्राहक अथवा संस्था से जमानत के रूप में संपत्ति प्राप्त कर सकता है। अधिविकर्ष की सुविधा व्यक्तिगत साख पर भी दी जाती है।

4. विनिमय बिलों को मितिकांटे में भुनाना अथवा क्रय करना : व्यवसाय में भुगतान को भविष्य की तिथि के लिए स्थगित करने में जो प्रपत्र प्रयोग में लाए जाते हैं उन्हें 'विनिमय साध्य प्रपत्र' कहा जाता है जिसमें चेक, प्रतिज्ञापत्र एवं विनिमय बिल सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहार में भारतीय व्यावसायिक जगत में हुंडी का प्रयोग भी इन्हीं प्रपत्रों की भांति किया जाता है। बैंक इन प्रपत्रों में नियत भुगतान की तिथि से पहले ही विशेष रूप से विनिमय बिल एवं हुंडी को मितिकांटे में भुनाकर संस्था को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में बैंक इन प्रपत्रों को प्रत्यक्ष रूप से क्रय भी करते हैं। इससे प्रपत्र का धारक नियत तिथि से ही पहले निश्चित धनराशि प्राप्त कर लेता है और भुगतान के लिए प्रपत्र को प्रस्तुत करने की कठिनाई से मुक्त हो जाता है। दूसरी ओर बैंक इन प्रपत्रों को भुनाने में डिस्काउंट प्राप्त करता है और बैंक की इन प्रपत्रों में विनियोजित धनराशि सुरक्षित रहती है। बैंक इन प्रपत्रों को आवश्यकता पड़ने पर भारतीय रिजर्व बैंक से पुनः कटौती (डिस्काउंट) में भुना सकते हैं। भारतवर्ष में सुव्यवस्थित वित्त बाजार के अभाव के कारण यह प्रथा अधिक प्रचलित न हो सकी। परंतु 1970 के पश्चात भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वित करके इस पद्धति का प्रचलन बढ़ाया गया है (विशेष रूप से विदेशी विनिमय बिलों के लिए) और अब बैंकिग संस्थाएं अपनी

कुल वित्तीय सहायता का लगभग 20% तक विनिमय बिलों की खरीद एवं उनको मितिकाटे में भुनाने में विनियोजित कर रही हैं।

व्यापारिक साख

व्यावसायिक जगत में अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह पद्धति भी काफी प्रचलित है। विशेष रूप से यदि संस्था अन्य साधनों से उचित शर्तों में कार्यशील पूंजी के लिए पर्याप्त वित्त प्राप्त न कर सके तो ऐसी स्थिति में व्यापारिक साख एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है।

व्यापारिक साख एक ऐसी पद्धति है जिसके अंतर्गत वस्तुओं का उत्पादक अथवा थोक व्यापारी वस्तुओं के शीघ्र विक्रय के लिए ग्राहकों को वस्तुएं उधार बेचता है और उधार बिक्री की राशि 30 दिन से 90 दिन की अवधि के भीतर वसूल कर ली जाती है। इसी प्रकार उत्पादक भी कच्चा माल आदि उधार में खरीद कर कुछ समय तक भुगतान को स्थगित करके अपनी अल्पावधि की वित्तीय आवश्यकता पूरी कर लेता है। व्यापारिक साख मंजूर करने वाली संस्था पूंजी के इस विनियोजन के बदले में अलग से ब्याज प्राप्त नहीं करती है बल्कि उधार बेची गई वस्तुओं के मूल्य में ही इसकी व्यवस्था कर ली जाती है। व्यापारिक साख के लिए संपत्ति गिरवी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, यह पूर्ण रूप से व्यापारी अथवा ग्राहक की व्यक्तिगत साख एवं उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहती है।

व्यापारिक साख का विशेष रूप से प्रयोग मौसमी वस्तुओं के व्यवसाय में किया जाता है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादक को इस बात का अहसास रहता है कि यदि उत्पादित वस्तुएं उस विशेष मौसम में न बिकीं तो उन्हें वर्ष भर सुरक्षित रखना पड़ेगा जिससे उनके मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त उत्पादक उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल, जो किसी विशेष मौसम में ही उत्पादित होता है, कच्चे माल के वितरक से कुछ समय के लिए साख पर प्राप्त कर सकता है।

इस पद्धति से मुख्यतया वस्तुओं की बिक्री की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है और क्रेता को माल के मूल्य के भुगतान में सुविधा रहती है। परंतु इस पद्धति का प्रचलन बड़े पैमाने के व्यवसाय में दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है क्योंकि यह पद्धति केवल ग्राहकों को वस्तुएं उधार बेचने में अथवा उत्पादक से वस्तुएं उधार क्रय करने में ही इस्तेमाल की जाती रही है। इस पद्धति की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए इसे बड़े व्यवसाय के लिए कार्यशील पूंजी प्राप्त करने का साधन नहीं समझा जा सकता है क्योंकि व्यापारिक साख से वास्तव में पूंजी का निर्माण नहीं होता है बल्कि एक व्यापारी अथवा संस्था की कार्यशील पूंजी अप्रत्यक्ष रूप से ग्राहक अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा प्रयोग में लाई जाती है। फिर भी छोटे छोटे व्यापारी, थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी एवं लघुस्तरीय उत्पादक व्यापारिक साख द्वारा सीमित मात्रा में कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं।

किस्त उधार विधि

यदि विक्रेता उधार बेचे गए माल के मूल्य की वसूली क्रेता से विभिन्न किस्तों में प्राप्त करे तो इसे किस्त उधार विधि कहा जाता है। इस विधि का प्रयोग भी व्यापारिक साख की ही भांति सीमित है। व्यवहार में अधिकांश दशाओं में अधिक मूल्यवान वस्तुएं, जैसे वातानुकूल मशीन, दूरदर्शन, कपड़े धोने की मशीन आदि को क्रय करने के लिए उपभोक्ताओं द्वारा इस प्रकार अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्राप्त की जा सकती है।

कुछ दशाओं में उत्पादक भी मशीन तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का क्रय इसी विधि से करते हैं। इस विधि के अंतर्गत दो आधारों का प्रयोग किया जाता है : किराया क्रय पद्धति एवं किस्त भुगतान पद्धति। इन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि किस्त भुगतान पद्धति के अंतर्गत तो क्रेता एवं विक्रेता के बीच बिक्री का ठहराव हो जाने पर वस्तु का स्वामित्व क्रेता को हस्तांतरित हो जाता है और वह वस्तु के मूल्य का भुगतान निर्धारित किस्तों में करता रहता है जबकि उधार किराया क्रय पद्धति के अनुसार जब तक क्रेता अंतिम किस्त का भुगतान नहीं कर देता उसे क्रय की गई वस्तु का स्वामित्व प्राप्त नहीं हो पाता। यदि वह किसी किस्त को निर्धारित समय में चुकता नहीं करता तो विक्रेता उससे वस्तु वापस ले सकता है और प्राप्त किस्तों को वस्तु के प्रयोग का किराया समझ कर जब्त कर सकता है।

इस विधि में प्रमुख विशेषता यह है कि क्रेता को क्रय की गई वस्तु के मूल्य का भुगतान आसान किस्तों में करना पड़ता है। इस विधि को भी औद्योगिक संस्थाओं के लिए कार्यशील पूंजी प्राप्त करने का स्वतंत्र एवं पूर्ण साधन नहीं समझा जा सकता है।

उपभोक्ताओं से अग्रिम की प्राप्ति

कुछ विशेष दशाओं में वस्तुओं का उत्पादक उपभोक्ता के लिए उत्पादित वस्तु के मूल्य का कुछ हिस्सा वस्तु के उत्पादन से पहले ही अग्रिम के रूप में प्राप्त करके इससे अपनी कार्यशील पूंजी की आवश्यकता को पूरा कर लेता है। वस्तु का उत्पादन हो जाने के बाद इस प्रकार प्राप्त अग्रिम राशि को वस्तु के मूल्य में नियोजित करके वस्तु ग्राहक को बेच दी जाती है और बकाया राशि प्राप्त कर ली जाती है। इस साधन का प्रयोग निर्माणी उद्योग में संलग्न उत्पादन संस्थाएं करती हैं जिनमें ग्राहकों से अग्रिम प्राप्त करना परंपरागत बन चुका है, जैसे आवास गृह निर्माण तथा अन्य भवन निर्माण। यह साधन व्यापारिक साख तथा किस्त भुगतान प्रणाली की तुलना में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

कार्यशील पूंजी प्राप्त करने के ऊपर वर्णित साधनों में से 'बैंकों से ऋण' को छोड़ कर अन्य समस्त साधन परिपूर्ण नहीं हैं क्योंकि इनको किसी संस्था की कार्यशील पूंजी एवं स्थाई पूंजी का निर्धारण करने के लिए ध्यान में रखा जा सकता है, पर कुछ दशाओं को छोड़कर सामान्य दशाओं में, विशेष रूप से बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं के लिए इन्हें कार्यशील पूंजी का साधन समझना तर्कसिद्ध नहीं है। क्योंकि न तो किसी विशेष उद्योग में ये साधन पूर्ण प्रचलित हैं और न इनमें कार्यशील पूंजी प्राप्त करने की निरंतरता ही है। इनको केवल क्रय-विक्रय की शर्तें समझना अनुचित नहीं होगा।

व्यवहार में यह पाया जाता है कि संस्था अपनी कार्यशील पूंजी का स्थाई भाग तो मध्यकालीन स्रोतों से प्राप्त करती है और बाकी कार्यशील पूंजी बैंकों से प्राप्त की जाती है। अतः कार्यशील पूंजी प्रदान करने में अन्य साधनों का स्थान नगण्य है।

10

विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं

देश के तमाम उद्योगों को पर्याप्त पूंजी उपलब्ध कराने के लिए समय समय पर विभिन्न विशिष्ट वित्तीय संस्थाएं स्थापित की जाती रही हैं, क्योंकि बैंकों द्वारा इन उद्योगों को केवल अल्पकालीन (कुछ दशाओं को छोड़कर) वित्तीय सहायता प्रदान की गई है और ये उद्योग अपनी मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन पूंजी के लिए इन्हीं वित्तीय संस्थाओं पर काफी हद तक निर्भर हैं। इन विभिन्न विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली, विकास एवं औद्योगिक विकास में इनकी भूमिका को जानने से पहले औद्योगिक वित्तीय ढांचे को समझना आवश्यक है, क्योंकि ये वित्तीय संस्थाएं इसी औद्योगिक वित्तीय ढांचे के अंतर्गत कार्य करती हैं और इसी ढांचे के माध्यम से जनता एवं उद्योगों के बीच एक कड़ी स्थापित करती हैं। औद्योगिक वित्तीय ढांचा दो मुख्य भागों में विभक्त है, पूंजी बाजार एवं मुद्रा बाजार।

पूंजी बाजार

देश के औद्योगिक विकास के लिए एक सुव्यवस्थित पूंजी बाजार का विद्यमान होना आवश्यक है क्योंकि पूंजी बाजार के माध्यम से ही देश के उद्योगों को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्त प्राप्त होता है। पूंजी बाजार से हमारा तात्पर्य उन समस्त साधनों एवं विधियों से है जिनके माध्यम से जनता द्वारा बचाया गया धन दीर्घकाल एवं मध्यकाल के लिए उद्योगों में विनियोजित किया जाता है। पूंजी बाजार का मुख्य कार्य सरकार, व्यापार एवं उद्योग की वित्तीय आवश्यकता को जनता की (व्यक्तिगत बचत एवं संस्थागत बचत) बचतों द्वारा पूरा करना है। पूंजी बाजार की कार्यविधि में तीन मूल तत्व सम्मिलित हैं :

1. वे संस्थाएं (उद्योग, व्यापार तथा सरकार) जो वित्तीय आवश्यकताएं अनुभव करती हैं और जिन्हें वित्त प्रदान किया जाता है।
2. विनियोगकर्ता, इसमें विभिन्न व्यक्तिगत विनियोगकर्ता एवं संस्थागत विनियोगकर्ता सम्मिलित हैं जो अपनी बचतें विनियोजित करते हैं।
3. वे वित्तीय संस्थाएं जो व्यक्तिगत एवं संस्थागत बचतें आकर्षित करके उन व्यावसायिक संस्थाओं को प्रदान करती हैं जो वित्त की आवश्यकता अनुभव करती हैं। अर्थात ये संस्थाएं जनता तथा उद्योग, व्यापार एवं सरकार के बीच कड़ी का कार्य करती हैं।

मुद्रा बाजार

मुद्रा बाजार औद्योगिक वित्तीय ढांचे का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। इसके द्वारा उद्योगों को अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इसमें कार्य करने वाले मध्यस्थ

वाणिज्यिक बैंक, सहकारी बैंक, रिजर्व बैंक आफ इंडिया आदि हैं। व्यावहारिक रूप से पूंजी बाजार एवं मुद्रा बाजार में स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता है क्योंकि ये दोनों बाजार एक दूसरे पर आधारित हैं और एक दूसरे के पूरक एवं सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

भारतीय पूंजी बाजार को दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है :

1. सुव्यवस्थित पूंजी बाजार : इस भाग में सम्मिलित समस्त वित्तीय मध्यस्थ संस्थाओं की क्रियाओं में समन्वय बना रहता है और वे एक व्यवस्थित ढंग से उद्योग, व्यापार, कृषि एवं सरकार को विकास कार्यों के लिए दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्त प्रदान करती हैं।

2. अव्यवस्थित पूंजी बाजार : पूंजी बाजार का दूसरा भाग अव्यवस्थित पूंजी बाजार के नाम से जाना जाता है क्योंकि इसमें संलग्न मध्यस्थ वित्तीय संस्थाओं का आपस में कोई संपर्क नहीं रहता है और वे यदाकदा अपने अपने ढंग से, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि कार्य के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं, जैसे देशी बैंकर, महाजन आदि। इन संस्थाओं के द्वारा उपभोग के लिए भी वित्तीय सहायता दी जाती है। अब पूंजी बाजार के विकास में वृद्धि के फलस्वरूप अव्यवस्थित पूंजी बाजार का भाग दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है।

पूंजी बाजार जिन वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से कार्य करता है उनका अध्ययन भी दो भागों में किया जा सकता है : (1) विनियोग प्रन्यास एवं विनियोग कंपनियां, तथा (2) विकास बैंक।

विनियोग प्रन्यास

विनियोग प्रन्यास एक ऐसी वित्तीय संस्था है जो पूंजी के रूप में प्राप्त धन से, विशेष रूप से संयुक्त पूंजी कंपनियों को दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करती है। विनियोग प्रन्यास जनता की बचतों को आकर्षित करके पूंजी प्राप्त करती है और फिर उसे विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके विनियोजित करता है। दूसरे शब्दों में विनियोग प्रन्यास एक ऐसी मध्यस्थ वित्तीय संस्था है जो विनियोगकर्ताओं तथा औद्योगिक संस्थाओं के बीच संबंध स्थापित करती है, क्योंकि इनके द्वारा अपनी पूंजी जनता की बचतों को आकर्षित करके प्राप्त की जाती है और जिसका विनियोजन ये प्रन्यास औद्योगिक संस्थाओं में करते हैं। विनियोग प्रन्यास की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

(i) प्रन्यास अपनी पूंजी जनता में अंश एवं ऋणपत्र बेचकर प्राप्त करते हैं।

(ii) प्राप्त पूंजी का विनियोग इन प्रन्यासों के द्वारा औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों को क्रय करके किया जाता है।

(iii) विनियोजन विविधता के फलस्वरूप इन प्रन्यासों द्वारा अर्जित की जाने वाली आय की दर में संतुलन बना रहता है क्योंकि ये प्रन्यास विभिन्न प्रकार की कंपनियों की विभिन्न प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करते हैं।

(iv) विनियोजन विविधता के फलस्वरूप संतुलित दर की आय अर्जित करके प्रन्यासों में धन के विनियोगकर्ताओं को स्थिर एवं समान दर की आय प्राप्त होती है और आय की अनिश्चितता का जोखिम कम हो जाता है।

भारत में विनियोग प्रन्यासों का विकास : विनियोग प्रन्यास प्रारंभ से ही स्विट्जरलैंड तथा इंग्लैंड में काफी प्रचलित रहे हैं। सर्वप्रथम 1822 में बेल्जियम में विनियोग प्रन्यास की स्थापना की गई, पर भारतवर्ष में इनका उद्गम एवं विकास आधुनिक समझा जा सकता है क्योंकि इनका सही एवं विकसित रूप विशेष रूप से 1930 के पश्चात ही उभरा है।

1869 में भारत में 'भारत चीन वित्त संघ' के नाम से विनियोग प्रन्यास स्थापित किया गया था पर इसका कार्य संतोषजनक एवं प्रभावपूर्ण नहीं रहा। केवल 1930 के पश्चात ही विनियोग प्रन्यासों का पूर्ण विकास हो पाया। इसके पूर्व इनकी असफलता के मुख्य कारण निम्न हैं : (i) संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप का विकास देर से होने के कारण इन प्रन्यासों का कार्य क्षेत्र भी सीमित रहा और इस स्वरूप के प्रचलन से प्रन्यासों के विकास को भी प्रोत्साहन मिला।

(ii) भारत में 1913-14 एवं 1921-22 के दौरान कई संयुक्त पूंजी कंपनियों के असफल हो जाने से विनियोगकर्ताओं के विश्वास को ठेस पहुंची जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रन्यासों के विकास पर पड़ा।

(iii) इसके अतिरिक्त विनियोग में रूढ़िवादिता भी प्रन्यासों के विकास में बाधक रही है क्योंकि जिन लोगों के पास धन बचत के रूप में होता था वे इस बचत को प्रतिभूतियों में विनियोजित करने के बजाय संपत्ति क्रय कर लेते थे।

1933 में मैसर्ज प्रेमचन्द्र रायचन्द्र द्वारा वित्त विनियोग प्रन्यास की स्थापना की गई। इसके साथ ही कलकत्ता में बर्ड ऐंड कंपनी ने तीन प्रन्यासों की स्थापना की। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इनके विकास को और प्रोत्साहन मिला क्योंकि देश के बड़े बड़े उद्योगपतियों ने इनका महत्व समझते हुए इनके विकास में रुचि ली। 1957 के अंत तक विनियोग प्रन्यासों तथा विनियोग कंपनियों की संख्या 619 हो गई। इनमें से अधिकतर प्रन्यास एवं कंपनियां मैनेजिंग एजेंट्स द्वारा स्थापित एवं संचालित की गई। इसलिए इनकी कार्यप्रणाली में मुख्य दोष यह रहा है कि इन प्रन्यासों एवं कंपनियों द्वारा केवल उन कंपनियों की सहायक कंपनियों को वित्तीय सहायता प्रदान की गई जिनको पहले से ही ये प्रन्यास दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्त प्रदान करते आ रहे थे। विनियोग प्रन्यासों के विनियोजन में विविधता का पूर्ण अभाव था और इनका स्वरूप अमरीका में प्रचलित प्रबंध प्रन्यासों की भांति रहा। इसके संबंध में सर्राफ कमेटी ने यह सिफारिश की कि भारत में यूनिट ट्रस्ट की स्थापना की जाए ताकि संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र को इनके द्वारा वित्तीय सहायता दी जा सके और ये ट्रस्ट या प्रन्यास वास्तव में औद्योगिक विकास में सहायक हो सकें।

समस्त विनियोग प्रन्यासों को उनके स्वरूप, प्रबंध तथा विनियोजन विधि के अनुसार दो मुख्य भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (1) प्रबंध विनियोग प्रन्यास या विनियोग कंपनी, तथा (2) स्थिर विनियोग प्रन्यास।

प्रबंध विनियोग प्रन्यास : इस प्रकार के प्रन्यासों की प्रकृति संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति होती है। विशेष रूप से अमरीका, इंग्लैंड एवं भारतवर्ष में इनकी स्थापना कंपनी अधिनियम के अंतर्गत की गई है। इन प्रन्यासों का प्रबंध एवं संचालन भी संयुक्त पूंजी कंपनी की भांति संचालक मंडल द्वारा किया जाता है। ये विनियोग प्रन्यास निर्गमित अंश एवं ऋणपत्रों को जनता में बेच कर अपनी पूंजी एकत्र करते हैं और इस पूंजी का विनियोजन विभिन्न कंपनियों में उनके द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके किया जाता है। इन प्रतिभूतियों से प्राप्त ब्याज एवं लाभांश इन प्रन्यासों की आय होती है और इसी आय में से प्रन्यासों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में ब्याज एवं लाभांश दिया जाता है। इस प्रकार के प्रन्यासों की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अंतरनियमों में पूंजी के विनियोजन से संबंधित प्रतिबंधों की या तो कोई व्यवस्था नहीं होती है और या ये प्रतिबंध नाममात्र के होते हैं। इससे संचालकों को विनियोजन के लिए प्रतिभूतियों का चुनाव करने की काफी स्वतंत्रता रहती है। विनियोग प्रन्यासों का मुख्य सिद्धांत यह है कि इनकी प्रतिभूतियां (सामान्य अंश) क्रय करने वाला विनियोगकर्ता विभिन्न कंपनियों का आंशिक रूप

से स्वामी बन जाता है चाहे उसने प्रन्यास की प्रतिभूतियां कम संख्या में खरीदी हों अथवा अधिक संख्या में। भारत में लगभग समस्त विनियोग प्रन्यास इसी प्रकार के हैं। 1970 से पहले इन प्रन्यासों का प्रबंध एवं संचालन मैनेजिंग एजेंसी संस्थाओं द्वारा किया जाता था। इनको 'विनियोग कंपनी' की संज्ञा दी गई थी क्योंकि ये प्रन्यास केवल उन कंपनियों में प्रन्यास की पूंजी का विनियोजन करते थे जो इनके द्वारा संचालित एवं प्रबंधित की जाने वाली कंपनी की सहायक कंपनी होती थीं और इस प्रकार धन के विनियोजन से विनियोजन संस्था तथा उसके अंशधारियों के प्रन्यास का कोई संबंध नहीं रहता था।

प्रबंध विनियोग प्रन्यास के लाभ इस प्रकार हैं :

1. प्रन्यासों द्वारा किए गए विनियोजन अधिक विवेकपूर्ण एवं स्थिर आय वाले समझे जाते हैं क्योंकि इन प्रन्यासों के अंतरनियमों में विनियोजन संबंधी प्रतिबंध नहीं लगे रहते हैं। इससे संचालक गण अपनी चतुराई एवं कुशलता से धन का विनियोजन विभिन्न कंपनियों में कर सकते हैं और इस प्रकार विनियोग में विविधता से अर्जित की जाने वाली आय की दर में स्थिरता बनी रहती है। इसका प्रत्यक्ष लाभ प्रन्यास में धन के विनियोग-कर्ताओं को होता है क्योंकि उनको प्राप्त होने वाली आय में अनिश्चितता समाप्त हो जाती है।

2. ये प्रन्यास अर्जित आय में से कुछ हिस्सा संचित कोषों में हस्तांतरित करके अनुकूल विनियोग अवसर प्राप्त होते ही इन कोषों का पुनर्विनियोजन कर देते हैं जिससे इसमें धन के विनियोगकर्ताओं को अतिरिक्त आय प्राप्त हो सकती है।

3. प्रन्यासों द्वारा किए जाने वाले विनियोग में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा सकते हैं। इससे विनियोगकर्ताओं का मूलधन भी अधिक सुरक्षित रहता है क्योंकि यदि किसी कंपनी की आर्थिक दशा एवं लाभ क्षमता संतोषजनक नहीं है तो संचालक गण उसकी प्रतिभूतियों को बेचकर अन्य कंपनियों में धन का विनियोजन कर सकते हैं।

4. उपरोक्त लाभों के अतिरिक्त प्रन्यासों द्वारा धन का विनियोजन करने से समाज के धन का सदुपयोग संभव है क्योंकि प्रन्यासों द्वारा एकत्रित धन की उपलब्धि केवल उन्हीं कंपनियों को हो पाएगी जिनकी लाभक्षमता एवं आर्थिक स्थिति संतोषजनक है।

5. ये प्रन्यास औद्योगिक संस्थाओं एवं जनता के बीच संबंध स्थापित करते हैं और जनता में बचत की भावना जाग्रत करके उन्हें विनियोजन के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

6. लगभग प्रत्येक प्रन्यास निर्गमित प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन करा लेते हैं। इससे प्रतिभूतियों में तरलता तथा विपणनता के गुण उत्पन्न होते हैं और विनियोगकर्ता को आवश्यकता पड़ने पर इन प्रतिभूतियों को बेचने में आसानी होती है।

7. अंत में यह कहा जा सकता है कि ये विनियोग प्रन्यास विनियोग में विभिन्न गुण उत्पन्न करके एक ओर जनता में बचत की भावना जाग्रत करते हैं और उन्हें विनियोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं, दूसरी ओर इस प्रकार प्राप्त धन से औद्योगिक संस्थाओं की वित्तीय आवश्यकताएं पूरी करने में सहायता प्रदान करते हैं।

स्थिर विनियोग प्रन्यास : स्थिर विनियोग प्रन्यास ऐसे प्रन्यास हैं जो कंपनियों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके उनके स्वामित्व को जनता में आंशिक रूप से छोटे छोटे भागों में विभाजित करते हैं। इन प्रन्यासों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके द्वारा स्वयं कोई प्रतिभूति निर्गमित नहीं की जाती है, बल्कि ये प्रन्यास कंपनियों की प्रतिभूतियां क्रय करके उनको अपने पास रख लेते हैं, फिर इन प्रतिभूतियों को छोटे छोटे भागों में बांटकर विनियोगकर्ताओं में बेच देते हैं और उनको 'भागीदार प्रमाणपत्र' जारी करते हैं। प्रन्यासों द्वारा क्रय की गई प्रतिभूतियों के मूल प्रमाणपत्र बीमा कंपनियों या बैंकिंग कंपनियों के पास सुरक्षित रख दिए जाते हैं। प्रन्यासों को कंपनियों की प्रतिभूतियों से जो आय प्राप्त

होती है उसको भागीदार प्रमाणपत्रों के अनुपात में सदस्यों को बांट देते हैं।

प्रबंध विनियोग प्रन्यासों तथा स्थिर विनियोग प्रन्यासों में मूल अंतर यह है कि स्थिर विनियोग प्रन्यास अपनी कोई प्रतिभूति निर्गमित नहीं करते हैं। इनके द्वारा जिन कंपनियों की प्रतिभूतियां क्रय की जाती हैं उनकी सूची पहले से ही तैयार कर ली जाती है और केवल उन्हीं प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त इनके सदस्य यदि अपना हिस्सा बेचना चाहते हैं तो वे केवल अपने हिस्से के प्रन्यास को ही बेच सकते हैं।

स्थिर विनियोग प्रन्यास से होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं :

1. इन प्रन्यासों के माध्यम से धन के विनियोजन में निश्चितता बनी रहती है क्योंकि विनियोगकर्ता को पूर्व निर्धारित सूची से यह ज्ञात रहता है कि किन प्रतिभूतियों में उनका धन विनियोजित हो रहा है।

2. विनियोगकर्ताओं के हित पूर्णतया सुरक्षित रहते हैं क्योंकि इन प्रन्यासों के प्रबंधक अपनी इच्छानुसार धन के विनियोजन को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं।

3. प्रन्यास द्वारा क्रय की गई प्रतिभूतियों से संबंधित मूल प्रमाणपत्र बीमा कंपनियों तथा बैंकिंग कंपनियों के पास सुरक्षित रहते हैं। इससे विनियोगकर्ताओं को प्रन्यास में पूर्ण विश्वास बना रहता है।

4. इन प्रन्यासों द्वारा कंपनियों की प्रतिभूतियां क्रय करके उनको छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त कर दिया जाता है और इससे कम आय वाले व्यक्ति भी अपना धन कंपनियों में विनियोजित कर पाते हैं।

स्थिर विनियोग प्रन्यास में कुछ दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं : स्थिर विनियोग प्रन्यासों द्वारा धन के विनियोजन में जहां एक ओर निश्चितता का तत्व विद्यमान है वहीं दूसरी ओर लोच का अभाव भी बना रहता है क्योंकि जिन कंपनियों की प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन किया जाना है उनको पहले से ही निर्धारित कर लिया जाता है। इससे लोच के अभाव के साथ साथ विनियोजन में विविधता भी कम हो सकती है। इसके अतिरिक्त इन प्रन्यासों में धन का विनियोजन करके जो भागीदार प्रमाणपत्र प्राप्त किए जाते हैं उनकी विपणनता एवं तरलता प्रबंध विनियोग विन्यासों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों की तुलना में बहुत ही कम होती है क्योंकि स्थिर विनियोग प्रन्यासों द्वारा जारी भागीदार प्रमाणपत्र प्रन्यास को ही वापस बेचे जा सकते हैं।

उपरोक्त विनियोग प्रन्यासों के अतिरिक्त उद्योगों के लिए पूंजी प्रदान करने में कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय संस्थाओं का योगदान भी रहा है जिनका वर्णन हम यहां कर रहे हैं।

यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया

स्थापना

भारत में यूनिट ट्रस्ट का विकास काफी आधुनिक है। इससे पहले देश के औद्योगिक वित्तीय ढांचे में जो विनियोग प्रन्यास तथा विनियोग कंपनियां कार्य कर रही थीं उनकी कार्यप्रणाली में विनियोजन में विविधता के अभाव से आय की अनिश्चितता एवं केवल गिने चुने उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना, मुख्य दोष थे। इन्हीं दोषों को दृष्टि में रख कर भारत सरकार ने 1963 में यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया ऐक्ट पास करके 'यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया' की स्थापना की। इसने अपना कार्य फरवरी 1964 से आरंभ किया तथा ट्रस्ट द्वारा यूनिटों की बिक्री जुलाई 1964 से प्रारंभ की गई। यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया की स्थापना का मुख्य उद्देश्य कम आय वाले व्यक्तियों में बचत को प्रोत्साहित

करना, इन बचतों को उद्योगों में विनियोजित करके उन्हें उत्पादन एवं वितरण के साधनों के नियंत्रण में भागीदार बनाना है, इससे अपनी बचतों को ट्रस्ट के माध्यम से विभिन्न कंपनियों में विनियोजित करके निश्चित दर की आय प्राप्त की जा सकती है और दूसरी ओर देश के तमाम उद्योगों को आवश्यक वित्त प्रदान करके देश के औद्योगिक विकास की गति भी तेज होगी।

पूंजी

यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया की स्थापना 5 करोड़ रुपए की पूंजी से की गई और कुल पूंजी का आधा भाग भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा लगाया गया। इसकी कुल पूंजी का विभाजन इस प्रकार है :

भारतीय रिजर्व बैंक	2.5 करोड़ रु०
बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएं	1.00 करोड़ रु०
भारतीय स्टेट बैंक	.75 करोड़ रु०
जीवन बीमा निगम	.75 करोड़ रु०
	5.00 करोड़ रु०

इसके अलावा ट्रस्ट आवश्यकतानुसार भारतीय रिजर्व बैंक से तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण भी प्राप्त कर सकता है।

प्रबंध एवं संचालन

यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण ट्रस्टी मंडल द्वारा किया जाता है जिसमें से अध्यक्ष सहित 6 कार्यकारी सदस्य भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। एक एक सदस्य भारतीय स्टेट बैंक तथा जीवन बीमा निगम द्वारा और दो सदस्य बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

विनियोग नीति : ट्रस्टी मंडल ट्रस्ट की पूंजी का विनियोजन करते समय मुख्य रूप से निम्न तीन बातें ध्यान में रखता है : (i) विनियोग की सुरक्षा, (ii) विनियोजित पूंजी पर उचित दर की आय, (iii) विनियोग की विविधता (डायवर्सिफिकेशन आफ इन्वेस्टमेंट्स)। इस संबंध में यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया ऐक्ट के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि ट्रस्ट किसी एक कंपनी में अपने कुल विनियोजित धन का 5% या उस कंपनी द्वारा निर्गमित कुल प्रतिभूतियों के 10% (इन दोनों में जो कम हो) से अधिक धन विनियोजित नहीं कर सकता है और किसी नई कंपनी में ट्रस्ट के कुल विनियोजन के 5% से अधिक विनियोजित नहीं किया जा सकता है। ऐक्ट में यह व्यवस्था इसलिए की गई है कि विनियोग में विविधता बनी रहे। इसके अतिरिक्त ट्रस्ट अपनी पूंजी को विभिन्न कंपनियों की विभिन्न प्रतिभूतियों में इस प्रकार संयोजित रूप से विनियोजित करता है ताकि इसे कम से कम 6% वार्षिक आय प्राप्त हो सके।

यूनिट योजना : ट्रस्ट अपनी पूंजी प्राप्त करने के लिए जनता में यूनिट भी बेचता है। प्रत्येक यूनिट का अंकित मूल्य 10 रु० है और इनको 10 के गुणक में कितनी ही संख्या में खरीदा जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर यूनिट का धारक अपनी यूनिट को ट्रस्ट द्वारा निर्धारित मूल्य पर ट्रस्ट को पुन: बेच सकता है। ट्रस्ट द्वारा प्राप्त आय को आय कर से मुक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त यूनिट के धारक को ट्रस्ट में विनियोजन के फलस्वरूप प्राप्त आय 3000 रु० तक के लिए आय कर से मुक्त कर दिया गया है।

कार्यविधि का विश्लेषण : (अ) यूनिटों की बिक्री : ट्रस्ट ने 1965-66 में कुल 2.15 करोड़ रु० के यूनिटों की बिक्री की जो 1966-67 में 9.24 करोड़ रु० तथा 1967-68 में

15.34 करोड़ रु० हो गई। यूनिटों में धन के विनियोजन के लाभों से प्रभावित होने के कारण इनकी बिक्री 1973-74 तक 30.31 करोड़ रु० हो गई।
(ब) लाभ दर : ट्रस्ट द्वारा 1964-65 में 6.1% का लाभांश वितरित किया गया जो 1967 में 7% रहा।

जनता में यूनिटों को अधिक प्रचलित करने के उद्देश्य से सरकार ने 1975 में आय-कर से मुक्ति की सीमा 3000 रु० से बढ़ाकर 5000 रु० कर दी।
(स) यूनिट ट्रस्ट द्वारा धन का विनियोजन : यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया अपनी पूंजी का विनियोजन मुख्य रूप से विभिन्न कंपनियों के सामान्य अंशों, पूर्वाधिकार अंशों तथा ऋण-पत्रों में करता रहा है। 1965 से जून 1976-77 तक इन विभिन्न प्रतिभूतियों में पूंजी के विनियोजन की स्थिति निम्न रही है।

(करोड़ रु० में)

	1965	1970	1971	75-76	76-77
सामान्य अंश	9.6	31.55	39.66	86.33	92.60
पूर्वाधिकार अंश	1.9	11.92	13.08	16.14	15.72
ऋण पत्र	9.3	37.18	40.84	55.06	60.04

उपर्युक्त स्थिति से यह स्पष्ट होता है कि एक ओर तो ट्रस्ट ने मूलधन की सुरक्षा बनाए रखने के लिए निश्चित व्याज वाले ऋणपत्रों में धन का विनियोजन लगातार रूप से बढ़ाया है और दूसरी तरफ सामान्य अंशों में भी विनियोजन की काफी वृद्धि हुई है। इसमें अधिक जोखिम के साथ साथ संपूर्ण विनियोजन में आय का संतुलन बनाए रखा गया है क्योंकि सामान्य अंशों में विनियोजन से अधिक आय कमाने की संभावना भी बनी रहती है।

यूनिट ट्रस्ट ने जिन विभिन्न उद्योगों में अपनी पूंजी विनियोजित की है उनमें से सबसे अधिक विनियोजन कपड़ा उद्योग में किया गया है जो कुल विनियोजित पूंजी का 16.19% है। विनियोजन का प्रतिशत इंजीनियरिंग उद्योग में 13.86% रहा है। केमिकल्स तथा फारमेसीयूरिकल में 13.72% और बिजली उत्पादन एवं वितरण में 8.60% विनियोजन है।

कार्य प्रणाली में दोष : यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया द्वारा औद्योगिक वित्त प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद इसकी कार्य प्रणाली में कुछ दोष निहित हैं।

1. यूनिट ट्रस्ट में धन का विनियोजन करने से विनियोगकर्ता को केवल स्थिर एवं निश्चित दर का लाभांश एवं ब्याज ही प्राप्त हो सकता है। मूलधन में वृद्धि का लाभ यूनिट के धारक को प्राप्त नहीं होता है।

2. यूनिट का धारक ट्रस्ट के माध्यम से अपना धन कंपनियों की प्रति भूतियों में विनियोजित तो करता है पर उसे उन कंपनियों के प्रबंध एवं संचालन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

3. ट्रस्ट के द्वारा निर्गमित यूनिटों में तरलता एवं विपणनता का अभाव होता है क्योंकि इनको संयुक्त पूंजी कंपनी के अंशों एवं ऋणपत्रों की भांति आवश्यकता पड़ने पर किसी भी तीसरे पक्षकार को हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है। यूनिट का धारक यदि यूनिट बेचना चाहता है तो वह अपने यूनिटों को केवल ट्रस्ट को वापस बेच सकता है।

4. इसके अतिरिक्त यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया द्वारा निर्गमित यूनिटों का विक्रय बड़े बड़े शहरों तक ही सीमित है, जैसे बंबई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली आदि और आम संभावित विनियोगकर्ता अपना धन यूनिट क्रय करके विनियोजित नहीं कर पाता है।

निष्कर्ष : यूनिट ट्रस्ट के बारे में ऊपर किए गए वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह ट्रस्ट

देश के औद्योगिक विकास के लिए वित्त प्रदान करने में सहायक सिद्ध है। इस ट्रस्ट को पूर्णतया उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी कार्यप्रणाली में विद्यमान दोषों को दूर किया जाए। इसके लिए कुछ सुझाव दिए जा सकते हैं। प्रथम, इस ट्रस्ट के कार्य क्षेत्र का विस्तार किया जाए ताकि छोटे छोटे शहरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों से भी इसके माध्यम से छोटी छोटी बचतें आकर्षित की जा सकें। द्वितीय, बचतों को आकर्षित करने के लिए इसके द्वारा निर्गमित यूनिटों को पूंजी बाजार में हस्तांतरणीय बनाया जाए ताकि इनमें भी तरलता एवं विपणनता के गुण उत्पन्न करके संभावित विनियोगकर्ताओं को धन के विनियोजन के लिए प्रेरित किया जा सके और जनता से अधिक बचतें एकत्रित करके उन्हें औद्योगिक क्षेत्र में विनियोजित किया जा सके।

औद्योगिक वित्त निगम

स्थापना एवं उद्देश्य

विकसित बैंकिंग सुविधाओं के अभाव में तथा सुव्यवस्थित पूंजी बाजार की अनुपस्थिति में देश के औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने के लिए देश के बड़े बड़े उद्योगों को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन वित्त की सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से स्वतंत्रता के बाद 1948 में संसद में विशेष कानून पास करके औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की गई। इसका मुख्य उद्देश्य देश के सार्वजनिक एवं सहकारी क्षेत्र के बड़े बड़े उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है (विशेष रूप से वे संस्थाएं जो प्रतिभूतियां निर्गमित करके अथवा बैंक आदि से आवश्यक वित्त एकत्र नहीं कर पा रही थीं)।

इससे संबंधित विधान के अंतर्गत वे उद्योग आते हैं जिनको यह निगम वित्तीय सहायता प्रदान करता है। परिभाषा के अनुसार यह निगम सार्वजनिक तथा सहकारी क्षेत्र के उन उद्योगों को वित्त प्रदान करेगा जो उत्पादन कार्य में, संरक्षण (प्रीजर्वेशन), खनन कार्य, जहाजी कार्य, होटल उद्योग, बिजली तथा ऊर्जा उत्पन्न करने तथा वितरित करने में संलग्न हों। एकल व्यापार निजी कंपनियां, सरकारी कंपनियां, लघु उद्योग इस निगम के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते हैं।

पूंजी प्राप्त करने के साधन

इस निगम की स्थापना 0 करोड़ रु० की अधिकृत अंश पूंजी से की गई थी, जो 5,000 रु० के 20,000 अंशों में विभक्त है। प्रारंभ में केवल 5 करोड़ रु० के अंश निर्गमित किए गए। 1974 तक निगम ने अपनी पूरी अधिकृत पूंजी 10 करोड़ रु० की निर्गमित कर दी। इस निगम द्वारा निर्गमित अंश क्रय करने के लिए व्यक्ति विशेष को प्रतिबंधित किया गया है। प्रारंभ में इस निगम की पूंजी पूर्णतया भारतीय रिजर्व बैंक तथा भारतीय सेंट्रल बैंक द्वारा लगाई गई थी परंतु औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना के बाद इस निगम की 50% पूंजी विकास बैंक ने लगाई है। पूंजी का बाकी हिस्सा बीमा कंपनियों, व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों द्वारा लगाया गया है। अंशपूंजी के अतिरिक्त यह निगम अपने ऋणपत्र निर्गमित कर सकता है तथा भारतीय रिजर्व बैंक एवं औद्योगिक विकास बैंक से ऋण भी ले सकता है।

1970 से 1977 तक इस निगम द्वारा पूंजी प्राप्त करने के साधनों की स्थिति पृष्ठ 241 की तालिका द्वारा दिखाई गई है।

(लाख रुपए में)

	1969-70	70-71	72-73	74-75	1976	1977
चुकता पूंजी	835	835	917	1000	1000	1000
संचित कोष	1005	1146	1424	1719	1864	2001
ऋणपत्र	5274	5769	7201	9817	12719	16786
भारतीय रिजर्व बैंक से ऋण	—	166	—	—	—	20
औद्योगिक विकास बैंक से ऋण	—	—	—	500	500	500
केंद्रीय सरकार से ऋण	8099	7904	7135	6347	5906	5443
विदेशी विनिमय	2072	2112	2400	2271	2178	2198
अन्य स्रोतों से	3487	3231	2711	3522	3159	2952

उपर्युक्त आंकड़ों से यह विदित होता है कि निगम के लिए ऋणपत्र निर्गमन पूंजी प्राप्त करने का सबसे प्रमुख साधन रहा है। इसके अतिरिक्त निगम ने संचित कोषों का निर्माण करके भी अपनी वित्तीय आवश्यकताएं पूरी की हैं। संचित कोषों की राशि जो 1969-70 में 1005 लाख रु० की थी 1977 तक 2001 लाख हो गई। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहां तक निगम द्वारा धन के विनियोजन पर प्राप्त आय का प्रश्न है, उसने लगातार उचित दर की आय अर्जित की है। पर्याप्त लाभों की उपलब्धि से ही इन संचित कोषों का निर्माण संभव हुआ है।

प्रबंध एवं संचालन

इस निगम का प्रबंध एवं संचालन संचालक मंडल द्वारा किया जाता है। संचालक मंडल में मनोनीत एवं चुने गए दोनों प्रकार के संचालक होते हैं। संचालक मंडल के अध्यक्ष की नियुक्ति केंद्रीय सरकार द्वारा की जाती है। अध्यक्ष के अतिरिक्त मंडल में 12 अन्य संचालक भी होते हैं, जिनमें से 2 संचालक केंद्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं, 4 संचालक विकास बैंक द्वारा और बाकी 6 संचालकों का चुनाव संस्थागत अंशधारियों द्वारा किया जाता है।

वित्तीय सहायता का स्वरूप

औद्योगिक वित्त निगम औद्योगिक संस्थाओं को विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत वित्तीय सहायता प्रदान करता है जिसमें मुख्य प्रचलित स्वरूप निम्न हैं :

(अ) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिए गए ऋणों (जो 25 वर्ष के भीतर देय हों) के लिए गारंटी देना,

(ब) औद्योगिक संस्थाओं को 25 वर्ष के भीतर देय ऋण मंजूर करना,

(स) संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना, लेकिन इस संबंध में निगम के लिए यह आवश्यक है कि अभिगोपन की गई प्रतिभूतियां 7 वर्ष के भीतर बेची जाएं,

(द) औद्योगिक संस्थाओं के ऋणपत्र एवं अंश प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके,

(य) औद्योगिक संस्थाओं को केंद्रीय सरकार तथा विश्व बैंक से आर्थिक सहायता दिलाने में एजेंट का कार्य करना,

(र) आयातकर्ताओं को आयातित पूंजीगत सामान के मूल्य का भुगतान स्थगित कराने में गारंटी देना,

(ल) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों से लिए जाने वाले ऋण के लिए गारंटी देना।

इससे यह स्पष्ट होता है कि औद्योगिक वित्त निगम विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत आवश्यकतानुसार, अलग अलग परिस्थितियों में अलग अलग स्वरूप का प्रयोग करके वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है जो वास्तव में औद्योगिक विकास के लिए मूल्यवान सिद्ध हुई है। निगम ने नई संस्थाओं की स्थापना तथा विद्यमान संस्थाओं के आधुनिकीकरण, नवीकरण एवं विस्तार के लिए आवश्यक वित्त की सुविधा उपलब्ध कराके औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने में सहायता की है।

कार्य प्रणाला

औद्योगिक वित्त निगम ऐसी पहली संस्था है जिसकी स्थापना प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता एवं सुविधाएं प्रदान करने के लिए की गई है। इस निगम द्वारा अपनी पूंजी का अधिकांश औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके, उनका अभिगोपन करके तथा प्रत्यक्ष रूप से ऋण के रूप में प्रदान किया है। इसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(लाख रुपए में)

	1969-70	70-71	72-73	ज०75	ज० 76
अंशों का क्रय	1104	1201	1279	1488	1645
ऋणपत्रों का क्रय	669	611	602	441	365
प्रत्यक्ष ऋण एवं अग्रिम	14970	15571	17583	20767	21660
ऋणों की गारंटी एवं अभिगोपन	2506	2191	1476	889	701

इन आंकड़ों को आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि निगम ने औद्योगिक संस्थाओं की वित्तीय समस्याओं की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए अधिकांश दशाओं में उन्हें प्रत्यक्ष रूप से ऋण एवं अग्रिम के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त अंश क्रय करके पूंजी के विनियोजन में लगातार वृद्धि की है और दूसरी ओर ऋणपत्रों में धन के विनियोजन को लगातार कम किया गया है। इसी प्रकार अभिगोपन कार्य तथा ऋणों की गारंटी के स्वरूप को भी अधिक महत्व नहीं दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि निगम औद्योगिक संस्थाओं को प्रत्यक्ष ऋण एवं अग्रिम प्रदान करता रहा है। इससे अन्य स्वरूपों की महत्ता स्वाभाविक रूप से कम हो गई है।

इस निगम ने अपनी कुल वित्तीय सहायता का महत्वपूर्ण भाग चीनी उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग, रसायन उद्योग तथा उर्वरक उद्योगों को वितरित किया है। ये उद्योग मुख्य रूप से 14 राज्यों में तथा 1 केंद्र शासित राज्य के अंतर्गत हैं। राज्यों के अनुसार इस निगम ने सबसे अधिक वित्तीय सहायता महाराष्ट्र में स्थित उद्योगों को दी है।

वित्तीय सहायता के अतिरिक्त इस निगम ने औद्योगिक संस्थाओं को प्रबंध के क्षेत्र में भी सहायता दी है। निगम ने 1973 में एक 'प्रबंध विकास संस्था' की स्थापना की। इस संस्था द्वारा प्रबंध की आधुनिक विधियों के बारे में प्रबंधकों को प्रशिक्षण दिया जाता है और निगम के संचित कोषों से प्रबंध के क्षेत्र में शोधकार्य के लिए विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त होटल उद्योग को विकसित करने के लिए निगम ने 'होटल विकास कोष' की भी स्थापना की है जिसके द्वारा होटल उद्योग को विभिन्न प्रकृति की वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

कार्य प्रणाली में दोष : इस निगम की कार्यपद्धति का विश्लेषण करने से यह व्यक्त होता है कि निगम ने अधिकांश दशाओं में बड़े बड़े उद्योगों को विस्तार आदि के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता प्रदान की है जिसके फलस्वरूप इन उद्योगों में आर्थिक साधनों के एकत्री-

करण को प्रोत्साहन मिला है। इस संबंध में 'महालानोविस कमेटी' ने इसकी कार्यपद्धति के बारे में जो रिपोर्ट दी थी उसमें भी मुख्य रूप से यही कहा गया था कि अन्य वित्तीय संस्थाओं की तुलना में इस निगम की कार्य पद्धति से आर्थिक साधनों के एकत्रीकरण की संभावना अधिक है। इस निगम की कार्य पद्धति में निम्न दोष बताए गए हैं :

(अ) निगम इसके द्वारा उपलब्ध कराए गए वित्त पर पूर्णरूप से नियंत्रण नहीं रख सका जिसके फलस्वरूप उद्योगों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि नहीं हो सकी। निगम ने कुल वित्तीय सहायताओं का अधिकांश प्रत्यक्ष ऋण के रूप में प्रदान किया है। इससे निगम संस्थाओं के कार्य संचालन में आवश्यक हस्तक्षेप नहीं कर सका।

(ब) निगम द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करने में विभिन्न उद्योगों के प्रति पक्षपात का व्यवहार अपनाया है।

(स) यह निगम पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना एवं विस्तार के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करने में पूर्णतया असफल रहा है।

(द) निगम द्वारा विशेष रूप से उन औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान की गई जिनकी लाभ कमाने की क्षमता तुलनात्मक रूप से काफी अच्छी थी और जो अन्य स्रोतों से वित्त प्राप्त कर सकती थीं।

(य) इसके अतिरिक्त ऋण वितरण में अधिक समय लगना, ऊंची ब्याज की दर और गिने चुने उद्योगों को विशेष महत्व दिया जाना आदि के कारण भी इसकी कार्य पद्धति की आलोचना की जाती रही है।

निष्कर्ष : निगम की कार्य पद्धति के मुख्य दोषों एवं कमियों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1964 में औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना करके इस निगम को बैंक की सहायक कंपनी का स्वरूप प्रदान किया तथा 50% अंशपूंजी केंद्रीय सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा औद्योगिक विकास बैंक को हस्तांतरित कर दी गई। इसके फलस्वरूप निगम के विधान में रचना तथा कार्य संचालन में आवश्यक परिवर्तन किए गए। अब यह निगम औद्योगिक विकास बैंक के नियंत्रण में कार्य कर रहा है। इसकी कार्य प्रगति (विशेष रूप से 1974 में) संतोषजनक रही है क्योंकि इस वर्ष निगम ने 3.95 करोड़ रुपए का शुद्ध लाभ कमाया है। इसके अतिरिक्त निगम ने प्रतिवर्ष अपने संचित कोष की राशि में लगातार वृद्धि की है जो 1977 तक 2009 लाख रुपए हो गई है। अंत में यह कहना उचित होगा कि यह निगम दृढ़ एवं स्वस्थ व्यावसायिक नीतियों का अनुसरण करते हुए देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

राज्य वित्त निगम

स्थापना एवं उद्देश्य

औद्योगिक वित्त निगम द्वारा संपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में केवल सार्वजनिक एवं सहकारी क्षेत्र की बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं को ही वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इसीलिए देश के औद्योगिक विकास को संतुलित बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि लघु उद्योगों एवं मध्यस्तरीय उद्योगों को भी पर्याप्त वित्त उपलब्ध कराके इन क्षेत्रों को भी विकसित किया जाए। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1951 में संसद में 'राज्य वित्त निगम अधिनियम' पास करके प्रत्येक राज्य सरकार को इस अधिनियम के अंतर्गत अपने अपने राज्य में स्थानीय राज्य निगम स्थापित करने की अनुमति दी। यह अधिनियम 1952 से लागू हुआ।

पूंजी के साधन

अधिनियम के अंतर्गत राज्य वित्त निगमों की अंश पूंजी की सीमा 50 लाख रु० से लेकर 5 करोड़ रु० तक निर्धारित की गई। प्रत्येक निगम अपनी कुल अंश पूंजी का 25% तक आम जनता में अंश बेचकर प्राप्त कर सकता है और अंश पूंजी का बाकी हिस्सा राज्य सरकार, भारतीय रिजर्व बैंक, व्यापारिक बैंक तथा बीमा कंपनियों द्वारा लगाया जा सकता है। राज्य वित्त निगम अपनी चुकता पूंजी एवं संचित कोषों के 5 गुने राशि तक के ऋणपत्र भी निर्गमित कर सकता है तथा ऐसे निगम जनता से 5 वर्ष से कम अवधि की जमा भी स्वीकार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राज्य वित्त निगम औद्योगिक विकास बैंक से पुर्नवित्त की सुविधा प्राप्त कर सकते हैं।

सारे देश में अभी कुल 18 राज्य निगम कार्य कर रहे हैं। 1977 में इनकी कुल चुकता पूंजी 4449 लाख रु० थी। लगभग समस्त राज्य निगमों ने ऋणपत्र भी निर्गमित किए हैं जिनकी कुल राशि 1977 में 17796 लाख रु० है। कुछ राज्य निगमों द्वारा जनता से जमा भी स्वीकार किए गए। 1969-70 से लेकर 1977 तक इनके पूंजी के साधनों की स्थिति निम्न थी :

(लाख रुपए में)

	1969-70	71-72	73-74	ज०76	ज०77
चुकता अंश पूंजी	2071	2316	2632	3679	4449
संचित कोष	47	73	92	172	195
ऋणपत्र	5997	8204	11520	15052	177.96
भारतीय रिजर्व बैंक से ऋण	257	468	448	1275	470
विकास बैंक से ऋण	2238	4296	6406	11479	16558
अन्य साधन	301	328	339	166	13

उपर्युक्त तालिका इस बात की ओर संकेत करती है कि राज्य वित्त निगमों की कुल पूंजी में ऋणपत्र निर्गमन एवं औद्योगिक विकास बैंक द्वारा प्रदान किए गए ऋणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके अतिरिक्त राज्य वित्त निगमों ने प्रतिवर्ष अपने लाभ संचित कोषों में निरंतर वृद्धि की है जो इनकी प्रगति का द्योतक है।

प्रबंध

निगम का प्रबंध एवं संचालन आम तौर से 10 संचालकों के संचालक मंडल द्वारा चलाया जाता है जिसमें से 4 संचालक (प्रबंध संचालक सहित) संबंधित राज्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं, 1 संचालक भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा, 1 औद्योगिक विकास बैंक द्वारा बाकी अन्य 4 संचालक अंशधारियों द्वारा चुने जाते हैं।

कार्य

औद्योगिक वित्त निगम की भांति राज्य वित्त निगम भी विभिन्न निम्न स्वरूपों के अंतर्गत लघु उद्योगों तथा मध्य स्तरीय उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं :

(अ) औद्योगिक संस्थाओं को प्रत्यक्ष ऋण एवं अग्रिम की सुविधाएं प्रदान करना

(ब) संस्थाओं द्वारा अन्य वित्तीय संस्थाओं से लिए जाने वाले ऋण की गारंटी देना।

(स) संस्थाओं की प्रतिभूतियां (अंश एवं ऋणपत्र) क्रय करना तथा उनका अभिगोपन करना।

(द) स्थगित भुगतानों के लिए गारंटी देना।

राज्य वित्त निगम अधिकांश दशाओं में संस्थाओं की संपत्ति गिरवी रख कर उन्हें ऋण प्रदान करते हैं। यदि संस्था संपत्ति बंधक में न रख सके तो राज्य सरकार, व्यापारिक बैंक या सहकारी बैंकों द्वारा गारंटी दिए जाने पर बिना प्रतिभू के ये निगम ऋण प्रदान करते हैं। इन निगमों द्वारा सार्वजनिक एवं निजी कंपनी, एकल व्यापार एवं साझेदारी फर्मों को वित्तीय सुविधाएं दी जाती हैं। कोई भी राज्य निगम किसी एक संस्था को निगम की चुकता पूंजी का 10% या 10 लाख रुपए (दोनों में जो भी कम हो) तक ही वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता है। अब यह सीमा बढ़ाकर सार्वजनिक, निजी एवं सहकारी संस्थाओं के लिए 30 लाख रु० कर दी गई है तथा एकल व्यापार एवं साझेदारी के लिए 15 लाख रु० कर दी गई है। राज्य वित्त निगम केवल उन औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं जिनकी चुकता अंश पूंजी एवं संचित कोष मिलाकर 1 करोड़ रु० से अधिक न हो, क्योंकि इससे इन निगमों की स्थापना के उद्देश्य प्राप्त करने हेतु इसका कार्य क्षेत्र लघुस्तरीय एवं मध्यस्तरीय उद्योगों तक ही सीमित रखा जा सकेगा।

कार्य पद्धति

देश में अभी कुल 18 राज्य निगम कार्य कर रहे हैं जो देश की लघु एवं मध्यस्तरीय औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान कर रहे हैं। इनके द्वारा दी गई वित्तीय सहायता का अधिकांश ऋण एवं अग्रिम के रूप में दिया जाता है। 1955-56 में 12 राज्य वित्त निगमों द्वारा कुल मिलाकर 171 करोड़ रुपए के ऋण दिए गए जो 73-74 में बढ़ कर 215.34 रु० के तथा 1977 तक 41917 लाख रु० के हो गए। 1969-70 से लेकर 1977 तक इन निगमों द्वारा पूंजी के विनियोजन की स्थिति निम्न प्रकार है :

(लाख रुपए में)

	1969-70	71-72	73-74	75-76	ज०77
सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय	230	169	138	151	160
अंशों का क्रय	950	1012	1093	1087	1112
ऋणपत्रों का क्रय	50	65	57	51	51
ऋण एवं अग्रिम	10404	15471	21534	33947	41971
गारंटी (ऋणों की)	724	705	711	657	581

राज्य वित्त निगमों की कार्य पद्धति की मुख्य विशेषता यह रही है कि इन्होंने राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों में छोटे छोटे उद्योगों के विकास के लिए वित्तीय सहायता दी है तथा इसके अतिरिक्त तकनीकी उद्यमियों को भी वित्तीय सहायता प्रदान की है।

1975 में राज्य वित्त निगमों को औद्योगिक विकास बैंक के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ से 18 करोड़ रु० की राशि विदेशी मुद्रा (डालर) में प्राप्त हुई है। इससे ये निगम लघु एवं मध्यस्तरीय उद्योगों को विदेशों से पूंजीगत वस्तुएं प्राप्त करने में सहायता पहुंचा रहे हैं।

कार्य प्रणाली में कमियां एवं निष्कर्ष

राज्य वित्त निगम देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। इनके द्वारा

लघु एवं मध्यस्तरीय उद्योगों को समय समय पर आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान की जाती रही है। विशेष रूप से राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहित करके इन निगमों ने संतुलित औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है पर इनकी कार्य प्रणाली में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इनकी प्रगति कुछ राज्यों में संतोषजनक नहीं रही है। राज्य वित्त निगमों के सम्मुख प्रमुख कठिनाई इस बात की रही है कि ये निगम जिन औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं उनके पास विश्वसनीय एवं सुव्यवस्थित लेखा प्रणाली के अभाव में उनकी आर्थिक दशा का सही ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहे हैं जिससे निगमों को ऋण की वसूली समय पर प्राप्त नहीं हो पा रही है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ये निगम ऋण देते समय संस्था की आर्थिक दशा का गहन विश्लेषण करके ही ऋण प्रदान करें और उस ऋण के उपयोग पर कड़ी निगरानी रखें। तब इससे ऋणी संस्था पूंजी का सदुपयोग करेगी और निगमों को यथासमय मूलधन वापस प्राप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त इन निगमों द्वारा संस्थाओं को कार्यशील पूंजी उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी करनी चाहिए, क्योंकि छोटी छोटी संस्थाएं जो अन्य साधनों से कार्यशील पूंजी नहीं जुटा पाती हैं, कार्यशील पूंजी के अभाव में प्राप्त मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन पूंजी का सदुपयोग निश्चित रूप से कठिन है। इन राज्य वित्त निगमों की कार्य पद्धति में कठिनाइयों एवं कमियों को दूर करके इनसे औद्योगिक विकास के लिए अपेक्षित सहायता प्राप्त की जा सकती है।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक

स्थापना एवं उद्देश्य

औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के पूंजी बाजार में पूंजी की मांग एवं पूर्ति में संतुलन बनाए रखा जाए, क्योंकि इससे उन उद्योगों को पर्याप्त वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जा सकती है जो पूंजी की आवश्यकता अनुभव करते हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश में कार्यरत विभिन्न विशिष्ट संस्थाओं के कार्यकलापों को समन्वित करके संतुलित औद्योगिक विकास के लिए जुलाई 1964 में औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गई। यह बैंक भारतीय रिजर्व बैंक के सहायक के रूप में कार्य करता रहा है और इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य उद्योगों को वित्तीय सहायता ही प्रदान करना नहीं है, बल्कि समस्त विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के कार्यों में समन्वय उत्पन्न करना भी है। संक्षेप में इसकी स्थापना निम्न तीन मुख्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की गई है :

1. देश की समस्त विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के कार्यों को समन्वित करना।
2. वित्तीय संस्थाओं द्वारा उद्योगों को दिए गए ऋण के लिए पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करना।
3. औद्योगिक क्षेत्र के महत्वपूर्ण उद्योगों का प्रवर्तन एवं विकास करना।

पूंजी के स्रोत

विकास बैंक की स्थापना 50 करोड़ रु० की अधिकृत पूंजी से की गई जिसको केंद्रीय सरकार की अनुमति से 100 करोड़ रु० तक बढ़ाया जा सकता है। प्रारंभ में इस बैंक ने 10 करोड़ रु० की पूंजी तथा केंद्रीय सरकार से 10 करोड़ रु० के ब्याज रहित ऋण लेकर अपना कार्य प्रारंभ किया। इसके अतिरिक्त यह बैंक अपनी वित्तीय आवश्य-

कताओं को पूरा करने के लिए केंद्रीय सरकार से ऋण ले सकता है, भारतीय रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है, अपने ऋणपत्र निर्गमित कर सकता है और जनता से 1 वर्ष से अधिक अवधि के जमा स्वीकार कर सकता है। भारतीय रिजर्व बैंक ने विकास बैंक को वित्त की विशेष सुविधा देने के लिए 1965 में 'विकास सहायता निधि' की स्थापना की है। इस निधि की स्थापना का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों के प्रवर्तन एवं विकास के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस कोष में प्रारंभिक अंशदान केंद्रीय सरकार से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा ऋण, अनुदान एवं उपहार आदि निधि के प्रमुख साधन हैं। जून 1975 तक इस निधि से 55 करोड़ रुपए 6 विनियोग परियोजनाओं की सहायता के लिए प्राप्त किए गए हैं।

इसके अतिरिक्त विकास बैंक की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए 'औद्योगिक साख कोष' की भी स्थापना की गई है। प्रारंभ में इस कोष में 1 करोड़ रु० जमा किया गया था और इस कोष में भारतीय रिजर्व बैंक से प्राप्त होने वाले लाभ में से प्रति वर्ष 5 करोड़ रुपए जमा किए जाते हैं। 1969-70 से जनवरी 1977 तक विकास बैंक के विभिन्न साधनों की स्थिति निम्न प्रकार है :

(लाख रुपए में)

	1969-70	71-72	73-74	75-76	ज० 1977
चुकता पूंजी	2000	4000	5000	5000	5000
संचित कोष	1035	1823	2540	3274	3774
ऋणपत्र निर्गमन	—	—	2869	8789	15389
भार० रिजर्व बैंक से ऋण	627	7833	15446	38532	47872
केंद्रीय सरकार से ऋण	17750	17309	15763	13866	12763

प्रबंध

औद्योगिक विकास बैंक भारतीय रिजर्व बैंक की पूर्ण सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है। इसका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संचालक मंडल द्वारा होता है। भारतीय रिजर्व बैंक के केंद्रीय संचालक मंडल के संचालक विकास बैंक के संचालक मंडल के सदस्य होते हैं। रिजर्व बैंक का गवर्नर तथा उपगवर्नर मंडल के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष होते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक विकास बैंक के माध्यम से ही देश की तमाम वित्तीय क्रियाओं को उचित दिशा प्रदान करता है और उस पर नियंत्रण रखता है।

कार्य

औद्योगिक विकास बैंक द्वारा निम्न कार्य निष्पादित किए जाते हैं :

(i) औद्योगिक विकास बैंक वित्तीय संस्थाओं, व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी बैंकों के लिए पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करता है।

(ii) इस बैंक के द्वारा औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों की प्रतिभूतियां क्रय करके उनको वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

(iii) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का अभिगोपन कार्य और उन्हें ऋण की सुविधाएं प्रदान करता है।

(iv) संस्थाओं के स्थगित भुगतान तथा ऋणों के लिए गारंटी देता है।

(v) विभिन्न उद्योगों के प्रवर्तन, स्थापना एवं विस्तार के संबंध में आवश्यक

तकनीकी सलाह प्रदान करता है।

(vi) वाणिज्यिक दस्तावेजों (विनिमय बिल, प्रतिज्ञापत्र, हुंडी) जो मितिकांटे पर भुनाकर अल्पावधि वित्त प्रदान करता है।

(vii) इसके अतिरिक्त विकास बैंक देश की समस्त विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं के कार्यों को समन्वित करता है और उन्हें तरह तरह से वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

कार्य प्रणाली

औद्योगिक विकास बैंक एक महत्वपूर्ण वित्तीय संस्था है। इसने अपने प्रथम वर्ष के अंत तक ही 58.31 करोड़ रुपए की वित्तीय सहायता प्रदान की है जिसमें ऋणों तथा स्थगित भुगतानों के लिए गारंटी सम्मिलित नहीं है। कार्यजाल के द्वितीय वर्ष में इसके कार्य-क्षेत्र में महत्वपूर्ण विस्तार हुआ और कुल सहायता की राशि 64.2 करोड़ रु० पहुंच गई, जो 1973-74 के अंत तक 538.3 करोड़ रु० हो गई। इसके अतिरिक्त इस बैंक द्वारा प्रदान की गई कुल वित्तीय सहायता का ब्यौरा निम्न है :

(लाख रुपए में)

	1969-70	71-72	73-74	75-76	ज० 1977
सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	1121	2297	871	684	577
अंशों का क्रय	1648	2511	3529	5521	5876
ऋणपत्रों का निर्गमन	1981	2379	2779	4053	3869
ऋण	14038	18342	22891	41126	53006
गारंटी	2316	3279	4867	2138	2434

विनियोग संबंधी इस तालिका से स्पष्ट है कि विकास बैंक ने धन के विनियोग में सुरक्षा के तत्व को पूर्णतया दृष्टि में रखा है, क्योंकि बैंक द्वारा अधिकांश दशाओं में ऋण के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान की गई है जो जनवरी 1977 तक 53006 लाख रु० की है। इसके अतिरिक्त विकास बैंक की कार्यप्रणाली में निम्न विशेषताएं विद्यमान हैं :

(i) औद्योगिक विकास बैंक की कार्यप्रणाली में उल्लेखनीय बात यह है कि इसने औद्योगिक विकास में संतुलन बनाए रखने के लिए उद्योगीकरण में पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार को प्रोत्साहित किया है। इसने अपनी कुल सहायता का लगभग 35% इन्हीं क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार के लिए प्रदान किया है।

(ii) 1970 में इस बैंक के द्वारा पिछड़े हुए जिलों में औद्योगिक विकास के लिए कटौती पर सहायता देने की योजना प्रारंभ की गई है और 1973-74 तक 144 जिलों को 44.8 करोड़ रुपए की वित्तीय सहायता उद्योगों के विकास के लिए प्रदान की गई है।

(iii) वित्तीय सहायता प्रदान करते समय बैंक द्वारा निजी क्षेत्र तथा संयुक्त क्षेत्र दोनों के विकास को ध्यान में रखा गया है, हालांकि कुल वित्तीय सहायता का लगभग 55% निजी क्षेत्र को प्रदान किया गया है।

(iv) इसके अतिरिक्त विकास बैंक निर्यात संवर्द्धन में भी महत्वपूर्ण वित्तीय सहायता प्रदान करके योगदान देता रहा है।

निष्कर्ष

औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना से न केवल देश की वित्तीय संस्थाओं के कार्यों को

उचित दिशा ही मिली बल्कि इस बैंक द्वारा प्रदान की गई सेवाओं से वित्तीय संस्थाओं एवं बैंकों को उनके अपने कार्य में भी प्रोत्साहन मिला है। इस बैंक की स्थापना के पूर्व व्यापारिक बैंक औद्योगिक इकाइयों को केवल अल्पकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करते थे क्योंकि मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने में उनको मूलधन की सुरक्षा तथा तरलता के अभाव का भय बना रहता था। पर विकास बैंक द्वारा प्रदान की गई पुर्नवित्त की सुविधा से बैंकों के कार्यक्षेत्र में निश्चित रूप से विस्तार हुआ और इन बैंकों द्वारा मध्यकालीन एवं कुछ दशाओं में दीर्घकालीन वित्तीय सहायता दी जाने लगी। इसके साथ ही देश के पिछड़े प्रांतों एवं जिलों में उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार में भी इस बैंक का योगदान सराहनीय रहा है। औद्योगिक क्षेत्र में इसकी भूमिका को दृष्टि में रखते हुए 1975 से विकास बैंक को, जो भारतीय रिजर्व बैंक के सहायक के रूप में कार्य करता आ रहा था, स्वतंत्र वित्तीय संस्था का अस्तित्व प्रदान कर दिया गया है ताकि यह बैंक औद्योगिक विकास में और अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

स्थापना एवं उद्देश्य

देश के संपूर्ण औद्योगिक ढांचे में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के संतुलित विकास तथा राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों के प्रवर्तन, विकास एवं विस्तार के लिए अक्तूबर 1954 में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना पूर्ण सरकारी नियंत्रण में निजी कंपनी के रूप में की गई। इस निगम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के साथ साथ नए नए उद्योगों की स्थापना हेतु औद्योगिक योजनाओं की तलाश करना, उनको क्रियान्वित करने के लिए योजनाओं की सुगमता ज्ञात करना तथा आवश्यक उपकरण एवं प्रबंधकीय सलाह उपलब्ध कराना है। यह विकास निगम विशेष रूप से उन उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है जो अन्य उद्योगों के लिए पूंजीगत सामान, मशीन तथा अन्य उपकरणों का उत्पादन कर रहे हैं।

पूंजी के स्रोत

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना 1 करोड़ रु० की अधिकृत अंश पूंजी से की गई थी। प्रारंभ में 10 लाख रु० की चुकता पूंजी पूर्णरूप से केंद्रीय सरकार द्वारा लगाई गई थी जो 1975 तक 50 लाख रु० कर दी गई। यह पूर्णतः सरकार द्वारा ही प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त केंद्रीय सरकार समय समय पर इस निगम को अनुदान एवं ऋण भी प्रदान करती रही है। सरकार द्वारा अनुदान मुख्य रूप से औद्योगिक योजनाओं की तलाश करने, उनको तैयार करने तथा उनकी सुगमता ज्ञात करने के लिए दिया जाता है और इन योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए सरकार प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करती है। 1975 तक यह निगम लगभग 10 करोड़ रु० के सरकारी ऋण एवं अनुदान प्राप्त कर चुका है।

प्रबंध एवं संचालन

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम पूर्णरूप से सरकारी नियंत्रण में स्थापित कंपनी है जिसका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण संचालक मंडल द्वारा किया जाता है और संचालकों को सरकार मनोनीत करती है।

कार्य

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा निम्न कार्य किए जाते हैं :

(i) उद्योगों को ऋण के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करना,
(ii) नई नई औद्योगिक परियोजनाएं तैयार करना,
(iii) परियोजनाओं की सुगमता ज्ञात करके उन्हें कार्यान्वित करना,
(iv) औद्योगिक संस्थाओं को मशीनें, उपकरण तथा अन्य उत्पादन सामग्री उपलब्ध कराना,
(v) नई परियोजनाएं कार्यान्वित करने के लिए उद्योगों को प्रबंधकीय तथा तकनीकी सलाह प्रदान करना।

कार्य प्रणाली

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने अभी तक कई उद्योगों में नई परियोजनाएं क्रियान्वित की हैं। इन उद्योगों में मशीन एवं औजार उत्पादन, एल्म्यूनियम, रबर, कोयला उद्योग आदि सम्मिलित हैं। इस निगम द्वारा बिहार राज्य में रूस सरकार की सहायता से बड़ी बड़ी मशीनों को तैयार करने का कारखाना स्थापित किया गया है। निगम ने 1960 में 'पाइराइट ऐंड कैमिकल डेवलपमेंट प्राइवेट लिमिटेड' को सहायक कंपनी के रूप में स्थापित किया। इसका मुख्य उद्देश्य 'पाइराइट ओर' का उत्पादन करके, उसे एकत्रित करके उससे गंधक तैयार करना है। अब इस संस्था को पूर्णत: स्वतंत्र सरकारी कंपनी में परिणत कर दिया गया है।

विकास निगम ने 'तकनीकी सलाहकार ब्यूरो' की भी स्थापना की है। इस ब्यूरो का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के उद्योगों को आवश्यक तकनीकी सलाह प्रदान करना है। इस ब्यूरो ने विदेशों में भी उद्योगों को परामर्श सेवा प्रदान की है और इस प्रकार 1975 तक 60.5 लाख रु० की विदेशी मुद्रा अर्जित की है। 1963 तक इस निगम के द्वारा सूती वस्त्र उद्योग, जूट तथा मशीन एवं औजार उद्योगों को आधुनिकीकरण के लिए महत्वपूर्ण रूप से वित्तीय सहायताएं प्रदान की हैं। अब इस निगम का एकमात्र उद्देश्य परामर्श सेवाएं प्रदान करना है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम के कार्यकलापों का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि निगम की स्थापना जिन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए की गई थी, निगम उन्हें सफलतापूर्वक प्राप्त नहीं कर सका। यही कारण है कि 1963 के बाद निगम ने ऋण प्रदान करने हेतु नए आवेदन स्वीकार नहीं किए हैं और अपने समस्त साधनों का प्रयोग विभिन्न उद्योगों को तकनीकी तथा प्रबंधकीय परामर्श सेवा प्रदान करने के लिए किया है। 1974-75 के दौरान निगम न अफ्रीका में दो महत्वपूर्ण परियोजनाएं पूरी की हैं (इंडस्ट्रियल स्टेटस जंजीवार तथा स्टील मैल्टिंग एंड विलेट कास्टिंग प्लांट)। इसके साथ ही भारत सरकार ने इस निगम को एक और महत्वपूर्ण परियोजना सुपुर्द की है—'कृषिजन्य निरर्थक पदार्थों से कागज बनाना'। इसके अतिरिक्त इस निगम को पल्प और पेपर तकनीक, हवाई अड्डों के डिजायन और वातावरण से संबंधित परियोजनाएं भी सौंपी गई हैं। आशा की जाती है कि निगम इन महत्वपूर्ण परियोजनाओं को सफलतापूर्वक पूरा करके अपने अस्तित्व को और अधिक महत्वपूर्ण बना सकेगा।

औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम

स्थापना एवं उद्देश्य

औद्योगिक ढांचे में निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से जनवरी 1955 में विश्व बैंक से राय मशविरा करके इस निगम की स्थापना भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत पूर्णरूप से निजी क्षेत्र में की गई। इस निगम ने मुख्यरूप से निजी क्षेत्र के उद्योगों को मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करके उनके विकास एवं विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस कार्य के लिए निगम ने विदेशी पूंजी भी आकर्षित की है।

पूंजी के स्रोत

इस निगम की स्थापना 25 करोड़ रु० की अधिकृत अंशपूंजी से की गई थी जो 5 लाख सामान्य अंशों में 100 रु० प्र० अंश तथा 20 लाख अविभक्त अंशों में जिनका अंकित मूल्य 100 रु० प्र० अंश है, में विभाजित की गई थी। प्रारंभ में इसकी चुकता पूंजी 5 करोड़ रु० की थी, जिसमें से 3.5 करोड़ भारतीय विनियोगकर्ताओं द्वारा तथा 1.5 करोड़ विदेशी विनियोगकर्ताओं द्वारा लगाई गई। इसके अतिरिक्त इस निगम को केंद्रीय सरकार से 7.50 करोड़ रु० का ब्याजरहित ऋण भी प्राप्त हुआ है और ऋणपत्र निर्गमन से, औद्योगिक विकास बैंक से ऋण तथा अंतर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार से ऋण प्राप्त करके निगम ने अपने आर्थिक साधनों का विस्तार किया है। 1969-70 से 1975-76 तक इसके विभिन्न साधनों की स्थिति निम्न प्रकार है :

(लाख रुपए में)

	1969-70	71-72	73-74	75-76
चुकता पूंजी	7.50	10.00	12.50	15.00
संचित कोष	557	856	1096	1236
ऋणपत्र निर्गमन	1100	1100	2600	4825
सरकारी ऋण	3180	2845	2339	1336
विकास बैंक से ऋण	1230	1590	1715	2151
विदेशी मुद्रा में ऋण	6069	8332	27200	29524

(विदेशी मुद्रा में ऋण विश्व बैंक, अमरीका, इंग्लैंड तथा पश्चिम जर्मनी से प्राप्त किए गए हैं।)

कार्य : (i) निजी क्षेत्र के उद्योगों को स्थापना, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान करना,

(ii) मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना,
(iii) अंशों का अभिगोपन तथा प्रत्यक्ष खरीद,
(iv) औद्योगिक संस्थाओं को तकनीकी एवं प्रशासनिक सलाह प्रदान करना,
(v) भारतीय विनियोग बाजार का विस्तार करना,
(vi) विदेशों से आयात की जाने वाली पूंजीगत वस्तुओं के लिए विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करना,
(vii) औद्योगिक संस्थाओं को अन्य साधनों से प्राप्त ऋण के लिए गारंटी देना,
(viii) विदेशी पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करना।

कार्य प्रणाली : इस निगम की स्थापना मुख्य रूप से निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास एवं विस्तार को प्रोत्साहित करने के लिए की गई थी। इस निगम का स्वामित्व व्यक्तिगत तथा संस्थागत दोनों प्रकार के विनियोगकर्ताओं में बंटा हुआ है जिनमें विदेशी विनियोगकर्ता भी सम्मिलित हैं। भारतीय विनियोगकर्ता, ब्रिटिश विनियोगकर्ता तथा अमरीकी विनियोगकर्ताओं का आनुपातिक हिस्सा क्रमशः 70%, 20% तथा 10% है।

हालांकि इस निगम ने उद्योगों को विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत वित्तीय सहायता प्रदान की है, फिर भी विदेशी मुद्रा में दी गई वित्तीय सहायता का महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि इससे उद्योगों को विदेशों से आवश्यक पूंजीगत वस्तुएं उपलब्ध हो सकी हैं। 1975 तक निगम ने विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत 474.51 करोड़ रु० वित्तीय सहायता प्रदान की है, जिसमें से विदेशी मुद्रा में कुल वित्तीय सहायता का आधे से अधिक भाग प्रदान किया गया है। यह निगम विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक बैंकों तथा अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम के संपर्क में रहने के कारण वास्तव में भारतीय उद्योगों के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने में सफल रहा है। संपूर्ण औद्योगिक ढांचे में समस्त उद्योगों को दी गई कुल विदेशी मुद्रा का लगभग 90% हिस्सा इस निगम द्वारा प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त निगम द्वारा उद्योगीकरण में पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए जो वित्तीय सहायता प्रदान की है, कम सराहनीय नहीं है। क्योंकि निगम ने कुल वित्तीय सहायता का लगभग 17.5% औद्योगिक प्रगति में पिछड़े राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा आदि को प्रदान किया है।

निष्कर्ष : औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम द्वारा औद्योगिक विकास के लिए विभिन्न उद्योगों को केवल वित्तीय सहायता ही प्रदान नहीं की गई बल्कि इस निगम के अस्तित्व से भारतीय पूंजी बाजार के विकास को भी प्रोत्साहन मिला है और उसमें विस्तार हुआ है। निगम विभिन्न विदेशी वित्तीय संस्थाओं (विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम, कामनवैल्थ वित्त विकास कंपनी तथा अन्य विदेशी व्यापारिक बैंकों के संपर्क में रहा है) के माध्यम से भारतीय उद्योगों के लिए विदेशी पूंजी को आकर्षित करता रहा है, विशेष रूप से अमरीका, पश्चिम जर्मनी तथा इंग्लैंड के विनियोगकर्ताओं से भारतीय उद्योगों के लिए निगम के माध्यम से पूंजी प्राप्त की गई है। इसके अतिरिक्त निगम द्वारा निजी क्षेत्र तथा पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए जो वित्तीय सहायता प्रदान की गई है, निश्चित रूप से उनका देश के संतुलित औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस निगम ने वित्तीय सहायता के अलावा भारतीय उद्योगों को समय समय पर आवश्यक तकनीकी एवं प्रबंधकीय सलाह देकर उनको सफलता की दिशा प्रदान की है। इस प्रकार इस निगम का अस्तित्व भारतीय उद्योगों तथा सुव्यवस्थित पूंजी बाजार के विकास के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम

स्थापना एवं उद्देश्य

औद्योगिक क्षेत्र में लघु उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करके औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के उद्देश्य से फरवरी 1955 में इस निगम की स्थापना सरकार द्वारा निजी कंपनी के रूप में की गई। इसकी स्थापना के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

(i) लघु उद्योगों को सरकारी ठेके पर कार्य दिलाना,

(ii) लघु उद्योगों को किराया क्रय पद्धति पर आवश्यक मशीन तथा अन्य उपकरण उपलब्ध कराना,

(iii) लघु उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराना,
(iv) बड़े उद्योगों तथा लघु उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित करना, ताकि औद्योगिक विकास को संतुलित दिशा प्रदान की जा सके।

पूंजी

इस निगम की स्थापना 10 लाख रु० को प्रारंभिक पूंजी से की गई जो बाद में बढ़ाकर 50 लाख रु० कर दी गई। इस निगम की पूंजी पूर्णतः केंद्रीय सरकार द्वारा ही लगाई गई है। इसके अतिरिक्त यह निगम आवश्यकता पड़ने पर केंद्रीय सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक आदि से समय समय पर ऋण भी प्राप्त कर सकता है।

कार्य विधि

निगम ने उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न विभाग स्थापित किए हैं, जैसे विपणन विभाग, संचालन एवं लेखा विभाग, किराया क्रय विभाग आदि। निगम ने अपने कार्य क्षेत्र को बढ़ाने के लिए प्रांतीय स्तर पर चार सहायक निगमों की स्थापना भी की है जो बंबई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में हैं। यह लघु उद्योग सेवा संस्थानों के साथ मिलकर कार्य करता है। इन सेवा संस्थाओं के माध्यम से लघु उद्योगों को प्रबंध, विपणन एवं उत्पादन विषयक सलाह प्रदान की जाती है और मशीन, कच्चा माल आदि क्रय करने में सहायता प्रदान की जाती है।

इस निगम द्वारा लघु उद्योगों को दी गई सहायता में सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप किराया क्रय पद्धति के अंतर्गत लघु उद्योगों को मशीनें तथा अन्य साजोसामान उपलब्ध कराना है। किराया क्रय पद्धति के अंतर्गत मशीन क्रय करने में मशीन के मूल्य का 20% तुरंत चुकता कर दिया जाता है और बकाया राशि 8 वर्षों में अर्द्धवार्षिक किस्तों में चुकाई जाती है। बकाया राशि पर 4% से 5% तक ब्याज लिया जाया है। 1972-73 तक इस निगम ने लघु उद्योगों से मशीनें किराया क्रय पद्धति के अंतर्गत क्रय करने के लिए 880 आवेदन पत्र प्राप्त किए और 7.9 करोड़ रु० की मशीनें वितरण के लिए स्वीकार की गईं, और 1975-76 में 456 आवेदन पत्र प्राप्त किए गए जिसमें से 73 आवेदन पत्र स्वीकार किए गए। 1975-76 के अंत तक इस निगम ने 287 संस्थाओं को 9.1 करोड़ रु० की मशीनें प्रदान करके सहायता प्रदान की है। 1972-73 में निगम ने लघु उद्योगों को 37.8 करोड़ रु० के सरकारी ठेके का कार्य भी प्रदान किया है जो बढ़कर 1975-76 में 57.4 करोड़ रु० के हो गए। निगम ने 1972-73 तक 2 करोड़ रु० की लागत का कच्चा माल केंद्रशासित राज्य दिल्ली एवं पांडिचेरी में स्थित लघु उद्योगों को वितरित किया।

इस निगम द्वारा लघु उद्योगों को विपणन की सुविधाएं प्रदान करने के लिए 'थोक विक्रय केंद्र' भी स्थापित किए गए हैं। इनके माध्यम से लघु उद्योगों द्वारा तैयार की गई वस्तुओं का एकत्रीकरण एवं वितरण किया जाता है। इसके साथ ही साथ निगम ने लघु उद्योगों की प्रबंधकीय क्षमता में आवश्यक सुधार करने के लिए राजकोट, ओखला तथा हावड़ा में उत्पादन तथा प्रशिक्षण केंद्रों की भी स्थापना की है। 1975-76 तक 537 प्रबंधकों को प्रशिक्षण दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'विशेष निर्यात विभाग' स्थापित करके लघु उद्योगों को निर्यात संबंधी संभावनाओं से भी अवगत कराया जाता है।

निष्कर्ष : हालांकि राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम मूल रूप से वित्तीय संस्था नहीं है फिर भी इसके द्वारा लघु उद्योगों को विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान की जाती हैं, जैसे किराया क्रय पद्धति पर मशीनें तथा अन्य उपकरण उपलब्ध कराना जिसे अप्रत्यक्ष रूप से वित्तीय सहायता ही समझा जा सकता है। इसके साथ ही साथ इस निगम को लघु उद्योगों द्वारा

अन्य वित्तीय संस्थाओं तथा बैंकों से लिए गए ऋण की गारंटी देने का अधिकार भी है। अतः राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम विशेष रूप से लघु उद्योगों के विकास के लिए वरदान स्वरूप है। इस निगम द्वारा एक ओर लघु उद्योगों का बड़े उद्योगों के साथ समन्वय स्थापित किया जाता है और दूसरी ओर लघु उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने से उत्पादन तथा वितरण के साधनों का विकेंद्रीकरण भी प्रोत्साहित हुआ है क्योंकि इन्हीं लघु उद्योगों के माध्यम से देश की 80% जनता उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में सक्रिय हिस्सा ले सकती है।

जीवन बीमा निगम

हालांकि जीवन बीमा निगम का मूल उद्देश्य जीवन बीमा व्यवसाय को जनता में अधिक लोकप्रिय तथा प्रचलित करना है, फिर भी इस निगम ने औद्योगिक विकास के लिए पूंजी निर्माण में निश्चित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस निगम के व्यवसाय में सुरक्षा के साथ ही साथ विनियोग का तत्व भी निहित है। यह निगम जनता की छोटी छोटी बचतों को अपने व्यवसाय के माध्यम से एकत्र करके उनको सुरक्षित ढंग से विनियोजित करता है। यह एक ऐसी वित्तीय संस्था है जिसके द्वारा जनता की बचत का अधिकांश उनके जीवन का बीमा करके प्राप्त किया जाता है। पूंजी निर्माण में जीवन बीमा कंपनियों की महत्वपूर्ण भूमिका को दृष्टि में रखते हुए 1956 में जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और इसके लिए जीवन बीमा निगम की स्थापना कर दी गई है। यह निगम विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का अभिगोपन करके तथा उनको प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

जीवन बीमा निगम की विनियोग नीति

राष्ट्रीयकरण के पूर्व जीवन बीमा कंपनियों द्वारा किए जाने वाले विनियोगों में कोई प्रतिबंध तथा नियंत्रण विद्यमान नहीं था और ये कंपनियां अपने कुल विनियोजन का लगभग 55% सरकारी, अर्ध सरकारी तथा सरकार द्वारा अनुमोदित प्रतिभूतियों में विनियोजित करती थीं। 1950 में बीमा कानून संशोधित करके यह प्रतिशत घटा कर 50% कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के पश्चात 1958 में जीवन बीमा निगम की नई विनियोग नीति की घोषणा की गई जिसका उल्लेख जीवन बीमा निगम अधिनियम 1956 की धारा 27 (अ) में किया गया था, जो निम्न प्रकार से है।

इस नीति के अनुसार जीवन बीमा निगम के नियंत्रण में जो धनराशि उपलब्ध है उसका विनियोग निम्न प्रकार से किया जाएगा :

(i) कुल नियंत्रित धनराशि का 25% सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित किया जाएगा,
(ii) 25% सरकार द्वारा अनुमोदित प्रतिभूतियों में विनियोजित किया जाएगा,
(iii) 35% जीवन बीमा निगम की धारा 27 (अ) में उल्लिखित अनुमोदित विनियोगों में, तथा
(iv) 15% अन्य विनियोगों में विनियोजित किया जाएगा।

1958 के पश्चात निगम की विनियोग नीति में कुछ आवश्यक परिवर्तन किए गए जो निम्न हैं :

जीवन बीमा निगम अब किसी कंपनी में उस कंपनी की चुकता अंश पूंजी का 30%

तक विनियोजित कर सकता है। सरकार की अनुमति से इस सीमा को बढ़ाया भी जा सकता है।

कार्य प्रणाली

जीवन बीमा निगम ने 1972-73 तक 292.00 करोड़ रु० की बचत जनता से जीवन बीमा योजना के अंतर्गत प्राप्त की है जो 1956-57 में केवल 28.00 करोड़ रु० की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन बीमा निगम के व्यवसाय में राष्ट्रीयकरण के पश्चात आशाजनक वृद्धि हुई है और यह निगम जीवन बीमा व्यवसाय के माध्यम से जनता की बचतें आकर्षित करने में पूर्णतया सफल रहा है।

मार्च 1972 में जीवन बीमा निगम के कुल विनियोग 1952.60 करोड़ रु० के थे जिसमें से लगभग 75% सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोजित है, 11% सहकारी क्षेत्र में और बाकी निजी क्षेत्र के उद्योगों में। निगम द्वारा वित्तीय सहायता औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके, उनका अभिगोपन करके तथा प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान करके दी जाती रही है। इसके अतिरिक्त जीवन बीमा निगम पालिसी में ऋण, भवन निर्माण हेतु ऋण भी प्रदान करता है। निगम द्वारा विनियोजित धनराशि का संक्षिप्त ब्यौरा निम्न तालिका से ज्ञात किया जा सकता है।

(करोड़ रुपए में)

	1955	1966	1973
सरकारी तथा अर्धसरकारी प्रतिभूतियां	180.2	573.6	1167.4
अंश एवं ऋणपत्रों की खरीद	51.6	180.3	234.9
बंधक में ऋण	14.6	38.7	70.1
पालिसी में ऋण	28.0	74.3	182.3
भवनों के लिए ऋण	16.7	32.0	46.4
अन्य	34.6	85.2	167.0

इसके अतिरिक्त निगम ने विद्युत मंडलों, जलपूर्ति, माल निर्यात तथा आवास योजनाओं के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण वित्तीय सहायता प्रदान की है। 1959 में निगम द्वारा इन योजनाओं के लिए 5.30 करोड़ रु० के ऋण दिए गए थे जो 1975 तक 1021.36 करोड़ रु० के हो गए। 1966 में कुल विनियोजित धनराशि 1094.08 करोड़ रु० की थी जो 1973 तक 2509.9 करोड़ रु० की हो गई। 1975 में निगम के कुल विनियोग 2803.20 करोड़ रु० के थे।

ऊपर दिए गए तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जीवन बीमा निगम औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता देने के अतिरिक्त जनता सेवार्थ परियोजनाओं को लागू करने एवं उनके विकास में भी सहायक रहा है क्योंकि राष्ट्रीयकरण के पश्चात इस निगम ने उद्योग के निजी क्षेत्र में धन का विनियोजन कम करके जनता सेवार्थ योजनाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने को प्राथमिकता दी है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है, जीवन बीमा निगम औद्योगिक संस्थाओं को उनके द्वारा निर्गमित अंश एवं ऋणपत्र क्रय करके वित्तीय सहायता पहुंचाता है। जीवन बीमा निगम द्वारा इस प्रकार प्रतिभूतियों में (विशेष रूप से सामान्य अंशों में) विनियोजन बढ़ाया जाना उचित एवं वांछनीय है। इसके लिए 30% की सीमा को बढ़ा दिया जाना चाहिए क्योंकि निगम संस्थाओं में नियंत्रणात्मक संख्या के सामान्य अंश क्रय करके

संस्थाओं के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण को प्रभावित करते हुए उन्हें उचित दिशा प्रदान कर सकता है।

समस्त वित्तीय संस्थाओं का सामूहिक योगदान

देश का औद्योगिक विकास काफी हद तक इन विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं द्वारा अपने उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने पर निर्भर है क्योंकि इन समस्त विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना समय समय पर उद्योगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए औद्योगिक विकास में संतुलन बनाए रखने तथा उसकी गति तीव्र करने के लिए की गई। उद्योगों के लिए पूंजी निर्माण में इन विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे वास्तव में औद्योगिक विकास की गति बढ़ाने में सहायता मिली है। विशेष रूप से आर्थिक नियोजन काल में इनके द्वारा प्रदान की गई वित्तीय सहायता की मात्रा में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। योजना के पूर्व (1948-50) तक विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई वित्तीय सहायता केवल 8.13 करोड़ रु० तक सीमित थी जिसमें औद्योगिक वित्त निगम का ही महत्वपूर्ण हिस्सा था। पर 1975 के अंत तक इन संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाने वाली वित्तीय सहायता का आकार बढ़ कर 3181.00 करोड़ रुपया हो गया। वित्तीय सहायता के आकार में वृद्धि के अनेक कारण रहे हैं, जैसे औद्योगिक वित्त निगम के कार्यक्षेत्र का विस्तार, राज्य वित्त निगमों की स्थापना, औद्योगिक विकास बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं की स्थापना आदि।

विभिन्न विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं का इस कुल वित्तीय सहायता में निम्न अनुपात रहा है:

विभिन्न वित्तीय संस्थाओं द्वारा 1948 से 1975 तक दी गई वित्तीय सहायता

	(करोड़ रु० में)
1. औद्योगिक विकास बैंक	1117.74
2. औद्योगिक वित्त निगम	429.43
3. राज्य वित्त निगम	602.65
4. औद्योगिक पुनर्निर्माण निगम	28.63
5. यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया	73.16
6. औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम	474.51
7. राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम	168.59
8. जीवन बीमा निगम	286.29
	3181.00 (करोड़ रुपया)

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना भारतीय औद्योगिक जगत के लिए वरदान स्वरूप है क्योंकि कुल वित्तीय सहायता का लगभग 35% बैंक द्वारा प्रदान किया गया है। इस बैंक ने विशेष रूप से वित्तीय संस्थाओं को पुनर्वित्त की जो सुविधाएं प्रदान की हैं वे सराहनीय हैं। इसके अतिरिक्त निर्यात संवर्धन के लिए भी औद्योगिक विकास बैंक का योगदान प्रभावशाली रहा है।

औद्योगिक वित्त निगम का कार्यक्षेत्र विशेष रूप से निजी क्षेत्र की बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने तक ही सीमित रहा है। हालांकि औद्योगिक वित्त निगम एवं राज्य वित्त निगमों द्वारा आशाजनक सफलता प्राप्त नहीं की जा सकी क्योंकि स्थापना के बाद कई वर्षों तक इन निगमों ने अपनी पूंजी के विनियोजन में अधिक जोखिम वहन नहीं किया, फिर भी औद्योगिक विकास का संतुलन बनाए रखने

में इन निगमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है क्योंकि कुल वित्तीय सहायता में इनका हिस्सा लगभग 32.5% रहा है।

इसी प्रकार यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया ने भी काफी हद तक अपने कार्यों को सफलता-पूर्वक निष्पादित करके जनता से छोटी छोटी बचतें आकर्षित करके, औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके तथा उनका अभिगोपन करके उन्हें महत्वपूर्ण वित्तीय सहायताएं प्रदान की हैं। हालांकि कुल वित्तीय सहायता में इसे लगभग 2.5% हिस्सा ही प्राप्त है फिर भी औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों को प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके इसने औद्योगिक वित्तीय ढांचे में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम ने औद्योगिक संस्थाओं को विदेशी मुद्रा के ऋण प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है क्योंकि औद्योगिक संस्थाओं को विदेशी मुद्रा में प्रदान की गई कुल वित्तीय सहायता का लगभग 90% इस निगम द्वारा प्रदान किया गया है। इससे औद्योगिक विकास के लिए विदेशों से पूंजीगत सामान क्रय करने में उद्योगों को महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त इस निगम ने विभिन्न उद्योगों को तकनीकी एवं प्रबंधकीय सलाह प्रदान करने का कार्य किया है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम के कार्यकलापों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक विकास में इस निगम ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि इस निगम का कुल वित्तीय सहायता में केवल 5.3% हिस्सा ही रहा है फिर भी निगम ने नए नए व्यावसायिक विचारों की ढूंढ़खोज करके उनकी सुगमता ज्ञात करके योजना बनाने में निश्चित रूप से औद्योगिक जगत को सहायता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी विशिष्ट संस्था है जो उद्योगों को वित्तीय सहायता के अतिरिक्त तकनीकी तथा प्रबंधकीय सलाह भी प्रदान करती रही है। अब इसके कार्य पूर्णतया सलाहकारी प्रकृति के होते जा रहे हैं।

यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया की भांति जीवन बीमा निगम भी जनता की छोटी छोटी बचतें आकर्षित करके मुख्य रूप से सरकारी प्रतिभूतियों तथा सरकार द्वारा अनुमोदित प्रतिभूतियों में विनियोजित करता रहा है। निगम द्वारा मुख्य रूप से लोहा एवं इस्पात उद्योग, मशीन उद्योग, खनन एवं खनिज उद्योग तथा सीमेंट उद्योग की निर्गमित प्रति-भूतियां प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके तथा उनका अभिगोपन करके एवं उन्हें प्रत्यक्ष ऋण की सुविधा प्रदान करके वित्तीय सहायता दी गई है।

11

शेयर बाजार

शेयर बाजार पूंजी बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग है। शेयर बाजार से पूंजी बाजार को अपने कार्य में सहायता नहीं मिलती है, बल्कि पूंजी बाजार एवं शेयर बाजार संयुक्त रूप से कार्य करके देश के औद्योगिक विकास को सफल बनाने में सहायता पहुंचाते हैं। शेयर बाजारों के विकास से ही व्यवसाय के महत्वपूर्ण स्वरूप 'संयुक्त पूंजी कंपनी' की कार्य पद्धति सुगम हो पाई है और बड़े पैमाने पर उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकी हैं। शेयर बाजारों के द्वारा एक ओर जनता में बचत एवं विनियोग की आदत को प्रोत्साहन मिलता है और दूसरी ओर शेयर बाजारों की विद्यमानता से लाभप्रद व्यवसायों को आवश्यक पूंजी प्राप्त हो पा रही है। इस प्रकार सुव्यवस्थित शेयर बाजारों के अभाव में औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त पूंजी का निर्माण संभव नहीं है। जैसाकि पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है सार्वजनिक कंपनी अपनी पूंजी का महत्वपूर्ण भाग प्रतिभूतियां निर्गमित करके उन्हें जनता में बेच कर प्राप्त करती है। इस प्रकार पूंजी प्राप्त करने में शेयर बाजारों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है क्योंकि शेयर बाजार द्वारा उपलब्ध कराई गई सुविधाओं से इन प्रतिभूतियों की हस्तांतरणीयता एवं विपणनता में वृद्धि हुई है। विनियोगकर्ताओं को इन प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करने के लिए प्ररणा मिली है क्योंकि प्रतिभूतियों में इन गुणों के कारण विनियोगकर्ता को इस बात की सुरक्षा बनी रहती है कि वह क्रय की गई प्रतिभूतियों को आवश्यकता पड़ने पर सरलता से पुन: बेच सकेगा अथवा हस्तांतरित कर सकेगा या अपने विनियोग में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकेगा।

शेयर बाजार संपूर्ण अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं क्योंकि पूंजी निर्माण अर्थव्यवस्था के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व है जिसका संबंध बचत, विनियोग एवं आय से है। शेयर बाजार को 'पूंजी का किला' और 'मुद्रा बाजार की धुरी' कहा जाता है क्योंकि शेयर बाजारों द्वारा मुद्रा बाजार के विभिन्न कार्यशील तत्वों को प्रोत्साहन मिलता है और सुव्यवस्थित शेयर बाजार देश में आय, बचत एवं विनियोग के वातावरण को नियंत्रित करके, भविष्य में उनमें होने वाले संभावित परिवर्तनों के बारे में भविष्यवाणी करते हैं। शेयर बाजारों की गतिविधियों तथा कार्य व्यवस्था से उन तमाम घटनाओं एवं तत्वों का (जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संस्थाओं की लाभक्षमता को प्रभावित करते हैं) ज्ञान पहले ही हो जाता है।

शेयर बाजार को औद्योगिक प्रगति का बैरोमीटर भी कहा गया है क्योंकि शेयर बाजारों के माध्यम से देश के संपूर्ण व्यवसाय में घटित घटनाओं (वर्तमान एवं संभावित) की प्रवृत्ति एवं रुख को ज्ञात किया जा सकता है।

परिभाषा

साधारण बोलचाल में शेयर बाजार शब्द को, शेयर बाजार के किसी कार्य विशेष से संबंधित करके परिभाषित किया जाता है। जैसे कुछ व्यक्ति शेयर बाजार को सट्टा बाजार कहते हैं और कुछ लोग इसे एक ऐसा बाजार मानते हैं जहां विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है। इस प्रकार की परिभाषाएं शेयर बाजार के मूल कार्यों एवं विशेषताओं की ओर बिल्कुल भी संकेत नहीं करतीं।

हैस्टिंग के शब्दों में, 'शेयर बाजार अथवा प्रतिभूति बाजार में वे समस्त स्थान सम्मिलित हैं जहां अंशों एवं ऋणपत्रों के क्रेता एवं विक्रेता तथा उनके प्रतिनिधि प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से संबंधित लेनदेन करते हैं।' इस परिभाषा में भी शेयर बाजार को अंशों एवं ऋणपत्रों के क्रय-विक्रय का बाजार कहा गया है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि शेयर बाजार में किस प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है और इस क्रय-विक्रय की प्रक्रिया को कैसे संपादित किया जाता है।

अतः इस संबंध में प्रतिभूति अनुबंध नियमन अधिनियम 1956 के अंतर्गत दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम के अनुसार 'अंश बाजार व्यक्तियों का मंडल, संगठन अथवा समुदाय है जो समामेलित हो सकता है अथवा नहीं और जिसकी स्थापना प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से संबंधित लेनदेनों के व्यवसाय को सहायता पहुंचाने के लिए तथा उसको नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए की जाती है।' इस परिभाषा के विश्लेषण से यह पता चलता है कि शेयर बाजारों का मुख्य उद्देश्य प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए स्थान ही उपलब्ध कराना नहीं है बल्कि शेयर बाजार इस प्रकार के लेन-देनों को सहज बनाने के लिए सहायता पहुंचाता है। इसके अतिरिक्त इन लेनदेनों का नियमन एवं नियंत्रण भी करता है। संक्षेप में इस परिभाषा के अनुसार शेयर बाजार एक सुव्यवस्थित बाजार है जहां पूर्वनिर्धारित नियमों के अनुसार प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं को देखते हुए शेयर बाजार से हमारा अभिप्राय ऐसे सुव्यवस्थित बाजार अथवा एजेंसी से है जहां पर और जिसके माध्यम से कंपनियों द्वारा निर्गमित एवं एक बार विक्रय की गई प्रतिभूतियों का नियमबद्ध क्रय-विक्रय किया जाता है। शेयर बाजार शब्द की परिभाषा के संबंध में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि शेयर बाजार में केवल उन्हीं प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है जो कंपनी द्वारा निर्गमित की गई हों और एक बार विक्रय हो चुकी हों तथा उसी कंपनी की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है जिनका सूचियन शेयर बाजार में किया जा चुका हो।

शेयर बाजार का कार्य व महत्व

शेयर बाजार देश के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है क्योंकि इसके द्वारा देश के उद्योगों के लिए पर्याप्त पूंजी उपलब्ध कराई जाती है। देश के उद्योगीकरण में इसका महत्व ज्ञात करने के लिए इसके द्वारा किए जाने वाले महत्वपूर्ण कार्यों की विवेचना की जानी आवश्यक है।

पूंजी का निर्माण : शेयर बाजार पूंजी बाजार के महत्वपूर्ण अंग के रूप में पूंजी निर्माण में सहायक सिद्ध होता है क्योंकि शेयर बाजार संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय सहज एवं सुगम बनाने के लिए एक सुव्यवस्थित बाजार तथा एजेंसी के रूप में कार्य करता है। इसकी विद्यमानता से विनियोजन में आसानी बनी रहती है और

आवश्यकता पड़ने पर विनियोग में परिवर्तन किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त चूंकि शेयर बाजार प्रतिभूतियों का सुव्यवस्थित बाजार है अतः प्रतिभूतियों में तरलता, विपणनता एवं हस्तांतरणीयता के गुण बनाए रखने में सहायता पहुंचाता है। इससे प्रभावित होकर संभावित विनियोगकर्ता इन प्रतिभूतियों में अपनी बचतों का विनियोजन करने में नहीं हिचकता है। इससे पूंजी का निर्माण संभव है।

पूंजी में गतिशीलता : शेयर बाजारों द्वारा प्रतिभूतियों में धन के विनियोजन तथा आवश्यकतानुसार विनियोग में परिवर्तन की सुविधा प्रदान करके पूंजी का बहाव उचित दिशा की ओर (लाभप्रद उद्योगों में) गतिशील बनाए रखा जाता है क्योंकि शेयर बाजारों के माध्यम से उन सारे तत्वों का पूर्वज्ञान होता है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव संस्थाओं की लाभक्षमता पर पड़ता है। विनियोगकर्ता अपनी बचतों का विनियोजन अथवा विनियोजन में परिवर्तन उन उद्योगों के लिए कर सकता है जिनसे उसे भविष्य में ऊंची दर की आय प्राप्त होने की संभावना है।

पूंजी के साधनों का उचित वितरण : शेयर बाजार देश के आर्थिक साधनों का उचित एवं प्रभावशील वितरण करने में एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में कार्य करते हैं। किसी उद्योग के अंतर्गत यदि किन्हीं संस्थाओं में पूंजी का प्रयोग उचित रूप से नहीं हो पा रहा है तो उनसे पूंजी के आधिक्य को उन संस्थाओं को प्रदान कर दिया जाता है जिन्हें अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता है और जो पूंजी को प्रभावपूर्ण ढंग से कुशलतापूर्वक उपयोग में ला सकती हैं।

विनियोगकर्ताओं के हितों की सुरक्षा : शेयर बाजार एक सुव्यवस्थित प्रतिभूति के बाजार के रूप में कार्य करता है। इनकी समस्त क्रियाएं एवं गतिविधियां संबंधित अधिनियम द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। इससे विनियोगकर्ता को अपने धन के विनियोजन में पूर्ण सुरक्षा बनी रहती है क्योंकि शेयर बाजार में प्रतिभूतियों से संबंधित समस्त लेनदेन पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार किए जाते हैं। शेयर बाजार में कार्यरत प्रत्येक सदस्य के लिए (जिनके माध्यम से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है) यह आवश्यक है कि वह शेयर बाजार के सारे नियमों एवं उपनियमों का पूरी तरह पालन करे अन्यथा उसे किसी भी रूप में दंडित किया जा सकता है। इससे विनियोगकर्ता के हित सुरक्षित रहते हैं और उसे संबंधित लेनदेन में कपट, मिथ्यावर्णन तथा अन्य अनुचित व्यवहारों का भय नहीं रहता है।

विनियोगकर्ता की पूंजी में वृद्धि : शेयर बाजार में कार्यरत परिकल्पकों की गतिविधियों के कारण प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं। मूल्यों में वृद्धि के समय विनियोगकर्ता प्रतिभूति को बेचकर मूलधन में वृद्धि का लाभ उठा सकता है।

व्यावसायिक वातावरण में संभावित परिवर्तनों का सूचक : शेयर बाजार एक ऐसी एजेंसी है जिसके माध्यम से संभावित विनियोगकर्ताओं को देश में व्याप्त व्यावसायिक वातावरण का ज्ञान हो सकता है और वे उस वातावरण में संभावित परिवर्तनों का अनुमान लगा सकते हैं क्योंकि शेयर बाजार उन तमाम संभावित सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों का आभास कराते हैं जिनसे देश की औद्योगिक संस्थाओं की प्रगति एवं सफलता प्रभावित हो सकती है। शेयर बाजार में इस प्रकार की सूचनाएं मुख्य रूप से परिकल्पकों के कठोर परिश्रम से उपलब्ध होती हैं जो व्यावसायिक वातावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप औद्योगिक संस्थाओं की प्रतिभूतियों में मूल्यों के परिवर्तन का लाभ उठाने की चेष्टा करते रहते हैं।

शेयर बाजारों के उपरोक्त महत्व को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि शेयर बाज़ार संभावित विनियोगकर्ताओं को अपनी बचतें संस्थाओं द्वारा

निर्गमित प्रतिभूतियों में विनियोजित करने के लिए प्रोत्साहित करके औद्योगिक संस्थाओं के लिए पूंजी का निर्माण करते हैं एवं उनके द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के बाजार में विस्तार करते हैं क्योंकि सुव्यवस्थित शेयर बाजारों की विद्यमानता विनियोगकर्ताओं को इस बात का आश्वासन दिलाती है कि प्रतिभूतियों में विनियोग आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तित किया जा सकेगा (प्रतिभूतियों में तरलता, विपणनता एवं हस्तांतरणीयता के गुण उत्पन्न करके) और शेयर बाजारों के माध्यम से धन के विनियोजन में उनके हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहेंगे। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा पूंजी के बहाव में गतिशीलता प्रदान किए जाने से औद्योगिक संस्थाओं को इस बात की प्रेरणा मिलती है कि वे प्राप्त पूंजी का यथासंभव अधिकतम कुशलतापूर्वक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करें। अन्यथा उनकी ओर पर्याप्त पूंजी के बहाव में बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं। संक्षेप में सुव्यवस्थित शेयर बाजारों की विद्यमानता से औद्योगिक संस्था एवं विनियोगकर्ताओं को निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

संस्था को लाभ

(1) शेयर बाजार संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय सहज बनाने के लिए सुव्यवस्थित बाजार उपलब्ध कराते हैं। इससे संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के बाजार में स्वाभाविक रूप से विस्तार संभव है। (2) जिन संस्थाओं या कंपनियों की प्रतिभूतियां शेयर बाजार में सूचीकृत रहती हैं उन संस्थाओं की साख एवं ख्याति अन्य संस्थाओं की तुलना में अधिक समझी जाती है क्योंकि उन संस्थाओं पर विनियोगकर्ताओं का अधिक विश्वास बना रहता है। (3) शेयर बाजारों में प्रतिभूतियों का लेनदेन संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण को भी प्रभावित करता है क्योंकि इससे संस्था को इस बात की प्रेरणा मिलती है कि प्राप्त पूंजी का उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से किया जाए ताकि सामान्य अंशों में अत्यधिक लाभांश वितरित किया जा सके। इससे संस्था की प्रतिभूतियों के बाजार मूल्यों में वृद्धि संभव है और संस्था अंतिम रूप से पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने में सफल हो सकती है। (4) शेयर बाजारों में केवल उन्हीं संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का लेनदेन किया जाता है जो शेयर बाजार में सूचीकृत हों। प्रतिभूतियों का सूचियन कराने के लिए संस्था को तमाम आवश्यक सूचनाएं शेयर बाजार को देनी पड़ती हैं और शेयर बाजार द्वारा लगाई गई शर्तों का पूर्ण रूप से पालन करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप भी संस्था अपने दैनिक कारोबार के प्रति पूरी तरह सतर्क रहती है।

विनियोगकर्ताओं को लाभ

(1) शेयर बाजार प्रतिभूतियों के लिए एक सुव्यवस्थित बाजार तथा माध्यम उपलब्ध करते हैं इससे प्रतिभूतियों का हस्तांतरण करने, उनका विक्रय करने तथा विनियोग को परिवर्तित करने में विनियोगकर्ता को सुविधा बनी रहती है। (2) शेयर बाजार से प्राप्त सूचनाओं एवं आंकड़ों के अनुसार विनियोगकर्ता अपने धन का उचित प्रतिभूतियों में विनियोजन कर सकते हैं। (3) शेयर बाजार की समस्त क्रियाएं पूर्वनिर्धारित नियमों द्वारा नियमित की जाती हैं, इससे विनियोगकर्ताओं के हित सुरक्षित रहते हैं। (4) विनियोगकर्ता अपनी प्रतिभूतियों (जिनका शेयर बाजार में सूचियन कराया गया है) को गिरवी रख कर अपनी वित्तीय आवश्यकताएं पूरी कर सकता है क्योंकि सूचीकृत प्रतिभूतियों को इस संबंध में प्राथमिकता दी जाती है।

शेयर बाजारों द्वारा पूंजी का निर्माण करने एवं उसे गतिशीलता प्रदान करने के फलस्वरूप इसका लाभ केवल औद्योगिक संस्था तथा विनियोगकर्ता को ही नहीं होता है

बल्कि इससे संपूर्ण समाज लाभान्वित हो सकता है। इसका अंतिम प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था तथा औद्योगिक विकास पर पड़ता है, क्योंकि पूंजी के पर्याप्त साधनों की उपलब्धता में वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर करके समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं जिससे प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होना स्वाभाविक है। इससे जनता को उचित मूल्य पर उचित किस्म की वस्तुएं उपलब्ध हो सकेंगी और व्यवसाय के विस्तार से रोजगार की व्यवस्था भी सुधारी जा सकेगी।

शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का सूचियन

सूचियन से अभिप्राय

शेयर बाजार में केवल उन्हीं प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से संबंधित लेनदेन किए जाते हैं जिनका शेयर बाजार में सूचियन कराया गया हो। सूचियन से हमारा अभिप्राय ऐसी क्रिया से है जिसके द्वारा संस्था अपनी प्रतिभूतियों को शेयर बाजार की व्यापारिक तालिका में सम्मिलित कराती है। दूसरे शब्दों में शेयर बाजार में केवल उन्हीं प्रतिभूतियों का व्यापार किया जाता है जो शेयर बाजार की व्यापारिक तालिका में शामिल हैं। कंपनी के लिए वैधानिक रूप से यह आवश्यक नहीं है कि वह निर्गमित प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन कराए पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से अपनी साख मजबूत बनाने के लिए तथा निर्गमित प्रतिभूतियों के बाजार का विस्तार करने के लिए कंपनी के लिए प्रतिभूतियों का सूचियन कराना वांछनीय है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर सरकार किसी भी समामेलित कंपनी को (संबंधित वैधानिक औपचारिकताएं पूरी करके) प्रतिभूतियों का सूचियन कराने के लिए बाध्य कर सकती है।

शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का सूचियन करने से शेयर बाजार न तो संस्था को उसके द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के विक्रय की गारंटी देता है और न विनियोगकर्ताओं को इस बात का आश्वासन दिया जाता है कि सूचीकृत प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन सुरक्षित है परंतु संस्था द्वारा अपनी प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन कराने के लिए वैधानिक रूप से जो आवश्यक सूचनाएं प्रदान की जाती हैं, इन सूचनाओं के आधार पर शेयर बाजार विनियोगकर्ताओं को इस बात का आश्वासन अवश्य देते हैं कि संस्था वैधानिक रूप से (कंपनी अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं के अनुसार) संचालित की जाती है और अपने ऋण चुकाने में समर्थ है।

सूचियन की विधि

कोई भी संस्था जो निर्गमित प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में लेनदेन करने के लिए शेयर बाजार से मान्यता प्राप्त करने हेतु प्रतिभूतियों का सूचियन कराना चाहती है, उसे सूचियन के लिए निर्धारित फार्म भर कर निम्नलिखित दस्तावेजों एवं सूचनाओं के साथ शेयर बाजार को भेजना पड़ता है :

1. संस्था के पार्षद सीमानियम, अंतरनियम, प्रविवरणपत्र, संचालकों की रिपोर्ट, अभिगोपन अनुबंध की एक एक प्रतिलिपि तथा 'पूंजी निर्गमन नियंत्रणकर्ता' की सहमति।

2. समामेलन के पश्चात संस्था द्वारा की गई क्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन, विशेष रूप से भुगतान किए गए लाभांश का ब्यौरा।

3. संस्था ने पूंजी के ढांचे का विवरण, अंशों के वितरण का व्यौरा तथा उन प्रतिभूतियों का विवरण जिनको शेयर बाजार में सूचीकृत कराया जा रहा है।

4. संस्था ने निर्गमित प्रतिभूतियों के हस्तांतरण के लिए समस्त सुविधाएं प्रदान की हैं, इसको प्रमाणित करने के लिए अंश तथा ऋणपत्र प्रमाणपत्रों की प्रतिलिपि, हस्तांतरण में प्रयोग किए जाने वाले अन्य दस्तावेजों की प्रतिलिपि।

5. संस्था द्वारा इस तथ्य की घोषणा कि निर्गमित अंश पूंजी का कम से कम 49% जनता में अंशदान के लिए प्रस्तावित किया गया है।

शेयर बाजार के अधिकारी इन सूचनाओं से संतुष्ट हो जाने पर संस्था की प्रतिभूतियों को शेयर बाजार की व्यापारिक तालिका में सम्मिलित कर लेते हैं।

सूचियन का महत्व

प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन कराने से संस्था की प्रतिभूतियों के बाजार का विस्तार होता है और प्रतिभूतियों में तरलता, विपणनता तथा हस्तांतरणीयता के गुण उत्पन्न होते हैं जो एक ओर प्रतिभूतियों में धन के विनियोजन के लिए प्रलोभन अथवा उत्प्रेरक हैं और दूसरी ओर इन गुणों के कारण प्रतिभूतियों का विनियोगकर्ता आवश्यकतानुसार इन्हें बेच सकता है अथवा इनका हस्तांतरण कर सकता है।

प्रतिभूतियों का सूचियन कराने से विनियोगकर्ताओं का इन प्रतिभूतियों व निर्गमन करने वाली संस्था के प्रति विश्वास बढ़ता है क्योंकि प्रतिभूतियों का सूचियन करने के लिए संस्था को तमाम आवश्यक सूचनाएं शेयर बाजार को देनी पड़ती हैं और शेयर बाजार के अधिकारी इन सूचनाओं से संतुष्ट होकर ही प्रतिभूतियों को अपनी व्यापारिक तालिका में सम्मिलित करते हैं। इसके अतिरिक्त जो संस्था शेयर बाजार में अपनी प्रतिभूतियों का सूचियन कराती है उस संस्था की साख अन्य संस्थाओं की तुलना में बेहतर समझी जाती है।

शेयर बाजार में सूचियन के फलस्वरूप विनियोगकर्ता को उन प्रतिभूतियों में लेन-देन के लिए सुव्यवस्थित बाजार उपलब्ध होता है और इस बाजार में प्रतिभूतियों के लेन-देन में उसके हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं। इसके अतिरिक्त सूचीकृत प्रतिभूतियों में तरलता, विपणनता एवं हस्तांतरणीयता के गुणों की विद्यमानता से इन प्रतिभूतियों को गिरवी रखकर आसानी से ऋण प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि जमानत के रूप में स्वीकार करने के लिए इन प्रतिभूतियों को प्राथमिकता दी जाती है।

सूचियन से संभावित हानि

शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का सूचियन कराने के लिए संस्था को कुछ आवश्यक सूचनाएं दी जाती हैं जैसे बिक्री, लाभांश, पूंजी का ढांचा आदि, यदि ये सूचनाएं प्रतियोगी संस्था को ज्ञात हो जाएं तो वह इनका पूरा पूरा लाभ अपने हित में उठा सकती है।

व्यवहार में यह पाया गया है कि सूचीकृत प्रतिभूतियों में परिकल्पना का तत्व भी विद्यमान रहता है जिससे एक ओर तो वास्तविक विनियोगकर्ताओं के हितों को ठेस पहुंच सकती है और दूसरी ओर इससे संस्था की साख विपरीत रूप से प्रभावित हो सकती है। सूचियन की ये सीमाएं अधिक प्रभावपूर्ण नहीं समझी जाती हैं क्योंकि यदि सूचीकृत प्रतिभूतियों में परिकल्पना का तत्व मौजूद रहे तो इससे कुछ दशाओं में विनियोगकर्ताओं को प्रतिभूति के मूल्य में वृद्धि का लाभ भी प्राप्त हो सकता है और स्वस्थ तथा उचित परिकल्पना की क्रिया शेयर बाजार के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक समझी गई है।

जिस संस्था की प्रतिभूतियों का शेयर बाजार में सूचियन किया जाता है उसके लिए समय समय पर निम्न सूचनाएं शेयर बाजार को भेजना आवश्यक है :

(अ) उस तिथि की सूचना, जिस तिथि पर लाभांश घोषित करने के लिए संचालक मंडल की बैठक होनी है।

(ब) यदि संस्था ने अपने व्यवसाय की प्रकृति में कोई परिवर्तन किया है तो इसकी सूचना।

(स) संस्था की पूंजी के संबंध में किए गए परिवर्तन की सूचना।

(द) यदि संस्था नए अंश निर्गमित करती है तो इसकी सूचना।

इन सूचनाओं के अतिरिक्त सूचियन समझौते के अंतर्गत संस्था को निम्न शर्तों का पालन करना आवश्यक है :

(अ) संस्था किसी ऐसी शर्त का खंडन नहीं कर सकेगी जिसके आधार पर शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का सूचियन कराया गया है।

(ब) सूचीकृत प्रतिभूतियों के संबंध में शोधन अथवा निरसन की संभावना से भी शेयर बाजार को अवगत कराया जाना चाहिए।

(स) इसके अतिरिक्त संस्था के लिए यह भी आवश्यक है कि वह वे समस्त सूचनाएं शेयर बाजार को दे जिनके आधार पर अंशधारी संस्था की आर्थिक स्थिति ज्ञात कर सकते हैं।

(द) कंपनी अधिनियम की धारा 73 के अनुसार यदि कोई भी कंपनी प्रविवरणपत्र जारी करते समय इसमें इस तथ्य की सूचना भी देना चाहती है कि प्रतिभूतियों का सूचियन कराया जा रहा है अथवा किया जाना है तो निश्चित अवधि के भीतर इसके लिए शेयर बाजार की अनुमति प्राप्त करने हेतु आवेदनपत्र दिया जाना आवश्यक है।

भारत में शेयर बाजारों का संगठन

उद्गम एवं विकास

शेयर बाजार पूंजी बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके द्वारा संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के लिए सुव्यवस्थित बाजार उपलब्ध कराया जाता है। अन्य देशों की भांति भारत में भी शेयर बाजारों का विकास व्यवसाय के महत्वपूर्ण स्वरूप संयुक्त पूंजी कंपनी के साथ ही साथ हुआ है। संयुक्त पूंजी कंपनी के रूप में कार्यरत संस्था के लिए प्रतिभूतियों का निर्गमन करके पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने के लिए सुव्यवस्थित शेयर बाजारों की विद्यमानता आवश्यक है। सबसे पहले बंबई में 1875 में 'नेटिव शेयर स्टाक्स ब्रोकर्स एसोसिएशन' नाम से शेयर बाजार स्थापित किया गया। इसके पश्चात 1908 में कलकत्ता शेयर बाजार की स्थापना हुई। 1920 में मद्रास में शेयर बाजार स्थापित किया गया जो सदस्य संख्या में कमी तथा व्यवसाय की अपर्याप्तता के कारण बंद कर दिया गया। 1937 में इस शेयर बाजार ने पुनः अपना व्यवसाय प्रारंभ कर दिया। इसी के साथ 1939 में अहमदाबाद में, 1940 में कानपुर में, 1943 में हैदराबाद में और 1947 में दिल्ली में शेयर बाजार स्थापित हुए।

देश के विभिन्न बड़े बड़े शहरों में इस प्रकार शेयर बाजारों की स्थापना होने के बाद देश के औद्योगिक विकास को संतुलित रखने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि देश में स्थापित समस्त शेयर बाजारों की कार्यप्रणाली में एकरूपता लाई जाए और विनियोगकर्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिए इनकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखा जाए ताकि इनकी कार्यविधि और अधिक प्रभावशील एवं अनुकूल बनाई जा सके। इसी

उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए 1956 में प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम बनाया गया जिसके अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया कि केवल मान्यताप्राप्त शेयर बाजार ही कार्य कर सकते हैं। इस संबंध में अभी तक सरकार ने आठ शेयर बाजारों को मान्यता दी है। इन शेयर बाजारों में बंबई शेयर बाजार को, जो एक क्लब की तरह सदस्यों द्वारा लाभ न कमाने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है, सरकार ने स्थाई रूप से मान्यता प्रदान कर रखी है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता तथा दिल्ली के शेयर बाजारों को जो सार्वजनिक कंपनी के रूप में कार्य कर रहे हैं, मद्रास एवं हैदराबाद के शेयर बाजार गारंटी द्वारा सीमित कंपनी के रूप में हैं, इंदौर शेयर बाजार बंबई शेयर बाजार की भांति तथा बंगलौर शेयर बाजार जो पहले निजी कंपनी के रूप में स्थापित किया गया था और बाद में सार्वजनिक कंपनी में परिवर्तित कर दिया गया, इन सब शेयर बाजारों को पांच पांच वर्ष के लिए मान्यता प्रदान की जाती है और इस अवधि की समाप्ति पर मान्यता का नवीकरण कर दिया जाता है।

भारतवर्ष में जो आठ मान्यताप्राप्त शेयर बाजार कार्य कर रहे हैं उनके संगठन एवं स्थापना का निम्न स्वरूप है :

नाम	स्थापना वर्ष	संगठन का स्वरूप	मान्यता प्राप्त करने की तिथि	मान्यता का स्वरूप
बंबई	1875	ऐच्छिक परिषद	31.8.1957	स्थाई रूप से
कलकत्ता	1923	सार्वजनिक कंपनी	10.10.1957	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
मद्रास	1937	गारंटी द्वारा सीमित कंपनी	15.10.1957	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
दिल्ली	1947	सार्वजनिक सीमित कंपनी	9.12.1957	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
अहमदाबाद	1894	ऐच्छिक परिषद	16.9.1957	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
हैदराबाद	1943	गारंटी द्वारा सीमित कंपनी	29.9.1958	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
इंदोर	1930	ऐच्छिक परिषद	24.12.1958	एक समय में 5 वर्षों तक के लिए
बंगलौर	1957	निजी सीमित कंपनी	16.2.1963	एक समय में 1 वर्ष तक के लिए

शेयर बाजारों का प्रबंध

प्रत्येक शेयर बाजार की तमाम क्रियाएं मूलरूप से 'प्रबंध समिति' द्वारा संचालित की जाती हैं। इस प्रबंध समिति की बनावट एवं अधिकार अलग अलग शेयर बाजारों में अलग अलग हैं। प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम के लागू होने के बाद प्रत्येक शेयर बाजार की प्रबंध समिति में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य भी सम्मिलित किए जाते हैं जिनकी एक शेयर बाजार के लिए अधिकतम सीमा तीन है। इस प्रबंध समिति को अलग अलग शेयर बाजारों में अलग अलग नाम से जाना जाता है। कलकत्ता में इसे 'शासन मंडल' कहा जाता है। कहीं इसे 'प्रबंधकीय विचार सभा' (काउंसिल आफ मैनेजमेंट) और

कहीं केवल 'सामान्य समिति' कहा जाता है। इन समितियों की रचना संयुक्त पूंजी कंपनी के संचालक मंडल की भांति की जाती है। प्रबंध समिति को, जो शेयर बाजार की समस्त क्रियायों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण करती है, कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए इसके नियंत्रण में कुछ अन्य समितियों का गठन भी किया जाता है :

न्याय पंचायत समिति (आरबिट्रेशन कमेटी) : यह समिति मुख्य रूप से सदस्यों के परस्पर मनमुटाव. झगड़े आदि का निपटारा करती है।

डिफाल्टर्स कमेटी : यह समिति उन सभी मामलों की देखभाल करती है जो सदस्यों द्वारा शेयर बाजार के निर्धारित नियमों तथा उपनियमों का उल्लंघन करने से संबंधित हों।

सूचियन समिति : इस समिति का गठन संस्थाओं की प्रतिभूतियों का सूचियन संबंधी कार्य करने के लिए किया जाता है।

सदस्यता

शेयर बाजार में केवल अधिकृत सदस्य ही प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकते हैं अत: प्रतिभूतियों के लेनदेन के लिए इच्छुक व्यक्ति को शेयर बाजार की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक है। जहां तक शेयर बाजार की सदस्यता का प्रश्न है इसे प्रभावपूर्ण एवं सीमित बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि सदस्य की आर्थिक स्थिति संतोषजनक हो और उसे इस कार्य का अनुभव हो। प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम के अनुसार संयुक्त पूंजी कंपनी तथा साझेदारी संस्था शेयर बाजार की सदस्य नहीं हो सकती है। सदस्यता प्राप्त करने के लिए अलग अलग शेयर बाजारों में भिन्न भिन्न नियमों की व्यवस्था की गई है, जैसे बंबई शेयर बाजार में सदस्यता प्राप्त करने के लिए आवेदनपत्र उसी शेयर बाजार के दो ऐसे सदस्यों के द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए जिनको सदस्य के रूप में कम से कम 5 वर्ष का अनुभव प्राप्त हो। आवेदनपत्र स्वीकार हो जाने के पश्चात आवेदक को 20,000 रु० नकदी अथवा प्रतिभूतियों के रूप में जमानत के लिए शेयर बाजार में जमा करनी पड़ती है तथा उस सदस्य से जो सदस्यता से इस्तीफा दे रहा हो, या ऐसे सदस्य के वैधानिक उत्तराधिकारी द्वारा अपना नाम मनोनीत करवाना पड़ता है जिसकी मृत्यु हो गई हो। इसी प्रकार अन्य शेयर बाजारों में भी सदस्य को निर्धारित प्रवेश शुल्क, सदस्यता जमा, वार्षिक शुल्क जमा करना पड़ता है। ये विभिन्न शुल्क सरकार द्वारा विभिन्न शेयर बाजारों से राय-मशविरा करके निर्धारित किए जाते हैं, जैसे सदस्यता जमा कलकत्ता तथा बंबई शेयर बाजारों में 20,000 रु० है, मद्रास, अहमदाबाद, बंगलौर तथा दिल्ली के शेयर बाजारों में 5,000 रु० तथा हैदराबाद तथा इंदौर में 3,000 रु० है।

सामान्य दशाओं में सदस्य ही शेयर बाजार के भीतर प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का कार्य करते हैं। पर उनको अपने कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए शेयर बाजार कुछ अन्य व्यक्तियों को भी सदस्यों के सहायक के रूप में कार्य करने की अनुमति देते हैं। इन व्यक्तियों के कार्यों की प्रकृति एवं स्वरूप को ध्यान में रखते हुए इनको निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अधिकृत क्लर्क : शेयर बाजार में कार्य करने वाले सदस्यों द्वारा किए गए लेनदेन को शीघ्र निपटाने के लिए तथा उनको कार्य में सहायता पहुंचाने के लिए सदस्यों को कुछ अधिकृत क्लर्क नियुक्त करने की अनुमति दे दी जाती है। ये सहायक अथवा क्लर्क केवल अपने सदस्य के नाम पर उनकी ओर से लेनदेन करने के लिए अधिकृत होते हैं और अपने नाम से कोई लेनदेन नहीं कर सकते हैं। इनकी संख्या अलग अलग शेयर बाजारों में अलग अलग होती है, जैसे बंबई शेयर बाजार में अधिकतम संख्या 5 (एक

संदस्य के लिए) है, कलकत्ता शेयर बाजार में इनकी अधिकतम संख्या 8 और मद्रास में केवल तीन है। इन अधिकृत क्लर्कों को उनकी सेवाओं के लिए प्रतिफल पारिश्रमिक अथवा कमीशन के रूप में दिया जाता है। लंदन शेयर बाजारों में इनकी स्थिति काफी लाभप्रद है क्योंकि इन क्लर्कों को वेतन अथवा कमीशन के अतिरिक्त अन्य छूटें भी प्रदान की जाती हैं, जैसे उनके लिए शेयर बाजार की सदस्यता का कुछ प्रतिशत सुरक्षित रख दिया जाता है और पांच वर्षों का अनुभव प्राप्त करने के बाद प्रवेश शुल्क आदि में कुछ छूट देकर उनको सदस्यता प्रदान कर दी जाती है।

रेमीसर्ज : शेयर बाजार के सदस्यों को अपना व्यवसाय प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से जनता में प्रचार एवं विज्ञापन करने की अनुमति नहीं दी जाती है। इस कार्य में सहायता प्राप्त करने हेतु उनको रेमीसर्ज की नियुक्ति करने की अनुमति प्रदान की गई है ताकि इनके माध्यम से वे पर्याप्त ग्राहकों से संबंध स्थापित कर सकें। रेमीसर्ज को सदस्यों का एजेंट भी कहा जाता है क्योंकि ये सामान्य एजेंट की भांति अपने नियोक्ता तथा तीसरे पक्षकार के बीच संबंध स्थापित करते हैं। इन्हें इनकी सेवाओं के बदले जो प्रतिफल दिया जाता है उसे कमीशन कहा जाता है। इनको इनके द्वारा प्राप्त किए गए व्यवसाय में कुल कमीशन का 50% तक दिया जा सकता है इसीलिए इनको आधा कमीशन एजेंट भी कहा जाता है। इनका मुख्य कार्य प्रतिभूतियों के लेनदेन के लिए क्रेता एवं विक्रेता ढूंढ़ना है। रेमीसर्ज शेयर बाजार के व्यापारिक क्षेत्र में सदस्यों की ओर से उनके नाम पर कोई लेनदेन नहीं कर सकते हैं। सर्वप्रथम रेमीसर्ज की नियुक्ति बंबई शेयर बाजार में की गई थी। अब इनकी सेवाओं का महत्व समझते हुए अन्य शेयर बाजारों में भी इनकी नियुक्ति का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

जोबर और ब्रोकर : लंदन शेयर बाजारों में सदस्यों द्वारा किए जाने वाले लेनदेन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है : जोबर एवं ब्रोकर। वहां के शेयर बाजारों में सदस्यों की स्थिति में यह मूल अंतर काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक वर्ष के प्रारंभ में प्रत्येक सदस्य को यह निश्चित करना पड़ता है कि वह शेयर बाजार में जोबर की स्थिति में कार्य करेगा अथवा ब्रोकर की स्थिति में और वर्ष भर वे अपनी निश्चित स्थिति को बदल नहीं सकते हैं।

जोबर : जोबर लंदन शेयर बाजार का ऐसा सदस्य है जो प्रतिभूतियों के व्यापारी के रूप में उनका लेनदेन स्वयं अपने नाम पर करता है। वह प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभूतियों के संभावित क्रेता तथा विक्रेता से लेनदेन नहीं कर सकता है। क्योंकि वह प्रतिभूतियों का व्यापारी है अतः वह प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय या तो ब्रोकर से करता है या अपनी स्थिति पर कार्य करने वाले अन्य जोबर के साथ। इस प्रकार उसके द्वारा जिन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है, उनके क्रय तथा विक्रय मूल्य के बीच का अंतर उसका लाभ होता है जिसे जोबर का लाभ (जोबर्स टर्न) कहा जाता है।

ब्रोकर : ब्रोकर प्रतिभूतियों का ऐसा कमीशन एजेंट है जो प्रतिभूतियों के संभावित क्रेताओं एवं विक्रेताओं की ओर से उनके लिए संबंधित लेनदेन करता है। ब्रोकर की स्थिति ठीक एक एजेंट की भांति होती है क्योंकि ब्रोकर का मुख्य कार्य प्रतिभूतियों के क्रेता के लिए विक्रेता ढूंढ़ना एवं विक्रेता के लिए क्रेता ढूंढ़ना है। इस प्रकार ब्रोकर एजेंट की भांति क्रेता एवं विक्रेता के बीच संबंध स्थापित करने का कार्य करता है। उसे इस कार्य के लिए जो पारिश्रमिक प्राप्त होता है उसे दलाली कहा जाता है। ब्रोकर एक ओर जोबर्स के साथ संबंध बनाए रखता है और दूसरी ओर संभावित ग्राहकों के साथ संबंध रखता है। ब्रोकर के माध्यम से ही संभावित विनियोगकर्ता प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करते हैं।

जोबर तथा ब्रोकर दोनों प्रकार के सदस्यों की स्थिति काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि उनकी इन स्थितियों के अंतिम परिणाम से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय संघटित होता है। ये दोनों सदस्य जिन भिन्न भिन्न स्थितियों में कार्य करते हैं उनमें निम्न मूल अंतर पाए जाते हैं: (1) जोबर प्रतिभूतियों का स्वतंत्र व्यापारी होता है और इनका क्रय-विक्रय वह स्वयं अपने नाम से कर सकता है, जबकि ब्रोकर केवल एजेंट के रूप में संभावित क्रेता अथवा विक्रेता की ओर से उनके लिए प्रतिभूतियों का लेनदेन करता है। (2) जोबर प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय या तो ब्रोकर के साथ करता है अथवा अपनी ही स्थिति में कार्य करने वाले अन्य जोबर के साथ परंतु ब्रोकर एक ओर जोबर्स से संबंध बनाए रखता है और दूसरी ओर प्रतिभूतियों के संभावित ग्राहकों के साथ। (3) जोबर प्रतिभूतियों का स्वतंत्र व्यापारी होता है अत: उसे प्रतिभूतियों के क्रय मूल्य तथा विक्रय मूल्य के अंतर से जो लाभ प्राप्त होता है उसे जोबर का लाभ (जोबर्स टर्न) कहा जाता है जबकि ब्रोकर को उसकी सेवाओं के लिए जो पारितोषिक प्राप्त होता है उसे दलाली (ब्रोकरेज) कहा जाता है। (4) इसी प्रकार, जोबर एक ऐसा सदस्य है जो कुछ गिनी चुनी प्रतिभूतियों का ही क्रय-विक्रय करता है क्योंकि शेयर बाजार में अलग अलग जोबर अलग अलग प्रतिभूतियों का व्यापार करते हैं। इसके विपरीत ब्रोकर के कार्य की प्रकृति सामान्य है। उसे अनेक प्रकार के संभावित विनियोगकर्ताओं की ओर से लेनदेन करना पड़ता है अत: वह विभिन्न प्रतिभूतियों के लेनदेन में संलग्न रहता है।

जोबर एवं ब्रोकर की व्यवहार में स्थिति : शेयर बाजार में यदि कोई ब्रोकर ग्राहकों की ओर से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना चाहता है तो वह जोबर को अपना यह इरादा प्रारंभ में स्पष्ट नहीं करता है क्योंकि जोबर प्रतिभूतियों के क्रय तथा विक्रय दोनों के लिए तत्पर रहता है इसीलिए ब्रोकर के साथ लेनदेन करते समय वह ब्रोकर को वे दोनों मूल्य बता देता है जिसमें से एक मूल्य पर वह प्रतिभूतियों को क्रय करना चाहता है और दूसरे मूल्य पर उनका विक्रय करने के लिए तैयार रहता है। इसे दोहरा मूल्य भी कहा जाता है। यदि इन मूल्यों से ब्रोकर संतुष्ट हो तो वह जोबर को यह स्पष्ट करता है कि वह प्रतिभूतियों का क्रय करना चाहता है अथवा उनका विक्रय, और इस प्रकार वे आपस में लेनदेन तय कर लेते हैं। और यदि वह जोबर द्वारा बताए गए दोहरे मूल्य से संतुष्ट न हो तो दूसर जोबर के साथ संपर्क स्थापित करके संबंधित लेनदेन तय कर लेता है। इस दोहरे मूल्य में अंतर ही जोबर का लाभ (जोबर्स टर्न) कहलाता है।

जोबर तथा ब्रोकर की वास्तविक स्थिति के बारे में ऊपर किए गए वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों प्रकार के सदस्यों की स्थिति सराहनीय है क्योंकि जहां एक ओर ब्रोकर प्रतिभूतियों के संभावित क्रेता एवं विक्रेता को प्रतिभूतियों के लेनदेन में अपने विशिष्ट ज्ञान से लाभ पहुंचाता है वहां दूसरी ओर जोबर शीघ्र ही विनियोजकों के लिए प्रतिभूतियों की व्यवस्था करके उन्हें उपलब्ध कराता है।

बंबई शेयर बाजार में तरावनीवाला एवं दलाल

लंदन शेयर बाजार में जोबर एवं ब्रोकर की भांति बंबई शेयर बाजार में भी शेयर बाजार का सदस्य तरावनीवाला लगभग जोबर से मिलती जुलती स्थिति में कार्य करता है और दलाल जो ब्रोकर की स्थिति में कार्य करता है। परंतु उनकी स्थितियों में अंतर बंबई शेयर बाजार में नियमबद्ध नहीं है। तरावनीवाला, जो प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय अपने नाम से करता है परंतु अवसर पाते ही वह अपनी कार्यस्थिति में परिवर्तन कर लेता है। इसी प्रकार दलाल, जो ब्रोकर की तरह संभावित क्रेता तथा विक्रेता की ओर से प्रतिभूतियों का लेनदेन करता है, भी यदा कदा अपनी स्थिति बदल देता है। अत: भारतीय शेयर बाजारों में इन

दोनों सदस्यों की कार्यस्थिति में अंतर दिखावे मात्र का है। व्यवहार में इन दोनों सदस्यों की कार्य स्थिति में सही रूप से अंतर किया जाना काफी मुश्किल है।

सदस्यों की इस प्रकार की दोहरी कार्य स्थिति वास्तविक विनियोगकर्ताओं के हित में नहीं समझी जाती है क्योंकि तरावनीवाला प्रत्यक्ष रूप से कम मूल्यों पर ग्राहकों से प्रतिभूतियां क्रय कर लेता है और दूसरी ओर उनको अधिक मूल्यों में विक्रेताओं में बेचकर लाभ कमा लेता है। इसके अतिरिक्त साधारण विनियोजक शेयर बाजार में कार्य करने वाले सदस्य तरावनीवाला की कुशलता एवं चतुराई को नहीं समझ पाता है और उसके साथ लेनदेन तय करने में सफल नहीं हो सकता है। भारतीय शेयर बाजारों में सदस्यों की दोहरी कार्य स्थिति की, समय समय पर इस संबंध में गठित की गई तमाम समितियों द्वारा आलोचना की गई है। इस संबंध में डा० थामस एवं गोरवाला समिति ने इस बात की सिफारिश की थी कि सदस्यों के कार्यक्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए और उन्हें अपनी कार्यस्थिति में दोहरेपन का प्रयोग करने से रोका जाना चाहिए। इन्हीं सिफारिशों को दृष्टि में रखते हुए प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम में इसके लिए निम्न व्यवस्था की गई है। प्रतिभूति (अनुबंध) नियमन अधिनियम की धारा 15 के अनुसार शेयर बाजार का कोई भी सदस्य (शेयर बाजार के अन्य सदस्यों के अलावा) किसी भी अन्य क्रेता और विक्रेता से नियोक्ता की स्थिति में अनुबंध नहीं कर सकता है। और यदि कोई सदस्य प्रतिभूतियों के क्रेता एवं विक्रेता से (शेयर बाजार के सदस्यों को छोड़कर) नियोक्ता के रूप में अनुबंध करना चाहता है तो इसके लिए उसे उस व्यक्ति की सहमति प्राप्त करनी पड़ेगी जिसके साथ वह अनुबंध कर रहा है और साथ ही साथ उसे अनुबंध करते समय इस तथ्य को प्रकट करना पड़ेगा कि वह नियोक्ता के रूप में कार्य कर रहा है।

शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से संबंधित समस्त लेनदेन को दो भागों में बांटा जाता है: (1) विनियोजन के दृष्टिकोण से किए गए लेनदेन (विनियोजन)। (2) परिकल्पना (स्पेकुलेशन)। परिकल्पनात्मक लेनदेन शेयर बाजार की कार्यविधि में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका वर्णन विस्तार में अलग से किया जा रहा है।

विनियोजन के उद्देश्य से किए गए लेनदेन : शेयर बाजार के व्यापारिक क्षेत्र के अंतर्गत केवल सदस्य ही प्रवेश कर सकते हैं और प्रतिभूतियों का लेनदेन कर सकते हैं। जिस किसी संभावित क्रेता अथवा विक्रेता को प्रतिभूतियों का क्रय अथवा विक्रय करना होता है वे शेयर बाजार के दलाल (ब्रोकर) के माध्यम से लेनदेन करते हैं। विनियोजन के उद्देश्य से किए गए लेनदेन में प्रतिभूतियों की वास्तविक सुपुर्दगी दी जाती है और उनसे संबंधित मूल्य का भुगतान किया जाता है। शेयर बाजार में, प्रतिभूतियों के लेनदेन की प्रकृति क्रय-विक्रय की विधि पर निर्भर करती है। विनियोजन के उद्देश्य से जो लेनदेन किए जाते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं: तैयार सौदे (रेडी डिलीवरी कांट्रैक्ट), भावी सौदे (फारवर्ड डिलीवरी कांट्रैक्ट)।

तैयार सौदे : तैयार सौदा प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का एक ऐसा लेनदेन है जिसमें, दोनों पक्षकार अनुबंध करते समय ही प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी देने के लिए तथा मूल्य का भुगतान करने के लिए तत्पर रहते हैं। इस प्रकार के लेनदेन का निपटारा या तो उसी दिन किया जाता है जिस दिन लेनदेन किया गया है, जिसे तुरंत सौदा (स्पाट ट्रांजैकशन) कहते हैं, या फिर अनुबंध में निर्धारित निश्चित अवधि के अंतर्गत इन लेनदेनों का निपटारा किया जाता है। यह निश्चित अवधि, जिसके अंतर्गत लेनदेन का निपटारा किया जाना है, अलग अलग शेयर बाजारों में अलग अलग है, जैसे बंबई एवं मद्रास के शेयर बाजारों में इस प्रकार के लेनदेन एक सप्ताह के भीतर निपटा लिए जाते हैं जबकि

कलकत्ता शेयर बाजार में यह अवधि तीन दिन है। हैदराबाद, इंदौर तथा बंगलौर शेयर बाजारों में (जिनको नकद बाजार कहा जाता है) केवल तैयार सौदों का ही लेनदेन किया जाता है जिनका निपटारा या तो दलाल के द्वारा ग्राहक की ओर से प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी प्राप्त करके एवं मूल्य का भुगतान करके और प्रतिभूति की सुपुर्दगी देकर और उसका मूल्य प्राप्त करके किया जाता है। अथवा दलाल लेनदेन के निपटारे के समय प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के पुराने अनुबंध को रद्द करके और उसके स्थान पर नया लेनदेन करके केवल मूल्य में अंतर प्राप्त कर लेता है।

भावी सौदे : भावी सौदे वे सौदे हैं जिनका निपटारा तैयार सौदों की भांति तुरंत अथवा निश्चित अल्पकाल में न होकर माह के अंतर में निश्चित अवधि में किया जाता है और यदि उस तिथि पर दोनों पक्षकार सहमत हों तो लेनदेन को अगली निश्चित तिथि पर निपटा सकते हैं। भावी सौदे केवल उन प्रतिभूतियों के संबंध के किए जाते हैं जो शेयर बाजार के भावी सौदे की सूची में सम्मिलित हों। प्रतिभूतियों के संबंध में भावी सौदे हैदराबाद, इंदौर तथा बंगलौर शेयर बाजारों को छोड़कर अन्य सब शेयर बाजारों में (कलकत्ता, बंबई, मद्रास, दिल्ली एवं अहमदाबाद) किए जाते हैं। प्रतिभूतियों के भावी सौदे अधिकांश दशाओं में शेयर बाजार के परिकल्पकों द्वारा ही किए जाते हैं। इस प्रकार के लेनदेन का निपटारा तैयार सौदों की तुलना में एक अधिक लंबी अवधि के बाद भविष्य में किया जाता है और इस अवधि के दौरान प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन हो सकते हैं अतः परिकल्पक लेनदेन की निपटारे की तिथि पर केवल मूल्यों में परिवर्तन के अंतर का निपटारा कर लेते है अथवा सौदे को अगली तिथि के लिए स्थगित कर देते हैं। पर कुछ दशाओं में विनियोगकर्ता भी प्रतिभूतियों का लेनदेन करने के लिए भावी सौदे करता है और निश्चित अवधि पर मूल्य का भुगतान कर, प्रतिभूति की वास्तविक सुपुर्दगी प्राप्त करके लेनदेन को निपटा दिया जाता है। भावी सौदों का निपटारा 6 दिन के दौर में निम्न प्रकार से किया जाता है :

(अ) सबसे पहले दिन क्रेता एवं विक्रेता दोनों के दलाल उनके द्वारा लेनदेन के संबंध में तैयार की गई विवरण पत्रिकाओं का आपस में मिलान करते हैं।

(ब) दूसरे दिन सौदे के लिए एक विशेष टीलक तैयार किया जाता है, इसीलिए इस दिन को 'टीलक दिवस' भी कहा जाता है।

(स) तीसरे तथा चौथे दिन लेनदेन की गई प्रतिभूतियां शेयर बाजार के समाशोधन गृह (क्लियरिंग हाउस) को सुपुर्द की जाती हैं।

(द) पांचवें दिन दोनों दलाल अपने अपने खातों का पूर्ण विवरण जमा करते हैं। इन विवरणों में से जमा एवं नाम की राशि को क्रेता एवं विक्रेता के खातों में समायोजित कर लिया जाता है और जिस दलाल के खाते के विवरण में जमा राशि व नाम राशि के अनुसार जो बकाया राशि निकलती है उसे उसका भुगतान उसी दिन करना होता है। इसीलिए इस दिन को 'भुगतान दिवस' कहा जाता है।

(य) लेनदेन के अंतिम दिन को निपटारा दिवस कहा जाता है क्योंकि इस दिन दलाल शेयर बाजार के समाशोधन गृह से प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी अथवा उनके मूल्य का भुगतान प्राप्त करते हैं।

शेयर बाजार में प्रतिभूतियों की व्यापार विधि : अभी तक यह बताया गया है कि लेनदेन के निपटारे की तिथि पर कौन कौन सी कार्यवाही की जाती है और संबंधित लेनदेन को कैसे निपटाया जाता है। लेनदेन के निपटारे से पूर्व प्रतिभूतियों के क्रेता अथवा विक्रेता को कुछ अन्य कार्यवाही भी करनी पड़ती है जिसका संक्षेप में वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(अ) दलाल का चुनाव : कोई भी व्यक्ति जो शेयर बाजार का सदस्य नहीं है, स्वयं शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय नहीं कर सकता है अत: उसे प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करने के लिए शेयर बाजार के किसी दलाल से संपर्क स्थापित करना पड़ता है ताकि उस दलाल के माध्यम से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सके ।

इसके अतिरिक्त यदि कोई विनियोगकर्ता अपने धन का विनियोजन प्रतिभूतियों को क्रय करके करना चाहता है तो वह अपने बैंकर के माध्यम से भी इन प्रतिभूतियों को खरीदवा सकता है । परंतु इस प्रकार के विनियोजन में तुलनात्मक रूप से अधिक समय लग जाता है जिसके दौरान प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन हो सकता है । इसीलिए संभावित विनियोगकर्ता मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति से बचने के लिए तुरंत किसी विश्वसनीय तथा अनुभवी दलाल का चुनाव कर लेता है जिसके माध्यम से प्रतिभूतियों का लेनदेन किया जाता है ।

(ब) दलाल की नियुक्ति : दलाल का चुनाव कर लेने के पश्चात ग्राहक दलाल को अपना परिचय देकर उसे यह प्रस्ताव देता है कि उसे वह अपना दलाल नियुक्त करना चाहता है । यदि दलाल इससे सहमत हो जाए तो ग्राहक संबंधित अगली कार्यवाही प्रारंभ कर देगा । दलाल ग्राहक के इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से पहले ग्राहक की आर्थिक दशा के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेता है । अधिकांश दशाओं में इसके लिए ग्राहक के बैंकर से ग्राहक की आर्थिक दशा का हवाला प्राप्त किया जाता है । ग्राहक की आर्थिक स्थिति संतोषजनक होने पर ही दलाल उसकी ओर से एजेंट के रूप में कार्य करने के प्रस्ताव को स्वीकार करते हैं ।

(स) आदेश देना : दलाल की नियुक्ति हो जाने के बाद ग्राहक उसे अपने लेनदेन के बारे में बताता है और लिखित रूप से यह आदेश देता है कि उसे किस किस्म की, कितनी मात्रा की और कितने मूल्य तक की प्रतिभूतियों का लेनदेन करना है । यह आदेश ग्राहक द्वारा लिखित रूप से, तार द्वारा अथवा टेलीफोन द्वारा दिया जा सकता है । आदेश की विषय सामग्री संक्षिप्त होती है और अलग अलग प्रकार के आदेशों के लिए विभिन्न संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है । कुछ प्रचलित संक्षिप्त आदेश निम्न हैं :

(अ) उचित बाजार मूल्य पर क्रय विक्रय का आदेश : इस प्रकार के आदेश में ग्राहक प्रतिभूति के क्रय-विक्रय के लिए किसी निर्दिष्ट मूल्य को व्यक्त नहीं करता है और दलाल के लिए यह गर्भित है कि आदेश को बाजार में व्याप्त उचित मूल्य में पूरा करे । जैसे 'टाटा कंपनी के 100 शेयर उचित मूल्य में खरीदो ।'

(ब) निश्चित मूल्य आदेश : इस आदेश में ग्राहक दलाल को स्पष्ट रूप से यह आदेश देता है कि निर्धारित मात्रा की प्रतिभूतियां निश्चित मूल्य में खरीदी जाएं अथवा बेची जाएं । जैसे 'टाटा कंपनी के 100 अंश 150 रु० प्र० अ० क्रय करो ।'

(स) तुरंत अथवा रद्दीकरण का आदेश : ऐसे आदेश के अंतर्गत ग्राहक दलाल को यह निर्देश देती है कि वह प्रतिभूतियों को शीघ्र निर्दिष्ट बाजार मूल्य में क्रय करे और यदि मूल्य अनुकूल नहीं है तो ऐसा आदेश रद्द समझा जाए । जैसे 'टाटा कंपनी के 100 अंश 150 रु० प्र० अ० तुरंत खरीदो ।'

(द) हानि अल्पीकरण आदेश : इस प्रकार के आदेश में ग्राहक अपने को हानि से मूल्य बचाने के लिए दलाल को यह निर्देश देता है कि जब मूल्य उसके द्वारा बताए गए निर्दिष्ट तक पहुंच जाएं तब दलाल आदेश पूरा कर ले । जैसे 'टाटा कंपनी के 100 अंश 150 रु० प्र० अ० पहुंचते ही खरीदो ।'

(य) स्वैच्छिक आदेश : यदि ग्राहक को अपने दलाल की ईमानदारी एवं अनुभव पर पूर्ण विश्वास है तो ऐसी स्थिति में वह दलाल को यह आदेश देता है कि दिए गए आदेश

को विवेकपूर्ण ढंग से पूरा किया जाना चाहिए।

(र) खुला आदेश : इस आदेश में ग्राहक दलाल के द्वारा आदेश पूरा करने के लिए कोई समय निर्धारित नहीं करता है।

(द) आदेश पूरा करना : दलाल ग्राहक से आदेश प्राप्त करने के बाद उसका पूरा विवरण तैयार करके अपने 'अधिकृत क्लर्क' के सुपुर्द कर देता है क्योंकि अधिकांश दशाओं में अधिकृत क्लर्क ही शेयर बाजार में जाकर अपने नियोक्ता के सहायक के रूप में आदेश को पूरा करने हेतु सहायता पहुंचाता है। इसके लिए अधिकृत क्लर्क शेयर बाजार के उस खंड में प्रवेश करता है जहां से संबंधित प्रतिभूतियों का आदेश पूरा किया जाता है क्योंकि शेयर बाजार के विभिन्न खंडों में विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का लेनदेन किया जाता है। अधिकृत क्लर्क प्रतिभूतियों के संबंधित व्यापारी से संपर्क स्थापित करके बाजार में व्याप्त स्थिति के अनुसार उसे अपना क्रय-विक्रय मूल्य बताता है और इस प्रकार अंतिम रूप से उस मूल्य में लेनदेन तय कर लिया जाता है जो मूल्य दोनों को स्वीकार हो। सौदा तय हो जाने के तुरंत बाद इससे संबंधित समस्त विवरणों को लिखित रूप से दर्ज कर लिया जाता है।

(य) अनुबंध नोट तैयार करना : शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के जो लेनदेन तय किए जाते हैं उनको अधिकृत क्लर्क पहले 'कच्ची सौदा बही' में और फिर 'पक्की सौदा बही' में लिख लेता है। इसके पश्चात संबंधित लेनदेन के लिए एक 'अनुबंध नोट' तैयार कर लिया जाता है जिसमें उपयुक्त राशि का मुद्रांक भी पड़ा रहता है। इस अनुबंध नोट में क्रय अथवा विक्रय की गई प्रतिभूति का पूर्ण विवरण तथा दलाल के कमीशन का ब्यौरा दिया रहता है। इस अनुबंध नोट की एक प्रतिलिपि ग्राहक को भेज दी जाती है। सौदे के दूसरे दिन क्रेता तथा विक्रेता के दोनों दलाल इस प्रकार तैयार अनुबंध नोट का मिलान करते हैं और इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए, दोनों अधिकृत क्लर्क एक दूसरे के अनुबंध नोटों पर अपने हस्ताक्षर करते हैं।

(र) सौदे का निपटारा : यह शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का अंतिम चरण है। सौदे के निपटारे से हमारा अभिप्राय यह है कि सौदा तय होने के बाद निश्चित तिथि में प्रतिभूतियों की सुपुर्दगी एवं उनके मूल्य के भुगतान से है। इसके लिए तैयार सौदे तथा भावी सौदों के संबंध में जो विधि अपनाई जाती है उसका वर्णन इससे पहले किया जा चुका है।

प्रतिभूति का वह मूल्य जिस पर प्रतिभूति निर्गमित की जाती है अंकित मूल्य कहलाता है और इस अंकित मूल्य में परिवर्तन पूर्ण रूप से निर्गमन करने वाली संस्था की इच्छा पर निर्भर है जो व्यावहारिक रूप से अपवादित स्थितियों में संभव है। परंतु इसके अतिरिक्त संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूति, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित की जाती है और जिसमें तरलता एवं विपणनता के गुण भी मौजूद रहते हैं, के बाजार मूल्य में परिवर्तन स्वाभाविक है क्योंकि प्रतिभूति का बाजार मूल्य वह मूल्य है जिस पर बाजार में उसका क्रय-विक्रय अथवा लेनदेन किया जाता है। चूंकि बाजार की स्थितियों में विभिन्न कार्यशील तत्व अपना प्रभाव डाल कर परिवर्तन लाते हैं जिसका अंतिम प्रभाव प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य पर पड़ता है और बाजार की स्थितियों में परिवर्तन के अनुसार प्रतिभूतियों के मूल्यों में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय शेयर बाजार में किया जाता है उनके मूल्यों में परिवर्तन और अधिक स्वाभाविक है क्योंकि देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से शेयर बाजार की क्रियाओं को प्रभावित करता है और इसके साथ ही साथ शेयर बाजार के परिकल्पकों की गतिविधियां भी प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन को प्रेरित

करती हैं। वे शेयर बाजार में कार्यशील तत्वों के भावी प्रभाव को ध्यान में रखते हुए मूल्यों में परिवर्तन से लाभ उठाने के लिए शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का लेनदेन करना प्रारंभ कर देते हैं जिसके फलस्वरूप प्रतिभूतियों की मांग व पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है और इसके फलस्वरून प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन होने लगते हैं।

संक्षेप में, देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओं में परिवर्तन शेयर बाजार की गतिविधियों को प्रभावित करता है जिससे शेयर बाजार में क्रय-विक्रय की जाने वाली प्रतिभूतियों का बाजार मूल्य प्रभावित होता है। प्रतिभूतियों के मूल्य में परिवर्तन शेयर बाजार के अस्तित्व के लिए आवश्यक समझा जाता है क्योंकि प्रतिभूतियों के मूल्यों में संभावित परिवर्तनों को आधार मानकर विभिन्न प्रकार के परिकल्पक उनके क्रय-विक्रय के लेनदेन करते हैं। परिकल्पकों की गतिविधियों के अभाव में शेयर बाजार को पर्याप्त व्यवसाय नहीं मिल सकता है।

शेयर बाजारों में प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन विभिन्न कारणों से हो सकता है। अधिकांश दशाओं में यह निश्चित करना काफी कठिन होता है कि किस कारण से प्रतिभूतियों के बाजार मूल्यों में वृद्धि हुई और कौन कौन से कारण मूल्यों में कमी लाते हैं क्योंकि एक विशेष स्थिति में प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करने वाले कई तत्व संयुक्त रूप से कार्यशील रहते हैं और उनमें से कुछ तत्व एक दिशा में मूल्यों में परिवर्तन लाते हैं और कुछ तत्व इसके विपरीत दशा में मूल्यों को परिवर्तित करते हैं। इस जटिलता के बावजूद कुछ महत्वपूर्ण तत्वों को प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है जो निम्न प्रकार हैं:

1. मांग एवं पूर्ति में असंतुलन : शेयर बाजार प्रतिभूतियों का एक सुव्यवस्थित बाजार है। इसमें भी अन्य बाजारों की भांति मांग एवं पूर्ति की दशा का प्रतिभूतियों के मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी कारण से शेयर बाजार में प्रतिभूति की मांग में वृद्धि हो जाती है जबकि उस प्रतिभूति की पूर्ति मांग की तुलना में अपर्याप्त होती है, तो उस प्रतिभूति के मूल्य में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि प्रतिभूति की मांग में कमी आ जाए और पूर्ति मांग से अधिक हो तो इससे प्रतिभूति के मूल्य में कमी स्वाभाविक है। संक्षेप में प्रतिभूतियों की मांग व पूर्ति में किसी प्रकार का भी असंतुलन उनके मूल्य को प्रभावित करता है क्योंकि बाजार में उनके मूल्य का निर्धारण मांग एवं पूर्ति के आधार पर किया जाता है।

2. बक दर में परिवर्तन : बैंक दर में भी किसी प्रकार का परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करता है। यदि बैंक दर में वृद्धि हो जाए तो सामान्य बैंक भी अपने ग्राहकों को ऋण ऊंची ब्याज की दर पर मंजूर करेंगे जिसके कारण उनकी ऋण लेने की क्षमता कम हो जाएगी और वे प्रतिभूतियों का अधिक लेनदेन नहीं कर सकेंगे। (शेयर बाजार में परिकल्पक प्रतिभूतियों का लेन देन ऋण लेकर करते हैं।) बैंक दर से हमारा अभिप्राय उस दर से है जिस पर देश का केंद्रीय बैंक (भारतीय रिजर्व बैंक) अन्य बैंकों के बिलों को भुनाता है अर्थात अन्य बैंकों को अल्पकाल के लिए ऋण की सुविधा प्रदान करता है।

इसी प्रकार बैंक दर में कमी के कारण शेयर बाजार में प्रतिभूतियों की मांग बढ़ती है और उनके मूल्यों में भी वृद्धि हो सकती है क्योंकि सामान्य बैंक ग्राहकों को कम ब्याज की दर पर रुपया उधार देते हैं। इसके फलस्वरूप ग्राहकों द्वारा लिए जाने वाले ऋणों से विनियोग की दर में भी वृद्धि होती है।

3. सरकारी नीति : देश की सरकार की उद्योग नीति में परिवर्तन भी प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करता है क्योंकि राष्ट्र के हितों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सरकार

समय समय पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सकती है। उन पर अत्यधिक कर लगा सकती है अथवा आवश्यकता पड़ने पर उनको संरक्षण प्रदान करती है। सरकार की नीति में इस प्रकार के परिवर्तनों के कारण औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों की मांग में परिवर्तन आ सकता है जिसका अंतिम रूप से उनके बाजार मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है, जैसे यदि सरकार किसी उद्योग को कोई संरक्षण प्रदान करती है या उसके द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में उचित लाभांश की गारंटी देती है तो जनता अपने धन के विनियोजन की सुरक्षा एवं उस पर उचित दर की स्थाई आय कमाने के उद्देश्य से उसी उद्योग में संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके धन का विनियोजन करना चाहेगी जिससे प्रतिभूतियों की मांग में वृद्धि स्वाभाविक रूप से उनके बाजार मूल्यों में वृद्धि को प्रेरित करेगी।

4. राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन : देश में राजनीतिक स्थिरता अथवा स्थायित्व विनियोग की दर में वृद्धि कर सकता है। इसके विपरीत राजनीतिक अस्थिरता, देश में व्याप्त हड़ताल, सामाजिक उपद्रव तथा दूसरे देश के साथ युद्ध की घोषणा आदि तत्व विनियोग के वातावरण को दूषित करते हैं क्योंकि इनसे संभावित विनियोगकर्ताओं को अपने धन के विनियोजन में अनिश्चितता बनी रहती है और परिणामस्वरूप प्रतिभूतियों की मांग कम हो जाने के कारण उनके मूल्यों में गिरावट आने लगती है।

5. व्यापारिक चक्र : समय के साथ व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन भी संभावित विनियोगकर्ताओं की रुचि, विनियोग प्रवृत्ति तथा उनकी प्राथमिकताओं को निश्चित रूप से प्रभावित करता है, जैसे आर्थिक समृद्धि के युग में वस्तुओं की मांग अधिक होने के कारण वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। इससे एक ओर अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं, दूसरी ओर वस्तुओं की कीमतें कम होती हैं। इससे जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि के कारण बचत में भी वृद्धि होती है और स्वाभाविक रूप से विनियोग दर में तेजी आती है क्योंकि लोग अपनी बचतों को औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके विनियोजित करते हैं। इससे प्रतिभूतियों के बाजार मूल्यों में वृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत आर्थिक मंदी के युग में प्रतिभूतियों की मांग कम होने के कारण उनके मूल्यों में गिरावट आने लगती है क्योंकि इस युग में आय, बचत तथा विनियोग की दरें कम हो जाती हैं।

6. परिकल्पनात्मक क्रियाएं : जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है, शेयर बाजार में कार्यरत परिकल्पकों की क्रियाओं तथा गतिविधियों से भी प्रतिभूतियों के मूल्य परिवर्तित होते हैं। तेजड़िये मूल्यों में संभावित वृद्धि को दृष्टि में रखते हुए प्रतिभूतियों को बड़ी मात्रा में क्रय करने का लेनदेन करने लगते हैं और प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि लाने का पूरा प्रयास करते हैं। इससे स्वाभाविक रूप में प्रतिभूतियों की मांग एवं पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार मंदड़िये मूल्यों में कमी की संभावना से भविष्य में प्रतिभूतियों को क्रय करने के लेनदेन तय करके भी मांग व पूर्ति को असंतुलित बना देते हैं। इसके अतिरिक्त चंचल परिकल्पक प्रतिभूतियों की कृत्रिम मांग उत्पन्न करके उनके मूल्यों में वृद्धि का लाभ उठा लेता है।

7. अभिगोपक संस्थाओं तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रतिभूतियों की खरीद : यदि किसी संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का अभिगोपन किया जा रहा है या किसी वित्तीय संस्था द्वारा इनको क्रय किया जा रहा है तो इन प्रतिभूतियों की बाजार में मांग में वृद्धि के फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होने लगती है क्योंकि ऐसी प्रतिभूतियों में संभावित विनियोगकर्ताओं का विश्वास बढ़ जाता है और अभिगोपक संस्थाओं तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के ज्ञान एवं अनुभव का लाभ उठाने के लिए सामान्य विनियोगकर्ता इन्हीं प्रति-

भूतियों को क्रय करके अपना धन विनियोजित करना चाहता है।

8. समानांतर परिवर्तन : यदि किसी संस्था की प्रतिभूतियां दो या दो से अधिक शेयर बाजारों में सूचीकृत हैं और स्थानीय कारणों से एक शेयर बाजार में मांग व पूर्ति के असंतुलन से उनके मूल्यों में परिवर्तन हो जाए तो इसका प्रभाव कुछ सीमा तक दूसरे शेयर बाजार पर भी पड़ सकता है और उस शेयर बाजार में समानांतर परिवर्तन हो सकते हैं।

9. संस्था की आर्थिक दशा : प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली संस्था की आर्थिक स्थिति तथा साख का भी प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य से संबंध है, क्योंकि संभावित विनियोगकर्ता धन का विनियोजन करते समय अधिकांश दशाओं में अधिक जोखिम न लेकर इस बात को प्राथमिकता देता है कि उसके द्वारा विनियोजित मूलधन पूर्ण रूप से सुरक्षित रहे अतः ऐसे विनियोगकर्ता उन संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में अपना धन विनियोजित करते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ एवं मजबूत हो।

10. संस्था के आंतरिक संचालन एवं प्रबंध में परिवर्तन : संस्था द्वारा प्रतिभूतियां निर्गमित करके जो पूंजी प्राप्त की जाती है उसका व्यवसाय में अधिकतम कुशलतापूर्ण एवं प्रभावशाली उपयोग किया जाना आवश्यक है ताकि विनियोगकर्ताओं का मूलधन सुरक्षित रहे और उनको उचित दर की आय प्राप्त होती रहे। अतः संस्था में प्राप्त पूंजी का कुशल उपयोग करने के लिए पर्याप्त प्रबंधकीय कुशलता एवं क्षमता उपलब्ध है या नहीं इसका प्रभाव विनियोगकर्ता द्वारा विनियोजन संबंधी निर्णय लेने पर पड़ सकता है। यदि संस्था में प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण हेतु कुशल, निपुण एवं विश्वसनीय प्रबंधक उपलब्ध हैं तो ऐसी संस्था की प्रतिभूतियों को चतुर विनियोगकर्ता प्राथमिकता देते हैं।

11. लाभ : प्रतिभूतियों में अर्जित की जाने वाली आय अथवा दिया जाने वाला लाभांश प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। प्रतिभूतियों पर दिए जाने वाले लाभ का उसके बाजार मूल्य के साथ गहरा संबंध है और प्रत्येक विनियोगकर्ता विनियोजित पूंजी पर उचित दर की आय अर्जित करने के लिए ही धन का विनियोजन करता है अतः यदि संस्था निर्गमित प्रतिभूतियों में प्रतिवर्ष उचित दर का लाभांश दे रही है और लाभांश की यह दर स्थाई है तो उस संस्था की प्रतिभूतियों की मांग अन्य संस्थाओं की तुलना में अधिक होगी जिससे निर्गमित प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों में उचित दर का लाभ न दिए जाने से प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट आ सकती है।

12. प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन के अन्य कारण : ऊपर बताए गए कारणों के अतिरिक्त कुछ दशाओं में प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन किसी आकस्मिक घटना के कारण भी हो सकते हैं, जैसे व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा में वृद्धि, फैशन आदि के कारण उत्पादित वस्तुओं की मांग में परिवर्तन. संस्था का अन्य संस्थाओं से संयोजित हो जाने के कारण बजट संबंधी अफवाहें आदि। हालांकि इन कारणों का प्रतिभूतियों के मूल्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता है पर कारणों की श्रृंखला में इनसे अन्य कारण प्रभावित हो सकते हैं।

प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन लाने वाले कारणों का वर्णन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकांश कारण अप्रत्यक्ष रूप से शेयर बाजार में प्रतिभूतियों की मांग एवं पूर्ति को प्रभावित करते हैं और उत्पन्न असंतुलन के कारण प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। अतः प्रतिभूतियों की मांग व पूर्ति में असंतुलन, संस्था की लाभ क्षमता एवं आर्थिक स्थिति, ये कारण मूल्य परिवर्तन के लिए अधिक प्रभावशाली समझे जा सकते हैं क्योंकि इनमें परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभूतियों के मूल्यों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है।

परिकल्पना या सट्टा (स्पेकुलेशन)

परिकल्पना शेयर बाजार की एक महत्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है। शेयर बाजार में विनियोजन के उद्देश्य से प्रतिभूतियों के लेनदेन सीमित मात्रा में होते हैं और इनसे शेयर बाजार को पर्याप्त व्यवसाय प्राप्त नहीं हो पाता है अतः शेयर बाजार के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए परिकल्पना की क्रिया सहायक सिद्ध होती है क्योंकि शेयर बाजार में कई सदस्य परिकल्पना के दृष्टिकोण से ही प्रतिभूतियों का लेनदेन करते हैं। परिकल्पना एक ऐसी क्रिया है जिसमें शेयर बाजार के सदस्य (परिकल्पक) विभिन्न संस्थाओं से संबंधित अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर प्रतिभूतियों के मूल्यों में संभावित उतार-चढ़ाव को ध्यान में रख कर इन मूल्यों में भावी परिवर्तनों के अनुकूल लेनदेन तय करके मूल्यों में अंतर का लाभ उठाते हैं।

स्पेकुलेशन शब्द लैटिन भाषा के स्पेकुलेर शब्द से बना है जिसका अर्थ है दूर से देखना। इस अर्थ में परिकल्पक वर्तमान समय में भविष्य को दृष्टि में रखते हुए प्रतिभूतियों का लेनदेन करता है। पर इन सब सामान्य विचारों से परिकल्पना की मूल विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता है और न इनसे परिकल्पकों के उद्देश्य ही स्पष्ट होते हैं।

इस संबंध में एच० जी० एमरी द्वारा दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण है। एमरी के अनुसार, 'प्रतिभूतियों, वस्तुओं एवं संपत्ति के मूल्यों में भविष्य में संभावित परिवर्तनों के फलस्वरूप, लाभ कमाने की आशा से प्रतिभूतियों, वस्तुओं एवं संपत्ति का क्रय-विक्रय परिकल्पना कहलाता है।' इस परिभाषा के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि परिकल्पना की क्रिया में परिकल्पक प्रतिभूतियों की वास्तविक सुपुर्दगी नहीं लेता है और न लेनदेन की निर्धारित तिथि पर उनका पूर्ण मूल्य ही चुकाता है। उसका उद्देश्य केवल भविष्य में मूल्यों में संभावित परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए संभावना के अनुकूल क्रय-विक्रय का लेन-देन करना है। परिकल्पना शब्द प्रतिभूतियों के लेनदेन से ही संबंधित नहीं है बल्कि वस्तुओं एवं संपत्ति के क्रय-विक्रय के लिए भी मूल्यों में परिवर्तन का लाभ प्राप्त करने के लिए परिकल्पना की क्रिया की जा सकती है।

परिकल्पना की क्रिया को क्रियान्वित करने के लिए प्रतिभूतियों में निम्न विशेषताएं होनी चाहिए :

1. प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होना चाहिए क्योंकि परिकल्पक मूल्यों में परिवर्तन का लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से परिकल्पना करता है। यदि प्रतिभूतियों के मूल्य स्थिर रहे तो इनमें परिकल्पना की संभावना नहीं रहती है।

2. प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन इस प्रकृति के होने चाहिए कि उनका कुछ सीमा तक पूर्वज्ञान हो सके। यदि इन संभावित परिवर्तनों को पहले ही न आंका जाए तो परिकल्पना सामान्य जुए का सौदा समझा जाएगा।

3. परिकल्पक को अपने लेनदेन के बारे में संभव पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। यदि पर्याप्त ज्ञान के अभाव में प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का लेनदेन किया जाए तो परिकल्पक ऐसी स्थिति में पूर्ण रूप से अवसर पर आधारित रहेगा और यह लेनदेन जुए का लेनदेन समझा जाएगा।

परिकल्पना का महत्व

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, परिकल्पना शेयर बाजार के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। शेयर बाजार में विनियोग के उद्देश्य से प्रतिभूतियों के लेनदेन सीमित मात्रा में होते हैं। परिकल्पनात्मक लेनदेनों से इनमें वृद्धि करके शेयर बाजार को

पर्याप्त व्यवसाय उपलब्ध कराया जाता है इसीलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि शेयर बाजार के, जो देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए वरदानस्वरूप है, विकास में परिकल्पनात्मक सौदों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

परिकल्पना की क्रिया से प्रतिभूतियों में तरलता एवं विपणनता के गुण उत्पन्न होते हैं क्योंकि परिकल्पना भी मूल रूप से प्रतिभूतियों के लेनदेन से ही संबंधित है और इससे लेनदेन में गतिशीलता एवं निरंतरता बनी रहती है।

परिकल्पक पूर्ण रूप से प्रतिभूतियों के मूल्यों में भविष्य में संभावित परिवर्तनों की आशा में उन्हीं के अनुकूल प्रतिभूतियों का लेनदेन करते हैं। उनके इन विवेकपूर्ण निर्णयों से सामान्य विनियोगकर्ता भी लाभान्वित हो सकते हैं क्योंकि विनियोगकर्ताओं को भी उन तमाम कार्यशील तत्वों का ज्ञान हो सकता है जिनके कारण प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन होते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर इस प्रकार प्राप्त ज्ञान के आधार पर अपने विनियोगों में परिवर्तन कर सकते हैं ताकि विनियोग की सुरक्षा बनी रहे और उन्हें उचित दर की आय प्राप्त हो सके।

शेयर बाजारों में परिकल्पकों की उपस्थिति के कारण उनकी प्रभावपूर्ण क्रियाओं के फलस्वरूप विभिन्न प्रतिभूतियों के मूल्यों में काफी हद तक समानता बनाई रखी जा सकती है, क्योंकि यदि किसी शेयर बाजार में किसी प्रतिभूति के मूल्यों में स्थानीय तत्वों के प्रभाव से गिरावट आ जाती है तो परिकल्पक ऐसे शेयर बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदने का लेनदेन तय करके उस शेयर बाजार में उनको बेचने का लेनदेन तय कर लेते हैं जिस शेयर बाजार में उस प्रतिभूति का मूल्य अधिक हो। इस प्रकार दोनों शेयर बाजारों में उस प्रतिभूति के मूल्यों में समानता लाई जा सकती है।

जिस संस्था की प्रतिभूतियों में शेयर बाजार में परिकल्पनात्मक सौदे किए जाते हैं वे संस्थाएं अधिकांश दशाओं में शेयर बाजार में अपनी साख बनाए रखने के लिए प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में पूर्ण सतर्कता बनाए रखती हैं क्योंकि संस्था के व्यवसाय से संबंधित किसी भी ऐसी कमी का परिकल्पकों को तुरंत ज्ञान हो जाता है जिसका संस्था की साख पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। इसके साथ ही संस्था की प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य में कमी भी आ सकती है। उदाहरण के लिए यदि किसी संस्था में ऐसे व्यक्ति को संचालक के रूप में मनोनीत किया गया है जो जनता का विश्वासपात्र है, ईमानदार है और काफी परिश्रमी है तो इस परिवर्तन के होते ही परिकल्पक शेयर बाजार में उस संस्था की प्रतिभूतियों के संबंध में इस प्रकार का वातावरण तैयार कर देते हैं कि कुछ समय पश्चात संस्था की प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि के आसार नजर आने लगते हैं।

परिकल्पना से हानि

वैसे तो परिकल्पना शेयर बाजार की एक महत्वपूर्ण क्रिया समझी गई है जो काफी हद तक उचित भी है परंतु शेयर बाजार के लिए इसके महत्व को समझने से पहले हमें यह अवश्य जानना चाहिए कि परिकल्पना शेयर बाजार में किस रूप में की जाती है। यदि परिकल्पक बिना किसी आधार के केवल अवसर को दृष्टि में रखकर प्रतिभूतियों के संबंध में मूल्यों में परिवर्तन का लाभ प्राप्त करने के लिए परिकल्पनात्मक सौदा तय करता है और अपनी प्रभावशील स्थिति से प्रतिभूतियों के मूल्यों में अनावश्यक एवं अवांछनीय परिवर्तन कराने का प्रयास करता है तो इस प्रकार के अस्वस्थ एवं अवांछनीय परिकल्पनात्मक सौदे शेयर बाजार के लिए महत्वपूर्ण नहीं समझे जाएंगे, बल्कि इन्हें शेयर बाजार के विकास एवं प्रभावपूर्ण कार्यप्रणाली के लिए घातक समझा जा

सकता है। इस प्रकार के परिकल्पनात्मक सौदे का शेयर बाजार के साथ साथ समाज पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में, यदि परिकल्पक पर्याप्त ज्ञान के अभाव में, केवल अवसर पर आधारित होकर प्रतिभूतियों का लेनदेन करता है तो इससे वह एक ओर अपने को जोखिममय स्थिति में डाल देता है और दूसरी ओर वास्तविक विनियोगकर्ताओं के हितों को विपरीत रूप से प्रभावित करके शेयर बाजार में विनियोग के वातावरण को दूषित करता है। इस प्रकार के परिकल्पनात्मक सौदों को, जो पूर्ण रूप से जुए के सौदों की भांति होते हैं, वांछनीय नहीं समझा जा सकता है और इसी आधार पर परिकल्पना की आलोचना की जाती है। इसकी उपयोगिता एवं वांछनीयता को ज्ञात करने के लिए परिकल्पना की प्रकृति व स्वभाव को समझना आवश्यक है क्योंकि इसकी प्रकृति एवं स्वभाव के ही आधार पर इसे स्वस्थ परिकल्पना अथवा अस्वस्थ परिकल्पना या जुए के सौदे की संज्ञा दी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त परिकल्पना की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि परिकल्पक कभी कभी अपने आर्थिक साधनों की सीमाओं के बाहर भी लेनदेन करते हैं जिससे वे तो आर्थिक कठिनाई में रहते ही हैं साथ ही उनसे लेनदेन करने वाला दूसरा पक्षकार भी हानि वहन करता है। इस दृष्टि से अस्वस्थ सट्टेबाजी समाज के साधनों का दुरुपयोग मात्र है।

विनियोग तथा परिकल्पना में तुलना

विनियोग एवं परिकल्पना दोनों शेयर बाजार की महत्वपूर्ण क्रियाएं हैं। शेयर बाजार में प्रतिभूतियों से संबंधित कुछ लेनदेन तो विनियोजन के उद्देश्य से किए जाते हैं, बाकी लेनदेन परिकल्पनात्मक प्रकृति के होते हैं। दोनों प्रकार के लेनदेन एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं और इनमें स्पष्ट भेद किया जाना संभव नहीं है। फिर भी कुछ आधारों को लेकर इनमें निम्न प्रकार से भेद किया जा सकता है।

कोई भी विनियोगकर्ता जो अपना धन प्रतिभूतियों को क्रय करके विनियोजित करना चाहता है वह अपने लेनदेन में प्रतिभूतियों की वास्तविक सुपुर्दगी प्राप्त करके उनके मूल्य का भुगतान करता है जबकि परिकल्पक प्रतिभूतियों की वास्तविक सुपुर्दगी प्राप्त न करके और पूर्ण मूल्य का भुगतान किए बिना केवल निश्चित समय के दौरान में प्रतिभूतियों के मूल्यों में जो परिवर्तन होते हैं सौदे के निपटारे के दिन केवल मूल्यों में उसी अंतर को प्राप्त कर लेता है अथवा दूसरे पक्ष को उसका भुगतान कर देता है।

वास्तविक विनियोगकर्ता के विनियोजन करने का मुख्य उद्देश्य विनियोजित मूलधन की सुरक्षा बनाए रखना और इससे एक निश्चित दर की आय प्राप्त करना है। इसीलिए विनियोगकर्ता अपने धन के विनियोजन में कम से कम जोखिम उठाता है। इसके विपरीत परिकल्पकों का मुख्य उद्देश्य विनियोजन में अधिक जोखिम वहन कर प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन से मूलधन में अधिकतम वृद्धि का लाभ उठाना है।

विनियोगकर्ता सामान्य दशाओं में धन का विनियोजन दीर्घकाल के लिए करता है जबकि परिकल्पक अधिकांश दशाओं में प्रतिभूतियों में लेनदेन अल्पकाल के लिए करते हैं क्योंकि ज्योंही प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन के आसार नजर आते हैं परिकल्पक उसी के अनुकूल लेनदेन तय कर लेते हैं।

इसके अतिरिक्त व्यवहार में यह पाया जाता है कि वास्तविक विनियोगकर्ता अपनी बचतों का विनियोजन करता है ताकि उससे उसे उचित दर की आय प्राप्त होती रहे और मूलधन की सुरक्षा बनी रहे, जबकि परिकल्पक उसके द्वारा किए जाने वाले परिकल्पना-

त्मक सौदों के लिए ऋण लेकर वित्त प्राप्त करता है।

उपर्युक्त तुलना से यह स्पष्ट है कि विनियोग एवं परिकल्पना में स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता है क्योंकि परिकल्पनात्मक सौदों में विनियोग का तत्व मौजूद रहता है और इसी प्रकार विनियोग में भी कुछ सीमा तक परिकल्पना का तत्व विद्यमान रहता है।

परिकल्पना एवं जुआ

परिकल्पना से मिलती जुलती एक अन्य क्रिया जुआ कहलाती है। इसमें जुआरी केवल अवसर पर आधारित रह कर लेनदेन द्वारा लाभ कमाने का प्रयास करता है। परिकल्पना तथा जुए में यह मूल अंतर पाया जाता है कि परिकल्पक तो प्रतिभूतियों के मूल्यों में संभावित परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर मूल्यों में अंतर से लाभ कमाने के उद्देश्य से उनका लेनदेन तय करता है, तथा मूल्यों में अंतर या परिवर्तन का सही अनुमान लगाने के लिए वह अपने ज्ञान तथा विस्तृत अनुभव की सहायता से उन सभी तत्वों का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है जो भविष्य में प्रतिभूतियों के मूल्यों को प्रभावित करने में कार्यशील हैं। अतः परिकल्पक का निर्णय अधिकांश दशाओं में विवेकपूर्ण होता है। इसके विपरीत जुआरी को भावी घटना (जिस पर उसका लेनदेन निर्भर है) का कोई ज्ञान नहीं होता है और वह केवल अपने भाग्य अथवा अवसर का सहारा लेकर लाभ कमाने के उद्देश्य से जुए की बाजी तय करता है।

इसी प्रकार स्वस्थ एवं वांछनीय परिकल्पना शेयर बाजार के विकास में सहायक है और इसको प्रतिबंधित नहीं किया गया है। जुए के लनदेन से समाज में विभिन्न बुराइयां उत्पन्न होती हैं और समाज के धन का दुरुपयोग होता है इसीलिए इसे प्रतिबंधित किया गया है। पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो परिकल्पनात्मक सौदे परिकल्पकों द्वारा अपने विवेक, ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर किए जाते हैं जबकि जुएबाजी के सौदों में केवल भविष्य में किसी अनिश्चित घटना के घटित होने पर एक पक्ष से दूसरे पक्ष को निश्चित धन का भुगतान करना पड़ता है। इसमें जुएबाज का कोई विवेक, ज्ञान एवं अनुभव प्रयोग नहीं होता है। इससे यह स्पष्ट है कि परिकल्पनात्मक सौदे भी कुछ दशाओं में जुएबाजी के सौदों की भांति हो सकते हैं जबकि परिकल्पक भी प्रतिभूतियों के मूल्यों में संभावित परिवर्तन को आंकने के लिए अपने ज्ञान व विवेक का प्रयोग नहीं करता है और अपर्याप्त ज्ञान के आधार पर लेनदेन तय कर लेता है।

परिकल्पकों के भेद

शेयर बाजार में परिकल्पक प्रतिभूतियों का जो लेनदेन करते हैं उनकी प्रकृति को ध्यान में रख कर इनकी तुलना जानवरों के व्यवहार से की गई है और इन परिकल्पकों को जानवरों के नाम से ही पुकारा जाता है। इनको निम्न वर्गों में विभाजित किया गया है :

(i) तेजड़िया (बुल), (ii) मंदड़िया (बियर), (iii) चंचल परिकल्पक (स्टेग)। परिकल्पकों का यह वर्गीकरण गंभीर प्रकृति का नहीं है क्योंकि व्यवहार में परिकल्पक अलग अलग परिस्थितियों में अलग अलग प्रकार से कार्य करता है।

तेजड़िया : तेजड़िया एक ऐसा परिकल्पक है जो यह आशा करता है कि भविष्य में प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि होगी। इसे बुल या सांड़ की संज्ञा दी गई है क्योंकि यह सांड़ की भांति ऊपर को देखकर यानी कीमतों में वृद्धि की आशा लेकर प्रतिभूतियों का लेनदेन तय करता है। तेजड़िया वर्तमान समय में प्रतिभूतियों को कम मूल्य में क्रय करने का लेनदेन करता है क्योंकि भविष्य में वह प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि की आशा करता है। ज्योंही उसकी आशा के अनुकूल मूल्यों में वृद्धि होती है तेजड़िया कम मूल्यों में क्रय की गई

प्रतिभूतियों को शीघ्र अधिक मूल्यों में बेच कर कीमतों में अंतर का लाभ प्राप्त कर लेता है। इसीलिए उसे संभावित विक्रेता भी कहा जाता है। तेजड़िये द्वारा किए जाने वाले लेनदेन की प्रकृति को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि वह मूल्यों में वृद्धि का आशावादी परिकल्पक है। तेजड़िया अपनी इस आशा को पूरा करने के लिए शेयर बाजार के वातावरण को अपनी प्रभावशील स्थिति से अपनी आशा के अनुकूल बना देता है क्योंकि उसका हमेशा प्रयास यही रहता है कि प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि कैसे हो।

उदाहरण के लिए 'ए' एक परिकल्प है (जो तेजड़िया की स्थिति में कार्य करता है) जो शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के दलाल से यह सौदा तय करता है कि वह उसके लिए X and Co. के 200 अंश उनकी वर्तमान कीमत 100 रु० प्र० अंश के भाव से क्रय करने के लिए भावी सौदा तय कर ले। सौदे की निपटारे की तिथि आने पर उसे पता चलता है कि X and Co. के अंशों का बाजार मूल्य 105 रु० प्र० अंश हो गया है। ऐसी स्थिति में वह अपने दलाल को इन अंशों को बेचने का आदेश देकर 200 अंशों में 5 रु० प्रति अंश की दर से 1000 रु० का लाभ कमा लेता है। यदि मूल्यों में उसकी आशा के अनुकूल वृद्धि न हुई तो सौदे के निपटारे के दिन वह 'बुदला शुल्क' का भुगतान करके सौदे की निपटारे की तिथि को अगली तिथि तक स्थगित कर देता है अथवा मूल्यों में परिवर्तन की हानि को वहन कर लेता है।

मंदड़िया : मंदड़िया एक ऐसा निराशावादी परिकल्पक है जो प्रतिभूतियों का सौदा इस संभावना से तय करता है कि भविष्य में प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट होगी। इसीलिए वर्तमान समय में वह उन प्रतिभूतियों को बेचने का सौदा करता है जो वास्तव में उसके पास मौजूद नहीं होती हैं। मूल्यों में परिवर्तन का लाभ कमाने के लिए भविष्य में वह उन्हीं प्रतिभूतियों को क्रय करने का सौदा तय कर लेता है। यदि सौदे के निपटारे की तिथि पर मूल्य कम हो जाते हैं तो उसे मूल्यों में अंतर का लाभ प्राप्त हो जाएगा और इसके विपरीत यदि मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तो उसे हानि वहन करनी पड़ती है। तेजड़िये की भांति यदि मंदड़िया निपटारे की तिथि पर हानि वहन करने के लिए तैयार न हो तो 'बुदला शुल्क' देकर सौदे की निपटारे की तिथि अगली तिथि तक के लिए स्थगित करवा लेता है। तेजड़िया के विपरीत मंदड़िया हमेशा प्रतिभूतियों के मूल्यों में कमी लाने का प्रयत्न करता है इसीलिए उसे निराशावादी परिकल्पक कहा गया है।

उदाहरण के लिए 'बी' एक मंदड़िया परिकल्पक के रूप में कार्य करता है जो दलाल से Y and Co. के 100 अंश उनके वर्तमान मूल्य 105 प्रति अंश की दर से बेचने का सौदा इस आशा से तय करता है कि मूल्यों में भविष्य में गिरावट होगी। निपटारे की तिथि पर उसे पता चलता है कि अंशों का मूल्य 100 रु० प्रति अंश हो गया है तो इस प्रकार वह 5 रु० प्रति अंश 100रु० अंशों में 500 का लाभ कमा लेता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि तेजड़िया एवं मंदड़िया दोनों परिकल्पक एक दूसरे की विपरीत दिशा में कार्य करते हैं। स्वाभाविक रूप से सौदों को आशा के अनुकूल बनाने के लिए तेजड़िया मूल्यों में वृद्धि लाने का प्रयास करता है और मंदड़िया मूल्यों में गिरावट लाने का। इन दोनों सट्टेबाजों की प्रतिक्रिया से कुछ दशाओं में प्रतिभूतियों के मूल्यों में समानता बनी रहती है जो वास्तविक विनियोगकर्ताओं के लिए लाभप्रद है।

चंचल परिकल्पक : शेयर बाजारों में तेजड़िये एवं मंदड़िये के अतिरिक्त एक और परिकल्पक प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करता है। इसे चंचल परिकल्पक कहा जाता है। यह एक ऐसा परिकल्पक है जो वास्तव में प्रतिभूतियों का क्रय अथवा विक्रय नहीं करता है बल्कि नई संस्था के अंशों को क्रय करने के लिए इस उद्देश्य से आवेदनपत्र देता है कि वह प्रिमियम की धनराशि को लाभ के रूप में प्राप्त कर सकेगा। जब चंचल परिकल्पक

अधिक मात्रा में संस्था के अंश क्रय करने हेतु आवेदनपत्र देता है तो संस्था को इस बात का आभास होता है कि उसके अंशों की बाजार में मांग अधिक है और इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए संस्था अंशों को उनके अंकित मूल्य से अधिक यानी प्रिमियम में निर्गमित करने का निर्णय लेती है और अंशों का आवंटन होने से पहले ही चंचल परिकल्पक इन अंशों को बेचकर प्रिमियम की धनराशि को लाभ के रूप में प्राप्त कर लेता है।

चंचल परिकल्पक के इन प्रभावपूर्ण एवं सावधानीपूर्वक किए जाने वाले कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि ये परिकल्पक संस्था द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों की कृत्रिम मांग उत्पन्न करके संस्था को एवं संभावित विनियोगकर्ताओं को भ्रांति में डाल कर मूल्यों में वृद्धि का लाभ उठा लेते हैं। बाद में चंचल परिकल्पक की इन क्रियाओं का दुष्परिणाम संस्था एवं विनियोगकर्ता दोनों के लिए घातक सिद्ध होता है क्योंकि कृत्रिम मांग के समाप्त होते ही अंशों के बाजार मूल्यों में कमी होने लगती है। इस प्रकार चंचल परिकल्पक अन्य परिकल्पकों (तेजड़िया एवं मंदड़िया) की तुलना में अधिक सावधानीपूर्वक सौदा करता है फिर भी उसे हानि का जोखिम बना रहता है। यदि उसने जिन अंशों को क्रय करने के लिए आवेदनपत्र दिए हैं वे अंश अंकित मूल्य से कम पर बाजार में उपलब्ध हों अथवा संभावित विनियोगकर्ताओं को चंचल परिकल्पक की गतिविधियों एवं चाल का ज्ञान हो जाए तो चंचल परिकल्पक को सौदे में हानि भी हो सकती है।

परिकल्पना के सौदे

वैकल्पिक लेनदेन : प्रतिभूतियों में वैकल्पिक लेनदेन हमारे देश के शेयर बाजारों में काफी प्रचलित रहा है। पर अब प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम 1956 के द्वारा इन लेनदेनों को अवैधानिक घोषित कर दिया गया है क्योंकि व्यवहार में इस प्रकार के परिकल्पनात्मक लेनदेन शेयर बाजारों की कार्यप्रणाली को विपरीत रूप से प्रभावित करते हैं।

वैकल्पिक लेनदेन में परिकल्पक प्रतिभूतियों के व्यापारी से एक निश्चित समय के अंतर्गत निर्धारित मूल्य में विशिष्ट प्रतिभूतियों को क्रय करने अथवा विक्रय करने का अधिकार खरीद लेता है। यदि परिकल्पक प्रतिभूतियों को क्रय करने का अधिकार खरीदता है तो इसे क्रय वैकल्प कहा जाएगा और यदि उसके द्वारा विक्रय करने का अधिकार क्रय किया जाए तो इसे 'विक्रय वैकल्प' कहा जाता है। और यदि वह इन दोनों अधिकारों को खरीदने का लेनदेन करता है तो इसे 'दोहरा वैकल्प' कहा जाएगा।

संक्षेप में यदि कोई परिकल्पक मूल्यों में वृद्धि की संभावना की आशा करता है (तेजड़िया) तो वह 'क्रय वैकल्प' का सौदा तय करेगा। निपटारे की तिथि में यदि मूल्यों में उसकी आशा के अनुकूल वृद्धि हो जाए तो प्रतिभूतियों को अधिक मूल्य में बेच कर लाभ प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत मंदड़िया परिकल्पक अनुमान करता है कि मूल्यों में गिरावट होगी। वह 'विक्रय वैकल्प' का सौदा तय कर लेता है।

अंतरराशि पर प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय : परिकल्पना के उद्देश्य से प्रतिभूतियों के भावी सौदे, अधिकांश स्थितियों में अंतरराशि के आधार पर किए जाते हैं। अंतरराशि में प्रतिभूतियों का लेनदेन एक ऐसी विधि है जिसके अंतर्गत प्रतिभूतियों का व्यापारी अथवा दलाल प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय का लेनदेन करने वाले परिकल्पकों से कुछ धनराशि अपने पास प्रतिभूति के रूप में जमा करवा लेता है और इसी जमाराशि को आधार मानकर उनकी ओर से लेनदेन तय किए जाते हैं। यह अंतरराशि कम हो जाने पर दलाल इसकी सूचना अपने ग्राहक को दे देता है।

इस प्रकार अंतरराशि में लेनदेन करने से प्रतिभूतियों के व्यापारी अथवा दलाल

काफी सीमा तक सुरक्षित रहते हैं क्योंकि वे अपने ग्राहक (परिकल्पक) के लिए किए गए लेनदेन का कुछ प्रतिशत सदैव अपने पास जमा रखते हैं और इस अंतरराशि में कमी आ जाने पर ग्राहक की ओर से आगे लेनदेन करना बंद कर देते हैं।

यह अंतरराशि नकदी अथवा प्रतिभूतियों के रूप में जमा करवाई जा सकती है। अंतरराशि पर व्यापार के मुख्य दो रूप हैं : (1) प्रतिभूतियों का लेनदेन करने वाले ग्राहकों या परिकल्पकों द्वारा अपने दलाल या व्यापारी के पास अंतरराशि जमा करना या (2) शेयर बाजार के सदस्यों द्वारा अंतरराशि शेयर बाजार के समाशोधन गृह के पास जमा करवाना।

हमारे देश में अंतरराशि पर व्यापार का पहला रूप व्यवहार में प्रचलित है। इसके अंतर्गत ग्राहक प्रतिभूतियों का लेनदेन करने से पहले अपने दलाल के पास (जो उसकी ओर से लेनदेन तय करता है) अपना खाता खोल कर एक न्यूनतम राशि नकदी के रूप में या प्रतिभूतियों के रूप में जमा कर देता है और अपने संपूर्ण लेनदेन में इस न्यूनतम राशि के बकाया को बनाए रखने का वचन देता है। दलाल जब ग्राहक की ओर से प्रतिभूतियां क्रय करता है तो इस रकम से ग्राहक के खाते को डेबिट कर देता है और खाते का शुद्ध बकाया ज्ञात करने के लिए प्रतिभूतियों के विक्रय मूल्य से खाते को क्रेडिट कर देता है। इसे एक उदाहरण द्वारा भलीभांति समझा जा सकता है।

'ए' एक ग्राहक ने 1000 रु० अपने दलाल के पास अंतरराशि के रूप में जमा करके उसे X and Co. के 50 अंश 55 रु० प्रति अंश की दर से क्रय करने का आदेश दिया। इस खरीद के साथ दलाल ने 20 रु० दलाली के रूप में लिए तो इस प्रकार 'ए' के खाते को रु० 2750 (55 × 50) एवं 20 रु० से डेबिट करके और 2750 रु० तथा 1000 रु० से क्रेडिट करके अंतरराशि का बकाया ज्ञात किया जा सकता है। 3750 — 2770 = 980 रु० (अंतरराशि का बकाया)।

प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन के साथ साथ अंतरराशि में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। इसी परिवर्तन के अनुसार अंतरराशि भी समय समय पर पुन: समायोजित कर ली जाती है। अंतरराशि पर व्यापार के इस स्वरूप को अधिक प्रभावपूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इससे दलाल अथवा व्यापारी तो अवश्य सुरक्षित स्थिति में रहते हैं पर चूंकि उनके द्वारा कोई अंतरराशि समाशोधन गृह के पास जमा नहीं की जाती है इसलिए दलाल अथवा व्यापारी को उनके आर्थिक साधनों की सीमा के बाहर प्रतिभूतियों का लेनदेन करने से नहीं रोका जा सकता है।

न्यून बिक्री तथा घेराबंदी : न्यून बिक्री से हमारा अभिप्राय विक्रेता द्वारा उन प्रतिभूतियों को बेचने के लेनदेन से है जो वास्तव में उसके पास विद्यमान न हों। शेयर बाजार में मंदड़िया परिकल्पक, जो प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट की आशा रखता है, इस न्यून बिक्री के सौदे को आधार बनाता है क्योंकि वह शेयर बाजार में उन प्रतिभूतियों को बेचने का सौदा करता है जो उसके पास लेनदेन तय करते समय मौजूद नहीं होती हैं। लेनदेन के निपटारे की तिथि पर वह किए गए लेनदेन को निपटाने के लिए इन प्रतिभूतियों को अन्य परिकल्पकों या दलाल से उधार लेकर अथवा खरीद कर लेनदेन का निपटारा कर लेता है।

न्यून बिक्री परिकल्पना का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है और यदि इस पर प्रतिबंध लगा दिया जाए तो परिकल्पनात्मक सौदों में कमी हो जाना स्वाभाविक है। न्यून बिक्री के ही कारण प्रतिभूतियों में घेराबंदी उत्पन्न होती है क्योंकि घेराबंदी में परिकल्पक प्रतिभूतियों की वास्तविक संख्या से अधिक संख्या में प्रतिभूतियों को बेच कर क्रेता एवं विक्रेता की असमर्थता का पूरा पूरा लाभ उठा लेते हैं अर्थात प्रतिभूतियों

में घेराबंदी के कारण विनियोगकर्ताओं को ऊंची कीमत में प्रतिभूतियां खरीद कर कम मूल्यों में बेचने पर मजबूर कर दिया जाता है। इसी आधार को लेकर न्यून विक्री की क्रिया की आलोचना की जाती है।

न्यून बिक्री से घेराबंदी की स्थिति कुछ सीमा तक उत्पन्न अवश्य होती है फिर भी न्यून बिक्री का लेनदेन महत्वपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि न्यून विक्री से प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि प्रतिबंधित होती है और तेजड़िया के प्रयासों में अवरोध उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में जब किसी प्रतिभूति के बाजार में मंदी आ जाती है तो मंदड़िया अपने लेनदेन को पूरा करने के लिए उन प्रतिभूतियों की खरीद प्रारंभ कर देता है और फिर से प्रतिभूतियों के बाजार में सुधार आने लगता है।

मूल्यांतर के सौदे : यदि किसी संस्था की प्रतिभूतियां दो या दो से अधिक शेयर बाजारों में सूचीकृत हों तो, प्रत्येक शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के व्यापार मूल्यों में अंतर का लाभ उठाने के लिए जो लेनदेन किए जाते हैं, उन्हें मूल्यांतर के सौदे कहा जाता है। मूल्यांतर का सौदा अन्य परिकल्पनात्मक सौदों की तुलना में सबसे अधिक विशिष्ट एवं चतुराई का सौदा समझा जाता है क्योंकि इस प्रकार के सौदों के लिए परिकल्पक को उन तमाम शेयर बाजारों की गतिविधियों से अवगत रहना पड़ता है जिनके संबंध में वह लेनदेन तय करता है।

प्रत्येक शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के मूल्य स्थानीय कारणों से भी प्रभावित हो सकते हैं। फलस्वरूप एक ही प्रतिभूति का अलग अलग शेयर बाजारों में मूल्य भिन्न हो सकता है। यदि किसी शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के मूल्यों में कमी आ गई है तो परिकल्पक ऐसे शेयर बाजार में प्रतिभूतियों को खरीद कर उस शेयर बाजार में बेचने का सौदा करते हैं जहां उन प्रतिभूतियों का मूल्य अधिक है। परिकल्पक विभिन्न शेयर बाजारों के मूल्यों में परिवर्तन का लाभ उठा लेता है।

यदि इस प्रकार के मूल्यांतर सौदे एक ही देश के दो शेयर बाजारों में किए जाएं तो इन्हें 'राष्ट्रीय मूल्यांतर सौदे' कहा जाता है। यदि ये सौदे दो अलग अलग देशों के शेयर बाजारों में किए जाएं तो इनको 'अंतर्राष्ट्रीय मूल्यांतर सौदे' कहा जाएगा।

मूल्यांतर सौदों से एक ओर तो विभिन्न शेयर बाजारों में एक ही प्रतिभूति के मूल्यों में समानता लाई जाती है क्योंकि यदि शेयर बाजार में अपर्याप्त पूर्ति के कारण उनके मूल्यों में वृद्धि हो तो उस शेयर बाजार में उनकी पूर्ति बढ़ा कर, मांग व पूर्ति में संतुलन उत्पन्न किया जाता है, और दूसरी ओर दो देशों के शेयर बाजारों में किए गए मूल्यांतर सौदे से प्रतिभूतियों के बाजार में विस्तार होता है। इससे शेयर बाजार के व्यवसाय में वृद्धि होगी।

सुरक्षात्मक सौदे : सुरक्षात्मक सोदा एक ऐसा सौदा है जो कोई भी परिकल्पक प्रतिभूतियों के लेनदेन से होने वाली संभावित हानि से बचने के लिए कर सकता है। सुरक्षात्मक सौदे में मूल सौदे के विपरीत उसी मात्रा तथा उसी राशि का एक दूसरा सौदा भी तय कर लिया जाता है ताकि मूल सौदे से मूल्यों में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न संभावित हानि को उसके विपरीत किए गए सहायक सौदे से संभावित प्राप्य लाभ से पूरा किया जा सके। शेयर बाजार में वैकल्पिक सौदे भी सुरक्षात्मक सौदों की ही भांति एक लेनदेन की संभावित क्षति की पूर्ति दूसरे लेनदेन से करने के लिए किए जाते हैं। जैसे यदि कोई परिकल्पक कुछ प्रतिभूतियों को क्रय करने का सौदा करता है तो इस सौदे से मूल्यों में आशा से विपरीत दिशा में परिवर्तन के फलस्वरूप संभावित क्षति की पूर्ति करने के लिए विक्रय वैकल्प का सौदा तय कर लेता है। इसी प्रकार यदि मूल सौदा प्रतिभूतियों का विक्रय करने के लिए किया गया है तो दूसरा उसी मात्रा एवं उसी राशि

का 'क्रय वैकल्प' का सौदा तय करके हानि की सुरक्षा की जाती है। सुरक्षात्मक सौदा का विस्तार में वर्णन 'उपज विपणि' अध्याय में किया गया है क्योंकि सुरक्षात्मक सौदे व्यापारी या उत्पादक वस्तुओं के स्टाक के मूल्यों में परिवर्तन की हानि से बचने के लिए भी करते हैं।

भारत में शेयर बाजारों का नियंत्रण

नियंत्रण की आवश्यकता : शेयर बाजार पूंजी बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग समझा गया है क्योंकि देश के उद्योगों के लिए पूंजी का निर्माण करने में शेयर बाजारों का महत्वपूर्ण योगदान है। देश के औद्योगिक विकास एवं आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए और उसमें संतुलन बनाए रखने के लिए शेयर बाजारों की क्रियाओं को नियंत्रित करके उसके अनुकूल बनाए रखना आवश्यक है ताकि पूंजी निर्माण करने वाले इस महत्वपूर्ण साधन के प्रति जनता का विश्वास उत्पन्न किया जा सके और इसके द्वारा निर्मित पूंजी को उद्योगों के विकास एवं विस्तार के लिए गतिशील बनाया जा सके।

इसके अतिरिक्त शेयर बाजार के विकास को उचित दिशा देने के लिए भी यह आवश्यक है कि एक ओर तो शेयर बाजारों को पर्याप्त व्यवसाय उपलब्ध कराया जाए और दूसरी ओर शेयर बाजारों में व्याप्त अस्वस्थ परिकल्पना को, जो जुए की प्रकृति की होती है, प्रतिबंधित किया जाए क्योंकि अस्वस्थ एवं अवांछनीय परिकल्पनात्मक सौदे विनियोगकर्ताओं के हितों को विपरीत रूप से प्रभावित करके शेयर बाजार में विनियोग के वातावरण को दूषित करते हैं। शेयर बाजारों में नियंत्रण की आवश्यकता के इन मूल कारणों के अतिरिक्त शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए तथा सदस्यों की संदेहजनक कार्य स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भी इनका नियंत्रण आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि इससे देश में कार्यरत समस्त शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है और उनमें एकरूपता लाई जा सकती है। इसके अलावा शेयर बाजारों में नियंत्रण के अन्य कारणों का संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. केंद्रीय नियंत्रण के अभाव में देश में कार्य कर रहे समस्त शेयर बाजारों की कार्य प्रणालियों में भिन्नता थी। उनके नियम, उपनियमों में भिन्नता थी जिससे विनियोगकर्ता अपने धन के विनियोजन के लिए इस माध्यम को विश्वसनीय नहीं समझते थे। अतः इनकी कार्य प्रणालियों में समानता या एकरूपता बनाए रखने के उद्देश्य से इनका नियंत्रण आवश्यक था।

2. सदस्यता एवं सदस्य संख्या में कोई नियंत्रण न होने के कारण अयोग्य और अविश्वसनीय व्यक्ति भी शेयर बाजारों की सदस्यता प्राप्त करते गए और इसके अतिरिक्त उनके द्वारा जो लेनदेन किए जाते थे उनको सही प्रकार से लेखित न करना और उनसे संबंधित पूर्ण हिसाब-किताब न रखना विनियोगकर्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए उचित एवं अनुकूल न समझा गया।

3. नियंत्रण के अभाव में शेयर बाजारों में परिकल्पनात्मक सौदे जुए के सौदों की भांति किए जाते थे। कोई प्रतिबंध न होने के कारण दिन प्रतिदिन इसका प्रचलन बढ़ रहा था।

4. देश के एक क्षेत्र अथवा भाग में आवश्यकता से अधिक शेयर बाजार स्थापित होने के कारण उनको पर्याप्त व्यवसाय प्राप्त नहीं था। दूसरी ओर अन्य कुछ क्षेत्रों में उनकी सुविधाओं का अभाव था।

5. सूचियन के संबंध में उचित व्यवस्था न होने के कारण वे संस्थाएं भी अपनी

प्रतिभूतियों का सूचियन करा लेती थीं जिनकी आर्थिक दशा संतोषजनक न हो।

6. शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली में 'अंतरराशि में व्यापार' की व्यवस्था का बिल्कुल अभाव था और परिकल्पक अपने आर्थिक साधनों की सीमा के बाहर भी परिकल्पनात्मक सौदे करते थे।

7. इसके अतिरिक्त सदस्यों की कार्यस्थिति में अस्पष्टता और उनके कार्य के स्वभाव में अनिश्चितता से विनियोगकर्ताओं में संदेह उत्पन्न होना था और सदस्य अपनी संदेहजनक स्थिति का विनियोगकर्ताओं से अनुचित लाभ प्राप्त करते थे।

शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली के उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए और विशेष रूप से अस्वस्थ परिकल्पना को रोकने के उद्देश्य से सरकार ने इन पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण रखने के लिए समय समय पर जो कदम उठाए, वे संक्षेप में इस प्रकार थे : सर्वप्रथम 1922 में 'लेजिसलेटिव काउंसिल आफ बंबई' ने बंबई शेयर बाजार की कार्य प्रणाली में सुधार लाने के लिए एक कमेटी गठित करने का प्रस्ताव किया और 1923 में 'अटले कमेटी' गठित की गई। 1925 में इस कमेटी के सुझावों के अनुकूल 'बंबई प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) विधान' बनाया गया और इस विधान के अंतर्गत शेयर बाजार के बाहर प्रतिभूतियों के संबंध में किए जाने वाले लेनदेन व्यर्थ घोषित किए गए। 1936 में बंबई सरकार ने श्री डब्ल्यू० बी० मोरीसन की अध्यक्षता में एक और कमेटी गठित की और इस कमेटी ने भी अस्वस्थ परिकल्पना को रोकने तथा शेयर बाजार की संचालन विधि को सुधारने के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात देश में कार्यरत समस्त शेयर बाजारों पर नियंत्रण रखने के प्रश्न को सामने रखते हुए, 1944 में 'मुद्रा शोध विभाग' के माध्यम से समस्त शेयर बाजारों की कार्य स्थितियों एवं संचालन विधियों का अध्ययन किया गया। इसके पश्चात डा० पी० जे० थामस की अध्यक्षता में एक और कमेटी गठित की गई जिसकी सिफारिशों के आधार पर एक अन्य महत्वपूर्ण कमेटी श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में बनाई गई। इस कमेटी के महत्वपूर्ण योगदान से 1954 में प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) बिल संसद में प्रस्तुत किया गया जो 1956 में विधान बना।

प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम 1956 वास्तव में 20 फरवरी 1957 से लागू किया गया। इसके माध्यम से देश में कार्य कर रहे समस्त शेयर बाजारों को नियंत्रित किया जाता है। इस अधिनियम की कुछ महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं निम्न हैं। इनको अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न चार वर्गों में बांटा जा रहा है :

1. शेयर बाजारों की मान्यता : प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम 1956 के अनुसार देश में केवल वे शेयर बाजार कार्य कर सकते हैं जिनको केंद्रीय सरकार मान्यता प्रदान करे। बिना मान्यता प्राप्त शेयर बाजार गैरकानूनी समझे जाएंगे। शेयर बाजार को मान्यता केंद्रीय सरकार शेयर बाजार द्वारा प्रस्तुत आवेदन पत्र पर देती है। मान्यता प्राप्त करने के पूर्व शेयर बाजार को निम्न शर्तें पूरी करनी आवश्यक हैं :

(अ) शेयर बाजार के नियम एवं उपनियम इस प्रकार के हों जिनसे विनियोगकर्ताओं के हित पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हों और विनियोगकर्ताओं के साथ उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार संभव हो।

(ब) शेयर बाजार सरकार द्वारा समय समय पर निर्धारित शर्तों के अंतर्गत कार्य करने के लिए तैयार हों।

(स) शेयर बाजार को मान्यता प्रदान करना देश के व्यवसाय एवं जनता के हित में हो।

2. केंद्रीय सरकार का नियंत्रण : शेयर बाजारों की कार्य प्रणालियों को सरकार के

नियंत्रण में रखने के उद्देश्य से प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम 1956 के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को निम्न अधिकार दिए गए हैं :

(अ) शेयर बाजार की मान्यता रद्द करना या वापस लेना (धारा 5)।

(ब) सरकार द्वारा आवश्यक सूचनाएं मांगने का अधिकार (धारा 6)।

(स) प्रत्येक शेयर बाजार द्वारा सरकार को वार्षिक प्रतिवेदन भेजना (धारा 7)।

(द) नियमों में परिवर्तन के लिए सरकार की अनुमति लेना (7 अ)।

(य) किसी भी शेयर बाजार को आवश्यक नियम तथा उपनियम बनाने के लिए बाध्य करना और उसके विद्यमान नियमों में परिवर्तन कराना।

(र) प्रबंध समिति को भंग करने का अधिकार।

(ल) शेयर बाजार के व्यवसाय को एक सप्ताह तक स्थगित करने का अधिकार।

(व) शेयर बाजार की प्रबंध समिति में अधिकतम तीन सदस्य मनोनीत करने का अधिकार।

(स) किसी भी सार्वजनिक कंपनी को प्रतिभूतियों का सूचियन कराने के लिए बाध्य करने का अधिकार।

(श) किसी योग्य व्यक्ति को प्रतिभूतियों के व्यापार के लिए अनुमति प्रदान करना जो शेयर बाजार का सदस्य न हो।

(ष) परिकल्पना को रोकने के लिए किसी प्रतिभूति के लेनदेन को किसी भी राज्य अथवा स्थान विशेष में प्रतिबंधित करने का अधिकार।

(ह) तैयार सुपुर्दगी के लेनदेन को नियमित एवं नियंत्रित करने का अधिकार।

(भ) शेयर बाजार के सदस्यों को उनके द्वारा किए गए लेनदेन को लेखित करने तथा उनका सही हिसाब-किताब रखने के लिए बाध्य करने का अधिकार और उन खातों को किसी 'चार्टर्ड एकाउंटेंट' द्वारा निरीक्षित करने के लिए बाध्य करने का अधिकार।

3. कार्य प्रणाली पर नियंत्रण : शेयर बाजार की कार्य प्रणाली के महत्वपूर्ण तत्वों को नियंत्रित करने तथा नियमित रखने के लिए सरकार को प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम के अंतर्गत निम्न मामलों से संबंधित अधिकार भी दिए गए हैं :

(अ) शेयर बाजार में प्रतिभूतियों का लेनदेन करने का समय निर्धारित करने का अधिकार।

(ब) शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के लेनदेन का निपटारा करने के लिए समाशोधन गृह की स्थापना करना।

(स) कोरे हस्तांतरण को सीमित करना व नियंत्रित रखना और बदली व्यवहारों (कैरी आभर) को समाप्त करना अथवा नियमित करने का अधिकार।

(द) बाजार दरें निर्धारित करना और उनकी घोषणा करना।

(य) सदस्यों के दावे व झगड़ों को न्याय पंचायत द्वारा निपटाना।

(र) तरावनीवाले के व्यापार को नियमित करना।

(ल) सदस्यों द्वारा किए जाने वाले व्यापार को सीमित करना।

(व) दलाली, दंड एवं अंतरराशि का निर्धारण।

4. परिकल्पना में प्रतिबंध : (अ) प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम के अंतर्गत हालांकि कोरे हस्तांतरण को प्रतिबंधित नहीं किया गया है फिर भी कुछ व्यवस्थाओं के द्वारा इसे सीमित कर दिया गया है क्योंकि इसको बिल्कुल प्रतिबंधित करने से प्रतिभूतियों की हस्तांतरणीयता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। अब कोरे हस्तांतरण की अधिकतम सीमा 2 माह कर दी गई है।

(ब) शेयर बाजार के समस्त वैकल्पिक सौदे गैरकानूनी घोषित कर दिए गए हैं।

(स) शेयर बाजार से बाहर प्रतिभूतियों का लेनदेन अवैधानिक घोषित कर दिया गया है।

शेयर बाजार निर्देशालय

प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम 1956 की विभिन्न व्यवस्थाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए 1959 में सरकार ने वित्त मंत्रालय के अधीन 'शेयर बाजार निर्देशालय' की स्थापना की है। इसका मुख्य कार्यालय बंबई में स्थित है और कलकत्ता, मद्रास एवं दिल्ली में इसकी शाखाएं हैं। यह निर्देशालय देश में कार्यरत समस्त शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली की कड़ी निगरानी रखता है और सरकार तथा शेयर बाजारों के बीच एक कड़ी है। इस निर्देशालय द्वारा मुख्य रूप से निम्न कार्य किए जाते हैं :

1. निर्देशालय का मुख्य कार्य यह देखना है कि शेयर बाजारों का प्रबंध व संचालन प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम की संबंधित व्यवस्थाओं के अंतर्गत किया जा रहा है अथवा नहीं और यदि शेयर बाजार में कोई अवांछनीय स्थिति उत्पन्न होती है तो यह निर्देशालय शेयर बाजार को उपयुक्त सलाह भी देता है।

2. यह निर्देशालय शेयर बाजार के बाहर प्रतिभूतियों के लेनदेन रोकता है और साथ ही वैकल्पिक सौदों को भी प्रतिबंधित करता है।

3. शेयर बाजार निर्देशालय इस बात पर भी निगरानी रखता है कि प्रतिभूतियों के सूचियन के संबंध में संस्था ने समस्त आवश्यक कार्यवाही पूरी की है और शेयर बाजार सूचियन में भेदभाव तो नहीं करते हैं।

4. यह निर्देशालय शेयर बाजार के सदस्यों से उनके कार्यों का पूर्ण विवरण मांगता है और इस तथ्य को ज्ञात करता है कि कोई सदस्य अपने आर्थिक साधनों की सीमाओं के बाहर तो प्रतिभूतियों का व्यापार नहीं कर रहे हैं। दोषी सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए संबंधित शेयर बाजार को सलाह दे सकता है।

5. शेयर बाजार के सदस्यों को कुछ दशाओं में अपने आर्थिक साधनों की सीमा से बाहर लेनदेन करने के लिए यह निर्देशालय अनुमति प्रदान कर सकता है।

6. यह निर्देशालय शेयर बाजारों तथा सरकार के बीच एक कड़ी का कार्य करता है और सरकार को समय समय पर शेयर बाजारों की कार्य प्रणाली से अवगत कराता है।

शेयर बाजारों की क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं का वांछनीय परिणाम तभी प्राप्त हो सकता है यदि इन्हें व्यवहार में लागू किया जाए। इसके अतिरिक्त प्रतिभूति अनुबंध (नियंत्रण) अधिनियम में शेयर बाजारों पर नियंत्रण रखने के लिए की गई व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट होता है कि न तो शेयर बाजार में कार्य करने वाले सदस्य तरावनीवाला एवं दलाल की कार्य स्थिति स्पष्ट की गई है और न ये व्यवस्थाएं अस्वस्थ परिकल्पनात्मक सौदों को प्रतिबंधित करने के लिए पर्याप्त हैं। जब तक शेयर बाजार की समस्त क्रियाओं एवं गतिविधियों पर प्रभावशाली नियंत्रण नहीं रखा जाएगा तब तक शेयर बाजार उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि शेयर बाजार में विनियोग के लिए स्वच्छ वातावरण बनाए रखा जाए, ताकि संभावित विनियोगकर्ता बिना किसी हिचकिचाहट के अपनी पूंजी का विनियोजन औद्योगिक प्रतिभूतियों में शेयर बाजारों के माध्यम से कर सकें। शेयर बाजारों में प्रतिभूतियों का लेनदेन करने में विनियोगकर्ताओं के हितों की सुरक्षा उन्हें विनियोजन के लिए प्रेरित करती है। इस नियंत्रण की व्यवस्था को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के

लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं।

1. तरावनीवाला तथा दलाल की स्थिति का स्पष्टीकरण,

2. अस्वस्थ परिकल्पनात्मक सौदों की कड़ी निगरानी,

3. शेयर बाजार के सदस्यों से समाशोधनगृह में अंतरराशि जमा कराके लेनदेन की अनुमति देना,

4. प्रतिभूतियों में घेराबंदी समाप्त करने के लिए न्यून बिक्री को नियमित तथा सीमित करना,

5. भावी सौदों पर प्रतिबंध लगाना।

खंड तीन

विपणन—क्षेत्र, प्रकृति एवं कार्य

12

विपणन : परिभाषा, क्षेत्र एवं महत्व

व्यावसायिक क्रियाओं को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया गया है : पहले वर्ग में वे उद्योग सम्मिलित हैं जिनके अंतर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन एवं सृजन किया जाता है; दूसरे भाग में वाणिज्यिक क्रियाएं आती हैं जिनके निष्पादन के फलस्वरूप उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं को उपभोक्ताओं में वितरित किया जाता है। व्यवसाय के दोनों वर्ग एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं, क्योंकि वस्तुओं के उत्पादन के बिना उनके वितरण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार बिना वितरण के उत्पादन क्रिया व्यावसायिक क्रिया नहीं बन सकती है, क्योंकि जब तक उत्पादक द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विक्रय नहीं किया जाएगा तब तक उत्पादक न तो कोई लाभ अर्जित कर सकता है और न उत्पादन कार्य को जारी ही रख सकता है। संक्षेप में, वस्तुओं का उत्पादन करने का मुख्य उद्देश्य उनका वितरण करना है ताकि उत्पादित वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाई जा सकें और उनकी आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सके।

साधारण बोलचाल में विपणन का आशय वस्तुओं की बिक्री से लगाया जाता है। वस्तुतः यह उचित नहीं है क्योंकि बिक्री तो विपणन का एक महत्वपूर्ण अंग मात्र है; विपणन में वस्तुओं की बिक्री के अतिरिक्त कई अन्य आवश्यक क्रियाएं भी सम्मिलित हैं जिनके फलस्वरूप वस्तुओं का वितरण सरल एवं सुगम होता है, जैसे—व्यापारी वस्तुओं को उत्पादक से क्रय न करे तो वस्तु की बिक्री नहीं हो सकती है। हालांकि कुछ दशाओं में उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करके प्रत्यक्ष रूप से अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं। इसके लिए भी उन्हें कच्चे माल तथा अन्य सामग्री की खरीद करनी पड़ती है।

विपणन शब्द का अर्थ काफी व्यापक है। इसके अंतर्गत व्यापारी की उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जो उसे माल को उत्पादक से लेकर अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने में अनिवार्य रूप से निष्पादित करनी पड़ती हैं, जैसे—क्रय, यातायात, संग्रहण, बीमा, प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण, विज्ञापन आदि।

क्लार्क के शब्दों में : 'विपणन में व्यापारी की वे क्रियाएं तथा प्रयत्न सम्मिलित हैं जिनके द्वारा वस्तुओं के स्वामित्व का हस्तांतरण होता है और उनका भौतिक रूप से वितरण होता है।' क्लार्क द्वारा दी गई यह परिभाषा काफी व्यापक एवं विस्तृत समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा से विपणन की समस्त क्रियाओं का आभास होता है। इसमें विपणन की क्रियाएं दो खंडों में विभक्त कर दी गई हैं। प्रथम खंड में वे क्रियाएं निष्पादित की गई हैं जिनके द्वारा वस्तुओं के स्वामित्व का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरण होता है, जैसे—वस्तुओं का क्रय-विक्रय। इसके पश्चात इन वस्तुओं को भौतिक रूप से वितरित करने अथवा हस्तांतरित करने में जो अन्य क्रियाएं शामिल हैं उनको दूसरे खंड में विवेचन और विश्लेषण के लिए रखा गया है, जैसे—यातायात, बीमा,

संग्रहण, श्रेणीकरण, प्रमापीकरण, जोखिम वहन आदि।

इसी प्रकार अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएशन के अनुसार : 'विपणन में उन व्यावसायिक क्रियाओं का निष्पादन सम्मिलित है जो उत्पादक से वस्तुओं एवं सेवाओं के बहाव को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने में मार्गदर्शन करती हैं।' इस परिभाषा के अनुसार भी विपणन की क्रियाएं वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पादक से लेकर अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने हेतु तैयार किए गए बहाव को निर्देशित करती हैं।

विपणन की उपर्युक्त परिभाषाएं अपनी अपनी जगह उपयुक्त एवं व्यापक होते हुए भी आधुनिक विपणन की मूल विशेषताओं की जानकारी नहीं दे सकती हैं, क्योंकि व्यवसाय के क्षेत्र में उन्नति एवं बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के कारण विपणन का क्षेत्र भी उत्पादित वस्तुओं के वितरण तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में भी इसकी निश्चित भूमिका है। अतः विपणन की मूल प्रकृति ज्ञात करने के लिए उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त विपणन के संबंध में प्रचलित दो मुख्य, सामान्य विचारधाराओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है :

(अ) विपणन की परंपरागत विचारधारा (ट्रेडीशनल अप्रोच)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि विपणन की क्रियाएं मूल रूप से वस्तुओं के वितरण से संबंधित हैं और वस्तुओं के उत्पादन के पश्चात प्रारंभ होती हैं। इसका अर्थ यह है कि उत्पादक द्वारा वस्तुओं के उत्पादन के बाद ही उनके वितरण की समस्या उत्पन्न होती है। विपणन की इस विचारधारा को परंपरागत विचारधारा समझा जाता है क्योंकि यह विचारधारा उस समय अधिक उपयुक्त थी जब व्यावसायिक क्रिया तुलनात्मक रूप से कम जटिल एवं सीमित थी। आज भी यह विचारधारा विशेष रूप से अर्धविकसित एवं विकासशील देशों में प्रचलित है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशों में वस्तुओं के वितरण की अपेक्षा उनका पर्याप्त उत्पादन अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, पहले वस्तुओं का उत्पादन कर लिया जाता है और फिर उसके पश्चात उनको वितरित करने की व्यवस्था की जाती है।

विपणन की परंपरागत विचारधारा को उत्पादन अनुगामी विचारधारा (प्रोडक्शन आरियंटेड) भी कहा जाता है क्योंकि इस विचारधारा के क्रियान्वयन में व्यावसायिक संगठन की समस्त क्रियाओं को उत्पादन के दृष्टिकोण से नियोजित किया जाता है और उनका मूल्यांकन भी उत्पादन को दृष्टि में रखकर ही किया जाता है।

व्यवहार में विपणन की यह विचारधारा दिन प्रतिदिन अप्रचलित होती जा रही है क्योंकि व्यावसायिक क्षेत्र में उत्पन्न जटिलताओं एवं कठिनाइयों के फलस्वरूप आज के युग में व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने के लिए तथा उसमें विस्तार करने के लिए उत्पादन को ही अधिक बल न देकर उत्पादन कार्य में ग्राहकों की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं को भी उचित स्थान दिया जाना आवश्यक हो गया है।

(ब) विपणन की आधुनिक विचारधारा

आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए ग्राहक उत्पन्न करके लाभ अर्जित करना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वस्तुओं के उत्पादन में ग्राहक की आवश्यकताओं तथा उन आवश्यकताओं की संतुष्टि को पूर्णतया ध्यान में रखा जाए।

विपणन की आधुनिक विचारधारा के अनुसार विपणन की क्रिया वस्तुओं का उत्पादन हो जाने के पश्चात प्रारंभ नहीं होती है बल्कि वास्तव में वस्तुओं एवं सेवाओं का

उत्पादन करने से पहले ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर ही उत्पादन कार्य को निश्चित दिशा दी जाती है ताकि जिन वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन किया जाए उनसे ग्राहकों की आवश्यकताएं पूरी की जा सकें और उनको संतुष्टि प्राप्त हो सके। संक्षेप में, विपणन की आधुनिक विचारधारा में ग्राहक ही वह धुरी है जिसके चारों ओर व्यावसायिक क्रियाएं आवश्यकतानुसार व्यवस्थित की जाती हैं।

इस विचारधारा को क्रियान्वित करने के लिए निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं :

1. ग्राहक को व्यावसायिक संगठन में प्रथम स्थान देना और उसकी आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं को दृष्टि में रखकर वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करना।

2. संगठन के प्रबंधकों को अपनी दृष्टि में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के बजाय वस्तुओं के उपलब्ध बाजार को रखना चाहिए।

3. संगठन की क्रियाओं का मापदंड ग्राहक होना चाहिए और ग्राहक के दृष्टिकोण से ही संगठन की सारी क्रियाओं का विश्लेषण करके उनमें आवश्यक सुधार किए जाने चाहिए।

विपणन की आधुनिक विचारधारा परंपरागत विचारधारा की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है क्योंकि इससे व्यावसायिक संस्था को निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं :

1. ग्राहकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया उत्पादन व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने एवं व्यवसाय में विस्तार करके उसे उन्नतशील तथा विकसित करने में सहायक है। इससे संस्था बाजार में वस्तु की मांग बनाए रखेगी और उसमें विस्तार कर सकेगी।

2. इससे प्रबंधकों को समय समय पर ग्राहकों की बदलती आवश्यकताओं का शीघ्र ज्ञान हो सकता है और उनकी परिवर्तित आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए नई वस्तु का उत्पादन किया जा सकता है।

फिलिप कोटलर के शब्दों में : 'संस्था के ग्राहकों की अतृप्त आवश्यकताएं ही (जिनकी संतुष्टि नहीं हुई है) नई वस्तु के आविष्कार का साधन हैं।' अतः संस्था को प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए नई वस्तु का आविष्कार करके उसे बाजार में लाने से पहल ग्राहकों की उन आवश्यकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है जिनकी संतुष्टि नहीं हो पाई है।

3. इसके अतिरिक्त व्यवसाय में ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं को महत्व देने का अर्थ यह भी है कि संस्था ग्राहकों के हितों की सुरक्षा करके व्यवसाय के सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी कर रही है और ऐसी संस्था के प्रति समाज का पूर्ण विश्वास बना रहता है। इससे व्यवसाय के अस्तित्व को और अधिक महत्व मिलता है।

विपणन की उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं को दृष्टि में रखते हुए फिलिप कोटलर द्वार दी गई यह परिभाषा अधिक उपयुक्त तथा व्यावहारिक जान पड़ती है : 'विपणन, संस्था की ग्राहक प्रभावित उन समस्त साधनों, नीतियों एवं क्रियाओं का विश्लेषण, संगठन, नियोजन तथा नियंत्रण है जो चुने हुए ग्राहकों के समूह की आवश्यकताओं को, लाभ पर, संतुष्ट करने के लिए किया जाता है।' इस परिभाषा द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि संस्था अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विपणन की क्रियाओं को ग्राहकों के दृष्टिकोण से नियोजित एवं संगठित करती है ताकि उत्पादित वस्तुओं से ग्राहकों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करके लाभ अर्जित किया जा सके।

विपणन का महत्व

विपणन व्यवसाय का एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसके द्वारा व्यवसाय के दूसरे भाग वितरण

को क्रियान्वित किया जाता है। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि विपणन वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था ही नहीं है बल्कि वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में भी इसकी निश्चित भूमिका है। आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में यह सत्य है कि व्यवसाय को जीवित रखने के लिए तथा उसे उन्नतशील बनाने के लिए वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर किया जाए, क्योंकि प्रत्येक ग्राहक या क्रेता यह प्रयास करता है कि उसके द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तु से उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। यह तभी संभव है जब क्रय की जाने वाली वस्तु से उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पादन कार्य प्रारंभ करने से पहले उत्पादित की जाने वाली वस्तु के बाजार का पूर्णतया सर्वेक्षण किया जाए और ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाए, ताकि उत्पादित वस्तु के वितरण की अनिश्चितता काफी हद तक समाप्त हो।

व्यवसाय में बढ़ती हुई जटिलता, विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में हुई उन्नति तथा आर्थिक क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप ग्राहक की आवश्यकताएं तेजी से बदलती रहती हैं। ग्राहक को आज जिस वस्तु की आवश्यकता है, संभव है कुछ ही समय पश्चात वह वस्तु ग्राहक के लिए अप्रचलित एवं अनुपयोगी सिद्ध हो जाए। इस स्थिति में व्यवसाय के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उत्पादित वस्तु में ग्राहक की बदलती हुई आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है। इस संबंध में विपणन की महत्वपूर्ण क्रिया बाजार सर्वेक्षण तथा बाजार शोधकार्य संचालित करके ग्राहकों की अतृप्त आवश्यकताओं का विश्लेषण करना है। ऐसा करके यह निर्णय लिया जा सकता है कि उत्पादित वस्तु को उपयोगी बनाने के लिए उसमें किस प्रकार के परिवर्तन अपेक्षित हैं।

विपणन का महत्व केवल ग्राहक तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार उत्पादित की जाने वाली वस्तु तक सीमित नहीं है। प्रबंधकर्ता को इसके अतिरिक्त कई अन्य महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं जो विपणन विभाग को ही नहीं, संस्था के अन्य महत्वपूर्ण विभागों को भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, जैसे, वित्त विभाग, उत्पादन विभाग, क्रय विभाग आदि। इसलिए विपणन की नई विचारधारा के अनुसार संस्था के संगठन की समस्त क्रियाएं ग्राहक को व्यवसाय की आधारशिला मान कर नियोजित एवं संगठित की जाती हैं।

विपणन क्रियाओं द्वारा व्यावसायिक हितों एवं सामाजिक हितों को समन्वित किया जा सकता है, क्योंकि व्यवसायी का उद्देश्य उचित दर का लाभ अर्जित करना है और समाज का हित इसमें है कि उसके विभिन्न वर्गों को उचित प्रकार की वस्तुएं उचित मूल्य पर निरंतर प्राप्त होती रहें और व्यवसाय में विस्तार के फलस्वरूप रोजगार आदि की व्यवस्था बनी रहे तथा व्यवसाय में संलग्न समस्त वर्गों के हित सुरक्षित रहें। इन दोनों छोरों में समन्वय बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि संस्था उपलब्ध साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग करके उन वस्तुओं एवं सेवाओं का उचित मूल्य पर उत्पादन एवं वितरण करे जिससे ग्राहकों की आवश्यकताएं संतुष्ट हो सकें और उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो।

विपणन क्रियाओं के माध्यम से ही व्यवसाय में स्थायित्व लाया जा सकता है। इससे एक ओर उत्पादन में निरंतरता बनी रहती है और दूसरी ओर वस्तुओं के बाजार की अनिश्चितता काफी हद तक समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण करके उचित दर का लाभ कमाकर संस्था व्यवसाय के समस्त साधनों को जीवित रख सकती है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवसाय के संपूर्ण क्षेत्र में विपणन की क्रियाओं का

महत्वपूर्ण स्थान है। इन क्रियाओं को सुचारु रूप से संचालित करके व्यवसाय के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, व्यावसायिक क्रिया में स्थायित्व उत्पन्न किया जाता है तथा समाज में व्यावसायिक क्रिया के महत्व में वृद्धि की जा सकती है। व्यवसाय में विपणन के महत्व को समझने के लिए विपणन के समस्त कार्यों का अध्ययन आगे किया जा रहा है जिससे विपणन की क्रियाओं की व्यवसाय में सही स्थिति ज्ञात की जा सकती है।

विपणन के कार्य

विपणन की क्रियाएं उत्पादन से पहले ही प्रारंभ हो जाती हैं। संपूर्ण विपणन विधि में निष्पादित विभिन्न क्रियाओं को ही विपणन के कार्य कहा जाता है। इनका वर्णन नीचे किया जा रहा है :

उत्पादित की जाने वाली वस्तु का चुनाव, योजना एवं विकास

प्रत्येक व्यावसायिक संस्था के लिए यह निर्धारित करना एक महत्वपूर्ण समस्या है कि किस वस्तु का उत्पादन अथवा व्यापार किया जाए। दूसरे शब्दों में, उत्पादित की जाने वाली वस्तु को विपणन की क्रियाओं का आधार माना जाता है, क्योंकि उसका चुनाव विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा लिए जाने वाले अन्य निर्णयों को प्रभावित करता है और काफी हद तक यह वस्तु की प्रकृति पर निर्भर है कि वस्तु का वितरण करने के लिए किस माध्यम को अपनाया जाए, किन तरीकों से वस्तुओं का विज्ञापन किया जाए और संपूर्ण विपणन विधि क्या हो। इस संबंध में वस्तु का चुनाव, योजना एवं विकास आवश्यक हैं, क्योंकि वस्तु की प्रकृति ज्ञात करने के अतिरिक्त ग्राहकों की दिन प्रतिदिन बदलती हुई आवश्यकताओं की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। ग्राहकों की आवश्यकताएं समय समय पर बदलती रहती हैं। ग्राहकों की आवश्यकताओं में परिवर्तन के अनुकूल ही विद्यमान वस्तु में आवश्यक परिवर्तन या नई वस्तु का उत्पादन, इस प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने के लिए आवश्यक समझा गया है। प्रत्येक उत्पादित वस्तु उत्पादन के बाद अपने जीवनचक्र में प्रवेश करती है और इस संपूर्ण जीवनचक्र में उसे कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। किसी अवस्था में वस्तु की मांग अधिक होती है तो किसी अवस्था में वस्तु की विद्यमान मांग को बनाए रखने के लिए बिक्रीवर्धक अतिरिक्त प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। एक वस्तु को अपने संपूर्ण जीवनचक्र में इन पांच अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है : (i) वस्तु का बाजार में प्रवेश, (ii) विकास, (iii) विकास की परिपक्वता, (iv) विकास में स्थिरता, तथा (v) विकास में कमी।

वस्तु को बाजार में प्रवेश कराने के पश्चात विभिन्न अवस्थाओं में विपणन प्रबंधकर्ता को विपणन कार्यक्रम की समस्त क्रियाओं को अवस्था के अनुकूल संतुलित बनाए रखना आवश्यक है। जब वस्तु बाजार में प्रवेश करती है, उपभोक्ताओं को इसके बारे में पूरी जानकारी नहीं होती। इस अवस्था में वस्तु की स्वीकृति कम होना स्वाभाविक है। अतः वस्तु को अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय बनाने के लिए विपणन प्रबंधकर्ता वस्तु के अस्तित्व, उसकी उपयोगिता एवं प्रयोगविधि के बारे में संभावित ग्राहकों को ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रभावपूर्ण ढंग से विज्ञापन कराता है, क्योंकि जब तक वस्तु के बारे में ग्राहकों को पर्याप्त ज्ञान नहीं होगा तब तक उनके द्वारा वस्तु को क्रय करने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रथम अवस्था में प्रभावपूर्ण विज्ञापन एवं बिक्रीवर्धक प्रयत्नों के फलस्वरूप वस्तु बाजार में धीरे धीरे स्थान प्राप्त करने लगती है और बिक्री दर में वृद्धि होती है। इस अवस्था को वस्तु का विकास कहा जाता है। तीसरी अवस्था में वस्तु

के लगातार विकास के फलस्वरूप वस्तु का विकास अधिकतम सीमा तक पहुंच जाता है। इसे विकास की परिपक्वता कहा जाता है। इस अवस्था में संस्था वस्तु की बिक्री के संबंध में बिक्रीवर्धक प्रयत्नों में तुलनात्मक रूप से कम धनराशि व्यय करती है। वस्तु के विकास में परिपक्वता मांग में स्थिरता बनाए रखती है परंतु मांग में स्थिरता बिना प्रभावशाली बिक्री प्रयत्नों के अधिक समय तक कायम नहीं रखी जा सकती है क्योंकि वस्तु के विकास की परिपक्वता से प्रभावित होकर प्रतियोगी संस्था बाजार में नई वस्तुओं का प्रवेश करा सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी वस्तु की मांग धीरे धीरे कम होने लगती है। वस्तु के बाजार को कायम रखने के लिए अर्थात मांग में स्थिरता बनाए रखने के लिए इस अवस्था में भी प्रथम अवस्था की भांति प्रभावपूर्ण बिक्रीवर्धक प्रयत्नों का प्रयोग आवश्यक है ताकि कुछ समय तक वस्तु की बिक्री में गिरावट कम की जा सके, पर इससे समस्या का अंतिम रूप से समाधान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वस्तु की मांग में कमी मुख्य रूप से ग्राहकों की आवश्यकता में परिवर्तन का परिणाम हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ग्राहकों द्वारा वस्तु की अस्वीकृति के कारणों का अध्ययन करके वस्तु में आवश्यक परिवर्तन किए जाने चाहिए।

वस्तु के विकास की योजना के अतिरिक्त विपणन प्रबंधकर्ता को वस्तु का चुनाव करने के पश्चात वस्तु की किस्म, रंग, आकार, मूल्य आदि के बारे में भी निर्णय लेने पड़ते हैं क्योंकि सभी ग्राहक वस्तु की एक ही किस्म को पसंद नहीं करते। ग्राहकों की क्रय शक्ति, रहन सहन का स्तर, उनकी शिक्षा आदि तत्वों का अध्ययन किया जाना उचित होगा, ताकि उनकी रुचि, क्रय शक्ति आदि के अनुसार वस्तु को आवश्यक गुणों से युक्त किया जा सके।

अंत में यह कहा जा सकता है कि वस्तु का चुनाव, विकास एवं योजना विपणन का एक ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है जो विपणन के संपूर्ण कार्यक्रम की प्रकृति एवं रचना को प्रभावित करता है, क्योंकि संस्था वस्तु की किस्म, प्रकृति आदि के अनुकूल ही विपणन के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों जैसे विज्ञापन, बिक्रीवर्धक प्रयत्न, वितरण के माध्यम आदि को नियोजित किया जाता है।

वस्तु का क्रय तथा एकत्रीकरण

उत्पादक से वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित करने के लिए बीच में कई मध्यस्थ व्यापारी संलग्न रहते हैं जो वितरण को सहज एवं सुगम बनाते हैं। वस्तुओं के वितरण के बहाव को आसान बनाने के लिए क्रय एवं एकत्रीकरण की क्रियाएं महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वस्तु को उत्पादक से क्रय करके ही मध्यस्थ व्यापारी उसे वितरण की श्रृंखला में स्थित अन्य व्यापारियों को या अंतिम ग्राहकों को बेचते हैं। क्रय एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा व्यापारी या अन्य व्यक्ति (ग्राहक) मूल्य का भुगतान करके वस्तु का स्वामित्व प्राप्त करता है। यह सर्वविदित है कि जब तक वस्तु का स्वामित्व उत्पादक से अन्य मध्यस्थों को हस्तांतरित नहीं होगा तब तक उपभोक्ता को उसका स्वामित्व प्राप्त नहीं हो सकता है अतः वस्तु के वितरण में स्वामित्व का हस्तांतरण आवश्यक है। वैसे तो वस्तु को क्रय करने का निर्णय ग्राहक को भी लेना पड़ता है पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि ग्राहक के निर्णय की तुलना में उत्पादक, मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा लिया जाने वाला निर्णय अधिक जटिल होता है। यदि उत्पादक उचित किस्म का कच्चा माल उचित मूल्य पर न क्रय कर पाए तो इससे तैयार माल की किस्म एवं मूल्य भी प्रभावित होगा। इसी प्रकार व्यापारियों एवं मध्यस्थों द्वारा किया जाने वाला क्रय काफी हद तक उनके द्वारा उन वस्तुओं की बिक्री में कमाए जाने वाले लाभ को प्रभावित करेगा। अतः उत्पादक तथा

व्यापारी को वस्तु के क्रय का निर्णय लेते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

1. क्रय की गई वस्तुओं की किस्म : वस्तु की किस्म क्रय के निर्णय को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। वस्तु की किस्म का संबंध ग्राहकों की रुचि, क्रय शक्ति, रहन सहन के स्तर आदि से होता है, क्योंकि यदि उचित किस्म की वस्तु क्रय न की जाए तो उसके विक्रय में तमाम कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रय की जाने वाली वस्तु की किस्म का निर्धारण करते समय ग्राहकों के दृष्टिकोण से, उस वस्तु का रंग, आकार, स्वाद आदि घटकों को ध्यान में रखा जाना चाहिए ताकि जिन ग्राहकों को वस्तु बेची जानी है वे इससे अपनी आवश्यकताओं को पूर्णतया संतुष्ट कर सकें। व्यवहार में यह पाया जाता है कि ऊंची आय वाले ग्राहक अच्छी किस्म की वस्तु क्रय करते हैं क्योंकि उनकी क्रय शक्ति अधिक होती है और उनके रहन सहन का स्तर ऊंचा होता है।

2. क्रय की जाने वाली वस्तु की मात्रा : क्रय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा का उनके क्रय मूल्य पर प्रभाव होता है। यदि वस्तुएं अधिक मात्रा में क्रय की जाएं तो क्रेता को बड़े पैमाने पर क्रय की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त हो सकती हैं, जैसे, क्रय मूल्य में छूट, सुपुर्दगी आदि की सुविधाएं। इसके विपरीत कम मात्रा में क्रय की जाने वाली वस्तुओं का क्रय मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक होता है। क्रय की जाने वाली वस्तु की मात्रा को निर्धारित करते समय बड़े पैमाने पर क्रय की मितव्ययताओं से ही आकर्षित नहीं होना चाहिए बल्कि उसको प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों को भी दृष्टि में रखा जाना आवश्यक है, जैसे, संस्था की विक्रय क्षमता, वस्तु की प्रकृति आदि। यदि संस्था बड़े पैमाने पर क्रय की मितव्ययताएं प्राप्त करने के लिए अधिक मात्रा में वस्तु क्रय करती है तो जब तक वस्तु बिक न जाए तब तक इनमें संस्था की कार्यशील पूंजी का विनियोजन बना रहता है और संस्था को वस्तु सुरक्षित रखने के लिए अतिरिक्त व्यय करने पड़ते हैं जो कुछ दशाओं में प्राप्त मितव्ययताओं से अधिक हो सकते हैं। संक्षेप में, क्रय की जाने वाली वस्तु की मात्रा का निर्धारण प्राप्त मितव्ययताओं एवं क्रय लागत में सम्मिलित समस्त व्ययों जैसे, पूंजी में ब्याज, वस्तुओं को सुरक्षित रखने का व्यय तथा समय के साथ वस्तु की किस्म में क्षीणता आदि से संभावित हानि से तुलना करके किया जाना चाहिए और आवश्यकतानुसार पूर्ति की निरंतरता आदि को ध्यान में रखकर वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा का निर्धारण किया जाना चाहिए।

3. वस्तु की कीमत : ग्राहकों को आकर्षित करने में वस्तु के मूल्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। व्यवहार में वस्तु के मूल्य का संबंध उसकी किस्म से होता है। यदि वस्तु अच्छी किस्म की है तो स्वाभाविक रूप से उसका मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक होगा। इसके अतिरिक्त वस्तु की मात्रा भी उसके मूल्य को प्रभावित करती है। यदि वस्तु अधिक मात्रा में क्रय की जाए तो क्रेता को तमाम मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं। इससे क्रय मूल्य कम हो जाता है। वस्तु को क्रय करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि उचित किस्म की वस्तु ग्राहक को उचित मूल्य पर प्रदान की जा सके।

4. क्रय का समय : वस्तु को क्रय करने का निर्णय लेते समय क्रय का समय अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए, क्योंकि समय समय पर वस्तुओं के मूल्यों में विभिन्न कारणों से परिवर्तन होते रहते हैं। हालांकि भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है, किसी भी समय वस्तुओं के मूल्यों में उतार चढ़ाव आ सकते हैं फिर भी व्यापारी या उत्पादक वस्तु बाजार में मांग व पूर्ति की प्रवृत्ति, अपने पिछले अनुभव, वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन की प्रवृत्ति आदि को ध्यान में रखकर कुछ सीमा तक मूल्यों में परिवर्तन की अनिश्चितता कम कर सकता है और वस्तु के क्रय के लिए उचित समय का निर्धारण कर सकता है।

5. क्रय का स्रोत एवं वस्तु की उपलब्धता : वस्तुओं का क्रेता कई स्रोतों से वस्तु क्रय

कर सकता है। इनमें से उपयुक्त स्रोत का चुनाव करने के लिए, वस्तु की उपलब्धि, पूर्ति में निरंतरता, क्रय की शर्तें, स्रोत की दूरी एवं विश्वसनीयता आदि तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए ताकि व्यापारी या उत्पादक उचित शर्तों एवं मूल्यों पर उचित किस्म की वस्तु आवश्यकता पड़ने पर निरंतर रूप से क्रय कर सके। वस्तु की उपलब्धता उसकी मात्रा को भी प्रभावित करती है। यदि वस्तु दुर्लभ है अथवा किसी विशेष मौसम में ही उपलब्ध रहती है तो ऐसी स्थिति में उत्पादन कार्य एवं वस्तु का व्यापार वर्ष भर जारी रखने के लिए वस्तु उस विशेष मौसम में बड़ी मात्रा में क्रय करके भविष्य के लिए सुरक्षित रखी जा सकती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि व्यापारी या उत्पादक वस्तुओं को क्रय करने के लिए निर्णय को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों जैसे, मूल्य, किस्म, समय, स्रोत आदि को ध्यान में रखते हुए क्रय वस्तुओं के क्रय का निर्णय लेना चाहिए ताकि उसे वैज्ञानिक ढंग से वस्तुओं के समस्त लाभ एवं मितव्ययताएं प्राप्त हो सकें।

क्रय विधि : वस्तुओं के क्रय की दो मुख्य विधियां हैं : निरीक्षण द्वारा क्रय और नमूने या वर्णन द्वारा क्रय। निरीक्षण द्वारा क्रय विधि के अंतर्गत क्रेता वस्तु को व्यक्तिगत रूप से भलीभांति निरीक्षित करके क्रय करने का निर्णय लेता है। यह विधि उन स्थितियों में अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है जहां क्रय की जाने वाली वस्तुएं मूल्यवान हों ताकि क्रेता अपने व्यक्तिगत निरीक्षण से संतुष्ट होकर वस्तु क्रय कर सके। व्यवहार में इस विधि का प्रचलन सीमित है। इस विधि के अनुसार क्रय करने के लिए क्रेता एवं विक्रेता का एक दूसरे के समीप होना आवश्यक है अन्यथा वस्तु के क्रय व्ययों में वृद्धि हो सकती है और जिससे वस्तु का क्रय मूल्य बढ़ जाएगा। इसके अतिरिक्त यदि क्रेता को क्रय की जाने वाली वस्तु के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं है तो वस्तु का निरीक्षण अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता है।

सामान्य तौर से व्यवसाय में वस्तुओं को नमूने या वर्णन द्वारा क्रय किया जाता है, क्योंकि उत्पादक तथा ग्राहक (क्रेता एवं विक्रेता) अक्सर एक दूसरे के समीप स्थित नहीं होते हैं और यदि वस्तु अधिक मात्रा में क्रय की जा रही है तो क्रेता के लिए यह संभव नहीं है कि वह समस्त वस्तुओं का क्रय उनका निरीक्षण करके ही करे। इस विधि को निरीक्षण द्वारा क्रय विधि से अधिक विस्तृत एवं उपयोगी समझा जाता है क्योंकि इसके अंतर्गत क्रेता क्रय की जाने वाली वस्तु की विशेषताओं को विक्रेता को सूचित करके क्रय का सौदा तय कर लेता है या विक्रेता क्रेता को वस्तु का नमूना प्रस्तुत करके, नमूने से क्रेता द्वारा संतुष्ट हो जाने पर, उससे क्रय का आदेश प्राप्त कर लेता है। इस विधि का प्रयोग मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को क्रय करने के लिए किया जा सकता है क्योंकि मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं में सामान्य तौर से प्रमापीकरण एवं एकरूपता के गुण विद्यमान होते हैं। क्रय करने की इस विधि का प्रयोग केवल राष्ट्रीय व्यापार तक सीमित नहीं है बल्कि यह विधि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है क्योंकि इसमें क्रेता तथा विक्रेता एक दूसरे से दूर अलग अलग देशों में रहते हैं और क्रेता के लिए यह संभव नहीं हो पाता है कि वह निर्यातक (विक्रेता) के देश में जाकर वस्तुओं का व्यक्तिगत रूप से निरीक्षण करे।

क्रय की ये दोनों विधियां एक दूसरे की पूरक एवं सहायक समझी जा सकती हैं क्योंकि अलग अलग परिस्थितियों में इनकी उपयोगिता भिन्न है।

एकत्रीकरण : एकत्रीकरण की क्रिया क्रय से भिन्न है और इसकी सहायक है, क्योंकि क्रय की गई वस्तुएं या तो उत्पादन के स्थान तक (कच्चा माल) पहुंचानी पड़ती हैं या उनके वितरण की श्रृंखला में व्यापारी उनको आगे मध्यस्थों को या दूर दूर फैले हुए अंतिम

ग्राहकों को बेचता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वस्तुओं को क्रय करने के पश्चात उनका एकत्रीकरण महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यापारी वस्तुओं को उत्पादन के अलग अलग केंद्रों से क्रय करके उन्हें एक केंद्रीय स्थान पर एकत्रित करता है जहां से उनका आगे को यातायात किया जाता है। एकत्रीकरण की क्रिया कुछ दशाओं में उत्पादक के लिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उत्पादक को विभिन्न स्रोतों से कच्चा माल या अर्ध तैयार माल उत्पादन स्थल तक पहुंचाना पड़ता है। इसके लिए वह क्रय किए गए कच्चे माल को विभिन्न स्थानों से केंद्रीय स्थान में एकत्रित करता है। जैसे, बाइसिकल के उत्पादक द्वारा बाइसिकल का उत्पादन करने के लिए उसके विभिन्न हिस्से ट्यूब, टायर, आदि अलग अलग उत्पादकों से क्रय करके उसे केंद्रीय स्थान पर एकत्रित करना और फिर उत्पादन स्थल तक यातायात करना। इसी प्रकार व्यापारी एक ही पंक्ति की वस्तुएं विभिन्न उत्पादकों से क्रय करके उन्हें आगे भेजने के लिए केंद्रीय स्थान पर एकत्रित करता है।

विक्रय

व्यावसायिक संस्था अपने प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति उचित किस्म की वस्तुएं उत्पादित करके उन्हें उचित मूल्यों में बेच कर करती है। विक्रय को विपणन की ही नहीं बल्कि संपूर्ण व्यवसाय की महत्वपूर्ण क्रिया समझा जाता है। वस्तु की बिक्री एक ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर व्यावसायिक क्रियाएं घूमती रहती हैं। जहां वस्तु की बिक्री व्यावसायिक क्रियाओं का अंत है वहां दूसरी ओर वस्तु की बिक्री के बाद ही फिर व्यावसायिक क्रियाओं का चक्र प्रारंभ होता है। अर्थात चाहे उत्पादन कार्य हो या अन्य व्यावसायिक कार्य उसका अंतिम उद्देश्य वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करके समाज की आवश्यकताओं की संतुष्टि करना है। अत: व्यवसाय में प्रत्येक कार्य वस्तु की संभावित बिक्री से प्रभावित होकर किया जाता है और बिक्री के फलस्वरूप ही अन्य क्रियाओं को निरंतर रूप से संचालित करने के लिए धन उपलब्ध होता है।

बिक्री एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा मूल्य के बदले वस्तु का स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित किया जाता है। विक्रय की क्रिया क्रय से पृथक नहीं की जा सकती है क्योंकि जो व्यक्ति वस्तु का स्वामित्व हस्तांतरित करता है उसे विक्रेता कहा जाता है और उसके लिए यह क्रिया बिक्री कहलाती है। और जिस व्यक्ति को स्वामित्व प्राप्त होता है उसे क्रेता कहते हैं और उसके लिए यह क्रिया क्रय समझी जाएगी।

आधुनिक व्यावसायिक युग में बड़े पैमाने पर व्यवसाय प्रारंभ करना और उसे सफल बनाना बड़े पैमाने की बिक्री पर आधारित है। यदि वस्तु की बिक्री बड़े पैमाने पर न की जाए तो बड़े पैमाने पर उत्पादन से वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकेंगे और बड़े पैमाने पर व्यवसाय की मितव्ययताएं प्राप्त करना केवल आकर्षण बन कर रह जाएगा। इसके अतिरिक्त वस्तु की बिक्री पर ही संस्था द्वारा अर्जित किया जाने वाला लाभ भी आधारित रहता है क्योंकि वस्तु के बिक्री मूल्य में उत्पादन लागत तथा अन्य व्ययों का अनुपात एवं उत्पादक तथा व्यापारी का लाभ का प्रतिशत सम्मिलित रहता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि बिक्री का आकार आनुपातिक रूप से लाभ के आकार से संबंधित हो भी सकता है और नहीं भी। यह पूर्णतया संस्था की अपनी नीतियों पर निर्भर है, क्योंकि कुछ व्यावसायिक संस्थाएं बिक्री में विस्तार के अनुपात में लाभ अर्जित नहीं करती हैं, और उनका उद्देश्य बाजार में अधिकतम हिस्सा प्राप्त करना हो सकता है। दूसरी ओर कुछ संस्थाएं कम बिक्री आकार में ही आनुपातिक रूप से अधिक लाभ कमाती हैं। यह स्वाभाविक है कि इन संस्थाओं द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं का मूल्य तुलनात्मक रूप

से अधिक होता है। पर यह नीति व्यवसाय के दीर्घकालीन अस्तित्व के लिए वांछनीय एवं उचित नहीं समझी जा सकती है। वैसे तो बिक्री क्रिया की प्रकृति मूल रूप से ही जटिल है क्योंकि वस्तुओं को बेचने के लिए आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में क्रेता का व्यवहार, प्रकृति, आवश्यकताएं तथा बाजार में व्याप्त परिस्थितियों आदि का ज्ञान प्राप्त करके विक्रय नीतियों का निर्धारण किया जाना आवश्यक है। विशेष रूप से जब नई वस्तु को बाजार में प्रवेश कराया जाता है तो बिक्री क्रिया और अधिक जटिल हो जाती है क्योंकि विपणन प्रबंधकर्ता को इस संबंध में निम्न कार्य भी करने पड़ते हैं :

(i) **क्रेता को वस्तु के बारे में आवश्यक ज्ञान देना :** यह स्वाभाविक है कि ग्राहक तब तक किसी वस्तु को क्रय नहीं कर सकता जब तक उसे वस्तु के अस्तित्व, उपयोगिता, विशेषता आदि के बारे में पूर्ण ज्ञान न हो जाए। इस प्रकार वस्तु विक्रय की यह सबसे पहली क्रिया है जिसके तहत विज्ञापन आदि के माध्यम से नई वस्तु के बारे में संभावित ग्राहक को सूचित किया जाता है।

(ii) **मांग उत्पन्न करना :** ग्राहक को वस्तु के बारे में आवश्यक ज्ञान देना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि विभिन्न विधियों से उसका ध्यान वस्तु के अस्तित्व के महत्व की ओर आकर्षित करके वस्तु के प्रति उसकी रुचि उत्पन्न करना, ताकि ग्राहक वस्तु को क्रय करने के लिए प्रेरित हो सके, वस्तु की बिक्री के लिए महत्वपूर्ण है।

(iii) **क्रेता से वस्तु क्रय करने की स्वीकृति प्राप्त करना :** वस्तु की मांग उत्पन्न करने के पश्चात भी ग्राहक वस्तु के प्रति संदेहजनक स्थिति में हो सकता है। अत: उसे वस्तु क्रय करने के लिए बाध्य करने हेतु उसे वस्तु की अतिरिक्त विशेषताओं से भलीभांति परिचित कराया जाता है। उसे यह भी बताया जाता है कि वस्तु किन स्थानों में किन स्रोतों से क्रय की जा सकती है ताकि आवश्यकता पड़ने पर ग्राहक उस स्रोत से वस्तु क्रय कर सके।

उपर्युक्त कार्यों में वस्तु की मांग उत्पन्न करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। इसके लिए सामान्य विज्ञापन विधियों के अतिरिक्त वस्तु को आकर्षक ढंग से प्रदर्शित करना, उनको प्रयोग में लाने की विधि समझाना और वस्तु के बारे में समस्त आवश्यक सूचनाएं ग्राहकों को प्रदान करना आवश्यक है। वस्तु की मांग उत्पन्न करने के लिए वस्तु के बाजार का गहन अध्ययन, प्रतियोगी संस्था की नीतियों का ज्ञान, क्रेता की प्रवृत्ति, आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं आदि के बारे में सुव्यवस्थित ढंग से बाजार का सर्वेक्षण करके आवश्यक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

विपणन शोध कार्य

प्रबंध के क्षेत्र में विपणन का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। जिस प्रकार व्यावसायिक क्रियाओं में विस्तार हो रहा है उसी प्रकार विपणन प्रबंधकर्ता की संगठन में जिम्मेदारी बढ़ती जा रही है। पहले जब व्यावसायिक संस्थाएं अपना व्यवसाय छोटे पैमाने में करती थीं, उनके लिए यह संभव था कि वे अपने ग्राहकों से व्यक्तिगत संबंध रख सकें और उनकी आवश्यकताओं के बारे में उनसे ज्ञान प्राप्त कर सकें। आधुनिक व्यावसायिक युग में बड़े पैमाने पर व्यवसाय की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उत्पादक ग्राहकों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित नहीं कर पाता है क्योंकि अधिकांश दशाओं में उत्पादक उत्पादित वस्तुओं का वितरण विभिन्न मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा करता है। फिर भी उसे ग्राहकों के बारे में तथा वस्तु के बाजार के बारे में समस्त आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करना आवश्यक है ताकि वह व्याप्त वातावरण के अनुकूल अपने व्यवसाय की नीतियों का निर्धारण कर सके। संक्षेप में, व्यवसाय में विस्तार होने के फलस्वरूप विपणन

(व्यवसाय का एक महत्वपूर्ण अंग) का क्षेत्र भी जटिल एवं विस्तृत होता जा रहा है, और इसी जटिलता एवं विस्तार के कारण उत्पादन कार्य अधिकांश दशाओं में विपणन से पृथक कर दिया गया है।

संपूर्ण विपणन के क्षेत्र में विपणन प्रबंधकर्ता को विभिन्न महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं, जैसे, किस वस्तु का उत्पादन किया जाए? उसका मूल्य क्या हो? उसका वितरण करने के लिए कौन सा माध्यम सबसे अधिक उपयुक्त है, बिक्रीवर्धक प्रयत्नों को किस प्रकार नियोजित किया जाए, आदि। विपणनकर्ता विपणन क्रमावली में समस्त तत्वों को नियोजित करने के लिए निर्णय लेने हेतु अपने पिछले अनुभव तथा अन्य आवश्यक तथ्य एवं आंकड़ों का प्रयोग करता है, क्योंकि तथ्य एवं आंकड़ों के आधार पर लिए गए निर्णय अधिक सही हो सकते हैं। विपणन शोधकार्य के माध्यम से ही विपणन की विभिन्न क्रियाओं के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं अर्थात अप्रत्यक्ष रूप से विपणन शोधकार्य, विपणन प्रबंधकर्ता को निर्णय लेने में सहायता पहुंचाता है।

बोलचाल के शब्दों में वस्तु के बाजार का अध्ययन करके विभिन्न तत्वों के संबंध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करना विपणन शोधकार्य कहा जाता है। इस शब्द की विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं जिनका विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

अमेरिकन मार्केटिंग ऐसोसिएशन द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार, वस्तुओं एवं सेवाओं के विपणन से संबंधित समस्याओं के बारे में सुव्यवस्थित ढंग से सारे तथ्य एकत्र करना और उनका विश्लेषण करना ही विपणन शोधकार्य कहलाता है। इस परिभाषा में विपणन शोध के कार्यों की व्याख्या की गई है पर इससे विपणन शोध की मूल प्रकृति व उद्देश्य स्पष्ट नहीं होते हैं, क्योंकि इस परिभाषा में इस बात का जिक्र नहीं किया गया है कि विपणन शोधकार्य से विपणन प्रबंधकर्ता को निर्णय लेने में कैसे सहायता पहुंचाई जाती है।

इस संदर्भ में कंडिफ एवं स्टील द्वारा दी गई परिभाषा अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है। उनके अनुसार, 'विपणन शोध एक ऐसी विधि है जिसके अंतर्गत विपणन समस्याओं के बारे में सारे तथ्यों को इस उद्देश्य से एकत्रित एवं विश्लेषित किया जाता है कि ये तथ्य विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा निर्णय लेने में उपयोगी सिद्ध हों।' इस परिभाषा में विपणन शोध का अंतिम उद्देश्य स्पष्ट किया गया है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए की जाने वाली उन समस्त क्रियाओं का वर्णन नहीं किया गया है जिनके द्वारा प्राप्त तथ्य एवं आंकड़ों को निर्णय लेने के लिए उपयोगी बनाया जाता है, क्योंकि इसके लिए सूचनाओं का विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं समझा जाता है।

फिलिप कोटलर के शब्दों में: 'विपणन शोधकार्य में वस्तुओं एवं सेवाओं के विपणन में नियंत्रण रखने एवं निर्णय सुधारने के उद्देश्य से विपणन समस्याओं का व्यवस्थित विश्लेषण करना, उसका नमूना तैयार करना (माडल बिल्डिंग) और उनके बारे में सूचना प्राप्त करना सम्मिलित है।'

विपणन शोध की इस परिभाषा को सबसे अधिक विस्तृत एवं व्यापक समझा जाता है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार विपणन शोध कार्य केवल विपणन समस्याओं के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करके उनका विश्लेषण करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें विपणन समस्या का अध्ययन एवं विश्लेषण भी सम्मिलित है जो अधिक उचित एवं विवेकपूर्ण है, क्योंकि जब तक समस्या के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन एवं विश्लेषण नहीं किया जाएगा तब तक उपयुक्त सूचनाएं प्राप्त करना असंभव सा है। इस परिभाषा के अनुसार विपणन शोध का मुख्य उद्देश्य विपणन प्रबंधकर्ता के निर्णयों को सुधारना ही नहीं है बल्कि वस्तुओं के विपणन की क्रियाओं को नियंत्रित करना भी है।

विपणन शोध की उपरोक्त परिभाषाओं को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि विपणन शोध एक ऐसी क्रिया है जिसके अंतर्गत विपणन समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करके संबंधित आवश्यक आंकड़े प्राप्त करना तथा उनको विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों के लिए उपयोगी बनाना सम्मिलित है ताकि विपणन प्रबंधकर्ता संपूर्ण विपणन क्रमावली को सुव्यवस्थित ढंग से नियोजित एवं नियंत्रित कर सके।

उपर्युक्त परिभाषाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि विपणन शोधकार्य विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाने में सहायक है, क्योंकि विपणन शोध के द्वारा विपणन समस्या का विश्लेषण करके आवश्यक सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं और इन सूचनाओं का विश्लेषण कर उन्हें उपयोगी बनाया जाता है। विपणन प्रबंधकर्ता की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उसके द्वारा लिए गए निर्णय कहां तक सही हैं। समस्या का गहन अध्ययन करके आवश्यक सूचनाएं प्रदान करने से इस बात की संभावना बढ़ जाती है कि विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा लिए गए निर्णय अधिकांश दशाओं में सही होंगे। इस प्रकार विपणन शोधकार्य एक वैज्ञानिक यंत्र की भांति विपणन प्रबंधकर्ता को निर्णय लेने में सहायता पहुंचाता है। विपणन शोधकार्य विपणन प्रबंधकर्ता को निर्णय लेने में एवं उनको सुधारने में सहायता कैसे पहुंचाता है इसका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

व्यावसायिक वातावरण में जो विभिन्न घटकों (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक) का संयोजन होता है, समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं जिससे सही निर्णय लेने का कार्य अधिक जटिल हो जाता है। परिवर्तनशील वातावरण में सही निर्णय लेने के लिए विपणन प्रबंधकर्ता नियंत्रित तत्वों (वस्तु, कीमत, वितरण का माध्यम, बिक्रीवर्धक प्रयत्न आदि) को उन तत्वों के साथ नियोजित करता है जो उसके नियंत्रण से बाहर हैं (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा तकनीकी परिवर्तन)। इसके लिए अनियंत्रित तत्वों की प्रकृति एवं प्रभाव को भलीभांति ज्ञात करना आवश्यक है जो केवल विपणन शोधकार्य द्वारा ही संभव है।

विपणन प्रबंधकर्ता को निर्णय लेने में अन्य सूचनाओं के अतिरिक्त प्रतिस्पर्धा संबंधी सूचनाएं भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं और विपणन शोधकार्य के माध्यम से ही विपणन प्रबंधकर्ता इस बात को ज्ञात कर सकता है कि उसकी संस्था को वस्तु के बाजार में कितना हिस्सा प्राप्त है और उसमें वृद्धि के लिए कौन कौन से प्रयास आवश्यक हैं।

इसी प्रकार भविष्य की अनिश्चितता विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों को जोखिममय बना देती है। विपणन शोधकार्य से यह अनिश्चितता कुछ हद तक कम की जा सकती है क्योंकि अनिश्चितता जिन सूचनाओं के ज्ञान के अभाव से उत्पन्न होती है उन सूचनाओं का संकलन एवं विश्लेषण विपणन शोधकार्य के अंतर्गत किया जा सकता है।

संक्षेप में, विपणन शोधकार्य विपणन प्रबंधकर्ता को विपणन कार्यों के सुचारु रूप से संचालन में प्रभावपूर्ण ढंग से सहायता पहुंचाता है, क्योंकि विपणन शोध के द्वारा विभिन्न समस्याओं पर अध्ययन एवं विश्लेषण करके विपणन की आधारभूत नीतियों को निर्धारित किया जा सकता है। वस्तु का चुनाव, विकास एवं योजना में, मूल्य निर्धारण में प्रतिस्पर्धा के लिए व्यूहनीति (स्ट्रेटिजी) का निर्धारण करने में, विपणन के उपयुक्त माध्यम का चुनाव करने में, बिक्रीवर्धक प्रयत्नों की प्रभावशीलता ज्ञात करने में विपणन शोधकार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संदर्भ में यह कहना अनुचित नहीं है कि विपणन शोधकार्य से विपणन कार्यक्रम को नियंत्रित रखकर उसे व्यावसायिक वातावरण के अनुकूल बनाए रखा जा सकता है और यह कार्य संस्था का अस्तित्व बनाए रखने तथा

उसकी समृद्धि एवं प्रगति के लिए आवश्यक है।

वस्तुओं के बाजार के विस्तार में भी विपणन शोधकार्य सहयोगी सिद्ध है। विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय बाजार में व्याप्त प्रतिस्पर्धा का अनुमान लगाकर एवं ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं का अध्ययन करके वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि की जा सकती है।

विपणन शोधकार्य के सही उपयोग द्वारा लाभ प्राप्त करने के लिए यह वांछनीय है कि इसके लिए विपणन विभाग के अंतर्गत पृथक विभाग की स्थापना की जाए जो शोध-कार्य में प्रचलित आधुनिक विधि-व्यवहारों एवं यंत्रों की सहायता से समस्याओं का अध्य-यन करके वैज्ञानिक हल ढूंढ़ सके।

विपणन शोधकार्य एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें विपणन समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण तथा समस्या के समाधान का वैज्ञानिक हल ढूंढ़ना सम्मिलित है। इस जटिल प्रक्रिया को निम्न चार मूल तत्वों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) समस्या को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना,
(ii) समस्या से संबंधित विचाराधीन समाधानों का अध्ययन,
(iii) आवश्यक तथ्य एवं आंकड़ों का संकलन,
(iv) सूचनाओं की व्याख्या एवं विश्लेषण।

1. समस्या को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना : विपणन शोधकार्य विपणन समस्याओं के बारे में उपयुक्त एवं समीपतम हल ढूंढ़ने में सहायक है। समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए आवश्यक है कि विपणन शोधकार्य में कार्यरत कर्मचारी समस्या के बारे में पूर्णतया अवगत हो। यह तभी संभव है यदि समस्या को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाए और विश्लेषित किया जाए ताकि उसमें संलग्न विभिन्न घटकों के एक दूसरे से संबंध एवं प्रक्रिया को समझा जा सके। चूंकि समस्या की परिभाषा के आधार पर ही उसका हल ढूंढ़ने के लिए शोधकार्य के कार्यक्रम का निर्धारण किया जाता है और शोधकार्य के उद्देश्य निश्चित किए जाते हैं अतः समस्या को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना विपणन शोधकार्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है। यदि समस्या ही स्पष्ट नहीं है तो शोधकार्य व्यर्थ सिद्ध हो सकता है। शोधकार्य विभाग के शोधकर्ता द्वारा संचालित किया जाता है जिसकी नियुक्ति अधिकांश दशाओं में विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा की जाती है। प्रबंधकर्ता को समस्या का पूर्णज्ञान रहता है। इसलिए उसे चाहिए कि शोधकर्ता को भी समस्या के बारे में आसान तरीकों से पूर्णतया अवगत कराए ताकि इससे शोधकर्ता को समस्या का हल प्राप्त करने में सहायता मिल सके। यह स्थिति विशेष रूप से उन संस्थाओं में है जहां शोधकार्य के लिए पृथक विभाग नहीं हैं।

2. समस्या से संबंधित विचाराधीन समाधानों का अध्ययन : शोधकार्य के दूसरे चरण में शोधकर्ता समस्या को विशिष्ट एवं निश्चित रूप देकर तत्संबंधी उपलब्ध समाधानों में से समीपवर्ती समाधान का चुनाव करता है। इसके लिए शोधकर्ता को इस बात का निश्चय करना पड़ता है कि कौन कौन से तत्व समस्या को प्रभावित कर रहे हैं और उनका समस्या के साथ क्या संबंध है। समस्या का ढांचा तैयार करके एक एक तत्व उसमें प्रवेश कराकर सब तत्वों का प्रभाव ज्ञात किया जा सकता है। इसके पश्चात सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व का फिर से गहन अध्ययन किया जाता है।

3. आवश्यक सूचनाओं का संकलन : आवश्यक सूचनाओं का संकलन विपणन शोधकार्य का महत्वपूर्ण अंग है। बिना पर्याप्त सूचनाओं के न तो समस्या के बारे में प्रारंभिक एवं विस्तृत ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है और न ही उस समस्या से संबंधित वैज्ञानिक हल ढूंढ़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा जो निर्णय लिए जा रहे हैं वे कहां तक सही हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे सारी सूचनाएं, जिनके

आधार पर निर्णय लिए गए हैं, सही एवं विश्वसनीय हैं अथवा नहीं। प्राप्त की जानेवाली समस्त सूचनाओं को उनकी प्रकृति एवं प्राप्त करने की विधियों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जाता है : प्राथमिक सूचनाएं तथा सहायक अथवा अनुपूरक सूचनाएं।

प्राथमिक सूचनाएं : प्राथमिक सूचनाएं वे सूचनाएं हैं जिनको प्रथम बार किसी विशिष्ट समस्या को दृष्टि में रखकर प्राप्त किया जाता है। इनको मौलिक सूचनाएं भी कहा जाता है क्योंकि इन सूचनाओं का एकत्रीकरण विद्यमान नहीं होता है और इन्हें प्रथम बार प्राप्त किया जाता है। इन सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक समय एवं धन व्यय करना पड़ता है। प्राथमिक सूचनाओं को अनुपूरक सूचनाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय माना जाता है क्योंकि इन सूचनाओं को मौलिक स्रोतों से पहली बार प्राप्त किया जाता है। प्राथमिक सूचनाओं की प्राप्ति के लिए निम्न विधियों का प्रयोग किया जाता है :

(i) निरीक्षण द्वारा,
(ii) प्रयोग द्वारा,
(iii) सर्वेक्षण द्वारा।

निरीक्षण विधि : इसके अंतर्गत विपणन शोधकर्ता विषय वस्तु का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण करता है और सूचनाएं प्राप्त करता है। इस प्रकार की सूचनाएं विपणन विभाग द्वारा विभिन्न नीतियां निर्धारित करने तथा ग्राहकों की आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं, प्रवृत्ति एवं व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकत्रित की जा सकती हैं। ग्राहकों के व्यवहार, प्रवृत्ति आदि के बारे में सूचनाएं एकत्र करने के लिए प्रयोग विधि नहीं अपनाई जा सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मानव व्यवहार परिवर्तनशील होता है। अलग अलग व्यक्ति एक ही परिस्थिति में भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करते हैं। उनका व्यवहार पूर्णतया नहीं नापा जा सकता है, फिर भी इस विधि के अनुसार विपणन शोधकर्ता द्वारा ग्राहकों की गतिविधियों तथा व्यवहार का अध्ययन करके उनमें विद्यमान सामान्य प्रवृत्तियां ज्ञात की जा सकती हैं। इस विधि का मुख्य दोष यह है कि एक तो शोधकर्ता निरीक्षित की जाने वाली विषय वस्तु पर पूर्ण नियंत्रण नहीं रख सकता है और दूसरे, उसके द्वारा एकत्रित सूचनाएं उसके व्यक्तिगत प्रभाव से प्रभावित हो सकती हैं। फिर भी इस विधि को अधिक उपयोगी बनाने के लिए शोधकर्ता सूचनाएं एकत्रित करते समय पूर्व निर्धारित मापदंडों का प्रयोग करता है और अपने व्यक्तिगत प्रभाव की सीमा पहले ही निर्धारित कर लेता है, क्योंकि सूचनाएं एकत्रित करने में कुछ सीमा तक तो उसके व्यक्तित्व का प्रभाव सूचनाओं पर अवश्य पड़ेगा।

प्रयोग विधि द्वारा सूचनाओं का संकलन : विपणन के क्षेत्र में शोध विषय वस्तु, जिसके बारे में सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं, मूल रूप से मानव या मानव प्रभावित होती हैं, और मानव व्यवहार परिवर्तनशील होने के कारण न तो उसको पूर्णतया सही रूप से मापा जा सकता है, और न उसके व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्वों को पूर्णरूप से नियंत्रित ही किया जा सकता है। अतः प्रयोग विधि को प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र की भांति विपणन के क्षेत्र में (जो सामाजिक विज्ञान के अंतर्गत है) प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। फिर भी निरीक्षण द्वारा प्राप्त सूचनाओं में विद्यमान कमियों एवं दोषों को ध्यान में रखते हुए निरीक्षण विधि एवं प्रयोग विधि के बीच कोई विधि अपनाई जा जा सकती है क्योंकि विपणन शोधकर्ता आंशिक रूप से विषय वस्तु को प्रमापीकृत विधियों का प्रयोग करके नियंत्रित कर सकता है।

इस विधि के अंतर्गत विपणनकर्ता सर्वप्रथम समस्या को सरलतम बनाकर उस पर

प्रभाव डालने वाले समस्त तत्वों को नियंत्रित कर लेता है और उसके पश्चात जिस तत्व का प्रभाव ज्ञात करना होता है उसका प्रवेश कराकर उसका परिणाम नाप लेता है और इसी प्रकार धीरे धीरे अन्य प्रभावशील तत्वों को एक एक करके प्रवेश कराता रहता है और परिणामों को मापता जाता है। इससे एक स्थिति में तत्व का समस्या के जटिल रूप में प्रभाव ज्ञात किया जा सकता है, उदाहरण के लिए विपणन प्रबंधकर्ता को एक नई वस्तु को बाजार में प्रवेश कराना है तो वस्तु को पूर्ण बाजार में प्रवेश कराने से पहले उसे बाजार के किसी विशेष छोटे क्षेत्र में प्रवेश कराया जाता है और वस्तु के लिए ग्राहकों की स्वीकृति ज्ञात की जाती है। इसके पश्चात धीरे धीरे वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि की जाती है और बाजार के क्षेत्र को विस्तृत किया जाता है, तथा प्रत्येक स्थिति में वस्तु के लिए ग्राहकों की स्वीकृति नापी जाती है। अलग अलग स्थितियों में ग्राहकों की स्वीकृति ज्ञात करके वस्तु को प्रवेश कराने का निर्णय लिया जा सकता है। इसी प्रकार इस विधि का प्रयोग विज्ञापन की विभिन्न विधियों की प्रभाव शक्ति ज्ञात करने के लिए, वितरण के माध्यमों की क्षमता ज्ञात करने के लिए तथा वस्तु का रंग, आकार आदि निर्धारित करने के लिए आवश्यक सूचना प्राप्त करने हेतु किया जा सकता है।

सर्वेक्षण विधि से सूचनाओं का संकलन : विपणन की समस्याओं के बारे में मौलिक सूचनाएं एकत्रित करने के लिए सर्वेक्षण विधि सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रचलित है, क्योंकि इस विधि के अनुसार शोधकर्ता स्वयं व्यक्तिगत रूप से बाजार में जाकर बाजार का सर्वेक्षण करके आवश्यक सूचनाएं एकत्र करता है। हालांकि सर्वेक्षण विधि द्वारा प्राप्त सूचनाएं भी शोधकर्ता के व्यक्तित्व से प्रभावित हो सकती हैं फिर भी प्रभाव की मात्रा निरीक्षण विधि की तुलना में काफी कम होती है क्योंकि शोधकर्ता बाजार का सर्वेक्षण करने के लिए तथा आवश्यक सूचनाएं एकत्र करने के लिए कुछ पूर्वनिर्धारित मापदंडों एवं प्रश्नों का ही प्रयोग करता है।

सर्वेक्षण विधि से सूचनाएं एकत्रित करने के लिए सर्वप्रथम सर्वेक्षण के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रश्न तथा मापदंड निर्धारित कर लिए जाते हैं। फिर तैयार सूची के अनुसार संबंधित व्यक्तियों से उनके उत्तर प्राप्त किए जाते हैं, उनको विश्लेषित करके समस्या का हल ढूंढने के लिए उपयोगी बनाया जाता है। इस विधि से सूचनाएं एकत्रित करने के लिए शोधकर्ता के पास दो विकल्प उपलब्ध रहते हैं : या तो वह संपूर्ण बाजार का सर्वेक्षण करके सूचनाएं एकत्रित करे अथवा बाजार के किसी विशेष हिस्से का गहन अध्ययन करके संपूर्ण बाजार के बारे में सूचनाएं एकत्रित करे, इसको नमूना विधि कहा जाता है। नमूने विधि का प्रयोग करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि जिस हिस्से के माध्यम से संपूर्ण बाजार के बारे में सूचनाएं एकत्रित की जा रही हैं, उन हिस्सों में संपूर्ण बाजार के अन्य हिस्सों की मूल विशेषताएं विद्यमान होनी चाहिए अन्यथा उस हिस्से के आधार पर संपूर्ण बाजार के बारे में सही निर्णय नहीं लिया जा सकता है।

सर्वेक्षण विधि में निम्न तरीकों से सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं : टेलीफोन द्वारा, डाक द्वारा तथा व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा।

शीघ्र प्राप्त की जाने वाली सूचनाओं के लिए टेलीफोन के माध्यम को सबसे अधिक उपयोगी समझा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति से सूचना प्राप्त की जा रही है उसके व्यवहार में बहुत कम परिवर्तन संभव है, क्योंकि वह अल्प समय में किसी अन्य व्यक्ति से इसके बारे में राय मशविरा नहीं कर सकता है और अधिकांश दशाओं में उत्तर प्राप्त किए जा सकते हैं। इसी प्रकार डाक द्वारा उन परिस्थितियों में सूचनाएं एकत्रित की जा सकती हैं जब संबंधित व्यक्तियों से टेलीफोन के द्वारा संपर्क स्थापित नहीं किया जा

सकता है और वे व्यक्तिगत साक्षात्कार में सूचना देने में असमर्थता अनुभव करते हैं। इस प्रकार सूचनाएं एकत्रित करने में एक तो अधिक समय लग जाता है, दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति से आवश्यकीय रूप से सूचना प्राप्त करना संभव नहीं है। इन दोनों विधियों की तुलना में व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा सूचना एकत्रित करने में अधिक धन व्यय होता है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति को मनोविज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार एकत्रित की गई सूचनाएं अधिक विश्वसनीय एवं सही होती हैं क्योंकि इसमें संबंधित व्यक्ति साक्षात्कार के लिए शोधकर्ता के सम्मुख उपस्थित रहता है और शोधकर्ता प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के साथ ही उस व्यक्ति का व्यक्तिगत रूप से निरीक्षण कर सकता है।

अनुपूरक सूचनाएं : अनुपूरक सूचनाएं वे सूचनाएं हैं जो एक बार किसी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा एकत्रित की जा चुकी हों। शोधकर्ता इन्हीं प्राप्त सूचनाओं में से अपने उद्देश्य के दृष्टिकोण से आवश्यक सूचनाओं का चुनाव कर लेता है। अनुपूरक सूचनाएं एकत्रित करने में प्राथमिक सूचनाओं की तुलना में कम समय और कम धन व्यय करना पड़ता है क्योंकि ये सूचनाएं सरकारी कार्यालयों, विश्वविद्यालयों, व्यापारिक संघों आदि स्रोतों से प्राप्त की जा सकती हैं। पर अनुपूरक सूचनाएं शोधकर्ता के लिए आवश्यकीय रूप से पूर्ण उपयुक्त एवं अधिक विश्वसनीय नहीं हो सकती हैं, क्योंकि इन सूचनाओं को विभिन्न व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के लिए प्राप्त किया गया होता है। फिर भी कम लागत व्यय एवं कम समय के आकर्षण से इनको प्राथमिक सूचनाओं के पूरक या सहायक सूचनाओं के रूप में प्रयोग किया जाता है।

4. सूचनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या

विपणन समस्याओं के बारे में आवश्यक तथ्य एवं आंकड़ों का संकलन मात्र उनके समाधान के लिए पर्याप्त नहीं है। जब तक संकलित सूचनाओं का विश्लेषण करके व्याख्या नहीं की जाती है तब तक वे विपणन प्रबंधकर्ता के निर्णयों के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होते हैं। इसके लिए सूचनाओं को संकलित करने के पश्चात उनकी सुव्यवस्थित सूची तैयार करके उनको अलग अलग वर्गों में विभक्त कर दिया जाता है। उसके पश्चात समस्या को दृष्टि में रखकर उनका विश्लेषण किया जाता है ताकि समस्या को प्रभावित करने वाले समस्त प्रभावशाली तत्वों के प्रभाव की गंभीरता ज्ञात की जा सके और यह निश्चित किया जा सके कि सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व का समस्या के साथ क्या संबंध है, और विपणन प्रबंधकर्ता द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों में कारण एवं प्रभाव के संबंध (कैजुअल रिलेशनशिप) को ध्यान में रखा जा सके और निर्णयों को अधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया जा सके।

5. संग्रहण एवं गोदामघर व्यवस्था

संग्रहण विपणन का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इससे भी वस्तुओं के वितरण को सहज एवं सुगम बनाने में सहायता मिलती है। इसका महत्व वस्तुओं के वितरण तक ही सीमित नहीं है बल्कि, उत्पादन कार्य के लिए भी संग्रहण एक सहयोगी क्रिया समझी जाती है। क्योंकि इससे उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल का संग्रह करके उत्पादन कार्य में निरंतरता बनाई रखी जा सकती है।

वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग में समय का अंतर रहता है क्योंकि उत्पादित वस्तुओं को उपभोग के योग्य बनाने के लिए कई मध्यस्थ व्यापारियों के हाथों से गुजरना पड़ता है और अंतिम उपभोक्ता तक पहुंचने में काफी समय लग जाता है। समय के इस

अंतराल में वस्तुओं की मौलिक विशेषताएं तथा उपयोगिता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें सुरक्षित रखा जाए। वस्तुओं को भविष्य के लिए सुरक्षित रखने का कार्य संग्रहण कहलाता है। संग्रहण का अर्थ वस्तुओं को किसी स्थान में रख देना ही नहीं है बल्कि उनको उसी प्रकार उपयोगी बनाए रखना, जिस प्रकार कि वे उत्पादित होते समय थीं, भी संग्रहण का मूल तत्व है। संग्रहण की क्रिया से वस्तुओं में समय उपयोगिता के साथ ही स्थान उपयोगिता भी उत्पन्न की जाती है क्योंकि अधिकांश दशाओं में व्यापारी वस्तुओं का संग्रहण ऐसे स्थान में करता है जहां से आवश्यकता पड़ने पर वस्तुओं को शीघ्र सुविधानुसार वितरित किया जा सके।

संक्षेप में, संग्रहण विपणन की वह क्रिया है जिसके द्वारा वस्तुओं की मौलिक विशेषताओं एवं उपयोगिता को बनाए रखते हुए उन्हें भविष्य के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है। वस्तुओं के संग्रहण की आवश्यकता विशेष रूप से निम्न दशाओं में होती है:

1. आधुनिक युग में वस्तुओं का उत्पादन उनकी भावी मांग का पूर्वानुमान लगाकर कर लिया जाता है और वस्तुओं की मांग उत्पन्न होने तक उन्हें संग्रहण द्वारा भविष्य के लिए सुरक्षित रख लिया जाता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें वितरण के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

2. जैसाकि पहले बताया जा चुका है, उत्पादन कार्य में निरंतरता बनाए रखने के लिए भी कच्चे माल का संग्रहण आवश्यक है। कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए कच्चा माल तो किसी विशेष मौसम में उपलब्ध होता है जबकि तैयार माल का उपभोग वर्ष भर किया जाता है। अतः उत्पादन के लिए उस विशेष मौसम में पर्याप्त कच्चा माल इकट्ठा करके वर्ष भर उनका उत्पादन जारी रखा जा सकता है।

इसके विपरीत यदि वस्तुओं का उपभोग किसी विशेष मौसम में ही किया जाता है तो उस मौसम में मांग की वृद्धि को पूरा करने के लिए उत्पादक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह वर्ष भर वस्तुओं का उत्पादन करके उसे विशेष मौसम की मांग को पूरा करने के लिए संग्रहीत करे।

3. कुछ दशाओं में उत्पादक मांग से अधिक वस्तुएं उत्पादित करता है ताकि उसे बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययताएं प्राप्त हो सकें। ऐसी स्थिति में मांग के अतिरिक्त उत्पादन को भविष्य में उपभोग के लिए संग्रहीत कर लिया जाता है।

4. संग्रहण द्वारा कुछ सीमा तक वस्तुओं की मांग व पूर्ति में संतुलन उत्पन्न करके उनके मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है। यदि किन्हीं कारणों से वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाए तो इस वृद्धि की पूर्ति संग्रहीत वस्तुओं से की जा सकती है। इसके विपरीत यदि वस्तुओं की मांग में कमी आ जाए तो अतिरिक्त वस्तुएं संग्रहीत करके भविष्य के लिए सुरक्षित रखी जा सकती हैं।

5. कुछ परिस्थितियों में थोक व्यापारी भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों में संभावित वृद्धि का लाभ उठाने के लिए भी बड़ी मात्रा में वस्तु क्रय करके संग्रहीत कर लेते हैं।

6. शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के लिए संग्रहण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार की वस्तुओं को वातानुकूलित गोदामघरों में संग्रहीत करके कुछ समय तक उपयोगी बनाए रखा जा सकता है।

7. संग्रहण उन वस्तुओं के लिए वरदान है जिनकी उपयोगिता समय के साथ साथ बढ़ती है जैसे चावल, चाय, शराब आदि।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि संग्रहण की क्रिया उत्पादन एवं वितरण दोनों में सहायक है। जहां एक ओर उत्पादक दुर्लभ कच्चे माल को संग्रहीत करके अपने उत्पादन कार्य में निरंतरता बनाए रखता है वहां दूसरी ओर संग्रहण से ही उपभोक्ता

शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का भी कुछ अवधि तक उपभोग कर सकता है और संग्रहण से वस्तुओं की मांग व पूर्ति में संतुलन बनाए रखा जा सकता है। बशर्ते व्यापारी वस्तुओं का संग्रहण कृत्रिम मांग उत्पन्न करके वस्तुओं का मूल्य बढ़ाने के लिए न करे।

गोदामघर : गोदामघर एक ऐसा स्थान है जहां वस्तुओं को सुरक्षित रखा जाता है, ताकि उन्हें भविष्य के उपभोग के लिए उपयोगी बनाए रखा जा सके। उपयोगिता एवं प्रयोग के दृष्टिकोण से गोदामघर मुख्य रूप से तीन प्रकार के हो सकते हैं :

(अ) निजी गोदामघर।
(ब) सार्वजनिक गोदामघर।
(स) चुंगी गोदामघर।

निजी गोदामघर ऐसे गोदामघर हैं जिनका स्वामित्व विशेष उत्पादक या व्यापारी अथवा उनके समूह के पास होता है और ऐसे गोदामघरों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण भी वही उत्पादक या उनका समूह ही करता है। इन गोदामघरों का प्रयोग अधिकांश दशाओं में व्यापारी या उत्पादक अपनी वस्तुएं या कच्चा माल सुरक्षित रखने के लिए करते हैं। इनकी उपयोगिता बिल्कुल सीमित होती है क्योंकि इनका प्रयोग व्यापारी या उत्पादक व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिए करता है। ये गोदामघर बड़े बड़े व्यापारियों या उत्पादकों द्वारा बनवाए जाते हैं, क्योंकि इनके पास गोदामघर बनवाने के लिए पर्याप्त पूंजी उपलब्ध रहती है, जिससे वे गोदामघरों का निर्माण करके उनका पूर्ण उपयोग कर सकते हैं।

सार्वजनिक गोदामघर : सार्वजनिक गोदामघर आम उत्पादक तथा व्यापारियों के प्रयोग के लिए निर्मित किए जाते हैं। कोई भी व्यापारी निर्धारित किराए का भुगतान करके इनमें अपनी वस्तुएं भविष्य के लिए सुरक्षित रख सकता है। इन गोदामघरों की उपयोगिता निजी गोदामघरों की तुलना में अधिक है, क्योंकि इनका प्रयोग विशेष रूप से छोटे छोटे उत्पादक तथा व्यापारी करते हैं जिनके पास अपने गोदामघरों का निर्माण करने के लिए न तो आवश्यक पूंजी होती है और न ही गोदामघर का पूर्ण प्रयोग करने के लिए पर्याप्त वस्तुएं। इन गोदामघरों की स्थापना सरकार से लाइसेंस प्राप्त करके की जाती है और इनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सरकार द्वारा बनाए गए संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार किया जाता है। अब इन गोदामघरों की स्थापना सहकारी क्षेत्र में भी की जा रही है। इनके महत्व के कारण विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि उत्पादन को सुरक्षित रखने के लिए सहकारी क्षेत्र में इन गोदामघरों की स्थापना आवश्यक है।

सार्वजनिक गोदामघरों से लाभ : (i) सार्वजनिक गोदामघर वस्तुओं के आगे के यातायात के लिए सहायक हैं क्योंकि अधिकांश दशाओं में इनकी स्थापना ऐसे स्थानों में की जाती है जहां से रेलवे स्टेशन या यातायात एजेंसी काफी समीप हो। इसके अतिरिक्त इन गोदामघरों में भारी सामान को उतारने एवं चढ़ाने के लिए आवश्यक वैज्ञानिक उपकरण भी उपलब्ध रहते हैं।

(ii) सार्वजनिक गोदामघरों में संग्रहीत वस्तुओं को पूर्णतया सुरक्षित रखा जाता है। गोदामघरों के अधिकारियों की वैधानिक स्थिति निपेक्षकर्ता (बेली) की भांति होती है और वे वस्तुओं की उचित देखभाल करने के लिए वैधानिक रूप से बाध्य होते हैं।

(iii) सार्वजनिक गोदामघर विशेष रूप से छोटे छोटे व्यापारियों एवं उत्पादकों के लिए वरदान स्वरूप हैं, क्योंकि वे अपनी वस्तुएं सुरक्षित रखने के लिए स्वयं गोदामघरों का निर्माण नहीं कर पाते हैं।

(iv) सार्वजनिक गोदामघरों में वस्तुएं संग्रहीत करने से उत्पादक तथा व्यापारियों

के हित पूर्णतया सुरक्षित रहते हैं, क्योंकि इन गोदामघरों का संचालन एवं नियंत्रण सरकारी नियमों के अनुसार किया जाता है और व्यापारी एवं उत्पादक से केवल उतने ही समय का किराया वसूल किया जाता है जितने समय तक वस्तुएं गोदामघर में संग्रहीत की जाती हैं।

(v) सार्वजनिक गोदामघरों में वस्तुएं सुरक्षित तो रहती ही हैं, उन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्रमापीकरण एवं अन्य आवश्यक प्रक्रियाओं से संबंधित सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं।

(vi) सार्वजनिक गोदामघरों के माध्यम से वस्तुओं के वितरण को भी सहज बनाया जाता है क्योंकि वस्तुओं का स्वामी संभावित क्रेता को संग्रहीत वस्तुओं का निरीक्षण करवा सकता है।

(vii) सार्वजनिक गोदामघरों में संग्रहीत वस्तुओं के आधार पर व्यापारी या उत्पादक आवश्यकता अनुभव करने पर ऋण भी ले सकता है, क्योंकि इन गोदामघरों द्वारा संग्रहीत वस्तुओं के लिए जो रसीद जारी की जाती है उसे प्रतिभूति के रूप में गिरवी रखा जा सकता है और आवश्यक ऋण लिया जा सकता है।

(viii) सार्वजनिक गोदामघर संग्रहीत वस्तुओं के संबंध में अतिरिक्त सेवाएं भी प्रदान करते हैं जिनसे वस्तुओं का बहाव और अधिक सहज होता है, जैसे स्वामी के निदेशानुसार वस्तुओं की सुपुर्दगी की व्यवस्था करना, उन्हें अन्य स्थानों को भेजने की व्यवस्था आदि।

चुंगी गोदामघर : चुंगी गोदामघर विशेष रूप से बंदरगाहों में अथवा बंदरगाह के समीपवर्ती स्थानों पर स्थित होते हैं क्योंकि इनका प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में किया जाता है। विदेशों से वस्तुएं आयात करने वाले आयातकर्ता को उन वस्तुओं की वास्तविक सुपुर्दगी प्राप्त करने से पूर्व विभिन्न निर्धारित 'कस्टम औपचारिकताओं' को पूरा करना पड़ता है। इस बीच वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए वस्तुएं चुंगी गोदामघरों में रख दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त आयात कर आदि का भुगतान करने में भी ये गोदामघर सहायक हैं। आयातकर्ता इन गोदामघरों में वस्तुएं सुरक्षित रखकर उसका कुछ भाग बेचकर अथवा प्राप्त रसीद को गिरवी रखकर आयात करों का भुगतान करके बंदरगाह से वस्तुओं की निकासी (क्लियरेंस) कर लेता है, और इसी प्रकार निर्यातित वस्तुओं को भी जहाज के रवाना होने से पूर्व ही बंदरगाह तक पहुंचा दिया जाता है। यदि किन्हीं कारणों से जहाज के रवाना होने में देरी हो तो तब तक ये वस्तुएं इन गोदामघरों में संग्रहीत रहती हैं।

उपयोगिता : (i) इन गोदामघरों में भी अन्य गोदामघरों की भांति वस्तुएं सुरक्षित रखी जाती हैं और समय समय पर देखभाल करके उन्हें संभावित क्षय से बचाया जाता है।

(ii) चूंकि इन गोदामघरों में रखी गई वस्तुएं संभावित क्रेता स्वयं निरीक्षित कर सकता है और संतुष्ट हो जाने पर उन्हें क्रय कर लेता है। इससे वस्तुओं के वितरण में सहजता एवं सुगमता बनी रहती है।

(iii) आयातकर्ता इन गोदामघरों में आयातित वस्तुएं संग्रहीत करके यातायात लागत में मितव्ययताएं प्राप्त कर सकता है, क्योंकि संभावित ग्राहक इन गोदामघरों से ही वस्तुएं क्रय कर सकते हैं।

(iv) चुंगी गोदामघर पुनर्निर्यात में विशेष रूप से सहायक है। यदि कोई आयातकर्ता एक देश से वस्तुओं का आयात करके उन्हें दूसरे देश को पुनः निर्यात करना चाहता है तो अपने देश के बंदरगाह में पहुंचने के पश्चात दूसरे देश को निर्यात करने की तैयारियां

करने तक इनको चुंगी गोदामघरों में सुरक्षित रख सकता है। इस प्रकार उसे वस्तुओं की निर्यात लागत मे बचत प्राप्त हो सकती है।

(v) इसके अतिरिक्त इन गोदामघरों में वस्तुएं संग्रहीत करके प्राप्त रसीद को बैंक के पास जमानत के रूप में जमा करके आवश्यक ऋण लिया जा सकता है। यह उस स्थिति में अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है जबकि वस्तुओं को अधिक उपयोगी बनाने की क्रिया में वस्तुओं के स्वामी को अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है।

6. प्रमापीकरण, श्रेणीकरण एवं नामांकन

प्रमापीकरण : वस्तुओं के क्रय-विक्रय को आसान बनाने के लिए वस्तुओं का प्रमापीकरण महत्वपूर्ण है। प्रमापीकरण से हमारा अभिप्राय ऐसी क्रिया से है जिसके अंतर्गत वस्तुओं के रंग, आकार, गुण, उपयोगिता तथा अन्य भौतिक एवं रासायनिक विशेषताओं के बारे में कुछ मापदंड (स्टैंडर्ड्स) पूर्वनिर्धारित कर लिए जाते हैं, और इन्हीं मापदंडों के आधार पर विभिन्न वस्तुओं की तुलना करके उनको समान एवं विषम गुणों के अनुसार अलग अलग वर्गों में विभक्त कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके रंग, आकार, बनावट एवं अन्य विशेषताओं में एकरूपता आ जाती है। प्रमापीकरण विपणन की एक सहायक क्रिया समझी जा सकती है, क्योंकि इससे विपणन के अन्य कार्यों के निष्पादन में आसानी बनी रहती है एवं मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त प्रमापीकरण के द्वारा विभिन्न वस्तुओं की आपस में तुलना की जा सकती है।

मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का प्रमापीकरण काफी आसान होता है, क्योंकि वस्तुओं का उत्पादन करने से पूर्व ही उत्पादन के लिए प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल को प्रमापीकृत कर दिया जाता है ताकि तैयार माल की विशेषताओं में एकरूपता विद्यमान रहे।

प्रमापीकरण से लाभ : (i) प्रमापीकरण की क्रिया से उत्पादित वस्तुओं के रंग, आकार, बनावट तथा अन्य विशेषताओं में एकरूपता लाई जा सकती है जिससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय में आसानी रहती है।

(ii) प्रमापीकृत वस्तुओं के संबंध में विपणन कार्यों की लागत में मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है जैसे, यातायात व्यय, विज्ञापन व्यय तथा पैकिंग व्यय आदि।

(iii) वस्तुओं के प्रमापीकरण से उनके बाजार में विस्तार संभव है, क्योंकि प्रमापीकृत वस्तुओं का नमूने द्वारा अथवा वर्णन द्वारा भी क्रय-विक्रय किया जाता है। विशेष रूप से उन स्थितियों में जहां क्रेता एवं विक्रेता एक दूसरे से दूर दूर स्थानों में स्थित रहते हैं। प्रमापीकरण वस्तुओं की बिक्री के लिए सहायक है क्योंकि इससे क्रेता एवं विक्रेता दोनों को लेनदेन तय करने में सुविधा बनी रहती है।

(iv) प्रमापीकृत वस्तुओं के प्रति ग्राहकों का विश्वास बना रहता है, क्योंकि एक बार ग्राहक जिस वस्तु को क्रय करता है, संतुष्ट होने पर पुन: उसी प्रमाप की वस्तु को क्रय करता है। इससे उसके समय में बचत होती है, और वस्तु के क्रय में आसानी रहती है।

श्रेणीकरण : मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ वस्तुएं ऐसी भी होती हैं जिनमें विभिन्न विशेषताओं एवं गुणों की दृष्टि से एकरूपता नहीं पाई जाती है, जैसे हाथ से बनाई गई वस्तुएं, कृषि उत्पादन, प्राकृतिक उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुएं आदि। इस प्रकार की वस्तुओं के वितरण को आसान एवं सुविधाजनक बनाने के लिए समस्त उत्पादित वस्तुओं की कुछ मूल विशेषताओं के आधार पर विभिन्न श्रेणियां बनाकर, वस्तुओं की समानता एवं असमानता के अनुसार उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर

दिया जाता है। श्रेणीकरण प्रमापीकरण का ही एक अंग है क्योंकि श्रेणीकरण उन वस्तुओं का किया जाता है जिनका प्रमापन नहीं किया जा सकता है। श्रेणीकरण द्वारा एक दूसरे से मिलती जुलती वस्तुओं को एक ही श्रणी में रख दिया जाता है। वस्तुओं का श्रेणीकरण दो प्रकार से किया जाता है : निश्चित श्रेणीकरण एवं परिवर्तनशील श्रेणीकरण। निश्चित श्रेणीकरण के अंतर्गत वस्तुओं की किस्म से संबंधित श्रेणियों को एक बार निश्चित कर दिया जाता है और प्रत्येक वर्ष इन्हीं निश्चित श्रेणियों के अनुसार वस्तुओं का श्रेणीकरण किया जाता है। यह विधि गेहूं, सूत एवं दुग्ध उत्पादन आदि के लिए अधिक प्रचलित है, क्योंकि प्रतिवर्ष उत्पादित इन वस्तुओं में मूल रूप से कोई अंतर नहीं आता है, और निश्चित श्रेणियों के अंतर्गत ही इनका श्रेणीकरण किया जा सकता है।

परिवर्तनशील श्रेणीकरण में उत्पादन का श्रेणीकरण करने के लिए जो श्रेणियां बनाई जाती हैं उनको प्रतिवर्ष उत्पादन की किस्म में अंतर के अनुसार परिवर्तित कर लिया जाता है। इस विधि का प्रयोग उन वस्तुओं का श्रेणीकरण करने के लिए किया जाता है जिनमें प्रतिवर्ष मूल अंतर आने की संभावना बनी रहती है।

श्रेणीकरण से लाभ : (i) वस्तुओं के श्रेणीकरण से उत्पादक को वस्तु की उचित कीमत प्राप्त हो सकती है, क्योंकि वस्तुओं का श्रेणीकरण करने से उनके मूल्य का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

(ii) श्रेणीकरण से वस्तुओं के बाजार में विस्तार संभव है क्योंकि इन वस्तुओं के संबंध में वास्तविक लेन-देन के अतिरिक्त भावी लेन-देन भी किए जा सकते हैं।

(iii) श्रेणीकृत वस्तुओं को ऋणदाता जमानत के रूप में स्वीकार करने में हिचकते नहीं हैं। इससे वस्तुओं के स्वामी को आवश्यक ऋण प्राप्त हो सकता है।

(iv) यदि बीमित वस्तु श्रेणीकृत हो तो इस वस्तु के नष्ट हो जाने पर वास्तविक हानि का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

(v) वस्तुओं को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करने से अलग अलग ग्राहक अपनी आवश्यकता एवं क्रय शक्ति के अनुसार अलग अलग श्रेणियों की वस्तुएं क्रय करके संतुष्टि प्राप्त कर सकता है।

वस्तुओं का नामांकन : वस्तुओं के प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण के पश्चात उनको नामांकित करना भी आवश्यक है क्योंकि नामांकित वस्तुओं को प्रतियोगी की वस्तु से पृथक पहचाना जा सकता है और उत्पादन का स्रोत ज्ञात किया जा सकता है। संक्षेप में, नामांकन एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा प्रमापीकृत अथवा श्रेणीकृत वस्तु को उपयुक्त आकर्षक नाम दे दिया जाता है ताकि उस वस्तु के संभावित ग्राहक नाम की सहायता से उस वस्तु को आसानी से पहचान सकें और अन्य उत्पादकों की वस्तुओं से इस वस्तु को पृथक किया जा सके। वस्तुओं का नामांकन विज्ञापन का आधार है और वस्तु की बिक्री बढ़ाने में सहायक है। वस्तु का नामांकन करने से उत्पादक इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि नामांकित वस्तुओं की किस्म एवं अन्य विशेषताओं में निरंतर समानता बनाए रखे।

वस्तुओं को नामांकित करने की निम्न तीन विधियां प्रचलित हैं :

पहली विधि के अनुसार वस्तु के नाम के आगे उसके उत्पादक का नाम सम्मिलित किया जाता है, जैसे गोदरेज के ताले, हिमानी मिठाइयां, जे० के० टेलीवीजन आदि। दूसरी विधि के अनुसार वस्तु को भिन्न नाम दे दिया जाता है, जैसे सनलाइट साबुन, पनामा सिगरेट आदि। इसी प्रकार तीसरी विधि के अंतर्गत वस्तु का वर्णन करने के लिए कुछ विशेष चिह्नों या संकेतों का प्रयोग किया जाता है जिससे वस्तु विशुद्ध महसूस होती है जैसे मोहन ब्रांड घी, एलीफैन्ट ब्रांड कागज आदि।

वस्तुओं के नामांकन के लिए चाहे किसी विधि का प्रयोग किया जाए, इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि, वस्तु का ब्रांड नेम संक्षिप्त, आसान एवं आकर्षक हो ताकि ग्राहक उसे आसानी से याद करके प्रयोग में ला सकें। इसके अतिरिक्त ब्रांड नेम इस प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिए कि उससे उत्पादन का स्रोत ज्ञात हो सके और आसानी से अन्य वस्तुओं के बीच उसे पृथक रूप से पहचाना जा सके।

नामांकन से लाभ : (i) नामांकित वस्तुओं की विशेषताओं में समानता एवं एकरूपता होती है।

(ii) नामांकन से वस्तु को अधिक प्रचलित बनाया जा सकता है बशर्ते ग्राहक एक बार वस्तु का उपभोग करके पूर्णतया संतुष्ट हो।

(iii) नामांकित वस्तुओं के संबंध में उत्पादक ग्राहकों का विश्वास प्राप्त कर लेता है, और इस प्रकार प्रचलित ब्रांड नेम की वस्तुएं कम व्यय पर आसानी से बेची जा सकती हैं।

(iv) वस्तु का नामांकन करने से ग्राहक अन्य प्रतियोगियों की नामांकित वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग, शीघ्र पहचान लेता है।

(v) नामांकन से विपणन व्ययों में कमी के कारण विक्रय मूल्य में भी कमी स्वाभाविक है।

(vi) प्रचलित ब्रांड नेम की वस्तुएं ग्राहक को आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।

7. पैकिंग और पैकेजिंग

वस्तुओं को उत्पादक से लेकर अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचने में एक लंबी दूरी तय करनी होती है और कई मध्यस्थों के हाथों से गुजरना पड़ता है। इस दूरी को तय करने के दौरान उन्हें सुरक्षित रखने के लिए तथा वितरण को सहज बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तुओं को उनकी प्रकृति के अनुसार (द्रव, ठोस एवं गैस) टिन या बोतलों में भरा जाए, अथवा मोटे कागज इत्यादि से लपेटा जाय या लकड़ी की पेटियों में रखा जाए। इसी क्रिया को विपणन में पैकिंग कहा जाता है। पैकिंग भी विपणन के कार्यों को निष्पादित करके वितरण को सुगम बनाने में सहायक है, क्योंकि पैक किया गया सामान यातायात में सुरक्षित रहता है, और सुविधाजनक होता है। इसी प्रकार पैकिंग से संग्रहण आदि में भी सहायता मिलती है।

आधुनिक युग में पैकिंग का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह केवल सामान को उचित प्रकार से बंद करने आदि तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका इस्तेमाल ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए भी किया जाता है। इससे वस्तु की मांग बढ़ाने में सहायता मिलती है। इसीलिए इसे बिक्री का महत्वपूर्ण यंत्र भी कहा जाता है। संक्षेप में, यातायात, संग्रहण, तथा प्रयोग करने के दौरान वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए पैकिंग आवश्यक है। इससे वस्तुओं को खराब होने से बचाया जाता है।

संस्था के विपणन प्रबंधकर्ता को पैकिंग के महत्व को ध्यान में रखते हुए पैकिंग से संबंधित निर्णय लेने में वस्तु की सुरक्षा, वितरण में सुविधा, लागत व्यय, पैकिंग सामग्री, वस्तु का उपभोग समाप्त हो जाने पर उसकी उपयोगिता, वस्तु के बारे में आवश्यक सूचना, पैकिंग का रंग, आकार तथा डिजायन आदि तत्वों को उचित प्रकार से संयोजित करना चाहिए, ताकि वस्तुएं सुरक्षित रखने के साथ ही साथ वस्तु की मांग भी बढ़ाई जा सके।

पैकिंग की उपयोगिता : (i) वस्तुओं को उचित प्रकार से पैक करने पर उन्हें विभिन्न प्रकार की क्षीणताओं से सुरक्षित रखा जा सकता है।

(ii) वस्तुओं को उचित प्रकार से पैक करने से यातायान एवं संग्रहण में सुविधा बनी रहती है। पैक सामान आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाया जा सकता है। सामान को उतारने, चढ़ाने एवं सुरक्षित स्थान पर रखने में सुविधा रहती है। इसके अतिरिक्त पैक किया गया सामान तुलनात्मक रूप से जगह भी कम घेरता है, इससे यातायात तथा संग्रहण व्ययों में बचत प्राप्त की जा सकती है।

(iii) वस्तुओं की पैकिंग के द्वारा नामांकन में भी आसानी होती है।

(iv) वस्तुओं की पैकिंग ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने में भी सहायक होती है। यदि वस्तुओं की पैकिंग उचित प्रकार से की गई है, उसके लिए आकर्षक रंग एवं डिजायन का प्रयोग किया गया है तो यह विज्ञापन के प्रभाव से कम प्रभावशील नहीं होता है। इसीलिए इसे बिक्रीवर्द्धक प्रयत्नों का सहायक भी समझा जाता है।

(v) पैकिंग सुरक्षात्मक ही नहीं है, इसे सूचनात्मक भी बनाया जा सकता है। सामान को पैक करने के पश्चात बाहर से उसमें वस्तु के बारे में—उपयोग, प्रयोग विधि, वस्तु की संरचना, मूल्य आदि—आवश्यक सूचना दी जा सकती है इससे ग्राहक को सामान क्रय करने तथा उसका उपयोग करने में सहायता मिलती है।

(vi) जिस बर्तन अथवा पेटी में वस्तुओं को पैक किया गया है, वस्तु का उपभोग समाप्त हो जाने पर उसे भी अन्य प्रयोगों में लाया जा सकता है।

पैकिंग की उपयोगिता के संबंध में ऊपर बताई गई बातों से यह स्पष्ट है कि वस्तु की उचित पैकिंग से वस्तुएं सुरक्षित तो रहती ही हैं इसके अतिरिक्त इससे ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करके उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, और प्रयोग संबंधित आवश्यक सूचनाएं देते हुए उनका प्रयोग सुविधाजनक बनाया जा सकता है।

8. जोखिम वहन

व्यावसायिक क्रिया भविष्य में संचालित की जाती है और भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है। कभी भी कोई ऐसी घटना हो सकती है जिससे व्यवसाय विपरीत रूप से प्रभावित हो। यह जोखिम उत्पादन क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि इस जोखिम का भय विपणन के क्षेत्र में भी बना रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विपणन की क्रियाएं जिस वातावरण में संचालित की जाती हैं उस वातावरण के समस्त घटकों को पूर्णतया नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। जैसे आए दिन ग्राहकों के फैशन बदलते रहते हैं, उनकी क्रय शक्ति बदलती रहती है; इसी प्रकार कई अन्य कारणों से वस्तु की मांग प्रभावित हो सकती है।

जोखिम के विभिन्न कारणों की प्रकृति को दृष्टि में रख कर इन्हें सुविधा के लिए निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

1. प्राकृतिक जोखिम : इस वर्ग में उन समस्त जोखिमों को सम्मिलित किया जाता है जो कि प्राकृतिक दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं, जैसे वस्तुओं के गोदाम में आग लग जाना, यातायात में वस्तुएं नष्ट हो जाना तथा बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों से वस्तुओं की क्षति।

2. कार्य कुशलता के अभाव एवं लापरवाही से उत्पन्न जोखिम : कोई भी व्यवसायी व्यवसाय की समस्त क्रियाओं को स्वयं निष्पादित नहीं कर सकता है क्योंकि उसमें प्रत्येक क्रिया को निष्पादित करने के लिए आवश्यक ज्ञान का अभाव होता है (इसका मुख्य कारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों की सीमा है) अतः वह इन कार्यों के लिए विभिन्न मध्यस्थ एवं सहायक व्यक्तियों या संस्थाओं की सहायता लेता है। उन सहायक

व्यक्तियों की लापरवाही एवं कार्य कुशलता के अभाव के कारण उसे क्षति हो सकती है, जैसे वस्तुओं को यातायात करने में वस्तुओं की चोरी या उचित तथा आवश्यक पैकिंग के अभाव से वस्तुओं का नष्ट होना आदि।

3. **विपणन प्रबंधकर्ता के गलत निर्णयों से उत्पन्न जोखिम** : विपणन प्रबंधकर्ता को विपणन की विभिन्न क्रियाओं के संबंध में कई निर्णय लेने होते हैं। हालांकि उससे यह आशा की जाती है कि प्रत्येक निर्णय लेते समय संबंधित आंकड़ों की सहायता से भविष्य की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए वह अपने विवेक का पूर्ण प्रयोग करेगा; फिर भी उसके निर्णयों में गलती का जोखिम बना रहता है, क्योंकि वह निर्णय लेते समय नियंत्रित तत्वों को अनियंत्रित तत्वों के साथ संयोजित करता है और अनियंत्रित तत्वों की प्रवृत्ति को अपनी नीतियों के अनुकूल प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। इससे भी भविष्य की अनिश्चितता को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता है, जैसे ग्राहकों की रुचि, फैशन आदि में परिवर्तन, व्यापारिक चक्रों के फलस्वरूप मांग में परिवर्तन आदि।

उपरोक्त जोखिमों में से कुछ जोखिम व्यवसायी दूसरे व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को हस्तांतरित कर सकता है, जैसे वस्तुओं का बीमा कराना, और कुछ जोखिम आवश्यक सावधानियां बरत कर, विपणन शोधकार्य के माध्यम से आवश्यक तथ्य एवं आंकड़े प्राप्त करके निर्णयों में सुधार करके, तथा मूल नीतियों में आवश्यक अनुकूल परिवर्तन करके कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है। शेष जोखिम व्यवसायी को अंतिम रूप से स्वयं वहन करना पड़ता है, जैसे ग्राहकों की रुचि तथा फैशन में परिवर्तन, व्यापारिक चक्रों के दुष्परिणाम का जोखिम आदि। इस प्रकार के जोखिमों का प्रभाव दूर करने के लिए संस्था में आवश्यक व्यवस्था की जा सकती है जिसके द्वारा प्रतिवर्ष कमाए जाने वाले लाभ में से कुछ हिस्सा विभिन्न उद्देश्यों के लिए बनाए गए संचित कोषों में सुरक्षित रख दिया जाता है।

वस्तुओं का बीमा कराके व्यवसायी अन्य संस्थाओं को विभिन्न प्रकार के जोखिम कैसे हस्तांतरित करता है, इसका विस्तार में वर्णन 'बीमा' अध्याय में किया जा रहा है।

9. वित्त

अन्य व्यावसायिक क्रियाओं की भांति विपणन संबंधी क्रियाओं के लिए भी दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन वित्त की आवश्यकता होती है। विपणन कार्य को संचालित करने के लिए स्थाई संपत्ति, जैसे भूमि, भवन, फरनीचर आदि क्रय करने हेतु दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। यह पूंजी विपणन संस्था के द्वारा (संयुक्त पूंजी कंपनी) अंश एवं ऋणपत्र निर्गमित करके प्राप्त कर ली जाती है। यदि विपणन कार्य एकल व्यापार या साझेदारी स्वरूप के अंतर्गत संचालित किया जा रहा है तो संस्था के लिए दीर्घकालीन पूंजी स्वयं संस्था के स्वामी द्वारा लगाई जाती है :

विपणन संस्था में स्थाई पूंजी की आवश्यकता उत्पादन संस्था की तुलना में कम होती है क्योंकि विपणन संस्था को बड़ी बड़ी मशीनें, अन्य उपकरण आदि क्रय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि विपणन संस्था में कार्यशील पूंजी की आवश्यकता उत्पादन संस्था की अपेक्षा अधिक होती है। विपणन संस्था में इस पूंजी का विनियोजन वस्तुएं क्रय करने तथा उनको बेचने तक अन्य सहायक क्रियाओं का निष्पादन करने में किया जाता है, और इस पूंजी को सामान्य तौर से संस्था बैंक आदि से अल्पकालीन ऋण लेकर प्राप्त कर लेती है। विपणन संस्था में अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है :

1. विपणन क्रियाओं में आवश्यक व्ययों का भुगतान करने के लिए, जैसे, विज्ञापन

व्यय, कर्मचारियों का वेतन, किराया, यातायात व्यय, बीमे का व्यय आदि।

2. यदि वस्तुओं का उत्पादन मौसमी है, और उपभोग वर्ष भर किया जाता है तो ऐसी स्थिति में वर्ष भर उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराने के लिए उस विशेष मौसम में वस्तुओं को बड़ी मात्रा में क्रय करके संग्रह करना पड़ता है।

3. अन्य मध्यस्थों तथा उपभोक्ताओं के प्रति वस्तु की पूर्ति निरंतर बनाए रखने के लिए संस्था को कुछ वस्तुएं सदैव स्टाक के रूप में रखनी पड़ती हैं।

4. ग्राहकों को वस्तु क्रय करने में जो नकद छूट दी जाती है उसकी व्यवस्था भी कार्यशील पूंजी में से ही की जाती है।

5. विपणन शोधकार्य संबंधी व्ययों का भुगतान भी कार्यशील पूंजी में से ही किया जाता है।

6. इसके अतिरिक्त आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में प्रत्येक संस्था वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए आकर्षक शर्तों पर वस्तुओं का विक्रय करती है और नाना प्रकार की सुविधाएं प्रदान करके अधिक से अधिक ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रेरित करती है। इस संबंध में उधार विक्रय सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। उधार विक्रय से संस्था अधिक ग्राहकों को, विशेष रूप से उन ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रलोभित कर सकती है जोकि वस्तु का मूल्य क्रय करते समय ही चुकता नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अधिक मूल्यवान वस्तुओं की बिक्री को बढ़ाने के लिए किराया क्रय पद्धति एवं किस्त भुगतान पद्धति के अंतर्गत भी वस्तुएं बेची जाती हैं। ग्राहकों को प्रदान की जाने वाली इन समस्त सुविधाओं से भी संस्था की कार्यशील पूंजी की आवश्यकता में वृद्धि स्वाभाविक है।

एक व्यावसायिक संस्था में स्थाई पूंजी एवं कार्यशील पूंजी का निर्धारण कैसे किया जाता है और इनको किन किन स्रोतों से प्राप्त किया जाता है इसका विस्तृत वर्णन वित्त के अध्यायों में किया गया है। यातायात, बीमा, और मूल्य निर्धारण इन तीन महत्वपूर्ण कार्यों का विस्तार में वर्णन अगले अध्यायों में किया जा रहा है।

13

मूल्य निर्धारण

वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण भी विपणन का एक महत्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि वस्तु को विक्रय करने तथा बिक्री आगे बढ़ाने के लिए वस्तु के अन्य भौतिक एवं रासायनिक गुणों के साथ ही साथ उनका मूल्य भी ग्राहक को वस्तु क्रय करने के निर्णय में प्रभावित करता है। वस्तु के मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाना चाहिए और मूल्य निर्धारण में कौन कौन से तत्व प्रभावशाली होते हैं आदि का वर्णन करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि मूल्य क्या है ?

मूल्य का अर्थ

साधारण बोलचाल में मूल्य वस्तु का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए किया गया मौद्रिक भुगतान है। ग्राहक वस्तु का स्वामित्व प्राप्त करता है ताकि वह उसे अपनी आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए प्रयोग में ला सके, अर्थात वस्तु का मूल्य वस्तु की वह उपयोगिता है जिसे मौद्रिक रूप से प्रदर्शित किया जाता है। यहां मूल्य से हमारा अभिप्राय वस्तु के उस मूल्य से है जिसमें उसे ग्राहकों को बेचा जाता है, जिसे बाजार मूल्य या विक्रय मूल्य कहा जा सकता है। एक अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से वस्तु की उपलब्धता सीमित होती है और ग्राहक के लिए वस्तु उपयोगी होती है। इन दोनों तत्वों को वह मांग एवं पूर्ति की संज्ञा देता है जिनके द्वारा वस्तु के बाजार मूल्य का निर्धारण किया जाता है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, व्यवसाय का उद्देश्य उचित किस्म की वस्तुओं एवं सेवाओं को उचित मूल्य में ग्राहकों को प्रदान करके लाभ कमाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वस्तु एवं सेवा के लागत व्यय में व्यापारी या उत्पादक का उचित लाभ का हिस्सा जोड़ दिया जाता है जिसे वस्तु का विक्रय मूल्य कहा जाता है। इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि एक वस्तु का विक्रय मूल्य अलग अलग प्रकार के ग्राहकों के लिए अलग अलग हो सकता है, क्योंकि उत्पादक से वस्तुओं को क्रय करने वाले मध्यस्थ व्यापारी के लिए यह मूल्य उत्पादन लागत एवं उत्पादक के लाभ के हिस्से का योग है जबकि अंतिम उपभोक्ता के लिए इस मूल्य में उत्पादन लागत, उत्पादक के लाभ का हिस्सा, मध्यस्थ व्यापारी की सेवाओं की लागत, संबंधित विपणन लागत तथा उसके लाभ के हिस्से को जोड़ा जाएगा।

मूल्य का निर्धारण

किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण वास्तव में एक जटिल कार्य है, क्योंकि वस्तु के विक्रय मूल्य पर काफी हद तक संस्था की संभावित आय निर्भर करती है। दूसरी ओर मूल्य निर्धारण संबंधी निर्णय संस्था के तमाम अन्य विभागों को भी प्रभावित करते हैं, इसी-

लिए सामान्य दशाओं में मूल्य निर्धारण से संबंधित निर्णय संस्था के उच्चस्तरीय प्रबंधक लेते हैं और इसमें प्रभावित विभाग के समस्त प्रबंधक भी सम्मिलित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय निम्न सामान्य सिद्धांतों को पूर्ण महत्व दिया जाना चाहिए।

1. वस्तु का मूल्य इतना अधिक होना चाहिए कि उसमें लागत व्ययों के साथ साथ उत्पादक तथा मध्यस्थों के लिए उचित लाभ का हिस्सा सम्मिलित हो सकता हो। दूसरी ओर मूल्य इतना कम होना चाहिए कि ग्राहक को क्रय करने के लिए आकर्षित एवं प्रेरित किया जा सके।

2. वस्तु के मूल्य का निर्धारण करते समय उस वस्तु के बाजार में प्रतिस्पर्धा की स्थिति को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है क्योंकि प्रतिस्पर्धा के प्रभाव से एक ही संस्था विभिन्न वस्तुओं में भिन्न भिन्न लाभ का प्रतिशत अर्जित करती है।

3. व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि संस्था एक ही वस्तु विभिन्न ग्राहकों को अलग अलग मूल्यों पर बेचती है, इसे मूल्य की भिन्नता (प्राइस डिफरेन्सियल) भी कहा जाता है पर इस संबंध में एक बात अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए कि विभिन्न मूल्य विभिन्न पक्षकारों (ग्राहकों) के लिए संतोषजनक हों।

इन सामान्य सिद्धांतों के अतिरिक्त किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण करने से पूर्व मूल्य निर्धारण के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित किए जाने चाहिए क्योंकि मूल्य निर्धारण का कार्य भी अन्य व्यावसायिक क्रियाओं या कार्यों की भांति निर्दिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निष्पादित किया जाता है। इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संस्था वस्तु अथवा वस्तुओं के मूल्य का एक विवेकपूर्ण ढांचा तैयार करती है। सामान्यत: मूल्य निर्धारण के ये उद्देश्य हो सकते हैं :

1. विनियोजित धनराशि पर या बिक्री के आकार पर निश्चित दर की आय प्राप्त करना : कई संस्थाएं वस्तुओं के मूल्य का ढांचा इस प्रकार तैयार करती हैं कि उन्हें वस्तुओं की बिक्री पर अथवा विनियोजित धनराशि पर एक निश्चित दर की आय प्राप्त हो सके। यह उद्देश्य एक वस्तु या वस्तुओं के समूह के लिए अल्पकाल या दीर्घकाल के लिए हो सकता है। मूल्य निर्धारण का यह उद्देश्य प्राय: उन संस्थाओं द्वारा निर्धारित किया जाता है जो अपनी वस्तुएं संरक्षित बाजार में बेचती हैं अथवा जो संस्थाएं उद्योग में अगुआ होती हैं जैसे अमरीका की जनरल मोटर कंपनी तथा यूनियन कारबाइट कारपो-रेशन आदि।

2. मूल्यों में स्थायित्व लाना : मूल्य निर्धारण का उद्देश्य मूल्यों में स्थायित्व लाना भी हो सकता है। यह उद्देश्य उन संस्थाओं द्वारा निर्धारित किया जाता है जिनकी वस्तुओं की मांग में अनावश्यक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। ऐसी संस्था मूल्यों में स्थायित्व बनाए रखने के लिए आर्थिक समृद्धि के युग में तथा उस स्थिति में, जब वस्तु की पूर्ति मांग से कम होती है, मूल्यों में वृद्धि नहीं करती है, क्योंकि मूल्यों में स्थायित्व बनाए रखने से उन्हें प्रत्येक स्थिति में उचित लाभ कमाने का अवसर मिल जाता है।

3. बाजार अंश को बनाए रखना तथा उसमें वृद्धि करना : संस्था के अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि संस्था द्वारा जो वस्तु उत्पादित की जा रही है उसका बाजार में एक निश्चित अंश बनाए रखा जाए अथवा बाजार हिस्से में वृद्धि की जाए। वस्तु के बाजार अंश में वृद्धि करने के लिए संस्था वस्तु को लगातार कम मूल्यों पर बेचने लगती है ताकि वस्तु बाजार का अधिक अंश प्राप्त कर सके। इसके विपरीत जो संस्थाएं सरकारी हस्तक्षेप आदि के भय से बाजार का अधिक अंश प्राप्त नहीं करना चाहती हैं वे तुलनात्मक रूप से वस्तु का अधिक मूल्य वसूल कर सकती हैं।

4. प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना : मूल्य निर्धारण में प्रतिस्पर्धा एक महत्वपूर्ण कार्यशील तत्व समझा जाता है। प्रतिस्पर्धा करने के लिए संस्था 'अगुआ फर्म का अनुसरण' नीति का प्रयोग करती है, और बाजार में अपनी प्रतियोगी संस्थाओं की मूल्य निर्धारण नीति को ध्यान में रखकर अपनी वस्तु के मूल्य का निर्धारण करती है। इसी प्रकार यदि संस्था किसी नई वस्तु को बाजार में प्रवेश कराती है, उसे कटु प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए उसके मूल्य में कमी कर देती है।

5. अधिकतम लाभ कमाना : व्यवसायी द्वारा अधिकतम लाभ कमाने का उद्देश्य समाज द्वारा घृणित दृष्टि से देखा जाता है। यदि कोई संस्था अधिक लाभ कमा रही है तो ग्राहक यह महसूस करते हैं कि उनसे अनुचित रूप से अधिक मूल्य वसूल करके उनका शोषण किया जा रहा है। इसी प्रकार मजदूर वर्ग में यह आशंका उत्पन्न होती है कि संस्था द्वारा उन्हें कम वेतन दिया जा रहा है। पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो आर्थिक सिद्धांतों एवं व्यावसायिक व्यवहारों के दृष्टिकोण से अधिक लाभ कमाना अनुचित नहीं है बशर्ते संस्था इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए न्यायरहित, अनुचित एवं गैरकानूनी तरीके न अपनाए। इसके अतिरिक्त आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में वे संस्थाएं ही कमाए जाने वाले लाभ में वृद्धि कर सकती हैं जो उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर प्रदान करती हैं और व्यवसाय में संलग्न समस्त हितों को तथा समाज के हितों को हर प्रकार से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती हैं। तभी व्यावसायिक संस्था समाज को उसके अस्तित्व का महत्व बता सकती है और आवश्यकता पड़ने पर व्यवसाय का विस्तार करने के लिए पूंजी आदि के रूप में आवश्यक सहयोग प्राप्त कर सकती है। संस्था द्वारा अधिक लाभ कमाने का उद्देश्य कुल उत्पादन के दृष्टिकोण से निर्धारित किया जाना चाहिए, न कि वस्तु विशेष में।

मूल्य निर्धारण के लिए विधि व्यवहार

वस्तु के मूल्य निर्धारण का उद्देश्य निश्चित करने के पश्चात प्रबंधक उस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए मूल्य निर्धारित करने के लिए एक विधि व्यवहार को अपनाते हैं। इस संपूर्ण विधि व्यवहार को 6 वर्गों में विभक्त किया जा सकता है जिन्हें मूल्य निर्धारण विधि व्यवहार के मूल तत्व समझा जाता है :

1. वस्तु की मांग का अनुमान लगाना : वस्तु का मूल्य निर्धारित करने में सर्वप्रथम वस्तु की कुल मांग का अनुमान लगाया जाता है क्योंकि बाजार में वस्तु की मांग वस्तु के मूल्य को काफी हद तक प्रभावित करती है। वस्तु की मांग का अनुमान लगाते समय इन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रथम, बाजार में ग्राहक उस वस्तु को किस मूल्य के योग्य समझते हैं और उसके लिए कितने मूल्य का भुगतान करने को तत्पर हैं। यदि वस्तु उनके लिए अधिक उपयोगी है और उससे उनकी आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है तो स्वाभाविक रूप से वह वस्तु को क्रय करने के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्य देने को भी तैयार हो सकते हैं। इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि मूल्य के प्रति वितरण में संलग्न मध्यस्थों की क्या धारणा है क्योंकि ये मध्यस्थ ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध बनाए रखते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि ग्राहक को कितना मूल्य स्वीकार है। वस्तु के मूल्य के बारे में ग्राहकों की प्रतिक्रिया अपने पक्ष में करवाने के लिए उत्पादक वस्तु में अतिरिक्त विशेषता जोड़कर उसे अधिक उपयोगी बना सकता है तथा वितरण के लिए मितव्ययी एवं प्रभावपूर्ण माध्यम अपना सकता है और वस्तु के बारे में प्रभावपूर्ण ढंग से विज्ञापन करके ग्राहकों को वस्तु का निर्धारित मूल्य स्वीकार करवा सकता है।

इसके अतिरिक्त ग्राहक जिस मूल्य की अपेक्षा कर रहे हों उसी मूल्य के आसपास वस्तु का मूल्य निर्धारित किया जाना चाहिए। अपेक्षित मूल्य से कम पर मूल्य का निर्धारण ग्राहकों में वस्तु की किस्म के संबंध में संदेह एवं आशंका उत्पन्न कर सकता है। अत: अपेक्षित मूल्य का निर्धारण करने के लिए संभावित ग्राहकों, थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारियों से तथा संबंधित इंजीनियर से आवश्यक सुझाव प्राप्त किए जाने चाहिए।

द्वितीय, विभिन्न मूल्यों पर बिक्री के आकार का अनुमान भी लगाया जाना चाहिए। इसके लिए वस्तु की मांग में विद्यमान लोच का अध्ययन किया जाता है क्योंकि उस वस्तु का मूल्य जिसकी मांग में पूर्ण लोच है अन्य बेलोचदार वस्तुओं के मूल्यों से कम पर निर्धारित किया जाना उचित एवं वांछनीय है। विभिन्न मूल्यों में विभिन्न बिक्री के आकारों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किस मूल्य में ग्राहक वस्तु का क्रय करना चाहते हैं क्योंकि वह मूल्य अधिक उचित होगा जिस पर बिक्री का आकार सबसे बड़ा है।

2. प्रतिस्पर्धात्मक प्रतिक्रिया का अनुमान लगाना : वस्तु के मूल्य निर्धारण में वर्तमान एवं संभावित प्रतिस्पर्धा का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। मूल्य निर्धारित करते समय मूल्य के प्रतियोगी संस्था की मूल्य नीतियों पर प्रभाव एवं अपनी संस्था की ख्याति को ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रतिस्पर्धा का मुख्य स्रोत वस्तु से मिलती जुलती वस्तु तथा स्थानापन्न वस्तु आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी वस्तु में अधिक लाभ कमाया जा रहा है अथवा अधिक लाभ कमाने की संभावना है तो इससे भी वस्तु की संभावित प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हो सकती है। इसीलिए मूल्य का निर्धारण करते समय प्रतिस्पर्धा की स्थिति से भलीभांति अवगत होना आवश्यक है ताकि मूल्य इस प्रकार निर्धारित किया जा सके जिससे वर्तमान प्रतिस्पर्धा का सामना किया जाए तथा भविष्य में संभावित प्रतिस्पर्धा पर कुछ सीमा तक रोक लगाई जा सके।

3. वस्तु बाजार का अंश : प्रत्येक वस्तु का बाजार में एक स्थान होता है, जो संपूर्ण बाजार के किसी प्रतिशत के रूप में होता है। वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय इस उद्देश्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि क्या संस्था विद्यमान बाजार अंश से संतुष्ट है अथवा उसमें और अधिक वृद्धि करना चाहती है, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में निर्धारित मूल्य भिन्न भिन्न होता है। यह स्वाभाविक है कि यदि संस्था वर्तमान बाजार अंश में वृद्धि करना चाहती है तो तुलनात्मक रूप से कम मूल्य पर वस्तु के मूल्य का निर्धारण किया जाता है अथवा बिक्री बढ़ाने के अतिरिक्त प्रयत्न करने पड़ते हैं।

4. संस्था की विपणन नीतियों का अध्ययन : वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के लिए अपनाई गई विधि व्यवहार पर संस्था की वितरण व्यवस्था एवं बिक्रीवर्धक प्रयत्नों के कार्यक्रम का भी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वस्तु वितरण के लिए चुना गया माध्यम, उसके अंतर्गत कार्यरत मध्यस्थों की संख्या, उनके द्वारा लिए जाने वाले लाभ का प्रतिशत, वस्तु के मूल्य को प्रभावित करेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए जो कार्यक्रम क्रियान्वित किया जाता है उस पर संस्था द्वारा व्यय धन भी अंतिम रूप से वस्तु के विक्रय मूल्य में जोड़ दिया जाता है। इसीलिए मूल्य निर्धारित करते समय वितरण व्यवस्था में लागत व्यय, बिक्रीवर्धक कार्यक्रमों में व्यय, ग्राहकों को दी जाने वाली छूट आदि व्ययों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

5. सरकारी नीति : वस्तु के मूल्य के संबंध में सरकार द्वारा घोषित नीति का पूर्णतया पालन आवश्यक है। कुछ आवश्यकीय वस्तुओं में उत्पादक स्वतंत्र रूप से उनके मूल्य का निर्धारण नहीं कर सकता है। उसे उन वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण सरकार द्वारा जारी आदेशों के अनुसार करना पड़ता है, जैसे इस्पात, कोयला, चीनी, सीमेंट, वनस्पति तेल,

दालें तथा अन्य आवश्यकीय वस्तुओं के मूल्यों में कमी करने के लिए वर्तमान जनता सरकार उत्पादकों तथा व्यापारियों से बार बार निवेदन करती आ रही है और कुछ दशाओं में, जैसे सीमेंट आदि के मूल्यों को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप भी किया है। कुछ अन्य वस्तुओं, जैसे वनस्पति घी एवं तेल आदि के मूल्यों के बारे में समय समय पर आवश्यक आदेश जारी किए जाते रहे हैं।

6. विशिष्ट मूल्य का चुनाव : वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के लिए ऊपर बताए गए विधि व्यवहार में समस्त संबंधित तत्वों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने के पश्चात वस्तु के लिए विशिष्ट मूल्य का चुनाव किया जाता है। इस विशिष्ट मूल्य का चुनाव करने के लिए इन मूल्य निर्धारण नीतियों का प्रयोग किया जा सकता है : (i) लागत जमा मूल्य नीति, (ii) मांग पर आधारित मूल्य नीति, (iii) प्रतिस्पर्धा पर आधारित मूल्य नीति।

1. लागत जमा मूल्य नीति : किसी भी वस्तु के मूल्य को निर्धारित करने में लागत सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि इसके द्वारा मूल्य निर्धारण के लिए आधार प्रस्तुत किया जाता है। उत्पादक के लिए लागत से हमारा अभिप्राय उन समस्त व्ययों से है जो उत्पादक ने उस वस्तु के उत्पादन के लिए किए हैं। इसे उत्पादन लागत भी कहा जाता है। पर यह लागत व्यापारी के लिए वस्तु का क्रय मूल्य और उसमें वितरण संबंधी अन्य व्ययों को जोड़कर ज्ञात की जाती है। लागत जमा मूल्य नीति के अनुसार उत्पादक वस्तु का वह मूल्य निर्धारित करता है जिसमें वस्तु की उत्पादन लागत एवं उत्पादक द्वारा लिए जाने वाले लाभ का प्रतिशत सम्मिलित हो। अधिकांश दशाओं में कोई भी उत्पादक उत्पादन लागत से कम पर वस्तु नहीं बेचता है क्योंकि इससे उसे हानि होती है। इस नीति के अनुसार मूल्य के निर्धारण के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन लागत व्ययों को उनकी प्रकृति के अनुसार अलग अलग वर्गों में विभाजित किया जाए और इन व्ययों का उत्पादन लागत में सही प्रभाव ज्ञात किया जाए, अन्यथा यह नीति सफलतापूर्वक लागू नहीं की जा सकती है।

उत्पादन लागत व्ययों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जाता है : स्थाई लागत व्यय तथा अस्थाई लागत व्यय।

स्थाई लागत व्यय : स्थाई लागत में वे तमाम व्यय सम्मिलित हैं जो उत्पादन की मात्रा में (एक सीमा तक) परिवर्तन होने पर भी स्थिर रहते हैं, जैसे किराया, प्रबंधकों का वेतन, संपत्ति कर, ह्रास आदि।

अस्थाई लागत व्यय : अस्थाई लागत में वे व्यय सम्मिलित हैं जो वस्तु के उत्पादन की मात्रा में वृद्धि या कमी के साथ आनुपातिक रूप से बढ़ते हैं अथवा कम होते हैं। इन व्ययों में वृद्धि या कमी स्थाई लागत के कुल योग में होती है और प्रति इकाई अस्थाई लागत समान रहती है, जैसे कच्चे माल में क्रय का व्यय, श्रम लागत, उत्पादन के लिए बिजली, ऊर्जा, ईंधन एवं गैस आदि में व्यय आदि।

इसके अतिरिक्त कुछ उत्पादन व्यय ऐसे भी होते हैं जो न तो पूर्णतया स्थाई प्रकृति के होते हैं और न ही पूर्णरूप से अस्थाई प्रकृति के। उत्पादन के लिए इन समस्त व्ययों को जोड़कर कुल उत्पादन लागत ज्ञात की जाती है और इसमें उत्पादित वस्तुओं का भाग देकर प्रति इकाई औसत लागत ज्ञात की जाती है।

यह स्पष्ट है कि सामान्य दशा में उत्पादक प्रति इकाई औसत लागत से कम मूल्य पर वस्तुएं नहीं बेचता है क्योंकि इसमें उसे हानि वहन करनी पड़ेगी। पर कुछ परिस्थितियों में उत्पादक होने वाली हानि को कम करने के लिए वस्तु को औसत लागत से कम पर बेचने पर भी विवश हो सकता है। यदि वास्तविक उत्पादन का आकार संस्था की उत्पादन क्षमता से कम हो तो स्थाई व्यय अपरिवर्तित रहते हैं और उत्पादन क्षमता से

कम उत्पादन होने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ती जाती है जिसके फलस्वरूप वस्तु की मांग विपरीत रूप से प्रभावित होती है और मांग कम हो जाने से फिर उत्पादन में संकुचन उत्पन्न हो जाता है। इस गंभीर स्थिति का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ समय तक वस्तुओं को उनकी औसत लागत से कम पर ही बेच कर उनकी मांग बढ़ाई जाए, और इस प्रकार धीरे धीरे वस्तु की मांग के अनुसार उत्पादन में वृद्धि करके लागत व्यय में कमी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बाजार में नई वस्तु की मांग उत्पन्न करने हेतु और आर्थिक मंदी के युग में भी उत्पादन में संकुचन होने के दुष्परिणामों को सहन करने या कम करने के लिए उत्पादक वस्तुओं को औसत लागत से कम पर भी बेचने पर बाध्य हो जाता है।

लागत जमा मूल्य नीति सरल एवं आसान है, क्योंकि इसे आसानी से समझा और क्रियान्वित किया जा सकता है। यह नीति अन्य नीतियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझी जाती है, क्योंकि केवल कुछ स्थितियों को छोड़कर बाकी स्थितियों में वस्तुओं का मूल्य उनकी लागत से संबंधित होता है। इस नीति का प्रयोग उन स्थितियों में ही नहीं किया जा सकता है जहां पर उत्पादित वस्तुओं की लागत का उनके मूल्य से प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता है, जैसे धनी वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली विलासिता की वस्तुएं या अन्य दुर्लभ वस्तुएं। इसके अतिरिक्त यदि संस्था कई वस्तुएं उत्पादित कर रही हो और कुल उत्पादन लागत में विभिन्न व्ययों के प्रभाव को ज्ञात नहीं किया जा सकता है तो इस स्थिति में भी जमा मूल्य नीति को सफलतापूर्वक प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है।

2. मांग पर आधारित मूल्य नीति : इस मूल्य नीति के अंतर्गत वस्तु के मूल्य का निर्धारण मांग की तीव्रता के अनुसार किया जाता है। यदि वस्तु की मांग तीव्र है तो उसे अधिक ऊंचे मूल्य पर बेचा जा सकता है। इसके विपरीत यदि मांग दुर्बल है तो वस्तु का मूल्य तुलनात्मक रूप से कम पर निर्धारित किया जाता है। हालांकि प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत दोनों दशाओं में समान हो सकती है, फिर भी विभिन्न कारणों से संस्था अधिक लाभ कमाने के लिए मूल्यों में असमानता रखती है। मांग पर आधारित मूल्य नीति का सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप 'मूल्य में भिन्नता' है।

मूल्य में भिन्नता (प्राइस डिफरेन्सियल) : इस मूल्य नीति के अनुसार एक ही वस्तु को दो या दो से अधिक मूल्यों पर बेचा जाता है जबकि प्रति इकाई उत्पादन लागत समान होती है। मूल्य में भिन्नता के अनेक आधार हो सकते हैं जैसे ग्राहक, वस्तु, स्थान तथा समय।

ग्राहकों के आधार पर मूल्य में भिन्नता से हमारा अभिप्राय यह है कि एक ही प्रकार की वस्तु अलग अलग ग्राहकों को अलग अलग मूल्यों में बेची जाती है। इस स्थिति में मूल्य में भिन्नता का कारण, मांग की तीव्रता में अंतर, वस्तु के बारे में ज्ञान में अंतर, इसके अतिरिक्त क्रय मात्रा में अंतर आदि हो सकते हैं। यदि ग्राहक से बिना किसी कारण या तर्क के अधिक मूल्य वसूल किया जाता है तो ग्राहक को इस बात का पता चलने पर वह विक्रेता से हमेशा के लिए अपने संबंध तोड़ देगा। इसी प्रकार मूल्य में भिन्नता वस्तुओं के आधार पर भी की जा सकती है। इसके लिए एक ही प्रकार की वस्तुओं में नाममात्र का परिवर्तन करके अलग अलग मूल्यों पर अलग अलग ग्राहकों को बेचा जाता है, जबकि वस्तु में इस प्रकार की भिन्नता का उनके मूल्य से कोई संबंध नहीं होता है। फिर भी वस्तु में नाममात्र के परिवर्तन करके ग्राहक के ऊपर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला जाता है।

वस्तुओं के उपभोग के स्थान का भी उसकी मांग की तीव्रता पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि अलग अलग स्थानों पर वस्तु की उपयोगिता अलग अलग हो सकती है। उपयो-

गिता में अंतर के कारण उस वस्तु का अलग अलग स्थानों पर अलग अलग मूल्य वसूल किया जा सकता है, जैसे हिमाचल प्रदेश, शिमला, कश्मीर आदि स्थानों में जहां सेब का उत्पादन होता है, इसकी उपयोगिता इन स्थानों में अन्य स्थानों की तुलना में कम होती है। विशेष रूप से बंबई, दिल्ली, मद्रास आदि बड़े शहरों में जब सेब पहुंचाया जाता है तो इसे अधिक मूल्यों पर बेचा जा सकता है। हालांकि कश्मीर से दिल्ली तक सेब का यातायात करने के लिए यातायात व्यय करने पड़ेंगे फिर भी इन व्ययों से अधिक मूल्य वसूल किया जा सकता है।

इसी प्रकार उपभोग के समय से भी मांग की तीव्रता प्रभावित होती है। यदि वस्तुओं का उपभोग किसी विशेष मौसम में ही किया जाता है, जैसे ऊनी तथा गर्म कपड़े तो उस मौसम में वर्ष के अन्य मौसमों की अपेक्षा इन वस्तुओं के मूल्य अधिक होते हैं तथा उस विशेष मौसम के बाद उन्हीं वस्तुओं को बेचने के लिए व्यापारी या उत्पादक उनके मूल्य में कटौती कर देता है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन के फलस्वरूप, उपभोग के समय से तथा किसी विशेष अवसर से मांग की तीव्रता बढ़ सकती है और इन स्थितियों में एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न मूल्यों पर बेचा जा सकता है।

वस्तु के मूल्य में ग्राहक, समय, स्थान तथा वस्तु के आधार पर भिन्नता लाकर संस्था अल्पकाल में ही अधिक लाभ कमा सकती है। यह भी तब संभव है जब उस स्थिति में वस्तु के बाजार को इन विभिन्न तत्वों के आधार पर स्पष्ट रूप से अलग अलग भागों में विभाजित किया जा सके, पर इस नीति को दीर्घकाल के लिए उपयोगी नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि यदि ग्राहकों को मूल्य में भिन्नता का ज्ञान हो जाता है तो इससे वे विक्रेता के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण उससे संबंध विच्छेद भी कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि वह ग्राहक, जो मूल्य में भिन्नता के कारण कम मूल्य में वस्तु क्रय करता है, उसी वस्तु को अन्य ग्राहकों को (जिनके लिए मांग की तीव्रता अधिक है) ऊंचे मूल्य पर बेच देता है, इस दृष्टि से भी यह नीति दीर्घकाल के लिए न्यायोचित एवं स्वस्थ नहीं समझी जा सकती है।

3. प्रतिस्पर्धा पर आधारित मूल्य नीति : जब कोई संस्था अपनी वस्तुओं का मूल्य प्रतियोगी संस्था द्वारा वसूल किए जाने वाले मूल्य के आधार पर निर्धारित करती है तो इसे प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य या प्रतिस्पर्धा में आधारित मूल्य कहा जाता है। इस मूल्य नीति के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि सदैव वस्तुओं का वही मूल्य निर्धारित किया जाए जो प्रतियोगी संस्था द्वारा किया गया हो। प्रतियोगी संस्था द्वारा निर्धारित मूल्य से कम पर अथवा अधिक पर मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। इस नीति की मुख्य विशेषता यह है कि वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय वस्तु की लागत तथा मांग के बीच कठोर संबंध कायम नहीं रखा जाता है और मांग में परिवर्तन के अनुसार मूल्य में परिवर्तन करने के बजाय प्रतियोगी संस्था की मांग में परिवर्तन से संबंधित प्रतिक्रिया के अनुसार वस्तु के मूल्य में परिवर्तन किया जाता है। यह केवल इसलिए किया जाता है कि प्रतियोगी संस्था वस्तु की मांग बढ़ने पर मूल्य नहीं बढ़ाती है या बिना मांग में परिवर्तन के ही मूल्य में परिवर्तन कर देती है। क्योंकि कुछ स्थितियों में संस्था के अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि मूल्य निर्धारण में अन्य प्रभावशाली तत्वों की तुलना में प्रतिस्पर्धा के तत्व को अधिक महत्व दिया जाए। इस मूल्य नीति का सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप है 'अनुगामी मूल्य नीति'। इस नीति के अंतर्गत संस्था वस्तु का वह मूल्य निर्धारित करती है जो औसतन उस उद्योग में अन्य संस्थाओं द्वारा वसूल किया जा रहा है। इस मूल्य नीति को मुख्य रूप से उन स्थितियों में अपनाया जाता है जहां वस्तुओं की लागत को सही प्रकार से नहीं नापा जा सकता है, उद्योग के साथ संस्था द्वारा मूल्य

में समन्वय बनाए रखना आवश्यक हो या यह ज्ञात करना कठिन हो कि मूल्य के प्रति क्रेता की क्या प्रतिक्रिया है और प्रतियोगी संस्था की प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या है।

अनुगामी मूल्य नीति संस्था द्वारा एक ही प्रकार की प्रकृति के वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा से लेकर अल्पाधिकार (ओलीगोपोली) की स्थिति तक प्रयोग में लाई जा सकती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उस संस्था को, जो एक ही प्रकार की वस्तु बाजार में बेचती है, से मूल्य निर्धारण को नियंत्रित करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य का निर्धारण संस्था या संस्थाओं के समूह के बजाय क्रेता एवं विक्रेता की सामूहिक प्रतिक्रिया द्वारा किया जाता है, और वस्तु का मूल्य लागत के बजाय मांग एवं पूर्ति के संतुलन पर निर्भर रहता है। पर दीर्घकाल में यह मूल्य औसत लागत मूल्य के बराबर हो जाता है, और यदि मूल्य इससे अधिक हो जाए तो नई संस्थाएं उत्पादन कार्य प्रारंभ करके वस्तुओं की पूर्ति बढ़ा देती हैं और मूल्य फिर संतुलित हो जाता है। बाजार की इस स्थिति में कोई भी संस्था मूल्य निर्धारण से संबंधित कोई निर्णय नहीं ले सकती है और संस्थाएं उत्पादन लागत को नियंत्रित करके ही अधिक लाभ कमा सकती हैं।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा से बिल्कुल विपरीत स्थिति है अल्पाधिकार की स्थिति। इस स्थिति में कुछ बड़ी संस्थाएं सारे उद्योग पर शासन करती हैं और वस्तु की पूर्ति को नियंत्रित रखती हैं। इन्हीं संस्थाओं को मूल्य का निर्धारण करने में काफी हद तक नियंत्रण प्राप्त रहता है। उद्योग की अन्य संस्थाएं अधिकांश दशाओं में इन्हीं संस्थाओं द्वारा निर्धारित मूल्य पर अपनी वस्तुएं बेचती हैं। यदि वे उससे अलग मूल्य पर वस्तुएं बेचें तो मूल्य में परिवर्तन ग्राहकों तथा अन्य संस्थाओं को शीघ्र पता चल जाता है।

अनुगामी मूल्यनीति के अनुसार निर्धारित मूल्य अनिश्चित काल तक स्थिर नहीं रह सकता है क्योंकि उद्योग में वस्तु की मांग एवं लागत संबंधी परिवर्तन होते रहते हैं।

उपरोक्त दो स्थितियों के बीच बाजार में एक स्थिति और होती है जिसमें न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा रहती है और न पूर्ण एकाधिकार। इसे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति कहा जाता है। इस स्थिति की मुख्य विशेषता यह है कि वस्तु के कई उत्पादक एवं विक्रेता होते हैं पर उनकी वस्तुएं एक समान नहीं होती हैं। प्रत्येक वस्तु की विशेषताओं में अंतर होता है, इसीलिए वस्तुओं के विक्रेता कुछ सीमा तक मूल्य के निर्धारण को प्रभावित कर सकते हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि, प्रतिस्पर्धा पर आधारित मूल्य नीति के अंतर्गत वस्तु के मूल्य का निर्धारण प्रतियोगी संस्था द्वारा निर्धारित मूल्य के अनुसार किया जाता है। पर कुछ स्थितियों में प्रतियोगी संस्था के मूल्य से कम अथवा उससे अधिक मूल्य भी निर्धारित किया जा सकता है, जैसे यदि कोई फुटकर व्यापारी लाभ की अपेक्षा बिक्री की मात्रा में वृद्धि करना चाहता है तो वह बाजार में व्याप्त सामान्य मूल्य से कम पर वस्तुएं बेच सकता है। इसी प्रकार उत्पादक अथवा फुटकर व्यापारी बाजार के प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से अधिक पर भी मूल्य का निर्धारण कर सकता है बशर्ते वह वस्तु के उत्पादन में साख प्राप्त उत्पादक हो और उत्पादित वस्तु विशिष्ट प्रकृति की हो, जैसे स्त्रियों के कपड़े, गहने आदि का निर्माता बाजार के प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से अधिक पर भी वस्तुएं बेच सकता है।

अन्य मूल्य नीतियां

ऊपर बताई गई मूल्य नीतियों के अतिरिक्त व्यवहार में कुछ अन्य नीतियां भी प्रचलित

हैं जिनका प्रयोग अधिकांशत: किसी विशेष स्थिति में विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

(अ) मक्खन बटोरने वाली मूल्य नीति (स्लिम द क्रीम प्राइस पालिसी): इस मूल्य नीति के अनुसार वस्तु का विक्रय मूल्य ग्राहक द्वारा अपेक्षित मूल्य से अधिक रखा जाता है ताकि उत्पादक शीघ्रातिशीघ्र अधिकतम आय प्राप्त करके व्यवसाय में विनियोजित धनराशि वसूल कर सके। उत्पादक द्वारा निर्धारित यह मूल्य अनिश्चित काल तक चलता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर बाजार अंश बढ़ाने के लिए इस मूल्य को कम भी किया जा सकता है। यह मूल्य नीति विशिष्ट वस्तुओं के जीवन चक्र के प्राथमिक चरणों में अपनाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त फैशन संबंधी वस्तुओं, वैभवप्रतीक एवं प्रतिष्ठाप्रतीक वस्तुओं तथा धनी वर्ग द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं के लिए भी यह विधि प्रयोग में लाई जा सकती है क्योंकि वे सामान्य तौर से उन वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य का भुगतान करने को तत्पर रहते हैं जिनकी किस्म अच्छी है और जो सामान्य व्यक्ति द्वारा प्रयोग में नहीं लाई जातीं। इसके अतिरिक्त यह मूल्य नीति निम्न स्थितियों में उपयोगी सिद्ध होती है।

1. इस मूल्य नीति का प्रयोग संस्था भविष्य में संभावित कटु प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप हानि से बचने के लिए कर सकती है, क्योंकि संस्था प्रतिस्पर्धा पनपने से पूर्व ही तेजी के साथ आय में वृद्धि करके विनियोजित धनराशि वसूल कर लेती है।

2. यदि वस्तु की प्रारंभिक लागत तुलनात्मक रूप से अधिक हो तो उस वस्तु को अधिक मूल्य में बेचना तर्कसिद्ध है।

3. यदि उत्पादक वस्तु के मूल्य में गिरावट से मांग में वृद्धि की पूर्ति नहीं कर सकता है तो उस वस्तु की मांग को कम करके मांग एवं पूर्ति में संतुलन बनाए रखने के लिए इस मूल्य नीति को अपना सकता है, क्योंकि वस्तु का अधिक मूल्य निर्धारित करने से उसकी मांग में कमी स्वाभाविक है।

4. वस्तु के मूल्य निर्धारण में संभावित अशुद्धि के कुप्रभाव को रोकने के लिए भी इस नीति को अपनाया जाता है, जैसे यदि वस्तु का मूल्य बढ़ जाने के कारण मांग कम हो तो मूल्य में कमी करके वस्तु की मांग उत्पन्न की जा सकती है। इसके विपरीत यदि प्रारंभिक मूल्य कम हो तो उसे बढ़ाना जोखिमपूर्ण होता है।

(ब) बाजार में छा जानेवाली मूल्यनीति (पेनीट्रेशन प्रायसिंग) : मक्खन बटोरने वाली मूल्य नीति के ठीक विपरीत बाजार में छा जाने वाली मूल्य नीति के अनुसार वस्तु का प्रारंभिक मूल्य कम निर्धारित किया जाता है ताकि बाजार में वस्तु की अधिक से अधिक मांग उत्पन्न की जा सके। इस मूल्य नीति को अपना कर उत्पादक वस्तु की मांग बढ़ाने में सफल हो सकता है और मांग बढ़ाकर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के फलस्वरूप समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर लेता है। हालांकि अल्पकाल में इस नीति को लागू करने से उत्पादक बहुत ही कम लाभ अर्जित कर पाता है पर दीर्घकाल में उसके द्वारा कमाए जाने वाले लाभ में वृद्धि हो सकती है, क्योंकि वस्तु बाजार में अत्यधिक प्रचलित हो जाती है और इससे प्रतिस्पर्धा नहीं पनपने पाती है। इसके अतिरिक्त एक स्तर तक लगातार वस्तु का विकास होता रहता है। यह नीति विशेष रूप से निम्न दशाओं में उपयोगी समझी जाती है।

1. नई वस्तु को बाजार में प्रवेश कराते समय उसे अधिक प्रचलित करने के लिए यह मूल्य नीति उपयोगी समझी जाती है क्योंकि प्रारंभ में वस्तु को कटु प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पड़ता है।

2. यदि वस्तु की मांग लोचदार है और वस्तु की किस्म में परिवर्तन उसके मूल्य को

शीघ्र प्रभावित करता हो तो ऐसी स्थिति में भी बाजार में छा जाने वाली मूल्य नीति उपयुक्त है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वस्तु की किस्म में परिवर्तन करके उसका मूल्य भी परिवर्तित किया जा सकता है।

3. यदि संस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन करके उत्पादन तथा विपणन के क्षेत्र में विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हों तो वस्तुओं के मूल्य में कमी करके उनकी मांग में वृद्धि की जा सकती है और उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

4. यदि संस्था यह अनुभव करती है कि मक्खन बटोरने वाली मूल्य नीति लागू करने के लिए ग्राहक बिल्कुल सीमित संख्या में है तो ऐसी स्थिति में भी बाजार में छा जाने वाली मूल्य नीति को अपना कर ग्राहकों की संख्या में वृद्धि की जा सकती है।

(स) अगुवा संस्था या अनुसरण मूल्य नीति (फालो दि लीडर पालिसी) : यदि किसी उद्योग में वस्तु के बाजार का अधिकांश किसी बड़ी संस्था द्वारा नियंत्रित किया जाए तो ऐसी संस्था को अगुवा संस्था कहा जाता है। चूंकि बाजार का अधिकांश इसी संस्था द्वारा नियंत्रित होता है इसीलिए यह स्वाभाविक है कि अगुवा संस्था वस्तु के मूल्य निर्धारण में भी प्रभावशाली होगी। ऐसे उद्योगों में संलग्न छोटे आकार की अन्य संस्थाएं उसी मूल्य पर वस्तुएं बेचती हैं जो मूल्य अगुवा संस्था द्वारा निर्धारित किया जाता है, अर्थात अप्रत्यक्ष रूप से अन्य संस्थाएं अगुवा संस्था की ही मूल्य नीति का अनुसरण करती हैं इसीलिए इस मूल्य नीति को अगुवा संस्था या अनुसरण मूल्य नीति कहा जाता है। इस प्रकार की मूल्य नीति संस्थाओं द्वारा उस स्थिति में अपनाई जाती है जब ये संस्थाएं यह अनुभव करती हैं कि मूल्यों में कमी कुप्रभावपूर्ण सिद्ध हो सकती है और मूल्यों में वृद्धि करना संभव नहीं है। क्योंकि अगुवा संस्था द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तुएं बेचना कठिन होता है। इस प्रकार के उद्योगों में मूल्य की प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है और छोटी छोटी संस्थाएं बाजार अंश में वृद्धि करने के लिए विज्ञापन तथा अन्य बिक्रीवर्धक प्रयत्नों को अधिक महत्व देती है।

(द) पुन: विक्रय मूल्य स्थापना (रि-सेल प्राइस मेंटीनेन्स) : यदि कोई उत्पादक वस्तु के उस मूल्य तक जो अंतिम ग्राहकों से वसूल किया जाता है, अपना नियंत्रण रखने के लिए उन तमाम मूल्यों को पहले ही निर्धारित कर देता है जिन पर वह वस्तुओं को वितरण की शृंखला में सम्मिलित मध्यस्थ को बेचेगा और जिस मूल्य पर उस वस्तु को एक मध्यस्थ दूसरे मध्यस्थ को बेचेगा तथा वह मूल्य जिस मूल्य में मध्यस्थ उस वस्तु को अंतिम ग्राहक को बेचेगा। इसे पुन: विक्रय मूल्य स्थापना कहा जाता है। क्योंकि वस्तुओं के उन विभिन्न मूल्यों की स्थापना स्वयं वस्तु के उत्पादक द्वारा की जाती है, जिन पर वस्तु का पुन: विक्रय किया जाता है। इस नीति के अनुसार प्रारंभ से लेकर अंत तक वस्तु के मूल्य पर उत्पादक का नियंत्रण बना रहता है क्योंकि उत्पादक वितरण शृंखला में स्थित मध्यस्थों पर यह प्रतिबंध लगा देता है कि वे उस वस्तु को निर्धारित मूल्य पर ही बेचेंगे।

पुन: विक्रय मूल्य स्थापना नीति किसी एक उत्पादक द्वारा अथवा एक ही प्रकार की वस्तु बनाने वाले उत्पादकों के समूह द्वारा अपनाई जा सकती है। यदि यह नीति उत्पादकों के समूह द्वारा अपनाई जाए तो इसे 'संयुक्त पुन: विक्रय मूल्य स्थापना' कहा जाएगा।

पुन: विक्रय स्थापना मूल्य के लाभ : (i) इस मूल्य नीति को अपनाने से वस्तु के उत्पादक का मूल्य पर अंत तक नियंत्रण बना रहता है, क्योंकि उसके द्वारा उन तमाम मूल्यों को पहले ही निर्धारित कर दिया जाता है जिस मूल्य पर उत्पादक वस्तुएं थोक व्यापारी को बेचेगा और थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी को तथा फुटकर व्यापारी वे वस्तुएं अंतिम ग्राहक को बेचेगा।

2. पुन: विक्रय मूल्य स्थापना से वितरण की श्रृंखला में संलग्न मध्यस्थों में एक दूसरे के प्रति विश्वास बना रहता है, क्योंकि एक मध्यस्थ उन वस्तुओं को अलग अलग मध्यस्थों में बेचने के लिए मूल्य में परिवर्तन नहीं कर सकता है और प्रत्येक मध्यस्थ को वस्तुएं एक ही मूल्य में प्राप्त होती हैं।

3. पुन: विक्रय मूल्य स्थापना की नीति अपनाने से मूल्यों में प्रतिस्पर्धा लगभग समाप्त हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक मध्यस्थ एक ही निश्चित मूल्य पर वस्तुएं क्रय करके निश्चित मूल्य पर ही ग्राहकों को बेचता है। यह स्थिति विशेष रूप से उन संस्थाओं के लिए लाभप्रद है जो छोटे पैमाने पर व्यवसाय कर रही हों और बड़ी व्यावसायिक संस्था के साथ मूल्य में प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकती हों।

4. पुन: विक्रय मूल्य स्थापना से समय में बचत संभव है क्योंकि वस्तुओं का लेन-देन करने वाले प्रत्येक पक्षकार के लिए वस्तु का मूल्य पहले से ही निर्धारित रहता है। इससे वे आसानी से लेनदेन तय कर सकते हैं।

5. मूल्य में प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाने से मूल्य में कटौती की संभावना भी लगभग समाप्त हो जाती है, और मूल्य पूर्वनिर्धारित होने से ग्राहक व्यापारी को मूल्य में कटौती करने पर बाध्य नहीं करता है।

6. यदि उत्पादक द्वारा उत्पादित वस्तु एक निश्चित मूल्य पर बेची जाए तो इससे उत्पादक की ख्याति में वृद्धि स्वाभाविक है क्योंकि ग्राहक तथा मध्यस्थ व्यापारी उत्पादक के प्रति विश्वास करने लगते हैं।

7. पुन: विक्रय मूल्य स्थापना नीति ग्राहकों के लिए भी लाभदायक समझी जाती है क्योंकि ग्राहक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि फुटकर व्यापारी को किस मूल्य पर वस्तुएं ग्राहकों को बेचनी हैं, और मूल्य पूर्वनिर्धारित होने से ग्राहकों के शोषण की संभावना बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

इस मूल्य नीति के विरुद्ध भी कुछ तर्क दिए जाते हैं :

1. इस मूल्य नीति के विरुद्ध यह कहा जाता है कि उत्पादक द्वारा स्वयं अंतिम ग्राहकों तक के मूल्य को पहले से निर्धारित करने में उत्पादक तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्य निर्धारित करता है ताकि वह अधिक से अधिक लाभ कमा सके और इससे वस्तुओं का वितरण विपरीत रूप से प्रभावित होता है, क्योंकि मध्यस्थ व्यापारियों को कुछ दशाओं में उचित दर का लाभ प्राप्त नहीं होता है इससे वितरण में शिथिलता उत्पन्न हो सकती है।

2. इस मूल्य नीति में लोच का अभाव रहता है क्योंकि पूर्वनिर्धारित मूल्यों में आसानी से परिवर्तन नहीं किए जा सकते हैं, और यदि परिवर्तन करने हों तो इसमें अधिक समय लग सकता है।

3. विभिन्न मूल्यों का पूर्वनिर्धारण मूल्यों में प्रतिस्पर्धा समाप्त कर देता है जिसके फलस्वरूप अकुशल मध्यस्थ व्यापारी भी बराबर लाभ कमाते रहते हैं और अधिक कुशल व्यापारी को अधिक लाभ कमाने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है।

4. पुन: विक्रय मूल्य स्थापना में उत्पादक को मूल्य निर्धारण में एकाधिकार की स्थिति प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय करने में सौदेबाजी का कोई अवसर नहीं रहता है।

इसके अतिरिक्त इस मूल्य नीति की उपयोगिता इसलिए भी सीमित है कि उत्पादक तभी इस मूल्य नीति को अपना सकता है यदि वह समय समय पर व्यापारियों द्वारा वसूल किए जाने वाले मूल्य की जांच पड़ताल कर सकता हो और ग्राहकों को इस मूल्य के बारे में आवश्यक सूचना दे सकता हो।

पुन: विक्रय मूल्य के इन दोषों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न देशों में मुख्य रूप से इंग्लैंड, अमरीका, पश्चिम जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि देशों में इस मूल्य नीति को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए व्यापक अधिनियम बनाए जा चुके हैं। भारत में भी 1969 में 'एकाधिकार तथा प्रतिबंधात्मक व्यापार विधि अधिनियम' बना कर, पुन: विक्रय मूल्य नीति पर कई प्रतिबंध लगा दिए गए हैं। इस अधिनियम की धारा 39 के अनुसार वस्तु की न्यूनतम कीमत का निर्धारण किया जाना प्रतिबंधित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम द्वारा बिक्री अनुबंध की इस शर्त को भी व्यर्थ घोषित कर दिया गया है जिसके फलस्वरूप व्यापारियों के बीच वस्तु का पुन: विक्रय होने में उसका न्यूनतम मूल्य वसूल किया जाता है।

14

वितरण के माध्यम

वस्तु का उत्पादन हो जाने के पश्चात संभावित उपभोक्ताओं को उत्पादित वस्तु की उपयोगिता, मूल्य, रासायनिक तथा भौतिक विशेषताओं के बारे में अवगत कराना आवश्यक है। इससे वस्तु की मांग उत्पन्न करने में सहायता मिलती है, क्योंकि वस्तु की मांग उत्पन्न होने पर ही उसका विक्रय संभव है। मांग उत्पन्न होने के पश्चात वस्तु को ग्राहकों की सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार उन्हें उपलब्ध कराया जाता है। कुछ दशाओं को छोड़ कर बाकी स्थितियों में उत्पादक स्वयं प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक नहीं पहुंचा पाता है क्योंकि व्यावसायिक क्रिया दिन प्रति दिन जटिल एवं व्यापक होती जा रही है और बड़े पैमाने पर व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए उत्पादन से वितरण का पृथक्करण उचित एवं परिस्थितियों के अनुकूल समझा जाता है।

उत्पादित वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए उत्पादक वितरण की संपूर्ण शृंखला में विद्यमान विभिन्न मध्यस्थ व्यापारियों की सहायता लेता है, और वस्तु अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचने में व्यापारियों के माध्यम से गुजरती है। इस पथ या माध्यम को वितरण का माध्यम कहा जाता है। वैसे तो वस्तुओं का वितरण विपणन क्रियाओं का अंतिम, संयोजित परिणाम है। वस्तुओं का वितरण हो जाने पर विपणन क्रियाओं का उद्देश्य पूरा हो जाता है। दूसरी ओर वस्तुओं का वितरण हो जाने पर व्यावसायिक क्रिया पुनः संपूर्ण चक्र के प्रारंभिक चरण में आ जाती है, अर्थात विपणन की अन्य समस्त क्रियाएं वितरण में सहायक हैं जिनके क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप ही वस्तुओं का भौतिक रूप से वितरण संभव होता है। इस महत्वपूर्ण क्रिया के संबंध में लिया गया कोई भी निर्णय स्वाभाविक रूप से विपणन की संपूर्ण प्रक्रिया को प्रभावित करेगा, क्योंकि वस्तु का वितरण करने के लिए किस माध्यम को अपनाया जा रहा है, उसमें कितने मध्यस्थ व्यापारी संलग्न हैं इसका प्रत्यक्ष प्रभाव वस्तु के मूल्य पर पड़ेगा और इससे वस्तु के लिए किए जाने वाले बिक्रीवर्धक प्रयत्न भी प्रभावित होंगे।

संक्षेप में, वस्तु का भौतिक वितरण विपणन की एक महत्वपूर्ण क्रिया है जिससे हमारा अभिप्राय उत्पादक एवं अंतिम उपभोक्ता के बीच स्थापित उस कड़ी अथवा संबंध से है जिसके द्वारा उत्पादित वस्तुएं उपभोक्ताओं तक पहुंचती हैं। उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच इस संबंध अथवा कड़ी को स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के मध्यस्थ व्यापारी कार्य करते हैं, जैसे थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी, विक्रय एजेंट आदि। इन मध्यस्थ व्यापारियों को वितरण के माध्यम के मध्यस्थ कहा जाता है। वस्तु के लिए अपनाए गए वितरण के माध्यम में इनकी संख्या अलग अलग वस्तुओं एवं अलग अलग उत्पादकों के लिए भिन्न भिन्न होती है। यदि उत्पादक वस्तुओं का वितरण स्वयं करता है तो माध्यम में मध्यस्थों का कोई अस्तित्व नहीं होगा, और यदि वस्तु के

वितरण का माध्यम व्यापक एवं जटिल है तो निश्चित रूप से मध्यस्थों की संख्या अधिक होगी। इसी प्रकार वस्तुओं की प्रकृति पर भी इनकी संख्या कुछ सीमा तक निर्भर रहती है जैसे शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु को शीघ्र वितरित करने के लिए आवश्यक है कि वितरण का माध्यम समीपवर्ती हो ताकि वस्तु को बिना उसकी उपयोगिता प्रभावित किए हुए शीघ्र वितरित किया जा सके।

एक उत्पादक को उत्पादित वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए कई विकल्प उपलब्ध रहते हैं। ये विकल्प उत्पादक द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने से लेकर अधिकतम जटिल तथा व्यापक वितरण के माध्यम के बीच हो सकते हैं। जो निम्न प्रकार हैं :

1. उत्पादक द्वारा वस्तुओं का अंतिम उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष वितरण।

2. उत्पादक द्वारा स्वयं वितरण कार्य न करके थोक व्यापारी की सहायता से वस्तुओं का उपभोक्ताओं में वितरण।

3. उत्पादक द्वारा फुटकर व्यापारी को वस्तुओं का विक्रय और फुटकर व्यापारी द्वारा उपभोक्ताओं में वितरण।

4. उत्पादक से थोक व्यापारी को, थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारी को और फुटकर व्यापारी द्वारा उपभोक्ताओं में वितरण।

5. उत्पादक से, अधिकृत एजेंट को, अधिकृत एजेंट से थोक व्यापारी को, थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारी को और फिर फुटकर व्यापारी से अंतिम उपभोक्ताओं को वस्तुओं का वितरण।

वितरण के इन विभिन्न माध्यमों को निम्न तालिका से भलीभांति समझा जा सकता है।
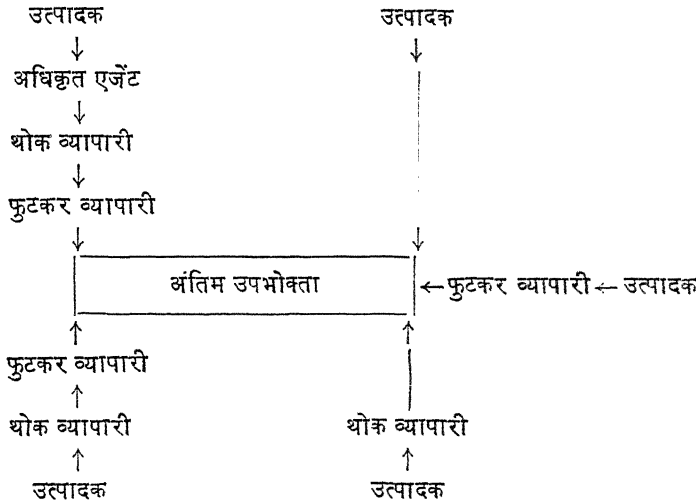
वितरण के उपरोक्त समस्त माध्यमों को व्यापक दृष्टिकोण से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : प्रत्यक्ष माध्यम, एवं अप्रत्यक्ष माध्यम।

प्रत्यक्ष माध्यम

यदि कोई उत्पादक वस्तुएं उत्पादित करके स्वयं प्रत्यक्ष रूप से उन वस्तुओं का अंतिम

उपभोक्ताओं में वितरण करता है तो इसे प्रत्यक्ष माध्यम कहा जाएगा। प्रत्यक्ष माध्यम के अंतर्गत उत्पादन कार्य तथा वितरण कार्य से संबंधित समस्त क्रियाएं एक ही उत्पादक या उत्पादक संस्था या उत्पादकों के एक समूह द्वारा संचालित की जाती हैं। व्यवहार में इस माध्यम का प्रयोग कृषि पदार्थों के वितरण, उपभोक्ताओं की विशिष्ट वस्तुएं, कुछ स्थितियों में निर्मित वस्तुएं शरीर सज्जा की सामग्री तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं का वितरण करने के लिए किया जाता है। सरल एवं मितव्ययी होते हुए भी वितरण के इस माध्यम की उपयोगिता तुलनात्मक रूप से काफी सीमित है। इस माध्यम को अपनाने से वितरण कार्य उत्पादन कार्य से संलग्न रहता है और अधिकांश दशाओं में व्यवसाय की इन दोनों महत्वपूर्ण क्रियाओं में संतुलन एवं समन्वय बनाए रखना वास्तव में एक जटिल कार्य है, विशेष रूप से उस स्थिति में जबकि, व्यावसायिक क्रिया का लगातार विस्तार हो रहा हो, इस माध्यम को उपयुक्त नहीं समझा जाता है। हालांकि इस माध्यम को अपनाने से संस्था या उत्पादक विपणन व्ययों में कुछ मितव्ययताएं निश्चित रूप से प्राप्त करता है, और इसके अतिरिक्त उत्पादक का उपभोक्ताओं के साथ प्रत्यक्ष संबंध होने के कारण उत्पादक को उपभोक्ताओं की बदलती हुई आवश्यकता का शीघ्र ज्ञान हो जाता है, फिर भी उत्पादक प्रत्यक्ष माध्यम को अपनाकर बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं वितरण की मितव्ययताओं से वंचित रहता है।

अप्रत्यक्ष माध्यम

इस माध्यम द्वारा वस्तुओं का वितरण करने के लिए उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के बीच कई मध्यस्थ व्यापारी वितरण कार्य में संलग्न रहते हैं।

उत्पादक से थोक व्यापारी तथा थोक व्यापारी से अंतिम उपभोक्ता : इस माध्यम के अंतर्गत उत्पादक एवं अंतिम उपभोक्ताओं के बीच थोक व्यापारी मध्यस्थ का कार्य करता है क्योंकि वह उत्पादकों से विभिन्न वस्तुएं बड़ी मात्रा में क्रय करके अंतिम उपभोक्ताओं को बेचता है। व्यवहार में इस माध्यम का प्रयोग भी सीमित है और विशेष रूप से इसका प्रयोग मिलों एवं कारखानों को कच्चा माल वितरण करने के लिए किया जाता है, थोक व्यापारी कृषि उत्पादकों से कच्चा माल क्रय करके उसे एकत्रित करके मिलों एवं कारखानों की आवश्यकता पूरी करता है। जैसे चीनी मिलों को गन्ने का वितरण, कपड़ा मिलों को कपास का वितरण आदि।

उत्पादक से फुटकर व्यापारी और फुटकर व्यापारी से अंतिम उपभोक्ता : इस माध्यम में थोक व्यापारी को वितरण की शृंखला में कोई स्थान नहीं दिया जाता है और फुटकर व्यापारी ही उत्पादक के सहयोग से विपणन की क्रियाएं निष्पादित करके वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित करता है, इसके लिए उत्पादक उत्पादित वस्तुओं को विभिन्न स्थानों में अपने गोदामघरों में संग्रहीत रखता है ताकि फुटकर व्यापारी आवश्यकता पड़ने पर वस्तुएं क्रय करके अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचा सके, जैसे मोटर-गाड़ियों तथा टेलीविजन सेटों का वितरण, दवाइयों का वितरण आदि।

उत्पादक से थोक व्यापारी, थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी से अंतिम उपभोक्ता : व्यवहार में वितरण का यह माध्यम सबसे अधिक प्रचलित है क्योंकि यह माध्यम विशेष रूप से उन वस्तुओं का वितरण करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है, जो उपभोक्ताओं की आम एवं दैनिक प्रयोग की वस्तुएं होती हैं, या जिनका क्रय उसके द्वारा कुछ समय तक स्थगित भी किया जा सकता है जैसे कपड़े, जूते आदि। इन वस्तुओं की मांग अधिक होने के कारण इस मांग को पूरा करने के लिए उत्पादन कार्य बड़े पैमाने पर किया जाता है और वितरण कार्य भी जटिल एवं व्यापक होने के कारण

को भी वहन करते हैं। सविस्तार वर्णन आगे किया जाएगा।

व्यापारिक एजेंट

वितरण की श्रृंखला में कुछ ऐसे मध्यस्थ भी संलग्न रहते हैं जो उत्पादक को वस्तुओं का वितरण करने तथा विपणन क्रियाओं को निष्पादित करने में केवल सहायता प्रदान करते हैं क्योंकि इनके द्वारा उत्पादक एवं वितरण के अन्य मध्यस्थ व्यापारियों के बीच केवल संबंध स्थापित किया जाता है। दूसरे शब्दों में ये व्यापारिक एजेंट उत्पादक की ओर से उसके जोखिम पर वस्तुएं अन्य व्यापारियों को बेचते हैं। जैसे कमीशन एजेंट, दलाल आदि। भारतीय व्यवसाय में निम्न प्रकार के व्यापारिक एजेंट हैं।

1. कमीशन एजेंट : कमीशन एजेंट वह व्यापारिक एजेंट है जो विक्रेता की ओर से वस्तुओं का विक्रय करता है और वस्तुओं का स्वामित्व हस्तांतरण करने से संबंधित आवश्यक कार्यवाही भी करता है। कुछ स्थितियों में इन एजेंटों के द्वारा वस्तुओं के एकत्रीकरण, संग्रहण, श्रेणीकरण और पैकिंग आदि विपणन क्रियाओं में भी सहायता प्रदान की जाती है। सेवाओं के प्रतिफल के रूप में इनको जो पारितोषिक दिया जाता है उसे कमीशन कहते हैं। कमीशन एजेंट को अतिरिक्त कमीशन देकर उधार बिक्री की वसूली के लिए भी उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। यह अतिरिक्त कमीशन डल क्रेडर कमीशन कहलाता है।

2. नीलामकर्ता : नीलामकर्ता विक्रेता द्वारा नियुक्त एजेंट है जो अपने नियोक्ता की ओर से वस्तुओं को नीलाम द्वारा बेचता है। वस्तुएं बिक्री के उद्देश्य के लिए नीलामकर्ता के नियंत्रण में रखी जाती हैं और वह क्रेता से मूल्य वसूल करने के लिए अपने नाम पर दावा कर सकता है। नीलामकर्ता को वस्तुओं को बेचने के लिए विस्तृत अधिकार प्राप्त रहते हैं। यदि वह नियोक्ता द्वारा निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर वस्तुएं बेच देता है तो इन वस्तुओं का क्रेता अच्छा स्वामित्व प्राप्त कर सकेगा बशर्ते उसने वस्तुएं सद्भावनापूर्वक क्रय की हों, नीलामकर्ता की मुख्य विशेषता यह है कि वस्तुओं के विक्रय तक वह विक्रेता की ओर से एजेंट की भांति कार्य करता है। वस्तुओं की बिक्री के बाद क्रेता एजेंट के रूप में कार्य करता है।

3. दलाल (ब्रोकर) : दलाल भी एक प्रकार का कमीशन एजेंट है फिर भी इसकी स्थिति कमीशन एजेंट से कुछ भिन्न है। दलाल विक्रेता एवं क्रेता के बीच केवल संबंध स्थापित करता है अर्थात क्रेता के लिए विक्रेता ढूंढ़ता है और विक्रेता के लिए क्रेता। इसके अतिरिक्त दलाल के पास कमीशन एजेंट की भांति नियोक्ता की वस्तुएं भौतिकरूप से विद्यमान नहीं होती हैं। इसको सेवाओं के बदले जो पारितोषिक दिया जाता है उसे दलाली कहा जाता है क्योंकि उसे यह पारितोषिक दोनों पक्षकारों से प्राप्त होता है, जसे क्रय एजेंट, विक्रय एजेंट, मिल एजेंट आदि।

4. वस्तुओं का वाहक, बीमा कंपनी और बैंक : उपर्युक्त एजेंटों के अतिरिक्त, वस्तुओं के वितरण को सहज बनाने के लिए वस्तुओं का वाहक (जिसके द्वारा वस्तुएं यातायात की जाती हैं) बैंकिंग संस्था (जो क्रय विक्रय की गई वस्तुओं के मूल्य के भुगतान में सुगमता लाती है) एवं बीमा कंपनी (जिसको वस्तुओं के नष्ट होने का जोखिम हस्तांतरित किया जाता है) आदि संस्थाएं भी वस्तु के वितरण में विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करके सहायता पहुंचाती हैं, इन संस्थाओं को वास्तव में वितरण का मध्यस्थ तो नहीं समझा जाना चाहिए फिर भी वितरण प्रक्रिया में इनके महत्व को ध्यान में रखते हुए इनको वितरण से अलग नहीं किया जा सकता है।

सामान्य व्यापारी

वितरण की शृंखला में संलग्न दूसरे प्रकार के मध्यस्थ सामान्य व्यापारी कहलाते हैं। इनके द्वारा वस्तुओं का स्वामित्व के आधार पर क्रय-विक्रय करके लाभ अर्जित किया जाता है, जैसे वस्तुओं का थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी आदि। वस्तुओं के वितरण में इन सामान्य व्यापारियों के द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय के अतिरिक्त विपणन से संबंधित कई अन्य सेवाएं भी प्रस्तुत की जाती हैं जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

थोक व्यापारी

थोक व्यापारी एक ऐसा मध्यस्थ है जो वितरण की शृंखला में उत्पादक एवं फुटकर व्यापारी के बीच एक कड़ी का कार्य करता है, और कुछ स्थितियों में उत्पादक एवं अंतिम उपभोक्ता के बीच में भी संबंध स्थापित करता है। थोक व्यापारी प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक या उत्पादकों से बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके उनको छोटी मात्रा में फुटकर व्यापारियों तथा अंतिम उपभोक्ता को बेचता है। थोक व्यापारी वस्तुओं के क्रय-विक्रय के अतिरिक्त वस्तुओं के एकत्रीकरण का कार्य भी करता है। क्योंकि थोक व्यापारी को वस्तुएं कई उत्पादकों से क्रय करके फुटकर व्यापारियों या ग्राहकों को बेचने के लिए केंद्रीय स्थान में एकत्रित करनी पड़ती हैं, ताकि फुटकर व्यापारी या उपभोक्ता अपनी आवश्यकता अनुसार वस्तुएं क्रय कर सकें। थोक व्यापारी की स्थिति केवल वस्तुओं के उत्पादकों के लिए महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि फुटकर व्यापारी भी इनकी अनुपस्थिति में कठिनाई अनुभव करता है।

थोक व्यापारी के प्रकार

1. उत्पादक थोक व्यापारी : थोक व्यापारी वितरण की शृंखला में उत्पादक एवं फुटकर व्यापारी के बीच कड़ी ही नहीं है, बल्कि कुछ स्थितियों में वस्तु वितरण में सहायता पहुंचाने के साथ वस्तुओं के उत्पादन का कार्य भी करता है। ऐसे थोक व्यापारी को उत्पादक थोक व्यापारी कहा जाता है; अर्थात इस प्रकार का थोक व्यापारी कुछ वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करता है और कुछ वस्तुओं को उत्पादकों से क्रय करके फुटकर व्यापारियों को बेचता है।

2. फुटकर थोक व्यापारी : इस प्रकार के थोक व्यापारी बड़ी मात्रा में उत्पादकों से वस्तुएं क्रय करके छोटी छोटी मात्रा में अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं। इस प्रकार के थोक व्यापारी फुटकर व्यापार और थोक व्यापार दोनों प्रकार के कार्य करते हैं। दवाइयों के वितरण में इस प्रकार के थोक व्यापारी काफी हैं।

3. वितरक थोक व्यापारी : इस प्रकार के थोक व्यापारी मुख्य रूप से वितरण कार्यों में ही संलग्न रहते हैं और वितरण कार्य को सहज तथा सुगम बनाने के लिए वस्तुओं के क्रय-विक्रय के अतिरिक्त इनके द्वारा विपणन के अन्य कार्य भी निष्पादित किए जाते हैं, जैसे एकत्रीकरण, संग्रहण, यातायात, बीमा आदि। इस प्रकार के थोक व्यापारी मुख्य रूप से उत्पादकों से वस्तुएं बड़ी मात्रा में क्रय करके पुनः वितरण की शृंखला में फुटकर व्यापारियों को बेचते हैं।

थोक व्यापारी के सामान्य कार्य

थोक व्यापारियों द्वारा वितरण के क्षेत्र में सामान्य रूप से निम्न कार्य निष्पादित किए जाते हैं।

1. वस्तुओं का एकत्रीकरण : वितरण में वस्तुओं का एकत्रीकरण काफी सीमा तक थोक व्यापारियों द्वारा किया जाता है क्योंकि वे अलग अलग स्थानों में स्थित उत्पादकों से बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके उन्हें केंद्रीय स्थान में एकत्रित करते हैं ताकि वहां से वस्तुएं फुटकर व्यापारियों तक पहुंचाई जा सकें।

2. वस्तुओं का वितरण : थोक व्यापारी मूल रूप से वस्तुओं का वितरक समझा जाता है क्योंकि उत्पादित वस्तुओं का वितरण सहज एवं सुगम बनाने के लिए थोक व्यापारी उत्पादक तथा फुटकर व्यापारियों या अंतिम उपभोक्ताओं के बीच संबंध स्थापित करता है और प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकों से बड़ी मात्रा में वस्तु क्रय करके फुटकर व्यापारियों को बेचता है। इसमे उत्पादकों को वस्तु के वितरण की अनिश्चितता का जोखिम वहन नहीं करना पड़ता है। क्योंकि थोक व्यापारियों के द्वारा स्वामित्व के आधार पर बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय की जाती हैं।

3. वस्तुओं का संग्रहण : थोक व्यापारी वितरण के क्षेत्र में संग्रहण का कार्य भी निष्पादित करते हैं, क्योंकि उनके द्वारा बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय की जाती हैं और क्रय करके जब तक वस्तु छोटी मात्रा में फुटकर व्यापारियों को वितरित न की जाएं तब तक वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए उनका संग्रहण भी किया जाता है।

4. यातायात : थोक व्यापारी विभिन्न उत्पादकों से वस्तुएं क्रय करके उन्हें केंद्रीय स्थान तक पहुंचाने के लिए यातायात की व्यवस्था भी करता है।

5. जोखिम वहन : थोक व्यापारी वितरण के उन मध्यस्थों में से है जो क्रय की जाने वाली वस्तुओं से संबंधित जोखिम भी वहन करते हैं क्योंकि इनके द्वारा वस्तुएं उत्पादक से स्वामित्व के आधार पर क्रय की जाती हैं और स्वामित्व में ही जोखिम भी निहित होता है।

6. विपणन के अन्य कार्य : जैसे श्रेणीकरण, पैकिंग, वित्त व्यवस्था आदि आंशिक रूप से थोक व्यापारियों के द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। क्योंकि थोक व्यापारी उत्पादकों से वस्तुएं क्रय करके (विशेष रूप से कृषि पदार्थ) उनको विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते हैं ताकि आसानी से उनके मूल्य का निर्धारण किया जा सके। इसके साथ ही थोक व्यापारियों द्वारा वस्तुओं की उचित पैकिंग भी की जाती है। कुछ स्थितियों में उत्पादक को अग्रिम के रूप में या फुटकर व्यापारियों को वस्तुएं उधार बेचकर इनके द्वारा उत्पादक एवं फुटकर व्यापारी दोनों को अल्पकालीन वित्तीय सहायता भी प्रदान की जाती है।

उपरोक्त कार्यों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वितरण के क्षेत्र में थोक व्यापारी वास्तव में एक महत्वपूर्ण मध्यस्थ के रूप में कार्य करके वस्तुओं का वितरण सहज एवं सुगम बनाता है, क्योंकि इनके द्वारा विपणन के लगभग समस्त कार्य आंशिक रूप से निष्पादित किए जाते हैं और उत्पादक तथा फुटकर व्यापारी या अंतिम उपभोक्ता के बीच संबंध स्थापित किया जाता है।

थोक व्यापारी द्वारा उत्पादकों को निम्न सेवाएं प्रदान की जाती हैं : 1 वितरण की श्रृंखला में थोक व्यापारी की उपस्थिति उत्पादकों के लिए वरदान स्वरूप है क्योंकि उत्पादक एक ओर बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करके समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर सकता है तथा उसे विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त हो सकते हैं, दूसरी ओर उत्पादित वस्तुओं के वितरण की अनिश्चितता समाप्त हो जाती है क्योंकि थोक व्यापारी मुख्य रूप से वस्तुएं उत्पादकों से बड़ी मात्रा में क्रय करते हैं, और आगे को उनका वितरण संभव बनाते हैं। इससे उत्पादक थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वस्तु फुटकर व्यापारियों को बेचने की कठिनाई से मुक्त हो जाता है।

2. थोक व्यापारी उत्पादकों को विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करके वस्तुओं के वितरण में सहायता पहुंचाते हैं। ये न केवल वस्तुओं को उत्पादकों से क्रय करते हैं बल्कि वस्तुओं के श्रेणीकरण, पैकिंग आदि की व्यवस्था करके उत्पादक के समय की बचत भी करवाते हैं। इस प्रकार उत्पादक पूर्णतया उत्पादन कार्य में ही व्यस्त रह सकता है।

3. थोक व्यापारी वस्तुओं के वितरण संबंधी जोखिम भी वहन करते हैं जो अन्यथा, उत्पादक द्वारा स्वयं वहन किया जाता है, क्योंकि थोक व्यापारी वस्तुएं स्वामित्व के आधार पर क्रय करके उनको वितरण की शृंखला में अन्य व्यापारियों को बेचते हैं।

4. थोक व्यापारी की उपस्थिति उत्पादन कार्य में निरंतरता एवं संतुलन बनाए रखती है। क्योंकि थोक व्यापारियों द्वारा कुछ स्थितियों में उत्पादकों को वस्तु उत्पादित करने के लिए अग्रिम आदेश भी दिए जाते हैं।

5. थोक व्यापारियों की सहायता से उत्पादक उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं में उपभोक्ताओं की आवश्यकता एवं प्राथमिकता के अनुसार आवश्यक परिवर्तन भी कर सकता है, क्योंकि थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों से, जिनका अंतिम ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध होता है, व तु की बाजार संबंधी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके उत्पादकों को समय समय पर सूचित करते रहते हैं।

6. थोक व्यापारियों द्वारा उत्पादकों को कुछ स्थितियों में अल्पकालीन वित्तीय सहायता भी प्रदान की जाती है। इससे वस्तुओं का अतिरिक्त उत्पादन करने में आवश्यक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है।

थोक व्यापारी द्वारा फुटकर व्यापारी को प्रदान की जाने वाली सेवाएं

1. फुटकर व्यापारी को एक ही वस्तु की विभिन्न किस्में उपलब्ध करनी पड़ती हैं। क्योंकि वह वस्तुएं मूल रूप से अंतिम ग्राहकों को बेचता है जो समाज के कई वर्गों से होते हैं और जिनकी क्रय शक्ति, रहन सहन के स्तर, शिक्षा आदि में अंतर होता है, इसके लिए थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी को महत्वपूर्ण सेवा प्रदान करते हैं। थोक व्यापारी एक ही प्रकार की वस्तु विभिन्न उत्पादकों से क्रय करके अपने पास संग्रहीत रखते हैं ताकि आवश्यकता पड़ने पर फुटकर व्यापारी एक ही प्रकार की वस्तुएं विभिन्न किस्मों में थोक व्यापारी से प्राप्त कर सकें।

2. थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ी थोड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय कर सकता है और इस प्रकार फुटकर व्यापारी को व्यापार में अधिक पूंजी विनियोजित करने की आवश्यकता नहीं होती है।

3. फुटकर व्यापारी थोक व्यापारी के विशिष्ट ज्ञान का लाभ उठा सकते हैं क्योंकि थोक व्यापारी एक ही प्रकार की विभिन्न किस्म की वस्तुओं का व्यापार करते हैं और उन्हें उन वस्तुओं से संबंधित पूरी जानकारी रहती है कि कौनसा उत्पादक अच्छी किस्म की वस्तुएं उत्पादित कर रहा है और तुलनात्मक रूप से किन वस्तुओं का मूल्य कम है आदि।

4. थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारियों को वित्तीय सहायता भी प्राप्त होती है क्योंकि थोक व्यापारी आवश्यकता अनुभव करने वाले फुटकर व्यापारियों को वस्तुएं उधार भी बेचते हैं।

5. वितरण की शृंखला में थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी के लिए वस्तुओं की पूर्ति में निरंतरता बनाए रखता है। थोक व्यापारी बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके उन्हें संग्रहीत करके फुटकर व्यापारियों की आवश्यकतानुसार उनको बेचते हैं।

6. थोक व्यापारी की स्थिति में फुटकर व्यापारी को वस्तुओं के नष्ट होने एवं

मूल्यों में परिवर्तन का जोखिम वहन नहीं करना पड़ता है, क्योंकि वह आवश्यकता पड़ने पर निरंतर रूप से वस्तुएं थोक व्यापारी से क्रय कर सकता है और अपने पास केवल उतनी ही मात्रा में वस्तुएं रखता है जितनी वह शीघ्र बेच सके।

7. थोक व्यापारी के माध्यम से फुटकर व्यापारी को समय समय पर उत्पादक द्वारा नई वस्तुओं के उत्पादन के बारे में शीघ्र आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सकती है।

वितरण की श्रृंखला में थोक व्यापारी की स्थिति एवं उसके द्वारा उत्पादक तथा फुटकर व्यापारी के प्रति प्रस्तुत की जाने वाली सेवाओं का वर्णन करने से निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि इनकी विद्यमानता वास्तव में इन दोनों पक्षकारों के लिए उचित एवं वांछनीय है।

भारतवर्ष में थोक व्यापारी की स्थिति एवं भविष्य : थोक व्यापारी वितरण की श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण मध्यस्थ इकाई है, क्योंकि वह उत्पादक तथा फुटकर व्यापारियों के बीच संबंध स्थापित करता है और इन दोनों पक्षकारों को विभिन्न सेवाएं प्रदान करता है। भारतवर्ष जैसे देश में, वितरण की श्रृंखला में इनकी विद्यमानता उचित एवं वांछनीय समझी जा सकती है, भारत एक कृषि प्रधान देश है। कृषि उत्पादन को अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए एवं कृषि के क्षेत्र में उत्पादित कच्चे माल को उद्योगों को उपलब्ध कराने में इनकी भूमिका सराहनीय है, क्योंकि अधिकांश दशाओं में थोक व्यापारी कृषकों से कच्चा माल क्रय करके उसे केंद्रीय स्थानों में एकत्रित करते हैं और फिर विभिन्न उत्पादकों तक पहुंचाते हैं। विकासशील अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन इन्हीं थोक व्यापारियों के द्वारा प्रोत्साहित होता है। इनकी विद्यमानता से उत्पादन कार्य वितरण कार्य से पृथक किया जा सकता है और वस्तुओं को बड़े पैमाने पर बेचा जा सकता है। इससे वस्तुओं के उत्पादन में निरंतरता बना रहती है।

इसी प्रकार देश में सुव्यवस्थित वितरण व्यवस्था के अभाव में इसके द्वारा प्रदान की जाने वाली महत्वपूर्ण सेवाएं वस्तुओं के वितरण के लिए आवश्यक समझी जाती हैं, क्योंकि दूर दूर स्थानों में स्थित फुटकर व्यापारी स्वयं उत्पादकों तक आकर वस्तुएं क्रय नहीं कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त देश में व्यवसाय के लिए पर्याप्त पूंजी का अभाव, फुटकर व्यापार का अपर्याप्त विकास, व्यावसायिक साहस में कमी, उपभोक्ताओं में पर्याप्त ज्ञान का अभाव, आदि कारणों से भी वितरण श्रृंखला में थोक व्यापारी की उपस्थिति वांछनीय है और वितरण में इनका अस्तित्व दीर्घकाल तक कायम रह सकता है।

फुटकर व्यापारी (रिटेलर)

फुटकर व्यापारी वितरण की श्रृंखला में उत्पादक तथा उपभोक्ता या थोक व्यापारी तथा उपभोक्ता के बीच अंतिम कड़ी है जिसकी सहायता से उत्पादित वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित की जाती हैं। फुटकर व्यापारी छोटी मात्रा में वस्तुएं उत्पादक या थोक व्यापारियों से क्रय करके उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। फुटकर व्यापारी की उपस्थिति से उत्पादक को अंतिम उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं का ज्ञान होता है, और उत्पादक वस्तुओं के विद्यमान बाजार अंश को बनाए रखने तथा उसमें विस्तार करने के लिए उपभोक्ता की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं में अनुकूल परिवर्तन करता रहता है। फुटकर व्यापारी की मूल विशेषता यह है कि ये वस्तुएं छोटी छोटी मात्रा में उत्पादक या थोक व्यापारियों से क्रय करके अधिक संख्या में अंतिम उपभोक्ताओं में बेचते हैं जिनकी क्रयशक्ति, रहन-सहन का स्तर, शिक्षा, प्रकृति आदि में भिन्नता होती है। इसीलिए

फुटकर व्यापारी को विभिन्न परिस्थितियों में अपना व्यवहार परिस्थिति के अनुसार तथा ग्राहकों के स्वभाव के अनुसार संतुलित बनाए रखना आवश्यक है।

फुटकर व्यापारी वितरण की शृंखला में थोक व्यापारी तथा अंतिम उपभोक्ताओं के बीच का मध्यस्थ है। इसके द्वारा निम्न सेवाएं प्रस्तुत की जाती हैं।

फुटकर व्यापारी के सामान्य कार्य

थोक व्यापारी की ही भांति फुटकर व्यापारी भी विपणन के कुछ कार्यों को आंशिक रूप से निष्पादित करता है। ये कार्य निम्नलिखित हैं :

1. फुटकर व्यापारी भी वस्तुओं के एकत्रीकरण का कार्य करता है क्योंकि उसे विभिन्न थोक व्यापारियों से वस्तुएं क्रय करके केंद्रीय स्थान में एकत्रित करनी पड़ती हैं।

2. जिन वस्तुओं का श्रेणीकरण थोक व्यापारी द्वारा नहीं किया जाता है फुटकर व्यापारी उनका श्रेणीकरण करके वितरण को सहज बनाता है।

3. वस्तुओं को विभिन्न थोक व्यापारियों से क्रय करके उन्हें अपने भंडार तक लाना पड़ता है।

4. ग्राहकों को निरंतर वस्तुओं की पूर्ति के लिए फुटकर व्यापारी को अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएं स्टाक के रूप में सुरक्षित रखनी पड़ती हैं।

5. फुटकर व्यापारी का मुख्य कार्य वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं को वेचना है क्योंकि वितरण की शृंखला में वह अंतिम मध्यस्थ है।

फुटकर व्यापारी की थोक व्यापारी के प्रति सेवाएं

उपर्युक्त सामान्य कार्यों के अतिरिक्त फुटकर व्यापारी वितरण शृंखला में थोक व्यापारी को निम्न विशिष्ट सेवाएं प्रदान करता है।

1. वस्तु के ग्राहकों एवं बाजार के संबंध में आवश्यक जानकारी प्रदान करना, फुटकर व्यापारी चूंकि ग्राहकों के प्रत्यक्ष संपर्क में रहता है इसीलिए उसे ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है जिसका थोक व्यापारी एवं उत्पादक दोनों लाभ उठा सकते हैं।

2. फुटकर व्यापारी वस्तुओं की मांग में संभावित परिवर्तनों की थोक व्यापारी को समय समय पर सूचना देता रहता है।

3. इसके साथ ही साथ फुटकर व्यापारी वस्तुओं की मांग का अनुमान लगाकर भी थोक व्यापारी को उसके बारे में जानकारी प्रदान करता है।

4. फुटकर व्यापारी वस्तुओं का अंतिम उपभोक्ताओं में मौखिक रूप से विज्ञापन भी करता है क्योंकि अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि वह संभावित ग्राहकों को नई नई वस्तुओं के बारे में या विद्यमान वस्तुओं में किए गए अनुकूल परिवर्तनों के बारे में ग्राहकों को जानकारी दे।

फुटकर व्यापारी की ग्राहकों के प्रति सेवाएं

फुटकर व्यापारी वितरण की शृंखला में उत्पादक तथा थोक व्यापारी को सेवाएं प्रदान करने के साथ साथ अंतिम उपभोक्ताओं की भी महत्वपूर्ण ढंग से सेवा करता है।

1. अंतिम उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएं निरंतर अपनी सुविधानुसार फुटकर व्यापारी से क्रय कर सकता है।

2. फुटकर व्यापारी की विद्यमानता के कारण अंतिम उपभोक्ता को विभिन्न किस्म की वस्तुओं में से वस्तु का चुनाव करने का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि फुटकर

व्यापारी एक ही प्रकार की वस्तुओं की विभिन्न किस्में अपने पास रखता है।

3. फुटकर व्यापारी के माध्यम से व्यस्त ग्राहकों को उत्पादक द्वारा समय समय पर उत्पादित नई वस्तुओं के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

4. फुटकर व्यापारियों से अंतिम उपभोक्ताओं को वस्तुएं आसानी से प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि अधिकांश दशाओं में फुटकर व्यापारी अपने विक्रय केंद्र उपभोक्ताओं के समीप स्थापित करते हैं।

5. फुटकर व्यापारी के द्वारा वस्तुओं के उपभोक्ताओं को वस्तु की उपयोगिता, विशेषता आदि के बारे में निश्शुल्क सलाह भी दी जाती है, क्योंकि ग्राहक सदैव एक ही फुटकर व्यापारी से वस्तुएं क्रय करने से उससे भलीभांति परिचित हो जाता है।

6. फुटकर व्यापारी ग्राहकों को वस्तुएं उधार बेचकर उनको आर्थिक सहायता पहुंचाता है और दूसरी ओर अपनी बिक्री की मात्रा बढ़ा सकता है।

7. फुटकर व्यापारी अंतिम उपभोक्ताओं को वस्तुएं बेचने के अतिरिक्त उन्हें अन्य आवश्यक सेवाएं प्रदान करता है जैसे, वस्तुओं के पैक करने की व्यवस्था तथा उनको ग्राहकों के घर तक पहुंचाने की व्यवस्था।

8. इसके अतिरिक्त आज के व्यावसायिक युग में फुटकर व्यापार भी बड़े पैमाने पर किया जाता है जिससे ग्राहकों को अपनी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएं एक ही विक्रय भंडार से प्राप्त हो जाती हैं। विभागीय भंडार इसका अच्छा उदाहरण है। इन भंडारों की मौजूदगी से निश्चित रूप में वस्तुएं क्रय करने में ग्राहकों के समय की बचत होती है।

फुटकर व्यापार के भेद

फुटकर व्यापारी वितरण की श्रृंखला में प्रधान मध्यस्थ समझा जाता है, क्योंकि वह वस्तुओं का वितरण अंतिम उपभोक्ताओं में करता है जो तुलनात्मक रूप से अन्य मध्यस्थों के कार्य से अधिक जटिल है। फुटकर व्यापार विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत संचालित किया जाता है। व्यवहार में फुटकर व्यापार को विभिन्न दृष्टिकोणों से अलग अलग वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। स्थिति के दृष्टिकोण से फुटकर व्यापारियों को दो भागों में विभक्त किया गया है: (अ) स्थिर फुटकर व्यापारी, (ब) गतिशील फुटकर व्यापारी।

स्थिर फुटकर व्यापारी : इस प्रकार के फुटकर व्यापारी विशिष्ट स्थानों में विक्रय भंडार स्थापित करके छोटी मात्रा में वस्तुएं तिम अंउपभोक्ताओं को बेचते हैं। इनके द्वारा उपभोक्ताओं को मुख्य रूप से उनकी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं बेची जाती हैं, इन भंडारों की स्थिति ग्राहकों की आवश्यकता, प्रतिस्पर्धा, जनसंख्या आदि तत्वों पर निर्भर रहती है, इस प्रकार के भंडार घनी आबादी वाले शहरों के केंद्रीय स्थानों तथा आवास बस्तियों के समीप स्थापित किए जाते हैं। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप सबसे अधिक प्रचलित है।

गतिशील फुटकर व्यापारी : फुटकर व्यापार का यह रूप प्राचीनतम है और आधुनिक युग तक काफी प्रचलित है। गतिशील फुटकर व्यापारी किसी विशिष्ट स्थान में स्थित नहीं रहते हैं। वे अल्प मात्रा में वस्तुएं ग्राहकों के घर तक ले जाकर बेचते हैं। इनसे ग्राहकों को सुविधापूर्वक वस्तुएं घर पर ही उपलब्ध हो जाती हैं। जैसे सब्जी, फल, कपड़े एवं बरतन आदि।

इस प्रकार के फुटकर व्यापारी शहरों में तथा विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक प्रचलित हैं। इन व्यापारियों के द्वारा मौसमी वस्तुओं का व्यापार भी किया जाता है तथा समयानुसार वस्तु की मांग में परिवर्तन के फलस्वरूप ये मौसमी वस्तुओं के बजाय अन्य वस्तुएं बेचना प्रारंभ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त ये व्यापारी वस्तुओं के साप्ता-

हिक, अर्धमासिक या मासिक बाजारों में भी वस्तुओं का विक्रय करते हैं।

फुटकर व्यापार का यह स्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि देश की अधिकांश जनता गांवों में रहती है जहां अभी तक न तो पर्याप्त यातायात के साधन विकसित हो पाए हैं और न ही बड़े-बड़े व्यापारी पर्याप्त मात्रा में वस्तुएं उपलब्ध करा सकते हैं। अत: ग्रामीण क्षेत्रों तक वस्तु का छोटी छोटी मात्रा में वितरण करने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों से लोग अल्पमात्रा में वस्तुओं को क्रय करने के लिए दूर स्थित शहर तक नहीं आ पाते हैं।

विभिन्न फुटकर व्यापारियों द्वारा किए जाने वाले क्रय-विक्रय के पैमाने के दृष्टिकोण से इनको पुन: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: (अ) छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार, (ब) बड़े पैमाने का फुटकर व्यापार।

छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार

फुटकर व्यापार का यह स्वरूप काफी प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। हालांकि फुटकर व्यापार में बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की तुलना में यह कम महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है फिर भी देश के ग्रामीण क्षेत्रों तक वस्तुएं वितरित करने में इससे काफी सहायता मिली है, छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार के अंतर्गत फुटकर व्यापार को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है।

गतिशील फुटकर व्यापारी : ये व्यापारी थोड़ी थोड़ी मात्रा में वस्तुएं शहरों से या नजदीक बाजार से क्रय करके उन्हें ग्राहकों के निवास स्थान तक ले जाकर बेचते हैं। गतिशील फुटकर व्यापार विशेष रूप से उस समय प्रचलित था जबकि देश में यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। अब धीरे धीरे फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अप्रचलित होता जा रहा है। इस स्वरूप की मुख्य कमी यह रही है कि इसके अंतर्गत व्यापारी ग्राहकों को केवल कुछ गिनी चुनी किस्म की वस्तुएं प्रस्तुत कर पाते हैं और जिससे ग्राहक को किस्मों की चुनाव की सुविधा नहीं मिलती है।

स्वतंत्र पृथक भंडार (इंडिपेंडेंट यूनिट स्टोर) : इन भंडारों का विकास फुटकर व्यापार के विकास के साथ ही प्रारंभ हुआ है और आधुनिक युग में भी इन्हें संख्या एवं उपयोगिता की दृष्टि से फुटकर व्यापार में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनकी स्थापना अधिकांश दशाओं में ऐसे सुविधाजनक स्थानों में की जाती है जहां ग्राहक आसानी से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं इन भंडारों से क्रय कर सकें। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप एकल व्यापार के अंतर्गत संचालित किया जाता है क्योंकि इन भंडारों द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय छोटे पैमाने पर किया जाता है। इन भंडारों के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार तथा व्यापार से संबंधित जोखिम एक ही व्यक्ति के पास रहता है। इन भंडारों के संचालन के लिए तुलनात्मक रूप से कम पूंजी की आवश्यकता होती है क्योंकि इन भंडारों में आमतौर से कम मूल्य वाली वस्तुएं बेची जाती हैं।

सामान्य भंडार (जनरल स्टोर) : सामान्य भंडारों द्वारा भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएं ग्राहकों को बेची जाती हैं, यह इन भंडारों की लोकप्रियता का मुख्य कारण है। इनकी स्थापना मुख्य रूप से आवास बस्तियों में की जाती है, ताकि उन बस्तियों में रहने वाले विभिन्न लोगों को दैनिक आवश्यकता तथा तात्कालिक आवश्यकता की वस्तुएं इन भंडारों से प्राप्त हो सकें, और उन्हें इन वस्तुओं को क्रय करने के लिए शहर तक न जाना पड़े। इन भंडारों की स्थापना भी आमतौर से एकल व्यापारी द्वारा ही की जाती है। सामान्य भंडार एवं स्वतंत्र पृथक भंडार लगभग एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इनमें मूल अंतर स्थिति का है, स्वतंत्र पृथक भंडार मुख्य रूप से शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित होते

हैं, जबकि सामान्य भंडार आवास बस्तियों में अधिक प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र पृथक भंडार सामान्य भंडारों की तुलना में कम मूल्य की वस्तुएं बेचने के लिए अधिक प्रचलित हैं।

एक पंक्ति वस्तु भंडार (सिंगल लाइन प्रोडक्ट स्टोर) : यह ऐसा वस्तु भंडार है जिसके द्वारा एक ही पंक्ति की विभिन्न वस्तुएं ग्राहकों को बेची जाती हैं जैसे जूते की दूकान, कपड़े की दूकान, दवाइयों की दूकान आदि। ऐसे भंडार मुख्य रूप से शहरों में स्थापित किए जाते हैं, इनको भी सामान्य भंडारों की भांति संचालित किया जाता है।

विशिष्टता भंडार (स्पेसियलिटी स्टोर) : विशिष्टता भंडार एक पंक्ति वस्तु भंडार का अधिक विशिष्ट रूप है। इन भंडारों द्वारा एक पंक्ति में कुछ ही वस्तुओं का व्यापार किया जाता है। इन भंडारों की स्थापना भी मुख्य रूप से बड़े बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में की जाती है, ताकि भंडारों के आसपास के समस्त ग्राहक अपनी आवश्यकता की विशिष्ट वस्तुएं इन भंडारों से क्रय कर सकें। इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इन भंडारों में आमतौर से मध्य आय वर्ग एवं ऊंची आय वर्ग के उपभोक्ताओं की वस्तुओं का व्यापार किया जाता है।

फुटकर व्यापार के क्षेत्र में विस्तार के फलस्वरूप अब विभिन्न विशेषताओं के बड़े पैमाने के भंडारों की स्थापना अधिक प्रचलित है (विशेष रूप से पूर्ण विकसित देशों में) फिर भी छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार वितरण के क्षेत्र में बड़े पैमाने के फुटकर व्यापार का पूरक एवं सहायक है।

बड़े पैमाने का फुटकर व्यापार

कालांतर में औद्योगिक क्षेत्र में हुई उन्नति के फलस्वरूप बड़े पैमाने के उत्पादन को सफल बनाने के लिए फुटकर व्यापार के पैमाने में वृद्धि आवश्यक समझी गई। क्योंकि वस्तुओं के वितरण में फुटकर व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है; हालांकि छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार द्वारा थोक व्यापारियों को एवं अंतिम उपभोक्ताओं को प्रदान की गई सेवाओं, सुविधाजनक स्थानों में इनकी स्थिति, स्थापना की सरलता, दूर-दूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं को वस्तुओं का वितरण, आदि संपूर्ण वितरण के क्षेत्र के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी इनके विकास एवं विस्तार में निहित बाधाएं पूंजी की अपर्याप्तता एवं सीमित प्रबंधकीय क्षमता आदि बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का आधार बनीं। आज हमें शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित बड़े बड़े फुटकर भंडार वस्तुओं के वितरण के अतिरिक्त कई अन्य सेवाएं भी प्रदान कर रहे हैं, इन बड़े बड़े भंडारों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(अ) श्रृंखलाबद्ध दूकानें (चेन स्टोर),
(ब) विभागीय भंडार (डिपार्टमेंटल स्टोर),
(स) डाक द्वारा व्यापार,
(द) सुपर बाजार,
(य) डिस्काउंट हाउसेज।

श्रृंखलाबद्ध दूकानें : यदि एक ही पंक्ति की वस्तुओं का विक्रय करने के लिए दो या दो से अधिक भंडार केंद्रीय नियंत्रण, शासन एवं स्वामित्व के अंतर्गत स्थापित किए जाएं तो इन्हें श्रृंखलाबद्ध दूकानें या बहु-विभागीय भंडार कहा जाता है। इस प्रकार के भंडार एक ही शहर में विभिन्न स्थानों पर वस्तुओं का विक्रय करने के लिए स्थापित किए जा सकते हैं और कई शहरों के विभिन्न स्थानों पर इनकी स्थापना की जा सकती है, केंद्रीय स्वामित्व,

नियंत्रण एवं शासन का अभिप्राय यह है कि ये समस्त भंडार एक ही संस्था अथवा कंपनी के स्वामित्व, प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में स्थापित एवं संचालित किए जाते हैं।

इन भंडारों के द्वारा एक ही पंक्ति की वस्तुएं विक्रय की जाती हैं क्योंकि इनकी स्थापना अधिकांश दशाओं में उत्पादक या थोक व्यापारियों द्वारा की जाती है, शृंखलाबद्ध दूकानें प्रायः संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत स्थापित एवं संचालित की जाती हैं क्योंकि इस स्वरूप से व्यापार के लिए बड़ी मात्रा में पर्याप्त पूंजी एवं आवश्यक प्रबंधकीय क्षमता उपलब्ध हो सकती है। हालांकि इन दूकानों के द्वारा आम उपभोग की एक ही पंक्ति की वस्तुएं विक्रय की जाती हैं पर अभी तक इनकी स्थापना केवल बड़े बड़े शहरों में ही की जाती रही है। ग्रामीण क्षेत्र इनकी सेवाओं से वंचित रहे हैं।

शृंखलाबद्ध दूकानों की मुख्य रूप से निम्न विशेषताएं हैं।

(अ) इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार एक ही संस्था या कंपनी के पास होता है।

(ब) शृंखलाबद्ध दूकानों के द्वारा विभिन्न स्थानों में एक ही पंक्ति की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है।

(स) फुटकर व्यापार के इस स्वरूप में उत्पादन कार्य वितरण कार्य से जुड़ा रहता है क्योंकि शृंखलाबद्ध दूकानों की स्थापना अधिकांश दशाओं में उत्पादकों द्वारा की जाती है।

(द) केंद्रित क्रय तथा विकेंद्रित विक्रय शृंखलाबद्ध दूकानों के लिए वस्तुओं का उत्पादन या क्रय तो केंद्रीय रूप से किया जाता है जबकि ये भंडार विभिन्न स्थानों में वस्तुओं का विक्रय करते हैं।

(य) सामान्य तौर से शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं नकद के रूप में बेची जाती हैं।

(र) इन दूकानों द्वारा केवल विक्रय कार्य किया जाता है, और अन्य विपणन कार्य, जैसे वस्तुओं का यातायात, संग्रहण, मूल्य निर्धारण, विज्ञापन आदि केंद्रीय रूप से संस्था स्वयं निष्पादित करती है।

(ल) समस्त शृंखलाबद्ध दूकानों की सजावट लगभग एक सी होती है क्योंकि, इनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण एक ही संस्था द्वारा चलाया जाता है।

शृंखलाबद्ध दूकानों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सामान्य केंद्रीय संस्था द्वारा किया जाता है जिसकी संरचना संचालक मंडल की भांति होती है क्योंकि बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह रूप संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत संचालित एवं संगठित किया जाता है। केंद्रीय संस्था या संचालक मंडल के अधीन विभिन्न विभागों के अध्यक्ष एवं जिला स्तर प्रबंधक कार्य करते हैं। केंद्रीय संस्था द्वारा मूल नीतियों एवं उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। इन नीतियों को विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के माध्यम से जिला स्तरीय प्रबंधकों द्वारा क्रियान्वित कराया जाता है। इसके अतिरिक्त जिला स्तरीय प्रबंधकों को कार्य करने के आवश्यक अधिकार सौंप दिए जाते हैं तथा उनके कार्य का नियंत्रण एवं निदेशन संबंधित विभागाध्यक्ष द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त समय समय पर वस्तुओं के स्टाक का निरीक्षण कर लिया जाता है, तथा बिक्री से संबंधित विवरणों एवं ब्यौरों की जांच कर ली जाती है।

शृंखलाबद्ध दूकानों से निम्न लाभ हैं :

1. शृंखलाबद्ध दूकानों को वस्तुओं के क्रय में मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं, क्योंकि समस्त दूकानों के लिए वस्तुएं केंद्रीय रूप से बड़ी मात्रा में क्रय की जाती हैं।

2. शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्य पर बेची जाती हैं,

फुटकर व्यापार के इस स्वरूप में उत्पादन कार्य वितरण कार्य से जुड़ा रहता है और वितरण तथा उत्पादन दोनों क्षेत्रों में विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त की जाती हैं।

3. श्रृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुओं के विक्रय में मूल्य वसूली की कठिनाई एवं बट्टे खाते की संभावना नहीं रहती है, और व्यापार के लिए अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि इन दूकानों के द्वारा वस्तुएं नकद बेची जाती है।

4. श्रृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं बेचने के लिए किए गए विज्ञापन व्यय तुलनात्मक रूप से बहुत ही कम होते हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा एक ही प्रकार की तथा प्रमापीकृत वस्तुएं बेची जाती हैं और सभी दूकानों के लिए केंद्रीय रूप से विपणन किया जाता है।

5. फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था के अंतर्गत संस्था आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र वस्तुओं की विशेषताओं में ग्राहकों की बदलती आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के अनुकूल परिवर्तन कर सकती है क्योंकि संस्था को अपनी दूकानों के माध्यम से समय समय पर ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करती रहती है।

6. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति में संतुलन बनाए रखकर मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है क्योंकि यदि किसी एक क्षेत्र में स्थानीय कारणों से वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाए तो उसी क्षेत्र में स्थित अन्य दूकानों से शीघ्र वस्तुएं यातायात करके मांग की पूर्ति कर ली जाती है।

7. व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि श्रृंखलाबद्ध दूकानों की स्थिति एवं सजावट आकर्षक होती है जिसके फलस्वरूप ग्राहक प्रेरित होकर शीघ्र वस्तु क्रय करने के लिए इच्छुक हो जाता है।

श्रृंखलाबद्ध दूकानों की कमियां व दोष निम्नलिखित हैं :

1. व्यवहार में यह पाया जाता है कि श्रृंखलाबद्ध दूकानें ग्राहकों के लिए अधिक सुविधाजनक नहीं होती हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा केवल एक ही पंक्ति की वस्तु बेची जाती है और ग्राहकों को अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं दूसरे भंडारों से क्रय करनी पड़ती हैं।

2. इन दूकानों के माध्यम से वस्तुएं बेचने में संबंधित कर्मचारी अपनी रचनात्मक शक्तियों एवं व्यक्तिगत ज्ञान का प्रयोग नहीं कर पाते हैं क्योंकि इन दूकानों के समस्त कर्मचारियों को पूर्णतया संचालक मंडल द्वारा जारी आदेशों एवं निर्देशों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। इससे उनकी कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है।

3. वितरण कार्य उत्पादन कार्य से संलग्न होने के कारण इन दोनों क्षेत्रों में सतुलन एवं समन्वय बनाए रखना काफी जटिल है, क्योंकि ज्यों ज्यों संस्था के व्यवसाय में विस्तार एवं वृद्धि होती है प्रबंधकीय क्रिया उतनी ही अधिक पेचीदा होती जाती है।

4. श्रृंखलाबद्ध दूकानों के द्वारा ग्राहकों को व्यक्तिगत सेवाएं प्रदान नहीं की जाती हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा न तो वस्तुएं उधार में ही बेची जाती हैं और न ही उनकी सुपुर्दगी आदि की व्यवस्था की जाती है।

5. श्रृंखलाबद्ध दूकानों में ग्राहकों की व्यक्तिगत देखभाल नहीं की जाती है क्योंकि इनके व्यवसाय का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है और समस्त दूकानों में वेतनभोगी कर्मचारी कार्य करते हैं जिनमें ग्राहकों के प्रति व्यक्तिगत रुचि का अभाव पाया जाता है।

श्रृंखलाबद्ध दूकानों का उद्गम एवं विकास इंग्लैंड एवं अमरीका में साथ ही साथ सबसे पहले हुआ है, इंग्लैंड में इनको बहु विभागीय भंडार (मल्टिपल स्टोर) कहा जाता है। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अमरीका तथा अन्य देशों में श्रृंखलाबद्ध दूकानों के नाम से प्रचलित है, भारत में इनका विकास काफी आधुनिक है क्योंकि अभी तक

उत्पादन कार्य को वितरण की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, उत्पादन की पर्याप्तता में ही वितरण के नए स्वरूपों का विकास संभव है, शृंखलाबद्ध दूकानों में 'बाटा शूज कंपनी', 'देहली क्लाथ मिल', 'जय इंजीनियरिंग कंपनी' आदि प्रमुख हैं, इन संस्थाओं की स्थापना एवं संचालन निजी कंपनी के रूप में किया गया है, और इनमें उत्पादन की प्राथमिकता को ध्यान में रखते हुए उत्पादन कार्य वितरण कार्य से संलग्न है, बढ़ती हुई जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए जनता के रहन सहन के स्तर में सुधार लाने के लिए ग्राहकों एवं उत्पादकों के बीच वितरण के मध्यस्थों को कम करके ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने के लिए और बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं वितरण की मितव्ययताएं प्राप्त करके वस्तुओं के वितरण को सहज एवं सुगम बनाने के लिए भारतवर्ष जैसे देश में इनका विकास एवं विस्तार आवश्यक है, इससे औद्योगिक विकास की गति तीव्र की जा सकती है और उपभोक्ताओं को व्यापारिक मध्यस्थों के शोषण से बचाया जा सकता है बशर्ते शृंखलाबद्ध दूकानों की स्थापना बड़े बड़े शहरों तक सीमित न रखी जाए और वितरण जाल को समूचे देश में फैलाने के लिए इनकी स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों में भी की जाए। वितरण की इस महत्वपूर्ण व्यवस्था को सुचारु रूप से तथा कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि वेतनभोगी कर्मचारियों के लिए कार्य रोचक बनाने हेतु उन्हें कुछ सीमा तक कार्य में स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए और उनको अधिक परिश्रम तथा लगन से कार्य करने के लिए आवश्यक प्रेरणा दी जानी चाहिए।

विभागीय भंडार (डिपार्टमेंटल स्टोर) : यदि एक ही स्थान में, एक ही भवन में, एक ही संस्था के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अंतर्गत स्थापित विभिन्न विभाग विभिन्न वस्तुएं ग्राहकों को विक्रय करें तो फुटकर व्यापार के इस स्वरूप को विभागीय भंडार कहा जाता है, विभागीय भंडार पृथक स्वतंत्र भंडारों का संयुक्त रूप समझा जा सकता है, क्योंकि पृथक स्वतंत्र भंडार अलग अलग व्यक्तियों के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में होते हैं जबकि विभागीय भंडार व्यवस्था में वस्तुओं के विक्रय के लिए स्थापित समस्त विभाग एक ही छत के नीचे केंद्रीय स्वामित्व, संचालन एवं नियंत्रण में रहते हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत एक ही संस्था के विभिन्न विभागों द्वारा ग्राहकों की आवश्यकता की तमाम वस्तुएं प्रदान की जाती हैं। इन भंडारों की स्थापना अधिकांश दशाओं में शहरों के घनी आबादी वाले केंद्रीय स्थानों में की जाती है ताकि इन स्थानों तक आकर ग्राहक अल्प समय में ही अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं क्रय कर सके।

विभागीय भंडारों में निम्न विशेषताएं होती हैं :

1. इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके द्वारा ग्राहकों की आवश्यकता की लगभग समस्त वस्तुएं विक्रय की जाती हैं, और ग्राहकों को अलग अलग वस्तु क्रय करने के लिए अलग अलग स्थानों तक नहीं जाना पड़ता।

2. फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न वस्तुएं बेचने के लिए अलग अलग विभाग स्थापित किए जाते हैं जिनका स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण केंद्रीय रूप से एक ही संस्था के पास होता है।

3. बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अधिकांश दशाओं में थोक व्यापार से संलग्न रहता है।

4. विभागीय भंडारों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं की बड़े पैमाने पर बिक्री करना है।

5. विभागीय भंडारों के द्वारा वस्तुओं के व्यापार के अतिरिक्त ग्राहकों को नाना प्रकार की अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं, क्योंकि इन भंडारों में वाचनालय,

पोस्ट आफिस, टेलीफोन, होटल आदि की भी उचित व्यवस्था रहती है।

6. ये भंडार मुख्य रूप से मध्य आय वर्ग तथा उच्च आय वर्ग के सदस्यों की आवश्यकताओं की वस्तुएं विक्रय करने में अधिक उपयुक्त एवं सफल सिद्ध हुए हैं।

विभागीय भंडारों की स्थापना भी मुख्य रूप से संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत की जाती है क्योंकि इन भंडारों द्वारा बड़े पैमाने पर बिक्री कार्य किया जाता है जिसके लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। शृंखलाबद्ध दूकानों की भांति विभागीय भंडारों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के लिए संचालक मंडल की संरचना की जाती है, और विभिन्न विभागों के कार्य के सुचारु संचालन के लिए प्रबंध संचालक के नियंत्रण में विभिन्न विभागीय प्रबंधक कार्य करते हैं। प्रत्येक विभाग के प्रबंधक द्वारा विभाग में किए जाने वाले क्रय-विक्रय को संचालित एवं नियंत्रित किया जाता है, और विभागीय खाते पृथक रूप से रखे जाते हैं, इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग से संबंधित सामान्य कार्य जैसे, संग्रहण, विज्ञापन, बिक्री, मूल्य वसूली आदि कार्य केंद्रीय विभाग द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। विभागीय भंडारों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए सामान्य तौर से निम्न अतिरिक्त विभागों की स्थापना की जाती है।

(अ) वस्तु विभाग— वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने के लिए।

(ब) संग्रहण विभाग—वस्तुओं को सुरक्षित तथा उनकी सुपुर्दगी की व्यवस्था करने के लिए।

(स) वित्त विभाग—वित्तीय कार्यों को निष्पादित करने के लिए।

(द) कर्मचारी विभाग—कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, वेतन आदि की व्यवस्था करने के लिए।

(य) केंद्रीय विभाग—समस्त भंडारों से संबंधित सामान्य अंशों को निष्पादित करने के लिए।

विभागीय भंडारों से निम्नलिखित लाभ हैं :

1. बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था का सबसे प्रमुख लाभ यह है कि ग्राहक अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं अल्प समय में ही सुविधापूर्वक एक ही स्थान पर क्रय कर सकता है क्योंकि विभागीय भंडारों के विभिन्न विभागों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बेची जाती हैं, और ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने के लिए अलग अलग स्थानों पर नहीं जाना पड़ता है।

2. इन भंडारों के प्रति ग्राहकों का आकर्षण बना रहता है, क्योंकि ये ग्राहकों को अतिरिक्त सेवाएं भी उपलब्ध कराते हैं, जैसे वाचनालय की सुविधा, होटल आदि की व्यवस्था इत्यादि। इन अतिरिक्त सेवाओं से ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने में सुविधा बनी रहती है।

इन सुविधाओं के अतिरिक्त ग्राहकों को उधार बिक्री, वस्तुओं की सुपुर्दगी की व्यवस्था आदि सेवाओं का लाभ भी इन भंडारों से प्राप्त हो सकता है।

3. विभागीय भंडारों द्वारा वस्तुओं का क्रय वैज्ञानिक ढंग से बड़ी मात्रा में किया जाता है और क्रय संबंधी समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं को वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों में प्राप्त हो सकती हैं।

4. विभागीय भंडारों की स्थिति सुविधाजनक होती है क्योंकि ये भंडार मुख्य रूप से बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थापित किए जाते हैं जहां अधिक संख्या में ग्राहक अन्य कार्यों के लिए भी आते रहते हैं।

5. विभागीय भंडारों के विभिन्न विभागों की स्थिति एवं सजावट इस प्रकार से व्यवस्थित की जाती है कि ज्योंही ग्राहक एक वस्तु को क्रय करने के लिए विभाग में

प्रवेश करता है वह सामने दूसरे विभाग की सजावट से आकर्षित होकर अन्य वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रेरित होता है। इसके अतिरिक्त समस्त संबंधित विभाग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इससे भी ग्राहक एक वस्तु क्रय करके उससे संबंधित या पूरक अन्य वस्तुएं क्रय करने के लिए आकर्षित होता है।

6. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न विभाग एक ही भवन में स्थित रहने से समस्त विभागों में कार्यरत कर्मचारियों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जा सकता है, और उनकी कठिनाइयों तथा समस्याओं का आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र समाधान किया जा सकता है।

7. इन भंडारों की स्थापना मुख्य रूप से बड़े पैमाने पर वस्तुओं की बिक्री करने के लिए की जाती है, इसीलिए इनकी स्थापना घनी आबादी वाले शहरी क्षेत्रों के केंद्रीय स्थानों पर की जाती है, ताकि वस्तुओं की अधिक मात्रा में बिक्री करके बड़े पैमाने पर वितरण के लाभ प्राप्त किए जा सकें, इसके अतिरिक्त विभिन्न विभागों से संबंधित सामान्य कार्यों को केंद्रीय रूप से संचालित करने के फलस्वरूप इनसे संबंधित व्ययों में भी मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है।

विभागीय भंडार व्यवस्था की कमियां एवं दोष निम्नलिखित हैं:

1. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत व्यवसायी का ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं रह पाता है क्योंकि प्रत्येक विभाग का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण वेतन-भोगी कर्मचारियों द्वारा किया जाता है और विभागों में वस्तुओं का विक्रय भी इन्हीं कर्मचारियों के द्वारा किया जाता है।

2. विभागीय भंडारों द्वारा जो वस्तुएं विक्रय की जाती हैं उनका विक्रय मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक होता है क्योंकि इन भंडारों द्वारा ग्राहकों को जो अतिरिक्त सेवाएं प्रदान की जाती हैं उनका प्रत्यक्ष प्रभाव वस्तु के विक्रय मूल्य पर पड़ता है।

3. विभागीय भंडारों की स्थिति भी सुविधाजनक नहीं समझी जाती है, क्योंकि ये भंडार शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित रहते हैं जो प्रत्येक ग्राहक के लिए सुविधाजनक नहीं होता है।

4. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न विभाग विभिन्न वस्तुएं बेचते हैं और प्रत्येक विभाग की बिक्री दर एक दूसरे से भिन्न होती है। इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ विभाग बहुत कम बिक्री दर भी संचालित किए जाने आवश्यक हैं, जिसका अंतिम प्रभाव अन्य कुशल विभागों पर पड़ सकता है।

5. इन भंडारों को संचालित करने के व्यय तुलनात्मक रूप से अधिक होते हैं क्योंकि एक ओर तो इन भंडारों द्वारा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए उन्हें अतिरिक्त सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। दूसरी ओर इनकी स्थापना बड़े शहरों के केंद्रीय स्थान में होने के कारण अधिक किराए का भुगतान करना पड़ता है।

विभागीय भंडार सबसे पहले फ्रांस में विकसित हुए। इसके पश्चात धीरे धीरे अन्य यूरोपीय देशों, विशेष रूप से इंग्लैंड आदि में भी यह व्यवस्था प्रचलित होती गई, आज विश्व के लगभग समस्त पूर्ण विकसित एवं विकासशील देशों में विभागीय भंडार प्रचलित हैं। इन भंडारों के विकास में मुख्य रूप से जनता के रहन सहन में सुधार, क्रयशक्ति में वृद्धि, औद्योगिक विकास में बड़े पैमाने पर व्यवसाय का महत्व आदि तत्व कार्यशील रहे हैं, पर भारतवर्ष में फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था को विकसित होने के लिए पूर्ण प्रोत्साहन नहीं मिल पाया है। क्योंकि ये विभागीय भंडार विशेष रूप से समाज के धनी वर्ग के लिए ही अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं जो इनके द्वारा प्रदान की गई अन्य सेवाओं का उपयोग करते हुए वस्तुओं को क्रय करने के लिए अधिक मूल्य का भुगतान करने में नहीं

हिचकते हैं। चूंकि भारतवर्ष में धनी वर्ग के ग्राहक सीमित संख्या में हैं और जनसंख्या के अधिकतम भाग में वह है जिसे सीमित आय में अपनी तमाम आवश्यकताएं पूरी करनी पड़ती हैं, अतः इस प्रकार के ग्राहकों के लिए विभागीय भंडारों द्वारा की जाने वाली सेवाओं एवं सुविधाओं के बजाय वस्तु का विक्रय मूल्य अधिक महत्वपूर्ण होता है। फिर भी वितरण क्षेत्र के पूर्ण विकास के लिए इनको मान्यता दिया जाना अनुचित नहीं समझा जाना चाहिए।

भारतवर्ष में विभागीय भंडार अपने वास्तविक मूल स्वरूप में प्रचलित नहीं है परंतु विभागीय भंडारों से मिलते जुलते भंडार देश के बड़े बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित हैं, जैसे दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि। इनके अप्रचलन का मुख्य कारण यही रहा है कि इन भंडारों की उपयुक्तता समाज के धनी वर्ग तक ही सीमित है।

डाक द्वारा व्यापार भंडार (मेल आर्डर हाउस) : फुटकर व्यापार की यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत व्यापारी ग्राहकों को प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं का विक्रय करने के बजाय डाक के माध्यम से उन्हें वस्तुएं बेचता है। डाक द्वारा पत्र व्यवहार करके ही क्रेता एवं विक्रेता क्रय-विक्रय का लेनदेन तय करते हैं और वस्तुओं की सुपुर्दगी भी डाक द्वारा या कुछ दशाओं में रेलवे द्वारा दी जाती है, वस्तुओं का लेनदेन तय करने के लिए विक्रेता वस्तुओं के बारे में पूर्ण वर्णनात्मक सूची, जिसमें वस्तुओं की किस्म, मूल्य, आकार आदि के बारे में सूचनाएं दी रहती हैं, ग्राहकों को भेजता रहता है और संभावित ग्राहक इस सूची के आधार पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएं क्रय करने के लिए विक्रेता को डाक द्वारा आदेश प्रेषित करता है। विक्रेता वस्तुओं को वैल्यू पेयेबल पार्सल (वी० पी० पी०) अथवा रजिस्टर्ड पार्सल द्वारा भेज देता है, ताकि क्रेता को वस्तुओं की सुपुर्दगी देते समय ही उसका मूल्य विक्रेता डाक के माध्यम से प्राप्त कर सके। इस प्रकार वस्तुओं के क्रय-विक्रय की व्यवस्था में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं।

1. डाक द्वारा वस्तुओं का व्यापार करने में पोस्ट आफिस ही विक्रेता एक क्रेता के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करता है, अन्य व्यापारिक मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

2. इस प्रकार की व्यवस्था से देश के किसी कोने तक, जहां डाक सुविधाएं उपलब्ध हों, वस्तुओं का विक्रय किया जा सकता है।

3. क्रेता एवं विक्रेता के बीच कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं होता है।

4. डाक द्वारा वस्तुओं का व्यापार, व्यवहार में निम्न स्थितियों के अंतर्गत अधिक उपयोगी समझा जाता है।

(अ) वस्तुओं की भौतिक एवं रासायनिक विशेषताएं इस प्रकार की हों जिनके बारे में ग्राहकों को पत्र व्यवहार के द्वारा भलीभांति समझाया जा सके।

(ब) वस्तु का प्रयोग करने के लिए विशिष्ट ज्ञान तथा कुशलता की आवश्यकता न हो।

(स) वस्तु की प्रकृति इस प्रकार की हो कि उसे डाक द्वारा आसानी से भेजा जा सके और नष्ट होने की संभावना कम हो।

(द) इसके अतिरिक्त डाक द्वारा व्यापार उन स्थितियों में भी उपयुक्त समझा जा सकता है जिन स्थितियों में वस्तुओं का वितरण करने के लिए वितरण की शृंखला के मध्यस्थों का सहयोग प्राप्त न किया जा सकता हो।

डाक द्वारा व्यापार से जो लाभ होते हैं, वे इस प्रकार के हैं :

1. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने से क्रेता के समय में बचत होती है, क्योंकि उसे वस्तुएं घर पर ही सुपुर्द कर दी जाती हैं और उसे फुटकर व्यापार भंडारों

तक जाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

2. संभावित क्रेता डाक द्वारा दूर दूर स्थानों पर स्थित व्यवसायी से विशेष रूप से वे वस्तुएं क्रय कर सकता है जो उसे स्थानीय बाजार में उपलब्ध न हों।

3. डाक द्वारा व्यापार में वस्तुओं का विक्रय मूल्य तुलनात्मक रूप से कम होता है क्योंकि एक तो वितरण में व्यापारिक मध्यस्थ नहीं रहते हैं और दूसरे भंडार की सजावट आदि की आवश्यकता नहीं होती है।

4. डाक द्वारा वस्तुएं नकद बिक्री के आधार पर बेची जाती हैं। इससे मूल्य की वसूली में बही खाते की संभावना बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

5. डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था के अंतर्गत ग्राहक प्रत्यक्ष रूप से व्यवसायी से वस्तुएं क्रय कर लेता है और इस प्रकार मध्यस्थों के चंगुल से बचकर कमाया जाने वाला लाभ व्यवसायी तथा ग्राहक आपस में विभाजित कर सकते हैं।

6. उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त डाक द्वारा व्यापार की व्यापकता, विपणन व्ययों में मितव्ययताएं आदि भी इस स्वरूप के लाभ समझे जा सकते हैं।

डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था से कुछ हानि भी हैं जो इस प्रकार हैं :

1. डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने में ग्राहक को वस्तु के व्यक्तिगत निरीक्षण का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है, और वस्तुओं की विशेषताओं आदि के बारे में उसे पूर्णतया वर्णनात्मक सूची पर निर्भर रहना पड़ता है।

2. डाक द्वारा वस्तुएं क्रय करने में ग्राहक का काफी अधिक समय लेनदेन तय करने के लिए किए गए पत्र व्यवहार में नष्ट हो जाता है।

3. इस व्यवस्था के अंतर्गत ग्राहक को उधार बिक्री की सुविधा नहीं मिल सकती है क्योंकि वस्तुओं की सुपुर्दगी प्राप्त करते समय ही मूल्य का भुगतान किया जाता है।

4. डाक द्वारा व्यापार के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने में ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी प्रचलित है क्योंकि विक्रेता कुछ स्थितियों में वर्णनात्मक सूची से घटिया किस्म की वस्तुएं भी भेज देता है।

5. डाक द्वारा व्यापार का प्रयोग कुछ सीमित वस्तुओं के लिए उपयुक्त समझा जाता है जिनकी आवश्यकता ग्राहक भविष्य के लिए कुछ समय तक स्थगित कर सकता है, विशेष रूप से भारी वस्तुएं, मूल्यवान वस्तुएं, फैशन की वस्तुएं तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं इस व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं।

डाक द्वारा व्यापार फुटकर व्यापार का एक विचित्र स्वरूप है। इसका उद्गम एवं विकास सर्वप्रथम अमरीका में हुआ। इस व्यवस्था के विकास में विभिन्न बाधाओं के कारण, विशेष रूप से इसकी सीमित उपयोगिता, लेनदेन तय करने में जटिलता एवं शृंखलाबद्ध दूकानों और विभागीय भंडारों के विकास आदि के कारण इसका प्रचलन दिन प्रतिदिन सीमित होता जा रहा है।

भारतवर्ष में भी डाक द्वारा व्यापार का क्षेत्र काफी सीमित है, क्योंकि व्याप्त व्यावसायिक वातावरण इसके विकास के अनुकूल नहीं है, फिर भी पुस्तकों, दवाइयों तथा शरीर सज्जा की वस्तुओं को इस व्यवस्था के अंतर्गत क्रय किया जाता रहा है। अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं समझी जाती है, भारत में इस व्यवस्था के धीमे विकास के कारण निम्न हैं।

(अ) अभी तक हमारे देश में जनसंख्या का महत्वपूर्ण हिस्सा अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित लोगों का है जो न तो वर्णनात्मक सूची के आधार पर वस्तुओं के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न पत्र व्यवहार करके लेनदेन तय कर सकते हैं।

(ब) व्यवसायियों के नैतिक आचरण एवं मनोबल में कमी भी इस व्यवस्था के

विकास में बाधक सिद्ध हुई है, क्योंकि डाक द्वारा व्यापार के अंतर्गत प्रायः व्यवसायी घटिया किस्म की वस्तुएं ग्राहकों को भेज देते हैं।

(स) डाक द्वारा व्यापार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि इसके माध्यम से कुछ ही सीमित वस्तुओं को क्रय किया जा सकता है, विशेष रूप से आम दैनिक एवं आम उपभोग की वस्तुएं तथा कृषि पदार्थ आदि के लिए यह व्यवस्था पूर्णतया अनुपयुक्त है।

सुपर बाजार: सुपर बाजार फुटकर व्यापार के अंतर्गत एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके माध्यम से व्यवसायी तुलनात्मक रूप से कम लाभ लेकर ग्राहकों को विक्रय कर्मचारियों की सहायता के बिना 'स्वत: सेवा' आधार पर वस्तुओं का विक्रय करता है। सुपर बाजार के द्वारा मुख्य रूप से सब्जियां, फल, दुग्धशाला पदार्थ आदि एक ही भवन में एक ही स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधीन विभिन्न छोटे छोटे विभागों द्वारा विक्रय की जाती है। ग्राहक स्वयं क्रय की जाने वाली वस्तु का चुनाव करके उसे भुगतान विभाग तक लाता है क्योंकि इस व्यवस्था में विक्रय कर्मचारी की सेवाएं उपलब्ध नहीं होती हैं, इस व्यवस्था की विशेषताएं भिन्न हैं :

1. सुपर बाजार में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है, विशेष रूप से किराने की वस्तुएं तथा अन्य खाद्य पदार्थ आदि।

2. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने के लिए ग्राहकों को स्वयं सारे आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं क्योंकि इनमें विक्रय कर्मचारियों की सेवाओं का पूर्ण अभाव होता है।

3. इनकी स्थापना सामान्य तौर से घनी आबादी वाले शहरों के किनारे की जाती है ताकि विभिन्न विभागों के लिए कम किराए पर पर्याप्त स्थान उपलब्ध हो सके।

4. सुपर बाजार मुख्य रूप से निम्न आय वर्ग तथा मध्य आय वर्ग के सदस्यों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध है क्योंकि वे अन्य सुविधाओं की तुलना में वस्तुओं के मूल्य को अधिक महत्व देते हैं।

5. सुपर बाजार द्वारा विशेष रूप से खाद्य पदार्थों की पैकिंग आकर्षक एवं उपयोगी ढंग से की जाती है।

सुपर बाजार के लाभ: 1. सुपर बाजार में विभिन्न प्रकार की कई वस्तुएं एक ही स्थान पर उपलब्ध रहती हैं, जिससे ग्राहकों को पूर्ण सुविधा बनी रहती है और बिक्री गति काफी तेज होती है।

2. सुपर बाजार बड़े पैमाने पर व्यवसाय की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर सकते हैं।

3. सुपर बाजार व्यवस्था को संचालित करने में काफी कम धन खर्च होता है क्योंकि इनकी स्थिति उपयुक्त होते हुए भी शहर के किनारे पर रहती है और जिस स्थान के लिए तुलनात्मक रूप से कम किराए का भुगतान किया जाता है।

4. इसके अतिरिक्त सुपर बाजार में वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों पर बेची जाती हैं, क्योंकि एक तो इनके संचालन व्यय कम होते हैं और इनमें विक्रय कर्मचारियों की सेवाएं उपलब्ध नहीं होती हैं।

दोष: 1. सुपर बाजार की स्थिति व्यवहार में सुविधाजनक नहीं समझी जाती है क्योंकि इनकी स्थापना शहरों के किनारे की जाती है ताकि कम किराए पर पर्याप्त स्थान प्राप्त किया जा सके।

2. सुपर बाजारों में विक्रय कर्मचारियों की सेवाओं का पूर्ण अभाव रहता है, और ग्राहकों को पूर्णतया विज्ञापन तथा सजावट आदि से प्राप्त सूचनाओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इससे उन्हें वस्तुओं के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता है।

सुपर बाजार की व्यवस्था का विकास भी सर्वप्रथम अमरीका में ही हुआ। प्रारंभ में इनकी स्थापना बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार के रूप में की गई। पर्याप्त मानवीय श्रम के अभाव में यह व्यवस्था अभी तक वहां काफी प्रचलित है। इन बाजारों से मिलते जुलते विक्रय भंडारों की स्थापना अमरीका के अतिरिक्त इंग्लैंड, बेल्जियम, स्विट्जरलैंड आदि देशों में भी की गई। जहां तक भारतवर्ष में इनके विकास का प्रश्न है, अभी तक सुपर बाजार के मूल रूप में ये सुपर बाजार अस्तित्व में नहीं आ पाए हैं। पर सुपर बाजार से मिलते जुलते कई विक्रय भंडार बड़े शहरों में स्थापित किए गए हैं। अब इनका प्रचलन दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है यहां तक कि छोटे शहरों में भी इस स्वरूप का विकास होता जा रहा है। सुपर बाजार व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए इनकी स्थापना सरकार द्वारा भी की जा रही है, ताकि इनकी पूर्ण उपयोगिता को बनाए रखा जा सके और जीवन की बुनियादी जरूरतों की वस्तुएं उचित मूल्य पर जनता को उपलब्ध कराई जा सकें। इनके विकास के लिए एक तो सरकारी प्रयत्न सहायक सिद्ध हुए हैं और दूसरी और सहकारिता स्वरूप के अंतर्गत भी इनकी लोकप्रियता बढ़ी है। इनको विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे नया बाजार, सुपर बाजार, सहकारी भंडार, बड़ा बाजार आदि। सहकारिता क्षेत्र में स्थापित सुपर बाजार व्यवस्था विशेष रूप से **कृषि पदार्थों** के वितरण के लिए सहायक सिद्ध हुई है।

डिस्काउंट हाउस : बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह भी एक महत्वपूर्ण स्वरूप है पर इसकी लोकप्रियता पूर्ण विकसित देशों तक ही सीमित है। इन भंडारों के द्वारा विभिन्न विधियों से मितव्ययताएं प्राप्त करके प्रचलित ब्रांड की वस्तुओं का विक्रय निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर किया जाता है। विशेष रूप से अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में डिस्काउंट हाउसों के विकास के फलस्वरूप संपूर्ण वितरण का क्षेत्र प्रभावित हुआ है क्योंकि इस स्वरूप के उद्गम से थोक व्यापारियों तथा बड़े पैमाने के फुटकर व्यापारियों को विशेष रूप से विभागीय भंडारों को अपनी विपणन नीतियां डिस्काउंट हाउसेज से मूल्य की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए पुन: संगठित करनी पड़ीं। इनकी मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

1. डिस्काउंट हाउसेज की मुख्य विशेषता यह है कि ये भंडार वस्तुओं का विक्रय निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर करते हैं जिसके फलस्वरूप अन्य बड़े पैमाने के फुटकर व्यापार के स्वरूपों की तुलना में इनकी बिक्री का आकार बडा होता है।

2. इन भंडारों द्वारा कुछ प्रचलित जाने पहचाने ब्रांडों की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है, और इस प्रकार विज्ञापन आदि व्ययों में मितव्ययता स्वाभाविक है।

3. डिस्काउंट हाउसेज विशेष रूप से प्रचलित ब्रांडों की वस्तुएं मध्यवर्गीय आय वाले ग्राहकों को वेचते हैं।

4. इनकी स्थापना शहरों के बड़े बड़े केंद्रीय स्थानों में की जाती है।

डिस्काउंट हाउसेज से लाभ : 1. डिस्काउंट हाउसेज ग्राहकों को तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों पर वस्तुएं बेचते हैं।

2. इन भंडारों को विज्ञापन आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। क्योंकि इनके द्वारा वेची जाने वाली वस्तुएं काफी प्रचलित तथा जाने पहचाने ब्रांडों की होती हैं।

3. ये हाउसेज वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकों से क्रय करके उन्हें अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं। इसके फलस्वरूप इन्हें बड़े पैमाने पर क्रय की मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं।

4. इसके अतिरिक्त ये भंडार प्रत्यक्ष रूप से वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं और प्राय: इनकी बिक्री का आकार काफी बड़ा है। इससे इन हाउसेज को वितरण के

क्षेत्र में भी विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं।

पर दुर्भाग्यवश इस स्वरूप का विकास अभी तक हमारे देश में नहीं हो पाया है, और इस व्यवस्था के अभाव में प्रचलित ब्रांडों की वस्तुओं का आए दिन बाजार में अभाव बना रहता है। इन हाउसेज की मूल विशेषताओं को दृष्टि में रख कर यह प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था केवल पूर्ण विकसित देशों के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि विकासशील देशों में भी वस्तुओं को उचित मूल्यों पर वितरित करने के लिए यह व्यवस्था निश्चित भूमिका अदा कर सकती है, क्योंकि इनकी मुख्य विशेषता व्यवसाय में हर प्रकार से विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त करके तुलनात्मक रूप से सस्ते मूल्यों पर प्रचलित ब्रांड की वस्तुएं ग्राहकों को उपलब्ध कराना है। भारतवर्ष में अभी तक सुव्यवस्थित वितरण व्यवस्था का अभाव है, और व्यापक तथा विस्तृत वितरण के माध्यमों के फलस्वरूप वस्तु के मूल्यों में वृद्धि स्वाभाविक है। अतः वितरण के माध्यम को संक्षिप्त बनाने हेतु और वस्तु को उचित लागत पर वितरित करने के लिए इस प्रकार के डिस्काउंट हाउसेज की स्थापना अनुकूल तथा वांछनीय है।

वितरण के माध्यम का चुनाव

वस्तु का वितरण करने के लिए किस माध्यम का चुनाव किया जाए ताकि वस्तु को सहजता एवं सुगमता से उचित लागत पर वितरित किया जा सके यह वास्तव में विपणन प्रबंधकर्ता के लिए महत्वपूर्ण समस्या है क्योंकि वितरण के लिए चुने गए माध्यम का विपणन की अन्य क्रियाओं पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार वितरण के माध्यम का चुनाव कर लिया जाए तो उसे आसानी से परिवर्तित करना न तो संस्था की ख्याति के लिए उचित है और न ही उपभोक्ताओं के लिए सुविधाजनक है। इसीलिए वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि माध्यम केवल वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल तथा उपयुक्त न हो, बल्कि उसमें आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन करके उसे संतुलित बनाए रखा जा सके। वस्तु के वितरण के लिए माध्यम का चुनाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित होता है अतः उपयुक्त माध्यम का चुनाव करने में इन तत्वों के संभावित प्रभाव को भी भलीभांति विश्लेषित किया जाना चाहिए।

वस्तु की प्रकृति एवं उपयोगिता : वस्तु की प्रकृति एवं उसकी उपयोगिता उसके लिए वितरण का माध्यम चुनने में एक महत्वपूर्ण कार्यशील तत्व है क्योंकि जहां एक उत्पादक निर्मित वस्तुओं (मैन्यूफेक्चरिंग गुड्स) को अधिकांश दशाओं में प्रत्यक्ष रूप से या विक्रय एजेंटों के माध्यम से वितरित करता है, वहां दूसरी ओर उपभोक्ता की वस्तुओं (कन्ज्यूमर गुडस) का वितरण संभव बनाने के लिए अलग अलग स्थितियों में अलग अलग मध्यस्थों की सहायता लेता है। वितरण की श्रृंखला में इन मध्यस्थों की संख्या वस्तु की प्रकृति पर निर्भर रहती है, क्योंकि शीघ्र नाशवान वस्तुओं तथा फैशन आदि की वस्तुओं का वितरण करने के लिए वितरण के माध्यम में कम से कम मध्यस्थ होने चाहिए ताकि शीघ्र ये वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित की जा सकें। इसी प्रकार मौसमी वस्तुओं तथा कम मूल्य की वस्तुओं को वितरित करने के लिए उत्पादक अधिकांश दशाओं में थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी को वितरण की श्रृंखला में सम्मिलित करता है, और उन वस्तुओं का वितरण करने के लिए, जिनका प्रयोग तकनीकी प्रकृति का होता है, उत्पादक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी विशिष्ट ज्ञान वाले थोक व्यापारी या फुटकर व्यापारी के द्वारा वस्तुएं वितरित कराए। इसके अतिरिक्त नई वस्तु को वितरित करने के लिए (जिसमें अधिक बिक्रीवर्धक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है) या तो उत्पादक

स्वयं वस्तु का वितरण कर सकता है, या किसी ख्यातिप्राप्त फुटकर व्यापारी के द्वारा इन वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित कर सकता है।

बाजार की प्रकृति : वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय वस्तु के बाजार का गंभीर अध्ययन किया जाना आवश्यक है। बाजार के अध्ययन से अंतिम उपभोक्ताओं की स्थिति, प्रतिस्पर्धा, ग्राहकों की क्रय प्रवृत्ति तथा वस्तु बाजार में व्याप्त अन्य सामान्य प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन सब घटकों का विश्लेषण करके, बाजार में वस्तु की मांग का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तु की मांग जितनी अधिक होगी उसका बाजार भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा और वस्तु को वितरित करने के लिए वितरण के माध्यम भी तदनुसार विस्तृत एवं व्यापक होने चाहिए।

ग्राहक की शिक्षा, आय तथा रहन-सहन का स्तर : वैसे तो ग्राहकों की क्रय शक्ति, रहन-सहन का स्तर तथा शिक्षा का स्तर उनकी क्रय प्रवृत्ति को प्रभावित करता है, पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विभिन्न वर्गों के ग्राहकों के लिए अलग अलग माध्यम उपयुक्त होता है क्योंकि सामान्य तौर से व्यवहार में यह पाया जाता है कि ऊंची आय वाले ग्राहक, जिनकी क्रय शक्ति अधिक होती है और रहन सहन का स्तर ऊंचा होता है, वस्तु के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्य चुकाने को तत्पर रहते हैं। बशर्ते उन्हें वस्तुओं के क्रय में अन्य सुविधाएं जैसे सुपुर्दगी की सुविधा, उचित पैकिंग आदि प्रदान की जाएं, अर्थात इस प्रकार के ग्राहकों के लिए विभागीय भंडार व्यवस्था के माध्यम से वस्तुओं का वितरण उचित होगा। इसके विपरीत मध्य आय वर्ग तथा निम्न आय वर्ग के सदस्य अतिरिक्त सुविधाओं की तुलना में वस्तु के तुलनात्मक मूल्य को अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उनकी आय के साधन सीमित होते हैं। इन स्थितियों में वस्तु के वितरण के लिए या तो उत्पादक स्वयं अपने विक्रय भंडार स्थापित कर सकता है और या कम लागत वाले माध्यम के द्वारा उचित मूल्यों में वस्तुएं वितरित कर सकता है।

वस्तु के वितरण की लागत एवं प्रभावशीलता : जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, वस्तु को वितरित करने के लिए उत्पादक के पास कई माध्यम उपलब्ध हो सकते हैं। अतः इन समस्त माध्यमों में से उपयुक्त माध्यम का चुनाव करते समय माध्यमों की संभावित लागत, और उनकी अनुमानित प्रभावशीलता का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए, और स्वाभाविक रूप से, सामान्यतया यह देखकर माध्यम विशेष का चुनाव किया जाता है कि उसमें लागत व्यय न्यूनतम हो और प्रभावशीलता अधिक हो। हालांकि कुछ स्थितियों में यह भी पाया जाता है कि माध्यम की लागत उसकी प्रभावशीलता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

वितरण नीति : संस्था की वितरण नीति का माध्यम के चुनाव से प्रत्यक्ष संबंध होता है क्योंकि वितरण नीति को क्रियान्वित करने के लिए ही माध्यम की उपयुक्तता ज्ञात की जाती है। यदि संस्था की वितरण नीति विस्तृत एवं व्यापक है तो अधिक से अधिक उपलब्ध माध्यमों का प्रयोग किया जाता है। यह नीति मुख्य रूप से सुविधाजनक वस्तुओं (कन्विनिएंस गुड्स) के लिए प्रयोग की जाती है। इसके विपरीत यदि वितरण नीति विशिष्ट प्रवृत्ति (सेलेक्टिव) की है तो कम संख्या में अधिक से अधिक प्रभावशील वितरण के माध्यम को उपयोग में लाया जाता है, यह नीति किसी विशेष बाजार में विशेष वस्तु के लिए प्रयोग की जा सकती है।

वितरण के माध्यम से प्राप्त सहयोग : वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय वितरण के माध्यम द्वारा प्रस्तावित सहयोग तथा सहायता से भी विपणन प्रबंधकर्ता का निर्णय प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त मध्यस्थ का वस्तु से संबंधित ज्ञान, बाजार में उसकी ख्याति, उसकी आर्थिक स्थिति एवं उसके द्वारा वितरित की जाने वाली अन्य वस्तुओं की

प्रकृति भी वितरण के माध्यम की प्रभावशीलता को प्रभावित करती है। स्वाभाविक रूप से जिसका अंतिम प्रभाव वितरण के माध्यम का चुनाव करने में पड़ता है।

वितरण के क्षेत्र में मध्यस्थों की विद्यमानता

उत्पादित वस्तुएं उत्पादक से अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए अधिकांश दशाओं में कई मध्यस्थों के हाथों से गुजरती हैं। वस्तुओं के वितरण में मध्यस्थ व्यापारी संलग्न रहते हैं। आधुनिक व्यावसायिक युग में व्यवसाय में विस्तार एवं व्यावसायिक क्रिया की जटिलता के कारण उत्पादन कार्य वितरण से पृथक किया जाना कुछ सीमा तक उचित एवं अनुकूल है क्योंकि इससे उत्पादक अपने को पूर्णतया उत्पादन कार्य में ही व्यस्त रख सकता है और उसे बड़े पैमाने पर उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं एवं विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

वितरण में संलग्न इन मध्यस्थ व्यापारियों को कुछ लोग समाज पर आश्रित समझते हैं। उनका मत यह है कि ये मध्यस्थ व्यापारी अपनी सेवाओं के बदले आनुपातिक रूप से अधिक पारितोषिक प्राप्त करके निश्चित रूप से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि लाते हैं जिसका अंतिम प्रभाव वस्तुओं के अंतिम उपभोक्ताओं पर पड़ता है और उन्हें वस्तुओं का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इसीलिए इन मध्यस्थों को वस्तु के विक्रय मूल्य में वृद्धि के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। इससे एक ओर उत्पादक को उचित लाभ का प्रतिशत नहीं मिल पाता है और दूसरी ओर ग्राहकों को अधिक मूल्य का भुगतान करना होता है। विशेष रूप से कृषि पदार्थों के वितरण में इन मध्यस्थ व्यापारियों को कृषकों के शोषण के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है।

व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि विशेष रूप से थोक व्यापारी उत्पादकों से बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके अपने पास संग्रहीत कर लेते हैं और जानबूझकर अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके उनके मूल्य में वृद्धि का लाभ उठा लेते हैं, यह स्थिति भी निश्चित रूप से ग्राहकों के लिए घातक है क्योंकि इससे या तो उपभोक्ता वस्तु के उपभोग से वंचित रहता है या उसे उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए अनुचित रूप से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

कुछ स्थितियों में वितरण की श्रृंखला में संलग्न मध्यस्थ व्यापारियों की संख्या अनावश्यक रूप से अधिक होती है जिससे वितरण का माध्य विस्तृत हो जाता है और वस्तुओं के वितरण में जटिलताएं एवं कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। हालांकि कुछ वस्तुओं के वितरण के लिए स्वाभाविक रूप से वस्तु की प्रकृति वितरण के माध्यम को विस्तृत एवं व्यापक बनाती है।

वितरण श्रृंखला में संलग्न व्यापारिक मध्यस्थ अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से वितरण के क्षेत्र में उन्हीं वस्तुओं के वितरण को प्रोत्साहित करते हैं और प्राथमिकता देते हैं जिनमें उनके लाभ का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से अधिक होता है। मध्यस्थ व्यापारियों की यह प्रवृत्ति उपभोक्ता के लिए हितकर नहीं है। क्योंकि इससे उन वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है जिनमें मध्यस्थ व्यापारियों को लाभ कम मिलता है हालांकि वे वस्तुएं ग्राहक के लिए अधिक उपयोगी हो सकती हैं।

इन कारणों के अतिरिक्त वितरण में मध्यस्थों का महत्व आधुनिक युग में बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार भंडारों की स्थापना से भी कुछ कम हो गया है। क्योंकि ये फुटकर भंडार प्रत्यक्ष रूप से बड़े पैमाने पर उत्पादकों से वस्तु क्रय करके उन्हें अंतिम उपभोक्ताओं तक उचित मूल्य पर पहुंचाने के लिए सहायक सिद्ध हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्रृंखलाबद्ध दूकानों, विभागीय भंडारों एवं सुपर बाजारों की भूमिका

फुटकर व्यापारी को विभिन्न परिस्थितियों में अपना व्यवहार परिस्थिति के अनुसार तथा ग्राहकों के स्वभाव के अनुसार संतुलित बनाए रखना आवश्यक है।

फुटकर व्यापारी वितरण की शृंखला में थोक व्यापारी तथा अंतिम उपभोक्ताओं के बीच का मध्यस्थ है। इसके द्वारा निम्न सेवाएं प्रस्तुत की जाती हैं।

फुटकर व्यापारी के सामान्य कार्य

थोक व्यापारी की ही भांति फुटकर व्यापारी भी विपणन के कुछ कार्यों को आंशिक रूप से निष्पादित करता है। ये कार्य निम्नलिखित हैं :

1. फुटकर व्यापारी भी वस्तुओं के एकत्रीकरण का कार्य करता है क्योंकि उसे विभिन्न थोक व्यापारियों से वस्तुएं क्रय करके केंद्रीय स्थान में एकत्रित करनी पड़ती हैं।

2. जिन वस्तुओं का श्रेणीकरण थोक व्यापारी द्वारा नहीं किया जाता है फुटकर व्यापारी उनका श्रेणीकरण करके वितरण को सहज बनाता है।

3. वस्तुओं को विभिन्न थोक व्यापारियों से क्रय करके उन्हें अपने भंडार तक लाना पड़ता है।

4. ग्राहकों को निरंतर वस्तुओं की पूर्ति के लिए फुटकर व्यापारी को अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएं स्टाक के रूप में सुरक्षित रखनी पड़ती हैं।

5. फुटकर व्यापारी का मुख्य कार्य वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं को बेचना है क्योंकि वितरण की शृंखला में वह अंतिम मध्यस्थ है।

फुटकर व्यापारी की थोक व्यापारी के प्रति सेवाएं

उपर्युक्त सामान्य कार्यों के अतिरिक्त फुटकर व्यापारी वितरण शृंखला में थोक व्यापारी को निम्न विशिष्ट सेवाएं प्रदान करता है।

1. वस्तु के ग्राहकों एवं बाजार के संबंध में आवश्यक जानकारी प्रदान करना, फुटकर व्यापारी चूंकि ग्राहकों के प्रत्यक्ष संपर्क में रहता है इसीलिए उसे ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है जिसका थोक व्यापारी एवं उत्पादक दोनों लाभ उठा सकते हैं।

2. फुटकर व्यापारी वस्तुओं की मांग में संभावित परिवर्तनों की थोक व्यापारी को समय समय पर सूचना देता रहता है।

3. इसके साथ ही साथ फुटकर व्यापारी वस्तुओं की मांग का अनुमान लगाकर भी थोक व्यापारी को उसके बारे में जानकारी प्रदान करता है।

4. फुटकर व्यापारी वस्तुओं का अंतिम उपभोक्ताओं में मौखिक रूप से विज्ञापन भी करता है क्योंकि अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि वह संभावित ग्राहकों को नई नई वस्तुओं के बारे में या विद्यमान वस्तुओं में किए गए अनुकूल परिवर्तनों के बारे में ग्राहकों को जानकारी दे।

फुटकर व्यापारी की ग्राहकों के प्रति सेवाएं

फुटकर व्यापारी वितरण की शृंखला में उत्पादक तथा थोक व्यापारी को सेवाएं प्रदान करने के साथ साथ अंतिम उपभोक्ताओं की भी महत्वपूर्ण ढंग से सेवा करता है।

1. अंतिम उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएं निरंतर अपनी सुविधानुसार फुटकर व्यापारी से क्रय कर सकता है।

2. फुटकर व्यापारी की विद्यमानता के कारण अंतिम उपभोक्ता को विभिन्न किस्म की वस्तुओं में से वस्तु का चुनाव करने का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि फुटकर

व्यापारी एक ही प्रकार की वस्तुओं की विभिन्न किस्में अपने पास रखता है।

3. फुटकर व्यापारी के माध्यम से व्यस्त ग्राहकों को उत्पादक द्वारा समय समय पर उत्पादित नई वस्तुओं के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

4. फुटकर व्यापारियों से अंतिम उपभोक्ताओं को वस्तुएं आसानी से प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि अधिकांश दशाओं में फुटकर व्यापारी अपने विक्रय केंद्र उपभोक्ताओं के समीप स्थापित करते हैं।

5. फुटकर व्यापारी के द्वारा वस्तुओं के उपभोक्ताओं को वस्तु की उपयोगिता, विशेषता आदि के बारे में निश्शुल्क सलाह भी दी जाती है, क्योंकि ग्राहक सदैव एक ही फुटकर व्यापारी से वस्तुएं क्रय करने से उससे भलीभांति परिचित हो जाता है।

6. फुटकर व्यापारी ग्राहकों को वस्तुएं उधार बेचकर उनको आर्थिक सहायता पहुंचाता है और दूसरी ओर अपनी बिक्री की मात्रा बढ़ा सकता है।

7. फुटकर व्यापारी अंतिम उपभोक्ताओं को वस्तुएं बेचने के अतिरिक्त उन्हें अन्य आवश्यक सेवाएं प्रदान करता है जैसे, वस्तुओं के पैक करने की व्यवस्था तथा उनको ग्राहकों के घर तक पहुंचाने की व्यवस्था।

8. इसके अतिरिक्त आज के व्यावसायिक युग में फुटकर व्यापार भी बड़े पैमाने पर किया जाता है जिससे ग्राहकों को अपनी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएं एक ही विक्रय भंडार से प्राप्त हो जाती हैं। विभागीय भंडार इसका अच्छा उदाहरण है। इन भंडारों की मौजूदगी से निश्चित रूप में वस्तुएं क्रय करने में ग्राहकों के समय की बचत होती है।

फुटकर व्यापार के भेद

फुटकर व्यापारी वितरण की शृंखला में प्रधान मध्यस्थ समझा जाता है, क्योंकि वह वस्तुओं का वितरण अंतिम उपभोक्ताओं में करता है जो तुलनात्मक रूप से अन्य मध्यस्थों के कार्य से अधिक जटिल है। फुटकर व्यापार विभिन्न स्वरूपों के अंतर्गत संचालित किया जाता है। व्यवहार में फुटकर व्यापार को विभिन्न दृष्टिकोणों से अलग अलग वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। स्थिति के दृष्टिकोण से फुटकर व्यापारियों को दो भागों में विभक्त किया गया है: (अ) स्थिर फुटकर व्यापारी, (ब) गतिशील फुटकर व्यापारी।
स्थिर फुटकर व्यापारी : इस प्रकार के फुटकर व्यापारी विशिष्ट स्थानों में विक्रय भंडार स्थापित करके छोटी मात्रा में वस्तुएं तिम अंउपभोक्ताओं को बेचते हैं। इनके द्वारा उपभोक्ताओं को मुख्य रूप से उनकी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं बेची जाती हैं, इन भंडारों की स्थिति ग्राहकों की आवश्यकता, प्रतिस्पर्धा, जनसंख्या आदि तत्वों पर निर्भर रहती है, इस प्रकार के भंडार घनी आबादी वाले शहरों के केंद्रीय स्थानों तथा आवास बस्तियों के समीप स्थापित किए जाते हैं। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप सबसे अधिक प्रचलित है।
गतिशील फुटकर व्यापारी : फुटकर व्यापार का यह रूप प्राचीनतम है और आधुनिक युग तक काफी प्रचलित है। गतिशील फुटकर व्यापारी किसी विशिष्ट स्थान में स्थित नहीं रहते हैं। वे अल्प मात्रा में वस्तुएं ग्राहकों के घर तक ले जाकर बेचते हैं। इनसे ग्राहकों को सुविधापूर्वक वस्तुएं घर पर ही उपलब्ध हो जाती हैं। जैसे सब्जी, फल, कपड़े एवं बरतन आदि।

इस प्रकार के फुटकर व्यापारी शहरों में तथा विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक प्रचलित हैं। इन व्यापारियों के द्वारा मौसमी वस्तुओं का व्यापार भी किया जाता है तथा समयानुसार वस्तु की मांग में परिवर्तन के फलस्वरूप ये मौसमी वस्तुओं के बजाय अन्य वस्तुएं बेचना प्रारंभ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त ये व्यापारी वस्तुओं के साप्ता-

हिक, अर्धमासिक या मासिक बाजारों में भी वस्तुओं का विक्रय करते हैं।

फुटकर व्यापार का यह स्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि देश की अधिकांश जनता गांवों में रहती है जहां अभी तक न तो पर्याप्त यातायात के साधन विकसित हो पाए हैं और न ही बड़े-बड़े व्यापारी पर्याप्त मात्रा में वस्तुएं उपलब्ध करा सकते हैं। अतः ग्रामीण क्षेत्रों तक वस्तु का छोटी छोटी मात्रा में वितरण करने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों से लोग अल्पमात्रा में वस्तुओं को क्रय करने के लिए दूर स्थित शहर तक नहीं आ पाते हैं।

विभिन्न फुटकर व्यापारियों द्वारा किए जाने वाले क्रय-विक्रय के पैमाने के दृष्टिकोण से इनको पुनः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: (अ) छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार, (ब) बड़े पैमाने का फुटकर व्यापार।

छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार

फुटकर व्यापार का यह स्वरूप काफी प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। हालांकि फुटकर व्यापार में बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की तुलना में यह कम महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है फिर भी देश के ग्रामीण क्षेत्रों तक वस्तुएं वितरित करने में इससे काफी सहायता मिली है, छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार के अंतर्गत फुटकर व्यापार को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है।

गतिशील फुटकर व्यापारी : ये व्यापारी थोड़ी थोड़ी मात्रा में वस्तुएं शहरों से या नजदीक बाजार से क्रय करके उन्हें ग्राहकों के निवास स्थान तक ले जाकर बेचते हैं। गतिशील फुटकर व्यापार विशेष रूप से उस समय प्रचलित था जबकि देश में यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। अब धीरे धीरे फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अप्रचलित होता जा रहा है। इस स्वरूप की मुख्य कमी यह रही है कि इसके अंतर्गत व्यापारी ग्राहकों को केवल कुछ गिनी चुनी किस्म की वस्तुएं प्रस्तुत कर पाते हैं और जिससे ग्राहक को किस्मों की चुनाव की सुविधा नहीं मिलती है।

स्वतंत्र पृथक भंडार (इंडिपेंडेंट यूनिट स्टोर) : इन भंडारों का विकास फुटकर व्यापार के विकास के साथ ही प्रारंभ हुआ है और आधुनिक युग में भी इन्हें संख्या एवं उपयोगिता की दृष्टि से फुटकर व्यापार में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनकी स्थापना अधिकांश दशाओं में ऐसे सुविधाजनक स्थानों में की जाती है जहां ग्राहक आसानी से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं इन भंडारों से क्रय कर सकें। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप एकल व्यापार के अंतर्गत संचालित किया जाता है क्योंकि इन भंडारों द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय छोटे पैमाने पर किया जाता है। इन भंडारों के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार तथा व्यापार से संबंधित जोखिम एक ही व्यक्ति के पास रहता है। इन भंडारों के संचालन के लिए तुलनात्मक रूप से कम पूंजी की आवश्यकता होती है क्योंकि इन भंडारों में आमतौर से कम मूल्य वाली वस्तुएं बेची जाती हैं।

सामान्य भंडार (जनरल स्टोर) : सामान्य भंडारों द्वारा भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएं ग्राहकों को बेची जाती हैं, यह इन भंडारों की लोकप्रियता का मुख्य कारण है। इनकी स्थापना मुख्य रूप से आवास बस्तियों में की जाती है, ताकि उन बस्तियों में रहने वाले विभिन्न लोगों को दैनिक आवश्यकता तथा तात्कालिक आवश्यकता की वस्तुएं इन भंडारों से प्राप्त हो सकें, और उन्हें इन वस्तुओं को क्रय करने के लिए शहर तक न जाना पड़े। इन भंडारों की स्थापना भी आमतौर से एकल व्यापारी द्वारा ही की जाती है। सामान्य भंडार एवं स्वतंत्र पृथक भंडार लगभग एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इनमें मूल अंतर स्थिति का है, स्वतंत्र पृथक भंडार मुख्य रूप से शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित होते

हैं, जबकि सामान्य भंडार आवास बस्तियों में अधिक प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र पृथक भंडार सामान्य भंडारों की तुलना में कम मूल्य की वस्तुएं बेचने के लिए अधिक प्रचलित हैं।

एक पंक्ति वस्तु भंडार (सिंगल लाइन प्रोडक्ट स्टोर) : यह ऐसा वस्तु भंडार है जिसके द्वारा एक ही पंक्ति की विभिन्न वस्तुएं ग्राहकों को बेची जाती हैं जैसे जूते की दूकान, कपड़े की दूकान, दवाइयों की दूकान आदि। ऐसे भंडार मुख्य रूप से शहरों में स्थापित किए जाते हैं, इनको भी सामान्य भंडारों की भांति संचालित किया जाता है।

विशिष्टता भंडार (स्पेसियलिटी स्टोर) : विशिष्टता भंडार एक पंक्ति वस्तु भंडार का अधिक विशिष्ट रूप है। इन भंडारों द्वारा एक पंक्ति में कुछ ही वस्तुओं का व्यापार किया जाता है। इन भंडारों की स्थापना भी मुख्य रूप से बड़े बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में की जाती है, ताकि भंडारों के आसपास के समस्त ग्राहक अपनी आवश्यकता की विशिष्ट वस्तुएं इन भंडारों से क्रय कर सकें। इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इन भंडारों में आमतौर से मध्य आय वर्ग एवं ऊंची आय वर्ग के उपभोक्ताओं की वस्तुओं का व्यापार किया जाता है।

फुटकर व्यापार के क्षेत्र में विस्तार के फलस्वरूप अब विभिन्न विशेषताओं के बड़े पैमाने के भंडारों की स्थापना अधिक प्रचलित है (विशेष रूप से पूर्ण विकसित देशों में) फिर भी छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि छोटे पैमाने का फुटकर व्यापार वितरण के क्षेत्र में बड़े पैमाने के फुटकर व्यापार का पूरक एवं सहायक है।

बड़े पैमाने का फुटकर व्यापार

कालांतर में औद्योगिक क्षेत्र में हुई उन्नति के फलस्वरूप बड़े पैमाने के उत्पादन को सफल बनाने के लिए फुटकर व्यापार के पैमाने में वृद्धि आवश्यक समझी गई। क्योंकि वस्तुओं के वितरण में फुटकर व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, हालांकि छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार द्वारा थोक व्यापारियों को एवं अंतिम उपभोक्ताओं को प्रदान की गई सेवाओं, सुविधाजनक स्थानों में इनकी स्थिति, स्थापना की सरलता, दूर-दूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं को वस्तुओं का वितरण, आदि संपूर्ण वितरण के क्षेत्र के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है, फिर भी इनके विकास एवं विस्तार में निहित बाधाएं पूंजी की अपर्याप्तता एवं सीमित प्रबंधकीय क्षमता आदि बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का आधार बनीं। आज हमें शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित बड़े बड़े फुटकर भंडार वस्तुओं के वितरण के अतिरिक्त कई अन्य सेवाएं भी प्रदान कर रहे हैं, इन बड़े बड़े भंडारों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(अ) शृंखलाबद्ध दूकानें (चेन स्टोर),
(ब) विभागीय भंडार (डिपार्टमेंटल स्टोर),
(स) डाक द्वारा व्यापार,
(द) सुपर बाजार,
(य) डिस्काउंट हाउसेज।

शृंखलाबद्ध दूकानें : यदि एक ही पंक्ति की वस्तुओं का विक्रय करने के लिए दो या दो से अधिक भंडार केंद्रीय नियंत्रण, शासन एवं स्वामित्व के अंतर्गत स्थापित किए जाएं तो इन्हें शृंखलाबद्ध दूकानें या बहु-विभागीय भंडार कहा जाता है। इस प्रकार के भंडार एक ही शहर में विभिन्न स्थानों पर वस्तुओं का विक्रय करने के लिए स्थापित किए जा सकते हैं और कई शहरों के विभिन्न स्थानों पर इनकी स्थापना की जा सकती है, केंद्रीय स्वामित्व,

नियंत्रण एवं शासन का अभिप्राय यह है कि ये समस्त भंडार एक ही संस्था अथवा कंपनी के स्वामित्व, प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण में स्थापित एवं संचालित किए जाते हैं।

इन भंडारों के द्वारा एक ही पंक्ति की वस्तुएं विक्रय की जाती हैं क्योंकि इनकी स्थापना अधिकांश दशाओं में उत्पादक या थोक व्यापारियों द्वारा की जाती है, शृंखलाबद्ध दूकानें प्रायः संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत स्थापित एवं संचालित की जाती हैं क्योंकि इस स्वरूप से व्यापार के लिए बड़ी मात्रा में पर्याप्त पूंजी एवं आवश्यक प्रबंधकीय क्षमता उपलब्ध हो सकती है। हालांकि इन दूकानों के द्वारा आम उपभोग की एक ही पंक्ति की वस्तुएं विक्रय की जाती हैं पर अभी तक इनकी स्थापना केवल बड़े बड़े शहरों में ही की जाती रही है। ग्रामीण क्षेत्र इनकी सेवाओं से वंचित रहे हैं।

शृंखलाबद्ध दूकानों की मुख्य रूप से निम्न विशेषताएं हैं।

(अ) इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण का अधिकार एक ही संस्था या कंपनी के पास होता है।

(ब) शृंखलाबद्ध दूकानों के द्वारा विभिन्न स्थानों में एक ही पंक्ति की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है।

(स) फुटकर व्यापार के इस स्वरूप में उत्पादन कार्य वितरण कार्य से जुड़ा रहता है क्योंकि शृंखलाबद्ध दूकानों की स्थापना अधिकांश दशाओं में उत्पादकों द्वारा की जाती है।

(द) केंद्रित क्रय तथा विकेंद्रित विक्रय शृंखलाबद्ध दूकानों के लिए वस्तुओं का उत्पादन या क्रय तो केंद्रीय रूप से किया जाता है जबकि ये भंडार विभिन्न स्थानों में वस्तुओं का विक्रय करते हैं।

(य) सामान्य तौर से शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं नकद के रूप में बेची जाती हैं।

(र) इन दूकानों द्वारा केवल विक्रय कार्य किया जाता है, और अन्य विपणन कार्य, जैसे वस्तुओं का यातायात, संग्रहण, मूल्य निर्धारण, विज्ञापन आदि केंद्रीय रूप से संस्था स्वयं निष्पादित करती है।

(ल) समस्त शृंखलाबद्ध दूकानों की सजावट लगभग एक सी होती है क्योंकि, इनका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण एक ही संस्था द्वारा चलाया जाता है।

शृंखलाबद्ध दूकानों का प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण सामान्य केंद्रीय संस्था द्वारा किया जाता है जिसकी संरचना संचालक मंडल की भांति होती है क्योंकि बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह रूप संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत संचालित एवं संगठित किया जाता है। केंद्रीय संस्था या संचालक मंडल के अधीन विभिन्न विभागों के अध्यक्ष एवं जिला स्तर प्रबंधक कार्य करते हैं। केंद्रीय संस्था द्वारा मूल नीतियों एवं उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। इन नीतियों को विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के माध्यम से जिला स्तरीय प्रबंधकों द्वारा क्रियान्वित कराया जाता है। इसके अतिरिक्त जिला स्तरीय प्रबंधकों को कार्य करने के आवश्यक अधिकार सौंप दिए जाते हैं तथा उनके कार्य का नियंत्रण एवं निदेशन संबंधित विभागाध्यक्ष द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त समय समय पर वस्तुओं के स्टाक का निरीक्षण कर लिया जाता है, तथा बिक्री से संबंधित विवरणों एवं ब्यौरों की जांच कर ली जाती है।

शृंखलाबद्ध दूकानों से निम्न लाभ हैं :

1. शृंखलाबद्ध दूकानों को वस्तुओं के क्रय में मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं, क्योंकि समस्त दूकानों के लिए वस्तुएं केंद्रीय रूप से बड़ी मात्रा में क्रय की जाती हैं।

2. शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्य पर बेची जाती हैं,

फुटकर व्यापार के इस स्वरूप में उत्पादन कार्य वितरण कार्य से जुड़ा रहता है और वितरण तथा उत्पादन दोनों क्षेत्रों में विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त की जाती हैं।

3. शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुओं के विक्रय में मूल्य वसूली की कठिनाई एवं बट्टे खाते की संभावना नहीं रहती है, और व्यापार के लिए अधिक कार्यशील पूंजी की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि इन दूकानों के द्वारा वस्तुएं नकद बेची जाती हैं।

4. शृंखलाबद्ध दूकानों द्वारा वस्तुएं बेचने के लिए किए गए विज्ञापन व्यय तुलनात्मक रूप से बहुत ही कम होते हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा एक ही प्रकार की तथा प्रमापीकृत वस्तुएं बेची जाती हैं और सभी दूकानों के लिए केंद्रीय रूप से विपणन किया जाता है।

5. फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था के अंतर्गत संस्था आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र वस्तुओं की विशेषताओं में ग्राहकों की बदलती आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के अनुकूल परिवर्तन कर सकती है क्योंकि संस्था को अपनी दूकानों के माध्यम से समय समय पर ग्राहकों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करती रहती है।

6. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति में संतुलन बनाए रखकर मूल्यों में स्थिरता लाई जा सकती है क्योंकि यदि किसी एक क्षेत्र में स्थानीय कारणों से वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाए तो उसी क्षेत्र में स्थित अन्य दूकानों से शीघ्र वस्तुएं यातायात करके मांग की पूर्ति कर ली जाती है।

7. व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि शृंखलाबद्ध दूकानों की स्थिति एवं सजावट आकर्षक होती है जिसके फलस्वरूप ग्राहक प्रेरित होकर शीघ्र वस्तु क्रय करने के लिए इच्छुक हो जाता है।

शृंखलाबद्ध दूकानों की कमियां व दोष निम्नलिखित हैं :

1. व्यवहार में यह पाया जाता है कि शृंखलाबद्ध दूकानें ग्राहकों के लिए अधिक सुविधाजनक नहीं होती हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा केवल एक ही पंक्ति की वस्तु बेची जाती है और ग्राहकों को अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं दूसरे भंडारों से क्रय करनी पड़ती हैं।

2. इन दूकानों के माध्यम से वस्तुएं बेचने में संबंधित कर्मचारी अपनी रचनात्मक शक्तियों एवं व्यक्तिगत ज्ञान का प्रयोग नहीं कर पाते हैं क्योंकि इन दूकानों के समस्त कर्मचारियों को पूर्णतया संचालक मंडल द्वारा जारी आदेशों एवं निर्देशों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। इससे उनकी कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है।

3. वितरण कार्य उत्पादन कार्य से संलग्न होने के कारण इन दोनों क्षेत्रों में सतुलन एवं समन्वय बनाए रखना काफी जटिल है, क्योंकि ज्यों ज्यों संस्था के व्यवसाय में विस्तार एवं वृद्धि होती है प्रबंधकीय क्रिया उतनी ही अधिक पेचीदा होती जाती है।

4. शृंखलाबद्ध दूकानों के द्वारा ग्राहकों को व्यक्तिगत सेवाएं प्रदान नहीं की जाती हैं क्योंकि इन दूकानों के द्वारा न तो वस्तुएं उधार में ही बेची जाती हैं और न ही उनकी सुपुर्दगी आदि की व्यवस्था की जाती है।

5. शृंखलाबद्ध दूकानों में ग्राहकों की व्यक्तिगत देखभाल नहीं की जाती है क्योंकि इनके व्यवसाय का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है और समस्त दूकानों में वेतनभोगी कर्मचारी कार्य करते हैं जिनमें ग्राहकों के प्रति व्यक्तिगत रुचि का अभाव पाया जाता है।

शृंखलाबद्ध दूकानों का उद्गम एवं विकास इंग्लैंड एवं अमरीका में साथ ही साथ सबसे पहले हुआ है, इंग्लैंड में इनको बहु विभागीय भंडार (मल्टिपल स्टोर) कहा जाता है। फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अमरीका तथा अन्य देशों में शृंखलाबद्ध दूकानों के नाम से प्रचलित है, भारत में इनका विकास काफी आधुनिक है क्योंकि अभी तक

उत्पादन कार्य को वितरण की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता रहा है, उत्पादन की पर्याप्तता में ही वितरण के नए स्वरूपों का विकास संभव है, श्रृंखलाबद्ध दूकानों में 'बाटा शूज कंपनी', 'देहली क्लाथ मिल', 'जय इंजीनियरिंग कंपनी' आदि प्रमुख हैं, इन संस्थाओं की स्थापना एवं संचालन निजी कंपनी के रूप में किया गया है, और इनमें उत्पादन की प्राथमिकता को ध्यान में रखते हुए उत्पादन कार्य वितरण कार्य से संलग्न है, बढ़ती हुई जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए जनता के रहन सहन के स्तर में सुधार लाने के लिए ग्राहकों एवं उत्पादकों के बीच वितरण के मध्यस्थों को कम करके ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने के लिए और बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं वितरण की मितव्ययताएं प्राप्त करके वस्तुओं के वितरण को सहज एवं सुगम बनाने के लिए भारतवर्ष जैसे देश में इनका विकास एवं विस्तार आवश्यक है, इससे औद्योगिक विकास की गति तीव्र की जा सकती है और उपभोक्ताओं को व्यापारिक मध्यस्थों के शोषण से बचाया जा सकता है बशर्ते श्रृंखलाबद्ध दूकानों की स्थापना बड़े बड़े शहरों तक सीमित न रखी जाए और वितरण जाल को समूचे देश में फैलाने के लिए इनकी स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों में भी की जाए। वितरण की इस महत्वपूर्ण व्यवस्था को सुचारु रूप से तथा कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि वेतनभोगी कर्मचारियों के लिए कार्य रोचक बनाने हेतु उन्हें कुछ सीमा तक कार्य में स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए और उनको अधिक परिश्रम तथा लगन से कार्य करने के लिए आवश्यक प्रेरणा दी जानी चाहिए।

विभागीय भंडार (डिपार्टमेंटल स्टोर) : यदि एक ही स्थान में, एक ही भवन में, एक ही संस्था के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अंतर्गत स्थापित विभिन्न विभाग विभिन्न वस्तुएं ग्राहकों को विक्रय करें तो फुटकर व्यापार के इस स्वरूप को विभागीय भंडार कहा जाता है, विभागीय भंडार पृथक स्वतंत्र भंडारों का संयुक्त रूप समझा जा सकता है, क्योंकि पृथक स्वतंत्र भंडार अलग अलग व्यक्तियों के स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में होते हैं जबकि विभागीय भंडार व्यवस्था में वस्तुओं के विक्रय के लिए स्थापित समस्त विभाग एक ही छत के नीचे केंद्रीय स्वामित्व, संचालन एवं नियंत्रण में रहते हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत एक ही संस्था के विभिन्न विभागों द्वारा ग्राहकों की आवश्यकता की तमाम वस्तुएं प्रदान की जाती हैं। इन भंडारों की स्थापना अधिकांश दशाओं में शहरों के घनी आबादी वाले केंद्रीय स्थानों में की जाती है ताकि इन स्थानों तक आकर ग्राहक अल्प समय में ही अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं क्रय कर सकें।

विभागीय भंडारों में निम्न विशेषताएं होती हैं :

1. इन भंडारों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके द्वारा ग्राहकों की आवश्यकता की लगभग समस्त वस्तुएं विक्रय की जाती हैं, और ग्राहकों को अलग अलग वस्तु क्रय करने के लिए अलग अलग स्थानों तक नहीं जाना पड़ता।

2. फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न वस्तुएं बेचने के लिए अलग अलग विभाग स्थापित किए जाते हैं जिनका स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण केंद्रीय रूप से एक ही संस्था के पास होता है।

3. बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह स्वरूप अधिकांश दशाओं में थोक व्यापार से संलग्न रहता है।

4. विभागीय भंडारों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं की बड़े पैमाने पर बिक्री करना है।

5. विभागीय भंडारों के द्वारा वस्तुओं के व्यापार के अतिरिक्त ग्राहकों को नाना प्रकार की अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं, क्योंकि इन भंडारों में वाचनालय,

पोस्ट आफिस, टेलीफोन, होटल आदि की भी उचित व्यवस्था रहती है।

6. ये भंडार मुख्य रूप से मध्य आय वर्ग तथा उच्च आय वर्ग के सदस्यों की आवश्यकताओं की वस्तुएं विक्रय करने में अधिक उपयुक्त एवं सफल सिद्ध हुए हैं।

विभागीय भंडारों की स्थापना भी मुख्य रूप से संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप के अंतर्गत की जाती है क्योंकि इन भंडारों द्वारा बड़े पैमाने पर बिक्री कार्य किया जाता है जिसके लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। शृंखलाबद्ध दूकानों की भांति विभागीय भंडारों के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के लिए संचालक मंडल की संरचना की जाती है, और विभिन्न विभागों के कार्य के सुचारु संचालन के लिए प्रबंध संचालक के नियंत्रण में विभिन्न विभागीय प्रबंधक कार्य करते हैं। प्रत्येक विभाग के प्रबंधक द्वारा विभाग में किए जाने वाले क्रय-विक्रय को संचालित एवं नियंत्रित किया जाता है, और विभागीय खाते पृथक रूप से रखे जाते हैं, इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग से संबंधित सामान्य कार्य जैसे, संग्रहण, विज्ञापन, बिक्री, मूल्य वसूली आदि कार्य केंद्रीय विभाग द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। विभागीय भंडारों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए सामान्य तौर से निम्न अतिरिक्त विभागों की स्थापना की जाती है।

(अ) वस्तु विभाग— वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने के लिए।

(ब) संग्रहण विभाग—वस्तुओं को सुरक्षित तथा उनकी सुपुर्दगी की व्यवस्था करने के लिए।

(स) वित्त विभाग—वित्तीय कार्यों को निष्पादित करने के लिए।

(द) कर्मचारी विभाग—कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, वेतन आदि की व्यवस्था करने के लिए।

(य) केंद्रीय विभाग—समस्त भंडारों से संबंधित सामान्य अंशों को निष्पादित करने के लिए।

विभागीय भंडारों से निम्नलिखित लाभ हैं :

1. बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था का सबसे प्रमुख लाभ यह है कि ग्राहक अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएं अल्प समय में ही सुविधापूर्वक एक ही स्थान पर क्रय कर सकता है क्योंकि विभागीय भंडारों के विभिन्न विभागों द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बेची जाती हैं, और ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने के लिए अलग अलग स्थानों पर नहीं जाना पड़ता है।

2. इन भंडारों के प्रति ग्राहकों का आकर्षण बना रहता है, क्योंकि ये ग्राहकों को अतिरिक्त सेवाएं भी उपलब्ध कराते हैं, जैसे वाचनालय की सुविधा, होटल आदि की व्यवस्था इत्यादि। इन अतिरिक्त सेवाओं से ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने में सुविधा बनी रहती है।

इन सुविधाओं के अतिरिक्त ग्राहकों को उधार बिक्री, वस्तुओं की सुपुर्दगी की व्यवस्था आदि सेवाओं का लाभ भी इन भंडारों से प्राप्त हो सकता है।

3. विभागीय भंडारों द्वारा वस्तुओं का क्रय वैज्ञानिक ढंग से बड़ी मात्रा में किया जाता है और क्रय संबंधी समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं को वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों में प्राप्त हो सकती हैं।

4. विभागीय भंडारों की स्थिति सुविधाजनक होती है क्योंकि ये भंडार मुख्य रूप से बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थापित किए जाते हैं जहां अधिक संख्या में ग्राहक अन्य कार्यों के लिए भी आते रहते हैं।

5. विभागीय भंडारों के विभिन्न विभागों की स्थिति एवं सजावट इस प्रकार से व्यवस्थित की जाती है कि ज्योंही ग्राहक एक वस्तु को क्रय करने के लिए विभाग में

प्रवेश करता है वह सामने दूसरे विभाग की सजावट से आकर्षित होकर अन्य वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रेरित होता है। इसके अतिरिक्त समस्त संबंधित विभाग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इससे भी ग्राहक एक वस्तु क्रय करके उससे संबंधित या पूरक अन्य वस्तुएं क्रय करने के लिए आकर्षित होता है।

6. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न विभाग एक ही भवन में स्थित रहने से समस्त विभागों में कार्यरत कर्मचारियों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जा सकता है, और उनकी कठिनाइयों तथा समस्याओं का आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र समाधान किया जा सकता है।

7. इन भंडारों की स्थापना मुख्य रूप से बड़े पैमाने पर वस्तुओं की बिक्री करने के लिए की जाती है, इसीलिए इनकी स्थापना घनी आबादी वाले शहरी क्षेत्रों के केंद्रीय स्थानों पर की जाती है, ताकि वस्तुओं की अधिक मात्रा में बिक्री करके बड़े पैमाने पर वितरण के लाभ प्राप्त किए जा सकें, इसके अतिरिक्त विभिन्न विभागों से संबंधित सामान्य कार्यों को केंद्रीय रूप से संचालित करने के फलस्वरूप इनसे संबंधित व्ययों में भी मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है।

विभागीय भंडार व्यवस्था की कमियां एवं दोष निम्नलिखित हैं :

1. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत व्यवसायी का ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं रह पाता है क्योंकि प्रत्येक विभाग का प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण वेतन-भोगी कर्मचारियों द्वारा किया जाता है और विभागों में वस्तुओं का विक्रय भी इन्हीं कर्म-चारियों के द्वारा किया जाता है।

2. विभागीय भंडारों द्वारा जो वस्तुएं विक्रय की जाती हैं उनका विक्रय मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक होता है क्योंकि इन भंडारों द्वारा ग्राहकों को जो अतिरिक्त सेवाएं प्रदान की जाती हैं उनका प्रत्यक्ष प्रभाव वस्तु के विक्रय मूल्य पर पड़ता है।

3. विभागीय भंडारों की स्थिति भी सुविधाजनक नहीं समझी जाती है, क्योंकि ये भंडार शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित रहते हैं जो प्रत्येक ग्राहक के लिए सुविधाजनक नहीं होता है।

4. विभागीय भंडार व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न विभाग विभिन्न वस्तुएं बेचते हैं और प्रत्येक विभाग की बिक्री दर एक दूसरे से भिन्न होती है। इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ विभाग बहुत कम बिक्री दर भी संचालित किए जाने आवश्यक हैं, जिसका अंतिम प्रभाव अन्य कुशल विभागों पर पड़ सकता है।

5. इन भंडारों को संचालित करने के व्यय तुलनात्मक रूप से अधिक होते हैं क्योंकि एक ओर तो इन भंडारों द्वारा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए उन्हें अतिरिक्त सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। दूसरी ओर इनकी स्थापना बड़े शहरों के केंद्रीय स्थान में होने के कारण अधिक किराए का भुगतान करना पड़ता है।

विभागीय भंडार सबसे पहले फ्रांस में विकसित हुए। इसके पश्चात धीरे धीरे अन्य यूरोपीय देशों, विशेष रूप से इंग्लैंड आदि में भी यह व्यवस्था प्रचलित होती गई, आज विश्व के लगभग समस्त पूर्ण विकसित एवं विकासशील देशों में विभागीय भंडार प्रचलित हैं। इन भंडारों के विकास में मुख्य रूप से जनता के रहन सहन में सुधार, क्रयशक्ति में वृद्धि, औद्योगिक विकास में बड़े पैमाने पर व्यवसाय का महत्व आदि तत्व कार्यशील रहे हैं, पर भारतवर्ष में फुटकर व्यापार की इस व्यवस्था को विकसित होने के लिए पूर्ण प्रोत्साहन नहीं मिल पाया है। क्योंकि ये विभागीय भंडार विशेष रूप से समाज के धनी वर्ग के लिए ही अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं जो इनके द्वारा प्रदान की गई अन्य सेवाओं का उपयोग करते हुए वस्तुओं को क्रय करने के लिए अधिक मूल्य का भुगतान करने में नहीं

हिचकते हैं। चूंकि भारतवर्ष में धनी वर्ग के ग्राहक सीमित संख्या में हैं और जनसंख्या के अधिकतम भाग में वह है जिसे सीमित आय में अपनी तमाम आवश्यकताएं पूरी करनी पड़ती हैं, अतः इस प्रकार के ग्राहकों के लिए विभागीय भंडारों द्वारा की जाने वाली सेवाओं एवं सुविधाओं के बजाय वस्तु का विक्रय मूल्य अधिक महत्वपूर्ण होता है। फिर भी वितरण क्षेत्र के पूर्ण विकास के लिए इनको मान्यता दिया जाना अनुचित नहीं समझा जाना चाहिए।

भारतवर्ष में विभागीय भंडार अपने वास्तविक मूल स्वरूप में प्रचलित नहीं है परंतु विभागीय भंडारों से मिलते जुलते भंडार देश के बड़े बड़े शहरों के केंद्रीय स्थानों में स्थित हैं, जैसे दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि। इनके अप्रचलन का मुख्य कारण यही रहा है कि इन भंडारों की उपयुक्तता समाज के धनी वर्ग तक ही सीमित है।

डाक द्वारा व्यापार भंडार (मेल आर्डर हाउस) : फुटकर व्यापार की यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत व्यापारी ग्राहकों को प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं का विक्रय करने के बजाय डाक के माध्यम से उन्हें वस्तुएं बेचता है। डाक द्वारा पत्र व्यवहार करके ही क्रेता एवं विक्रेता क्रय-विक्रय का लेनदेन तय करते हैं और वस्तुओं की सुपुर्दगी भी डाक द्वारा या कुछ दशाओं में रेलवे द्वारा दी जाती है, वस्तुओं का लेनदेन तय करने के लिए विक्रेता वस्तुओं के बारे में पूर्ण वर्णनात्मक सूची, जिसमें वस्तुओं की किस्म, मूल्य, आकार आदि के बारे में सूचनाएं दी रहती हैं, ग्राहकों को भेजता रहता है और संभावित ग्राहक इस सूची के आधार पर अपनी आवश्यकता की वस्तुएं क्रय करने के लिए विक्रेता को डाक द्वारा आदेश प्रेषित करता है। विक्रेता वस्तुओं को वैल्यू पेयेबल पार्सल (वी० पी० पी०) अथवा रजिस्टर्ड पार्सल द्वारा भेज देता है, ताकि क्रेता को वस्तुओं की सुपुर्दगी देते समय ही उसका मूल्य विक्रेता डाक के माध्यम से प्राप्त कर सके। इस प्रकार वस्तुओं के क्रय-विक्रय की व्यवस्था में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं।

1. डाक द्वारा वस्तुओं का व्यापार करने में पोस्ट आफिस ही विक्रेता एक क्रेता के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करता है, अन्य व्यापारिक मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

2. इस प्रकार की व्यवस्था से देश के किसी कोने तक, जहां डाक सुविधाएं उपलब्ध हों, वस्तुओं का विक्रय किया जा सकता है।

3. क्रेता एवं विक्रेता के बीच कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं होता है।

4. डाक द्वारा वस्तुओं का व्यापार, व्यवहार में निम्न स्थितियों के अंतर्गत अधिक उपयोगी समझा जाता है।

(अ) वस्तुओं की भौतिक एवं रासायनिक विशेषताएं इस प्रकार की हों जिनके बारे में ग्राहकों को पत्र व्यवहार के द्वारा भलीभांति समझाया जा सके।

(ब) वस्तु का प्रयोग करने के लिए विशिष्ट ज्ञान तथा कुशलता की आवश्यकता न हो।

(स) वस्तु की प्रकृति इस प्रकार की हो कि उसे डाक द्वारा आसानी से भेजा जा सके और नष्ट होने की संभावना कम हो।

(द) इसके अतिरिक्त डाक द्वारा व्यापार उन स्थितियों में भी उपयुक्त समझा जा सकता है जिन स्थितियों में वस्तुओं का वितरण करने के लिए वितरण की शृंखला के मध्यस्थों का सहयोग प्राप्त न किया जा सकता हो।

डाक द्वारा व्यापार से जो लाभ होते हैं, वे इस प्रकार के हैं :

1. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने से क्रेता के समय में बचत होती है, क्योंकि उसे वस्तुएं घर पर ही सुपुर्द कर दी जाती हैं और उसे फुटकर व्यापार भंडारों

तक जाने की आवश्यकता नही रहती है।

2. संभावित क्रेता डाक द्वारा दूर दूर स्थानों पर स्थित व्यवसायी से विशेष रूप से वे वस्तुएं क्रय कर सकता है जो उसे स्थानीय बाजार में उपलब्ध न हों।

3. डाक द्वारा व्यापार में वस्तुओं का विक्रय मूल्य तुलनात्मक रूप से कम होता है क्योंकि एक तो वितरण में व्यापारिक मध्यस्थ नही रहते हैं और दूसरे भंडार की सजावट आदि की आवश्यकता नही होती है।

4. डाक द्वारा वस्तुएं नकद बिक्री के आधार पर बेची जाती है। इनमें मूल्य की वसूली में वही खाते की संभावना बिलकुल समाप्त हो जाती है।

5. डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था के अंतर्गत ग्राहक प्रत्यक्ष रूप से व्यवसायी से वस्तुएं क्रय कर लेता है और इस प्रकार मध्यस्थों के चंगुल से बचकर कमाया जाने वाला लाभ व्यवसायी तथा ग्राहक आपस में विभाजित कर सकते है।

6. उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त डाक द्वारा व्यापार की व्यापकता, विपणन व्ययों में मितव्ययताएं आदि भी इस स्वरूप के लाभ समझे जा सकते है।

डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था से कुछ हानि भी हैं जो इस प्रकार है :

1. डाक द्वारा व्यापार व्यवस्था के अतर्गत वस्तुएं क्रय करने मे ग्राहक को वस्तु के व्यक्तिगत निरीक्षण का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है, और वस्तुओं की विशेषताओं आदि के बारे में उसे पूर्णतया वर्णनात्मक सूची पर निर्भर रहना पड़ता है।

2. डाक द्वारा वस्तुएं क्रय करने में ग्राहक का काफी अधिक समय लेनदेन तय करने के लिए किए गए पत्र व्यवहार में नष्ट हो जाता है।

3. इस व्यवस्था के अंतर्गत ग्राहक को उधार बिक्री की सुविधा नहीं मिल सकती है क्योंकि वस्तुओं की सुपुर्दगी प्राप्त करते समय ही मूल्य का भुगतान किया जाता है।

4. डाक द्वारा व्यापार के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने में ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी प्रचलित है क्योंकि विक्रेता कुछ स्थितियों मे वर्णनात्मक सूची से घटिया किस्म की वस्तुएं भी भेज देता है।

5. डाक द्वारा व्यापार का प्रयोग कुछ सीमित वस्तुओं के लिए उपयुक्त समझा जाता है जिनकी आवश्यकता ग्राहक भविष्य के लिए कुछ समय तक स्थगित कर सकता है, विशेष रूप से भारी वस्तुएं, मूल्यवान वस्तुएं, फैशन की वस्तुएं तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं इस व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं।

डाक द्वारा व्यापार फुटकर व्यापार का एक विचित्र स्वरूप है। इसका उद्गम एवं विकास सर्वप्रथम अमरीका में हुआ। इस व्यवस्था के विकास में विभिन्न बाधाओं के कारण, विशेष रूप से इसकी सीमित उपयोगिता, लेनदेन तय करने में जटिलता एवं श्रृंखलाबद्ध दूकानो और विभागीय भंडारों के विकास आदि के कारण इसका प्रचलन दिन प्रतिदिन सीमित होता जा रहा है।

भारतवर्ष में भी डाक द्वारा व्यापार का क्षेत्र काफी सीमित है, क्योंकि व्याप्त व्यावसायिक वातावरण इसके विकास के अनुकूल नहीं है, फिर भी पुस्तकों, दवाइयों तथा शरीर सज्जा की वस्तुओं को इस व्यवस्था के अंतर्गत क्रय किया जाता रहा है। अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं समझी जाती है, भारत में इस व्यवस्था के धीमे विकास के कारण निम्न हैं।

(अ) अभी तक हमारे देश में जनसंख्या का महत्वपूर्ण हिस्सा अशिक्षित एवं अल्प-शिक्षित लोगों का है जो न तो वर्णनात्मक सूची के आधार पर वस्तुओं के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न पत्र व्यवहार करके लेनदेन तय कर सकते हैं।

(ब) व्यवसायियों के नैतिक आचरण एवं मनोबल में कमी भी इस व्यवस्था के

विकास में बाधक सिद्ध हुई है, क्योंकि डाक द्वारा व्यापार के अंतर्गत प्राय: व्यवसायी घटिया किस्म की वस्तुएं ग्राहकों को भेज देते हैं।

(स) डाक द्वारा व्यापार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि इसके माध्यम से कुछ ही सीमित वस्तुओं को क्रय किया जा सकता है, विशेष रूप से आम दैनिक एवं आम उपभोग की वस्तुएं तथा कृषि पदार्थ आदि के लिए यह व्यवस्था पूर्णतया अनुपयुक्त है।

सुपर बाजार : सुपर बाजार फुटकर व्यापार के अंतर्गत एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके माध्यम से व्यवसायी तुलनात्मक रूप से कम लाभ लेकर ग्राहकों को विक्रय कर्मचारियों की सहायता के बिना 'स्वत: सेवा' आधार पर वस्तुओं का विक्रय करता है। सुपर बाजार के द्वारा मुख्य रूप से सब्जियां, फल, दुग्धशाला पदार्थ आदि एक ही भवन में एक ही स्वामित्व, प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण के अधीन विभिन्न छोटे छोटे विभागों द्वारा विक्रय की जाती है। ग्राहक स्वयं क्रय की जाने वाली वस्तु का चुनाव करके उसे भुगतान विभाग तक लाता है क्योंकि इस व्यवस्था में विक्रय कर्मचारी की सेवाएं उपलब्ध नहीं होती हैं, इस व्यवस्था की विशेषताएं भिन्न हैं :

1. सुपर बाजार में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है, विशेष रूप से किराने की वस्तुएं तथा अन्य खाद्य पदार्थ आदि।

2. इस व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुएं क्रय करने के लिए ग्राहकों को स्वयं सारे आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं क्योंकि इनमें विक्रय कर्मचारियों की सेवाओं का पूर्ण अभाव होता है।

3. इनकी स्थापना सामान्य तौर से घनी आबादी वाले शहरों के किनारे की जाती है ताकि विभिन्न विभागों के लिए कम किराए पर पर्याप्त स्थान उपलब्ध हो सके।

4. सुपर बाजार मुख्य रूप से निम्न आय वर्ग तथा मध्य आय वर्ग के सदस्यों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध है क्योंकि वे अन्य सुविधाओं की तुलना में वस्तुओं के मूल्य को अधिक महत्व देते हैं।

5. सुपर बाजार द्वारा विशेष रूप से खाद्य पदार्थों की पैकिंग आकर्षक एवं उपयोगी ढंग से की जाती है।

सुपर बाजार के लाभ : 1. सुपर बाजार में विभिन्न प्रकार की कई वस्तुएं एक ही स्थान पर उपलब्ध रहती हैं, जिससे ग्राहकों को पूर्ण सुविधा बनी रहती है और बिक्री गति काफी तेज होती है।

2. सुपर बाजार बड़े पैमाने पर व्यवसाय की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर सकते हैं।

3. सुपर बाजार व्यवस्था को संचालित करने में काफी कम धन खर्च होता है क्योंकि इनकी स्थिति उपयुक्त होते हुए भी शहर के किनारे पर रहती है और जिस स्थान के लिए तुलनात्मक रूप से कम किराए का भुगतान किया जाता है।

4. इसके अतिरिक्त सुपर बाजार में वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों पर बेची जाती हैं, क्योंकि एक तो इनके संचालन व्यय कम होते हैं और इनमें विक्रय कर्मचारियों की सेवाएं उपलब्ध नहीं होती हैं।

दोष : 1. सुपर बाजार की स्थिति व्यवहार में सुविधाजनक नहीं समझी जाती है क्योंकि इनकी स्थापना शहरों के किनारे की जाती है ताकि कम किराए पर पर्याप्त स्थान प्राप्त किया जा सके।

2. सुपर बाजारों में विक्रय कर्मचारियों की सेवाओं का पूर्ण अभाव रहता है, और ग्राहकों को पूर्णतया विज्ञापन तथा सजावट आदि से प्राप्त सूचनाओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इससे उन्हें वस्तुओं के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता है।

सुपर बाजार की व्यवस्था का विकास भी सर्वप्रथम अमरीका में ही हुआ। प्रारंभ में इनकी स्थापना बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार के रूप में की गई। पर्याप्त मानवीय श्रम के अभाव में यह व्यवस्था अभी तक वहां काफी प्रचलित है। इन बाजारों से मिलते जुलते विक्रय भंडारों की स्थापना अमरीका के अतिरिक्त इंग्लैंड, बेल्जियम, स्विट्जरलैंड आदि देशों में भी की गई। जहां तक भारतवर्ष में इनके विकास का प्रश्न है, अभी तक सुपर बाजार के मूल रूप में ये सुपर बाजार अस्तित्व में नहीं आ पाए हैं। पर सुपर बाजार से मिलते जुलते कई विक्रय भंडार बड़े शहरों में स्थापित किए गए हैं। अब इनका प्रचलन दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है यहां तक कि छोटे शहरों में भी इस स्वरूप का विकास होता जा रहा है। सुपर बाजार व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए इनकी स्थापना सरकार द्वारा भी की जा रही है, ताकि इनकी पूर्ण उपयोगिता को बनाए रखा जा सके और जीवन की बुनियादी जरूरतों की वस्तुएं उचित मूल्य पर जनता को उपलब्ध कराई जा सकें। इनके विकास के लिए एक तो सरकारी प्रयत्न सहायक सिद्ध हुए हैं और दूसरी और सहकारिता स्वरूप के अंतर्गत भी इनकी लोकप्रियता बढ़ी है। इनको विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे नया बाजार, सुपर बाजार, सहकारी भंडार, बडा बाजार आदि। सहकारिता क्षेत्र में स्थापित सुपर बाजार व्यवस्था विशेष रूप से कृषि पदार्थों के वितरण के लिए सहायक सिद्ध हुई है।

डिस्काउंट हाउस : बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार का यह भी एक महत्वपूर्ण स्वरूप है पर इसकी लोकप्रियता पूर्ण विकसित देशों तक ही सीमित है। इन भंडारों के द्वारा विभिन्न विधियों से मितव्ययताएं प्राप्त करके प्रचलित ब्रांड की वस्तुओं का विक्रय निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर किया जाता है। विशेष रूप से अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में डिस्काउंट हाउसों के विकास के फलस्वरूप संपूर्ण वितरण का क्षेत्र प्रभावित हुआ है क्योंकि इस स्वरूप के उद्गम से थोक व्यापारियों तथा बड़े पैमाने के फुटकर व्यापारियों को विशेष रूप से विभागीय भंडारों को अपनी विपणन नीतियां डिस्काउंट हाउसेज से मूल्य की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए पुन: संगठित करनी पड़ीं। इनकी मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

1. डिस्काउंट हाउसेज की मुख्य विशेषता यह है कि ये भंडार वस्तुओं का विक्रय निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर करते हैं जिसके फलस्वरूप अन्य बड़े पैमाने के फुटकर व्यापार के स्वरूपों की तुलना में इनकी बिक्री का आकार बडा होता है।

2. इन भंडारों द्वारा कुछ प्रचलित जाने पहचाने ब्रांडों की वस्तुओं का विक्रय किया जाता है, और इस प्रकार विज्ञापन आदि व्ययों में मितव्ययता स्वाभाविक है।

3. डिस्काउंट हाउसेज विशेष रूप से प्रचलित ब्रांडों की वस्तुएं मध्यवर्गीय आय वाले ग्राहकों को बेचते हैं।

4. इनकी स्थापना शहरों के बड़े बड़े केंद्रीय स्थानों में की जाती है।

डिस्काउंट हाउसेज से लाभ : 1. डिस्काउंट हाउसेज ग्राहकों को तुलनात्मक रूप से कम मूल्यों पर वस्तुएं बेचते हैं।

2. इन भंडारों को विज्ञापन आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है। क्योंकि इनके द्वारा बेची जाने वाली वस्तुएं काफी प्रचलित तथा जाने पहचाने ब्रांडों की होती हैं।

3. ये हाउसेज वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से उत्पादकों से क्रय करके उन्हें अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं। इसके फलस्वरूप इन्हें बड़े पैमाने पर क्रय की मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं।

4. इसके अतिरिक्त ये भंडार प्रत्यक्ष रूप से वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को बेचते हैं और प्राय: इनकी बिक्री का आकार काफी बड़ा है। इससे इन हाउसेज को वितरण के

क्षेत्र में भी विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं।

पर दुर्भाग्यवश इस स्वरूप का विकास अभी तक हमारे देश में नहीं हो पाया है, और इस व्यवस्था के अभाव में प्रचलित ब्रांडों की वस्तुओं का आए दिन बाजार में अभाव बना रहता है। इन हाउसेज की मूल विशेषताओं को दृष्टि में रख कर यह प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था केवल पूर्ण विकसित देशों के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि विकासशील देशों में भी वस्तुओं को उचित मूल्यों पर वितरित करने के लिए यह व्यवस्था निश्चित भूमिका अदा कर सकती है, क्योंकि इनकी मुख्य विशेषता व्यवसाय में हर प्रकार से विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त करके तुलनात्मक रूप से सस्ते मूल्यों पर प्रचलित ब्रांड की वस्तुएं ग्राहकों को उपलब्ध कराना है। भारतवर्ष में अभी तक सुव्यवस्थित वितरण व्यवस्था का अभाव है, और व्यापक तथा विस्तृत वितरण के माध्यमों के फलस्वरूप वस्तु के मूल्यों में वृद्धि स्वाभाविक है। अत: वितरण के माध्यम को संक्षिप्त बनाने हेतु और वस्तु को उचित लागत पर वितरित करने के लिए इस प्रकार के डिस्काउंट हाउसेज की स्थापना अनुकूल तथा वांछनीय है।

वितरण के माध्यम का चुनाव

वस्तु का वितरण करने के लिए किस माध्यम का चुनाव किया जाए ताकि वस्तु को सहजता एवं सुगमता से उचित लागत पर वितरित किया जा सके यह वास्तव में विपणन प्रबंधकर्ता के लिए महत्वपूर्ण समस्या है क्योंकि वितरण के लिए चुने गए माध्यम का विपणन की अन्य क्रियाओं पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार वितरण के माध्यम का चुनाव कर लिया जाए तो उसे आसानी से परिवर्तित करना न तो संस्था की ख्याति के लिए उचित है और न ही उपभोक्ताओं के लिए सुविधाजनक है। इसीलिए वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि माध्यम केवल वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल तथा उपयुक्त न हो, बल्कि उसमें आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन करके उसे संतुलित बनाए रखा जा सके। वस्तु के वितरण के लिए माध्यम का चुनाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित होता है अत: उपयुक्त माध्यम का चुनाव करने में इन तत्वों के संभावित प्रभाव को भी भलीभांति विश्लेषित किया जाना चाहिए।

वस्तु की प्रकृति एवं उपयोगिता : वस्तु की प्रकृति एवं उसकी उपयोगिता उसके लिए वितरण का माध्यम चुनने में एक महत्वपूर्ण कार्यशील तत्व है क्योंकि जहां एक उत्पादक निर्मित वस्तुओं (मैन्यूफेक्चरिंग गुड्स) को अधिकांश दशाओं में प्रत्यक्ष रूप से या विक्रय एजेंटों के माध्यम से वितरित करता है, वहां दूसरी ओर उपभोक्ता की वस्तुओं (कन्ज्यूमर गुडस) का वितरण संभव बनाने के लिए अलग अलग स्थितियों में अलग अलग मध्यस्थों की सहायता लेता है। वितरण की श्रृंखला में इन मध्यस्थों की संख्या वस्तु की प्रकृति पर निर्भर रहती है, क्योंकि शीघ्र नाशवान वस्तुओं तथा फैशन आदि की वस्तुओं का वितरण करने के लिए वितरण के माध्यम में कम से कम मध्यस्थ होने चाहिए ताकि शीघ्र ये वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित की जा सकें। इसी प्रकार मौसमी वस्तुओं तथा कम मूल्य की वस्तुओं को वितरित करने के लिए उत्पादक अधिकांश दशाओं में थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी को वितरण की श्रृंखला में सम्मिलित करता है, और उन वस्तुओं का वितरण करने के लिए, जिनका प्रयोग तकनीकी प्रकृति का होता है, उत्पादक के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी विशिष्ट ज्ञान वाले थोक व्यापारी या फुटकर व्यापारी के द्वारा वस्तुएं वितरित कराए। इसके अतिरिक्त नई वस्तु को वितरित करने के लिए (जिसमें अधिक बिक्रीवर्धक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है) या तो उत्पादक

स्वयं वस्तु का वितरण कर सकता है, या किसी ख्यातिप्राप्त फुटकर व्यापारी के द्वारा इन वस्तुओं को अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित कर सकता है।

बाजार की प्रकृति : वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय वस्तु के बाजार का गंभीर अध्ययन किया जाना आवश्यक है। बाजार के अध्ययन से अंतिम उपभोक्ताओं की स्थिति, प्रतिस्पर्धा, ग्राहकों की क्रय प्रवृत्ति तथा वस्तु बाजार में व्याप्त अन्य सामान्य प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन सब घटकों का विश्लेषण करके, बाजार में वस्तु की मांग का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तु की मांग जितनी अधिक होगी उसका बाजार भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा और वस्तु को वितरित करने के लिए वितरण के माध्यम भी तदनुसार विस्तृत एवं व्यापक होने चाहिए।

ग्राहक की शिक्षा, आय तथा रहन-सहन का स्तर : वैसे तो ग्राहकों की क्रय शक्ति, रहन-सहन का स्तर तथा शिक्षा का स्तर उनकी क्रय प्रवृत्ति को प्रभावित करता है, पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विभिन्न वर्गों के ग्राहकों के लिए अलग अलग माध्यम उपयुक्त होता है क्योंकि सामान्य तौर से व्यवहार में यह पाया जाता है कि ऊंची आय वाले ग्राहक, जिनकी क्रय शक्ति अधिक होती है और रहन सहन का स्तर ऊंचा होता है, वस्तु के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्य चुकाने को तत्पर रहते हैं। बशर्ते उन्हें वस्तुओं के क्रय में अन्य सुविधाएं जैसे सुपुर्दगी की सुविधा, उचित पैकिंग आदि प्रदान की जाएं, अर्थात इस प्रकार के ग्राहकों के लिए विभागीय भंडार व्यवस्था के माध्यम से वस्तुओं का वितरण उचित होगा। इसके विपरीत मध्य आय वर्ग तथा निम्न आय वर्ग के सदस्य अतिरिक्त सुविधाओं की तुलना में वस्तु के तुलनात्मक मूल्य को अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उनकी आय के साधन सीमित होते है। इन स्थितियों में वस्तु के वितरण के लिए या तो उत्पादक स्वयं अपने विक्रय भंडार स्थापित कर सकता है और या कम लागत वाले माध्यम के द्वारा उचित मूल्यों में वस्तुएं वितरित कर सकता है।

वस्तु के वितरण की लागत एवं प्रभावशीलता : जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, वस्तु को वितरित करने के लिए उत्पादक के पास कई माध्यम उपलब्ध हो सकते हैं। अतः इन समस्त माध्यमों में से उपयुक्त माध्यम का चुनाव करते समय माध्यमों की संभावित लागत, और उनकी अनुमानित प्रभावशीलता का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए, और स्वाभाविक रूप से, सामान्यतया यह देखकर माध्यम विशेष का चुनाव किया जाता है कि उसमें लागत व्यय न्यूनतम हो और प्रभावशीलता अधिक हो। हालांकि कुछ स्थितियों में यह भी पाया जाता है कि माध्यम की लागत उसकी प्रभावशीलता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

वितरण नीति : संस्था की वितरण नीति का माध्यम के चुनाव से प्रत्यक्ष संबंध होता है क्योंकि वितरण नीति को क्रियान्वित करने के लिए ही माध्यम की उपयुक्तता ज्ञात की जाती है। यदि संस्था की वितरण नीति विस्तृत एवं व्यापक है तो अधिक से अधिक उपलब्ध माध्यमों का प्रयोग किया जाता है। यह नीति मुख्य रूप से सुविधाजनक वस्तुओं (कन्विनिएंस गुड्स) के लिए प्रयोग की जाती है। इसके विपरीत यदि वितरण नीति विशिष्ट प्रवृत्ति (सेलेक्टिव) की है तो कम संख्या में अधिक से अधिक प्रभावशील वितरण के माध्यम को उपयोग में लाया जाता है, यह नीति किसी विशेष बाजार में विशेष वस्तु के लिए प्रयोग की जा सकती है।

वितरण के माध्यम से प्राप्त सहयोग : वितरण के माध्यम का चुनाव करते समय वितरण के माध्यम द्वारा प्रस्तावित सहयोग तथा सहायता से भी विपणन प्रबंधकर्ता का निर्णय प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त मध्यस्थ का वस्तु से संबंधित ज्ञान, बाजार में उसकी ख्याति, उसकी आर्थिक स्थिति एवं उसके द्वारा वितरित की जाने वाली अन्य वस्तुओं की

प्रकृति भी वितरण के माध्यम की प्रभावशीलता को प्रभावित करती है। स्वाभाविक रूप से जिसका अंतिम प्रभाव वितरण के माध्यम का चुनाव करने में पड़ता है।

वितरण के क्षेत्र में मध्यस्थों की विद्यमानता

उत्पादित वस्तुएं उत्पादक से अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए अधिकांश दशाओं में कई मध्यस्थों के हाथों से गुजरती हैं। वस्तुओं के वितरण में मध्यस्थ व्यापारी संलग्न रहते हैं। आधुनिक व्यावसायिक युग में व्यवसाय में विस्तार एवं व्यावसायिक क्रिया की जटिलता के कारण उत्पादन कार्य वितरण से पृथक किया जाना कुछ सीमा तक उचित एवं अनुकूल है क्योंकि इससे उत्पादक अपने को पूर्णतया उत्पादन कार्य में ही व्यस्त रख सकता है और उसे बड़े पैमाने पर उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं एवं विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

वितरण में संलग्न इन मध्यस्थ व्यापारियों को कुछ लोग समाज पर आश्रित समझते हैं। उनका मत यह है कि ये मध्यस्थ व्यापारी अपनी सेवाओं के बदले आनुपातिक रूप से अधिक पारितोषिक प्राप्त करके निश्चित रूप से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि लाते हैं जिसका अंतिम प्रभाव वस्तुओं के अंतिम उपभोक्ताओं पर पड़ता है और उन्हें वस्तुओं का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इसीलिए इन मध्यस्थों को वस्तु के विक्रय मूल्य में वृद्धि के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। इससे एक ओर उत्पादक को उचित लाभ का प्रतिशत नहीं मिल पाता है और दूसरी ओर ग्राहकों को अधिक मूल्य का भुगतान करना होता है। विशेष रूप से कृषि पदार्थों के वितरण में इन मध्यस्थ व्यापारियों को कृषकों के शोषण के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है।

व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि विशेष रूप से थोक व्यापारी उत्पादकों से बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके अपने पास संग्रहीत कर लेते हैं और जानबूझकर अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके उनके मूल्य में वृद्धि का लाभ उठा लेते हैं, यह स्थिति भी निश्चित रूप से ग्राहकों के लिए घातक है क्योंकि इससे या तो उपभोक्ता वस्तु के उपभोग से वंचित रहता है या उसे उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए अनुचित रूप से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

कुछ स्थितियों में वितरण की श्रृंखला में संलग्न मध्यस्थ व्यापारियों की संख्या अनावश्यक रूप से अधिक होती है जिससे वितरण का माध्य विस्तृत हो जाता है और वस्तुओं के वितरण में जटिलताएं एवं कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। हालांकि कुछ वस्तुओं के वितरण के लिए स्वाभाविक रूप से वस्तु की प्रकृति वितरण के माध्यम को विस्तृत एवं व्यापक बनाती है।

वितरण श्रृंखला में संलग्न व्यापारिक मध्यस्थ अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से वितरण के क्षेत्र में उन्हीं वस्तुओं के वितरण को प्रोत्साहित करते हैं और प्राथमिकता देते हैं जिनमें उनके लाभ का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से अधिक होता है। मध्यस्थ व्यापारियों की यह प्रवृत्ति उपभोक्ता के लिए हितकर नहीं है। क्योंकि इससे उन वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है जिनमें मध्यस्थ व्यापारियों को लाभ कम मिलता है हालांकि वे वस्तुएं ग्राहक के लिए अधिक उपयोगी हो सकती हैं।

इन कारणों के अतिरिक्त वितरण में मध्यस्थों का महत्व आधुनिक युग में बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार भंडारों की स्थापना से भी कुछ कम हो गया है। क्योंकि ये फुटकर भंडार प्रत्यक्ष रूप से बड़े पैमाने पर उत्पादकों से वस्तु क्रय करके उन्हें अंतिम उपभोक्ताओं तक उचित मूल्य पर पहुंचाने के लिए सहायक सिद्ध हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्रृंखलाबद्ध दूकानों, विभागीय भंडारों एवं सुपर बाजारों की भूमिका

इस संबंध में विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही है।

ऊपर जिस आधार पर वितरण में व्यापारिक मध्यस्थों की आलोचना की गई है वे अधिक विवेकपूर्ण एवं तर्कसिद्ध प्रतीत नहीं होते हैं। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि वितरण की शृंखला से इन मध्यस्थों को पूर्णतया निकाल दिया जाए। हालांकि कुछ स्थितियों में व्यापारिक मध्यस्थों ने कुछ कठिनाइयों के कारण एवं व्यापक दृष्टिकोण के अभाव में तथा अनुचित विधि व्यवहारों के प्रयोग द्वारा अपने अस्तित्व को अवांछित बनाया है। पर इन मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा वितरण के क्षेत्र में प्रदान की गई महत्वपूर्ण सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए वितरण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका को नकारना विवेकपूर्ण नहीं है। इनकी सेवाओं के अभाव में वितरण कार्य वास्तव में बहुत अधिक जटिल एवं पेचीदा हो सकता है जिससे वस्तुओं का उत्पादन कार्य भी विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वितरण की शृंखला में इनकी उपस्थिति नितांत आवश्यक है। विपणन व्यवसाय की एक महत्वपूर्ण क्रिया है। इसके अंतर्गत वस्तुओं को वास्तविक रूप से वितरित करने के लिए जो विभिन्न कार्य एवं क्रियाएं निष्पादित की जाती हैं, उनका व्यवसाय के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इन्हीं कार्यों के सफल निष्पादन पर व्यवसाय का अस्तित्व कायम है। मान लीजिए वितरण की शृंखला से इन मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाए तो स्वाभाविक रूप से इनके द्वारा वस्तुओं का वितरण सहज एवं सुगम बनाने के लिए विपणन के जो तमाम कार्य किए जाते हैं, वे समस्त कार्य निश्चित रूप से उत्पादक को निष्पादित करने पड़ेंगे, जैसे वस्तुओं का एकत्रीकरण, संग्रहण, जोखिम वहन, श्रेणीकरण, प्रमापीकरण आदि। यदि इन कार्यों को निष्पादित करने के लिए उत्पादक को बाध्य किया जाए तो इनका निष्पादन अधिक कठिन एवं लागतपूर्ण हो सकता है। दूसरी ओर वस्तुओं का वितरण सीमित हो जाएगा जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य की सफलता विपरीत रूप से प्रभावित होगी और उत्पादक न तो उत्पादन व्ययों में मितव्ययताएं प्राप्त कर सकेगा और न ही उसे श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त वितरण के ये मध्यस्थ व्यापारी अपने व्यवसाय को संचालित करने में प्रायः दक्ष एवं निपुण होते हैं। उत्पादक या उत्पादक के एजेंट्स वितरण कार्य इनकी भांति सुचारु रूप से संचालित नहीं कर पाते हैं। हालांकि कुछ परिस्थितियों में उत्पादन कार्य वितरण से संलग्न करके उत्पादन तथा वितरण दोनों क्षेत्रों में मितव्ययताएं प्राप्त की जाती हैं, पर इस व्यवस्था में मुख्य कठिनाई यह है कि उत्पादन एवं वितरण में सदैव संतुलन एवं समन्वय बनाए रखना संभव नहीं है। इससे व्यावसायिक क्रियाओं के निष्पादन में विशिष्टीकरण का पूर्ण अभाव उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त फुटकर व्यापारी जिस लगन, दक्षता तथा निपुणता से विभिन्न प्रकृति के ग्राहकों को वस्तुएं बेचने में सफल हो पाया है वह वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा निष्पादित नहीं किया जा सकता है।

संक्षेप में, वितरण की शृंखला में इन विभिन्न मध्यस्थ व्यापारियों की सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि इन मध्यस्थों का उन्मूलन वितरण के लिए ही नहीं बल्कि वस्तुओं के उत्पादन कार्य के लिए भी घातक सिद्ध होगा। चूंकि उत्पादन कार्य की निरंतरता एवं सफलता प्रभावशाली वितरण व्यवस्था पर आधारित है अतः इन मध्यस्थ व्यापारियों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवा एवं सहायता का पूरा उपयोग करने के लिए उनके द्वारा अपनाए जाने वाले अनुचित एवं अवांछनीय विधि व्यवहारों पर नियंत्रण रखा जाना चाहिए ताकि वे वस्तुओं की जमाखोरी करके बाजार में कृत्रिम अभाव उत्पन्न न कर सकें और अत्यधिक मूल्य वसूल करके ग्राहकों का शोषण न कर सकें, और संपूर्ण वितरण व्यवस्था में इनको उचित प्रकार से संयोजित करके वस्तुओं

का वितरण सहज एवं सुगम बनाया जा सके। क्योंकि हमारे देश में, जहां कृषि पदार्थों का सुव्यवस्थित उत्पादन एवं वितरण, सामान्य जनजीवन तथा औद्योगिक विकास का आधार है, उत्पादन तथा वितरण कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए समुचित वितरण व्यवस्था के अभाव में बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की तमाम व्यवस्थाओं के साथ साथ व्यापारिक मध्यस्थ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

15

यातायात के साधन

परिवहन या यातायात

यातायात एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा वस्तुओं, व्यक्तियों तथा सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे आवश्यकता के स्थान पर ले जाया जाता है। यातायात के साधनों के विकास ने व्यवसाय के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यातायात को विशेष रूप से औद्योगिक विकास का कारण एवं परिणाम दोनों समझा जा सकता है क्योंकि जहां एक ओर सुव्यवस्थित एवं तीव्र गति के यातायात के साधनों के विकास से व्यावसायिक क्रिया के विस्तार एवं विकास को साकार बनाया गया है, वहीं दूसरी ओर व्यावसायिक क्षेत्र में विकास के साथ साथ समय समय पर अधिक उपयोगी तथा अनुकूल साधनों के विकास को प्रोत्साहन भी मिला है।

जैसाकि ऊपर बताया गया है, यातायात व्यवसाय के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि समाज का सर्वतोन्मुखी विकास इससे प्रभावित होता है, और इसीलिए यातायात व्यवस्था को देश की आर्थिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक उन्नति का बैरोमीटर भी कहा गया है। मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में मानव की आवश्यकताएं काफी सीमित थीं और वस्तुओं का उत्पादन भी व्यक्तिगत या पारिवारिक आवश्यकताओं को ही पूरा करने के लिए सीमित मात्रा में किया जाता था। तत्पश्चात धीरे धीरे मानव स्वनिर्मित या एकत्रित वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक हिस्सा अन्य वस्तुएं प्राप्त करने के लिए प्रयोग करने लगा। इसी अवस्था से किसी न किसी रूप में यातायात की व्यवस्था का जन्म हुआ। आज इस व्यवस्था का इतना विकास हो चुका है कि काफी कम समय में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से पहुंचा जा सकता है। इसी प्रकार दूर दूर स्थित उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुएं कुछ ही समय में अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाई जा सकती हैं। आज के युग में उपभोक्ता अपने ही देश में उत्पादित वस्तुओं का उपभोग नहीं करता है बल्कि उसे अन्य देशों द्वारा उत्पादित वस्तुएं प्रयोग करने का अवसर प्राप्त है। जिससे वह व्यय किए गए धन से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर रहा है। हालांकि यातायात की व्यवस्था संपूर्ण व्यावसायिक ढांचे के लिए महत्वपूर्ण है फिर भी व्यवहार में यातायात को विपणन का एक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है, क्योंकि विपणन क्रियाओं और कार्यों का अंतिम उद्देश्य उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुएं दूर दूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं को भौतिक रूप से वितरित करना है। इसके लिए यातायात व्यवस्था के द्वारा वस्तुओं को विभिन्न उत्पादन केंद्रों से केंद्रीय स्थान में एकत्रित किया जाता है और उसके पश्चात आगे उपभोक्ताओं की ओर उनका बहाव गतिशील बनाने के लिए फिर विभिन्न विक्रय केंद्रों तक ले जाया जाता है।

यातायात की व्यवस्था के द्वारा वस्तुओं में समय उपयोगिता एवं स्थान उपयोगिता उत्पन्न की जाती है। क्योंकि तीव्र गति वाले यातायात साधनों के द्वारा शीघ्र नाशवान वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं को उनकी मौलिक उपयोगिता बनाए रखते हुए कुछ ही समय में दूर दूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं तक पहुंचाया जाता है। इसी प्रकार यातायात व्यवस्था के द्वारा वस्तुएं उस स्थान से, जहां वे कम उपयोगी हों, उन स्थानों तक, जहां उनकी उपयोगिता अधिक हो, आसानी से उपलब्ध कराई जाती हैं।

संपूर्ण व्यावसायिक क्षेत्र में यातायात के महत्व को भलीभांति समझने के लिए व्यवसाय के विभिन्न कार्यों एवं क्षेत्रों में उसकी भूमिका को आंका जाना चाहिए।

यातायात व्यवस्था का उत्पादन के क्षेत्र में महत्व : यातायात व्यवस्था उत्पादक को वस्तुओं के उत्पादन का कार्य निरंतर रूप से साकार बनाने में विभिन्न स्तरों में सहायता पहुंचाती है। विशेष रूप से बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन, जिसमें उत्पादक को विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं, यातायात की प्रभावशाली व्यवस्था द्वारा प्रोत्साहित हुआ है। बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए एक ओर तो विभिन्न स्रोतों से उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चा माल क्रय करके उसे यथासमय उत्पादन केंद्र तक लाया जाता है, दूसरी ओर बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्य निरंतर जारी रखने के लिए उत्पादित वस्तुओं का बड़े पैमाने पर वितरण भी आवश्यक है जो यातायात की व्यवस्था द्वारा ही संचालित किया जा सका है, क्योंकि उत्पादित वस्तुएं पर्याप्त यातायात के साधनों द्वारा दूर दूर स्थानों में स्थित अंतिम उपभोक्ताओं तक पहुंचाई जाती हैं।

समूचे देश में सुव्यवस्थित यातायात व्यवस्था की मौजूदगी के परिणामस्वरूप उत्पादन कार्य में विशिष्टीकरण लाया जा सका है। आज जिसके फलस्वरूप प्रत्येक उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करने में व्यस्त है जिनको वह तुलनात्मक रूप से कम लागत पर उत्पादित कर सकता है। यातायात के माध्यम से विभिन्न स्थानों में उत्पादित वस्तुएं आवश्यकता पड़ने पर अंतिम उपभोक्ताओं तक शीघ्र पहुंचाई जा सकती हैं और उत्पादक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ग्राहकों की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु स्वयं उत्पादित करे। यातायात के पर्याप्त साधनों के प्रादुर्भाव से केवल राष्ट्रीय उत्पादन में ही विशिष्टीकरण नहीं लाया जाता है बल्कि आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उत्पादन कार्य विशिष्टीकरण के सिद्धांत पर आधारित है क्योंकि कुछ विशेष वस्तुओं का कम लागत पर अत्यधिक उत्पादन करके एवं उनका निर्यात करके वह देश अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं दूसरे देशों से आयात कर लेता है। संक्षेप में, यातायात व्यवस्था न केवल उत्पादन कार्य में सहायक है बल्कि इससे उत्पादक वस्तु की लागत में कमी भी लाई जा सकी है।

यातायात का उपभोक्ताओं के लिए महत्व : यातायात की व्यवस्था का उपभोक्ताओं द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की किस्म, मात्रा आदि पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इसका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(अ) यातायात के पर्याप्त सुव्यवस्थित साधनों के विकास से उपभोक्ताओं को उचित किस्म की वस्तु उचित दाम पर प्राप्त होती है क्योंकि यातायात की व्यवस्था से ही बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन संभव हुआ है जिसमें उत्पादक विभिन्न मितव्ययताएं प्राप्त करके तुलनात्मक रूप से कम लागत पर वस्तु उत्पादित कर सकता है। इसका अंतिम लाभ अंतिम उपभोक्ताओं को भी हो सकता है।

(ब) यातायात के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाई जाती है। यदि बाजार में वस्तुओं के अभाव के कारण या उनकी असंतुलित पूर्ति के कारण वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव आता है तो यातायात के प्रभावशाली साधनों के द्वारा विभिन्न स्थानों में

वस्तु की मांग एवं पूर्ति को संतुलित करके मूल्यों में आए अनावश्यक उतार-चढ़ाव को प्रतिबंधित किया जा सकता है।

(स) यातायात साधनों के द्वारा अंतिम उपभोक्ताओं को एक ही वस्तु की विभिन्न किस्में उपलब्ध हो सकती हैं क्योंकि विभिन्न उत्पादन केंद्रों से उत्पादित वस्तुएं आसानी से ग्राहकों तक पहुंचाई जा सकती हैं।

(द) अंतिम उपभोक्ता शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं (जिनका उत्पादन दूर दूर स्थानों में किया जा रहा हो) का उपभोग भी कर सकता है क्योंकि वस्तुओं का उत्पादन हो जाने के पश्चात शीघ्र यातायात करके उन्हें सुदूर स्थानों में स्थित उपभोक्ताओं तक वितरित किया जा सकता है।

वितरण में यातायात का महत्व : मूल रूप से यातायात व्यवस्था के द्वारा ही उत्पादित वस्तुएं भौतिक रूप से दूर दूर स्थानों में स्थित ग्राहकों को वितरित की जाती हैं। यातायात व्यवस्था वितरण के कार्य के लिए निम्न प्रकार से महत्वपूर्ण है :

(अ) यातायात द्वारा वस्तुओं के वितरण में स्थान की जो कठिनाई उत्पन्न होती है उसे दूर करके वस्तुओं का वितरण सहज एवं सुगम बनाया जाता है क्योंकि उत्पादक अधिकांशतया अंतिम उपभोक्ताओं से काफी दूर दूर स्थानों में स्थित होते हैं।

(ब) यातायात व्यवस्था वस्तुओं के बाजार का विस्तार करने में भी सहायक है, क्योंकि इसके द्वारा वस्तुएं दूर दूर स्थानों से यातायात करके अंतिम उपभोक्ताओं तक आसानी से पहुंचाई जा सकती हैं।

(स) वितरण में समय की कठिनाई को भी तीव्र गति वाले प्रभावशाली यातायात के साधनों के द्वारा दूर किया जा सका है।

(द) यातायात व्यवस्था से वस्तु की पूर्ति में निरंतरता बनी रहती है और अनावश्यक रूप से वस्तुएं संग्रहीत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र वस्तु यातायात करके आवश्यकता पूरी कर ली जाती है और संग्रहण व्ययों में मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है।

यातायात का सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व

1. यातायात द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों के रहन-सहन का स्तर सुधारा जा सकता है क्योंकि इस व्यवस्था से बड़े पैमाने पर उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम दामों पर उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता एक ही वस्तु की विभिन्न किस्मों में से अपनी रुचि की वस्तु क्रय कर सकता है। उसे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यथासमय वस्तुएं उपलब्ध होती हैं।

2. यातायात के साधनों का संचालन समाज के विभिन्न वर्गों के लिए रोजगार के अवसर भी प्रदान करता है।

3. यातायात के साधनों के द्वारा मनुष्य की गतिशीलता में वृद्धि हुई है और अल्प समय में ही श्रमिक वर्ग अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए दूर दूर के औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए जा सकते हैं।

4. यातायात व्यवस्था मानव सभ्यता के विकास में भी सहायक है। इस व्यवस्था से मानव व्यवहार में विद्यमान प्रवृत्तियों का आदान-प्रदान संभव हो पाया है।

5. इस व्यवस्था से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक संबंधों के अतिरिक्त परस्पर सहयोग तथा एकता की भावना जाग्रत हुई है।

यातायात के साधन

जैसाकि पहले बताया गया है, यातायात की व्यवस्था का विकास मानव सभ्यता के विकास से जुड़ा हुआ है। मानव सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं में समय की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुकूल अलग अलग प्रकार के यातायात के साधन प्रयोग में लाए गए। प्राचीन समय से लेकर आधुनिक युग तक प्रयोग में लाए जाने वाले समस्त यातायात के साधनों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. स्थल यातायात,
2. जल यातायात,
3. हवाई यातायात।

स्थल यातायात

यह यातायात का सबसे प्राचीन तथा आधुनिक युग तक सबसे अधिक उपयोगी साधन है। प्राचीन समय में मानव आवश्यकताएं सीमित थीं और व्यवसाय का क्षेत्र भी सीमित था। लोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक वस्तुओं का यातायात करने के लिए अधिकांश दशाओं में स्थल मार्गों पर वाहन के रूप में जानवरों का प्रयोग करते थे। कालांतर में व्यावसायिक क्षेत्र की उन्नति, विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में प्रगति के फलस्वरूप स्थल यातायात के विभिन्न साधन विकसित होते रहे हैं। आज (ग्रामीण क्षेत्रों में) बैलगाड़ियां, मोटर, ट्रक तथा रेल यातायात के इस वर्ग के प्रमुख साधन समझे जाते हैं। अत: इस वर्ग के समस्त साधनों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) जानवरों द्वारा यातायात,
(ब) सड़क यातायात,
(स) रेल यातायात।

जानवरों द्वारा यातायात : सुव्यवस्थित यातायात व्यवस्था के अभाव में यातायात का यह साधन काफी प्रचलित रहा है। विशेष रूप से व्यवसाय के विकास के प्रारंभिक चरणों में इस साधन को काफी उपयोगी समझा जाता रहा है। पर आधुनिक व्यवसाय में इस माध्यम का प्रचलन लगभग समाप्त हो गया है।

सड़क यातायात : यह स्थल यातायात का महत्वपूर्ण साधन है। इसका विकास रेल यातायात से पहले हो चुका था, और आधुनिक युग तक भी इसकी लोकप्रियता इसके महत्व की सूचक है। अन्य साधनों की तुलना में इसमें निम्न लाभ पाए जाते हैं। इसमें मुख्य रूप से मोटर, ट्रक, बस आदि सम्मिलित किए जाते हैं। इसीलिए इसे मोटर यातायात भी कहा जाता है।

1. यातायात का यह साधन प्रेषक और प्रेषकी दोनों के लिए सुविधाजनक है क्योंकि वस्तुओं का प्रषक अपने गोदाम से ट्रकों पर वस्तुएं लदवाकर प्रेषकी के गोदाम तक भेज सकता है और उसे वस्तुएं निर्दिष्ट स्थान तक यातायात करने के लिए अन्य स्थानों तक नहीं पहुंचानी पड़ती हैं, जैसे रेलवे स्टेशन, बस अड्डे आदि।

2. इस साधन में वस्तुओं को भेजने के समय तथा मात्रा दोनों में पर्याप्त लोच विद्यमान है क्योंकि वस्तुओं का प्रेषक अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएं भेजने के समय तथा मात्रा में परिवर्तन कर सकता है।

3. विशेष रूप से यदि वस्तुएं कम दूर स्थान तक यातायात करनी होती हैं तो यातायात का यह साधन तुलनात्मक रूप से सबसे कम लागतवाला एवं शीघ्र गति का समझा जाता है।

4. सड़क यातायात की व्यवस्था के संचालन के लिए सड़कों के निर्माण की लागत रेलवे की तुलना में कम है और प्रयोग में लाए जाने वाले साधन मोटर, ट्रक आदि को क्रय करने में अधिक धनराशि विनियोजित नहीं करनी पड़ती है।

5. सड़क यातायात व्यवस्था इस दृष्टिकोण से भी सरल समझी जाती है क्योंकि इसमें किराए का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है।

6. मोटर ट्रक द्वारा भेजी गई वस्तुओं की देखभाल चालक स्वयं करता है। इसमें सुरक्षा का तत्व विद्यमान रहता है।

इस साधन में मुख्य रूप से दो दोष हैं। प्रथम, वस्तु के नष्ट होने का जोखिम अधिक होता है। भेजी गई वस्तुएं चालक की लापरवाही, मौसम, दुर्घटना आदि के कारण नष्ट हो सकती हैं। दूसरे, यह साधन रेल की तुलना में अधिक दूरी तय करने के लिए उपयोगी एवं अधिक तीव्र गति वाला साधन नहीं है।

रेल यातायात : आधुनिक युग में रेल यातायात स्थल यातायात का सबसे अधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण साधन बन गया है, क्योंकि स्थल यातायात व्यवसाय का लगभग 3 / 4 हिस्सा रेलवे द्वारा संचालित किया जाता है। इस साधन के विकास के फलस्वरूप, बड़े पैमाने पर व्यवसाय की आवश्यकताएं पूरी की जा सकी हैं क्योंकि वस्तुएं काफी अधिक मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान तक काफी कम समय में पहुंचाई जा सकती हैं। सड़क यातायात के अन्य साधनों की भांति इस साधन में भी उनकी तुलना में निम्न लाभ एवं दोष विद्यमान हैं :

लाभ : 1. यातायात का यह साधन काफी लंबी दूरी तय करने के लिए सबसे अधिक उपयोगी समझा जाता है, क्योंकि इसकी गति अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।

2. भारी वस्तुओं के यातायात के लिए भी यह साधन सबसे अधिक मितव्ययी है।

3. इस साधन के संचालन में लोच विद्यमान रहती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर रेल के इंजन के साथ अतिरिक्त डिब्बे संलग्न किए जा सकते हैं और इन डिब्बों की संख्या आवश्यकतानुसार नियोजित की जा सकती है।

4. रेल द्वारा वस्तुएं प्रेषित करने में पूर्ण सुरक्षा बनी रहती है। यदि वस्तु किन्हीं कारणों से नष्ट हो जाए तो रेलवे विभाग से इस क्षति की पूर्ति कराई जा सकती है।

5. रेल के द्वारा जो वस्तुएं भेजी जाती हैं, उसके संबध में प्राप्त रसीद 'स्वामित्व का दस्तावेज' समझी जाती है, और इस रसीद को जमानत के रूप में गिरवी रखकर आवश्यकतानुसार ऋण लिया जा सकता है।

6. रेलवे यातायात में समय की निश्चितता एवं मौसमी परिवर्तनों का कम प्रभाव इस साधन को अधिक विश्वसनीय बनाता है।

7. रेलवे द्वारा वस्तुएं प्रेषित करने में रेलवे विभाग कुछ अतिरिक्त सेवाएं भी प्रदान करता है, जैसे रेलवे स्टेशन से प्रेषकी के गोदाम तक वस्तु पहुंचाने की सुविधा।

दोष : 1. यातायात के इस साधन को संचालित करने की प्रारंभिक लागत तुलनात्मक रूप से काफी अधिक होती है क्योंकि रेल की लाइन बिछवाने में बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोजन किया जाता है।

2. समय की निश्चितता इस साधन को बेलोचदार बना देती है क्योंकि रेलवे विभाग की समय तालिका के ही अनुसार प्रेषक को वस्तु भेजने की व्यवस्था करनी पड़ती है और निर्धारित समय से पूर्व ही वस्तु रेलवे स्टेशन तक पहुंचानी पड़ती है।

3. कम दूरी तथा कम वस्तुओं के यातायात के लिए यह साधन उपयुक्त नहीं समझा जाता है, क्योंकि मोटर ट्रक की अपेक्षा इसमें यातायात लागत अधिक होती है।

जल यातायात

संपूर्ण यातायात के क्षेत्र में जल यातायात भी व्यवसाय के विस्तार में सहायक है। विशेष रूप से उत्पादन में विशिष्टीकरण के सिद्धांतों का पालन करने से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रोत्साहित हुआ है और ग्राज प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन अधिक करता है जिनके उत्पादन के लिए उसकी भौगोलिक स्थिति अनुकूल है और पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं तथा जिनको तुलनात्मक रूप से कम लागत पर उत्पादित किया जा सकता है। अधिकांश दशाओं में विभिन्न देशों के बीच सड़क एवं रेल मार्गों के अभाव के कारण जल यातायात की विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सफलता में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज एक देश से दूसरे देश को वस्तुओं का आयात एवं निर्यात बड़ी मात्रा में समुद्री जहाजों द्वारा ही किया जाता है। वैसे इस साधन का प्रयोग राष्ट्रीय व्यापार में भी किया जा सकता है पर यह साधन विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अधिक उपयोगी है।

लाभ : 1. मोटर ट्रक तथा रेल की तुलना में यातायात का यह साधन अधिक मितव्ययी है क्योंकि इसका प्रयोग पानी के जहाजों तथा स्टीमरों द्वारा जलमार्गों से, जो पूर्णतया प्राकृतिक है, वस्तुएं यातायात करने के लिए किया जाता है।

2. जलमार्गों से समुद्री जहाजों के द्वारा काफी भारी सामान एक देश से दूसरे देश तक ले जाया जा सकता है।

3. जल यातायात के द्वारा व्यापार में विस्तार हुआ है क्योंकि इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रोत्साहित हुआ है।

4. यातायात के इस साधन के विकास के फलस्वरूप उचित कीमत पर अच्छी किस्म की वस्तुएं अन्य देशों से प्राप्त की जा सकती हैं।

5. विभिन्न देशों में व्यापारिक संबंधों के कारण उनमें परस्पर सहयोग एवं एकता की भावना जागृत हुई है।

6. यातायात की इस व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला है क्योंकि उद्योगीकरण के लिए दुर्लभ वस्तुएं, पूंजीगत वस्तुएं आदि अन्य देशों से आयात की जा सकती हैं।

दोष : 1. जल यातायात के द्वारा वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने या ले जाने में अधिक समय लगता है क्योंकि जलमार्ग काफी लंबे होते हैं और जहाजों की गति धीमी होती है।

2. जल मार्गों से वस्तुओं का यातायात करने में वस्तुएं नष्ट होने का जोखिम अधिक होता है क्योंकि समुद्री खतरों का भय बना रहता है।

3. यातायात के इस साधन का क्षेत्र काफी सीमित है क्योंकि इसको केवल उस स्थिति में इस्तेमाल किया जाता है जब दो स्थानों या दो देशों के बीच जलमार्ग विद्यमान हों।

4. यातायात का यह साधन तुलनात्मक रूप से कम विश्वसनीय समझा जाता है क्योंकि मौसम में परिवर्तन का इस साधन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

हवाई यातायात

हवाई यातायात भी यातायात के अन्य साधनों की ही भांति कुछ विशेष परिस्थितियों में अधिक उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस साधन का विकास काफी आधुनिक है। विकास के प्रारंभिक चरणों में इस साधन का प्रयोग व्यक्तियों के आने जाने तक ही

सीमित था पर अब हवाई यातायात को वस्तुओं का यातायात करने के लिए भी प्रयोग में लाया जाने लगा है। इस साधन में निरंतर विकास के परिणामस्वरूप वस्तुओं का यातायात करने के लिए बड़े बड़े उपयुक्त हवाई जहाजों का आविष्कार किया गया है और इसके व्ययों में कमी लाने के प्रयास किए गए हैं।

लाभ : 1. हवाई यातायात द्वारा वस्तुएं तुलनात्मक रूप से कम समय में एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाई जाती हैं, क्योंकि यातायात के लिए हवाई जहाजों द्वारा प्रत्यक्ष एवं समीपवर्ती मार्गों का प्रयोग किया जाता है और हवाई जहाजों की गति काफी तीव्र होती है।

2. यातायात की तुलनात्मक लागत कम होती है क्योंकि वस्तुओं के यातायात में समय बहुत कम लगता है।

3. यातायात का यह साधन विशेष रूप से शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं, कम वजन की मूल्यवान वस्तुओं एवं आपातकालीन स्थिति में अधिक उपयुक्त एवं उपयोगी समझा जाता है।

4. जल यातायात की भांति हवाई यातायात भी प्राकृतिक साधनों की सहायता से संचालित किया जाता है (और रेलवे तथा सड़क यातायात की भांति इसके लिए सड़कों का निर्माण करने तथा रेलवे लाइनें बिछाने में अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं होती है।)

5. यातायात का यह साधन सबसे अधिक तीव्र गति का साधन है।

दोष : 1. यातायात का यह साधन अधिक विश्वसनीय नहीं समझा जाता है क्योंकि मौसम में परिवर्तन इस साधन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

2. यातायात में अधिक लागत तथा दुर्घटनाओं का भय भी इस साधन के प्रयोग को अलोकप्रिय बनाता है।

3. यातायात के इस साधन का प्रयोग कुछ ही परिस्थितियों तक सीमित है विशेष रूप से यदि यातायात की जाने वाली वस्तुएं वजन में हल्की और तुलनात्मक रूप से अधिक मूल्यवान हों।

यातायात के साधन का चुनाव

यातायात के साधन का चुनाव वास्तव में एक जटिल कार्य है क्योंकि वस्तुओं के यातायात के लिए व्यवसायी को कई साधन उपलब्ध होते हैं और प्रत्येक साधन अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के लिए अलग अलग परिस्थितियों में उपयुक्त एवं उपयोगी होते हैं। किन्हीं परिस्थितियों में व्यवसायी के लिए समय अधिक महत्वपूर्ण होता है और कुछ स्थितियों में यातायात की लागत। आमतौर पर यातायात की जाने वाली वस्तु की प्रकृति, आवश्यकता, समय का महत्व, वैकल्पिक साधनों की उपलब्धता आदि तत्व यातायात के साधन के चुनाव को प्रभावित करते हैं। यातायात के विभिन्न साधनों में निहित लाभ एवं दोषों का विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किस परिस्थिति में यातायात के किस साधन को प्रयोग में लाया जाएगा यह निर्णय लेते समय व्यवसायी निर्णय को प्रभावित करने वाले समस्त तत्वों का विश्लेषण करता है और उपलब्ध साधनों का तुलनात्मक अध्ययन करके उपयुक्त माध्यम का चुनाव करता है। यातायात के साधन का चुनाव करते समय निम्न तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

1. **लागत तत्व** : यातायात के साधन की लागत उसके चुनाव के निर्णय को प्रभावित करती है, क्योंकि वस्तुओं के यातायात के लिए उपलब्ध साधनों में प्रत्येक साधन की लागत भिन्न भिन्न होती है। अतः इन समस्त साधनों की संभावित लागत की दृष्टि

से इनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए और जिस साधन द्वारा यातायात लागत कम आती है उस साधन को चुना जाना चाहिए। लागत के दृष्टिकोण से यदि सामान अधिक भारी है और दूर स्थान तक यातायात किया जाना है तो इसके लिए रेल यातायात तुलनात्मक रूप से सबसे अधिक उपयुक्त है और इसी प्रकार यदि वस्तुएं अधिक भारी नहीं हैं और कम दूरी तय की जानी है तो मोटर ट्रक यातायात इसके लिए उपयुक्त होगा। विदेशों को भारी वस्तुएं यातायात करने के लिए जल यातायात उपयुक्त है, और लागत दृष्टि से हवाई यातायात भारी वस्तुओं के लिए सबसे कम प्रचलित है क्योंकि भारी सामान को यातायात करने के लिए इसमें सबसे अधिक लागत आती है।

2. समय : व्यवसायी के लिए समय का तत्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। समय के महत्व में भिन्नता साधन की उपयुक्तता को प्रभावित कर सकती है। समय को दृष्टि में रखते हुए प्रथम स्थान में हवाई यातायात, उसके पश्चात रेल यातायात, मोटर ट्रक यातायात और अंत में जल यातायात रखा जा सकता है, क्योंकि पानी के जहाजों की गति काफी धीमी होती है और दूसरी ओर समुद्री मार्ग काफी लंबा होता है।

3. गति : वैसे तो गति एवं समय एक दूसरे से संबंधित तत्व हैं क्योंकि यदि यातायात के साधन की गति तीव्र है तो उसमें तुलनात्मक रूप से कम समय लगेगा, और यदि साधन की गति धीमी है तो यातायात में अधिक समय लगना स्वाभाविक है, पर कुछ परिस्थितियों में यातायात के साधन की गति तीव्र होते हुए भी वस्तुओं के यातायात में वास्तविक रूप से अधिक समय लग जाता है। यह समय वस्तुओं को उतारने-चढ़ाने में, साधन तक वस्तुएं पहुंचाने में या एक स्थान में पहुंचे हुए सामान की निकासी के लिए औपचारिकताए पूरी करने में लग सकता है। इसीलिए साधन की गति को इन परिस्थितियों में समय से अलग तत्व समझा जाता है, जैसे हवाई यातायात की गति काफी तीव्र है पर वास्तव में यातायात की गई वस्तुएं प्राप्त करने में उनकी निकासी आदि के संबंध में तुलनात्मक रूप से अधिक समय लग जाता है।

4. वस्तुओं की सुरक्षा : वस्तुएं यातायात के दौरान भी विभिन्न कारणों से नष्ट हो सकती हैं जिनमें मौसम में परिवर्तन, दुर्घटनाओं की संभावना तथा साधन में निहित अन्य खतरे सम्मिलित हैं। इस दृष्टिकोण से रेलवे यातायात सबसे अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी समझा जाता है, क्योंकि इसमें मौसम का सबसे कम प्रभाव पड़ता है और दुर्घटनाओं की संभावना कम होती है। हवाई यातायात का दूसरा स्थान है, हालांकि इसमें मौसम का तुरंत प्रभाव पड़ता है पर दुर्घटनाएं तुलनात्मक रूप से कम होती हैं और जल यातायात तथा सड़क यातायात में वस्तुओं के नष्ट होने की संभावना अधिक होती है।

5. सेवा में लोच : मोटर ट्रक यातायात द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं में सबसे अधिक लोच होती है, क्योंकि वस्तुओं का प्रेषक अपने ही गोदाम में वस्तुएं ट्रक पर लदवा सकता है और ये वस्तुएं ट्रक द्वारा प्रेषकी के गोदाम तक पहुंचाई जाती हैं और प्रेषक समय में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करके इस साधन को उपयोगी बना सकता है। पर रेल यातायात समय एवं स्थान के दृष्टिकोण से पूर्णतया बेलोचदार होता है, क्योंकि प्रेषक को निर्धारित समय एवं स्थान पर वस्तु भेजने की व्यवस्था करनी पड़ती है। हालांकि रेलवे की मोटर ट्रक साधन के साथ प्रतिस्पर्धा के लिए वस्तुएं रेलवे स्टेशन से प्रेषकी के गोदाम तक पहुंचाने की व्यवस्था भी की जाती है, फिर भी प्रेषक समय सारिणी में अपनी आवश्यकता के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। इसी प्रकार हवाई यातायात एवं जल यातायात के साधनों में भी इन तत्वों में लोच का पूर्ण अभाव है।

6. निरंतरता : मौसम में परिवर्तन यातायात के साधनों की निरंतरता को प्रभावित करता है। समय में निश्चितता के फलस्वरूप रेल यातायात सबसे अधिक निरंतर एवं विश्वस-

नीय समझा जाता है क्योंकि यह मौसम में परिवर्तन से बहुत कम प्रभावित होता है। हालांकि समय की निश्चितता हवाई यातायात में भी है पर मौसम में परिवर्तन के प्रभाव से यह निश्चितता कम हो जाती है। इसीलिए मोटर ट्रक साधन को दूसरा स्थान दिया जा सकता है। जल यातायात में तुलनात्मक रूप से सबसे कम निरंतरता पाई जाती है, क्योंकि समुद्री मार्गों में पानी के बहाव में असंतुलन इस माध्यम को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

यातायात के साधनों के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक साधन अलग अलग परिस्थितियों में यातायात की अलग अलग जरूरतों के लिए अपनी जगह उपयुक्त एवं उपयोगी है, इसको संक्षेप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

1. अधिक मात्रा में भारी सामान दूर स्थान तक यातायात करने के लिए रेलवे यातायात सबसे अधिक उपयुक्त एवं उपयोगी है।

2. कम मात्रा में वस्तुएं नजदीक स्थान तक ले जाने के लिए मोटर ट्रक यातायात को तुलनात्मक रूप से सबसे अधिक लोकप्रियता मिली है।

3. कम वजन की वस्तुओं के लिए, जो अधिक मूल्यवान हों और जिनमें समय अधिक महत्वपूर्ण हो, हवाई यातायात सर्वोत्तम समझा जाता है।

4. जल यातायात उन स्थितियों में उपयोगी है जबकि यातायात में समय अधिक महत्वपूर्ण न हो, वस्तुएं काफी भारी हों और यातायात के लिए जलमार्ग उपलब्ध हों, इसीलिए जल यातायात को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विशेष स्थान प्राप्त है।

रेलवे भाड़े व किराए का निर्धारण

यातायात मूल रूप से एक व्यावसायिक क्रिया है क्योंकि यातायात की सेवाएं एवं सुविधाएं अन्य उद्योगों तथा व्यापारिक संस्थाओं द्वारा निर्मित वस्तुओं या सेवाओं के तुल्य हैं। पर जहां तक रेलवे यातायात का प्रश्न है, रेलवे यातायात एवं व्यावसायिक संस्था में मूल अंतर यह है कि रेलवे एक जनसेवार्थ या जनोपयोगी संस्था है जबकि सामान्य व्यवसाय पूर्णतया व्यावसायिक सिद्धांतों पर संचालित किया जाता है। जनोपयोगी संस्था होते हुए भी रेलवे के लिए यह आवश्यक है कि प्रदान की गई सेवाओं के लिए उचित प्रतिफल प्राप्त किया जाए ताकि यातायात के इस साधन के अस्तित्व को दीर्घकाल तक बनाया रखा जा सके और इसमें विस्तार किया जा सके। रेलवे द्वारा व्यावसायिक क्षेत्र तथा समाज को यातायात की जो सेवाएं प्रदान की जाती हैं उनके बदले इसे जो प्रतिफल प्राप्त होता है उसे किराया तथा भाड़ा कहा जाता है। रेलवे द्वारा अपने ग्राहकों से वसूल किया जाने वाला भाड़ा तथा किराया पूर्णतया व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर निर्धारित नहीं किया जाता है क्योंकि रेलवे मूल रूप से जनोपयोगी संस्था है। वैसे तो भाड़े के निर्धारण के लिए सामान्य तौर से मांग तथा पूर्ति के सिद्धांत को महत्व दिया जाता है, पर इसके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक समझा जाता है, जैसे यातायात की जाने वाली वस्तु की मूल प्रकृति, समाज के लिए वस्तु की उपयोगिता आदि। रेलवे द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए समान भाड़ा एवं किराया निर्धारित नहीं किया जाता है, जैसे उद्योगों के लिए कच्चे माल का यातायात, उपभोक्ताओं की बुनियादी जरूरत की वस्तुओं का यातायात, विलासिता की वस्तुओं का यातायात, राष्ट्रहित के उद्योगों के उत्पादन कार्य हेतु आवश्यक सामग्री का यातायात आदि क्योंकि अलग अलग प्रकार की वस्तुओं की समाज के लिए भिन्न उपयोगिता होती है। विलासिता की वस्तुओं का उपभोग समाज के धनी वर्ग द्वारा किया जाता है जबकि आवश्यकीय वस्तुएं प्रत्येक वर्ग द्वारा प्रयोग की जाती हैं अतः यह

न्यायसंगत नहीं समझा जाता है कि इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के लिए समान दर का भाड़ा या किराया वसूल किया जाए। इसी प्रकार चूंकि रेलवे एक जनोपयोगी संस्था है इसके द्वारा राष्ट्रहित के उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए और अन्य उद्योगों में आम प्रयोग के कच्चे माल के यातायात के लिए भाड़े एवं किराए की दर में एकरूपता उचित नहीं समझी जाती है।

इस संबंध में विथम तथा राबर्ट्स का कथन महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार, 'यदि विभिन्न वस्तुओं के लिए रेलवे द्वारा समान भाड़ा वसूल किया जाए तो इससे मूल आवश्यकता की वस्तुओं (बेसिक कमोडिटीज) की गति में रुकावट पड़ेगी और विलासिता की वस्तुओं के यातायात को प्रोत्साहन मिलेगा। अत: रेलवे को विभिन्न वस्तुओं के यातायात के लिए प्रत्येक स्थिति में उचित दर के भाड़े का निर्धारण करना पड़ता है ताकि एक ओर तो रेलवे पूर्णतया जनोपयोगी संस्था की भांति कार्य कर सके और दूसरी ओर कुछ लाभ अर्जित करके यातायात के इस महत्वपूर्ण साधन को पूर्णतया विकसित किया जा सके।

सामान्य तौर पर रेलवे द्वारा भाड़ा एवं किराया निर्धारित करने के लिए निम्न सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है।

1. लागत सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार रेलवे द्वारा वस्तुओं तथा व्यक्तियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने के लिए जो वास्तविक लागत वहन करनी पड़ती है उसको किराए या भाड़े के रूप में वसूल किया जाना आवश्यक है। यातायात में रेलवे द्वारा वहन किए जाने वाले समस्त लागत व्ययों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है : (अ) स्थाई लागत, (ब) कार्यशील लागत। स्थाई लागत के अंतर्गत आमतौर पर रेलवे लाइन बिछाने की लागत, रेलवे इंजन, वैगन तथा अन्य पूंजीगत व्यय सम्मिलित हैं और कार्यशील लागत में रेलवे के संचालन से संबंधित समस्त व्यय, जैसे कर्मचारियों का वेतन, ईंधन का व्यय, मरम्मत आदि में किया गया व्यय तथा अन्य दैनिक खर्चे सम्मिलित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त साधन को विकसित करने के लिए अन्य आवश्यक व्यय भी इसमें सम्मिलित किए जाते हैं।

एक वस्तु को यातायात करने में रेलवे द्वारा भाड़े व किराए का निर्धारण करने में जो लागत वहन की जाती है उसका निर्धारण करने में निम्न तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

(अ) वस्तु की मात्रा : वस्तु के यातायात में उसकी मात्रा का यातायात लागत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, हालांकि स्थाई लागत एक निश्चित सीमा तक स्थिर रहती है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यय हैं जो अर्धस्थाई प्रकृति के होते हैं जिनमें परिवर्तन मात्रा में वृद्धि के अनुपात में नहीं होते हैं तथा कुछ ऐसे भी व्यय हैं जिन्हें कार्यशील लागत कहा जाता है और जिनमें यातायात की जाने वाली वस्तु की मात्रा में वृद्धि के अनुपात में ही वृद्धि होती है। मात्रा में कमी से इन व्ययों में भी आनुपातिक कमी होती है। अत: यदि यातायात की जाने वाली वस्तुएं अधिक मात्रा में हैं तो यह स्वाभाविक है कि प्रति वस्तु यातायात लागत कम होगी, इसके विपरीत यदि यातायात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम है तो लागत व्यय तुलनात्मक रूप से अधिक होगा क्योंकि एक निश्चित सीमा तक जितनी भी वस्तु यातायात की जाएगी स्थाई लागत में कोई परिवर्तन नहीं होगा। उदाहरण के लिए एक मालगाड़ी में 50 डिब्बे हैं और किन्हीं कारणों से केवल 30 डिब्बे सामान से लदे हैं और 20 अन्य डिब्बे

आंशिक रूप से भरे हैं तो इस स्थिति में यातायात की कुल लागत तुलनात्मक रूप से अधिक होगी, और यदि पूरे 50 डिब्बे वस्तुओं से भरे हैं तो कुल यातायात लागत कम होगी यदि यातायात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा इतनी अधिक है कि 10 अतिरिक्त डिब्बों की आवश्यकता है तो यह स्थिति रेलवे के लिए सबसे अधिक मितव्ययी होगी। हालांकि कार्यशील व्ययों में वृद्धि होगी फिर भी स्थाई लागत स्थिर रहने से यातायात की कुल लागत अन्य परिस्थितियों से कम होगी।

(ब) रेलगाड़ी की गति : रेलगाड़ी की गति का भी यातायात की कुल लागत पर प्रभाव पड़ता है। गति में जितनी वृद्धि होगी कार्यशील व अन्य व्ययों में भी वृद्धि संभव है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गति में वृद्धि करने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा तथा ईंधन की और रेलगाड़ी के लिए शक्तिशाली इंजन की आवश्यकता पड़ेगी, रेलगाड़ी चलाने के लिए अनुभवी एवं निपुण चालकों की नियुक्ति करनी पड़ती है।

(स) तय की जाने वाली दूरी : यह स्वाभाविक है कि वस्तुएं जितनी दूर तक यातायात की जाती हैं उतने ही अतिरिक्त ईंधन, ऊर्जा आदि की आवश्यकता भी लागत व्यय में वृद्धि उत्पन्न करती है। इसके विपरीत यदि दूरी कम है तो ये लागत व्यय भी कम होते जाते हैं।

(द) सामान की पैकिंग : यदि यातायात किया जाने वाला सामान उचित प्रकार से पैक किया गया है तो लागत व्यय कम हो सकती है क्योंकि उचित प्रकार से पैक किया गया सामान प्रायः कम जगह घेरता है।

(य) वस्तुओं की प्रकृति : यातायात की जाने वाली वस्तुओं की प्रकृति भी यातायात की कुल लागत को प्रभावित करती है। यदि वस्तुओं की प्रकृति इस प्रकार की है कि उसे यात्रा के दौरान सुरक्षित रखने के लिए उसकी अतिरिक्त देखभाल करनी पड़ती है या उसके लिए अतिरिक्त उचित व्यवस्था करनी पड़ती है, जैसे शीघ्र नाशवान वस्तुएं, शीघ्र विस्फोट होने वाली वस्तुएं आदि। तो इससे यातायात लागत में वृद्धि स्वाभाविक है।

लागत सिद्धांत के आधार पर ही पूर्णतया उचित भाड़े एवं किराए का निर्धारण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि रेलवे द्वारा वस्तुएं यातायात करने में मुख्य रूप से तीन प्रकार की लागत (स्थाई, अर्धस्थाई तथा कार्यशील लागत) वहन की जाती हैं। इन लागतों की प्रकृति इस प्रकार की है कि प्रत्येक स्थिति में इनका सही रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रेलवे द्वारा विभिन्न वस्तुओं का यातायात किया जाता है। कोई मात्रा में अधिक और कोई वजन में अधिक हो सकती है, उनकी उपयोगिता में भी भिन्नता हो सकती है, इसीलिए इन स्थितियों में यह ज्ञात करना काफी कठिन है कि किन वस्तुओं से किस प्रकार की लागत में कितनी वृद्धि हुई है। अतः इस सिद्धांत की उपयोगिता केवल भाड़े तथा किराए की उस न्यूनतम राशि के निर्धारण तक ही सीमित है जो राशि रेलवे द्वारा व्यवसायियों तथा यात्रियों से अवश्य वसूल करनी चाहिए।

2. सेवा की उपयोगिता का सिद्धांत

जैसा कि पहले बताया जा चुका है यातायात के द्वारा वस्तुओं में स्थान उपयोगिता तथा समय उपयोगिता उत्पन्न की जाती है। अतः वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि यातायात लागत से भी संबंधित है। उपयोगिता में वृद्धि के अनुसार किराया तथा भाड़ा वसूल किया जाना सेवा की उपयोगिता का सिद्धांत कहलाता है। इस सिद्धांत के अनुसार यदि किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जाता है तो जिस स्थान से वस्तु को भेजा जा

रहा है उस स्थान में वस्तु की उपयोगिता तथा यातायात करने के पश्चात जिस स्थान में वस्तु लाई जाती है उस स्थान में वस्तु की उपयोगिता में जो अंतर होता है रेलवे द्वारा वसूल किए जाने वाला भाड़ा तथा किराया उसी के बराबर होना चाहिए। सेवा की उपयोगिता का यह सिद्धांत पूर्ण रूप से यातायात सेवा की मांग पर आधारित है, क्योंकि यदि यातायात सेवा की मांग पर्याप्त है तो ऐसी स्थिति में रेलवे द्वारा अधिकतम भाड़ा तथा किराया वसूल किया जा सकता है।

भाड़ा तथा किराया निर्धारित करने का यह सिद्धांत उन वस्तुओं का भाड़ा तथा किराया निर्धारित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है जो अधिक उपयोगी हैं क्योंकि अधिक उपयोगी वस्तुओं के लिए ऊंची दर का भाड़ा तथा किराया वसूल किया जा सकता है। पर इस प्रकार किराए तथा भाड़े के निर्धारण में इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि रेलवे जनोपयोगी संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना नहीं बल्कि जनता को सेवाएं प्रदान करना है, अतः अधिक उपयोगी वस्तुओं के लिए ऊंची दर का किराया या भाड़ा वसूल करना न्यायसंगत नहीं है।

3. किराए में भिन्नता का सिद्धांत अथवा यातायात व्यवसाय में वहन किए जाने वाले किराए का सिद्धांत

ऊपर किराए एवं भाड़े के निर्धारण के लिए जिन सिद्धांतों का वर्णन किया गया है उनमें से कोई भी सिद्धांत अपने में पूरा नहीं है। उनकी उपयोगिता सीमित है और विशेष स्थितियों में ही इनका प्रयोग किया जा सकता है। लागत सिद्धांत में पूर्ति के तत्व को ही अधिक महत्व दिया जाता है, सेवा की उपयोगिता का सिद्धांत मांग पर आधारित है, और लागत सिद्धांत द्वारा न्यूनतम किराए एवं भाड़े का निर्धारण किया जाता है। सेवा की उपयोगिता सिद्धांत के द्वारा भाड़े एवं किराए की अधिकतम सीमा निर्धारित की जा सकती है।

किराए में भिन्नता के सिद्धांत के अनुसार न्यूनतम तथा अधिकतम इन दोनों सीमाओं के बीच यातायात की मांग एवं पूर्ति के संतुलन को ध्यान में रखते हुए किराए तथा भाड़े की वह दर निर्धारित की जाती है जिससे एक ओर रेलवे की आय में अधिकतम वृद्धि हो सके और दूसरी ओर अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के लिए किराए एवं भाड़े की भिन्न दरें प्रयोग में लाकर व्यवसाय में वृद्धि की जा सके। अर्थात इस सिद्धांत के अनुसार निर्धारित की जाने वाली भाड़े तथा किराए की दरें इतनी ऊंची होनी चाहिए कि रेलवे की कुल लागत वसूल की जा सके और विनियोजन में उचित दर की आय कमाई जा सके। दूसरी ओर ये दरें इतनी कम होनी चाहिए कि यातायात के लिए पर्याप्त व्यवसाय प्राप्त किया जा सके और उसमें वृद्धि की जा सके।

यह स्पष्ट है कि विभिन्न वस्तुओं के यातायात की मांग की लोच भिन्न भिन्न होती है, इसीलिए अधिकतम आय अर्जित करने के लिए विभिन्न वस्तुओं पर किराए एवं भाड़े की विभिन्न दरों का निर्धारण आवश्यक होता है। कम कीमत वाली वस्तुओं, जैसे कोयला, ईंधन आदि के लिए भाड़े की दर इतनी कम हो कि कार्यशील व्यय तथा अर्धस्थाई व्यय पूरी तरह वसूल किए जा सकें। इसके साथ ही अधिक मूल्यवान तथा कीमती वस्तुओं के लिए भाड़े तथा किराए की उन दरों का प्रयोग किया जाए जिससे कुल इतनी आय प्राप्त हो सके कि यातायात की कुल लागत वसूल की जा सके और विनियोग पर उचित दर की आय अर्जित की जा सके।

किराया एवं भाड़ा निर्धारित करने का यह सिद्धांत सबसे अधिक प्रचलित है क्योंकि इसके आधार पर निर्धारित किराया व भाड़ा वसूल करने से रेलवे में जनोपयोगी संस्था

की विशेषता विद्यमान रहती है और संभवतया विकास एवं विस्तार के लिए आवश्यक आय भी अर्जित की जा सकती है।

4. प्रति मील बराबर किराए का सिद्धांत

रेलवे द्वारा किराया तथा भाड़ा निर्धारित करने का यह सिद्धांत सबसे सरल है। इस सिद्धांत के अनुसार रेलवे द्वारा यातायात की दूरी तथा वस्तुओं के वजन के अनुसार किराया एवं भाड़ा वसूल किया जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम एक उचित औसतन प्रति मील प्रति टन भाड़े की दर तय कर ली जाती है और उसी दर के अनुसार वस्तुओं के वजन तथा तय की जाने वाली दूरी को दृष्टि में रखते हुए भाड़ा वसूल किया जाता है, जैसे एक टन सामान के लिए प्रति मील भाड़ा 100 पैसा है, तो इस प्रकार 1C टन सामान 200 मील तक ले जाने के लिए भाड़ा 200 रु० होगा। इस विधि की सरलता मुख्य रूप से इस तथ्य में निहित है कि इस विधि के अनुसार किराए तथा भाड़े के निर्धारण के लिए वस्तुओं का वर्गीकरण आवश्यक नहीं है।

पर व्यवहार में इस सिद्धांत की उपयोगिता सीमित है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार वस्तुएं चाहे अधिक कीमती हों या कम, केवल उनके वजन तथा तय की जाने वाली दूरी के अनुसार भाड़ा व किराया वसूल किया जाता है जो न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धांत के अनुसार यातायात की जाने वाली वस्तुओं के वजन में वृद्धि तथा तय की जाने वाली दूरी में वृद्धि के फलस्वरूप भाड़े तथा किराए की राशि में भी आनुपातिक वृद्धि होती है। इस सिद्धांत द्वारा निर्धारित भाड़ा एवं किराया वसूल करने से, भारी सामान को दूर स्थान तक यातायात करने के लिए यातायात का यह माध्यम अधिक उपयोगी नहीं समझा जा सकता है।

किराए एवं भाड़े के निर्धारण के लिए उपरोक्त सिद्धांतों के गुण-दोषों को दृष्टि में रखते हुए निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पूर्णतया उचित भाड़ा एवं किराया निर्धारित करने के लिए कोई भी एक सिद्धांत प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सिद्धांत विभिन्न परिस्थितियों में अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के लिए भाड़े तथा किराए का निर्धारण करने हेतु उपयुक्त है। इसीलिए व्यवहार में विभिन्न सिद्धांतों को संयोजित रूप से अपनाया जाता है। भाड़े व किराए के निर्धारण के लिए चाहे किसी एक सिद्धांत या विभिन्न सिद्धांतों के संयोजन को अपनाया जाए पर इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि यातायात व्यवसाय में मांग तथा पूर्ति में संतुलन बनाया रखा जा सके और भाड़े व किराए की दर कम तथा प्रभावशाली हो ताकि रेलवे से जनता की सेवा के साथ साथ यातायात के लिए पर्याप्त व्यवसाय भी प्राप्त किया जा सके।

सड़क यातायात तथा रेल यातायात में प्रतिस्पर्धा

हालांकि यातायात के प्रत्येक साधन का अंतिम उद्देश्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों को सुरक्षित रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाना है, पर प्रत्येक साधन की विशेषताओं में भिन्नता, उनमें निहित लाभ व दोषों में विषमता, विभिन्न परिस्थितियों में उनकी उपयुक्तता में अंतर आदि साधनों के कार्य क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। इन्हीं तत्वों के कारण उनके कार्य क्षेत्र भी भिन्न हैं। यदि एक ही प्रकार का यातायात साधन, अपने कार्य क्षेत्र की परिधि के बाहर दूसरे साधन के कार्य क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उन दोनों साधनों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न होती है।

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व स्थल यातायात में रेलवे को एकाधिकार प्राप्त था। परंतु धीरे धीरे जब सड़कों का विकास हुआ और मोटर, ट्रक-गाड़ियों का उत्पादन बड़े पैमाने

पर किया जाने लगा तो रेलवे यातायात के व्यवसाय में धीरे धीरे संकुचन उत्पन्न होने लगा, क्योंकि रेलवे के कुल यातायात व्यवसाय का कुछ अंश मोटर ट्रक आदि को प्राप्त हो गया। मोटर ट्रक यातायात के विकास के फलस्वरूप, इसमें निहित विशेषताओं के आधार पर कुछ स्थितियों में यातायात का यह तरीका रेलवे की तुलना में अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। फलस्वरूप यातायात के इन दोनों साधनों में प्रतिस्पर्धा बढ़ती गई। आधुनिक युग में इन दोनों साधनों के बीच व्याप्त प्रतिस्पर्धा मुख्य रूप से निम्न तत्वों पर आधारित है :

1. सेवा की सुविधा एवं लोच : सड़क यातायात में सेवा से संबंधित समय तथा स्थान पर कोई प्रतिबंध नहीं होता है, जिससे इस यातायात सेवा में पूर्ण लोच बनी रहती है। लोच के फलस्वरूप व्यवसायी अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी समय आवश्यकता पड़ने पर किसी भी स्थान से वस्तुएं यातायात करवा सकता है। रेलवे यातायात में सेवा में लोच का पूर्ण अभाव रहा है। समय तथा स्थान में निश्चितता के फलस्वरूप व्यवसायी को वस्तुओं का यातायात करने में कठिनाई अनुभव होती है। इससे सड़क यातायात की लोकप्रियता एवं उपयोगिता में वृद्धि हुई और उसका कार्य क्षेत्र विकसित हुआ।

2. साधन की उपयुक्तता : अलग अलग परिस्थितियों में अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के यातायात के लिए यातायात के साधनों की उपयुक्तता भी भिन्न है, उपयुक्तता में भिन्नता के कारण भी मिलते जुलते साधनों के बीच प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिला, जैसे सड़क यातायात कम वजन की वस्तुओं को समीपवर्ती स्थानों तक ले जाने में रेलवे यातायात की तुलना में अधिक उपयुक्त साधन समझा जाता है जबकि अधिक वजन की वस्तुओं को दूर दूर स्थानों तक पहुंचाने के लिए रेलवे यातायात को तुलनात्मक रूप से अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी समझा जाता है। इस स्थिति में प्रत्येक साधन अपनी उपयुक्तता बढ़ाने का प्रयास करता है जिससे प्रतिस्पर्धा और बढ़ती है।

3. किराया विधि : यातायात साधनों द्वारा सेवाओं के प्रतिफल के रूप में वसूले जाने वाले किराए व भाड़े की विधियों में विषमता से भी इनमें प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिला है। अधिकांशतया ग्राहकों से वसूल किया जाने वाला भाड़ा तथा किराया इस तथ्य पर आधारित रहता है कि यातायात में साधन की कुल लागत कितनी है। सड़क यातायात में स्थाई लागत रेलवे की तुलना में कम होती है। सड़कों का निर्माण एवं विकास सरकार द्वारा किया जाता है और कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था सरकार से अनुमति प्राप्त करके मोटर ट्रक द्वारा यातायात का व्यवसाय प्रारंभ कर सकती है। पर रेलवे में साधन की स्थाई लागत काफी अधिक होती है। ग्राहकों से जो किराया तथा भाड़ा वसूल किया जाता है उसी से साधन की स्थाई लागत तथा कार्यशील लागत को वहन किया जाता है, अतः इससे इन दोनों साधनों द्वारा जो किराया व भाड़ा वसूल किया जाता है उसके लिए अलग अलग विधियों का प्रयोग किया जाता है, और किराए तथा भाड़े की दर में भी भिन्नता उत्पन्न होती है। इस भिन्नता के कारण से भी इन दोनों साधनों में प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिला है।

भारत में सड़क एवं रेलवे यातायात में प्रतिस्पर्धा

अन्य उन्नतिशील देशों की भांति भारतवर्ष में भी सड़क यातायात तथा रेलवे यातायात में प्रथम विश्वयुद्ध से पहले प्रतिस्पर्धा नहीं थी। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व सड़कों के निर्माण एवं विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर 1927 में जयाकर कमेटी के सुझाव पर एक 'केंद्रीय सड़क निधि' की स्थापना की गई ताकि देश में यातायात की बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के लिए सड़क यातायात के

साधनों को उपयोगी बनाया जाए। सड़क यातायात साधनों के विकास के प्रारंभिक चरणों में देश के बड़े बड़े शहरों कलकत्ता, बंबई, मद्रास आदि में सड़क यातायात साधन रेलवे यातायात का प्रतियोगी बनने लगा। इस प्रतिस्पर्धा के कारण रेलवे में यात्रियों के तृतीय श्रेणी के किराए में कमी कर दी गई। 1929 के अंत तक इन दोनों साधनों में प्रतिस्पर्धा तीव्र गति से बढ़ती गई। इस प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए रेलवे यातायात के अंतर्गत रेलगाड़ियों की गति में वृद्धि की गई। किराए की दरों को कम किया गया तथा रेलवे समय सारिणी में आवश्यक परिवर्तन किए गए। इसके पश्चात संसार में व्याप्त व्यापारिक मंदी का भी रेलवे यातायात पर विपरीत प्रभाव पड़ा और इसी दौरान सड़क यातायात पुनर्संगठित करके संचालित किया जाने लगा जिससे इनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हुई। इन सब कारणों से रेलवे यातायात तथा सड़क यातायात में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप रेलवे यातायात का व्यवसाय कम होता गया। रेलवे यातायात की इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने 1933 में 'मिटकल किर्कनस' कमेटी की स्थापना की। इस कमेटी का मुख्य उद्देश्य रेलवे यातायात की समस्याओं का अध्ययन करना तथा उनके समाधान के लिए आवश्यक सुझाव देना था। पुन: 1935 में रेलवे बोर्ड द्वारा यह बात महसूस की गई कि मोटर ट्रक मालिकों में संगठन, समय की निरंतरता एवं भाड़े में निश्चितता के कारण इन दोनों साधनों के बीच प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हुई है, और विशेष रूप से शीघ्र नाशवान वस्तुओं को अधिकांश दशाओं में सड़क यातायात द्वारा ही ले जाया जाता है। यह प्रतिस्पर्धा विशेष रूप से औद्योगिक शहरों, जैसे कानपुर, आगरा, दिल्ली, बनारस, चंडीगढ़ आदि में अधिक तीव्र एवं कटु है, और सड़क यातायात केवल समीपवर्ती स्थानों तक यातायात करने के लिए ही प्रयोग नहीं किया जा रहा है बल्कि इसका कार्य क्षेत्र लंबी दूरी के यातायात के लिए उचित समझा जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान सरकार की नीति में परिवर्तन के फलस्वरूप सड़क एवं रेलवे यातायात के बीच प्रतिस्पर्धा में कमी आई, क्योंकि युद्ध के समय यातायात के समस्त साधनों का प्रयोग समन्वित ढंग से किया गया।

देश स्वतंत्र होने के पश्चात सन 1948 में कई राज्यों में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और अन्य राज्यों में यातायात के इस महत्वपूर्ण साधन को नियंत्रित करने के लिए मोटर, ट्रक यातायात पर ऊंची दर के कर लगाए गए जिससे सड़क यातायात का क्षेत्र संकुचित हो गया और प्रतिस्पर्धा काफी कम हो गई। इसके पश्चात 1956 में मोटर गाड़ी विधान में संशोधन करके अंतर्राज्यीय यातायात कमीशन की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यों में सड़कों का विकास करना, और यातायात के इस साधन को रेलवे से समन्वित करते हुए सड़क यातायात को नियंत्रित करना था। फिर भी सड़क परिवहन के अंतर्गत विभिन्न निजी संस्थाएं अपने मोटर, ट्रक आदि के माध्यम से इस साधन को संचालित करती हैं। इन पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाना वास्तव में एक कठिन कार्य है, और इनको प्रतिबंधित करने से भी हालांकि यातायात का व्यवसाय रेलवे की ओर खींचा जा सकेगा पर यह तभी संभव है जब संपूर्ण देश में रेल का जाल बिछा हो। विशेष रूप से कृषि पदार्थों के यातायात में मोटर ट्रक यातायात एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता आ रहा है। अत: यातायात के साधनों को कटु एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए और उन सब साधनों के संतुलित विकास के लिए यह उचित समझा गया कि इनमें समन्वय तथा तालमेल बनाया रखा जाए ताकि यातायात व्यवसाय भी इन विभिन्न माध्यमों के द्वारा सुचारु रूप से संचालित किया जा सके।

सड़क तथा रेलवे यातायात में समन्वय

यातायात के इन दोनों साधनों में कटु एवं अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के कारण एक ओर तो साधनों के विकास में विभिन्न बाधाएं उत्पन्न होती हैं, क्योंकि इस प्रतिस्पर्धा की स्थिति में कभी कभी ग्राहकों से यातायात की वास्तविक लागत तक किराया तथा भाड़ा वसूल नहीं किया जाता है। कटु प्रतिस्पर्धा के दबाव में यातायात के इन विभिन्न साधनों का प्रयोग समाज को अधिकतम लाभ पहुंचाने के लिए नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विभिन्न साधनों में संलग्न प्रत्येक संस्था केवल उन्हीं वस्तुओं के लिए तथा उन स्थानों में ही यातायात की सुविधा प्रदान करने लगती है जो उसके लिए अधिक लाभप्रद है। इससे कुछ स्थानों में तो विशष वस्तु के यातायात के लिए कई साधन उपलब्ध रहते हैं और अन्य स्थानों में यातायात सुविधा का अभाव उत्पन्न होने लगता है। देश की संपूर्ण यातायात व्यवस्था का इस प्रकार से इस्तेमाल किया जाना चाहिए कि इस व्यवस्था में सम्मिलित समस्त साधन एक दूसरे से समन्वित होकर संयुक्त रूप से व्यवसायियों तथा अन्य ग्राहकों को यातायात की सुविधाएं प्रदान कर सकें, साधनों के बीच निरर्थक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके उनकी वित्तीय दशा में सुधार किया जा सके और इन समस्त साधनों का उपयोग जनता के अधिकतम लाभ के लिए किया जा सके, क्योंकि यातायात व्यवस्था केवल देश के आर्थिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र की उन्नति के लिए ही आवश्यक नहीं है, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र की उन्नति में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

यातायात के संबंध में समन्वय का अर्थ यह है कि यातायात के एक ही प्रकार के विभिन्न साधनों, जैसे सड़क तथा रेलवे यातायात के मूल साधनों (जल, स्थल तथा हवाई यातायात) के बीच एक ऐसा संबंध उत्पन्न किया जाए जिससे कम से कम लागत पर, प्रत्येक साधन के अंतर्गत प्रभावशील विधियों का प्रयोग करके साधनों को एक दूसरे का सहायक तथा पूरक बनाकर ग्राहकों को यातायात की सुविधाएं प्रदान की जा सकें। दूसरे शब्दों में संपूर्ण यातायात व्यवस्था में यातायात के प्रत्येक साधन को इस प्रकार संयुक्त कर दिया जाए कि यातायात की सुविधाओं के दोहरेपन अथवा अभाव को समाप्त किया जा सके और प्रत्येक साधन की पूर्ण क्षमता का प्रयोग करके उन्हें विनियोजित धनराशि पर उचित दर की आय अर्जित करने का अवसर प्राप्त हो।

गिलवर्ट वाकर के शब्दों में, 'समन्वित परिणामों को प्राप्त करने के लिए नियंत्रण एवं संयोग के कार्य को समन्वय कहा जाता है, और सड़क तथा रेलवे समन्वय का अर्थ यह है कि यातायात के दो साधनों को इस प्रकार जोड़ा जाए कि वे समन्वित रूप से कार्य कर सकें जो जनता एवं साधन दोनों के लिए लाभदायक हों।'

इस परिभाषा के अनुसार रेल एवं सड़क यातायात में समन्वय का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि दो साधनों में समन्वय उत्पन्न करने के लिए उनका नियंत्रण संयोजित होकर कार्य करना आवश्यक है ताकि यातायात व्यवस्था में समस्त साधनों का अधिकतम प्रयोग करके जनता तथा साधन को संचालित करने वाली संस्था को लाभान्वित किया जा सके।

यातायात के साधनों में समन्वय उत्पन्न करने के लिए निम्न उद्देश्य हो सकते हैं:

(i) साधनों के बीच अस्वस्थ एवं निरर्थक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना।

(ii) यातायात की लागत कम करके साधनों का प्रयोग समाज के अधिकतम लाभ के लिए करना क्योंकि समन्वय उत्पन्न करके प्रत्येक साधन की क्षमता का अधिकतम प्रयोग करके यातायात की लागत कम की जा सकती है।

(iii) यातायात की सुविधाओं का दोहरापन तथा अभाव समाप्त करना।

(iv) यातायात के प्रत्येक साधन के द्वारा जो भाड़ा तथा किराया वसूल किया जाता है उसकी एकरूप तथा विवेकपूर्ण विधि का प्रयोग करना।

(v) साधनों पर सरकारी नियंत्रण रखकर उनका राष्ट्रीयकरण करके जनता के हितों को सुरक्षित रखना।

समन्वय उत्पन्न करने की विधियां

यातायात के विभिन्न साधनों में विशेष रूप से सड़क यातायात तथा रेल यातायात में समन्वय स्थापित करना वास्तव में एक कठिन तथा जटिल कार्य है क्योंकि संपूर्ण यातायात व्यवस्था के अंतर्गत यह सही प्रकार से निर्धारित नहीं किया जा सकता है कि प्रत्येक साधन का कार्य क्षेत्र क्या होना चाहिए। कार्य क्षेत्र में अस्पष्टता एवं संदेह के कारण उनमें प्रति-स्पर्धा और बढ़ने लगती है। फिर भी व्यवहार में यातायात के साधनों में समन्वय प्राप्त करने के लिए निम्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

1. सड़क यातायात देश में सड़कों के निर्माण तथा विकास पर आधारित है। अत: सड़क तथा रेलवे यातायात में समन्वय उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि सड़कों के निर्माण तथा विकास कार्य को उन स्थानों में प्राथमिकता दी जाए जहां रेलवे सुवि-धाओं का अभाव है, ताकि सड़क यातायात रेलवे यातायात के पूरक के रूप में कार्य कर सके तथा यातायात सुविधाओं का दोहरापन और अभाव समाप्त किया जा सके।

2. सड़क तथा रेलवे में समन्वय उत्पन्न करने के लिए सड़क यातायात को पूर्णतया नियंत्रित किया जाए और प्रत्येक मार्ग में साधन के संचालन के लिए सरकार की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त सड़क यातायात को विशेष रूप से उन स्थानों में जहां रेलवे यातायात की सुविधा उपलब्ध है, अधिक कर आदि लगा-कर प्रतिबंधित किया जा सकता है, ताकि सेवाओं का दोहरापन समाप्त किया जा सके।

3. सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण करके भी सड़क यातायात तथा रेलवे याता-यात में समन्वय उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण हो जाने के पश्चात यह साधन पूर्णतया सरकार के स्वामित्व एवं नियंत्रण में आ जाता है और सरकार इसको संपूर्ण यातायात व्यवस्था में रेलवे यातायात के पूरक के रूप में प्रयोग में ला सकती है।

4. इसके अतिरिक्त रेलवे कंपनी कुछ स्थितियों में अन्य सड़क परिवहन कंपनियों में नियंत्रक अंश क्रय करके उनको अपनी सहायक बनाकर उनके यातायात के व्यवसाय को कुछ सीमा तक नियंत्रित करके उनकी सेवाओं का प्रयोग अपनी पूरक या सहायक कंपनी के रूप में कर सकती है।

16

व्यावसायिक जोखिम एवं बीमा

व्यावसायिक जोखिम

समाज का प्रत्येक वर्ग या अंग भविष्य में होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाओं की संभावना के प्रति सदैव चिंतित रहता है, ये दुर्घटनाएं दैविक हो सकती हैं या भौतिक प्रकृति की। व्यक्ति, संपत्ति एवं व्यवसाय की सफलता पर इन दैविक एवं भौतिक दुर्घटनाओं का लगभग समान प्रभाव पड़ता है। जैसे बाढ़, भूकंप मृत्यु आदि से होने वाली क्षति या अग्नि से वायुयान, जलयान अथवा माल के गोदामघर क्षतिग्रस्त होना। इन दुर्घटनाओं की संभावनाएं पूर्णतया समाप्त नहीं की जा सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति यथासंभव यह प्रयास करता है कि इनसे होने वाली हानि का प्रभाव उसे कम से कम वहन करना पड़े और विज्ञान तथा तकनीकी क्षेत्र में हुई प्रगति के द्वारा इसके लिए कुछ सुरक्षात्मक उपाय अवश्य ढूंढ़ लिए गए हैं। फिर भी यह निश्चित है कि इन दुर्घटनाओं को टालना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

जहां तक व्यवसाय का प्रश्न है, व्यावसायिक क्रिया भविष्य के एक अनिश्चित वातावरण में (जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का संयोजन होता है) संचालित की जाती है, और भविष्य में व्यावसायिक वातावरण के इन तत्वों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन हो सकता है। जिससे छोटी मोटी हानि ही नहीं, व्यवसाय के अस्तित्व को भी खतरा हो सकता है। यदि व्यवसाय के वातावरण में परिवर्तन की संभावना का पूर्वानुमान लगाकर उसके अनुकूल उचित व्यवस्था कर ली जाती है तो व्यावसायिक क्रिया सफल हो सकती है और व्यवसाय समृद्ध हो सकता है, इसके अतिरिक्त व्यवसाय में असफलता ऐसी संभावनाओं के लिए पर्याप्त सुरक्षात्मक व्यवस्था न करने का दंड समझा जाता है।

यह निर्विवाद है कि व्यवसायी व्यवसाय में अपनी पूंजी का विनियोजन सदैव इस आशा से करता है कि वह व्यवसाय में लाभ कमाएगा, पर भविष्य की अनिश्चितता को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यवसाय में सफलता असफलता एवं लाभ, हानि की संभावना बराबर बनी रहती है, इसलिए व्यवसायी को लाभ ही कमाने की आशा नहीं रखनी चाहिए बल्कि उसमें इस अनिश्चितता से संभावित हानि को वहन करने की क्षमता भी होनी चाहिए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक व्यवसाय पद्धति में लाभ एवं हानि दोनों निहित हैं, न इसमें लाभ ही प्राप्त होने की गारंटी है और न अकुशलता, गलत निर्णय एवं अन्य अनिश्चितताओं से उत्पन्न हानि से सुरक्षा की, इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्धात्मक युग में व्यवसायी प्राप्त अवसर का लाभ उठाने के लिए अपने प्रयत्नों एवं पूंजी को

जोखिम में डालकर भी व्यावसायिक क्रिया संचालित करना है। इनमें कुछ व्यवसायी इन जोखिमों से उत्पन्न हानि से ग्रस्त होकर असफल हो जाते हैं और कुछ जोखिमों का मुकाबला करके लाभ कमा लेते हैं।

आमतौर पर व्यवसाय में हानि के खतरे को ही जोखिम कहा जाता है। जोखिम के फलस्वरूप ही व्यवसाय में हानि हो सकती है, जो अंतिम रूप से कुछ स्थितियों में व्यावसायिक असफलता में भी परिणत हो जाती हैं। इसलिए जोखिम का अर्थ भविष्य में किसी अनिश्चित घटना की संभावना से होने वाली हानि से है, क्योंकि भविष्य की अनिश्चितता के कारण ही ऐसी संभावना होती है जो हानि के खतरे को जन्म देती है।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, व्यावसायिक वातावरण विभिन्न तत्वों के संयोग से बनता है, इसमें किसी भी तत्व में परिवर्तन से संपूर्ण व्यवसाय प्रभावित होता है, जैसे ग्राहकों की आवश्यकता में परिवर्तन, फैशन आदि में बदलाव से वस्तु की मांग प्रभावित होती है। व्यवसाय एवं उद्योगों के प्रति सरकार की नीति में परिवर्तन तथा व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन आदि का भी व्यवसाय पर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय में कुशल प्रबंधक या श्रमिक की मृत्यु तथा अन्य दैविक और भौतिक प्रकोपों से भी व्यवसाय में जोखिम रहता है।

जोखिम के प्रकार

सामान्य तौर से जोखिम दो प्रकार का होता है: (1) शुद्ध जोखिम तथा (2) परिकल्पनात्मक जोखिम।

शुद्ध जोखिम : शुद्ध जोखिम से हमारा अभिप्राय उन संभावित घटनाओं से है जिनके फलस्वरूप व्यवसाय को निश्चित रूप से हर हालत में हानि ही होती है, जैसे कारखाने में आग लग जाना, गोदाम से माल की चोरी हो जाना, कुशल प्रबंधक या श्रमिक की मृत्यु आदि।

परिकल्पनात्मक जोखिम : परिकल्पनात्मक जोखिम में उन घटनाओं के घटित होने की संभावना सम्मिलित है, जिनके होने से व्यवसाय में लाभ भी हो सकता है और हानि भी, अर्थात इस प्रकार के जोखिम में लाभ एवं हानि दोनों निहित होते हैं। यदि संस्था अपनी वस्तु के विज्ञापन आदि में काफी अधिक धन व्यय करती है और इस व्यय के परिणामस्वरूप वस्तु की बिक्री में यदि आनुपातिक वृद्धि नहीं होती है तो इससे संस्था को हानि होगी। इसके विपरीत यदि वस्तु की बिक्री में पर्याप्त आशाजनक आनुपातिक वृद्धि हो जाए तो यह संस्था के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। इसी प्रकार नई वस्तु को बाजार में प्रवेश कराया जाए तो इस क्रिया में भी परिकल्पनात्मक जोखिम संलग्न रहता है। परिकल्पनात्मक जोखिम व्यवसाय का अंग समझा जाता है क्योंकि यदि इस प्रकार के जोखिम की संभावना को एकदम समाप्त कर दिया जाए तो इससे व्यवसाय में हानि की सुरक्षा के साथ ही साथ लाभ की संभावना भी समाप्त हो जाती है।

जोखिम के कारण

व्यवसाय में जोखिम विभिन्न कारणों से उत्पन्न होता है, चाहे वह दैविक घटनाओं की संभावना से हो, या अकुशल नीतियों के फलस्वरूप हानि की संभावना या प्रतिस्पर्धा के दुष्प्रभाव, बाजार दशाओं में परिवर्तन तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन से। ये सब घटनाएं निश्चित रूप से कुछ न कुछ सीमा तक व्यवसाय के लिए जोखिम का कारण बनती हैं क्योंकि इन सब कारणों से व्यवसाय की लाभ कमाने की क्षमता क्षीण होती है।

जोखिम के इन सब कारणों को मुख्य रूप से दो भागों में रखा जा सकता है : (i) आंतरिक कारण, (ii) बाह्य कारण ।

आंतरिक कारण : जोखिम के आंतरिक कारणों से हमारा अभिप्राय उन कारणों से है जो संस्था के अंतर्गत संपत्ति एवं कर्मचारियों पर प्रभाव डाल कर अंतिम रूप से हानि की संभावना उत्पन्न करते हैं, ये कारण निम्न हैं :

(अ) संस्था के अंतर्गत कार्यरत कर्मचारियों द्वारा संस्था की संपत्ति को लापरवाही, आग एवं अकुशलता से जानबूझकर क्षति पहुंचाना ।

(ब) कर्मचारियों की अकुशलता, असमर्थता, बेईमानी आदि कारणों से हानि की संभावना का उत्पन्न होना, इसमें कर्मचारी की मृत्यु, स्वास्थ्य में गिरावट, ईमानदारी का अभाव, संस्था के भीतर दुर्घटना, कर्मचारियों में आपसी संघर्ष, वृद्धावस्था आदि सम्मिलित हैं ।

(स) संस्था का जनता के प्रति किसी क्षति एवं दुर्घटना से उत्पन्न दायित्व ।

(द) संस्था के प्रबंध में अकुशलता । इसके अंतर्गत कुशल एवं स्वस्थ आंतरिक संगठन व्यवस्था का अभाव, योजना एवं नियंत्रण का अभाव, पर्याप्त सूचनाओं का अभाव, अकुशल वित्त व्यवस्था, शोधकार्य का अभाव, अकुशल श्रम नीतियां, अत्यधिक लागत एवं अकुशल बिक्री प्रबंध आदि सम्मिलित हैं ।

बाह्य कारण : जोखिम के बाह्य कारणों में मुख्य रूप से संस्था को बाह्य व्यक्तियों के व्यवहार से होने वाली संभावनाओं को सम्मिलित किया जाता है जो निम्न हैं :

(अ) संस्था की संपत्ति को, टकराव, बट्टा खाता, व्यर्थ अनुबंध (जिसमें तीसरा पक्षकार सम्मिलित हो) आदि से उत्पन्न हानि की संभावना ।

(ब) प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न हानि की संभावना जैसे बाढ़, भूकंप आदि ।

(स) मूल्यों में परिवर्तन की संभावना ।

(द) वस्तु के बाजार की दशाओं में परिवर्तन की संभावना जैसे प्रतियोगी द्वारा बाजारों में नई वस्तु को प्रवेश कराना, वितरण नीतियों में परिवर्तन आदि ।

(य) वस्तु की मांग में परिवर्तन ।

(र) व्यापारिक चक्रों में परिवर्तन ।

(ल) सरकार की व्यावसायिक नीतियों में परिवर्तन ।

(व) ग्राहकों की आय, शिक्षा, क्रय प्रवृत्ति, आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं में प्रतिकूल परिवर्तन की संभावना ।

(श) आर्थिक परिवर्तन जैसे वित्त उपलब्धि ब्याज की दर आदि में परिवर्तन ।

(क्ष) देश के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परिवर्तन ।

(त्र) व्यावसायिक वातावरण में अन्य आकस्मिक परिवर्तन ।

जोखिम प्रबंध अथवा जोखिम वहन योजना

जोखिम, जिससे व्यवसाय में हानि की संभावना उत्पन्न होती है, आधुनिक व्यवसाय पद्धति की एक प्रमुख समस्या है । इस समस्या के हल के लिए व्यवसाय में विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जाता रहा है, विशेष रूप से विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति, मानव सभ्यता के विकास तथा प्रबंधकीय क्षमता एवं कुशलता में वृद्धि के फलस्वरूप जोखिम वहन करने अथवा इसे कम करने के लिए नए नए प्रयास हुए हैं । जोखिम के कारणों का अध्ययन एवं विश्लेषण करके उनसे संभावित हानि को कम किया जाता है या उसकी रोकथाम की जाती है । इसके लिए जोखिम की कुछ मात्रा व्यवसायी स्वयं वहन करता है, कुछ को अपने प्रयासों से कम करता है तथा कुछ जोखिम बीमा कंपनी को हस्तांतरित

करके सुरक्षा प्राप्त कर लेता है।

जोखिम प्रबंध में, प्रबंध की वे सारी क्रियाएं एवं विधियां सम्मिलित हैं जिनके द्वारा विभिन्न प्रकार के जोखिमों से उत्पन्न हानि को कम किया जाता है, व्यवसाय में जोखिम उस प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहता है जहां प्रबंधक को निर्णय लेना पड़ता है, चाहे वह वित्त प्रबंध का क्षेत्र हो, या कर्मचारी प्रबंध अथवा उत्पादन तथा विपणन प्रबंध का क्षेत्र।

जोखिम प्रबंध की विस्तृत व्याख्या के अनुसार इसमें जोखिम के विपरीत बीमा कराना ही नहीं बल्कि संस्था द्वारा जोखिम कम करने और जोखिम वहन करने के लिए किए जाने वाले अन्य उपाय भी जोखिम प्रबंध में सम्मिलित किए जाते हैं जैसे इन जोखिमों से उत्पन्न हानि को कम करने के लिए प्रबंधकीय नीतियों में आवश्यक सुधार करना और जोखिम वहन करने के लिए प्रतिवर्ष कमाए गए शुद्ध लाभ में से लाभसंचित कोषों का निर्माण करना आदि।

संक्षेप में जोखिम प्रबंध के अंतर्गत जोखिम की रोकथाम करने और उनसे उत्पन्न संभावित हानि को कम करने के लिए जो उपाय किए जाते हैं वे निम्न हैं :

1. जोखिम कम करना और उसकी रोकथाम करना,
2. जोखिम वहन करना,
3. जोखिम का हस्तांतरण,
4. बीमा आदि योजनाओं द्वारा जोखिम का फैलाव।

जोखिम कम करना एवं उसकी रोकथाम करना : जोखिम की समस्या को हल करने का यह एक महत्वपूर्ण उपाय है। इसके अंतर्गत संभावित जोखिम के कारणों का विस्तृत अध्ययन करके उनको हर प्रकार से कम करने और रोकने के उपाय किए जाते हैं, जैसे अग्नि से संभावित हानि को रोकने के लिए भवन में विशेष परिवर्तन करना, मशीनों में दुर्घटना की रोकथाम के लिए उनकी विस्तृत जांच पड़ताल करना तथा कुशल मशीन संचालकों की नियुक्ति करना, वसूली में बट्टा खाता कम करने के लिए उधार विक्रय नीति में आवश्यक संशोधन, श्रमिकों के संघर्ष को कम करने के लिए कुशल श्रम नीतियों को लागू करना आदि। अतः इस उपाय का प्रयोग संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में, जोखिम को कम करने और उसकी रोकथाम करने के लिए आवश्यक नीतियों को तैयार करके उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित किया जाता है, क्योंकि यदि किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसके लिए एक सुव्यवस्थित योजना तैयार कर ली जाए और वह कार्य पूर्णतया योजना के अनुसार ही किया जाए तो इससे कुछ हद तक संभावित जोखिम को अवश्य कम किया जा सकता है।

जोखिम वहन करना : व्यवसाय में कुछ जोखिम इस प्रकृति के भी होते हैं कि उनसे उत्पन्न हानि स्वयं संस्था को अंतिम रूप से वहन करनी पड़ती है, जिनके लिए या तो रोकथाम के उपाय नहीं किए जा सकते हैं या इन उपायों में अत्यधिक अतिरिक्त धनराशि व्यय करनी पड़ती है। इस उपाय के तहत संस्था प्रत्येक वर्ष कमाए गए लाभ में से कुछ धनराशि अपने पास संचित कोषों में सुरक्षित रख लेती है ताकि भविष्य में किसी भी संभावित घटना के घटित होने से उसके दुष्परिणामों को इन कोषों को काम में लाकर सहन किया जा सके। यह विधि उन संस्थाओं द्वारा विशेष रूप से प्रयोग में लाई जाती है जिनकी विभिन्न शाखाएं अलग अलग स्थानों में स्थित होती हैं, प्रत्येक शाखा में इस प्रकार की वित्तीय व्यवस्था करके किसी भी शाखा में हुई हानि को पूरा कर लिया जाता है, जैसे अग्निबीमा के बजाय इस प्रकार वित्तीय व्यवस्था करके अग्नि के संभावित जोखिम को स्वयं वहन करना।

जोखिम का हस्तांतरण : आज के व्यावसायिक युग में कुछ ऐसी संस्थाएं भी अस्तित्व में

हैं जो मुख्य रूप से दूसरे व्यवसायियों के जोखिम को वहन करती हैं जैसे मूल्यों में परिवर्तन के जोखिम को व्यवसायी सट्टेबाजों को हस्तांतरित कर देते हैं। इसी प्रकार कंपनी द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के विपणन से संबंधित जोखिम कंपनी कुछ कमीशन का भुगतान करके अभिगोपक संस्थाओं को हस्तांतरित कर देती हैं। जोखिम के हस्तांतरण में व्यवसायी अपना जोखिम एक अनुबंध द्वारा दूसरे पक्षकार को हस्तांतरित कर देता है। 'सुरक्षात्मक सौदा' भी जोखिम हस्तांतरण का ही एक रूप माना जाता है हालांकि इस प्रकार के सौदों में पूर्णतया जोखिम से बचाव नहीं हो पाता है। सुरक्षात्मक सौदा एक प्रकार का बीमा है जिसका प्रयोग भावी जोखिमों से बचाव के लिए किया जाता है, इसके अंतर्गत यदि कोई व्यापारी वस्तुओं को भविष्य में क्रय करने का सौदा करता है तो भविष्य में मूल्य परिवर्तन के जोखिम से बचने के लिए वह दूसरे पक्षकार से उतनी ही मात्रा का उसी तिथि का विक्रय का सौदा तय कर लेता है।

जोखिम का फैलाव : व्यवसाय में अनिश्चित घटनाओं के घटित होने से संभावित हानि के जोखिम से बचाव के लिए ऊपर जिन उपायों का वर्णन किया गया है उन सबमें यह अंतिम उपाय सबसे अधिक प्रभावशील एवं प्रचलित है। इस उपाय में जोखिम के विभिन्न संभावित कारणों का बीमा कंपनी से बीमा कराके जोखिम का विभिन्न पक्षों में फैलाव कर दिया जाता है।

मूल रूप से बीमा की विधि सहकारिता पर आधारित है, और जब कई सारे व्यवसायी एक ही जोखिम के कारण के लिए अपनी अपनी संपत्ति बीमित करते हैं तो इसके लिए उन्हें कुछ धनराशि प्रीमियम के रूप में बीमा कंपनी को देनी पड़ती है और इस धनराशि से ही बीमा कंपनी उस व्यक्ति की क्षतिपूर्ति करती है जिसकी संपत्ति बीमित कारण से क्षतिग्रस्त होती है। इस प्रकार एक व्यवसायी को हुई हानि कई व्यवसायियों में विभाजित हो जाती है। बीमा विधि का विस्तृत वर्णन नीचे किया जा रहा है।

बीमा

अर्थ एवं महत्व

व्यावसायिक क्रिया के निष्पादन में बीमा एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि बीमा के माध्यम से व्यवसायी भविष्य की अनिश्चितता से उत्पन्न कुछ जोखिमों को दूसरे व्यक्ति अथवा संस्था (जिसमें जोखिम वहन करने की क्षमता विद्यमान हो) को हस्तांतरित करता है। जैसाकि, पहले भी बताया जा चुका है व्यावसायिक क्रिया भविष्य के एक ऐसे वातावरण में संचालित की जाती है जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक आदि घटकों का संयोजन होता है। भविष्य बिल्कुल अनिश्चित होता है, किसी भी दुर्घटना (दैविक या भौतिक) के घटित होने से व्यवसायी को वस्तुओं की क्षति हो सकती है, यातायात या संग्रहण में वस्तुएं विभिन्न कारणों से नष्ट हो सकती हैं। महत्वपूर्ण कर्मचारी की दुर्घटना में मृत्यु हो सकती है और इस प्रकार व्यवसाय विपरीत रूप से प्रभावित होता है। कुछ दशाओं में तो व्यवसाय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। भविष्य की अनिश्चितता से विभिन्न जोखिमों को कम करने के लिए बीमा व्यावसायिक जगत के लिए वरदान स्वरूप है क्योंकि बीमा के द्वारा ही व्यवसायी को भविष्य में कुछ अनिश्चित घटनाओं से उत्पन्न हानि की क्षतिपूर्ति की जाती है।

व्यावसायिक क्रिया के विस्तार एवं विकास में बीमा समझौतों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है इससे व्यवसायी को भविष्य की अनिश्चितता का सामना करने के लिए पर्याप्त साहस प्राप्त हुआ है। आज वस्तुएं एक देश से दूसरे देश को समुद्री जहाजों

द्वारा भेजी जा रही हैं, और वस्तुओं का स्वामी समुद्री खतरों में समुद्री बीमा करके वस्तुओं के नष्ट होने के जोखिम से सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार यदि किन्हीं कारणों से वस्तुएं समय पर न बिक पाएं तो उन्हें भविष्य की आवश्यकता पूरी करने के लिए गोदामों में सुरक्षित रखा जाता है। वस्तुओं की सुरक्षा बनाए रखने के लिए उनका अग्नि बीमा करा लिया जाता है, ताकि यदि वस्तुएं आग से नष्ट हो जाएं तो बीमा कंपनी से क्षति-पूर्ति कराई जा सके। इसके अतिरिक्त मशीन मे कार्य करने वाले महत्वपूर्ण कर्मचारी की मृत्यु के फलस्वरूप हानि के जोखिम को (आर्थिक मुआवजे के रूप में) उनके जीवन का बीमा करके कम किया जा सकता है।

संक्षेप में बीमे का उपयोग बीमा करने वाले व्यवसायी द्वारा अनिश्चित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओं से वस्तुओं या व्यवसाय की अन्य संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है, क्योंकि बीमित वस्तुओं में निश्चित कारणों से क्षति होने पर इस क्षति की पूर्ति बीमा कंपनी द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त हमारे सामाजिक जीवन में भी बीमा का महत्व कम नहीं है, जीवन बीमा अनुबंध के अंतर्गत बीमा कराने वाले व्यक्ति की दुर्घटना से या अन्य कारणों से मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रितों को कुछ सीमा तक आर्थिक कठिनाई से सुरक्षित रखा जा सकता है।

बीमे का व्यवसाय में महत्व

1. भविष्य की अनिश्चितता से सुरक्षा : बीमा अनुबंध एक ऐसा अनुबंध है जिसमें सम्मिलित होकर व्यवसायी अपनी संपत्ति व वस्तुओं को भविष्य की अनिश्चितता के जोखिम से सुरक्षित रखा जा सकता है, क्योंकि यदि बीमित वस्तु निश्चित कारणों से नष्ट हो जाती है तो बीमा कंपनी द्वारा इस क्षति की पूर्ति कर दी जाती है।

2. वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायता : जिन संपत्तियों एवं वस्तुओं का बीमा कराया जाता है उनमें सुरक्षा के तत्व की विद्यमानता से प्रभावित होकर ऋणदाता बिना किसी हिचकिचाहट के उनको जमानत के रूप में स्वीकार करके ऋण प्रदान करता है क्योंकि यदि ये संपत्ति या वस्तुएं नष्ट हो जाएं तो बीमा कंपनी द्वारा क्षतिपूर्ति कर दी जाती है।

3. बचत को प्रोत्साहन : बीमा के अनुबंध में सम्मिलित होकर न केवल भविष्य की अनिश्चितता के जोखिम से सुरक्षा ही प्राप्त होती है बल्कि इससे बचत की भावना भी प्रोत्साहित होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जीवन बीमा करके आसान किश्तों में एक निश्चित अवधि तक प्रिमियम का भुगतान करता रहता है और उस निश्चित अवधि के समाप्त हो जाने पर उसे बीमा पालिसी की समस्त धनराशि प्राप्त हो जाती है।

4. व्यवसाय में विस्तार : बीमा का अनुबंध व्यावसायिक क्रिया के विस्तार में भी सहायक है। बीमा के कारण व्यवसायी भविष्य में उत्पन्न होने वाली अनिश्चितताओं के लिए उचित व्यवस्था करके पूर्ण साहस से व्यावसायिक क्रिया संचालित करता है और उसमें विस्तार करके अतिरिक्त लाभ अर्जित करने में संकोच नहीं करता है।

5. साख में वृद्धि : पर्याप्त सुरक्षा होने से व्यवसायी केवल अपनी पूर्ण दक्षता से कार्य करता है और उसे व्यवसाय की संपत्तियों तथा वस्तुओं का बीमा कराने से साख में वृद्धि का लाभ भी प्राप्त होता है क्योंकि यदि व्यवसाय में विभिन्न संपत्तिओं के लिए बीमा की उचित व्यवस्था की है तो ऐसी संस्था को जरूरत पड़ने पर पर्याप्त ऋण आदि आसानी से प्राप्त हो सकते हैं।

6. औद्योगिक विकास में सहायता : बीमा भविष्य की अनिश्चितताओं से उत्पन्न जोखिमों से व्यवसायी को सुरक्षा ही प्रदान नहीं करता है बल्कि देश के औद्योगिक

विकास में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। बीमा कंपनियां जनता से छोटी छोटी बचतें प्रोत्साहित करके उसे प्रिमियम के रूप में प्राप्त करके विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियां क्रय करके विनियोजित करते हैं तथा समय समय पर औद्योगिक संस्थाओं को ऋण तथा अग्रिम के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं।

7. जोखिम का वितरण : बीमा एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा व्यवसायी निश्चित प्रिमियम की राशि का भुगतान करके जोखिम से सुरक्षा प्राप्त कर लेता है। व्यवहार में यह स्पष्ट है कि, बीमा कराने वाले व्यवसायी भविष्य के उस अनिश्चित जोखिम को विभिन्न अन्य व्यवसायियों में साथ मिलकर आपस में वितरित कर लेते हैं, अर्थात कई व्यवसायियों के सहयोग से यदि किसी व्यवसायी को बीमित जोखिम से क्षति होती है तो उसकी क्षति पूर्ति कर दी जाती है।

जीवन बीमा में सुरक्षा के साथ साथ विनियोग का तत्व भी है जिससे जनता में बचत की आदत को प्रोत्साहन मिलता है इसके द्वारा देश के औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए औद्योगिक संस्थाओं को आवश्यक वित्त की सुविधा प्रदान की जा सकती है।

प्रारंभ में बीमा के माध्यम से एक ही प्रकार के जोखिम के भय से व्यवसायी आपस में मिलकर कुछ धनराशि एकत्रित कर लेते थे और जिस व्यवसायी को उस जोखिम से क्षति होती थी उसे संचित राशि का भुगतान कर दिया जाता था, इस प्रकार कुछ व्यवसायियों को होने वाली हानि व्यवसायियों के उस पूरे समूह में बंट जाती थी। व्यावसायिक क्षेत्र एवं सामाजिक जीवन में बीमा के महत्व को दृष्टि में रखते हुए 1956 में सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर दिया। जीवन बीमा निगम की स्थापना करके जीवन बीमा व्यवसाय को पूर्णतया इस निगम के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया। 1963 में समुद्री बीमे को नियंत्रित करने के लिए समुद्री बीमा अधिनियम बनाया गया और 1971 से संपूर्ण बीमा व्यवसाय सरकार के नियंत्रण में है।

बीमा के अंतर्गत विषयवस्तु की सुरक्षा बीमा कंपनी के साथ एक अनुबंध करके प्राप्त की जाती है।

न्यायाधीश टिंडल के शब्दों में, 'बीमा एक ऐसा अनुबंध है, जिसमें बीमाकर्ता द्वारा बीमित पक्षकार को एक निश्चित धनराशि नियत घटना के घटित होने पर निश्चित धनराशि (प्रिमियम) के प्रतिफल के रूप में दी जाती हैं।' बीमा की यह परिभाषा अधिक व्यापक नहीं समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा में बीमा अनुबंध के मूल तत्वों का उल्लेख नहीं किया गया है और न ही बीमित जोखिम की चर्चा की गई है।

दूसरे शब्दों में, बीमा एक ऐसा अनुबंध है जिसके द्वारा व्यक्ति अथवा संस्था एक निर्दिष्ट धनराशि (प्रिमियम) (जो बीमा कंपनी के लिए प्रतिफल समझा जाता है) के बदले में दूसरे व्यक्ति अथवा संस्था की विषयवस्तु, जिसके ऊपर उसका बीमायोग्य हित होता है, से जोखिम का भार वहन करने के लिए सहमत होता है। बीम कराने वाला व्यक्ति बीमाकृत (इन्स्योर्ड) कहा जाता है, जो संस्था या व्यक्ति बीमा करता है उसे बीमाकर्ता (इन्स्योरर) कहा जाएगा, तथा जिस विषय वस्तु का बीमा कराया जाता है उसे 'बीमित वस्तु' (इन्स्योर्ड सब्जेक्ट मैटर) कहा जाता है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि बीमा वैधानिक रूप से एक अनुबंध है जिसमें बीमा कंपनी तथा बीमाकृत दो पक्षकार होते हैं, इसके अंतर्गत बीमाकृत व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला प्रिमियम बीमा कंपनी के लिए प्रतिफल स्वरूप होता है, जिसके बदले बीमा कंपनी बीमाकृत की बीमित विषय वस्तु में बीमित कारणों से उत्पन्न क्षति की पूर्ति करने का वचन देती है, इसके अतिरिक्त बीमा की परिभाषा में इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि

बीमा कंपनी एक छोटी सी धनराशि (जो उसे प्रिमियम के रूप में प्राप्त होती है) के बदले एक बड़े जोखिम को वहन करने का दायित्व उसके ऊपर ले लेती है। बीमा कंपनी को यह तथ्य मालूम रहता है कि जितनी भारी विषयवस्तुओं का बीमा कराया गया है वे सब नष्ट नहीं हो सकती हैं, और वास्तव में बीमा कंपनी को कुछ ही विषय की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि बीमा अनुबंध मूल रूप से सहकारिता या आपसी सहयोग पर आधारित है।

बीमा अनुबंध के मूल सिद्धांत

बीमा मूलरूप से एक अनुबंध है जिसमें एक वैध अनुबंध के समस्त आवश्यक लक्षण विद्यमान होना आवश्यक है, इसके अलावा बीमा अनुबंध कुछ अन्य मूल सिद्धांतों पर आधारित है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. क्षतिपूर्ति का सिद्धांत : जीवन बीमा अनुबंध को छोड़कर बीमा के अन्य सारे अनुबंध मूल रूप से क्षतिपूर्ति के अनुबंध होते हैं, क्योंकि इन अनुबंधों में बीमा कंपनी एक निश्चित प्रिमियम के प्रतिफल के बदले बीमाकृत को बीमित वस्तुओं के संबंध में निश्चित जोखिम से उत्पन्न क्षति की पूर्ति करने का वचन देती है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि जितनी राशि का बीमा कराया गया है उसी राशि के अंतर्गत बीमा कंपनी के द्वारा क्षति-पूर्ति की जाएगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि बीमा कराने वाला व्यक्ति बीमे के अनुबंध से किसी भी स्थिति में कोई लाभ अर्जित नहीं कर सकता है। क्योंकि विषय वस्तु के बीमित कारणों से नष्ट हो जाने पर उसे ठीक उसी आर्थिक स्थिति में रख दिया जाएगा जिस स्थिति में वह व्यक्ति विषय वस्तु की मौजूदगी में था। अन्यथा यदि बीमित वस्तु के नष्ट होने पर बीमा कराने वाले व्यक्ति को कोई लाभ प्राप्त हो तो वह कुछ परिस्थि-तियों में बीमित वस्तु को नष्ट करने का प्रयत्न भी कर सकता है, संक्षेप में बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर बीमा कराई राशि के अंतर्गत ही बीमा कंपनी द्वारा वास्तविक क्षति की पूर्ति की जाती है।

पर जीवन बीमा अनुबंध क्षतिपूर्ति का अनुबंध नहीं है। मानव जीवन के मूल्य को मुद्रा के द्वारा नहीं मापा जा सकता है, इसीलिए बीमाकृत की मृत्यु हो जाने पर अथवा एक निश्चित अवधि समाप्त हो जाने पर उसके द्वारा नामांकित व्यक्ति को अथवा उसे बीमा पालिसी की पूर्ण धनराशि का भुगतान कर दिया जाता है, इसीलिए जीवन बीमा के अनुबंध क्षतिपूर्ति के अनुबंध के बजाय सयोगिक अनुबंध होते हैं।

बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर बीमा कंपनी द्वारा क्षतिपूर्ति निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(अ) बीमित वस्तु को उसकी पहले की स्थिति में लाने के लिए मरम्मत आदि व्ययों का भुगतान करके।

(ब) बीमित वस्तु को प्रतिस्थापित करके इसके अंतर्गत बीमा कंपनी नष्ट हुई बीमित वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु बाजार से क्रय करके अथवा उसका निर्माण करके बीमाकृत व्यक्ति को दे देती है।

(स) बीमित वस्तु के नष्ट होने पर बीमाकृत व्यक्ति को क्षति के लिए नकद भुगतान करके क्षतिपूर्ति की यह विधि सबसे अधिक प्रचलित है।

2. बीमा योग्य हित : बीमा कराने वाले व्यक्ति का प्रस्तावित वस्तु पर बीमा योग्य हित मौजूद होना आवश्यक है, क्योंकि इसी बीमा योग्य हित की सुरक्षा के लिए वह व्यक्ति वस्तु का बीमा कराता है। बीमायोग्य हित के अभाव में बीमे का अनुबंध बाजी या जुए के अनुबंधों की भांति व्यर्थ समझा जाएगा।

बीमायोग्य हित से हमारा अभिप्राय विषयवस्तु पर बीमा कराने वाले व्यक्ति उसे वैधानिक तथा आर्थिक हित से है जिसके फलस्वरूप यदि वस्तु सुरक्षित रहती है तो उसे आर्थिक लाभ प्राप्त होता रहता है और यदि विषयवस्तु नष्ट हो जाए तो उस व्यक्ति को आर्थिक हानि होती है, जैसे 'अ' अपने मकान का अग्निबीमा कराता है, यदि मकान आग से नष्ट हो जाए तो 'अ' को निश्चित रूप से आर्थिक क्षति होगी, मकान का सुरक्षित बना रहना उसके लिए लाभप्रद है, इसीलिए मकान के ऊपर 'अ' का बीमायोग्य हित समझा जाएगा। ठीक इसी प्रकार यदि 'अ' को 'ब' से 5000 रु० के ऋण का भुगतान प्राप्त करना है और यदि 'ब' की मृत्यु हो जाए तो 'अ' को इससे आर्थिक क्षति हो सकती है इसीलिए 'अ' का 'ब' के जीवन में 5000 रु० की सीमा तक बीमायोग्य हित विद्यमान है। बीमे के समस्त अनुबंधों में बीमायोग्य हित की विद्यमानता अलग अलग स्थिति में अलग अलग प्रकार से आवश्यक होती है, क्योंकि जीवन बीमा अनुबंधों में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के जीवन में बीमायोग्य हित बीमाअनुबंध करते समय अथवा पालिसी लागू होते समय विद्यमान होना आवश्यक है। बीमित जीवन के या एक निश्चित अवधि के समाप्त हो जाने पर, जबकि बीमा कंपनी द्वारा पालिसी की धनराशि का भुगतान किया जाता है, बीमायोग्य हित की निरंतरता एवं विद्यमानता आवश्यक नहीं है। निम्नलिखित दशाओं में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के जीवन में बीमायोग्य हित समझा जाता है।

(अ) लेनदार का देनदार के जीवन में ऋण की राशि की सीमा तक।
(ब) साझेदारी संस्था में एक साझेदार का दूसरे साझेदार के जीवन में।
(स) आश्रित व्यक्ति का उस व्यक्ति के जीवन में जिसके माध्यम से वह अपना जीवन निर्वाह करता है।
(द) प्रतिभू (श्योरिटी) का मूल ऋणी के जीवन में गारंटी की राशि तक।
(य) पुत्र का पिता के जीवन में (यदि वह पिता पर आश्रित है)।
(र) पत्नी को अपने पति के तथा पति को अपनी पत्नी के जीवन में।

अग्निबीमा के अनुबंधों की दशा में बीमा कराने वाले व्यक्ति का बीमित वस्तु पर बीमायोग्यहित अनुबंध करते समय तथा बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर क्षतिपूर्ति का दावा करते समय अथवा इन दोनों समय विद्यमान होना आवश्यक है। किसी संपति(चल अथवा अचल संपत्ति) में निम्न पक्षकारों का बीमायोग्यहित विद्यमान समझा जाता है।

(अ) अचल संपत्ति—संपत्ति का स्वामी, किराएदार, गिरवी रखने वाला व्यक्ति तथा जिस व्यक्ति के पास गिरवी रखी जाती है, आदि।
(ब) चल संपत्ति-स्वामी, निपेक्षकर्ता (बेलर) निपेक्षी, वाहक आदि।
(स) अंशधारियों का अपने अंशों में, एजेंट का अपने कमीशन पर।

इसी प्रकार समुद्री बीमा अनुबंधों में बीमायोग्य हित बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर क्षतिपूर्ति का दावा करते समय विद्यमान होना आवश्यक है, और बीमा अनुबंध करते समय इसकी विद्यमानता आवश्यक नहीं होती है। समुद्री बीमा में बीमायोग्य हित निम्न प्रकार का हो सकता है।

(अ) जहाज के मालिक का जहाज के ऊपर,
(ब) उसके द्वारा भजी जाने वाली वस्तुओं के मालिक का वस्तुओं पर,
(स) जहाजी कंपनी का प्राप्त किए जाने वाले भाड़े एवं किराए पर।

3. सद्विश्वास : बीमा के अनुबंध पूर्णतया दोनों पक्षकारों के सद्विश्वास पर आधारित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि बीमे का अनुबंध करते समय बीमा कराने वाले पक्ष-कार तथा बीमा कंपनी दोनों का यह वैधानिक कर्तव्य है (विशेष रूप से बीमा कराने वाले व्यक्ति का) कि उसे प्रस्तावित विषय वस्तु के बारे में जो भी महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात

हों उन तथ्यों को दूसरे पक्षकार को बता दे। महत्वपूर्ण तथ्यों से हमारा अभिप्राय उन तथ्यों से है जो बीमा कंपनी द्वारा वहन किए जाने वाले जोखिम की मात्रा को प्रभावित करते हैं अथवा जिनका प्रभाव बीमा कंपनी द्वारा प्रिमियम की धनराशि का निर्धारण करने पर पड़ सकता है।

हालांकि सद्भावना से कार्य करने का दायित्व दोनों पक्षकारों का होता है, पर व्यवहार में यह दायित्व बीमा कराने वाले पक्षकार के ऊपर अधिक होता है. क्योंकि यह स्वाभाविक है कि बीमा अनुबंध के लिए प्रस्तावित विषयवस्तु के बारे में जो जानकारी बीमा कराने वाले व्यक्ति को हो सकती है। वह बीमा कंपनी को नहीं हो सकती है।

संक्षेप में, बीमा अनुबंध में सम्मिलित होते समय बीमा कराने वाले व्यक्ति का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह प्रस्तावित वस्तु के बारे में ज्ञान समस्त महत्वपूर्ण तथ्यों को बीमा कंपनी के सम्मुख प्रकट कर दे। यदि वह महत्वपूर्ण सूचनाओं की जानकारी बीमा कंपनी को नहीं देता तो ऐसा अनुबंध बीमा कंपनी की इच्छा पर व्यर्थनीय होगा और बीमा कंपनी ऐसे अनुबंध को निरस्त कर सकती है।

इस सिद्धांत के संबंध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि बीमा अनुबंध में 'क्रेता सावधान रहे' का सिद्धांत लागू नहीं होता है। इस सिद्धांत के अनुसार वस्तु के क्रेता को वस्तु क्रय करते समय उसका भली भांति निरीक्षण कर लेना चाहिए। यदि क्रय करने के पश्चात वस्तु में कोई दोष निकले (जिसे सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति निरीक्षण करते समय ज्ञात कर सकता था) तो इसके लिए विक्रेता जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकेगा, पर बीमा अनुबंधों में बीमा कराने वाले व्यक्ति को प्रस्तावित विषय वस्तु के बारे में महत्व-पूर्ण तथ्य ज्ञात करने के समस्त साधन उपलब्ध रहते हैं जो बीमा कंपनी को उपलब्ध नहीं होते, इसीलिए बीमा कराने वाले व्यक्ति को यह चाहिए कि वह प्रस्तावित विषय के बारे में महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी बीमा कंपनी को दे दे।

4. अधिकार समर्पण : अधिकार समर्पण का सिद्धांत क्षतिपूर्ति के सिद्धांत का सहायक है क्योंकि यह सिद्धांत उन्हीं अनुबंधों पर लागू होता है जो पूर्णतया क्षतिपूर्ति के अनुबंध हैं। इससे क्षतिपूर्ति के सिद्धांत को पूर्णतया लागू करने में सहायता मिलती है, क्षतिपूर्ति के सिद्धांत के अनुसार बीमा कराने वाला व्यक्ति बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर किसी भी स्थिति में कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है, और अधिकार समर्पण के सिद्धांत के अनुसार यदि बीमित वस्तु बीमित कारण से पूर्णतया नष्ट हो जाए और बीमा कंपनी के द्वारा अंतिम एवं पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति कर दी जाए तो इसके पश्चात बीमित वस्तु से संबंधित समस्त अधिकार स्वतः बीमा कंपनी को हस्तांतरित हो जाते हैं, जैसे नष्ट वस्तु के अवशेष को प्राप्त करने का अधिकार तथा तीसरे पक्षकार के ऊपर दावा करने का अधिकार आदि। इस संबंध में बीमा कराने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह बीमा कंपनी को संबंधित अधिकार सौंपने में आवश्यक सहायता प्रदान करे जैसे अपने नाम पर दोषी पक्ष के ऊपर दावा करने की अनुमति देना आदि।

अधिकार समर्पण का सिद्धांत समानता के सिद्धांत पर आधारित है क्योंकि यदि बीमा कराने वाले व्यक्ति को वस्तु की पूर्ण क्षति की पूर्ति कर दी जाए तो नष्ट बीमित वस्तु के ऊपर बीमा कंपनी को अधिकार प्राप्त होना उचित एवं स्वाभाविक है।

यह सिद्धांत निम्नलिखित दशाओं में लागू होता है।

(अ) चूंकि यह सिद्धांत क्षतिपूर्ति के सिद्धांत का सहायक है इसीलिए यह सिद्धांत क्षतिपूर्ति के अनुबंधों पर ही लागू होता है।

(ब) यह सिद्धांत केवल उस स्थिति में लागू होता है यदि बीमित वस्तु पूर्णतया नष्ट हो गई हो और बीमा कंपनी के द्वारा क्षति की पूर्ति पूरी तरह कर दी गई है, अर्थात

विषयवस्तु में आंशिक क्षतिपूर्ति की स्थिति में यह सिद्धांत लागू नहीं होगा।

5. अंशदान : यदि कोई व्यक्ति एक ही विषयवस्तु का जोखिम, एक ही कारण के विरुद्ध दो या दो से अधिक बीमा कंपनियों से बीमित कराता है, तो बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर बीमा कराने वाला व्यक्ति, इस क्षति की पूर्ति पालिसी की धनराशि तक एक बीमा कंपनी से करा सकता है या सब बीमा कंपनियों से आनुपातिक अंशदान की मांग कर सकता है। इस अधिकार के अनुसार यदि बीमा कराने वाले व्यक्ति की क्षतिपूर्ति एक ही कंपनी द्वारा की गई है तो क्षतिपूर्ति करने वाली कंपनी अन्य कंपनियों से आनुपातिक रूप से आवश्यक अंशदान प्राप्त कर सकेगी। उदाहरण के लिए 'अ' ने अपने मकान का 'ब' और 'स' कंपनियों से क्रमशः 10,000 रु० तथा 15,000 रु० का अग्निबीमा कराया है। यदि मकान में आग लग लग जाए और कुल वास्तविक क्षति 12,000 रु० की हो तो 'अ' इस क्षति की पूर्ति 10,000 रु० की सीमा तक 'ब' कंपनी से करा सकता है और 2000 रु० की मांग 'स' कंपनी से कर सकता है, या क्षति की पूर्ति पूर्णतया 'स' कंपनी से ही करा सकता है, परंतु 'ब' और 'स' कंपनियों के बीच 12000 रु० की क्षति का निम्न प्रकार से विभाजन किया जाएगा।

$$\text{'ब' कंपनी का दायित्व} = \frac{\text{'ब' द्वारा स्वीकृत पालिसी की धनराशि}}{\text{कुल बीमित राशि}} \times \text{क्षति की राशि।}$$

$$= \frac{10,000}{25,000} \times 12000 = 4,800 \text{ रु०}$$

$$\text{इसी प्रकार 'स' कंपनी का दायित्व} = \frac{15,000}{25,000} \times 12,000 = 7,200 \text{ रु०}$$

अंशदान का सिद्धांत क्षतिपूर्ति के अनुबंधों में ही लागू होता है।

6. निकटतम कारण का सिद्धांत : बीमा अनुबंध में जोखिम के जिन कारणों से बचने के लिए वस्तु का बीमा कराया जाता है उन्हें 'बीमित कारण' कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि बीमा कंपनी बीमित वस्तु के नष्ट होने पर क्षतिपूर्ति के लिए तभी जिम्मेदार ठहराई जा सकेगी यदि बीमित वस्तु जोखिम के बीमित कारणों से नष्ट हुई हो। इससे यह स्पष्ट है कि बीमित कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों से बीमित वस्तु के नष्ट होने पर बीमा कंपनी क्षतिपूर्ति नहीं करेगी।

परंतु यदि बीमित वस्तु एक से अधिक कारणों से नष्ट हुई हो अर्थात वस्तु के नष्ट होने में दो या दो से अधिक कारण रहे हों और इस कारण श्रृंखला में बीमित कारण के अतिरिक्त अन्य कारण भी रहे हों तो ऐसी स्थिति में बीमा कंपनी के लिए क्षतिपूर्ति का दायित्व तभी उत्पन्न होगा जब वस्तु के नष्ट होने के कारणों की श्रृंखला में बीमित कारण सबसे निकटवर्ती रहा हो, यदि क्षति का निकटवर्ती कारण कुछ और रहा हो, बीमित कारण दूरगामी हो तो बीमा कंपनी क्षतिपूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होगी।

निकटतम कारण वह कारण समझा जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से बीमित वस्तु नष्ट हुई हो और दूरगामी कारण वह कारण है जिससे कारणों की श्रृंखला को जन्म मिलता है, जैसे समुद्री बीमा अनुबंध में चूहों के कारण होने वाली संभावित क्षति बीमित कारणों में सम्मिलित नहीं है। चूहों द्वारा जहाज के निचले भाग में छिद्र करने के परिणामस्वरूप जहाज में पानी भर जाता है और बीमित वस्तु क्षतिग्रस्त हो जाती है, तो क्षति के कारणों की इस श्रृंखला में पानी के कारण बीमित वस्तु नष्ट हुई है, इसीलिए इसे निकटतम कारण कहा जाएगा। चूहों द्वारा जहाज में छिद्र किया जाना

दूरगामी कारण है। इस स्थिति में निकटतम कारण बीमा अनुबंध में बीमित कारण भी है, अत: बीमा कंपनी क्षतिपूर्ति के लिए जिम्मेदार होगी।

इसके विपरीत यदि जहाज में किन्हीं कारणों से पानी भर जाता है और वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए जहाज से उतारने में वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं तो इस स्थिति में वस्तुओं को जहाज से उतारना क्षति का निकटतम कारण है और जहाज में पानी का प्रवेश दूरगामी कारण समझा जाएगा।

बीमा कंपनी क्षतिपूर्ति के लिए उसी स्थिति में जिम्मेदार ठहराई जा सकती है यदि क्षति के कारणों की शृंखला में क्षति का निकटतम कारण बीमित हो। इस सिद्धांत के अनुसार बीमित वस्तु की क्षति की दशा में बीमा कंपनी के दायित्व का निर्धारण अंतिम कारण के आधार पर नहीं किया जाता है, बल्कि दायित्व के निर्धारण का आधार वह कारण है जो प्रत्यक्ष, प्रभावपूर्ण, तात्कालिक, निकटवर्ती, प्रधान एवं बीमित है।

7. हानि का अल्पीकरण : वस्तु बीमित हो जाने के पश्चात बीमा कराने वाले व्यक्ति का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह बीमित वस्तु की ठीक उसी प्रकार उचित देखभाल करे जैसे एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति अपनी उसी प्रकार की वस्तु की (जो बीमित नहीं है) करता है, क्योंकि यदि बीमा कराने वाले व्यक्ति की लापरवाही से या उचित देख-भाल के अभाव में बीमित वस्तु नष्ट होती है तो इसके लिए बीमा कंपनी जिम्मेदार नहीं ठहराई जा सकती। इसके अतिरिक्त बीमित वस्तु के नष्ट होते समय भी बीमा कराने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि विषयवस्तु से उत्पन्न हानि को कम करने के लिए वह युक्तिसंगत प्रयास करे, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने जीवन को जोखिम में डालकर हानि को कम करने का प्रयत्न करे। यदि बीमा कराने वाले व्यक्ति ने विषयवस्तु में संभावित हानि कम करने के लिए अथवा बीमित वस्तु को नष्ट होने से बचाने के लिए कोई व्यक्तिगत हानि वहन की है अथवा उचित व्ययों का भुगतान किया है तो ऐसी हानि की पूर्ति एवं व्ययों के लिए भी बीमा कंपनी जिम्मेदार ठहराई जा सकेगी।

बीमा अनुबंध के भेद

आधुनिक युग में बीमे के व्यवसाय का इतना विस्तार हो चुका है कि भविष्य की अनि-श्चितता से उत्पन्न कई जोखिमों से व्यवसायी एवं समाज अपने को सुरक्षित रख सकता है, अलग अलग प्रकार की विषयवस्तु को अलग अलग स्थितियों में जोखिम के विभिन्न कारणों के विरुद्ध बीमित किया जा सकता है और प्रत्येक दशा में जोखिम से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए बीमा कराने वाला व्यक्ति बीमा कंपनियों के साथ अनुबंध में सम्मि-लित होता है, इसके अंतर्गत किए जाने वाले अनुबंध मुख्य रूप से निम्न वर्गों में विभा-जित किए जा सकते हैं।

1. जीवन बीमा अनुबंध : इस प्रकार के अनुबंधों में बीमा अनुबंध का विषय मानव जीवन होता है, हालांकि मानव जीवन समाप्त होने से होने वाली क्षति को मापा नहीं जा सकता है, और न ही इस क्षति की पूर्ति की जा सकती है, पर व्यवहार में संबंधित व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उस पर आश्रितों को आर्थिक कठिनाई से उबारने में जीवन बीमा अनु-बंध महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इन अनुबंधों में सुरक्षा के साथ ही साथ विनियोग का तत्व भी सम्मिलित है।

2. अग्नि बीमा : आग से उत्पन्न क्षति के विरुद्ध विषय वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए अग्नि बीमा की व्यवस्था की जा सकती है। व्यवसायी उत्पादन के लिए कच्चा माल तथा तैयार वस्तुएं भविष्य के लिए संग्रहीत करता है। अग्नि प्रकोप के जोखिम से इनकी

सुरक्षा प्राप्त करने के लिए वह इन वस्तुओं का अग्नि बीमा कराता है ताकि यदि बीमित वस्तु आग से नष्ट हो जाए तो उससे संबंधित क्षति की पूर्ति बीमा कंपनी द्वारा कराई जा सके।

3. समुद्री बीमा : जल यातायात में समुद्री मार्गों के विकास से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्रोत्साहित हुआ है। भारी संख्या में वस्तुएं समुद्री जहाजों द्वारा एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती हैं, अतः वस्तु जलमार्ग से यातायात करने में विभिन्न समुद्री खतरों से वस्तु तथा जहाज नष्ट होने के खतरे से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए वस्तु एवं जहाज का समुद्री बीमा करा लिया जाता है।

4. विविध बीमा अनुबंध : उपर्युक्त जोखिमों के अतिरिक्त अन्य कई जोखिमों से संभावित हानि से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अन्य प्रकार के बीमे के अनुबंध भी प्रचलित हैं, जैसे औद्योगिक दुर्घटना के लिए बीमा, लाभ बीमा, ऋण बीमा आदि।

जीवन बीमा

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, जीवन बीमा में बीमे के अनुबंध का विषय मानव जीवन होता है, मानव जीवन अनिश्चित है, किसी भी समय किसी भी दुर्घटना के कारण उसकी मृत्यु हो सकती है अथवा वह शारीरिक रूप से हमेशा के लिए अपाहिज हो सकता है, जिससे उसके आश्रितों तथा उसको गंभीर आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इन स्थितियों में जीवन बीमा अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

जीवन बीमा अनुबंध में जीवन बीमा निगम, एक निश्चित प्रीमियम की धनराशि के प्रतिफल के बदले, बीमा कराने वाले व्यक्ति को एक निश्चित अवधि के समाप्त होने पर अथवा उससे पूर्व उसकी मृत्यु होने पर एक निश्चित धनराशि (पालिसी की राशि) का भुगतान करने का वचन देता है। बीमा अधिनियम की धारा 2 (ii) के अनुसार जीवन बीमा व्यवसाय से तात्पर्य मानव जीवन पर अनुबंध करने के व्यवसाय से होता है।

जीवन बीमा की उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि जीवन बीमा अनुबंध का विषय मानव जीवन है और बीमा कराने वाला व्यक्ति जीवन बीमा निगम के साथ निर्धारित शर्तों के अंतर्गत अनुबंध में सम्मिलित होता है। जीवन बीमा अनुबंध में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं।

1. जीवन बीमा अनुबंध एक संयोगिक अनुबंध (कंटिजेंट कांट्रेक्ट) है, क्योंकि इसमें जीवन बीमा निगम बीमा कराने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसके द्वारा नामांकित व्यक्ति को या एक निश्चित अवधि समाप्त हो जाने पर उसके द्वारा नामांकित व्यक्ति को पालिसी की धनराशि का भुगतान करता है।

2. जीवन बीमा अनुबंध का विषय मानव जीवन है।

3. जीवन बीमा अनुबधों में अनुबंध करते समय बीमायोग्य हित विद्यमान होना आवश्यक है।

4. जीवन बीमा अनुबंध में सुरक्षा के साथ साथ विनियोग का तत्व भी विद्यमान होता है, क्योंकि यदि जीवन बीमा एक निश्चित अवधि के लिए किया गया है तो उस अवधि से पूर्व बीमा कराने वाले की मृत्यु हो जाने पर उसे पालिसी की धनराशि का भुगतान कर दिया जाता है, और यदि निश्चित अवधि समाप्त हो जाए तो पालिसी की धनराशि का भुगतान बीमाकृत व्यक्ति स्वयं प्राप्त कर सकता है, जिसे वह अपनी बचत के रूप में भविष्य में प्रयोग कर सकता है।

जीवन बीमा कराने की विधि

जीवन बीमा अनुबंध अन्य सामान्य अनुबंधों की भांति एक अनुबंध है जिसकी स्थापना प्रस्ताव एवं स्वीकृति के द्वारा की जाती है। इस अनुबंध में सम्मिलित होने के लिए बीमा कराने वाले व्यक्ति को निम्न कार्यवाही करनी पड़ती है।

प्रस्ताव प्रस्तुत करना : जीवन बीमा अनुबंध करने के लिए बीमा कराने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम प्रस्तावपत्र प्राप्त कर उसमें मांगी गई समस्त सूचनाओं की सही जानकारी देते हुए जीवन बीमा कार्यालय में प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रस्तावपत्र निगम के कार्यालय से या बीमा एजेंट से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रस्तावपत्र में बीमा कराने वाला व्यक्ति आमतौर पर अपनी आयु, शिक्षा, आय तथा स्वास्थ्य एवं पारिवारिक इतिहास के बारे में सूचनाएं देता है। उसका यह कर्तव्य है कि वह इस प्रस्तावपत्र में मांगी गई समस्त सूचनाएं सही सही दे, क्योंकि बीमा के अनुबंध सद्भावना वाले अनुबंध होते हैं और यदि बीमा कराने वाला व्यक्ति सूचनाओं का छुपाव करता है या जानबूझकर गलत सूचनाएं देता है तो ऐसा अनुबंध जीवन बीमा निगम द्वारा निरस्त किया जा सकता है।

स्वास्थ्य परीक्षा : जीवन बीमा कराने वाला व्यक्ति प्रस्तावपत्र में अपने स्वास्थ्य के बारे में भी आवश्यक जानकारी देता है। इसके प्रमाण के रूप में वह किसी चिकित्सक से अपने स्वास्थ्य की गहन जांच पड़ताल करवाके स्वास्थ्य के बारे में आवश्यक सूचनाओं के साथ साथ प्रस्तावपत्र के संबंधित खाने में चिकित्सक के भी हस्ताक्षर करवाता है। स्वास्थ्य परीक्षण रिपोर्ट के आधार पर बीमा निगम प्रस्ताव पर विचार करता है। बीमा निगम द्वारा वहन किए जाने वाले जोखिम की मात्रा एवं प्रकृति काफी हद तक बीमा कराने वाले व्यक्ति के स्वास्थ्य पर निर्भर होती है।

प्रस्ताव की स्वीकृति : जीवन बीमा निगम बीमा कराने वाले व्यक्ति से प्राप्त प्रस्तावपत्र द्वारा प्राप्त सूचनाओं एवं स्वास्थ्य परीक्षण रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए उस व्यक्ति के जीवन में निहित जोखिम वहन करने के लिए प्रतिफल निर्धारित करता है जो बीमा कराने वाले व्यक्ति से प्रीमियम के रूप में वसूल किया जाएगा। यदि जीवन बीमा निगम प्राप्त सूचनाओं से संतुष्ट न हो या प्रस्ताव स्वीकार करने में उसे अतिरिक्त जोखिम की आशंका हो तो इसके लिए वसूल किए जाने वाले प्रीमियम की धनराशि में वृद्धि की जा सकती है।

आयु का प्रमाण : जीवन बीमा अनुबंध चूंकि मानव जीवन संबंधी जोखिम वहन करने का उत्तरदायित्व है इसीलिए इसके समक्ष बीमा कराने वाले व्यक्ति की आयु महत्वपूर्ण है। आयु का प्रत्यक्ष संबंध अधिकांश दशाओं में वहन किए जाने वाले जोखिम से होता है, इसीलिए जीवन बीमा निगम व्यवहार में कम उम्र के व्यक्ति का बीमा कराने के लिए तुलनात्मक रूप से कम प्रीमियम पर ही जोखिम वहन का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है। अतः बीमा कराने वाले व्यक्ति को अपनी आयु के बारे में आवश्यक वैधानिक प्रमाण प्रस्तुत करना पड़ता है।

जोखिम का प्रारंभ : जब तक जीवन बीमा निगम प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं करता है तब तक जोखिम के प्रारंभ होने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जीवन बीमा अनुबंध सामान्य अनुबंधों की भांति एक अनुबंध है और इसकी स्थापना प्रस्ताव को स्वीकार करने पर ही हो सकती है। जीवन बीमा निगम व्यवहार में प्रस्ताव की स्वीकृति देने के साथ साथ बीमा कराने वाले व्यक्ति को निश्चित प्रीमियम की धन-राशि का भुगतान करने को कहता है। प्रस्ताव की स्वीकृति तथा प्रीमियम की प्रथम किस्त का भुगतान दोनों में जो देर से हुआ है उसी तिथि से जोखिम का प्रारंभ समझा जाता है।

जीवन बीमा पालिसी के भेद

जिस लिखित दस्तावेज में जीवन बीमा अनुबंध की समस्त शर्तें उल्लिखित रहती हैं और जिसका निर्गमन बीमा कराने वाले व्यक्ति को जीवन बीमा निगम द्वारा किया जाता है उसे जीवन बीमा पालिसी कहा जाता है। व्यवहार में जीवन बीमा पालिसी के निम्न स्वरूप प्रचलित हैं :

आजीवन बीमा पालिसी : इस प्रकार की पालिसी के अंतर्गत पालिसी की धनराशि का भुगतान बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके द्वारा नामांकित व्यक्ति को या उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को कर दिया जाता है। इस प्रकार की पालिसी का मुख्य उद्देश्य बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रितों को आर्थिक कठिनाई से सुरक्षित रखना है। पालिसी की धनराशि का भुगतान बीमा कराने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर ही संबंधित व्यक्ति को किया जाता है।

सावधि बीमा पालिसी : सावधि बीमा पालिसी की राशि का भुगतान एक निश्चित अवधि के बाद बीमाकृत व्यक्ति को किया जाता है। उस निश्चित अवधि से पूर्व यदि बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु हो जाए तो पालिसी की राशि का भुगतान नामांकित व्यक्ति या बीमाकृत व्यक्ति के वैधानिक उत्तराधिकारी को किया जाता है। इस प्रकार की पालिसी में सुरक्षा एवं विनियोग दोनों तत्व निहित होते हैं।

वार्षिक पालिसी : सामान्यतया इस प्रकार की पालिसी वृद्धावस्था में जीवन निर्वाह करने के लिए ली जाती है। इसके अंतर्गत पालिसी के परिपक्व हो जाने पर पालिसी की राशि का पूर्ण भुगतान करने के बजाय जीवन बीमा निगम, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक या वार्षिक किस्तों में देय राशि का भुगतान करता है। इस प्रकार किस्तों के भुगतान की अवधि, पालिसी के परिपक्व हो जाने पर कुछ निश्चित वर्षों तक सीमित हो सकती है या बीमाकृत व्यक्ति के जीवन भर उसे इन किस्तों का भुगतान किया जा सकता है।

संयुक्त बीमा पालिसी : यदि दो या दो से अधिक व्यक्तियों के जीवन का बीमा एक ही पालिसी के अंतर्गत कराया जाए तो इस प्रकार की पालिसी को संयुक्त बीमा पालिसी कहा जाता है। इस प्रकार की पालिसी साझेदारी संस्था में साझेदारों के लिए तथा पति-पत्नी के लिए अधिक उपयोगी समझी जाती है। इस प्रकार की पालिसी में यदि किसी भी एक की मृत्यु हो जाए तो पालिसी की राशि का भुगतान दूसरे जीवित बीमाकृत व्यक्ति को कर दिया जाता है। प्रीमियम में बचत इस प्रकार की पालिसी का मुख्य आकर्षण है।

सीमित भुगतान पालिसी : इस पालिसी में प्रीमियम का भुगतान एक निश्चित अवधि तक ही किया जाना होता है और बीमाकृत व्यक्ति उस निश्चित आयु में पहुंचने के पश्चात प्रीमियम का भुगतान बंद कर देता है, इसीलिए इस प्रकार की पालिसी को सीमित भुगतान पालिसी कहा जाता है।

दोहरी दुर्घटना पालिसी : इस प्रकार की पालिसी में यदि बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु किसी दुर्घटना के कारण होती है तो बीमाकृत व्यक्ति के वैधानिक उत्तराधिकारी को पालिसी की राशि का दुगना भुगतान कर दिया जाता है। स्वाभाविक रूप से इस प्रकार की पालिसी में प्रीमियम तुलनात्मक रूप से कुछ अधिक होता है।

बाल स्थायी निधि पालिसी : इस प्रकार की पालिसी बच्चों की शिक्षा, विवाह आदि में उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाई का सामना करने के लिए ली जाती है। बीमाकृत व्यक्ति जीवनपर्यंत प्रीमियम का भुगतान करता है और बच्चों के एक निश्चित आयु तक पहुंचने पर पालिसी की राशि का भुगतान किया जाता है।

पालिसी का समर्पण मूल्य (सरेंडर वैल्यू)

यदि बीमाकृत व्यक्ति किन्हीं कारणों से एक निश्चित अवधि के बाद निर्धारित प्रीमियम का भुगतान नहीं कर पाता है और पालिसी से संबंधित समस्त अधिकारों को जीवन बीमा निगम को समर्पित कर देता है तो उसके बदले उसे बीमा निगम से जो धनराशि प्राप्त होती है उसे पालिसी का समर्पण मूल्य कहा जाता है। समर्पण मूल्य का भुगतान हो जाने के बाद बीमा अनुबंध समाप्त हो जाता है। किसी पालिसी का समर्पण मूल्य कम से कम दो वर्षों तक अथवा कुल देय प्रीमियमों की संख्या का $\frac{1}{10}$ (बशर्ते भुगतान की गई प्रीमियम की राशि एक वर्ष के देय प्रीमियमों से अधिक हो) भुगतान करने पर ही प्राप्त हो सकता है। जीवन बीमा निगम बीमाकृत को किस धनराशि का भुगतान समर्पण मूल्य के रूप में करेगा, इसकी व्यवस्था अधिकांश दशाओं में पालिसी के अंतर्गत की रहती है। न्यूनतम समर्पण मूल्य प्राय: प्रथम वर्ष में चुकता किए प्रीमियम की धनराशि तथा दुर्घटना लाभ के लिए किए गए भुगतान को छोड़कर उस अवधि तक कुल चुकता प्रीमियम का लगभग 30% होता है अर्थात यदि अधिक वर्षों तक प्रीमियम का भुगतान किया गया है तो पालिसी का समर्पण मूल्य भी आनुपातिक रूप से अधिक होगा।

पालिसी का परिदत्त मूल्य या चुकता मूल्य (पेड अप वैल्यू)

यदि किसी बीमा पालिसी में कम से कम दो वर्षों तक लगातार प्रीमियम का भुगतान करने के पश्चात आगे को देय प्रीमियम का भुगतान देय तिथि पर न किया जाए तो बीमा पालिसी समाप्त नहीं समझी जाती है बल्कि पालिसी की रकम को उसी अनुपात में कम कर दिया जाता है जो अनुपात भुगतान किए गए प्रीमियम का पालिसी में देय कुल प्रीमियम से होता है। इस प्रकार निर्धारित किया गया पालिसी का मूल्य परिदत्त या चुकता मूल्य कहलाता है। समर्पण मूल्य तथा परिदत्त मूल्य में मुख्य अंतर यह है कि समर्पण मूल्य का भुगतान तो उसी समय हो जाता है जब बीमाकृत अपने अधिकारों का समर्पण करता है जबकि परिदत्त मूल्य पालिसी के परिपक्व हो जाने पर प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार समर्पण मूल्य प्राप्त करने के लिए बीमाकृत व्यक्ति द्वारा पालिसी से संबंधित समस्त अधिकार बीमा कंपनी को समर्पित किए जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जीवन बीमे का अनुबंध समाप्त हो जाता है जबकि परिदत्त मूल्य में बीमे का अनुबंध समाप्त तो नहीं होता है पर उसमें सुरक्षा का तत्व समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के मूल्यों का निर्धारण भी अलग अलग प्रकार से किया जाता है। पालिसी के परिदत्त मूल्य तथा समर्पण मूल्य का निर्धारण एक उदाहरण से भलीभांति समझा जा सकता है। मान लीजिए 'ए' ने 10,000 रु० की 10 वर्ष के लिए जीवन बीमा पालिसी ली है। प्रीमियम का भुगतान अर्धवार्षिक किस्तों में 20 किस्तों में 500 रु० प्र० किस्त के हिसाब से किया जाना है। 'ए' पांच किस्तों का भुगतान करने के पश्चात अन्य देय प्रीमियमों का भुगतान नहीं कर पाता है तो 'ए' को पालिसी की परिपक्वता यानी 10 वर्षों बाद पालिसी की देय राशि का $\frac{1}{4}$ हिस्सा परिदत्त मूल्य के रूप में प्राप्त होगा। जबकि इस पालिसी का समर्पण मूल्य 1500 रु० का लगभग 30% से 40% तक हो सकता है जिसका भुगतान बीमाकृत व्यक्ति अधिकार समर्पण करने के पश्चात अर्थात $2\frac{1}{2}$ वर्ष बाद ही प्राप्त कर सकता है।

जीवन बीमा पालिसी का अभिहस्तांकन एवं नामांकन

अभिहस्तांकन एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा बीमा पालिसी में बीमाकृत व्यक्ति को प्राप्त

अधिकार एवं दायित्व अन्य व्यक्ति को हस्तांतरित किए जाते हैं। अभिहस्तांकन के परिणामस्वरूप अभिहस्तांकिती को उस पालिसी से संबंधित समस्त लाभ प्राप्त होते हैं। अभिहस्तांकन की वधता के लिए यह आवश्यक है कि यह लिखित रूप में किया जाए और इसकी सूचना जीवन बीमा निगम को दे दी गई हो। पालिसी का अभिहस्तांकन पालिसी में पृष्ठांकन करके या अलग लेखपत्र द्वारा किया जा सकता है। लेकिन दोनों दशाओं में पृष्ठांकन अथवा लेखपत्र पर बीमाकृत व्यक्ति के हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं, हस्ताक्षर कम से कम एक साक्षी द्वारा प्रमाणित होने चाहिए। बीमाकृत व्यक्ति मूल्यवान प्रतिफल के बदले अर्थात कुछ परिस्थितियों में (जिनमें बिना प्रतिफल के अनुबंध वैध होता है जैसे प्राकृतिक स्नेह व प्रेम से प्रभावित होकर, लिखित, रजिस्टर्ड एवं निकट संबंधियों के बीच का अनुबंध) बिना प्रतिफल के भी स्वेच्छा से अभिहस्तांकित किया जा सकता है।

बीमा अधिनियम की धारा 38 (2) के अनुसार अभिहस्तांकिती या उसके वैधानिक उत्तराधिकारी को जीवन बीमा निगम के विरुद्ध भुगतान प्राप्त करने के लिए दावा करने का अधिकार तब तक प्राप्त नहीं होगा जब तक बीमा कंपनी को अभिहस्तांकन की लिखित सूचना न दे दी जाए और अभिहस्तांकन से संबंधित पृष्ठांकन या लेखपत्र की एक प्रति न भेजी जाए।

जीवन बीमा कराने वाले व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह पालिसी की राशि का भुगतान प्राप्त करने के लिए किसी भी व्यक्ति को नामांकित कर सकता है। नामांकन पालिसी की परिपक्वता से पूर्व किया जाता है। व्यवहार में, बीमा कराने वाला व्यक्ति बीमा कराते समय ही किसी व्यक्ति को नामांकित कर सकता है। बीमाकृत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार नामांकन में आवश्यक परिवर्तन करा सकता है। नामांकन का मुख्य उद्देश्य पालिसी की परिपक्वता में भुगतान के लिए सहज व्यवस्था करना है क्योंकि यदि बीमा कराने वाले व्यक्ति की निश्चित अवधि से पूर्व ही मृत्यु हो जाए तो बीमा निगम बिना किसी संदेह के बीमा पालिसी की राशि का भुगतान नामांकित व्यक्ति को कर देता है। पालिसी का नामांकन विशेष रूप से बिना प्रतिफल के बीमाकृत व्यक्ति के हिताधिकारियों को बीमाकृत व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात पालिसी की राशि को प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करने के लिए किया जाता है। यदि नामांकित पालिसी का अभिहस्तांकन किया जाए तो पालिसी का नामांकन स्वतः ही व्यर्थ हो जाता है।

अभिहस्तांकन एवं नामांकन में अंतर

अभिहस्तांकन के द्वारा अभिहस्तांकिती को बीमा पालिसी से संबंधित समस्त अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। यहां तक कि वह बीमा पालिसी का भुगतान प्राप्त करने के लिए अपने नाम से दावा प्रस्तुत कर सकता है जबकि नामांकन में नामांकित व्यक्ति को बीमा कराने वाले व्यक्ति के उत्तराधिकारियों के हितों की रक्षा करने के लिए एक प्रत्याशी की भांति अधिकार प्राप्त होते हैं।

अभिहस्तांकन के लिए सामान्यतः प्रतिफल की विद्यमानता आवश्यक है जबकि नामांकन में प्रतिफल का अभाव इसकी वैधता को प्रभावित नहीं करता है।

पालिसी का अभिहस्तांकन करने से उससे पूर्व किए गए समस्त नामांकन स्वतः रद्द हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नामांकन में बीमा कराने वाला व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन कर सकता है पर अभिहस्तांकन नामांकन की भांति रद्द नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार पालिसी का अभिहस्तांकन पालिसी में पृष्ठांकन या अन्य लेखपत्र

द्वारा किया जा सकता है जबकि नामांकन प्राय: पालिसी में ही पृष्ठांकन करके कर दिया जाता है।

अग्नि बीमा

व्यवसाय या समाज में अग्नि प्रकोप से संपत्ति नष्ट होने का भय बना रहता है। इस प्रकोप के विरुद्ध वस्तुओं एवं संपत्तियों में सुरक्षा बनाए रखने के उद्देश्य से उनका अग्नि बीमा करा लिया जाता है। यदि इस प्रकार बीमित वस्तु आग से नष्ट हो जाती है तो बीमा कंपनी से वस्तु का स्वामी क्षतिपूर्ति करा सकता है।

अग्नि बीमा अनुबंध एक ऐसा अनुबंध है जिसके अंतर्गत बीमा कंपनी एक निश्चित प्रीमियम की राशि के बदले बीमाकृत व्यक्ति को उसकी बीमित वस्तु में आग से होने वाली हानि के लिए क्षति पूर्ति करने का वचन देती है। अग्नि बीमा अनुबंध में भी उस समय तथा धन राशि का उल्लेख रहता है जिसके आधार पर बीमा कंपनी के दायित्व को आंका जा सकता है। अग्नि बीमा अनुबंध में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. अग्नि बीमा अनुबंध मूल रूप से क्षतिपूर्ति का अनुबंध है क्योंकि अग्निकांड में बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर बीमा कंपनी बीमाकृत व्यक्ति को हुई वास्तविक क्षति की पालिसी की राशि के अंतर्गत पूर्ति करती है।

2. बीमाकृत व्यक्ति आग से क्षतिग्रस्त बीमित वस्तु के लिए क्षतिपूर्ति की मांग तभी कर सकता है यदि बीमित वस्तु वास्तव में आग से नष्ट हुई हो और आग आकस्मिक रूप से किसी दुर्घटना आदि के कारण लगी हो।

3. अग्नि बीमा अनुबंध में भी निकटतम कारण का सिद्धांत लागू होता है, क्योंकि बीमा कंपनी क्षतिपूर्ति तभी करती है जब बीमित वस्तु के नष्ट होने में अग्नि ही निकटतम कारण रहा हो।

4. अग्नि बीमा का अनुबंध प्राय: 1 वर्ष या उससे कम अवधि के लिए किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर इस अनुबंध का नवीकरण करवा लिया जाता है।

5. अग्नि बीमा अनुबंधों में बीमा कराने वाले व्यक्ति का बीमित वस्तु में बीमायोग्य हित बीमे का अनुबंध करते समय तथा क्षतिपूर्ति का दावा करते करते समय, दोनों समय विद्यमान होना आवश्यक है।

6. अग्नि बीमा का अनुबंध भी सद्‌भावना का अनुबंध है। बीमा कराने वाले व्यक्ति को प्रस्तावित विषय वस्तु के बारे में आवश्यक तथ्य ज्ञात करने के वे सभी सामान्य साधन उपलब्ध होते हैं जो बीमा कंपनी को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अत: बीमा कराने वाले व्यक्ति का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह प्रस्तावित विषय वस्तु से संबंधित उन समस्त महत्वपूर्ण सूचनाओं से बीमा कंपनी को अवगत कराए जिनका बीमा कंपनी द्वारा वहन किए जाने वाले जोखिम की मात्रा एवं प्रकृति पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इन महत्वपूर्ण तथ्यों का छुपाव करने से बीमे का अनुबंध बीमा कंपनी की इच्छा पर व्यर्थनीय होता है।

जीवन बीमा अनुबंध तथा अग्नि बीमा अनुबंध में भेद

(अ) जीवन बीमा अनुबंध में अनुबंध का विषय मानव जीवन है जबकि अग्नि बीमा में अनुबंध का विषय संपत्ति या अन्य वस्तुएं होती हैं।

(ब) जीवन बीमा अनुबंध एक संयोगिक अनुबंध है जबकि अग्नि बीमा अनुबंध क्षतिपूर्ति का अनुबंध है। अनुबंध की प्रकृति में यह भिन्नता अनुबंध के विषय की प्रकृति में भिन्नता के कारण है। मानव जीवन के समाप्त होने पर क्षति को मौद्रिक रूप से नहीं

नापा जा सकता है अतः जितनी रकम की पालिसी ली जाती है बीमाकृत की मृत्यु हो जाने पर अथवा एक निश्चित अवधि के समाप्त होने पर पूर्ण पालिसी की राशि का भुगतान कर दिया जाता है।

(स) अग्नि बीमा अनुबंध प्रायः एक वर्ष या इससे कम अवधि के लिए किए जाते हैं जबकि जीवन बीमा अनुबंधों की अवधि तुलनात्मक रूप से काफी लंबी होती है।

(द) जीवन बीमा के अनुबंधों में बीमा कराने वाले व्यक्ति का विषयवस्तु में अनुबंध करते समय ही बीमायोग्य हित विद्यमान होना अनिवार्य है जबकि अग्नि बीमा अनुबंधों की वैधता बनाए रखने के लिए बीमा कराने वाले व्यक्ति का अनुबंध कराते समय तथा क्षतिपूर्ति का दावा करते समय, दोनों समय विषयवस्तु में बीमायोग्य हित की विद्यमानता आवश्यक है।

(य) अग्नि बीमा पालिसी का कोई समर्पण मूल्य तथा परिदत्त या चुकता मूल्य नहीं होता है जबकि जीवन बीमा पालिसी का, जिसमें एक निश्चित अवधि (दो वर्ष) तक प्रीमियम का भुगतान किया गया हो उसका समर्पण मूल्य तथा परिदत्त मूल्य भी होता है।

(र) जीवन बीमा अनुबंधों में सुरक्षा के अतिरिक्त विनियोग का तत्व भी सम्मिलित है क्योंकि बीमा कराने वाले व्यक्ति को निश्चित अवधि तक जीवित रहने पर बीमा पालिसी की राशि का भुगतान प्राप्त होता है और यदि इससे पूर्व उसकी मृत्यु हो जाए तो पालिसी की राशि उसके वैधानिक उत्तराधिकारियों को देय होती है। परंतु अग्नि बीमा अनुबंधों में क्षतिपूर्ति की ही व्यवस्था की रहती है।

अग्नि बीमा पालिसी के भेद

1. विशिष्ट पालिसी : विशिष्ट पालिसी के अंतर्गत बीमा कंपनी एक विशिष्ट राशि के भीतर वास्तविक क्षति की पूर्ति करने का दायित्व ग्रहण करती है। विशिष्ट पालिसी की राशि सदैव संपत्ति के वास्तविक मूल्य से कम होती है। बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर इस निर्धारित या विशिष्ट राशि के अंतर्गत ही वास्तविक क्षति की पूर्ति की जाती है। अर्थात इस प्रकार की पालिसी में औसत वाक्य लागू नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'ए' ने अपने मकान, जिसका वास्तविक मूल्य 15,000 रु० है, के लिए 10,000 रु० की विशिष्ट पालिसी ली है। यदि मकान आग से क्षतिग्रस्त हो जाए और कुल हानि 6,000 रु० की होती है तो बीमाकृत व्यक्ति बीमा कंपनी से 6,000 रु० क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त कर सकता है।

2. मूल्यांकित पालिसी : इस प्रकार की पालिसी में बीमा कंपनी का दायित्व बीमा अनुबंध करते समय ही निर्धारित कर लिया जाता है और बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर इसी निर्धारित धनराशि का भुगतान किया जाता है चाहे वास्तविक हानि इससे कम हो अथवा अधिक। बीमा पालिसी में इस प्रकार की शर्तों की विद्यमानता से अग्नि बीमा अनुबंध क्षतिपूर्ति के अनुबंध से संयोगिक अनुबंध में परिणत हो जाता है। इस प्रकार की पालिसी का प्रचलन नहीं है, क्योंकि इनकी वैधता को चुनौती दी जा सकती है।

3. औसत वाक्य पालिसी : यदि किसी पालिसी में औसत वाक्य सम्मिलित किया गया है तो इसे औसत वाक्य पालिसी कहा जाता है। इस प्रकार की पालिसी के अनुसार यदि बीमाकृत व्यक्ति अपनी संपत्ति का उसके वास्तविक मूल्य से कम पर बीमा कराता है तो बीमित वस्तु के नष्ट होने की दशा में बीमा कंपनी उस अनुपात में क्षतिपूर्ति करेगी जो अनुपात बीमित वस्तु के वास्तविक मूल्य का बीमा कराई गई राशि से है। जैसे 'ए' ने

अपने मकान, जिसका वास्तविक मूल्य 50,000 रु० है, का बीमा 30,000 रु० में कराया है। यदि मकान आग से क्षतिग्रस्त हो जाए और उसमें कुल क्षति 20,000 रु० की हो तो बीमा कंपनी इस क्षति की पूर्ति के लिए पूर्णतया जिम्मेदार नहीं ठहराई जा सकेगी। बीमा कंपनी द्वारा उसी अनुपात में क्षतिपूर्ति की जाएगी जो बीमा पालिसी की राशि का भवन के वास्तविक मूल्य से है।

$$\text{अर्थात} = \frac{\text{पालिसी की राशि}}{\text{बीमित वस्तु का वास्तविक मूल्य}} \times \text{वास्तविक क्षति}$$

$$\text{बीमा कंपनी का दायित्व} = \frac{30,000}{50,000} \times 20,000 = 12,000 \text{ रु०}$$

इस दशा में बीमा कंपनी का दायित्व केवल 12,000 रु० तक सीमित है। बीमा कंपनी बाकी 8,000 रु० की क्षति की पूर्ति इसलिए नहीं करेगी कि इसके लिए बीमाकृत व्यक्ति ने स्वयं जोखिम वहन किया है।

4. अस्थिर पालिसी (फ्लोटिंग पालिसी) : यदि एक ही पालिसी के अंतर्गत और एक ही प्रीमियम द्वारा विभिन्न स्थानों में स्थित अलग अलग संपत्तियों का बीमा कराया जाए तो ऐसी पालिसी को चालू या अस्थिर पालिसी कहा जाता है।

5. प्रतिस्थापन पालिसी : यदि बीमाकृत व्यक्ति बीमा अनुबंध की इस शर्त से सहमत है कि बीमित वस्तु नष्ट होने पर वास्तविक क्षति की राशि नकद में प्राप्त करने के बजाय वह बीमा कंपनी से उसका प्रतिस्थापन कराएगा तो ऐसी पालिसी प्रतिस्थापन पालिसी कहलाती है, जैसे बीमित मकान का कुछ भाग क्षतिग्रस्त हो जाए तो प्रतिस्थापन पालिसी के अंतर्गत बीमा कराने वाला व्यक्ति मकान को पूर्ववत स्थिति में लाने के लिए बीमा कंपनी से मरम्मत आदि करा सकता है।

6. पारिमाणिक हानि पालिसी : इस प्रकार की पालिसी के अंतर्गत बीमा कंपनी बीमित वस्तु के आग से नष्ट हो जाने पर केवल बीमित वस्तु में हुई वास्तविक क्षति की ही पूर्ति नहीं करती है बल्कि बीमित वस्तु के पुर्ननिर्माण तक बीमा कराने वाले व्यक्ति को उसके द्वारा कमाए जाने वाले लाभ की क्षति के लिए भी बीमा कंपनी उत्तरदायी ठहराई जाएगी।

समुद्री बीमा

समुद्री जहाजों से वस्तुएं एक देश से दूसरे देश तक पहुंचाने में तमाम समुद्री खतरों का भय बना रहता है जिनके कारण जहाज या वस्तुएं नष्ट हो सकती हैं। इस प्रकार समुद्री खतरों से उत्पन्न हानि के जोखिम को कम करने या समाप्त करने के लिए समुद्री बीमा प्रचलित है।

समुद्री बीमा अनुबंध से बीमाकृत व्यक्ति समुद्री मार्गों द्वारा भेजे जाने वाले सामान की समुद्री खतरों से होने वाली क्षति के खिलाफ सुरक्षा प्राप्त करता है।

समुद्री बीमा अनुबंध एक ऐसा अनुबंध है जिसमें एक निश्चित प्रीमियम प्रतिफल के स्वरूप प्राप्त करके समुद्री बीमा कंपनी बीमाकृत पक्षकार की उन विशिष्ट संकटों तथा समुद्री खतरों से होने वाली क्षति की पूर्ति का दायित्व ग्रहण करती है जो किसी निर्धारित समुद्री यात्रा या निश्चित अवधि के भीतर समुद्री यात्रा के अंतर्गत बीमित वस्तु में उत्पन्न हो सकती है।

समुद्री बीमा अनुबंध में निम्न विशेपताएं पाई जाती हैं :

1. समुद्री बीमा अनुबंध अग्नि बीमा अनुबंध की भांति क्षतिपूर्ति का अनुबंध है क्योंकि

इसके अंतर्गत भी बीमित वस्तु के नष्ट हो जाने पर बीमा कंपनी केवल वास्तविक क्षति के लिए ही दायी होती है।

2. समुद्री बीमा अनुबंध सद्भावना का अनुबंध है, अतः बीमाकृत व्यक्ति का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह प्रस्तावित विषयवस्तु के बारे में समस्त महत्वपूर्ण तथ्यों से बीमा कंपनी को अवगत कराए।

3. समुद्री बीमा अनुबंध में अनुबंध करते समय बीमा कराने वाले व्यक्ति का प्रस्तावित विषयवस्तु में बीमायोग्य हित विद्यमान होना आवश्यक नहीं है। इस हित की विद्यमानता केवल क्षतिपूर्ति का दावा प्रस्तुत करते समय आवश्यक समझी गई है।

4. यह अनुबंध भी अग्नि बीमा अनुबंधों की भांति एक वर्ष से कम अवधि के लिए किए जाते हैं। व्यवहार में प्रायः यात्रा विशेष के लिए या यात्रा में लगने वाले संभावित समय तक के लिए समुद्री बीमा अनुबंध किया जाता है।

5. समुद्री बीमा अनुबंध लिखित रूप में होना चाहिए और जिस दस्तावेज में अनुबंध से संबंधित समस्त शर्तें उल्लिखित रहती हैं उसे पालिसी कहा जाता है। अनुबंध की वैधता के लिए यह भी आवश्यक है कि इसमें आवश्यक मुद्रांक भी मौजूद होना चाहिए।

6. समुद्री बीमा अनुबंध तीन प्रकार का हो सकता है। प्रथम, जहाज का मालिक अपने जहाज की सुरक्षा के लिए अनुबंध कर सकता है जिसे जहाज बीमा कहा जाता है। द्वितीय, जहाजी कंपनी प्राप्य भाड़े के लिए भी अनुबंध कर सकती है जिसे भाड़ा बीमा कहा जाता है। तृतीय, जहाज द्वारा प्रेषित वस्तुओं का मालिक वस्तुओं के नष्ट होने के जोखिम से सुरक्षित रहने के लिए जो बीमा कराता है उसे वस्तु बीमा (कार्गो इंश्योरेंस) कहा जाता है।

7. समुद्री बीमा अनुबंध समुद्री खतरों से उत्पन्न हानि के जोखिम के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने के लिए किया जाता है। समुद्री बीमा अधिनियम की धारा 2 (ई) के अनुसार समुद्री संकटों में नाविक या परिवहन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले संकट तथा उनके प्रासंगिक संकट सम्मिलित हैं, अर्थात समुद्र में उत्पन्न होने वाले संकट, अग्नि, युद्ध, समुद्री चोरी, डाकुओं से क्षति तथा समुद्री जानवरों से खतरा, जहाज के कर्मचारियों द्वारा दगाबाजी (बेरेटरी) एवं जहाजों में टक्कर आदि। परंतु वायु एवं समुद्री लहरों से उत्पन्न सामान्य जोखिम समुद्री खतरों में सम्मिलित नहीं किए जाते हैं।

8. उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त समुद्री बीमा अनुबंध में वैध अनुबंध के अन्य समस्त आवश्यक लक्षण विद्यमान होने चाहिए।

समुद्री बीमा पालिसी के भेद

1. मूल्यांकित पालिसी : इस प्रकार की पालिसी के अंतर्गत अनुबंध में सम्मिलित होते समय बीमाकृत तथा बीमा कंपनी प्रस्तावित विषयवस्तु के मूल्य को निश्चित कर लेते हैं। बीमित विषयवस्तु के नष्ट हो जाने पर निश्चित धनराशि या निश्चित मूल्य के अंतर्गत बीमा कंपनी के ऊपर वास्तविक क्षतिपूर्ति का दायित्व होता है।

2. खुली पालिसी : यदि अनुबंध के लिए प्रस्तावित विषयवस्तु का वास्तविक मूल्य बीमाकृत व्यक्ति को ज्ञात न हो और इसका कोई उल्लेख पालिसी में न किया गया हो तो इस प्रकार की पालिसी को खुली पालिसी कहा जाता है। इसमें बीमित वस्तु के मूल्य का निर्धारण क्षति होने की दशा में किया जाता है। आमतौर पर इस प्रकार की पालिसी में अधिकतम धनराशि का उल्लेख कर दिया जाता है, जिससे अधिक के लिए बीमा कंपनी जिम्मेदार नहीं ठहराई जा सकेगी।

3. यात्रा पालिसी : यदि समुद्री बीमा अनुबंध प्रस्तावित विषयवस्तु को एक निश्चित

यात्रा के लिए एक निर्दिष्ट स्थान से दूसरे निर्दिष्ट स्थान तक, समुद्री खतरों से सुरक्षित रखने के लिए किया जाए तो इस प्रकार के अनुबंध के लिए जो पालिसी ली जाती है उसे यात्रा पालिसी कहा जाता है। इस पालिसी के अंतर्गत निर्दिष्ट यात्रा समाप्त होने पर स्वयं बीमा कंपनी का दायित्व समाप्त हो जाता है।

4. समय पालिसी : ऐसी पालिसी के अंतर्गत विषयवस्तु का बीमा एक निश्चित अवधि (जो एक वर्ष से अधिक न हो) तक के लिए कराया जाता है। इस प्रकार की पालिसी प्राय: जहाज बीमा के लिए उपयोग में लाई जाती है।

5. अस्थिर पालिसी : यदि बीमाकृत व्यक्ति एक निश्चित अवधि के भीतर कई बार वस्तुएं जहाज द्वारा भेजता है तो प्रत्येक बार अलग अलग बीमा कराने के बजाय वह भेजी जाने वाली संभावित वस्तुओं के लिए वर्ष के प्रारंभ में ही एक पालिसी ले लेता है जिसके अंतर्गत वर्ष भर भेजी जाने वाली वस्तुएं बीमित रहती हैं। ऐसी पालिसी को अस्थिर पालिसी कहा जाता है।

6. बाजी अथवा प्रतिष्ठा पालिसी (वेजर आर आनर पालिसी) : यदि बीमा पालिसी में 'पालिसी ही हित का प्रमाण है' अथवा 'हित हो या न हो' आदि शब्द लिखे रहते हैं तो इस प्रकार की पालिसी को बाजी या प्रतिष्ठा पालिसी कहा जाता है। ऐसी पालिसी में बीमाकृत व्यक्ति का बीमित वस्तु में बीमायोग्य हित नहीं होता है। हालांकि इस प्रकार की पालिसी कानून की दृष्टि से प्रवर्तनीय नहीं होती है फिर भी व्यवहार में इनका काफी प्रचलन है। इस पालिसी में बीमा कंपनी बिना किसी हित के केवल बीमाकृत व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए पालिसी की धनराशि का भुगतान करती है।

समुद्री बीमा पालिसी के मुख्य वाक्य

सामान्य रूप से समुद्री बीमा पालिसी में दोनों पक्षकार पारस्परिक सहमति से उन समस्त मामलों से संबंधित वाक्यों को तय करके उनका पालिसी में उल्लेख करते हैं, जैसे बीमाकृत पक्षकार का नाम, बीमित विषयवस्तु का विवरण, बीमाकृत राशि, बीमा कंपनी का नाम, समय और यात्रा से संबंधित विवरण, जोखिम का विवरण आदि। इन वाक्यों के अतिरिक्त बीमा पालिसी में कुछ अन्य महत्वपूर्ण वाक्यों को भी सम्मिलित कर सकते हैं जिनको सम्मिलित किए जाने से दोनों पक्षकारों के बीच अधिकार एवं दायित्वों की सीमा स्पष्ट होती है। ये मुख्य वाक्य निम्न हैं :

1. खोया या नहीं खोया वाक्य (लास्ट आर नाट लास्ट क्लाज) : यदि समुद्री बीमा कराते समय वस्तुएं यात्रा में हैं और दोनों पक्षकारों को वस्तुओं के अस्तित्व के बारे में कोई जानकारी नहीं है कि वस्तुएं यात्रा में सुरक्षित हैं अथवा नष्ट हो चुकी हैं। ऐसी स्थिति में इस वाक्य को पालिसी में सम्मिलित करने के फलस्वरूप समुद्री बीमा पालिसी की वैधता बनाई रखी जा सकती है, और अनुबंध के दोनों पक्षकार उत्पन्न दायित्वों के लिए वैधानिक रूप से जिम्मेदार ठहराए जा सकते हैं, हालांकि दोनों पक्षकार अनुबंध करते समय अनुबंध की विषयवस्तु के अस्तित्व के बारे में गलती पर हो सकते हैं।

2. विशेष अथवा समस्त औसत हानियों से मुक्ति संबंधी वाक्य (फ्री फ्राम पर्टीकुलर एवरेज ऍंड फ्री फ्राम आल एवरेजेज) : इस वाक्य को पालिसी में सम्मिलित करने के फलस्वरूप बीमा कंपनी समस्त विशेष एवं अन्य औसत हानियों के दायित्व से मुक्त हो जाती है।

3. इंचमेरी वाक्य : इस वाक्य को पालिसी में सम्मिलित करने के कारण बीमा कंपनी जहाजी खतरों के अतिरिक्त जहाज की मशीनों में आकस्मिक दोष, नाविकों की लापरवाही आदि के कारण होने वाली क्षति की पूर्ति के लिए जिम्मेदार ठहराई जा सकेगी।

वास्तव में इंचमेरी किसी जहाज का नाम था जिसके नाविक की लापरवाही के कारण इंजन में खराबी पैदा हो गई थी, फलस्वरूप वस्तुएं नष्ट हो गई थीं। बीमा कंपनी ने क्षतिपूर्ति करने से इस आधार पर इनकार कर दिया था कि वस्तुओं में हानि का कारण समुद्री खतरा नहीं है। इसीलिए इस वाक्य को अब पालिसी में सम्मिलित करके इस प्रकार की हानियों के लिए भी बीमा कंपनी को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

4. टकराव संबंधी वाक्य (रनिंग डाउन क्लाज) : यदि समुद्र में दो जहाज आपस में टकरा जाएं और बीमाकृत जहाज के स्वामी को दूसरे जहाज के स्वामी की क्षतिपूर्ति करनी पड़े तो ऐसी दशा में, इस वाक्य को पालिसी में सम्मिलित करने के फलस्वरूप बीमाकृत जहाज का स्वामी इस धनराशि को भी बीमा कंपनी से वसूल कर सकता है। भले ही जहाजों में टकराहट बीमाकृत जहाज के नाविकों की लापरवाही से हुई हो।

5. मेमोरेंडम वाक्य : इस वाक्य को पालिसी में सम्मिलित करने से बीमा कंपनी शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं की आंशिक हानि की पूर्ति करने से मुक्त हो जाती है।

6. पकड़े जाने व जब्त होने संबंधी वाक्य (फ्री ग्राफ केप्चर ऐंड साइजर) : इस वाक्य के अनुसार यदि जहाज युद्धकाल में दुश्मन राष्ट्र द्वारा पकड़ा जाए और जब्त कर लिया जाए तो बीमा कंपनी इस प्रकार के जहाज एवं जहाज में लदी हुई वस्तुओं के दायित्व से मुक्त हो जाती है।

7. वर्जित जोखिम वाक्य (एक्सपैक्टेड पेरिल क्लाज) : बीमा पालिसी में इस वाक्य का समावेश करने से बीमा कंपनी उन जोखिमों से उत्पन्न हानि की क्षतिपूर्ति के दायित्व से मुक्त हो जाती है जिनका उल्लेख इस पालिसी में किया गया है।

8. हानि के अल्पीकरण एवं व्यय वापसी संबंधी वाक्य (सू ऐंड लेबर क्लाज) : इस वाक्य के अंतर्गत बीमाकृत व्यक्ति को आकस्मिक समुद्री संकट एवं दुर्घटना से बीमित वस्तु को नष्ट होने से बचाने के लिए उचित एवं आवश्यक उपाय करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यदि बीमाकृत व्यक्ति, इस संबंध में धनराशि व्यय करता है तो इस धनराशि को वह बीमा कंपनी से वसूल कर सकता है। इसीलिए इस वाक्य को सम्मिलित किए जाने से जहाज के कप्तान को दुर्घटना में सामान बचाने के लिए मजदूर रखने, एवं उन्हें पारिश्रमिक देने का अधिकार दे दिया जाता है।

9. बैरेटरी वाक्य : जहाज के कर्मचारी कभी कभी जानबूझकर कोई ऐसा कार्य करते हैं जिससे जहाज या जहाज में लदी वस्तुओं को क्षति पहुंचती है, जैसे जहाज में आग लगा देना, या वस्तुएं बेचकर धन का गबन करना, आदि। यदि बैरेटरी वाक्य पालिसी में सम्मिलित किया गया हो तो बीमा कंपनी इस प्रकार जहाज या वस्तुओं में हुई क्षति के लिए भी जिम्मेदार ठहराई जा सकती है।

समुद्री हानियां

समुद्री हानियां मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं : 1. संपूर्ण हानि, 2. आंशिक हानि। संपूर्ण हानि को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :

(अ) वास्तविक संपूर्ण हानि, (ब) रचनात्मक संपूर्ण हानि। इसी प्रकार आंशिक हानि भी दो प्रकार की होती है :

(अ) विशेष औसत हानि, (ब) सामान्य औसत हानि।

संपूर्ण हानि

1. वास्तविक संपूर्ण हानि : वास्तविक संपूर्ण हानि से हमारा अभिप्राय उस हानि से है जो बीमित वस्तु के पूर्णतया नष्ट होने से, या उसका अस्तित्व समाप्त होने से होती है। जैसे,

(i) यदि बीमित वस्तु पूर्णतया नष्ट हो जाए।

(ii) बीमित वस्तु विद्यमान हो पर उसकी प्रकृति में भारी परिवर्तन हो गए हों, जैसे चीनी का पानी में घुल जाना।

(iii) यदि बीमित वस्तु बीमाकृत व्यक्ति को पुनः प्राप्त होने की आशा पूर्णतया समाप्त हो गई हो, जैसे जहाज दुश्मन राष्ट्र द्वारा पकड़कर जब्त कर लिया जाए।

2. रचनात्मक संपूर्ण हानि : यदि बीमित वस्तु वास्तव में नष्ट न हुई हो परंतु बीमाकृत व्यक्ति के दृष्टिकोण से व्यावहारिक रूप से नष्ट होने के बराबर हो तो इस प्रकार की संपूर्ण हानि रचनात्मक संपूर्ण हानि कहलाएगी। उदाहरण के लिए जहाज नष्ट तो न हुआ हो पर उसको सुरक्षित रखने के लिए मरम्मत आदि में इतना धन व्यय होने की आशा हो जितना व्यय करना सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति न्यायसंगत एवं उचित न समझे, क्योंकि ये व्यय जहाज एवं वस्तुओं के वास्तविक मूल्य से अधिक हो सकते हैं। इस प्रकार की हानि में निम्न सम्मिलित हैं :

(i) बीमित वस्तु इस प्रकार खो जाए कि उसे प्राप्त करने की आशा न हो, जैसे वस्तु का डाकुओं द्वारा छीन लिया जाना।

(ii) यदि बीमित वस्तु नष्ट होने से बचाने के लिए उसके मूल्य से अधिक व्यय आवश्यक हो।

(iii) बीमित वस्तु इस प्रकार फंस गई हो कि उसे अभीष्ट स्थान तक पहुंचाने का व्यय उसके मूल्य से अधिक हो सकता हो।

आंशिक हानि

आंशिक हानि से हमारा अभिप्राय उस हानि से है जो बीमित विषयवस्तु के आंशिक रूप से नष्ट होने से, या खो जाने से उत्पन्न हुई हो। आंशिक हानि भी दो प्रकार की हो सकती है।

1. विशेष आंशिक हानि : विशेष आंशिक हानि का तात्पर्य ऐसी हानि से है जो सामान्य औसत हानि नहीं है तथा बीमित जोखिम के कारण उत्पन्न हुई है। जैसे जहाज चट्टान से टकरा जाए और बीमित वस्तु आंशिक रूप से नष्ट हो जाए या यदि ऊंची समुद्री लहरों के कारण जहाज में पानी प्रवेश कर ले और बीमित वस्तु आंशिक रूप से नष्ट हो जाए। विशेष आंशिक हानि की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

(i) हानि आंशिक होनी चाहिए।

(ii) हानि किसी विशेष हित से ही संबंधित हो अर्थात सामान्य औसत हानि न हो।

(iii) हानि आकस्मिक हो।

(iv) हानि का कारण बीमित हो।

विशेष औसत हानि समुद्री जोखिम के द्वारा संपूर्ण अभियान की सुरक्षा के लिए नहीं बल्कि वस्तु विशेष को सुरक्षित रखने के लिए वहन की जाती है। इसीलिए इस हानि का उत्तरदायित्व केवल उस विशेष वस्तु में हित रखने वाले पक्षकार का ही होता है, और वह इस हानि के लिए अभियान के अन्य पक्षकारों से अंशदान की मांग नहीं कर सकता है।

2. सामान्य औसत हानि : सामान्य औसत हानि वह है जो सामान्य औसत कार्यों से उत्पन्न होती है। सामान्य औसत कार्य का अभिप्राय वह सामान्य बलिदान एवं व्यय है जो ऐच्छिक एवं विवेकपूर्ण ढंग से यात्रा अभियान में संलग्न समस्त हितों की रक्षा करने के लिए किया गया हो। जैसे यदि जहाज एवं जहाज में लदी वस्तुओं की सुरक्षा के लिए जहाज का भार कम करने के लिए कुछ वस्तुएं समुद्र में फेंक दी जाएं, तो इन वस्तुओं की

हानि को सामान्य औसत हानि कहा जाएगा, क्योंकि इन वस्तुओं को समुद्र में फेंकना जहाज एवं जहाज में लदी वस्तुओं की सुरक्षा के लिए आवश्यक था। सामान्य औसत हानि में निम्न विशेषताएं होती हैं :

(i) हानि बलिदान एवं व्यय के रूप में होनी चाहिए।

(ii) हानि स्वेच्छा से की गई हो।

(iii) बलिदान एवं व्यय वास्तविक हो और सामान्य संकटों के समय किया जाए।

(iv) सामान्य औसत हानि यात्रा या अभियान में समस्त हितों की सुरक्षा के लिए बलिदान एवं व्यय से उत्पन्न होती है।

(v) हानि उचित एवं विवेकपूर्ण होनी चाहिए।

(vi) यह हानि उस व्यक्ति के दोष का परिणाम नहीं होना चाहिए जिसके सामान का बलिदान किया गया हो।

(vii) बलिदान एवं व्यय असाधारण प्रकृति का हो।

उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि सामान्य औसत हानि या तो संपत्ति के बलिदान के रूप में हो सकती है या आवश्यक व्यय के रूप में, तथा इससे अभियान में संलग्न समस्त हितों को खतरा होता है। इन समस्त हितों को सुरक्षित रखने के लिए ही यह बलिदान एवं व्यय किए जाते हैं।

विविध बीमा अनुबंध

जीवन बीमा, अग्नि बीमा एवं समुद्री बीमा अनुबंधों के अतिरिक्त बीमा व्यवसाय में वृद्धि एवं विस्तार के फलस्वरूप बीमा अनुबंधों के कुछ अन्य स्वरूप भी प्रचलित हुए हैं, जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है :

1. जमानती बीमा (फाइडेलिटी और गारंटी बीमा) : जमानती बीमा के अंतर्गत बीमाकृत व्यक्ति अपने कर्मचारियों द्वारा वस्तुओं एवं नकदी के गबन व छल-कपट से उत्पन्न संभावित हानि से सुरक्षा प्राप्त करता है। इन अनुबंधों में बीमा कंपनी कर्मचारियों के व्यवहार में छल-कपट तथा गबन से उत्पन्न क्षति के जोखिम को वहन करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। इन अनुबंधों में बीमाकृत व्यक्ति का यह वैधानिक कर्तव्य होता है कि वह कर्मचारियों के व्यवहार व नियुक्ति से संबंधित समस्त आवश्यक तथ्यों से बीमा कंपनी को अवगत कराए। इस प्रकार की पालिसी किसी विशेष कर्मचारी अथवा कर्मचारियों के समूह के लिए की जा सकती है।

2. चोरी आदि का बीमा (बर्गलरी इंस्योरेंस) : व्यवसाय में प्राय: गोदाम आदि स्थानों से वस्तुएं चोरी हो जाने का जोखिम भी बना रहता है। इस जोखिम को हस्तांतरित करने के लिए चोरी बीमा अनुबंध किया जाता है। यदि बीमित वस्तुएं चोरी हो जाएं तो बीमा कंपनी द्वारा इस प्रकार हुई क्षति की पूर्ति कर दी जाती है।

3. मोटर गाड़ी बीमा : इस प्रकार के अनुबंधों के अंतर्गत तीन प्रकार से उत्पन्न संभावित हानि का जोखिम बीमा कंपनी को हस्तांतरित किया जाता है : (अ) दुर्घटनावश मोटर गाड़ी को हुई क्षति, (ब) दुर्घटना के कारण यात्री की मृत्यु, (स) मोटर गाड़ी दुर्घटना में मालिक द्वारा तीसरे पक्षकार को देय मुआवजे की क्षति।

पहले दो प्रकार के जोखिमों के लिए किया गया बीमा ऐच्छिक प्रकृति का होता है जबकि तीसरे पक्षकार को देय मुआवजे के जोखिम के लिए मोटर गाड़ी अधिनियम 1939 के अंतर्गत बीमा कराया जाना अनिवार्य है।

4. समस्त जोखिमों के लिए एक बीमा : इस प्रकार के बीमा अनुबंध में बीमा कंपनी बीमित वस्तु को विभिन्न प्रकार के जोखिमों, जैसे आग, चोरी, दुर्घटना आदि से उत्पन्न

संभावित हानि की पूर्ति के लिए जिम्मेदार होती है, और इन सब जोखिमों के लिए एक ही पालिसी ली जाती है।

5. देनदार का बीमा : कोई भी लेनदार अपने देनदारों को उधार दी गई राशि या ऋण का बीमा कराता है तो इस प्रकार का बीमा देनदार का बीमा कहलाता है, और ऐसे अनुबंधों के अंतर्गत बीमा कंपनी देनदार के दिवालिया घोषित हो जाने के फलस्वरूप लेनदार को होने वाली क्षति की पूर्ति का दायित्व ग्रहण करती है।

6. स्वामित्व से संबंधित बीमा : दोषयुक्त या दूषित स्वामित्व के फलस्वरूप संभावित हानि से सुरक्षित रहने के लिए क्रेता संपत्ति क्रय करते समय इस प्रकार का बीमा कराता है ताकि यदि उसे विक्रेता के दूषित स्वामित्व के कारण कोई हानि हो तो वह उसकी पूर्ति बीमा कंपनी से करा ले।

17

बिक्रीवर्धक प्रयत्न

उत्पादक द्वारा वस्तु उत्पादित करने का मुख्य उद्देश्य उन्हें अंतिम उपभोक्ताओं में वितरित करके लाभ अर्जित करना है। आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में प्रत्येक व्यवसायी यह प्रयास करता है कि वह अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुएं उत्पादित कर उन्हें अंतिम ग्राहकों में वितरित करके अधिक से अधिक लाभ अर्जित कर सके, क्योंकि उसके द्वारा अर्जित लाभ पर ही उसके व्यवसाय का अस्तित्व एवं विस्तार की योजनाओं का क्रियान्वयन निर्भर होता है। वस्तु का उत्पादन हो जाने के बाद उसके वितरण के संबंध में जो अन्य आवश्यकीय क्रियाएं की जाती हैं उनका वर्णन 'विपणन के कार्य' अध्याय में किया जा चुका है। इन क्रियाओं के अतिरिक्त वस्तु की बिक्री को आगे बढ़ाने के लिए कुछ अन्य महत्वपूर्ण क्रियाएं भी निष्पादित की जाती हैं जिनका वर्णन इस अध्याय के अंतर्गत किया जा रहा है। इन क्रियाओं का वस्तुओं की बिक्री से प्रत्यक्ष संबंध होता है क्योंकि वस्तु की किस्म अच्छी हो सकती है, उसकी पैकिंग आकर्षक हो सकती है, उसका मूल्य ग्राहकों की क्रय शक्ति के अनुकूल हो सकता है एवं उसके लिए अपनाए गए वितरण के माध्यम उपयुक्त एवं मितव्ययी हो सकते हैं। पर इन सब तत्वों की समुचित व्यवस्था के बावजूद, हो सकता है, वस्तु, बाजार में संतोषजनक मात्रा में न बिके। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्तु की बिक्री एवं उसमें विस्तार के लिए विपणन की जिन क्रियाओं का अभी तक अध्ययन किया गया है उनके अतिरिक्त कुछ अन्य क्रियाओं की भी इस संबंध में निश्चित एवं महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन क्रियाओं का निष्पादन करके ही वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए वस्तुओं के बारे में ग्राहकों को आग्रह करते हुए सूचित किया जाता है। इन्हीं कार्यों या क्रियाओं को बिक्रीवर्धक प्रयत्न कहा जाता है। बिक्रीवर्धक प्रयत्न शब्द काफी व्यापक है। कुछ लेखकों के अनुसार इसके अंतर्गत विज्ञापन, व्यक्तिशः बिक्री, बिक्री संवर्धन, वस्तु का प्रचार सम्मिलित है। पर व्यवहार में, संकुचित दृष्टिकोण से बिक्रीवर्धक प्रयत्नों में विज्ञापन एवं व्यक्तिशः बिक्री को ही सम्मिलित किया जाता है क्योंकि बिक्री संवर्धन से संबंधित अन्य प्रयत्न, जैसे बिक्री भंडारों में वस्तुओं की आकर्षक ढंग से सजावट एवं प्रदर्शन, ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए प्रस्तुत किया गया नमूना, मूल्य में छूट आदि क्रियाएं निश्चित रूप से विज्ञापन एवं व्यक्तिशः बिक्री का ही पूरक एवं सहायक अंग हैं।

विज्ञापन

वस्तु की बिक्री के लिए आवश्यक है कि उससे संबंधित सारी सूचनाएं संभावित ग्राहकों तक पहुंचाई जाएं। जब तक संभावित ग्राहकों को वस्तु के अस्तित्व का, उसकी विभिन्न रासायनिक तथा भौतिक विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक ग्राहक के लिए

उस वस्तु को खरीदना संभव नहीं है।

विज्ञापन ऐसी विधि या व्यवस्था है जिसके द्वारा व्यवसायी उत्पादित वस्तु के बारे में, उसकी उपयोगिता, उपलब्धता के बारे में और व्यापार से संबंधित अन्य सूचनाओं से संबंधित पक्षकारों को एवं संभावित ग्राहकों को आवश्यक जानकारी प्रदान करना है। विज्ञापन शब्द का अर्थ काफी व्यापक है क्योंकि इसके माध्यम से संभावित ग्राहकों को औपचारिक सूचनाएं प्रदान की जाती हैं और आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक युग में ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए उत्तेजित भी किया जाता है। इसको 'बड़े पैमाने पर बिक्री की विधि' भी कहा जा सकता है क्योंकि विज्ञापन के द्वारा कुछ ही ग्राहकों को सूचना एवं प्रेरणा प्राप्त नहीं होती बल्कि इससे हजारों एवं लाखों की संख्या में ग्राहकों को वस्तु के बारे में अवगत कराया जाता है और उन्हें वस्तुओं के क्रय के लिए आग्रहित एवं प्रेरित किया जाता है।

सामान्य बोलचाल में विज्ञापन का अर्थ सूचना प्रसारण विधि अथवा सूचना संचार विधि से लगाया जाता है। पर वास्तव में देखा जाए तो विज्ञापन सूचनाओं का प्रसारण ही नहीं है बल्कि इसमें मांग उत्पन्न करने का तत्व भी सम्मिलित है।

'अमेरिकन मारकेटिंग एसोसिएशन' के अनुसार, 'विज्ञापन व्यवसायी द्वारा, अपने को प्रदर्शित करते हुए, अपनी वस्तु एवं सेवाओं से संबंधित सूचनाओं की, ग्राहकों को चुकता स्वरूप (पेड फार्म) एवं अवैयक्तिक (नान पर्सनल) प्रस्तुति एवं आग्रह है।'

विज्ञापन की यह परिभाषा काफी उपयुक्त एवं व्यापक समझी जाती है। इस परिभाषा में विज्ञापन की प्रकृति एवं उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित हैं। इस परिभाषा को व्यापक समझा गया है क्योंकि इसके अनुसार विज्ञापन वस्तुओं के बारे में आवश्यक सूचनाओं का प्रस्तुतीकरण ही नहीं है बल्कि इसके द्वारा संभावित ग्राहकों को व्यवसायी अपने को प्रदर्शित करते हुए ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए आग्रहित करता है। इस परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए विज्ञापन विधि में निहित विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. विज्ञापन के माध्यम से व्यवसायी अपने को ग्राहकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है कि वह वस्तु विशेष का उत्पादन कर रहा है और विज्ञापन में दिए गए विचारों का मूल स्रोत भी वही है। इसको विज्ञापन की मूल विशेषता कहा जा सकता है। यदि विज्ञापन में वस्तु का उत्पादक या व्यापारी अपना परिचय नहीं देता है तो विज्ञापन ग्राहकों के लिए भ्रमात्मक एवं संदेहजनक सिद्ध हो सकता है।

2. विज्ञापन संचार व्यवस्था का एक चुकता (पेड) रूप है। इस प्रकार सूचनाओं का प्रसारण करने के लिए व्यवसायी को विभिन्न दैनिक समाचार पत्रों में, पत्रिकाओं में उपयुक्त स्थान सुरक्षित कराना पड़ता है। रेडियो, टेलिविजन आदि के कार्यक्रम में समय सुरक्षित कराना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के बारे में सूचना प्रसारण करने के लिए जिस किसी माध्यम को वह अपनाता है उससे प्राप्त सेवाओं के प्रतिफल के रूप में उसे धन का भुगतान करना पड़ता है। इसे विज्ञापन व्यय या विज्ञापन के माध्यम की लागत कहा जाता है।

3. विज्ञापन सूचनाओं की अवैयक्तिक प्रस्तुति एवं आग्रह है क्योंकि इस प्रकार सूचनाओं के प्रसारण में सूचनाओं का संचार विशेष माध्यम के द्वारा किया जाता है जिसके फलस्वरूप व्यवसायी संभावित ग्राहकों के सम्मुख स्वयं व्यक्तिगत रूप से आवश्यक सूचनाएं प्रस्तुत नहीं करता है।

4. उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार विज्ञापन का मुख्य उद्देश्य सूचनाओं को अवैयक्तिक रूप से प्रस्तुत करके संभावित ग्राहकों को आग्रहित करते हुए वस्तु की बिक्री को आगे बढ़ाना है अर्थात विज्ञापन में सूचनाओं के प्रस्तुतीकरण के साथ साथ वस्तुओं की मांग

उत्पन्न करने का तत्व भी विद्यमान है।

व्यवहार में विज्ञापन एवं विज्ञापन विधि को एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता है, पर वास्तव में विज्ञापन तथा विज्ञापन विधि एक दूसरे से भिन्न हैं। इस संबंध में प्रो० अलबर्ट फ्रे द्वारा दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण समझी जा सकती है। इस परिभाषा के अनुसार, 'विज्ञापन एक ऐसी विधि है जिसके अंतर्गत लोगों को वस्तु, सेवा, ब्रांड नेम तथा संस्था के विचारों से अवगत कराने एवं उनको प्रवृत्त करने के उद्देश्य से दृश्यवान और श्रवणयोग्य संदेश तैयार करना तथा व्यय चुकता माध्यम से उनको प्रसारित करना सम्मिलित है।'

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि विज्ञापन विधि में दो मुख्य तत्व सम्मिलित हैं। प्रथम, विज्ञापन का संदेश तैयार करना और द्वितीय, विभिन्न माध्यमों से उस संदेश को प्रसारित करना ताकि संबंधित पक्ष विज्ञापन से प्रेषक की वस्तु, सेवा तथा उसके विचारों से अवगत हो सकें और उन्हें इन सूचनाओं के प्रति प्रवृत्त किया जा सके। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा से विज्ञापन एवं विज्ञापन विधि का अंतर भी ज्ञात होता है। विज्ञापन का अर्थ उस संदेश से है जिसे विज्ञापित किया जाता है जबकि विज्ञापन विधि में विज्ञापित संदेश तैयार करना तथा उसे किसी माध्यम से प्रसारित करने की व्यवस्था सम्मिलित है।

विज्ञापन उद्देश्य

सामान्य उद्देश्य

व्यवसाय में विज्ञापन का मूल उद्देश्य उत्पादित वस्तुओं के बारे में संभावित ग्राहकों को आवश्यक जानकारी देना एवं वस्तु की बिक्री को संवर्धित करना है। विज्ञापन से वस्तु की बिक्री में तत्काल वृद्धि हो सकती है या भविष्य में बिक्री का आकार बढ़ सकता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए संभावित ग्राहकों के सम्मुख वस्तुओं के बारे में आग्रहित रूप से सूचनाओं का प्रस्तुतीकरण किया जाता है ताकि उनके व्यवहार एवं प्रवृत्ति में अनुकूल परिवर्तन किए जा सकें। संक्षेप में संभावित ग्राहकों की इच्छा को प्रेरित करके उन्हें वस्तु क्रय करने हेतु लालायित करना विज्ञापन का सामान्य उद्देश्य है।

विशिष्ट उद्देश्य

विज्ञापन के विशिष्ट उद्देश्य आम तौर से सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति को सहज एवं सुगम बनाने के लिए निर्धारित किए जाते हैं। अलग अलग संस्थाओं के लिए अलग अलग परिस्थितियों में ये विशिष्ट उद्देश्य भिन्न भिन्न हो सकते हैं जिनमें से मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

1. **व्यक्तिशः बिक्री क्रमावली में सहायता :** कुछ स्थितियों में विज्ञापन का विशिष्ट उद्देश्य व्यक्तिशः बिक्री को प्रभावशाली बनाना हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार के विज्ञापन से सेल्समैन के द्वारा वस्तु संभावित ग्राहकों के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने से पहले ही ग्राहकों को उस वस्तु के बारे में आवश्यक जानकारी दे दी जाती है, ताकि सेल्समैन कम समय और कम प्रयत्नों द्वारा ही ग्राहकों को वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित कर सकें।
2. **व्यापारी के साथ संबंधों में सुधार लाना :** विज्ञापन का विशिष्ट उद्देश्य यह भी हो सकता है कि विज्ञापन से उत्पादक वस्तुओं के व्यापारियों को उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित करे। इस प्रकार के विज्ञापन से व्यापारियों को यह सूचना दी जा सकती है कि उन्हें उस वस्तु विशेष का व्यापार करने में कितना अनुमानित लाभ प्राप्त हो सकेगा और उत्पादक से उन्हें कौन सी अतिरिक्त सुविधाएं प्राप्त हो सकेंगी।
3. **प्रतिस्पर्धा का प्रतिरोध करना :** कुछ स्थितियों में व्यवसायी बाजार में बढ़ती हुई

कटु प्रतिस्पर्धा को कम करके अथवा उसका मुकाबला करते हुए व्यवसायी का अस्तित्व उत्पादित कायम रखने के लिए भी प्रभावशाली विधियों से वस्तु का विज्ञापन करता है ताकि वस्तु का विद्यमान बाजार अंश बनाए रखा जा सके और उसको आगे बढ़ाया जा सके।

4. व्यवसाय की ख्याति में वृद्धि करना : विज्ञापन के माध्यम से व्यवसायी उसके द्वारा वस्तुओं और सेवाओं तथा संचालित व्यवसाय के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रसारित करके समाज को इस बात से अवगत करा सकता है कि उसके द्वारा समाज को कौन कौन सी सेवाएं प्राप्त कराई जा रही हैं और उसके व्यवसाय का समाज में क्या महत्व है।

5. मौसमी वस्तु की मौसम के अतिरिक्त बिक्री करना : यदि वस्तु का उपभोग एक विशेष मौसम में ही किया जाता है तो उस मौसम के बाद भी वस्तु की बिक्री बनाए रखने के लिए व्यवसायी मूल्यों में कटौती आदि की सूचना भी विज्ञापन के माध्यम से ग्राहकों को दे सकता है ताकि ग्राहक इस अतिरिक्त प्रलोभन का लाभ उठाने के लिए मौसम के बाद उस वस्तु को भविष्य के लिए क्रय कर सके।

6. नई वस्तु को बाजार में प्रचलित करने के लिए : उत्पादक द्वारा ग्राहकी को बदलती हुई आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के अनुसार समय समय पर जिन नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है या विद्यमान वस्तुओं की विशेषताओं में परिवर्तन किया जाता है, इसके लिए भी प्रभावशाली ढंग से विज्ञापन किया जाना आवश्यक है। जब तक ग्राहकों को नई वस्तु के बारे में आवश्यक जानकारी नहीं दी जाएगी और उन्हें यह नहीं बताया जाएगा कि नई वस्तु से उनकी आवश्यकताओं की किस प्रकार संतुष्टि हो सकेगी, तब तक बाजार में उस वस्तु की मांग उत्पन्न नहीं की जा सकेगी और ग्राहक उस वस्तु को क्रय नहीं करेंगे।

7. नई मूल्य नीति की घोषणा : यदि व्यवसायी अपनी विद्यमान बिक्री नीति या मूल्य नीति में ग्राहकों के लिए कोई लाभदायक परिवर्तन करता है तो इन परिवर्तनों को सूचित करने के लिए भी विज्ञापन महत्वपूर्ण है। ताकि व्यवसायी द्वारा निर्धारित नई मूल्य नीति के प्रति ग्राहकों को प्रेरित किया जा सके और वे उसका लाभ उठाने के लिए वस्तुओं को क्रय कर सकें।

8. वस्तु की मांग उत्पन्न करना : विज्ञापन द्वारा वस्तु की वर्तमान मांग को बनाए रखा जा सकता है और उसमें वृद्धि की जा सकती है क्योंकि विज्ञापन के माध्यम से एक ओर तो हजारों एवं लाखों की संख्या में ग्राहकों को वस्तु के बारे में सूचनाएं संचारित की जाती हैं और दूसरी ओर बार बार आकर्षक ढंग से विज्ञापन करके ग्राहक को वस्तु खरीदने पर विवश कर दिया जाता है।

विज्ञापन का महत्व एवं लाभ

आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में विज्ञापन बड़े पैमाने पर वस्तुओं की बिक्री करने का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है। बड़े पैमाने पर बिक्री के फलस्वरूप ही बड़े स्तर पर वस्तुओं का उत्पादन संभव है जिससे ग्राहक तथा उत्पादक दोनों लाभान्वित होते हैं। इसीलिए बिक्रीवर्धक प्रयत्नों को विपणन का एक महत्वपूर्ण अंग समझा जाता है जिसे बढ़ावा देने के लिए विपणन विभाग को आवंटित बजट में से महत्वपूर्ण धनराशि इन प्रयत्नों में व्यय की जाती है। विज्ञापन द्वारा उत्पादक दूर दूर स्थानों में स्थित ग्राहकों से आवश्यक विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है क्योंकि एक ओर तो वस्तुओं का विज्ञापन करके वह समस्त आवश्यक सूचनाएं ग्राहकों तक पहुंचाता और दूसरी ओर ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के बारे में

अपने को अवगत करता है, ताकि उनकी बदलती हुई आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए वस्तु का उत्पादन कर सके। इस प्रकार वस्तुओं को बड़े पैमाने पर उत्पादित करने के परिणामस्वरूप ग्राहकों को उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर उपलब्ध होती हैं और इससे उनके रहन सहन के स्तर में वृद्धि संभव है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञापन एक ऐसा उचित लागत व्यय है जिसके द्वारा बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करके, वस्तुओं के बारे में ग्राहकों को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके एवं उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करके बड़े पैमाने पर वस्तुओं की बिक्री को संभव बनाया जाता है। विज्ञापन द्वारा समाज एवं व्यवसायी को प्राप्त होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं।

1. बाजार का विस्तार : विज्ञापन द्वारा वस्तुओं का विद्यमान बाजार बनाए रखा जाता है और उसमें विस्तार किया जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा काफी अधिक संख्या में दूर दूर स्थानों में स्थिति संभावित ग्राहकों को उत्पादित वस्तुओं के बारे में आवश्यक ज्ञान प्रदान किया जाता है। वस्तुओं के प्रति उनकी रुचि उत्पन्न की जाती है और वस्तु की मांग उत्पन्न करके बाजारों का विकास किया जाता है।

2. वस्तु के मूल्य में कमी : उचित वैज्ञानिक ढंग से किए गए विज्ञापन के द्वारा वस्तु के मूल्य में कमी संभव है क्योंकि विज्ञापन की उचित लागत व्यय से अधिकतम बिक्री आकार प्राप्त किया जा सकता है जिससे विपणन की तमाम क्रियाओं में किया गया लागत व्यय तुलनात्मक रूप से कम हो जाता है और उचित मूल्य पर वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हैं।

3. मांग में स्थिरता : प्रभावशाली विज्ञापन से वस्तु की मांग में स्थिरता बनाई रखी जा सकती है क्योंकि एक ओर तो ग्राहक वस्तु के प्रयोग का अभ्यस्त हो जाता है और दूसरी ओर बार बार आकर्षक ढंग से वस्तु का विज्ञापन करने के कारण उस वस्तु के उपभोग के सामान्य मौसम के अतिरिक्त भी उसका उपभोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन का संबंध वस्तु की मांग उत्पन्न करने से भी है जिससे वस्तु की मांग कम हो जाने पर प्रभावशाली ढंग से विज्ञापन करके उसकी मांग में वृद्धि की जा सकती है, जैसे काफी का उपभोग करने वाला ग्राहक काफी का उपभोग जाड़ों में ही नहीं बल्कि गर्मी के दिनों में भी ठंडी काफी के रूप में उसे प्रयोग में लाता है।

4. वस्तु की किस्म में सुधार : प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में व्यवसाय के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उत्पादक समय समय पर उत्पादित वस्तुओं की किस्म में आवश्यक सुधार करता है। उसे इन आवश्यक सुधारों का वांछनीय परिणाम तभी प्राप्त हो सकता है यदि वह किस्म में किए गए सुधारों के बारे में ग्राहकों को आवश्यक जानकारी प्रदान कर सके, यह विज्ञापन के द्वारा ही संभव है।

5. ख्याति में वृद्धि : विज्ञापन द्वारा व्यवसायी की ख्याति में वृद्धि भी की जा सकती है क्योंकि वस्तु के विज्ञापन के साथ साथ व्यवसायी विज्ञापन में अपनी संस्था का परिचय भी देता है। यदि ग्राहक उस वस्तु के उपभोग से संतुष्ट हो तो उस वस्तु का पुनः उपभोग करने के लिए केवल उत्पादक का ही नाम देखकर वस्तु को क्रय कर लेता है। इसके अतिरिक्त एक बार वस्तु के प्रचलित हो जाने से उत्पादक को नई वस्तु बाजार में प्रवेश कराने में सहायता मिलती है।

6. वितरण में आसानी : वस्तु के विज्ञापन से उसके वितरण में आसानी होती है क्योंकि विज्ञापन भी मूल रूप से विपणन क्रियाओं का ही एक अंग है, जिसको वस्तु का वितरण सहज एवं सुगम बनाने के लिए उपभोग में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन द्वारा सेल्समैन के समय एवं प्रयत्नों में बचत होती है, क्योंकि विज्ञापन व्यक्तिशः बिक्री

का पूरक भी होता है।

7. मध्यस्थों की संख्या में कमी : उत्पादक द्वारा वस्तुओं का विज्ञापन करके ग्राहकों से संबंध स्थापित कर लिया जाता है क्योंकि वस्तुओं का विज्ञापन करके वस्तुओं के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान की जाती है और वस्तु क्रय करने के लिए ग्राहकों से आग्रह किया जाता है। इसके फलस्वरूप उत्पादक वितरण की शृंखला में मध्यस्थों की संख्या कम करके उनके द्वारा लिए जाने वाले लाभ के हिस्से को स्वयं प्राप्त करके ग्राहकों को वस्तुएं कम मूल्य पर उपलब्ध करा सकता है।

8. ग्राहकों को जानकारी प्राप्ति : विज्ञापन ग्राहकों के लिए जानकारी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञान के द्वारा वस्तुओं के बारे में जो सूचनाएं प्राप्त की जाती हैं उनसे ग्राहकों को वस्तु का उचित प्रयोग करने में सहायता मिलती है, दूसरी ओर ग्राहकों के ज्ञान में वृद्धि होती है, जो वस्तु के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

9. बड़े पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन : विज्ञापन द्वारा अधिक संख्या में ग्राहकों तक वस्तु के बारे में सूचनाएं पहुंचा कर उन्हें वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है। उस वृद्धि को पूरा करने के लिए वस्तुओं का अतिरिक्त उत्पादन प्रोत्साहित होता है।

10. ग्राहकों के रहन-सहन के स्तर में सुधार : वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण बड़े पैमाने पर संचालित होने के फलस्वरूप प्रति इकाई वस्तु का मूल्य कम हो जाता है, रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है, तथा ग्राहक अपनी सीमित क्रय शक्ति से आवश्यकता की सभी वस्तुएं उचित मूल्य पर क्रय कर सकता है जिससे ग्राहकों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जाना संभव है।

11. कला को प्रोत्साहन : विज्ञापन द्वारा कला को भी प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि विज्ञापन का संदेश इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि ग्राहकों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। अत: विज्ञापन में कला का प्रयोग स्वाभाविक है और कलाकार को अपना जीवन निर्वाह करने तथा समाज के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करने में इससे सहायता प्राप्त होती है। अधिकांश दशाओं में यह पाया जाता है कि विज्ञापन का संदेश एक कलात्मक ढंग से विभिन्न रंगों एवं चित्रों का प्रयोग करके तैयार किया जाता है ताकि उसे देखने या सुनने वाला व्यक्ति पूर्णतया प्रभावित हो सके।

12. समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं तथा अन्य प्रसारण माध्यम के मूल्यों में कमी : विज्ञापन मूल रूप से सूचनाओं की अवैयक्तिक तथा व्यय चुकता प्रस्तुति एवं आग्रह है। विज्ञापन के लिए व्यवसायी को माध्यम की सेवाएं प्राप्त करने के लिए जिस व्यय का भुगतान करना पड़ता है उससे माध्यम को संचालित करने वाली संस्था की आय में वृद्धि होती है और उनकी लागत कम हो जाती है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो समाज लाभान्वित होता है और दूसरी ओर प्रकाशन कार्य में स्वतंत्रता बनाई रखी जा सकती है।

विज्ञापन के उपरोक्त लाभों से यह विदित होता है कि विज्ञापन आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में व्यावसायिक संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने में तथा समाज के प्रति व्यवसाय के महत्व को बनाए रखने में एक निश्चित भूमिका अदा करता है। एक ओर तो व्यावसायिक क्रिया में जटिलता एवं विस्तार के फलस्वरूप उत्पादन कार्य को वितरण से पृथक करना आवश्यक हो गया है और दूसरी ओर व्यवसाय के सुचारु संचालन तथा इसमें निरंतरता बनाए रखने के लिए व्यवसायी को उचित किस्म की सेवाएं एवं वस्तुएं समाज के विभिन्न वर्गों को प्रदान की जानी आवश्यक हैं। अत: इन दो छोरों में व्यावसायिक क्रिया को अनुकूल बनाए रखने के लिए बड़े पैमाने पर वस्तुओं का

उत्पादन एवं वितरण नितांत आवश्यक है, यह विज्ञापन के द्वारा ही संभव हुआ है। आज व्यवसायी कालांतर में ग्राहकों की बदलती हुई आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं का ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं की विशेषता में आवश्यक सुधार करता है, और विज्ञापन के माध्यम से ही इसके बारे में ग्राहकों को आवश्यक जानकारी दी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि विज्ञापन व्यवसायी के लिए ही नहीं है बल्कि समाज के विभिन्न अन्य वर्गों के लिए भी लाभदायक है।

आलोचना

विज्ञापन के व्यवसाय में उपरोक्त महत्वपूर्ण योगदान के बावजूद कुछ आधारों पर इसकी आलोचना भी की जाती है। ये आलोचनाएं मुख्य रूप से अव्यवस्थित विज्ञापन विधि तथा विज्ञापन के दुरुपयोग से संबंधित हैं क्योंकि किसी भी विधि का प्रयोग एक निश्चित सीमा तक ही लाभदायक होता है। यदि उस विधि को उस सीमा से बाहर प्रयोग में लाया जाए या उस विधि का प्रयोग करते समय पर्याप्त योजना आदि का अभाव हो तो उसमें निश्चित रूप से कुछ कमियां एवं दोष उत्पन्न होने लगते हैं जिसके आधार पर उसकी आलोचना की जाती है। विज्ञापन विधि स्वयं दोषयुक्त नहीं है बल्कि इसका दुरुपयोग एवं अव्यवस्थित प्रयोग इसकी आलोचना के कारण हैं। सामान्य तौर से विज्ञापन की आलोचना निम्न तत्वों के आधार पर की जाती है।

1. मूल्य में वृद्धि : वस्तुओं का विज्ञापन करने में व्यवसायी को उससे संबंधित व्यय वहन करने पड़ते हैं, क्योंकि विज्ञापन मूल रूप से सूचनाओं का अवैयक्तिक तथा चुकता रूप प्रसारण है। यदि विज्ञापन असंतुलित, अवैज्ञानिक एवं प्रभावहीन ढंग से किया जाता है तो इससे वस्तुओं के मूल्यों में अनावश्यक वृद्धि संभव है। पर दूसरी ओर व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि प्रभावशाली विज्ञापन से वस्तुओं की मांग उत्पन्न होती है और बड़े पैमाने पर वस्तुओं का वितरण संभव होता है जिससे विज्ञापन व्ययों के कारण वस्तु के मूल्य में आनुपातिक वृद्धि नहीं होती है।

2. झूठे विज्ञापन : विज्ञापन व्यवसायी को वस्तुओं की मांग उत्पन्न करने में सहायता पहुंचाता है। व्यवसायी मांग में वृद्धि करने हेतु वस्तु की विशेषताओं को बढ़ा चढ़ाकर प्रसारित करता है जिससे ग्राहक धोखे में आकर वस्तु को क्रय कर लेता है, और दूसरी ओर अन्य विज्ञापनों के प्रति भी उसके मस्तिष्क में आशंका एवं संदेह उत्पन्न होने लगता है।

3. राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग : आमतौर पर विज्ञापन के बारे में लोगों की धारणा यह होती है कि व्यवसायी गलत सूचनाओं का प्रसारण करके ग्राहकों को धोखा देकर उन्हें वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित करता है, इसे समाज के साधनों का दुरुपयोग समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यवसायी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए विद्यमान वस्तु में अनावश्यक या नाममात्र को परिवर्तन करके उनका विज्ञापन करने लगता है, जिससे न तो ग्राहकों को पूर्ण संतुष्टि प्राप्त होती है, और न व्यवसायी, व्यवसाय के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर पाता है, इस तरह से भी विज्ञापन में राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग हो सकता है। पर यह आलोचना भी विज्ञापन के दुरुपयोग से ही उत्पन्न होती है क्योंकि किसी भी स्थिति में यदि व्यवसायी उपलब्ध साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता है तो इसमें राष्ट्र के साधनों का दुरुपयोग निहित है।

4. प्रतिष्ठा का अभाव : व्यवसायी विज्ञापन को अधिक आकर्षक बनाने के लिए कुछ स्थितियों में आपत्तिजनक चित्रों एवं शब्दों का प्रयोग भी करता है, जिससे न केवल विज्ञापन में ही नग्नता का तत्व उत्पन्न होता है बल्कि ऐसे विज्ञापन समाज के नैतिकता मनो-

बल एवं स्वच्छता को भी विपरीत रूप से प्रभावित करते हैं, और ऐसे विज्ञापनों से वस्तु की बिक्री संवर्द्धित होने के बजाय बिक्री के आकार में कमी आ सकती है।

5. एकाधिकार की भावना को प्रोत्साहन : देश के बड़े बड़े उद्योगपति, जिनके पास पर्याप्त मात्रा में आर्थिक साधन हैं, ही उत्पादित वस्तुओं का विज्ञापन अधिक लागत वाले प्रभावशाली माध्यमों द्वारा कर सकते हैं जिससे प्रेरित होकर ग्राहक वस्तु को क्रय करता है। हो सकता है कि वस्तु अच्छी किस्म की न हो, फिर भी विज्ञापन में अधिक धन व्यय करके उसकी मांग में वृद्धि करने में बड़े बड़े उद्योगपति सफल होते हैं। हो सकता है कि छोटे छोटे उद्योगपति अच्छी किस्म का उत्पादन कर रहे हों किंतु पर्याप्त साधन न होने के कारण वे अपनी वस्तु को उचित रूप से विज्ञापित नहीं कर पाते। इस प्रकार बड़े उद्योगपति का उत्पादन बाजार में छा जाता है जिससे व्यावसायिक क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति अधिक प्रबल होने लगती है।

6. आवश्यकताओं में वृद्धि : वस्तुओं का बार बार आकर्षक ढंग से विज्ञापन करने के फलस्वरूप ग्राहकों में अनावश्यक वस्तुएं क्रय करने की इच्छा उत्पन्न होने लगती है। इससे उनकी आवश्यकता में वृद्धि संभव है, और इस प्रकार अनावश्यक वस्तुओं की आवश्यकता की संतुष्टि सामान्य सीमित साधनों से नहीं हो पाती है। जिससे उनमें असंतोष उत्पन्न होने लगता है, और वे अपने कृत्रिम रहन-सहन के स्तर को बनाए रखने की प्रबल इच्छा से प्रभावित होकर अपने सीमित साधनों को बढ़ाने के लिए अनुचित तरीके अपनाने लगते हैं जिससे बेईमानी एवं भ्रष्टाचार के तत्व उभर आते हैं तथा समूचे समाज का वातावरण दूषित हो सकता है।

विज्ञापन की ऊपर बताई गई आलोचनाओं से यह विदित होता है कि विज्ञापन स्वयं दोषयुक्त नहीं है बल्कि इसका अव्यवस्थित, असंतुलित प्रयोग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि ला सकता है। इसके विपरीत यदि विज्ञापन समुचित ढंग से किया जाए और उसको नियमित और नियंत्रित रखा जाए तो यह वांछनीय है।

विज्ञापन के माध्यम

विज्ञापन द्वारा मूल रूप से वस्तुओं के बारे में ग्राहकों को आवश्यक जानकारी दी जाती है। दूसरे शब्दों में विज्ञापन के संदेश को ग्राहकों तक विभिन्न माध्यमों द्वारा पहुंचाया जा सकता है। इन विभिन्न माध्यमों का प्रयोग अलग अलग व्यवसायियों के लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उपयुक्त होता है। तकनीक एवं विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप आवश्यकतानुसार विज्ञापन के भी नए नए माध्यमों का विकास होता रहा है। विज्ञापन मूल रूप से संचार व्यवस्था का ही एक अंग है, अतः संचार व्यवस्था में विकास विज्ञापन माध्यमों के विकास को भी प्रभावित करता रहा है। व्यवहार में विज्ञापन करने के लिए निम्न माध्यम काफी महत्वपूर्ण एवं प्रचलित हैं :

(अ) समाचारपत्र,
(ब) पत्रिकाएं,
(स) रेडियो तथा टेलीविजन एवं सिनेमाघर,
(द) बाह्य विज्ञापन,
(य) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन।

समाचारपत्रों द्वारा विज्ञापन

समाचारपत्र विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय साधन है। समाचारपत्रों से हमारा अभिप्राय ऐसे दैनिक एवं साप्ताहिक प्रकाशनों से है जिनमें देश-विदेश में घटित, राज-

नीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त ब्यौरा दिया रहता है। इन समाचारपत्रों में विभिन्न घटनाओं से संबंधित सूचनाओं के अतिरिक्त व्यावसायिक विज्ञापन भी दिए रहते हैं। विज्ञापन का यह माध्यम विशेष रूप से दैनिक प्रयोग की आम वस्तुओं के विज्ञापन के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इन वस्तुओं का उपभोग विस्तृत होता है और समाचारपत्रों के माध्यम से ही समस्त संभावित ग्राहकों को वस्तुओं के बारे में सूचित किया जा सकता है।

लाभ : (1) समाचारपत्रों के माध्यम से विज्ञापन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे काफी अधिक संख्या में ग्राहकों तक वस्तुओं के बारे में सूचनाएं पहुंचाई जा सकती हैं, क्योंकि इनकी ग्राहक संख्या काफी अधिक होती है।

2. समाचारपत्रों में दिए गए विज्ञापन में लोच का तत्व विद्यमान रहता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर विज्ञापन संदेश में शीघ्र आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं या विज्ञापन बंद किया जा सकता है अथवा उसे पुनः आसानी से प्रारंभ किया जा सकता है।

3. समाचारपत्रों में दिए गए व्यावसायिक विज्ञापनों के फलस्वरूप समाचारपत्रों के मूल्यों में कमी स्वाभाविक है।

4. विज्ञापन के अन्य माध्यमों की तुलना में समाचारपत्रों से विज्ञापन कराने की लागत सबसे कम होती है क्योंकि प्रचलन काफी व्यापक होता है जिससे काफी अधिक संख्या में ग्राहकों को सूचित किया जा सकता है।

5. समाचारपत्रों के माध्यम से बार बार विज्ञापन करके वस्तु को लोकप्रिय बनाया जा सकता है क्योंकि समाचारपत्रों में व्यावसायिक विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक घटनाओं के बारे में भी सूचनाएं दी रहती हैं और लोग अपने को इन घटनाओं से अवगत कराने के लिए सदैव समाचारपत्रों का अध्ययन करते हैं।

दोष : (1) समाचारपत्रों द्वारा किया गया विज्ञापन अधिक आकर्षक नहीं होता है, क्योंकि इसमें विज्ञापन के लिए विभिन्न रंगीन चित्रों का प्रयोग संभव नहीं है।

2. कुछ दशाओं में समाचारपत्रों द्वारा दिया गया विज्ञापन प्रभावहीन सिद्ध हो सकता है, क्योंकि समाचारपत्रों में दी गई सूचनाओं को शीघ्रता से पढ़ा जाता है और सूचनाएं काफी संक्षिप्त होती हैं और यदि विज्ञापन आकर्षक ढंग से प्रस्तुत न किया गया हो तो इसके अनदेखा रह जाने की संभावना बनी रहती है।

3. समाचारपत्रों में दी गई सूचनाएं दीर्घकाल तक सुरक्षित नहीं रह पातीं, क्योंकि इनका महत्व केवल दैनिक घटनाओं तक ही सीमित है।

पत्रिकाओं के माध्यम से विज्ञापन

समाचारपत्रों के अतिरिक्त विज्ञापन संदेश को अधिक आकर्षक ढंग से एवं विशेष सजावट के साथ साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक या अर्धवार्षिक रूप से प्रकाशित पत्रिकाओं के माध्यम से भी प्रसारित किया जा सकता है। अतः पत्रिकाएं भी विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं। ये पत्रिकाएं मुख्य रूप से दो प्रकार की हो सकती हैं।

1. सामान्य पत्रिकाएं : सामान्य पत्रिकाएं वे पत्रिकाएं हैं जिनमें सामान्य रुचि के लेख, कहानी, कविता एवं विचारधाराओं का वर्णन रहता है, ताकि सामान्य बुद्धि का व्यक्ति आसानी से इनको समझ सके। ये पत्रिकाएं प्रायः रंगीन एवं सचित्र होती हैं ताकि पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा सके। इन पत्रिकाओं में सामान्य तौर से आम उपभोग की वस्तुओं का विज्ञापन किया जा सकता है जिनको प्रयोग करने के लिए

विशेष विधि का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि इन पत्रिकाओं में इस प्रकार के विज्ञापन देने से वस्तु की प्रयोग विधि को भलीभांति समझाया जा सकता है।

विशिष्ट पत्रिकाएं : विशिष्ट पत्रिकाएं वे पत्रिकाएं हैं जिनमें समाज के वर्ग विशेष के लिए उपयोगी सूचनाएं, लेख आदि दिए रहते हैं। केवल उसी विशिष्ट वर्ग के हित के लिए इनका प्रकाशन किया जाता है। जैसे तकनीकी जनरल, प्रबंधकीय ज्ञान से संबंधित पत्रिकाएं, लेखा विधि से संबंधित पत्रिकाएं, कृषि संबंधी पत्रिकाएं आदि। इन पत्रिकाओं में मुख्य रूप से उसी वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं का विज्ञापन दिया जाता है। विशिष्ट पत्रिकाओं द्वारा वस्तु का विज्ञापन करने से समाचारपत्रों की तुलना में निम्नलिखित लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

1. पत्रिकाओं में विज्ञापन का आकर्षण मूल्य अधिक होता है क्योंकि इनमें विज्ञापन सचित्र, एवं विभिन्न रंगों का प्रयोग करके आकर्षक ढंग से दिया रहता है जिससे पाठक का ध्यान विज्ञापन की ओर शीघ्र आकृष्ट हो जाता है।

2. पत्रिकाओं में दिए हुए विज्ञापन का जीवन काल समाचारपत्रों के विज्ञापन की तुलना में अधिक होता है। क्योंकि पाठक इन पत्रिकाओं में दी गई सूचनाओं को पूरा पूरा पढ़ता है और अधिक समय तक इन्हें अपने पास सुरक्षित रखता है।

3. पत्रिकाओं में दिए गए विज्ञापन स्पष्ट एवं साफ होते हैं क्योंकि विज्ञापन के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक जगह उपलब्ध रहती है और वस्तुओं का सचित्र वर्णन रहता है। इससे क्रेता को वस्तु पहचानने में आसानी होती है।

4. पत्रिकाओं में विज्ञापन कराने से व्यवसायी को उस पत्रिका की ख्याति का लाभ भी प्राप्त हो सकता है क्योंकि यदि विज्ञापन किसी प्रसिद्ध एवं विश्वसनीय पत्रिका में दिया जाए तो इन विज्ञापनों के प्रति पाठक का पूर्ण विश्वास बना रहता है।

5. समाचारपत्रों की ही भांति पत्रिकाओं की ग्राहक संख्या भी काफी अधिक होती है और इनके द्वारा विज्ञापन की उचित लागत पर विज्ञापन संदेश काफी अधिक संख्या में ग्राहकों तक पहुंचाया जा सकता है।

दोष : 1. विज्ञापन का यह माध्यम उन वस्तुओं के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता है जो दैनिक प्रयोग की वस्तुएं हैं।

2. इस माध्यम में समाचारपत्रों की अपेक्षा कम लोच रहता है क्योंकि पत्रिकाओं में दिए विज्ञापन आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र परिवर्तित नहीं किए जा सकते हैं, और उनमें परिवर्तन के लिए निर्धारित समय से पूर्व ही प्रकाशक को सूचित किया जाना आवश्यक है।

3. समाचारपत्रों की तुलना में पत्रिकाओं की ग्राहक संख्या कम होती है। क्योंकि विशिष्ट पत्रिकाएं तो केवल कुछ ही व्यक्तियों के लिए लाभप्रद सिद्ध होती हैं।

4. सीमित प्रचलन के कारण विज्ञापन का यह माध्यम समाचारपत्रों से अधिक लागतपूर्ण है।

रेडियो द्वारा विज्ञापन

समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं की तरह रेडियो भी विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। रेडियो से प्रसारित कार्यक्रम सुनने वाले व्यक्ति को वस्तुओं के बारे में संगीत पर आधारित विज्ञापन भी सुनने को मिलते हैं। विज्ञापन के इस माध्यम के अंतर्गत विज्ञापन संदेश प्रसारण केंद्र को भेज दिए जाते हैं और निर्धारित समय में विज्ञापन कार्यक्रम के अंतर्गत इन्हें प्रसारित किया जाता है। प्रसारण केंद्र विज्ञापन के महत्व को बढ़ाने के लिए निर्धारित कार्यक्रम में विज्ञापन कार्यक्रमों को नियोजित कर लेते हैं। जैसे,

'विविध भारती का विज्ञापन कार्यक्रम, सीलोन प्रसारण केंद्र से प्रसारण कार्यक्रम' आदि।

लाभ : 1. रेडियो द्वारा वस्तुओं का विज्ञापन करने से अपने कार्य में व्यस्त ग्राहक भी इसे आसानी से सुन और समझ सकता है। क्योंकि विज्ञापन सुनने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता नहीं होती है।

2. रेडियो के द्वारा विज्ञापन विशेष रूप से अशिक्षित ग्राहकों के लिए अधिक प्रभावशाली समझा जाता है, क्योंकि उन्हें विज्ञापन संदेश पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती और ये विज्ञापन संदेश को केवल सुनकर समझ सकते हैं।

3. रेडियो द्वारा विज्ञापन करने के लिए अलग अलग रुचि वाले ग्राहकों के लिए भिन्न भिन्न कार्यक्रमों का प्रयोग किया जा सकता है। रेडियो प्रसारण केंद्र अलग अलग प्रकार के कार्यक्रमों के लिए पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमों का प्रयोग करता है जिससे विज्ञापन में विशिष्टीकरण का गुण उत्पन्न हो जाता है, जो व्यवसायी तथा ग्राहक दोनों के लिए लाभप्रद है, जैसे, रेडियो द्वारा किसानों के लिए जो कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं उनमें कृषि सामग्री तथा कृषि वस्तुओं का विज्ञापन किया जा सकता है। इसी प्रकार 'बहनों के प्रोग्राम' में घरेलू उपयोग की वस्तुओं का विज्ञापन दिया जा सकता है।

4. आवश्यकता पड़ने पर विज्ञापन के इस माध्यम से सूचनाएं शीघ्र एवं व्यापक रूप में प्रसारित की जा सकती हैं।

दोष : 1. रेडियो द्वारा प्रसारित विज्ञापन कम प्रभावशील समझा जाता है क्योंकि इन्हें केवल सुना जा सकता है।

2. रेडियो प्रसारण केंद्र द्वारा निर्धारित समय से संबंधित प्रतिबंध इस माध्यम में लोच का अभाव उत्पन्न करते हैं। क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर प्रसारित संदेश में शीघ्र परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

3. रेडियो द्वारा विज्ञापित संदेश संक्षिप्त रूप में शीघ्र प्रसारित हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति उसे ठीक से न सुन पाए तो उसको इसके संबंध में कोई संदर्भ आदि नहीं मिल पाता है।

4. विज्ञापित संदेश दृश्यवान न होने के कारण ग्राहक को विज्ञापित वस्तु को पहचानने में कठिनाई होती है और उसे वस्तु का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता।

टेलीविजन तथा सिनेमाघरों द्वारा विज्ञापन

तकनीक एवं विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप विशेषरूप से पूर्ण विकसित देशों में टेलीविजन समाचारपत्रों के तुल्य दूसरा महत्वपूर्ण विज्ञापन का माध्यम समझा जाता है। इसका प्रचलन भारतवर्ष में भी बढ़ता जा रहा है और अब वह समय दूर नहीं है जब देश के प्रत्येक कोने में स्थित व्यक्ति टेलीविजन के माध्यम से अपने को विभिन्न घटनाओं से अवगत करा सकेगा। विज्ञापन का यह माध्यम अन्य माध्यमों की तुलना में अधिक प्रभावशाली समझा जाता है क्योंकि इसमें विज्ञापन संदेश सुनने के साथ साथ विज्ञापित वस्तु को स्पष्ट रूप से देखा भी जा सकता है। इससे ग्राहक को वस्तु पहचानने में आसानी रहती है। इसके साथ ही टेलीविजन में विज्ञापन से संबंधित क्रमावली इस प्रकार रचित एवं प्रसारित की जाती है जिससे ग्राहक का उस वस्तु के प्रति ध्यान आकृष्ट किया जा सके और रुचि उत्पन्न करके उसे वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित किया जा सके। यह माध्यम विशेष रूप से उन वस्तुओं के विज्ञापन के लिए उपयुक्त है जिनके उपयोग के लिए विशेष प्रयोगविधि अपनाई जाती है।

अन्य माध्यमों की तरह इस माध्यम में भी कुछ दोष हैं जो इसकी उपयोगिता को सीमित कर देते हैं, क्योंकि इस माध्यम में लोच का अभाव है और विज्ञापन संदेश में शीघ्र

आवश्यक परिवर्तन करना काफी जटिल है। इसी प्रकार टेलीविजन द्वारा किया गया विज्ञापन रेडियो की भांति संदर्भरहित होता है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उसे पुनः देखा एवं सुना नहीं जा सकता। भारत में इनका उद्गम एवं विकास काफी आधुनिक है और कुछ विशेष बड़े बड़े शहरों तक ही इनकी उपयोगिता सीमित है।

सिनेमाघरों द्वारा भी व्यावसायिक विज्ञापन काफी प्रचलित है। विशेष रूप से टेलीविजन के अभाव के कारण इस माध्यम को उपयोगी समझा जाता है। सिनेमाघरों द्वारा वस्तु का विज्ञापन करने के लिए विज्ञापन संबंधी स्लाइड्स तैयार कर लिए जाते हैं और उनको फिल्म प्रारंभ होने से पहले या मध्यांतर मे दिखलाया जाता है। विज्ञापन का यह माध्यम टेलीविजन की तरह तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावशाली है क्योंकि इसमें विज्ञापन संदेश रोचक एवं संक्षिप्त कहानी के रूप में या अन्य आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

सिनेमाघरों द्वारा विज्ञापन अपने में एक पूर्ण माध्यम नहीं है, क्योंकि एक ओर इसमें अधिक धन व्यय होता है, और दूसरी ओर काफी अल्प समय में विज्ञापन संदेश प्रसारित करने से इसकी प्रभावशीलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है। अतः इससे केवल संपूर्ण विज्ञापन कार्यक्रम के लिए सहायक साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

बाह्य विज्ञापन

विज्ञापन के इस माध्यम में विज्ञापन संदेश संबंधी पोस्टर विद्युत निओन साइन और परचे आदि शामिल हैं। इन्हें शहर के विभिन्न महत्वपूर्ण स्थानों में प्रदर्शित किया जाता है ताकि अधिक से अधिक संख्या में लोग इन्हें देख सकें और संबंधित सूचनाओं से अवगत हो सकें। बाह्य विज्ञापन में लाउडस्पीकरों द्वारा तथा डुग्गी पीटकर भी विज्ञापन संदेश जनता तक पहुंचाना सम्मिलित है। बाह्य विज्ञापन द्वारा विज्ञापन संदेश के प्रसारण एवं प्रदर्शन के लिए उन महत्वपूर्ण सार्वजनिक स्थानों को चुन लिया जाता है जहां अधिक से अधिक संख्या में लोग आते-जाते रहते हैं और स्थान विज्ञापन के लिए प्रतिबंधित नहीं होता, जैसे रेलवे स्टेशन, बस अड्डे, सिनेमाघरों के आसपास, हवाई अड्डों पर तथा बस, ट्रक एवं रेल में विज्ञापन पोस्टर तैयार करके ऊंचे स्थानों पर चिपका दिया जाता है। बाह्य विज्ञापन में विज्ञापन संदेश को आकर्षक बनाने के लिए मनोरंजक चुटकुलों, प्रचलित मुहावरों तथा रोचक नारों का प्रयोग किया जाता है और इसके अतिरिक्त विज्ञापन संदेश के साथ ही साथ लिखावट में विभिन्न रंगों की संगति एवं वस्तु का सुंदर चित्र भी प्रस्तुत किया जाता है। इस माध्यम को भी अपूर्ण माध्यम समझा जाता है और इसका प्रयोग स्वतंत्र साधन के रूप में करने के बजाय विज्ञापन कार्यक्रम को अधिक प्रबल तथा प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है।

लाभ : 1. बाह्य विज्ञापन का आकर्षण मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक होता है क्योंकि इसमें ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मुहावरों का प्रयोग, वस्तु का चित्र, आकर्षक रंग संगति आदि प्रचलित है।

2. लागत के दृष्टिकोण से भी यह माध्यम मितव्ययी समझा जाता है, क्योंकि व्यापक प्रचलन के कारण अधिक से अधिक संख्या में ग्राहकों तक आकर्षक ढंग से सूचनाएं प्रसारित की जाती है।

3. ग्राहकों को इस प्रकार के विज्ञापन संदेश देखने एवं ग्रहण करने के लिए कोई व्यय वहन नहीं करना पड़ता।

4. ग्राहकों को वस्तु के बारे में सूचना प्राप्त करने के लिए अधिक समय व प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती।

5. इस प्रकार से किया गया विज्ञापन अन्य माध्यमों की तुलना में अधिक टिकाऊ होता है और इसमें सुविधानुसार आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

दोष : 1. बाह्य विज्ञापन का उपयोग काफी सीमित है क्योंकि इसके माध्यम से अधिकांश दशाओं में केवल स्थानीय लोगों तक ही विज्ञापन संदेश पहुंचाया जा सकता है।

2. व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए इस प्रकार के विज्ञापन संदेशों में अश्लील एवं आपत्तिजनक चित्रों एवं शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिससे सामाजिक परिवेश पर बुरा असर पड़ता है।

3. इस प्रकार के माध्यम से वस्तुओं का विज्ञापन सार्वजनिक स्थानों पर केंद्रित रहता है, लाउडस्पीकरों व डुग्गी के प्रयोग से सार्वजनिक जनजीवन में बाधा उत्पन्न होती है और विज्ञापन संदेश के पोस्टर टांगने से स्थान गंदा भी होता है।

4. बाह्य विज्ञापन में अनिश्चितता का तत्व विद्यमान रहता है, क्योंकि इस तथ्य का अनुमान लगाना काफी कठिन है कि विज्ञापन संदेश कितने व्यक्तियों तक पहुंच सकता है और अधिकांश दशाओं में यह संयोग की बात है कि ग्राहक की निगाह विज्ञापन तक पहुंच जाए।

डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन

अब तक वर्णित विज्ञापन माध्यमों के जरिए विज्ञापन संदेश ग्राहक समूह अथवा सामान्य जनता के लिए प्रसारित किया जाता है। इसके फलस्वरूप व्यवसायी के लिए यह निश्चित करना काफी कठिन है कि अंतिम रूप से विज्ञापन संदेश कितने व्यक्तियों अथवा संभावित ग्राहकों तक पहुंचाया जा सका है और ग्राहकों की इस विज्ञापन पर क्या प्रतिक्रिया है, अर्थात विज्ञापन किस क्षेत्र में कम प्रभावशाली है तथा विज्ञापन का कौन सा भाग व्यर्थ एवं निरर्थक है। विज्ञापन के माध्यमों में विद्यमान इस दोष को दृष्टि में रखते हुए विज्ञापन संदेश को अधिक वैयक्तिक तथा प्रभावशाली बनाने के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण माध्यम प्रयोग में लाया जा सकता है जिसे प्रत्यक्ष डाक विज्ञापन कहा जाता है। इस माध्यम द्वारा विज्ञापन के लिए सर्वप्रथम संभावित ग्राहकों की एक सूची तैयार की जाती है और उनके पते प्राप्त करके विज्ञापन संदेश उन्हें डाक द्वारा व्यक्तिगत रूप से भेज दिया जाता है। इस माध्यम की उपयोगिता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञापन संदेश संक्षिप्त होने के साथ साथ ध्यानाकर्षक भी होना चाहिए, क्योंकि इस माध्यम द्वारा किए गए विज्ञापन की प्रभावशीलता विज्ञापन संदेश की रचना पर आधारित रहती है।

लाभ : 1. इस प्रकार वस्तु का विज्ञापन करने से ग्राहक एवं उत्पादक के बीच व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि उत्पादक संभावित ग्राहकों को विज्ञापन संदेश व्यक्तिगत रूप से भेजता है।

2. विज्ञापन के इस माध्यम में गोपनीयता का गुण विद्यमान है क्योंकि डाक द्वारा संभावित ग्राहकों को भेजे जाने वाला विज्ञापन संदेश प्रतियोगियों को ज्ञात नहीं हो सकता है और वस्तु का प्रचार गुप्त रहता है।

3. जिन व्यक्तियों को डाक द्वारा विज्ञापन संदेश भेजे जाते हैं उन पर इस बात का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि वस्तु का उत्पादक उनका व्यक्तिगत रूप से ध्यान रखता है, और ग्राहक इस प्रकार के विज्ञापन संदेश को अधिक महत्व देते हैं।

4. विज्ञापन का यह माध्यम उन ग्राहकों तक सूचना पहुंचाने के लिए उपयुक्त समझा जाता है जो गंभीर प्रकृति के होते हैं, और जिन्हें विज्ञापन के अन्य माध्यमों के द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सकता।

5. इस माध्यम के द्वारा वस्तु का विज्ञापन करने में व्यवसायी संभावित ग्राहकों को पूर्ण आवश्यक सूचना प्रदान कर सकता है, जिसकी लागत तुलनात्मक रूप से कम होती है।

6. डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन में पर्याप्त लोच विद्यमान है, क्योंकि व्यवसायी आवश्यकता पड़ने पर विज्ञापन संदेश को परिवर्तित कर सकता है और किसी भी समय ग्राहकों को विज्ञापन संदेश भेज सकता है।

दोष : 1. विज्ञापन का यह माध्यम व्यवहार में कम प्रचलित है, क्योंकि अन्य माध्यमों के द्वारा विज्ञापन संदेश की एक प्रति से ही काफी अधिक संख्या में ग्राहकों को सूचित किया जा सकता है, जबकि इस माध्यम के अंतर्गत प्रत्येक ग्राहक को व्यक्तिगत रूप से सूचित करना पड़ता है।

2. संभावित ग्राहकों को डाक द्वारा विज्ञापन संदेश भेजने में कई कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे पते का अभाव, पते में परिवर्तन आदि।

3. आम उपभोग की वस्तुओं के लिए विज्ञापन का यह माध्यम उपयुक्त नहीं है क्योंकि अधिक संख्या में ग्राहकों को सूचना देने के लिए समाचार पत्र ही सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम समझा जा सकता है जिसका मुख्य कारण उसका व्यापक प्रचलन है। इसके अतिरिक्त डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन में वस्तु के चित्र आदि नहीं दिए रहते हैं जिसके कारण ग्राहक को वस्तु पहचानने में कठिनाई हो सकती है।

विज्ञापन के अन्य साधन

उपरोक्त विज्ञापन के माध्यमों के अतिरिक्त व्यवहार में कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत विज्ञापन के कुछ अन्य सहायक एवं पूरक माध्यम भी प्रयोग में लाए जाते हैं, जैसे व्यापारिक प्रदर्शनी। व्यापारिक प्रदर्शनियां समय समय पर व्यापारिक संघों द्वारा आयोजित की जाती हैं और इन प्रदर्शनियों में भाग लेकर व्यवसायी अपनी वस्तुओं का आकर्षक ढंग से प्रदर्शन करते हैं और तात्कालिक बिक्री के साथ साथ संभावित ग्राहकों को भविष्य में उन वस्तुओं का प्रयोग करने के लिए आवश्यक सूचनाएं दी जाती हैं। ये प्रदर्शनियां स्थानीय, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त व्यवसायी समय समय पर विभिन्न स्थानों पर आयोजित किए जाने वाले मेले तथा अन्य सामाजिक उत्सवों पर वस्तुओं का प्रदर्शनियों द्वारा विज्ञापन करते हैं। व्यवहार में इन प्रदर्शनियों के अलावा थोक व्यापारी व फुटकर व्यापारी अपनी वस्तुओं की बिक्री आगे बढ़ाने के लिए विक्रय भंडारों में ही वस्तुओं को आकर्षक ढंग से सजाते हैं ताकि ग्राहकों को वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित किया जा सके और बिक्री के आकार में वृद्धि की जा सके।

विज्ञापन के माध्यम का चुनाव

वस्तु का विज्ञापन बिक्रीवर्धक प्रयत्नों का महत्वपूर्ण केंद्रीय अंग समझा जाता है क्योंकि अन्य बिक्रीवर्धक प्रयत्न विज्ञापन के पूरक होते हैं। इसीलिए बिक्रीवर्धक प्रयत्नों में व्यय की जाने वाली धनराशि का अधिकांश विज्ञापन कार्यक्रमों में व्यय किया जाता है। व्यवसायी को वस्तुएं विज्ञापित कराने के लिए सामान्य तौर से विभिन्न साधन उपलब्ध होते हैं और उसका यह निर्णय काफी महत्वपूर्ण है कि वस्तु का विज्ञापन करने के लिए वह किस माध्यम को चुने तथा उस माध्यम के सहायक के रूप में अन्य किन किन माध्यम का प्रयोग करे ताकि विज्ञापन कार्यक्रमों में विज्ञापन के विभिन्न साधनों का संतुलित प्रयोग हो और विज्ञापन को पूर्ण रूप से उपयोगी बनाया रखा जा सके। विज्ञापन के माध्यम का

चुनाव करते समय निम्नलिखित निर्णायक तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए ।

1. विज्ञापन का उद्देश्य : विज्ञापन का उद्देश्य विज्ञापन के माध्यम का चुनाव करने के लिए एक महत्वपूर्ण कार्यशील तत्व है, क्योंकि विज्ञापन का उद्देश्य विज्ञापन के संपूर्ण कार्य-क्रम को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है और विज्ञापन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ही विज्ञापन के कार्यक्रम को निर्धारित किया जाता है। ये विशिष्ट उद्देश्य अलग अलग स्थितियों में अलग अलग हो सकते हैं, पर विज्ञापन का सामान्य उद्देश्य वस्तुओं के बारे में ग्राहकों को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करना है। अत: विज्ञापन का माध्यम उद्देश्य के दृष्टिकोण से उपयुक्त एवं प्रभावशाली होना चाहिए।

2. वस्तु की प्रकृति एवं उपयोगिता : वस्तु के लिए विज्ञापन के माध्यम का चुनाव करते समय वस्तु की प्रकृति एवं उपयोगिता को भी दृष्टि में रखा जाना चाहिए। अलग अलग प्रकृति की वस्तुओं के लिए अलग अलग माध्यम उपयुक्त होते हैं । जैसे, दैनिक उपभोग की आम वस्तुओं का विज्ञापन अधिकांश दशाओं में समाचारपत्रों के द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि इस प्रकार विज्ञापन कराने से अधिक से अधिक संख्या में ग्राहकों को आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार यदि वस्तु का उपभोग समाज के एक विशिष्ट वर्ग द्वारा किया जाता है तो इन वस्तुओं का विज्ञापन उस वर्ग से संबंधित विशिष्ट पत्रिकाओं के माध्यम से किया जाता है।

3. विज्ञापन के माध्यम की लागत : विज्ञापन के माध्यम की लागत भी माध्यम का चुनाव करने के लिए लिए गए निर्णय को प्रभावित करती है । विज्ञापन की लागत अंतिम रूप से वस्तुओं के मूल्य में जोड़ दी जाती है। अत: समस्त उपलब्ध माध्यमों की संभावित लागत का अनुमान लगाकर और आपस में तुलना करके ही माध्यम के चुनाव का निर्णय लिया जा सकता है, जैसे, विस्तृत उपभोग की वस्तुओं के विज्ञापन के लिए समाचारपत्रों तथा रेडियो को तुलनात्मक रूप से कम लागत वाला माध्यम समझा जाता है। लागत का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात अंतिम निर्णय लेने से पहले इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि माध्यम को विपणन विभाग के लिए उपलब्ध धनराशि के अंत-र्गत ही नियोजित किया जा सके।

4. माध्यम की प्रभावशीलता : माध्यम की प्रभावशीलता माध्यम का चुनाव करने में एक महत्वपूर्ण तत्व है । यदि विज्ञापन के माध्यम से ग्राहकों तक वस्तुओं के बारे में आव-श्यक जानकारी प्रदान न की जा सके तथा उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित न किया जा सके तो विज्ञापन व्यय निश्चित रूप से वस्तु के विक्रय मूल्य में अनावश्यक वृद्धि कर सकता है। संक्षेप में विज्ञापन के माध्यम की प्रभावशीलता विज्ञापन के उद्देश्य तथा उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चुने गए उपयुक्त माध्यम पर निर्भर होती है ।

5. विज्ञापन माध्यम से प्राप्त सहायता : उपलब्ध माध्यमों से उपयुक्त माध्यम का चुनाव करते समय माध्यम द्वारा विज्ञापन से संबंधित अन्य अतिरिक्त सेवाओं को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए, क्योंकि प्रतिस्पर्धात्मक युग में प्रत्येक माध्यम द्वारा यह चेष्टा की जाती है कि व्यवसायी को अतिरिक्त सुविधाओं का आकर्षण देकर उनसे विज्ञापन का पर्याप्त व्यवसाय प्राप्त किया जा सके।

6. विज्ञापन के माध्यम की विशेषताएं एवं ख्याति : माध्यम का चुनाव करते समय माध्यम की संबंधित विशेषताएं तथा ख्याति की अन्य माध्यमों से तुलना करके ही माध्यम का चुनाव किया जाना चाहिए क्योंकि यह तत्व ग्राहकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है, यदि विज्ञापन का माध्यम विश्वसनीय तथा ख्याति प्राप्त है तो इसके द्वारा प्रसारित की जाने वाली सूचनाओं पर ग्राहकों का पूर्ण विश्वास बना रहता है और इन माध्यमों से

प्रसारित विज्ञापनों को महत्वपूर्ण समझा जाता है।

विज्ञापन प्रतिलिपि की रचना

विज्ञापन प्रतिलिपि की रचना : विज्ञापन प्रतिलिपि में मूल रूप से विज्ञापन संदेश सम्मिलित रहता है। विज्ञापन संदेश अलग अलग स्थितियों में भिन्न होता है। उदाहरण के लिए यदि विज्ञापन समाचारपत्र तथा पत्रिकाओं में दिया जा रहा है तो विज्ञापन प्रतिलिपि में पढ़ने योग्य तथा देखने योग्य सामग्री रहती है। यदि विज्ञापन रेडियो के माध्यम से किया जा रहा है तो विज्ञापन प्रतिलिपि में केवल लिखित सामग्री सम्मिलित होती है, इसी प्रकार टेलीविजन द्वारा विज्ञापन करने के लिए जो प्रतिलिपि तैयार की जाएगी उसमें लिखित सामग्री तथा दृश्यवान चित्र आदि हो सकते हैं। विज्ञापन प्रतिलिपि तैयार करते समय विज्ञापन के उद्देश्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। विज्ञापन प्रतिलिपि कितने ही अधिक लागत व्यय से तैयार की गई हो या उसमें विज्ञापन संदेश कितने ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया हो, यदि उससे विज्ञापन का उद्देश्य पूरा नहीं होता तो उसे व्यर्थ एवं अनुपयोगी समझा जाता है। अतः विज्ञापन प्रतिलिपि तैयार करते समय निम्न सैद्धांतिक रूपरेखाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है :

1. विज्ञापन प्रतिलिपि स्पष्ट, पूर्ण, संक्षिप्त एवं सरल होनी चाहिए। विज्ञापन प्रतिलिपि के द्वारा ही ग्राहकों को विज्ञापित वस्तु के बारे में सूचनाएं संचारित की जाती हैं। इसीलिए यह आवश्यक है कि विज्ञापन प्रतिलिपि इस प्रकार से तैयार की जाए कि उसमें वस्तु से संबंधित पूर्ण सूचनाएं दी हों। इसके साथ ही उसे संक्षिप्त भी होना चाहिए। सूचनाओं का विवरण सरल विधि से दिया जाना चाहिए ताकि संभावित ग्राहक उन सूचनाओं से स्पष्ट रूप में अवगत हो सके, आम तौर पर एक विज्ञापन प्रतिलिपि में वस्तु की विशेषताओं, लागत, उपयोगिता, प्रयोग विधि, उत्पादक का परिचय, प्राप्ति के साधन और संबंधित अतिरिक्त सेवाओं का ब्यौरा दिया रहता है।

2. विज्ञापन प्रतिलिपि जिस उद्देश्य के लिए तैयार की जा रही है, पूर्ण रूप से उस उद्देश्य के अनुकूल होनी चाहिए अर्थात विज्ञापन प्रतिलिपि को इस प्रकार तैयार किया जाना चाहिए कि उससे विज्ञापन के उद्देश्य प्राप्त किए जा सके।

3. विज्ञापन प्रतिलिपि विश्वसनीय होनी चाहिए। कुछ स्थितियों में विज्ञापन के माध्यम से गलत सूचनाएं मिलने से ग्राहक अन्य विज्ञापनों में दी गई सूचनाओं पर भी संदेह करता है। अतः विज्ञापन की प्रतिलिपि तैयार करते समय केवल वे ही सूचनाए सम्मिलित की जानी चाहिए जिनके प्रति आवश्यक प्रमाण देकर ग्राहकों का विश्वास बनाया रखा जा सके। यदि ग्राहक में विज्ञापन में दी गई सूचनाओं के प्रति विश्वास नहीं होता है तो वस्तु की मांग उत्पन्न करना असंभव है। इसीलिए विज्ञापन में वस्तु के बारे में अतिशयोक्ति या वस्तु की बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करना उचित नहीं समझा जाता है, जैसे फोरहंस टूथपेस्ट के विज्ञापन में दांत के डाक्टर का कथन सम्मिलित किया जाता है, ताकि संभावित ग्राहक टूथपेस्ट के बारे में दी गई सूचनाओं को विश्वसनीय समझे।

4. विज्ञापन प्रतिलिपि में मांग उत्पन्न करने का गुण भी विद्यमान होना चाहिए, क्योंकि विज्ञापन का अंतिम उद्देश्य वस्तु के बारे में आवश्यक जानकारी देकर ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करके वस्तु की मांग उत्पन्न करना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विज्ञापन प्रतिलिपि को पर्याप्त आकर्षक, रोचक तथा वस्तु के प्रति ग्राहकों में आवश्यकता अनुभव कराने वाला होना चाहिए। विज्ञापन प्रतिलिपि को ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रभावशाली बनाने हेतु उसमें निम्नलिखित तत्व सम्मिलित किए जाने चाहिए।

शीर्षक : विज्ञापन प्रतिलिपि सुंदर, आकर्षक शीर्षकों से सुसज्जित होनी चाहिए, शीर्षक प्रतिलिपि का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है, क्योंकि शीर्षक से ही ग्राहक सबसे पहले आकर्षित होता है। यदि शीर्षक प्रभावशील है तो वह उसके अंतर्गत दिए गए संदेश को भी पूरा पढ़ता है। विज्ञापन प्रतिलिपि के शीर्षक का आकार विज्ञापन के लिए प्रकाशित पृष्ठ एवं संदेश के अनुसार ही होना चाहिए। शीर्षक की लिखावट सामान्य तौर से बड़े बड़े शब्दों में कलात्मक रूप से की जाती है ताकि ग्राहक का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया जा सके। इसके अतिरिक्त पत्रिकाओं में शीर्षक प्राय: रंगीन शब्दों में भी लिखा जाता है, विज्ञापन प्रतिलिपि का शीर्षक तैयार करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(i) शीर्षक यथासंभव संक्षिप्त होना चाहिए।

(ii) इसमें स्पष्टता एवं सहजता का गुण होना चाहिए क्योंकि शीर्षक की जटिलता उसे समझने में कठिनाई उत्पन्न कर सकती है।

(iii) शीर्षक इतना प्रभावशाली होना चाहिए कि इससे लोगों का ध्यान विज्ञापन संदेश के प्रति शीघ्र आकर्षित किया जा सके।

(iv) शीर्षक में विज्ञापन संदेश का सार मौजूद होना चाहिए।

शीर्षक रोचक होना चाहिए, क्योंकि शीर्षक की रोचकता ग्राहक को पूरा विज्ञापन संदेश पढ़ने के प्रेरित करती है।

मूलसूत्र : विज्ञापन प्रतिलिपि का यह भी एक महत्वपूर्ण अंग है। इसमें विज्ञापन प्रतिलिपि में सम्मिलित की जाने वाली समस्त सूचनाएं दी रहती हैं। यदि विज्ञापन संदेश विस्तृत है तो इसके मूलसूत्र को विभिन्न अनुच्छेदों में विभक्त किया जाता है, और ये विभिन्न अनुच्छेद संतुलित ढंग से एक के बाद एक लिखे जाते हैं। मूलसूत्र का प्रथम अनुच्छेद प्रतिलिपि के शीर्षक का एकदम पूरक होना चाहिए, जैसे यदि शीर्षक प्रश्न-वाचक है तो प्रथम अनुच्छेद में उसका उत्तर दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि शीर्षक में सूचना की घोषणा की जाती है तो अनुच्छेद उसी सूचना से प्रारंभ किया जाना चाहिए। मूलसूत्र का प्रथम अनुच्छेद संक्षिप्त, गतिशील एवं शीर्षक का पूरक होना चाहिए, तथा अन्य अनुच्छेद इसके साथ वैज्ञानिक ढंग से संयोजित होने चाहिए। विज्ञापन प्रतिलिपि के मूलसूत्र को तैयार करते समय सामान्य तौर से निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता है।

(i) मूलसूत्र की रचना इस प्रकार से की जानी चाहिए कि शीर्षक द्वारा विज्ञापन में ग्राहक की जो रुचि उत्पन्न हुई है उसे बनाए रखा जा सके, क्योंकि मूलसूत्र शीर्षक का पूरक एवं सहायक होता है।

(ii) इसको पढ़ने से ग्राहक में वह वस्तु खरीदने की इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए, अत: मूलसूत्र में वस्तु की भौतिक विशेषताओं का वर्णन किया जाता है और ग्राहक को एक प्रकार से यह आश्वासन दिया जाता है कि यदि वह वस्तु को क्रय करेगा तो उसे क्या क्या लाभ प्राप्त होंगे।

(iii) विज्ञापन प्रतिलिपि का मूलसूत्र सूचनात्मक होने के साथ साथ वस्तु क्रय करने के लिए प्रोत्साहित करने वाला भी होना चाहिए, ताकि ग्राहक इसको पढ़कर आवश्यक सूचना प्राप्त कर सके, और वस्तु के क्रय के लिए प्रेरित हो।

(iv) विज्ञापन प्रतिलिपि का मूलसूत्र विश्वसनीय होना चाहिए। इससे ग्राहक मूलसूत्र में विविध सूचनाओं को पढ़कर उसको इस्तेमाल लिए प्रेरित हो, बशर्ते मूलसूत्र में दी गई सूचनाएं वास्तविक एवं सत्य हों ताकि इससे संभावित ग्राहक को विज्ञापित वस्तु के बारे में कोई संदेह तथा भ्रांति न हो।

दृष्टांत या चित्र : यह आवश्यक है कि विज्ञापन प्रतिलिपि में दी गई सूचनाओं तथा जानकारियों को संभावित ग्राहक भलीभांति समझे। विज्ञापन प्रतिलिपि में आवश्यक दृष्टांत तथा चित्रों का भी प्रयोग किया जाता है। विज्ञापन प्रतिलिपि में दृष्टांतों एवं चित्रों को सम्मिलित करना विज्ञापन संदेश को सहज ही नहीं बनाता है, बल्कि इससे संभावित ग्राहक को वस्तु के बारे में अतिरिक्त सूचना भी प्राप्त होती है और उसे वस्तु का स्पष्ट ज्ञान होता है। विज्ञापन को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शीर्षक, मूलसूत्र एवं दृष्टांत संयुक्त-रूप से कार्य करते हैं, और दृष्टांत अथवा चित्र विशेष रूप से विज्ञापन संदेश की स्पष्टता बनाए रखते हैं, ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करते हैं, विज्ञापन संदेश के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं तथा पूरी प्रतिलिपि के अध्ययन को प्रोत्साहित करते हैं। विज्ञापन प्रतिलिपि को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न प्रकार के दृष्टांतों को प्रयोग किया जा सकता है।

(i) वस्तु की प्रयोग विधि को समझाने के लिए,
(ii) वस्तु की विशेषताओं एवं लाभों के वर्णन के लिए,
(iii) वस्तु की प्रतियोगी वस्तु से तुलना करने के लिए,
(iv) वस्तु की बाह्य संरचना को प्रदर्शित करने के लिए,
(v) ग्राहक को वस्तु की पूर्ण पहचान बताने के लिए।

एक अच्छे दृष्टांत अथवा चित्र में निम्न गुण विद्यमान होने चाहिए :

(i) विज्ञापन प्रतिलिपि में दिए गए दृष्टांत एवं चित्र चुंबक की भांति खींचने वाले होने चाहिए, ताकि उनके द्वारा ग्राहक का ध्यान शीघ्र विज्ञापन संदेश की ओर आकर्षित किया जा सके।

(ii) ये दृष्टांत या चित्र कलात्मक ढंग से तैयार किए जाने चाहिए।

(iii) विज्ञापन प्रतिलिपि में दिए गए दृष्टांत एवं चित्र विज्ञापन की विषयवस्तु के समान होने चाहिए।

अच्छी विज्ञापन प्रतिलिपि के गुण

विज्ञापन प्रतिलिपि किस प्रकार तैयार की जानी चाहिए और उसको किन किन महत्वपूर्ण अंगों में विभक्त करके प्रत्येक अंग दूसरे अंग से कैसे संयोजित किया जाना चाहिए, इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, इसके अतिरिक्त जैसाकि बार बार बताया जा चुका है विज्ञापन का मूल उद्देश्य सूचनाओं का प्रसारण ही नहीं है, सूचनाएं ऐसे प्रभावशाली ढंग में प्रसारित की जाती हैं ताकि सूचनाओं के प्रसारण के साथ साथ संभावित ग्राहक को वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित भी किया जा सके। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए जो विज्ञापन प्रतिलिपि तैयार की जाती है उसमें निम्नलिखित गुण विद्यमान होने चाहिए।

आकर्षण मूल्य : विज्ञापन प्रतिलिपि का आकर्षक होना आवश्यक है क्योंकि यदि इससे संभावित ग्राहक का ध्यान आकृष्ट न किया जा सका तो विज्ञापन के उद्देश्यों की पूर्ति असंभव है। इसीलिए विज्ञापन प्रतिलिपि की बनावट, विषय सामग्री, सजावट आदि को इस प्रकार से संयोजित किया जाना चाहिए कि ग्राहक विज्ञापन की ओर आकर्षित होकर इसे देखने, सुनने, एवं पढ़ने के लिए प्रेरित हो। ग्राहक अपने कार्य में व्यस्त रहता है, और उसके पास इतना समय नहीं होता कि वह वस्तुओं के लिए किए गए विस्तृत विज्ञापनों से अपने को अवगत करा सके। ग्राहक की इस व्यस्तता के कारण विज्ञापन प्रतिलिपि में कोई न कोई तत्व इस प्रकार का होना चाहिए कि संभावित ग्राहक अपने समय में से कुछ समय निकालकर विज्ञापन संदेश को पढ़े। विज्ञापन प्रतिलिपि को आकर्षक

बनाने के लिए सामान्यतौर से चुटकुलों, मुहावरों, प्रचलित नारों आदि का प्रयोग, विभिन्न रंगों का प्रयोग, कलात्मक ढंग से चित्रों का प्रदर्शन, कीमत में कमी की सूचना तथा वस्तु की किस्म में सुधार की घोषणा आदि का प्रयोग काफी प्रचलित हैं।

सुझावात्मक मूल्य : विज्ञापन प्रतिलिपि में दी गई सूचनाओं का कुछ अंश सुझावात्मक भी होना चाहिए। सुझावात्मक मूल्य से हमारा अभिप्राय विज्ञापन प्रतिलिपि के उस गुण से है जिसके माध्यम से ग्राहक को विज्ञापित वस्तु का प्रयोग करने के लिए सुझाव दिया जाता है। वस्तु के प्रयोग के बारे में सुझाव देने के लिए यह आवश्यक है कि उससे पहले ग्राहक को उस वस्तु की उपयोगिता का ज्ञान कराया जाए और ग्राहक की आवश्यकता की संतुष्टि के लिए उसकी उपयोगिता को समझाया जाए, जैसे 'मच्छरों का दुश्मन कछुवाछाप अगरबत्ती', 'दांतों की चमक के लिए कोलगेट टूथपेस्ट' आदि। इस प्रकार के सुझावात्मक नारों को बार बार दुहराने से संभावित क्रेता को वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, और उस वस्तु के पुनः प्रयोग में ग्राहक वस्तु को सुझावात्मक नारे की सहायता से याद रखता है।

स्मरण मूल्य : विज्ञापन प्रतिलिपि को पढ़ने एवं समझने से ही विज्ञापन का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। विज्ञापन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए विज्ञापन प्रतिलिपि की बनावट व प्रस्तुत विषय सामग्री इस प्रकार से संगठित होनी चाहिए कि संभावित क्रेता, उसे पढ़कर समझकर, भविष्य के संदर्भ के लिए याद रख सके। विज्ञापन प्रतिलिपि में स्मरण मूल्य से हमारा आशय ऐसे गुण अथवा प्रतिलिपि की ऐसी विशेषता से है जिससे ग्राहक को वह विज्ञापन याद रहता है। विज्ञापन प्रतिलिपि में इस गुण को बनाए रखने के लिए वस्तुओं के प्रचलित ब्रांड नामों का प्रयोग किया जाता है, जो ग्राहक को आसानी से याद रह सकते हैं, जैसे, मोहन घी—गांव का ताजा एवं शुद्ध घी, हमाम साबुन, डालडा घी, बोरोलीन क्रीम आदि। विज्ञापन प्रतिलिपि में इस प्रकार के संक्षिप्त ब्रांड नेम की सहायता से यदि वस्तुओं की विशेषताओं, प्रयोग विधि आदि को समझाया जाए तो ग्राहक आवश्यकता पड़ने पर इन प्रचलित ब्रांड नेमों की सहायता से वस्तु की विशेषताओं तथा गुणों को याद रख सकता है।

भावनात्मक मूल्य : विज्ञापन की एक प्रतिलिपि से हजारों संभावित ग्राहकों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। वस्तु के प्रति उनमें रुचि उत्पन्न की जाती है और अंतिम रूप से उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिन संभावित क्रेताओं तक विज्ञापन संदेश पहुंचाया जाता है उन सबका व्यक्तित्व एक जैसा नहीं होता है और उनकी भावनाएं, विचारधारा तथा दृष्टिकोण भिन्न होते हैं, अतः विज्ञापन की प्रतिलिपि को इस प्रकार से बनाया जाना चाहिए कि उससे अधिकतम ग्राहकों की भावनाएं संतुष्ट हो सकें। यदि विज्ञापन प्रतिलिपि में प्रयोग किए गए किसी मुहावरे, कथन अथवा शब्द से संभावित क्रेताओं की भावना को ठेस लगती है तो ऐसा विज्ञापन निरर्थक एवं व्यर्थ सिद्ध होता है। इसीलिए विज्ञापन प्रतिलिपि में भावनात्मक लगाव का तत्व रहना आवश्यक है,जैसे हिंदुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स लिमिटेड के विज्ञापनों में 'प्रोटेक्ट टु प्रास्पर' शब्द का प्रयोग किया रहता है जिससे राष्ट्रीय हित की भावना की ओर संकेत मिलता है। इसी प्रकार हैंडलूम के कपड़े के लिए किया गया विज्ञापन 'घर से घर की शान', में राष्ट्रीय वस्तुओं के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त एच० एम० टी० कंपनी द्वारा किया गया विज्ञापन 'बी इंडियन बाइ इंडियन' से भी राष्ट्रीय भावना जाग्रत की जाती है, ताकि ग्राहक इस भावना से प्रेरित होकर कंपनी द्वारा उत्पादित वस्तुओं को क्रय करे। संक्षेप में विज्ञापन प्रतिलिपि के अंतर्गत शब्दों का प्रयोग इस प्रकार से होना चाहिए कि उससे भावुक एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति

आकर्षित किए जा सकें ।

ज्ञानात्मक मूल्य : विज्ञापन का मुख्य उद्देश्य संभावित ग्राहकों में वस्तु संबंधित सूचनाओं का प्रसारण करना है । व्यवहार में विज्ञापन प्रतिलिपि को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए वस्तुओं के बारे में आवश्यक जानकारी के अलावा अन्य लाभदायक सूचनाएं भी दी रहती हैं । पर्याप्त ज्ञान की उपलब्धता में ही ग्राहक वस्तु के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकता है जैसे, बिनाका टूथपेस्ट के विज्ञापन में केवल टूथपेस्ट की दांतों की स्वच्छता तथा रक्षा के संबंध में ही जानकारी नहीं दी रहती है बल्कि उसमें संभावित ग्राहकों को यह भी बताया जाता है कि टूथपेस्ट को बनाने में किन किन रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया गया है और उनका क्या अनुपात है । इस प्रकार के विज्ञापन से ग्राहक को यह अतिरिक्त सूचना प्राप्त होती है कि विभिन्न रासायनिक पदार्थों का दांतों की स्वच्छता एवं रक्षा से क्या संबंध है । इसके अतिरिक्त विज्ञापन प्रतिलिपि में उत्पादक का नाम, वस्तु की उपलब्धता, उसका मूल्य एवं प्रयोग विधि आदि का ब्यौरा संक्षिप्त रूप में दिया रहना चाहिए, जिससे ग्राहक के सामान्य ज्ञान में वृद्धि होती है ।

विश्वास उत्पन्न करने का गुण : विज्ञापन प्रतिलिपि में वस्तु के बारे में जो सूचनाएं दी जाती हैं, उनको सभी संभावित ग्राहक विश्वास के आधार पर ही स्वीकार करते हैं । इन सूचनाओं को मान्य एवं विश्वसनीय बनाने के लिए आवश्यक तथ्य, कथन, प्रमाणों के रूप में दिए रहने चाहिए ताकि संभावित ग्राहक का इन सूचनाओं के प्रति विश्वास उत्पन्न किया जा सके । यदि कोई उत्पादक अपनी वस्तु को विज्ञापन संदेश में प्रतियोगी की वस्तु से श्रेष्ठ बताता है तो उसे वस्तु की श्रेष्ठता के संबंध में आवश्यक प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए । उदाहरण के लिए बुलवर्कर के लिए किए गए विज्ञापन में विज्ञापन संदेश को विश्वसनीय बनाने के लिए उन व्यक्तियों के कथन भी दिए रहते हैं जिसके द्वारा वांछनीय परिणाम प्राप्त किए गए हैं । ठीक इसी प्रकार स्त्रियों के लिए प्रसाधन सामग्री का विज्ञापन करने में फिल्म संसार की अभिनेत्रियों के कथन भी दिए रहते हैं । विज्ञापन को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए व्यवसायी इन कथनों के अतिरिक्त विशिष्ट व्यक्तियों से प्राप्त राय भी सम्मिलित कर सकता है, जैसे फोरहंस टूथपेस्ट के विज्ञापन में टूथपेस्ट की विशेषताओं एवं लाभों को सिद्ध करने के लिए डाक्टर का कथन भी सम्मिलित किया गया है ।

संक्षेप में विज्ञापन प्रतिलिपि के अंतर्गत दिया गया विज्ञापन संदेश विश्वसनीय होना आवश्यक है, और उसको विश्वसनीय बनाने के लिए पर्याप्त प्रमाण दिए जाना वांछनीय है ।

वैज्ञानिक विज्ञापन

वस्तुओं का विज्ञापन विपणन के संपूर्ण कार्यक्रम में एक महत्वपूर्ण क्रिया है क्योंकि इसके द्वारा वस्तु की मांग उत्पन्न करके बिक्री बढ़ाई जाती है । विज्ञापन के इस उद्देश्य को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए विज्ञापन की लागत एवं प्रभावशीलता ये दोनों तत्व कुशलतापूर्वक संयोजित एवं समन्वित किए जाने चाहिए । इन दोनों तत्वों के कुशल संयोजन के परिणामस्वरूप ही विज्ञापन की उचित लागत पर वस्तु की बिक्री को अधिकतम सीमा तक बढ़ाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त विज्ञापन के लागत व्यय से वस्तु के मूल्य में वृद्धि भी हो सकती है, विशेष रूप से उन परिस्थितियों में जबकि विज्ञापन प्रभावहीन सिद्ध होता है । अतः व्यवहार में विज्ञापन की लागत व्यय तथा प्रभावशीलता को संतुलित बनाए रखने के लिए विज्ञापन एक वैज्ञानिक विधि से किया जाता है । विज्ञापन के लिए वैज्ञानिक विधि अपनाने हेतु विज्ञापन के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित

होने चाहिए। उन व्यक्तियों के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए जिनके लिए विज्ञापन किया जा रहा है तथा विज्ञापन के लिए जिस माध्यम को अपनाया जाए लागत के दृष्टिकोण से उसका तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है ताकि संपूर्ण विज्ञापन कार्यक्रम, कारण एवं परिणाम के आधार पर तैयार किया जा सके। वस्तुओं का विज्ञापन करने के लिए विज्ञापन की जो विधि अपनाई जाती है, उसके निम्न चरण हैं :

1. विज्ञापन की विस्तृत योजना तैयार करना : विज्ञापन की सफलता के लिए संपूर्ण विज्ञापन कार्यक्रम की एक विस्तृत योजना तैयार करना आवश्यक समझा गया है, क्योंकि इसी योजना के अंतर्गत विज्ञापन के उद्देश्य निर्धारित किए जाते हैं और उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मूल नीतियों एवं विधियों को भी निर्धारित किया जाता है, अन्य कार्यों के लिए योजना तैयार करने की भांति विज्ञापन कार्यक्रम की योजना तैयार करने के लिए भी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य एवं आंकड़ों की आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार हैं:

(अ) ग्राहक एवं संभावित ग्राहक की भौगोलिक स्थिति,

(ब) ग्राहक वस्तु को क्यों खरीदते हैं अथवा क्यों नहीं खरीदते हैं, इससे संबंधित आंकड़े,

(स) वस्तु के लिए बाजार में व्याप्त प्रतिस्पर्धा,

(द) वस्तु खरीदने के लिए ग्राहक को प्रभावित करने वाले तत्वों से संबंधित सूचनाएं आदि।

उपर्युक्त तत्वों से संबंधित ये तथ्य एवं आंकड़े या तो संस्था के पिछले रिकार्डों से प्राप्त किए जा सकते हैं या उन्हें प्रत्यक्ष रूप से पुनः संकलित किया जा सकता है।

2. विज्ञापन कार्यक्रम के लिए बजट तैयार करना : विज्ञापन कार्यक्रम की विस्तृत रूप-रेखा तैयार करने के पश्चात विपणन प्रबंधक को यह महत्वपूर्ण निर्णय लेना पड़ता है कि विज्ञापन के लिए संस्था कितनी धनराशि व्यय कर सकती है। यह निर्णय लेने में प्रबंधक सर्वप्रथम समस्त बिक्रीवर्धक प्रबंधों में किए जाने वाले व्यय का अनुमान लगाता है और संस्था द्वारा प्राप्त इस धनराशि में तदनुसार विज्ञापन के लिए संभावित व्ययों का अनुमान लगाता है, विज्ञापन में व्यय की जाने वाली धनराशि का अनुमान लगाने के लिए विभिन्न विधियां प्रचलित हैं। व्यवहार में इसके लिए चाहे किसी विधि को अपनाया जाए पर इसमें इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि विज्ञापन का परिणाम बिक्री है और विज्ञापन तथा बिक्री के संबंध को भलीभांति समझकर विज्ञापन का व्यय निर्धारित किया जाए, क्योंकि विज्ञापन कार्यक्रम के लिए निर्धारित व्यय एक ओर तो वस्तु के मूल्य को प्रभावित करते हैं दूसरी ओर इससे विज्ञापन की प्रभावशीलता भी प्रभावित होती है, विज्ञापन व्ययों का निर्धारण करने के लिए निम्न प्रचलित विधियों में से किसी भी विधि को अपनाया जा सकता है :

(अ) संस्था की विज्ञापन व्यय वहन करने की क्षमता : इस विधि के अनुसार केवल वह धनराशि विज्ञापन व्यय के लिए आवंटित की जाती है जिसे संस्था सामान्यतौर से वहन कर सकती है। विज्ञापन व्यय का निर्धारण करने की यह विधि न तो वैज्ञानिक ही है और न इसे दीर्घकाल के लिए उचित समझा जा सकता है, क्योंकि संस्था द्वारा व्यय वहन करने की क्षमता का अधिकांश दशाओं में न तो वस्तु की बिक्री से ही संबंध होता है और न यह क्षमता स्थिर ही रह सकती है।

(ब) बिक्री में प्रतिशत विधि : इस विधि के अंतर्गत संस्था प्रतिवर्ष की बिक्री का एक पूर्व निर्धारित प्रतिशत विज्ञापन व्यय के लिए नियोजित कर देती हैं। हालांकि यह विधि पहली विधि से अधिक उचित है, फिर भी इसमें विज्ञापन को बिक्री का कारण समझने के बजाय बिक्री का परिणाम समझा गया है।

(स) प्रतिस्पर्धा अनुगामी विधि : वे संस्थाएं जो बाजार में व्याप्त प्रतिस्पर्धा को अधिक महत्व देती हैं, अपने विज्ञापन व्यय का निर्धारण प्रतियोगी द्वारा किए जाने वाले विज्ञापन व्यय के अनुसार ही करती हैं। इस विधि को सबसे अधिक अविवेकपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि जरूरी नहीं है कि प्रतियोगी द्वारा किया गया विज्ञापन व्यय न्यायसिद्ध एवं बुद्धिमत्तापूर्ण हो। इसके अतिरिक्त दोनों संस्थाओं के विज्ञापन के उद्देश्य अलग हो सकते हैं। फिर भी व्यवहार में यह विधि प्रतियोगी से विज्ञापन व्यय में समानता बनाए रखने के लिए और प्रतियोगी द्वारा अपनाई गई विज्ञापन विधि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती है।

(द) उद्देश्य प्राप्ति लागत विधि : इस विधि के अंतर्गत व्यय की राशि निर्धारित करने के लिए विज्ञापन का उद्देश्य, उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यकीय कार्यक्रम क्रियान्वित करने के लिए संभावित लागत को दृष्टि में रखा जाता है। विज्ञापन व्यय को निर्धारित करने की यह विधि सबसे अधिक विवेकपूर्ण एवं व्यावहारिक समझी जाती है क्योंकि विज्ञापन व्ययों का निर्धारण निश्चित रूप से विज्ञापन के उद्देश्यों को प्राप्त करने से संबंधित है।

3. विज्ञापन के माध्यम का चुनाव : विज्ञापन के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए उपयुक्त माध्यम का चुनाव आवश्यक है। अलग अलग उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए या अलग अलग वस्तुओं का विज्ञापन करने के लिए विज्ञापन के अलग अलग माध्यम उपयुक्त होते हैं। उपयुक्त माध्यम का चुनाव करने के हेतु उपलब्ध माध्यमों की प्रभावशीलता, लागत, विज्ञापन के उद्देश्य, वस्तु की प्रकृति एवं उपयोगिता, माध्यम से प्राप्त सहायता एवं माध्यम की विशेषताओं तथा ख्याति को दृष्टि में रखते हुए तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है तथा भविष्य की परिस्थितियों का अनुमान लगाकर उपयुक्त माध्यम का चुनाव किया जाता है क्योंकि विज्ञापन के माध्यम में शीघ्र परिवर्तन संस्था की ख्याति पर बुरा असर डाल सकता है। इसके अतिरिक्त इस माध्यम में शीघ्र परिवर्तन आसानी से नहीं किया जा सकता।

4. परिणामों का मूल्यांकन : विज्ञापन विधि को वैज्ञानिक ढांचा प्रदान करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि इसके कारण एवं परिणामों के संबंध को भलीभांति समझा जाए वस्तु की बिक्री विज्ञापन कारण का परिणाम है। इस कारण एवं परिणाम के संबंध के संतुलन को बनाए रखने के लिए कारणों से उत्पन्न परिणामों का समय समय पर मूल्यांकन किया जाता है। इसको दूसरे शब्दों में विज्ञापन की प्रभावशीलता का मूल्यांकन भी कहा जा सकता है। विज्ञापन के परिणामों के मूल्यांकन के लिए कई विधियां प्रचलित हैं। वैसे तो दीर्घकाल में विज्ञापन का अंतिम परिणाम विज्ञापित वस्तु की बिक्री बढ़ाना है, पर अल्पकाल में विज्ञापन की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने के लिए कई तात्कालिक तत्वों को ध्यान में रखा जा सकता है, जैसे, विज्ञापन द्वारा सूचनाओं का प्रसारण, विज्ञापन के प्रति ग्राहकों में उत्पन्न रुचि तथा उनको अतिरिक्त ज्ञान का लाभ आदि। विज्ञापन का परिणाम ज्ञात करने के लिए सदैव बिक्री के आकार को ही पूर्ण एवं अंतिम आधार नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि वस्तु की बिक्री समस्त विक्रीवर्धक प्रयत्नों का संयुक्त परिणाम है। विज्ञापन के परिणामों को ज्ञात करने की यह विधि केवल उन दशाओं में अपनाई जानी चाहिए यदि वस्तुओं की बिक्री में विज्ञापन ही एक महत्वपूर्ण कारण रहा हो। पर इस परिस्थिति में भी ये ज्ञात करना काफी जटिल है कि ग्राहक ने उस वस्तु को क्यों क्रय किया है। हो सकता है वह विज्ञापन से प्रभावित हुआ हो, या वस्तु की उपयोगिता से या वस्तु के मूल्य से या वस्तु की आकर्षक पैकिंग से, संक्षेप में विज्ञापन का प्रभाव ज्ञात करने के लिए यह तत्व महत्वपूर्ण है कि विज्ञापन से पूर्व उस

वस्तु के प्रति ग्राहक की क्या धारणा थी और वस्तु का विज्ञापन हो जाने के पश्चात वस्तु के प्रति उसकी क्या प्रतिक्रिया है। वैसे तो ग्राहक का परिवर्तनशील व्यवहार पूर्णतया नहीं मापा जा सकता है, फिर भी मानव व्यवहार में विद्यमान कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का निकटवर्ती अनुमान लगाया जा सकता है। इस संबंध में ग्राहकों के समूह का चुनाव करके साक्षात्कार के माध्यम से विज्ञापन की प्रभावशीलता का अनुमान लगाया जा सकता है।

5. नियंत्रण एवं नियोजन : विज्ञापन की प्रभावशीलता ज्ञात करने के पश्चात विज्ञापन के बारे में यह ज्ञान होना स्वाभाविक है कि विज्ञापन में किन गुणों का अभाव रहा है, और किन स्थितियों में विज्ञापन कम प्रभावशील सिद्ध हुआ है तथा कम प्रभावशीलता के कौन कौन से संभव कारण रहे हैं। इन कारणों का विश्लेषण करके विज्ञापन में आवश्यक सुधार किए जा सकते हैं और उसे पूर्ण प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

व्यक्तिशः विक्रय

बिक्रीवर्धक प्रयत्नों में व्यक्तिशः विक्रय भी महत्वपूर्ण है। इसका अंतिम उद्देश्य भी विज्ञापन की ही भांति वस्तु की लोकप्रियता को बढ़ाकर उसकी बिक्री बढ़ाना है। व्यक्तिशः विक्रय विज्ञापन की स्थानापन्न क्रिया नहीं है बल्कि विज्ञापन की पूरक एवं सहायक क्रिया है। व्यक्तिशः बिक्री के अंतर्गत उत्पादक अपनी वस्तुओं के बारे में पर्याप्त सूचनाएं विक्रय कर्मचारियों के माध्यम से अंतिम उपभोक्तओं तक पहुंचाता है और इन्हीं विक्रय कर्मचारियों के द्वारा ग्राहक से वस्तु क्रय करने के लिए आग्रह करता है, विक्रय कर्मचारी या विक्रेता व्यवसायी तथा उपभोक्ता के बीच एक कड़ी का कार्य करता है और व्यवसायी की ओर से वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को बेचता है।

व्यावसायिक जगत में उन्नति के फलस्वरूप आज व्यक्तिशः विक्रय का अर्थ केवल विक्रय कर्मचारी द्वारा वस्तु के बारे में ग्राहकों तक सूचनाएं पहुंचाने तक, तथा उनसे वस्तु क्रय करने के लिए आग्रह करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि व्यक्तिशः विक्रय में वस्तु को ऐसे कलात्मक ढंग से प्रस्तुत एवं प्रस्तावित किया जाना सम्मिलित है, जिससे विक्रय कर्मचारी वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करके वस्तु को बेचने में सफलता प्राप्त कर सके। व्यक्तिशः बिक्री में जिस कला का प्रयोग किया जाता है उस कला को विक्रय कला कहा जाता है और इसी कला का प्रयोग करके विक्रय कर्मचारी व्यक्तिशः विक्रय के कार्य को निष्पादित करता है।

विक्रय कला शब्द विभिन्न लेखकों द्वारा परिभाषित किया गया है जिसमें से कुछ निम्न परिभाषाएं मुख्य हैं। रिप्ले के शब्दों में 'विक्रय कला एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा असंख्य व्यक्तियों से वस्तु को लाभ पर, प्रसन्नतापूर्वक तथा स्थाई रूप से क्रय के लिए आग्रह किया जाता है।' इस परिभाषा के अनुसार विक्रय कला एक व्यापक क्रिया है, जिसके माध्यम से अधिक व्यक्तियों को विक्रयकर्ता सदैव स्थाई रूप से वस्तु को खरीदने का आग्रह करता है। यह परिभाषा काफी व्यापक समझी जाती है, क्योंकि इसमें वर्तमान विक्रय पर बल देने के साथ साथ विक्रय कला के द्वारा ग्राहक से स्थाई रूप से वही वस्तु खरीदने के लिए आग्रह किया जाता है।

नाक्स के शब्दों में 'विक्रय कला मानवीय इच्छाओं को मानवीय आवश्यकताओं में परिवर्तित करने की योग्यता है।' इस परिभाषा में भी विक्रय कला के दोनों छोरों का वर्णन किया गया है और विक्रय कला को उस योग्यता की संज्ञा दी गई है जिसके द्वारा वस्तु के लिए संभावित ग्राहकों की इच्छा को इस प्रकार से परिवर्तित कर दिया जाता है कि ग्राहक वस्तु की इच्छा करने के साथ साथ उसे अपनी आवश्यकता की संतुष्टि करने

के लिए आवश्यक समझना है। इस परिभाषा के अनुसार विक्रय कला की क्रिया वस्तु के प्रति ग्राहक की इच्छा उत्पन्न करने के बाद होती है, अर्थात विक्रय कला विज्ञापन की पूरक क्रिया है।

इस शब्द की स्काट द्वारा दी गई परिभाषा महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार, 'विक्रय कला विक्रय कर्मचारी के व्यवसाय का ऐसा हिस्सा है जिसके द्वारा वह वस्तु का प्रदर्शन करके और उसकी आवश्यकता को बताते हुए उसकी मांग उत्पन्न करता है, जबकि विक्रय कर्मचारी के आगमन से पूर्व ग्राहक को उस वस्तु की आवश्यकता की चेतना नहीं थी।' स्काट द्वारा दी गई यह परिभाषा काफी व्यापक व उपयुक्त समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार विक्रय कला में तीन मुख्य तत्व सम्मिलित हैं। प्रथम, वस्तु का ग्राहक के सम्मुख प्रदर्शन कर उसकी उपयोगिता को समझना। द्वितीय, वस्तु की मांग उत्पन्न करना तथा तृतीय, ग्राहक को उस वस्तु की आवश्यकता महसूस कराना।

उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए संक्षेप में यह कहा जा सकता है, कि विक्रय कला विक्रय कर्मचारी के व्यक्तित्व में विद्यमान एक ऐसी योग्यता या कला है जिसके प्रयोग द्वारा वह ग्राहक के सम्मुख वस्तु को प्रदर्शित करके, क्रय करने के लिए आग्रह करके उस वस्तु की आवश्यकता अनुभव कराते हुए वस्तु क्रय करने के लिए बाध्य करता है।

विज्ञापन एवं व्यक्तिश: विक्रय में भेद

1. विज्ञापन के अंतर्गत वस्तु के बारे में सूचनाओं का प्रसारण अवैयक्तिक ढंग से किसी माध्यम 'समाचारपत्र, पत्रिकाएं, रेडियो आदि' के द्वारा किया जाता है, जबकि व्यक्तिश: विक्रय में वस्तु की बिक्री के लिए विक्रय कर्मचारी व्यक्तिगत रूप से व्यवसायी के एजेंट के रूप में कार्य करके संभावित ग्राहकों को वस्तु के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रस्तुत करता है और उनसे वस्तु खरीदने के लिए आग्रह करता है।

2. वैसे तो विज्ञापन एवं व्यक्तिश: बिक्री दोनों का अंतिम उद्देश्य वस्तु की बिक्री बढ़ाना है, पर व्यवहार में व्यक्तिश: विक्रय विज्ञापन की तुलना में वस्तु की बिक्री के लिए अधिक अग्रसर समझा जाता है, क्योंकि विज्ञापन के द्वारा वस्तु के बारे में सूचनाओं का प्रस्तुतीकरण करके ग्राहकों की उनके प्रति रुचि उत्पन्न करके उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है जबकि व्यक्तिश: विक्रय में ग्राहक की इच्छा को आवश्यकता में परिवर्तित करके उसके द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तु की सुपुर्दगी विक्रय कर्मचारी द्वारा उसी समय या कुछ समय पश्चात दे दी जाती है।

3. व्यक्तिश: विक्रय विज्ञापन से अधिक प्रभावशाली समझा जा सकता है क्योंकि विक्रय कर्मचारी विक्रय कला का प्रयोग करते हुए वस्तु को ग्राहक के सम्मुख प्रदर्शित करके तथा ग्राहकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देकर वस्तु के प्रति उनमें विश्वास उत्पन्न करता है, और निश्चित परिणाम प्राप्त कर लेता है। जबकि विज्ञापन की प्रभावशीलता पूर्ण रूप से विज्ञापन प्रतिलिपि के गुणों पर निर्भर रहती है।

4. विज्ञापन द्वारा संभावित ग्राहकों की आवश्यकताओं में परिवर्तन तथा उनकी प्राथमिकता, रुचि आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से तुरंत नहीं हो सकता है जबकि व्यक्तिश: विक्रय में विक्रय कर्मचारी को इस संबंध में ग्राहकों से बातचीत करके इन सब बातों की जानकारी प्रत्यक्ष रूप से हो जाती है।

व्यक्तिश: विक्रय का महत्व

विज्ञापन की भांति व्यक्तिश: विक्रय की क्रिया भी वस्तुओं की बिक्री को बढ़ाने के लिए

महत्वपूर्ण है। कुछ स्थितियों में व्यक्तिश: बिक्री विज्ञापन से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। विपणन में व्यक्तिश: विक्रय का महत्व निम्न तत्वों के आधार पर आंका जा सकता है।

1. व्यक्तिश: विक्रय के अंतर्गत विक्रय कला में दक्ष एवं निपुण विक्रय कर्मचारी वस्तु के बारे में संभावित ग्राहकों को आवश्यक सूचनाओं से अवगत कराता है, और यदि ग्राहक वस्तु के बारे में कोई संदेह प्रकट करता है तो विक्रय कर्मचारी उस संदेह अथवा गुण को तुरंत दूर कर सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिश: बिक्री ग्राहकों के लिए सुविधाजनक है, क्योंकि ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए विक्रय भंडारों तक नहीं जाना पड़ता है और घर पर ही वस्तु का भलीभांति निरीक्षण करके क्रय कर लेता है।

2. व्यक्तिश: विक्रय का अंतिम परिणाम वस्तु की बिक्री है, जिसके लिए विक्रय कर्मचारी वस्तु के बारे में आवश्यक सूचनाओं का कलात्मक प्रस्तुतीकरण एवं आग्रह ही नहीं करता है बल्कि उनकी इच्छाओं को आवश्यकताओं में बदल कर शीघ्र उन्हें वस्तु को वास्तविक रूप में क्रय करने के लिए बाध्य कर देता है।

3. व्यक्तिश: विक्रय विज्ञापन से इस आधार पर भी अधिक प्रभावशाली समझा जा सकता है कि व्यक्तिश: विक्रय में विक्रय कर्मचारी उन्हीं व्यक्तियों को वस्तु के बारे में अवगत कराता है जिनके विषय में वह समझता है कि वे वस्तु के ग्राहक अथवा संभावित ग्राहक हैं। इस प्रकार व्यक्तिश: विक्रय में विक्रय कर्मचारी का समय व प्रयत्न केवल संभावित ग्राहकों में ही विनियोजित होते हैं।

4. व्यक्तिश: विक्रय के द्वारा वस्तुओं के बारे में ग्राहकों तथा संभावित ग्राहकों को जो आवश्यक सूचनाएं प्रस्तुत की जाती हैं उनको पूर्ण रूप से गुप्त रखा जा सकता है ताकि व्यवसायी की विक्रय नीतियों के बारे में उसके निकटतम प्रतियोगियों को कोई जानकारी प्राप्त न हो सके, और वे सूचनाओं को व्यूह नीति के रूप में अपने लाभ के लिए प्रयोग न कर सकें।

5. व्यक्तिश: विक्रय के द्वारा विक्रय कर्मचारी ग्राहकों तथा संभावित ग्राहकों से वस्तु के बारे में जो वार्तालाप करता है वह व्यवसायी या व्यावसायिक संस्था के लिए लाभदायक सिद्ध होता है, क्योंकि इस वार्तालाप के माध्यम से विक्रय कर्मचारी ग्राहकों की आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं, वस्तु के प्रति रुचि तथा उनकी वस्तु के बारे में संपूर्ण धारणा ज्ञात करके विपणन प्रबंधकर्ता को प्रस्तुत करता है, ताकि यथासमय वस्तुओं की विशेषताओं में परिवर्तन करके उनकी बिक्री को और आगे बढ़ाया जा सके। इसीलिए कुछ व्यावसायिक संस्थाएं अपने विक्रय कर्मचारी को विपणन शोधकर्ता जैसा समझते हैं क्योंकि विक्रय कर्मचारी सूचनाओं के प्रस्तुतीकरण, वस्तु के विक्रय के अतिरिक्त ग्राहकों की प्रवृत्ति, रुचि, प्राथमिकता आदि के बारे में आवश्यक सूचनाएं भी संकलित करता है।

व्यक्तिश: विक्रय के महत्व को दृष्टि में रखते हुए, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि बिक्रीवर्धक प्रयत्नों में विज्ञापन कार्य इसका पूरक है क्योंकि व्यक्तिश: बिक्री के द्वारा ही वास्तविक रूप से वस्तु को बेचा जाता है और जबकि विज्ञापन वस्तु की वास्तविक बिक्री को उत्तेजित करने में तथा ग्राहकों को उसे क्रय करने के लिए प्रेरित करने में सहायता पहुंचाता है। व्यवहार में यह पाया जाता है कि कुछ दशाओं में विज्ञापन व्यक्तिश: बिक्री का पूरक है और कुछ दशाओं में विज्ञापन के माध्यम से वस्तुओं की लोकप्रियता बढ़ाने और उनके बिक्री के आकार में वृद्धि करने में व्यक्तिश: बिक्री विज्ञापन का पूरक एवं सहायक कार्य समझा जाता है।

व्यक्तिश: विक्रय की सीमाएं

व्यक्तिश: विक्रय का विपणन के क्षेत्र में व्यापक महत्व होते हुए भी प्रत्येक स्थिति में इसका उपयोग नहीं किया जाता है। कुछ महत्वपूर्ण तत्वों के कारण इन स्थितियों में इसकी उपयोगिता सीमित हो जाती है जिसे इसकी सीमाए समझा जाता है और जो निम्न हैं :

1. अधिक लागत व्यय : व्यक्तिश. बिक्री के द्वारा एक ओर बिक्रीवर्धक प्रयत्नों मे क्षीणता एवं अपव्ययों को कम करके उनकी प्रभावशीलता को बढ़ाया जाता है और दूसरी ओर इसकी लागत अन्य बिक्रीवर्धक प्रयत्नों के अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योंकि जैसे विज्ञापन की एक प्रतिलिपि से हजारों की सख्या में संभावित ग्राहकों तक वस्तु के बारे में सूचनाएं प्रसारित की जाती हैं और उनमें से कई ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है जबकि व्यक्तिश: विक्रय के द्वारा तुलनात्मक रूप से काफी अधिक धन व्यय करने पर भी अधिक संख्या में ग्राहकों तक सूचनाओं का प्रस्तुतीकरण एवं निवेदन नहीं किया जा सकता है।

2. कम प्रभावशाली : व्यवहार में यह भी पाया जाता है कि व्यक्तिश: बिक्री प्रत्येक स्थिति में प्रभावपूर्ण ढग से उपयोगी सिद्ध नही होती है, क्योंकि इसकी प्रभावशीलता मुख्य रूप से विक्रय कर्मचारी की कुशलता, ज्ञान, अनुभव तथा उसके व्यक्तित्व में विक्रय कला मे संबधित रचनात्मक शक्तियों की विद्यमानता आदि पर निर्भर रहती है। अत: यदि विक्रय कर्मचारी विक्रय कला में निपुण एवं दक्ष नहीं है तो वह निश्चित रूप से ग्राहकों के प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाएगा, जिससे वस्तु की बिक्री विपरीत रूप से प्रभावित हो सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियो में विक्रय कर्मचारी ग्राहकों से लबे समय तक वार्तालाप करने पर भी उन्हें वस्तु बेचने में सफल नहीं हो पाता है।

3. ग्राहक तथा संभावित ग्राहक को ढूंढ़ने में कठिनाई : व्यक्तिश: बिक्री के अंतर्गत विक्रय कर्ता को व्यक्तिगत रूप से वस्तुओं के ग्राहकों तथा संभावित ग्राहकों से संपर्क स्थापित करना पड़ता है। इस संबंध में सर्वप्रथम ग्राहकों एवं संभावित ग्राहकों की एक सूची तैयार कर ली जाती है और उनके पते प्राप्त किए जाते है। अधिकांश दशाओं में न तो इस बात का सही निर्धारण किया जा सकता है कि वस्तु का ग्राहक एवं संभावित ग्राहक कौन है और न उनके सही पते ही प्राप्त हो पाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके पतों में परिवर्तन विक्रय कर्मचारी के कार्यों को और अधिक जटिल बना देता है क्योंकि इससे एक ओर तो लागत व्ययों में वृद्धि होती है और दूसरी ओर विक्रय कर्मचारी के लिए उनको ढूंढ़ना असुविधाजनक हो जाता है।

विक्रय कला का निष्पादन

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, व्यक्तिश: बिक्री मे दो महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित हैं : विक्रय कर्मचारी और विक्रय कला। विक्रय कर्मचारी द्वारा ही वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए विक्रय कला का इस्तेमाल व्यक्तिश: विक्रय कहलाता है। व्यक्तिश: विक्रय तथा विक्रय कला इन दोनों शब्दों को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप मे प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिश: विक्रय कला ही नही है बल्कि इसमें विक्रय कर्मचारी द्वारा अपनी व्यक्तिगत निपुणता एवं दक्षता के साथ साथ विक्रय कला का निष्पादन सम्मिलित है। संक्षेप में विक्रय कला का निष्पादन विक्रय कर्मचारी द्वारा किया जाता है। विक्रय कर्मचारी से हमारा अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसकी नियुक्ति वस्तुओं और सेवाओं के प्रचार द्वारा बिक्री आगे बढ़ाने के लिए की जाती है। विक्रय कर्मचारी कुछ स्थितियों में विक्रय एजेंट भी कहा जाता है क्योंकि उसका मुख्य कार्य वस्तुओं का विक्रय करने के

लिए ग्राहक ढूंढ़ना होता है और उसे सेवाओं के बदले जो प्रतिफल दिया जाता है वह कमीशन स्वरूप होता है। यहां हम अपने वर्णन में विक्रय कर्मचारी के अधिकार, कर्तव्य, उनकी प्रकृति तथा उसकी वैधानिक स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझ रहे हैं। क्योंकि इस संदर्भ में विक्रय कला का निष्पादन अधिक महत्वपूर्ण है जोकि विभिन्न प्रकार के विक्रय कर्मचारियों द्वारा निष्पादित किया जाता है। विक्रय कर्मचारी मुख्य रूप से दो प्रकार के हो सकते हैं :

1. भंडार विक्रय कर्मचारी या सहायक विक्रय कर्मचारी : इस प्रकार के विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति विक्रय भंडार या विक्रय केंद्र के काउंटर पर ही ग्राहकों को वस्तुएं बेचने के लिए की जाती है। इस प्रकार के विक्रय कर्मचारियों का मुख्य कार्य अपने नियोक्ता के आदेशानुसार उसके निर्देशन में माल बेचना है। इसीलिए इनको सहायक विक्रय कर्मचारी कहा जाता है। इस प्रकार के विक्रय कर्मचारियों की बिक्री को प्रोत्साहित करने में विशेष महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है, क्योंकि इन्हें पूर्ण रूप से नियोक्ता के नियंत्रण में कार्य करना होता है और ये अपनी विक्रय कला से संबंधित शक्तियों का पूर्ण प्रयोग नहीं कर पाते हैं।

2. प्रचारक अथवा रचनात्मक या क्षेत्र विक्रय कर्मचारी : व्यक्तिशः विक्रय में ये विक्रय कर्मचारी ही वास्तव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि इनका मुख्य कार्य वस्तु का विक्रय करना ही नहीं है बल्कि इनके द्वारा वस्तु की मांग उत्पन्न करके वस्तु का वास्तविक विक्रय किया जाता है। इनका क्षेत्र विक्रय कर्मचारी भी कहा जाता है क्योंकि ये विक्रय कर्मचारी विभिन्न क्षेत्रों में स्थित ग्राहकों से संपर्क स्थापित करके उन्हें वस्तुओं के बारे में अवगत कराते हैं और क्रय करने के लिए प्रेरित करते हैं। इनका कार्य भंडार विक्रय कर्मचारियों की तुलना में अधिक व्यापक एवं रचनात्मक है, क्योंकि उनके द्वारा निष्पादित कार्य विज्ञापन एवं वास्तविक बिक्री दोनों का मिश्रण होता है। वे वस्तु का प्रचार करके उसकी मांग उत्पन्न करते हैं अंत में वास्तविक बिक्री भी करते हैं।

विक्रय कर्मचारियों के उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त नियोक्ता के दृष्टिकोण से और विक्रय कर्मचारियों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्य की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए पुनः विक्रय कर्मचारियों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) उत्पादक द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी,
(ब) थोक व्यापारी द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी,
(स) फुटकर व्यापारी द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी,
(द) अदृश्यवान सेवाओं का विक्रय कर्मचारी (इंटेजिवल सेल्समैन),
(य) ख्याति निर्माणक विक्रय कर्मचारी,
(र) विक्रय यंत्रकार।

उत्पादक द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी : उत्पादक उत्पादित वस्तुओं को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए और उनकी बिक्री के आकार में वृद्धि करने के लिए विभिन्न प्रकार के विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। ये विक्रय कर्मचारी उत्पादक द्वारा सीमित वस्तुओं की ही बिक्री को प्रोत्साहित करते हैं। प्रायः ये वस्तुएं एक ही पंक्ति की होती हैं, इनका मुख्य कार्य उत्पादक तथा वितरण में संलग्न मध्यस्थों के बीच वस्तु को प्रचलित बनाने तथा उसकी बिक्री को संवर्धित करने के लिए संबंध स्थापित करना होता है। ये विक्रय कर्मचारी वितरण के मध्यस्थों से संबंध स्थापित करके उनसे वस्तुओं को क्रय करने का आदेश प्राप्त करते हैं। उत्पादक इन विक्रय कर्मचारियों को अलग अलग उद्देश्यों के लिए नियुक्त कर सकता है।

(i) मार्गदर्शक विक्रय कर्मचारी : नई वस्तु को लोकप्रिय बनाने एवं उसकी बिक्री

प्रोत्साहित करने के लिए उत्पादक द्वारा जो विक्रय कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं उन्हें मार्गदर्शक विक्रय कर्मचारी कहा जाता है। ये नई वस्तु की तमाम विशेषताओं, गुणों तथा उसके नए प्रयोगों के बारे में ग्राहक एवं संभावित ग्राहक को आवश्यक सूचना प्रदान करते है और उनसे वस्तु क्रय करने का आग्रह करते है। इनका कार्य मुख्य रूप से रचनात्मक प्रकृति का होता है क्योंकि ये वस्तु के लिए नए ग्राहकों के मध्य माग उत्पन्न करते हैं।

(ii) व्यापारिक विक्रय कर्मचारी : इन विक्रयकर्ताओं का कार्य वस्तु के विभिन्न व्यापारियों से संबंध स्थापित करके उन्हें वस्तु को क्रय करने के लिए प्रेरित करना है। ये इस कार्य के साथ ही वस्तु के व्यापारियों को विक्रय स्थान एवं विक्रय विधि के संबंध में भी आवश्यक सलाह देते है तथा व्यापारियों के विक्रय कर्मचारियो को विक्रय कार्य में दक्ष एवं निपुण बनाने में सहायक सिद्ध होते है। इनको नियुक्त करने का मुख्य उद्देश्य वस्तु का वर्तमान बाजार बनाए रखना तथा उसका विस्तार करना होता है।

(iii) विशिष्ट विक्रय कर्मचारी : इस प्रकार नियुक्त विक्रय कर्मचारी उत्पादित वस्तु की पंक्ति में से कुछ विशेष वस्तुओं के बारे मे प्रत्यक्ष रूप से ग्राहको को आवश्यक सूचना देते है और वस्तु बेचते है। ये विशिष्ट वस्तुएं सामान्य तौर से अधिक मूल्यवान होती हैं, और उनके प्रयोग के लिए ग्राहक को विशिष्ट ज्ञान होना चाहिए। ये वस्तुएं उपभोक्ता की वस्तुएं हो सकती हैं या उत्पादन कार्य में सहायक वस्तुएं भी हो सकती है।

थोक व्यापारी द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी : थोक व्यापारी वितरण के माध्यम में एक महत्वपूर्ण मध्यस्थ है जो उत्पादको से बड़ी मात्रा में वस्तुएं क्रय करके फुटकर व्यापारियों को या अंतिम उपभोक्ताओं को छोटी छोटी मात्रा में बेचता है। इनके द्वारा वस्तुओं के विक्रय को आगे गतिशील बनाने के लिए विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। ये विक्रय कर्मचारी मुख्य रूप से थोक व्यापारी द्वारा क्रय की गई एवं संग्रहीत वस्तुओं को फुटकर व्यापारी तथा अंतिम उपभोक्ताओं में बेचते है। इनका कार्य अलग अलग प्रवृत्ति का हो सकता है क्योंकि कुछ परिस्थितियों मे ये कर्मचारी सहायक विक्रय कर्मचारी के रूप में थोक व्यापारी के विक्रय केंद्र में ही कार्य करते हैं और कुछ दशाओं में फुटकर व्यापारियों से संपर्क स्थापित करके उनसे वस्तु क्रय करने का आदेश प्राप्त करते हैं।

फुटकर व्यापारी द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी : फुटकर व्यापारी वस्तुएं अंतिम उपभोक्ताओं को बेचता है। इस कार्य के लिए उसे भी विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है। छोटे पैमाने के फुटकर व्यापारी द्वारा नियुक्त विक्रय कर्मचारी फुटकर भंडार के काउंटर पर ही वस्तु बेचने का कार्य करते हैं। बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की स्थिति में ये विक्रय कर्मचारी रचनात्मक बिक्री तथा वास्तविक बिक्री दोनो कार्य करते हैं, क्योंकि इन भंडारों में स्थित प्रदर्शनगृह में वस्तुओं की विभिन्न प्रकार से सजावट करके विक्रय कर्मचारी विभिन्न ग्राहकों को इनकी विशेषताएं, गुण एवं प्रयोग विधि समझाते हैं, और उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करते हैं। इन विक्रय कर्मचारियों का विशेष रूप से व्यवहारकुशल होना आवश्यक है क्योंकि इन भंडारों के माध्यम से दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं विभिन्न प्रकार के ग्राहकों को बेची जाती हैं।

अदृश्यवान सेवाओं का विक्रय कर्मचारी : वस्तुओं के उत्पादक एवं व्यापारियो के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट संस्थाएं जैसे बैंकिंग संस्था, बीमा कंपनी तथा यातायात संस्था आदि अपनी सेवाओं का ग्राहकों में प्रचार करने के लिए एवं उन्हे इन सेवाओं का लाभ उठाने के लिए प्रेरित करने हेतु विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। जिस प्रकार एक सामान्य विक्रय कर्मचारी ग्राहकों को वस्तुएं क्रय करने के लिए प्रेरित करता है उसी

प्रकार ये कर्मचारी संस्था विशेष द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं का लाभ उठाने के लिए ग्राहकों को प्रेरित करते हैं। व्यवहार में इन्हें सामान्य विक्रय कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली ढंग से ग्राहकों से आग्रह करना पड़ता है क्योंकि विक्रय की जाने वाली सेवाएं अदृश्यवान होती हैं।

ख्याति निर्माणक विक्रय कर्मचारी : इस प्रकार के विक्रय कर्मचारियों का मुख्य एवं प्राथमिक कार्य संस्था की ख्याति को बढ़ाना है। इसके लिए वे संस्था से संबंधित समस्त पक्षकारों को प्रभावपूर्ण ढंग से संस्था के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान करते हैं। इस प्रकार के विक्रय कर्मचारियों को प्रायः फार्मेसी, दवाइयां उत्पदित करने वाले उत्पादकों द्वारा नियुक्त किया जाता है। ख्याति निर्माणक विक्रय कर्मचारियों का मुख्य उद्देश्य वस्तु की तात्कालिक बिक्री में वृद्धि करना ही नहीं बल्कि उत्पादित वस्तुओं को बाजार में तुलनात्मक रूप से अधिक लोकप्रिय बनाना है। ताकि अंतिम रूप से उनके उत्पादकों की ख्याति में वृद्धि हो सके।

विक्रय यंत्रकार : तकनीकी वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए उत्पादक बिक्री विभाग के अंतर्गत कुछ विशिष्ट विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति करता है ताकि वस्तु की बिक्री के संबंध में उनके विशिष्ट ज्ञान का पूर्ण लाभ उठाया जा सके, जैसे, कंप्यूटर, मशीनें, टेलीविजन तथा अन्य तकनीकी वस्तुएं। विक्रय यंत्रकार की नियुक्ति सामान्य विक्रय कर्मचारी की भांति वस्तुओं की वास्तविक बिक्री करने के लिए नहीं की जाती है बल्कि ये विक्रय यंत्रकार तकनीकी वस्तुओं की बिक्री में अपने विशिष्ट ज्ञान से सहायता पहुंचाते हैं।

विक्रय कर्मचारियों का चुनाव, प्रशिक्षण, पारिश्रमिक एवं उनका नियंत्रण

विक्रय कर्मचारियों का चुनाव : वस्तु की बिक्री समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का अंतिम परिणाम है। सफलतापूर्वक वस्तु का विक्रय इन व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति समझा जा सकता है। वस्तु की बिक्री के इस महत्वपूर्ण कार्य में अन्य व्यावसायिक क्रियाओं की भांति विभिन्न विक्रय कर्मचारी कार्यरत रहते हैं जिनका चुनाव, प्रशिक्षण तथा पारिश्रमिक व्यवसायों के लिए कई महत्वपूर्ण समस्याएं उत्पन्न करता है। इस संबंध में लिए गए निर्णय काफी महत्वपूर्ण होते है, क्योंकि विक्रय कर्मचारियों के ही माध्यम से व्यवसायी अपनी वस्तुओं को अंतिम ग्राहकों तक बेचता है। विक्रय कर्मचारियों का चुनाव वैज्ञानिक ढंग से चुनाव योजना के अंतर्गत किया जाना चाहिए, क्योंकि उचित चुनाव योजना के विकास के फलस्वरूप विक्रय कार्य के लिए वांछित एवं उपयुक्त व्यक्ति आकर्षित एवं नियुक्त किए जा सकते हैं। यदि विक्रय कर्मचारी विक्रय कला में निपुण एवं दक्ष नहीं है तो प्रतियोगी इसका पूरा लाभ उठाकर वस्तु बाजार के अपने अंश में वृद्धि कर सकता है। सुव्यवस्थित चुनाव योजना के अंतर्गत विक्रय कर्मचारियों का चुनाव करने से संबंधित प्रशिक्षण एवं नियंत्रण कार्यों में आसानी रहती है। इसी प्रकार यदि विक्रय कर्मचारियों का चुनाव उचित चुनाव योजना द्वारा किया गया है तो वे व्यवहार में अधिक कुशल एवं निपुण सिद्ध हो सकते हैं जिससे कुछ सीमा तक बिक्री लागत व्ययों में कमी की जा सकती है।

संक्षेप में बिक्री विभाग के अंतर्गत विक्रयकर्ताओं का चुनाव वैज्ञानिक ढंग से उचित चुनाव योजना के द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार के चुनाव में सामान्यतौर से निम्न रूपरेखाओं को ध्यान में रखा जाता है।

(i) विक्रय कर्मचारियों का चुनाव करने में उनकी संख्या तथा उपयुक्तता का प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी कार्यकुशलता और अंतिम रूप से वस्तु की विक्रय लागत पर पड़ता

है। इसीलिए प्रबंधक को सर्वप्रथम वस्तु के बाजार का विस्तार, विक्रय कार्य का आकार एवं विक्रय कार्य की प्रकृति को निर्धारित करना चाहिए ताकि बिक्री कार्य के क्षेत्र एवं प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए उपयुक्त योग्यता एवं ज्ञान वाले विक्रय कर्मचारियों की उचित संख्या में नियुक्ति की जा सके।

(ii) विक्रय कर्मचारियों की संख्या एवं उपयुक्तता का निर्धारण करने के पश्चात, उनकी नियुक्ति के लिए प्राप्त आवेदनपत्रों में से आवश्यकतानुसार आवेदकों को साक्षात्कार के लिए चुन लिया जाता है।

(iii) इस प्रकार चुने गए आवेदकों को साक्षात्कार के लिए बुलाकर उचित एवं उपयुक्त आवेदकों की नियुक्ति कर ली जाती है। इस कार्य के लिए संभव विद्यमान नए वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग किया जाना चाहिए और चुनाव में इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि चुने जाने वाले व्यक्तियों की योग्यता एवं अनुभव बिक्री कार्य की प्रकृति के लिए उपयुक्त है, चुने गए व्यक्ति विक्रय कला में दक्ष एवं निपुण हैं, और बिक्री कार्य के प्रति उनमें आवश्यक रुचि तथा रचनात्मक शक्तियां विद्यमान हैं।

विक्रय कर्मचारियों का प्रशिक्षण : विक्रय कार्य की प्रकृति एवं आकार को दृष्टि में रखकर उचित संख्या तथा उपयुक्त ज्ञान एवं योग्यता वाले विक्रय कर्मचारियों की वैज्ञानिक ढंग से नियुक्ति करने के पश्चात यह आवश्यक है कि उनको अनुकूल प्रशिक्षण देकर उनकी समस्त रचनात्मक शक्तियों का अधिकतम विकास किया जा सके, ताकि वे एक सफल विक्रय कर्मचारी के रूप में वस्तुओं की बिक्री बढ़ा सकें। चुने गए विक्रय कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना वास्तव में एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रशिक्षण द्वारा उन्हें नई विक्रय विधियों से अवगत कराया जाता है, उन्हें संस्था एवं संस्था के द्वारा उत्पादित वस्तुओं, संस्था की विक्रय नीतियों तथा वस्तु के बाजार में व्याप्त परिस्थितियों के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रदान की जाती हैं। विक्रय कर्मचारियों के प्रशिक्षण का कार्य विपणन प्रबंधक द्वारा, संस्था में स्थापित पृथक प्रशिक्षण विभाग द्वारा या संस्था द्वारा संस्था के बाहर से विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों को बुलाकर संचालित किया जा सकता है। प्रत्येक परिस्थिति में प्रशिक्षण कार्य सुचारु रूप से अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संचालित करने के फलस्वरूप प्रशिक्षित विक्रय कर्मचारियों की कार्य कुशलता में निश्चित रूप से वृद्धि होती है। प्रशिक्षण द्वारा एक ओर तो उन्हें वस्तु की बिक्री के संबंध में आवश्यक सारी सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं और दूसरी ओर विक्रय कला को निखारने के लिए संबंधित व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। प्रशिक्षण कार्य किस विधि से संचालित किया जाए यह अलग अलग परिस्थितियों पर निर्भर करता है, क्योंकि कंपनी के इतिहास का ज्ञान कराने के लिए तथा कंपनी के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्रदान करने के लिए प्रशिक्षणार्थ कंपनी के पुराने कर्मचारियों को आमंत्रित किया जाना उचित है और विक्रय कर्मचारियों को उनके कार्य क्षेत्र से संबंधित अतिरिक्त ज्ञान प्रदान करने के लिए बाहर से विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों को आमंत्रित किया जा सकता है।

विक्रय कर्मचारियों का पारिश्रमिक : विक्रय कर्मचारियों द्वारा संस्था के लिए जो सेवाएं प्रदान की जाती हैं और जो कार्य निष्पादित किए जाते हैं इसके प्रतिफल के रूप में वे संस्था से जो धनराशि प्राप्त करते हैं उसे उनकी सेवाओं के लिए पारिश्रमिक समझा जाता है। उनको दिया जाने वाला पारिश्रमिक मुख्य रूप से दो प्रकार का हो सकता है :

(i) मौद्रिक पारिश्रमिक : सामान्य तौर से विक्रय कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के बदले मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है। इसीलिए इसे मौद्रिक वेतन या पारिश्रमिक कहा जाता है। यह पारिश्रमिक विभिन्न प्रकार से दिया जाता है जिसमें उनको दिया जाने वाला प्रत्यक्ष वेतन, त्यौहार आदि का विशेष भत्ता, अवकाश के दिनों

का वेतन तथा उनके द्वारा यात्रा में व्यय धनराशि का भुगतान सम्मिलित है। इस वेतन के अतिरिक्त अधिक कुशलता से कार्य करने के लिए तथा उनका मनोबल ऊंचा बनाए रखने हेतु उन्हें उनके द्वारा की गई बिक्री का कुछ प्रतिशत कमीशन के रूप में दिया जाता है।

(ii) अनार्थिक रूप में दिया गया प्रतिफल : मौद्रिक पारिश्रमिक के अतिरिक्त विक्रय कर्मचारियों को अन्य रूप में भी प्रतिफल दिया जा सकता है। जैसे, विक्रय कार्य में उनके ज्ञान एवं अनुभव के अनुसार उनकी पदोन्नति, संस्था में उनके महत्वपूर्ण स्थान को ध्यान में रखते हुए उन्हें अन्य सुविधाएं प्रदान करना तथा उनके कल्याण के लिए विभिन्न परियोजनाओं को क्रियान्वित करना आदि।

विक्रय कर्मचारियों को पारिश्रमिक देने के लिए संस्था में विवेकपूर्ण, कुशल तथा प्रभावशाली विधि अपनाई जानी चाहिए, क्योंकि उनको दिया जाने वाला पारिश्रमिक उनकी कार्यक्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। उन्हें अनार्थिक रूप में दिया गया प्रतिफल उनकी क्षमताओं एवं कुशलता के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक है। अतः पारिश्रमिक के लिए कुशल एवं प्रभावशाली विधि की रचना करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

1. पारिश्रमिक विधि इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसके द्वारा कुशल एवं निपुण व्यक्तियों को विक्रय कला की ओर आकर्षित किया जा सके।

2. इस विधि के अंतर्गत विक्रय कर्मचारी के प्रयत्नों एवं उनको दिए जाने वाले प्रतिफल में प्रत्यक्ष संबंध होना चाहिए।

3. पारिश्रमिक विधि सरल एवं लोचपूर्ण होनी चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर विधि में अनुकूल परिवर्तन किया जा सके।

4. पारिश्रमिक विधि कम खर्चीली और विधि प्रबंधक तथा विक्रय कर्मचारी दोनों के लिए न्यायसंगत होनी चाहिए।

5. पारिश्रमिक विधि में विक्रय कर्मचारियों के लिए साहसवर्धक एवं प्रोत्साहनपूर्ण व्यवस्थाएं होनी चाहिए।

विक्रय कर्मचारियों को पारिश्रमिक या तो एक नियत समय समाप्त होने पर निश्चित धनराशि के रूप में दिया जा सकता है या उनके द्वारा की गई वस्तुओं की बिक्री के अनुसार कमीशन के रूप में। कुछ दशाओं में इन दोनों विधियों का संयोजन भी अपनाया जाता है।

विक्रय कर्मचारियों के कार्य का मूल्यांकन एवं नियंत्रण : विक्रयकर्ताओं द्वारा किया गया कार्य अधिकांश दशाओं में बिक्री प्रबंधक या विपणन प्रबंधक द्वारा नियंत्रित किया जाता है। विक्रय कर्मचारियों के कार्यों को नियंत्रित करने के लिए सर्वप्रथम प्रबंधक उनके द्वारा निष्पादित कार्यों का मूल्यांकन करता है। मूल्यांकन करने में उनको आवंटित कार्य तथा कार्य के वास्तविक निष्पादन के बीच तुलना करके प्रबंधक यह ज्ञात करता है कि किस विक्रय कर्मचारी द्वारा कार्य संतोषजनक रूप से नहीं किया गया है। विक्रय कर्मचारियों द्वारा निष्पादित कार्यों का मूल्यांकन करने पर उन तमाम कारणों का विश्लेषण किया जाता है जिनका उनकी कार्यकुशलता पर प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। अतः विक्रय कर्मचारियों की कार्यक्षमता को सुधारने के लिए एवं उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए तमाम अन्य आवश्यक व्यवस्थाएं की जाती हैं। जैसे, प्रशिक्षण व्यवस्था, कार्य करने की दशाओं में सुधार एवं मनोबल ऊंचा रखने के लिए आवश्यक प्रयत्न। विक्रय कर्मचारियों के कार्यों का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जा सकता है। मात्रा संबंधी विधि के द्वारा (क्वांटिटेटिव मेथड) तथा गुण संबंधी विधि (क्वालिटेटिव मेथड)।

बुनियादी रूप से विक्रय कर्मचारियों के कार्यों का मूल्यांकन मात्रा संबंधी विधि से किया जाता है। इसके अंतर्गत विक्रेता के प्रयत्नों की लागत तथा उन प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राप्त बिक्री का आकार, इन दोनों के बीच के संबंध का अध्ययन किया जाता है। पर व्यवहार में कुछ परिस्थितियों के अंतर्गत गुण संबंधी तत्व भी विक्रय कर्मचारियों के कार्य को प्रभावित करते हैं। अतः उनके कार्य के मूल्यांकन में इन तत्वों को ही, जैसे, विक्रय कर्मचारी के वस्तु, कंपनी एवं व्याप्त प्रतिस्पर्धा संबंधी ज्ञान, ग्राहकों के साथ संबंध तथा उसके व्यक्तित्व एवं प्रवृत्ति आदि को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। संक्षेप में, विक्रय कर्मचारियों के कार्यों का समय समय पर निरीक्षण किया जाना चाहिए और उस पर नियंत्रण रखना चाहिए। जहां तक इनके कार्यों के नियंत्रण का प्रश्न है, इस संबंध में प्रत्येक विक्रय कर्मचारी के लिए उसकी योग्यता, कार्य क्षमता एवं उसको आवंटित कार्य की प्रकृति को ध्यान में रखकर कुछ मापदंड पहले से ही निर्धारित कर लिए जाते हैं, और इसके पश्चात कार्य के वास्तविक निष्पादन को ज्ञात करके इन मापदंडों से उसकी तुलना की जाती है। यदि वास्तविक निष्पादन निर्धारित मापदंड से कम है तो ऐसी स्थिति में इसके संभव कारण ज्ञात किए जाते हैं और उनका विश्लेषण करके भविष्य में वास्तविक निष्पादन में आवश्यक सुधार लाने के लिए विभिन्न उपचार काम में लाए जाते हैं।

प्रभावशील बिक्री विधि के आवश्यक तत्व

किसी भी व्यावसायिक संस्था का भविष्य काफी हद तक संस्था द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के आकार पर तथा उसकी गति एवं दर पर निर्भर होता है, क्योंकि व्यवसायी की अन्य सारी क्रियाएं वस्तु की बिक्री का उचित आकार तथा उचित दर बनाए रखने में सहायक होती हैं। बिक्री का उचित आकार प्राप्त करने तथा बिक्री को बढ़ाने में विक्रय कर्मचारियों द्वारा निष्पादित कार्य सराहनीय है। इसके संबंध में विक्रय कला का इस्तेमाल कैसे किया जाएगा और उसके निष्पादन द्वारा वस्तुओं की बिक्री के लिए कौन कौन से सहायक कार्य किए जाएंगे, इसके लिए विपणन प्रबंधक को एक सुव्यवस्थित योजना बनानी आवश्यक है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल विक्रय कर्मचारियों की नियुक्ति करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण देना, विक्रय कला में निपुण बनाना, उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए उचित प्रतिफल देना, और उनके कार्यों को बिक्री सृजित योग्य बनाना भी आवश्यक है। इसके लिए विक्रय कर्मचारियों को विक्रय कला के मूल तत्वों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। विक्रय कर्मचारी को विक्रय सृजन विधि का विकास करने के लिए ग्राहक एवं संभावित ग्राहक के प्रति किए जाने वाले कार्यों का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए भी क्रेता के व्यवहार, प्रवृत्ति, आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के संबंध में विभिन्न सिद्धांतों के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और इसके साथ ही साथ विक्रय क्षेत्र में विक्रय कर्मचारी का पिछला व्यावहारिक ज्ञान भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस संदर्भ में राबर्टसन एवं चेज के द्वारा बताई गई रूपरेखाएं महत्वपूर्ण हैं :

(i) विक्रय कर्मचारी के शारीरिक, सामाजिक तथा व्यक्तित्व के अन्य गुण ग्राहकों के गुणों से जितने ही अधिक समान होंगे, उसके द्वारा ग्राहकों को उतनी ही अधिक बिक्री की जा सकेगी।

(ii) ग्राहक तथा संभावित ग्राहक विक्रय कर्मचारी को जितना ही अधिक विश्वसनीय समझेंगे, वस्तु की बिक्री की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

(iii) विक्रय कर्मचारी ग्राहक से वस्तु खरीदने के लिए जितनी ही आसानी से आग्रह कर सकेगा, विक्रय कर्मचारी को उस वस्तु को बेचने के अधिक अवसर प्राप्त होंगे।

(iv) विक्रय कर्मचारी ग्राहक को वस्तु के प्रति जितना ही अधिक अनुकूल बना सकेगा, उसको उतनी ही अधिक सफलता वस्तु बेचने में प्राप्त होगी।

(v) ग्राहक से संपर्क करने वाला दूसरा विक्रय कर्मचारी उससे संपर्क करने वाले पहले विक्रय कर्मचारी से अधिक लाभप्रद स्थिति में होगा।

संक्षेप में प्रभावशाली दूसरी विधि में निम्नलिखित तत्व विद्यमान होने चाहिए :

1. बिक्री से पहले आवश्यक तैयारियां

वस्तु तथा वस्तु के बाजार का पूर्ण ज्ञान : विक्रय कर्मचारी के लिए ग्राहक या संभावित ग्राहक से मिलने से पहले विभिन्न तत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, जैसे, प्रस्तावित वस्तु की प्रकृति, वस्तु के बाजार की प्रकृति एवं स्वरूप, वस्तु विक्रय करने की उपलब्ध विधियां आदि। विक्रय कर्मचारी इससे संबंधित जानकारी प्राप्त करने के लिए बिक्री विभाग में विद्यमान पिछले आंकड़ों की सहायता ले सकता है और उनको बाजार में व्याप्त परिस्थितियों के अनुकूल उपयोगी बना सकता है।

(ब) ग्राहकों एवं संभावित ग्राहकों के बारे में ज्ञान : उपर्युक्त विभिन्न तत्वों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात विक्रय कर्मचारी के लिए ग्राहकों एवं संभावित ग्राहकों के बारे में भी सूचना प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए वह बिक्री विभाग से उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर उनकी संख्या एवं भौगोलिक स्थिति ज्ञात कर सकता है। इसके अतिरिक्त उनके बारे में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना भी उसके कार्य की सफलता के लिए आवश्यक है जैसे—ग्राहकों के व्यवहार संबंधी ज्ञान, उनके व्यक्तित्व की विशेषताएं, उनकी क्रय प्रवृत्ति, उनकी आवश्यकताएं तथा प्राथमिकताएं आदि। विक्रय कर्मचारी की सफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर है कि उसने ग्राहकों को किस प्रकार समझा है।

(स) विक्रय कर्मचारी द्वारा प्रस्तावित वस्तु के बाजार, विक्रय विधियों तथा ग्राहकों के बारे में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात विक्रय कर्मचारी ग्राहकों एवं संभावित ग्राहकों के साथ व्यवहार, सूचनाओं की प्रस्तुति एवं आग्रह करने का तरीका आदि को निर्धारित करने की स्थिति में आ सकता है।

(द) विक्रय विधि का ज्ञान : विक्रय कर्मचारी को वास्तविक रूप से वस्तु की बिक्री के हेतु प्रस्तुतीकरण से पहले विक्रय विधि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि अलग अलग वस्तुओं के लिए अलग अलग परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की बिक्री विधियों का प्रयोग किया जाता है। ये विक्रय विधियां निम्न प्रकार की हो सकती हैं।

(i) आक्रामक विक्रय विधि,
(ii) संवर्धन विक्रय विधि,
(iii) सुझावात्मक विक्रय विधि,
(iv) विशिष्ट विक्रय विधि,
(v) व्यापक विक्रय विधि।

आक्रामक विक्रय विधि का प्रयोग सामान्य तौर से कटु प्रतिस्पर्धा की स्थिति में ग्राहकों के विरोध को तोड़कर तथा उनकी प्रतिक्रिया को अनुकूल बनाकर उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करने हेतु किया जाता है। इसके लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिए जाते हैं, जैसे वस्तु के मूल्य में कमी, किस्म में आवश्यक सुधार आदि, ताकि वे वास्तव में वस्तु को क्रय करने के लिए लालायित हो उठें।

नई वस्तु का बाजार में प्रवेश कराने के लिए तथा उसे लोकप्रिय बनाकर बाजार अंश प्राप्त करने के लिए विक्रय कर्मचारी संवर्धन विक्रय विधि को काम में लाता है। इस विधि के अंतर्गत वस्तु के संभावित ग्राहकों को वस्तु की विशेषताओं, उपयोगिता आदि के बारे

में आवश्यक जानकारी प्रदान की जाती है और ग्राहकों में वस्तु के मूल्यरहित नमूने वितरित किए जाते हैं ताकि वे उस नमूने का प्रयोग करके आवश्यकता पड़ने पर उस वस्तु का क्रय कर सकें।

इसी प्रकार सुझावात्मक विक्रय विधि का प्रयोग नई उपयोगी वस्तु की बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है। इस विधि के अंतर्गत विक्रय कर्मचारी ग्राहक से उसकी आवश्यकता में परिवर्तन के लिए उपयुक्त वस्तु को क्रय करने का सुझाव देकर आग्रह करता है।

विशिष्ट विक्रय विधि के तहत विक्रय कर्मचारी वस्तु का विक्रय विशिष्ट बाजार में ही करता है जहां वह वस्तु अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाई जा सके। इसके विपरीत व्यापक विक्रय विधि के तहत वस्तु का विक्रय कई बाजारों में विस्तृत रूप से किया जाता है और यह प्रयत्न जारी रखा जाता है कि वस्तुओं की बिक्री में अधिकतम वृद्धि की जा सके।

इन विक्रय विधियों के ज्ञान के साथ ही साथ विक्रय कर्मचारी को कंपनी की विक्रय नीति में संलग्न अन्य तत्वों का भी ज्ञान होना चाहिए, जैसे ग्राहकों को उधार बेचना, उनको प्रदान की जाने वाली व्यापारिक छूट तथा वस्तु की सुपुर्दगी की शर्तें आदि।

2. वस्तु को ग्राहक के समक्ष प्रस्तुत करना

विक्रय कर्मचारी उपर्युक्त सूचनाओं से अवगत हो जाने के बाद वस्तु बेचने के उद्देश्य से ग्राहक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। वस्तु की प्रस्तुति एवं आग्रह के दौरान उसका ग्राहक के प्रति क्या व्यवहार होगा, और वह ग्राहक को कैसे प्रभावित करेगा, इसका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(अ) ग्राहक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना : ग्राहक के सम्मुख वस्तु प्रस्तुत करने के लिए विक्रय कर्मचारी को सर्वप्रथम व्यस्त ग्राहक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना पड़ता है। इसके लिए वह ग्राहक से मिलते ही प्रभावशाली ढंग से अपना परिचय देते हुए उसे यह बताता है कि वह अमुक वस्तु का विक्रय कर रहा है। विक्रय कर्मचारी इस संबंध में ग्राहक की प्रकृति एवं व्यवहार को ध्यान में रखते हुए उत्साहपूर्वक विनम्र होकर आशापूर्ण ढंग से वस्तु के बारे में ग्राहक को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता है। आकर्षित करने की यह विधि अलग अलग स्थितियों में भिन्न हो सकती है। जैसे यदि विक्रय कर्मचारी नई वस्तु का प्रस्तुतीकरण कर रहा है तो उसे ग्राहक से अभिवादन के बाद ग्राहक को वस्तु प्रस्तुत करते हुए वस्तु के बारे में मुख्य विशेषताओं का ज्ञान देना चाहिए, और कुछ स्थितियों में विक्रय कर्मचारी ग्राहक को किसी परिचित व्यक्ति का हवाला देते हुए यह कह कर उसका ध्यान आकर्षित करता है कि उसे अमुक व्यक्ति ने आपके पास भेजा है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियों में वस्तु की कीमत में कमी का संदेश देते हुए वह ग्राहक का ध्यान आकर्षित करने में सफल हो जाता है।

ग्राहक का ध्यान अपनी ओर बनाए रखना और उसकी रुचि उत्पन्न करना : ग्राहक का ध्यान आकर्षित करने के पश्चात विक्रय कर्मचारी उसका ध्यान अपनी ओर बनाए रखने तथा वस्तु के प्रति ग्राहक की रुचि उत्पन्न करने का प्रयास करता है, इसके लिए वह वस्तु के प्रयोग की विधि, उसकी विशेषताएं तथा अन्य वस्तुओं से विषमता आदि का ग्राहक के सम्मुख वस्तु को रखकर वर्णन करता है। इसके साथ ही साथ वस्तु को क्रय करने के लिए ग्राहक को प्राप्त संभावित लाभों से अवगत कराता है। इस दौरान ग्राहक विक्रय कर्मचारी से वस्तु के बारे में विभिन्न प्रश्न भी पूछ सकता है, अतः उसे प्रश्नों का संतोषजनक ढंग से उत्तर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ग्राहक के साथ किए जाने

वाले वार्तालाप में विक्रय कर्मचारी को विवाद की स्थिति से दूर रहना चाहिए, क्योंकि उसका मुख्य कार्य किसी तरह से भी ग्राहक का विश्वास जीतकर उसे वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित करना है, और यदि ग्राहक संदेह की स्थिति में है तो उसे इस स्थिति से उभारना आवश्यक समझा जाता है। वार्तालाप के दौरान विक्रय कर्मचारी यह भी ज्ञात कर सकता है कि वास्तविक ग्राहक को किस प्रकार की वस्तु की आवश्यकता है और उसके द्वारा प्रस्तुत की गई वस्तु से किस सीमा तक उसकी आवश्यकता की पूर्ति कैसे की जा सकती है।

वस्तु क्रय करने की इच्छा उत्पन्न करना : ग्राहक की रुचि का सही अनुमान लगाकर विक्रय कर्मचारी उसे उसी प्रकार की वस्तु को प्रस्तुत करता है, और बार बार यह ध्यान दिलाता है कि उसके द्वारा पसंद की गई वस्तु उसकी आवश्यकता की पूर्ति कैसे करेगी, और उसके लिए वस्तु क्रय करना क्यों लाभप्रद है, ताकि ग्राहक की रुचि को क्रय करने की इच्छा में परिवर्तित किया जा सके, इस संबंध में विक्रय कर्मचारी उत्पादक का हवाला देते हुए वस्तु क्रय किए जाने में प्रदान की जाने वाली सेवाओं, वस्तु की उपयुक्तता और उपयोगिता के बारे में उसे पूर्ण विश्वास दिलाता है। इसके लिए विक्रय कर्मचारी सामान्य तौर से इस बात का आश्वासन देते हैं कि यदि वस्तु के उपयोग आदि में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो उसे उसके बदले दूसरी वस्तु सुपुर्द कर दी जाएगी।

वस्तु की वास्तविक बिक्री : ग्राहक को वस्तु के बारे में सारी आवश्यक जानकारी देने के पश्चात और वस्तु क्रय करने के लिए उसकी इच्छा उत्पन्न करने के बाद वस्तु की वास्तविक बिक्री से पहले विक्रय कर्मचारी को यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि क्रेता निर्णय के कितना समीप है। इसके लिए विक्रय कर्मचारी ग्राहक से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है, जैसे आप इस वस्तु की किस किस्म को और किस रंग की वस्तु को क्रय करना चाहते हैं। आपको यह वस्तु कब तक सुपुर्द कर दी जाए, अभी या कुछ समय बाद आदि, बिक्री के इस अंतिम चरण में विक्रय कर्मचारी को सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिए क्योंकि छोटी सी भूल से क्रेता वस्तु को क्रय करने का निर्णय तुरंत बदल सकता है।

क्रेता का निर्णय ज्ञात हो जाने के बाद वस्तु की बिक्री की सारी शर्तें निर्धारित कर ली जाती हैं और विक्रय कर्मचारी या तो वस्तु को उसी समय सुपुर्द करके मूल्य प्राप्त कर लेता है अथवा ग्राहक से क्रय आदेश प्राप्त करके उसे वस्तु की सुपुर्दगी, मूल्य का भुगतान एवं कीमत में प्रदान की जाने वाली छूट के बारे में सूचित कर देता है, और इस प्रकार विक्रय कर्मचारी वस्तु को बेचने में सफलता प्राप्त कर लेता है और प्रभावशाली बिक्री विधि पूर्ण हो जाती है।

सफल विक्रय कर्मचारी के आवश्यक गुण

इससे पहले अभी तक यह बताया जा चुका है कि वस्तु की बिक्री का व्यवसाय में क्या महत्व है और बिक्री को संवर्द्धित करने के लिए प्रयोग में लाई गई प्रभावशाली विक्रय विधि में कौन कौन से आवश्यक तत्व विद्यमान होने चाहिए, और विक्रय कर्मचारी को इस विधि के अंतर्गत विक्रय कला का कार्य कैसे निष्पादित करना चाहिए। अब इस संबंध में उन विभिन्न गुणों का वर्णन किया जा रहा है जोकि एक सफल विक्रय कर्मचारी के व्यक्तित्व में विद्यमान होने चाहिए, क्योंकि वस्तु के बारे में संभावित ग्राहकों को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके उनकी इच्छाओं को आवश्यकता में परिवर्तित करने का कार्य मूलरूप से एक कला है, जिसे विक्रय कला कहा गया है, इस विक्रय कला का सफलतापूर्वक निर्दिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विक्रय कर्मचारी का व्यक्तित्व भी क्रम

महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि विक्रय कर्मचारी द्वारा विभिन्न प्रकृति एवं स्वभाव के ग्राहकों के साथ वस्तु के बारे में वार्तालाप करके व्यवहार करना पड़ता है। इस कार्य में केवल विक्रय कला ही नहीं बल्कि विक्रय कर्मचारी के व्यक्तित्व में निम्न गुणों की विद्यमानता भी आवश्यक समझी जाती है। एक सफल विक्रय कर्मचारी के व्यक्तित्व के सारे गुणों को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (अ) शारीरिक गुण, (ब) मानसिक गुण, (स) व्यावसायिक गुण।

शारीरिक गुण : ग्राहक का ध्यान आकर्षित करने के लिए विक्रय कर्मचारी में विद्यमान शारीरिक गुणों का स्थान महत्वपूर्ण है क्योंकि विक्रय कर्मचारी को ग्राहक के सम्मुख कोई वस्तु या विचार प्रस्तुत करने से पहले उसे स्वयं अपने आपको प्रस्तुत करना पड़ता है और इस प्रस्तुति में प्रस्तुत करने का माध्यम या ढंग विषय सामग्री से अधिक महत्वपूर्ण होता है। विक्रय कर्मचारी के शारीरिक गुणों को निम्न तीन भागों में बांटा गया है: (अ) बाह्य शारीरिक बनावट, (ब) स्वास्थ्य, (स) कार्यशक्ति।

बाह्य शारीरिक बनावट में शरीर के विभिन्न अंगों की स्थिति, आकृति एवं बनावट सम्मिलित है, जिसका कि ग्राहक पर तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि यदि विक्रय कर्मचारी के शरीर की बनावट आकर्षक नहीं है तो वह ग्राहक का ध्यान आकर्षित करने में अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता है। व्यवहार में यह पाया गया है कि विक्रय कर्मचारी आकर्षक पहनावे का प्रयोग करके अपने को प्रसन्न मुद्रा मे ग्राहक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार स्वास्थ्य और कार्यशक्ति भी उसके शारीरिक गुणों को पूर्णतया आकर्षक बनाए रखने में सहायक हैं और ये गुण एक दूसरे के पूरक के रूप में व्यक्तित्व से जुड़े रहते हैं, क्योंकि विक्रय कर्मचारी को कार्यशक्ति का अधिकतम प्रयोग करने के लिए अनुकूल स्वास्थ्य होना आवश्यक है। स्वास्थ्य में किसी प्रकार की कमी उसके व्यवहार में उदासीनता, सुस्ती, चिड़चिड़ापन आदि अवगुणों को उत्पन्न कर सकती है। विक्रय कर्मचारी का कार्य वास्तव में एक जटिल कार्य है, क्योंकि उसे वस्तुओं के साथ ग्राहकों के घर तक पहुंचना पड़ता है और इसके लिए समय, प्रयत्न एवं व्यय की सीमाओं को भी ध्यान में रखा जाता है। इन स्थितियों में स्वास्थ्य में किसी प्रकार की दुर्बलता उसकी कार्यशक्ति को विपरीत रूप से प्रभावित करेगी और वह सफल विक्रय कर्मचारी की भांति कार्य नहीं कर पाएगा। इसीलिए केवल परिश्रम करने की इच्छा विद्यमान होना विक्रय कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि इसके साथ ही साथ अनुकूल स्वास्थ्य, आकर्षक शारीरिक बनावट एवं पर्याप्त कार्यशक्ति का अधिकतम संयोजन उसे अपने कार्य में सफलता के शिखर तक ले जा सकता है।

मानसिक गुण : विक्रय कला को सफलतापूर्वक निष्पादित करने के लिए विक्रय कर्मचारी में कुछ मानसिक गुणों की विद्यमानता भी आवश्यक है, क्योंकि विक्रय कर्मचारी को अपने कार्य का निष्पादन करने में शारीरिक परिश्रम के साथ ही साथ मानसिक परिश्रम भी करना पड़ता है। विक्रय कर्मचारी के कार्य की प्रकृति सामान्य कार्य की भांति नहीं होती है क्योंकि जहां उसे एक ओर मानसिक सतर्कता से कार्य करना, महत्वाकांक्षी होना, शीघ्र एवं उचित निर्णायक की तरह कार्य करना आदि आवश्यक है, वहां दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व में आत्मविश्वास, व्यवहार में विनम्रता, सहनशीलता, तीव्र बुद्धि, अच्छी स्मरण शक्ति एवं आशावादिता आदि गुणों की विद्यमानता भी आवश्यक है। व्यवहार में मानसिक एवं शारीरिक गुणों का संतुलित मिश्रण उसके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाता है, क्योंकि इन गुणों में से किसी भी गुण का अभाव विक्रय कार्य की सफलता में निश्चित रूप से बाधक सिद्ध होगा और इनका अनुकूलतम संयोजन उसे उन वस्तुओं को बेचने में भी

सफल बनाएगा जिनको कि ग्राहक अन्यथा क्रय नहीं करता। मानसिक गुणों का प्रभावशाली विक्रय विधि की विभिन्न अवस्थाओं में अपना अलग अलग महत्व है, जैसे मानसिक सतर्कता ग्राहक द्वारा पूछे गए प्रश्नों का सही और शीघ्र उत्तर देने के लिए आवश्यक है और आकांक्षावादी होना उसे उत्साह की ओर ले जाता है। और इसी प्रकार व्यवहार में विनम्रता, सहनशीलता आदि गुण उसे विक्रय कला में सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं।

व्यावसायिक गुण : विक्रय कला का प्रयोग करके एक सफल विक्रय कर्मचारी वस्तुओं को बेचने के लिए विभिन्न प्रकार के ग्राहकों के संपर्क में आता है। अतः उसके व्यक्तित्व में एक सफल व्यवसायी के गुणों के अतिरिक्त सामाजिक गुण भी विद्यमान होने चाहिए, क्योंकि व्यावसायिक क्रिया किसी भी स्थान अथवा देश में व्याप्त राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण में संचालित की जाती है। इसीलिए व्यवसाय में सामाजिक तत्व कम महत्वपूर्ण नहीं है। जहां तक विक्रय कर्मचारी के सामाजिक गुणों का प्रश्न है, इस संबंध में उसे व्यवहारकुशल, ईमानदार, सहयोगी, वाचाल शक्ति में कुशल एवं विनम्र स्वभाव का व्यक्ति होना चाहिए, क्योंकि इन गुणों के आधार पर वह ग्राहकों का विश्वास जीतकर उन्हें वस्तु क्रय करने के लिए आसानी से प्रेरित कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसके व्यवहार में परिवर्तनशीलता के गुण भी विद्यमान होने चाहिए, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में उसे विभिन्न प्रकृति के ग्राहकों से व्यवहार करना पड़ता है और उनके व्यवहार की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए उसे अपना व्यवहार भी परिस्थिति के अनुकूल बनाना आवश्यक है जिसे व्यवहार की कुशलता भी कहा जा सकता है।

इन गुणों के अतिरिक्त विक्रय कर्मचारी में विक्रय कला से संबंधित अन्य व्यावसायिक गुण भी विद्यमान होने चाहिए, क्योंकि कला से संबंधित ये व्यावसायिक गुण उसके उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हैं। उदाहरण के लिए विक्रय कला एक विशिष्ट कला है जिसके लिए विक्रय कर्मचारी को इस कला में पूर्ण रूप से निपुण, चतुर एवं दक्ष होना आवश्यक है जो उसके लिए व्यावसायिक गुण कहा जाएगा। कला में इस दक्षता एवं निपुणता को प्राप्त करने के लिए विक्रय कर्मचारी को इसके प्रति अभिरुचि रखना और निरंतर लगनशील और तन्मय होकर कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त विक्रय कला में निपुण एवं दक्ष होने के साथ ही साथ विक्रय कर्मचारी में इस कला के ही माध्यम से अपना भविष्य संवारने की इच्छा भी होनी चाहिए, क्योंकि भविष्य की इच्छा ही उसमें विक्रय कला से संबंधित रचनात्मक शक्तियों का पूर्ण विकास करने में सहायक सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त विक्रय कर्मचारी को अपने नियोक्ता के प्रति निष्ठापूर्ण होना चाहिए, विश्वास पात्र होना चाहिए तथा उसके द्वारा समय समय पर जो निर्देश, सुझाव आदि दिए जाते हैं उनका उसे पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए और साथ ही साथ अपनी कला को निष्पादित करने की विभिन्न वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विधियों से उसे भली भांति परिचित होना चाहिए।

18

उपज विनिमय विपणि

उपज विनिमय विपणि का विकास भी मानव सभ्यता के विकास की क्रमिक अवस्थाओं से जुड़ा है क्योंकि मानव सभ्यता की विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं में इस प्रकार की विपणि की किसी न किसी प्रकार की भूमिका रही है। हालांकि पहले इनका स्वरूप स्पष्ट नहीं था, फिर भी हाट, बाजार एवं मेलों के रूप में इसका प्रचलन था और इसका मूल उद्देश्य भी निश्चित समय एवं स्थान में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, विशेष रूप से ग्रामीणों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के क्रय-विक्रय को सहज बनाना था। इन्हीं हाट एवं बाजारों का सुव्यवस्थित एवं विकसित रूप आज हमारे सम्मुख वस्तु बाजार तथा उपज विनिमय विपणि के रूप में आया है। वस्तु बाजार एवं उपज विनिमय विपणि इन दोनों शब्दों का प्रयोग अधिकांशतः एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है, पर व्यवहार में इन दोनों में अंतर है जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

सामान्य तौर से उपज विनिमय विपणि का अर्थ उस स्थान से लगाया जाता है जहां वस्तुओं, विशेष रूप से कृषि उत्पादन की वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है, पर इससे उपज विनिमय विपणि का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट नहीं होती है। श्री जे० एफ० पायले के अनुसार, 'उपज विनिमय विपणि अथवा विनिमय विपणि एक ऐसी विशिष्ट विपणि है जो एक स्थान प्रदान करती है जहां उसके सदस्य निर्धारित नियमों के अंतर्गत वस्तुओं को खरीदते और बेचते हैं अथवा उनके संबंध में भावी व्यवहारों के लिए अनुबंध करते हैं।' काफी उपयुक्त एवं व्यापक होते हुए भी उपज विनिमय विपणि की इस परिभाषा से वस्तु बाजार एवं उपज विनिमय विपणि में अंतर स्पष्ट नहीं होता है।

इस प्रकार उपज विनिमय विपणि शेयर बाजार की भांति एक संगठित एवं सुव्यवस्थित विपणि है जिसकी क्रियाओं को पूर्वनिर्धारित नियमों तथा उपनियमों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, जो मूल रूप से वस्तुओं के क्रय-विक्रय में संलग्न रहते हुए भी वस्तु बाजार से भिन्न होते हैं।

इन सब विचारधाराओं को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपज विनिमय विपणि एक ऐसी संगठित एवं सुव्यवस्थित विपणि है जो वस्तु बाजार की एक किस्म है, जहां पूर्वनिर्धारित नियमों एवं उपनियमों के अंतर्गत कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं (कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चा माल) का उसके सदस्यों द्वारा क्रय एवं विक्रय, तत्काल सौदे (स्पाट ट्रान्जेक्सन) तथा भावी सौदों (फ्यूचर ट्रान्जेक्सन) के रूप में किया जाता है।

इस प्रकार उपज विनिमय विपणि में निम्न विशेषताएं हैं :

1. उपज विनिमय विपणि एक संगठित एवं सुव्यवस्थित विपणि है जिसमें वस्तुओं का क्रय-विक्रय पूर्वनिर्धारित नियमों तथा उपनियमों के अंतर्गत किया जाता है। इसके

अतिरिक्त इसके लेनदेन में सरकार द्वारा समय समय पर पारित विधेयकों, नियमों एवं व्यवस्थाओं का भी पालन किया जाता है।

2. उपज विनिमय विपणि के अंतर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं का (कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चा माल) क्रय-विक्रय किया जाता है जिनमें श्रेणी विभाजन एवं प्रमापीकरण के गुण विद्यमान हों। जिनका बाजार तुलनात्मक रूप से विस्तृत हो और जिन्हें आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया एवं ले जाया जा सके तथा जिनकी बिक्री नमूने द्वारा भी की जा सकती हो।

3. उपज विनिमय विपणि में वस्तुओं का क्रय-विक्रय उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो विपणि के सदस्य हों। इसके अतिरिक्त सदस्यों के द्वारा किए जाने वाले क्रय-विक्रय को सुगम बनाने के लिए वस्तुओं के मूल्य संबंधी सूचनाएं दैनिक समाचारपत्रों में एवं साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

4. उपज विनिमय विपणि भी शेयर बाजारों की भांति वस्तुओं के मूल्यों में वर्तमान परिवर्तनों को ही नहीं दर्शाती है बल्कि ये विपणि मूल्यों में भावी प्रवृत्तियों एवं संभावनाओं की भी सूचक है।

5. उपज विनिमय विपणि में वस्तुओं का क्रय-विक्रय दो प्रकार के सौदों के अंतर्गत किया जाता है: तात्कालिक सौदे एवं भावी सौदे।

उपज विनिमय विपणि में क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के प्रकार एवं गुण

उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है उनको निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

(i) कृषि पदार्थ : गेहूं, चावल, दाल, चाय, कपास, जूट आदि।
(ii) खनिज पदार्थ : सोना, चांदी, पीतल, तांबा आदि।
(iii) निर्मित पदार्थ : सूती वस्त्र, जूट का सामान, चमड़े का सामान आदि।

पर व्यवहार में उपज विनिमय विपणि में उपर्युक्त वस्तुओं में से केवल कृषि पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे माल का ही क्रय-विक्रय तथा लेनदेन किया जाता है। इन विपणियों में जिन वस्तुओं के संबंध में लेनदेन किए जाते हैं उनमें निम्न विशेषताएं होनी चाहिए:

श्रेणी विभाजन की सुविधा : उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं के लेनदेन किए जाते हैं उनमें श्रेणीकरण का गुण विद्यमान होना चाहिए, क्योंकि यदि वस्तुओं का श्रेणीकरण आसानी से हो तो इससे वस्तुओं के व्यवहार में सुविधा बनी रहती है और उनके मूल्य आदि को सही प्रकार से आंका जा सकता है।

एकरूपता : व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं में एकरूपता भी नितांत आवश्यक है क्योंकि यदि एक प्रकार या एक ही किस्म की वस्तुएं एक समान नहीं हैं तो इससे क्रेता एवं विक्रेता को व्यवहार में संदेह बना रहता है।

टिकाऊपन : उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं का लेनदेन किया जाता है वे टिकाऊ होनी चाहिए क्योंकि विपणि में क्रय-विक्रय के लेनदेन भावी सौदों के अंतर्गत भी किए जाते हैं।

स्थानांतरण का गुण : उपज विपणि में व्यवहार की जाने वाली वस्तुएं इस प्रकार की होनी चाहिए कि उन्हें आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया और ले जाया जा सके।

विस्तृत मांग : विपणि में जिन वस्तुओं का लेनदेन किया जाता है उनकी मांग व्यापक एवं विस्तृत होनी चाहिए ताकि उनके बारे में पर्याप्त सौदे किए जाने की गुंजाइश हो।

पर्याप्त पूर्ति : वस्तु बाज़ार के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की निरंतर एवं

पर्याप्त पूर्ति हो ताकि कभी भी आवश्यकता पड़ने पर वस्तु के क्रय-विक्रय का सौदा तय किया जा सके, अन्यथा पूर्ति की अपर्याप्तता वस्तु के बाजार को सीमित बना सकती है।

इसके अतिरिक्त वस्तु की पूर्ति स्वतंत्र होनी चाहिए और उन पर किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए, अन्यथा इससे बाजार सीमित हो सकता है।

नमूने द्वारा विक्रय के लिए उपयुक्त : उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं के संबंध में क्रय-विक्रय के लेनदेन किए जाते हैं वे वस्तुएं नमूने द्वारा विक्रय के उपयुक्त होनी चाहिए क्योंकि वस्तुओं में इस गुण से उनकी विपणनता में वृद्धि की जा सकती है और लेनदेन में सुविधा बनी रहती है। इस प्रकार की वस्तुओं का लेनदेन तय करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि क्रेता एवं विक्रेता एक ही स्थान पर उपस्थित हों। क्रेता को केवल उस वस्तु का नमूना भेज कर आसानी से क्रय-विक्रय का लेनदेन तय किया जा सकता है।

मूल्यों में उतार-चढ़ाव : वस्तु की प्रकृति इस प्रकार की होनी चाहिए कि उनके मूल्यों में परिवर्तन की संभावना हो क्योंकि उपज विनिमय विपणि में शेयर बाजार की भांति परिकल्पनात्मक सौदे भी किए जाते हैं और यह तभी संभव है जब वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होता रहता हो।

उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं का लेनदेन किया जाता है उनमें उपरोक्त समस्त गुण होने चाहिए क्योंकि इन गुणों से विपणि के लेनदेन में आसानी रहेगी।

वस्तु बाजार एवं उपज विनिमय विपणि में अंतर

उपज विनिमय विपणि की प्रकृति एवं कार्य व्यवस्था को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि साधारण वस्तु बाजार एवं उपज विपणि के अंतर को समझा जाए क्योंकि उपज विपणि वस्तु बाजार का ही एक प्रकार है फिर भी व्यवहार में इन दोनों में अंतर पाया जाता है।

साधारण वस्तु बाजार में सामान्य रूप से विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है, जैसे कृषि पदार्थ, खनिज पदार्थ, अर्धतैयार माल तथा तैयार माल। पर उपज विपणि में केवल कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चे माल का ही क्रय-विक्रय किया जाता है जिनमें ऊपर बताए गए गुण होने आवश्यक हैं।

उपज विनिमय विपणि मूल रूप से वस्तु बाजार का ही अंग है, इसीलिए इसका कार्यक्षेत्र साधारण वस्तु बाजार की तुलना में सीमित होता है।

वस्तुओं के संपूर्ण बाजार को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है : एक साधारण वस्तु बाजार जिसमें विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है और दूसरा विशिष्ट वस्तु बाजार जिसमें कुछ विशिष्ट वस्तुओं का ही क्रय-विक्रय किया जाता है। पर उपज विपणि में इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं पाया जाता है।

इसी प्रकार वस्तु बाजार का कार्य क्षेत्र उपज विपणि की तुलना में अधिक विस्तृत एवं व्यापक है अतः ये बाजार देश के विभिन्न भागों में स्थित होते हैं। जबकि उपज विपणि प्रायः उत्पादन केंद्रों के आस-पास तथा कृषि बस्तियों के समीप स्थित होते है क्योंकि इनमें मुख्य रूप से उद्योगों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल और कृषि पदार्थों के संबंध में ही क्रय-विक्रय के लेनदेन किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त उपज विनिमय विपणि का कार्य संचालन संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं तथा पूर्वनिर्धारित नियमों के द्वारा नियंत्रित होता है। इन विपणियों में विपणि का सदस्य ही वस्तुओं के क्रय-विक्रय का लेनदेन कर सकता है, जबकि साधारण वस्तु विपणि में इस प्रकार का कोई नियंत्रण नही होता है और सामान्य क्रेता एवं विक्रेता

भी यहां वस्तुओं के क्रय-विक्रय का लेनदेन कर सकता है।

उपज विनिमय विपणि एवं शेयर बाजार में अंतर

उपज विनिमय विपणि भी शेयर बाजार की भांति वस्तुओं का एक सुव्यवस्थित एवं संगठित बाजार है, फिर भी इन दोनों में कुछ तत्वों के आधार पर भेद किया जा सकता है। उपज विनिमय विपणि में मुख्य रूप से कृषि पदार्थों एवं औद्योगिक कच्चे माल का क्रय-विक्रय किया जाता है जबकि शेयर बाजार संस्थाओं द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों का बाजार है और इस बाजार में इन संस्थाओं के अंशों तथा ऋणपत्रों से संबंधित लेनदेन किए जाते हैं।

हालांकि इन दोनों प्रकार के बाजारों में वस्तुओं एवं प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय भावी सौदों एवं तात्कालिक सौदों के अंतर्गत किया जाता है, हानि को कम करने के लिए सुरक्षात्मक सौदे भी किए जाते हैं, पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि उपज विनिमय विपणि में भावी सौदों की अपेक्षा तात्कालिक सौदे अधिक किए जाते हैं, जबकि शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के भावी सौदे अधिक होते हैं। इसी प्रकार उपज विनिमय विपणि में सुरक्षात्मक सौदे शेयर बाजार की तुलना में अधिक होते हैं।

सौदों की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि उपज विनिमय विपणि में किए गए सौदों में जोखिम की मात्रा शेयर बाजार की अपेक्षा कम होती है क्योंकि शेयर बाजार में भावी सौदे अधिक किए जाते हैं जो जोखिमपूर्ण होते हैं और हानि को कम करने या इसकी पूर्ति करने के लिए सुरक्षात्मक सौदे कम किए जाते हैं।

व्यवहार में इन दोनों बाजारों की स्थिति में भी अंतर पाया जाता है। उपज विनिमय विपणि उत्पादन केंद्रों के आसपास तथा कृषि क्षेत्रों के समीप स्थित होते हैं, जबकि शेयर बाजार देश के उन बड़े बड़े शहरों में स्थित हैं जहां प्रतिभूतियों के लेनदेन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं का लेनदेन किया जाता है उनमें कुछ गुणों का मौजूद होना आवश्यक है पर इनका विपणि में सूचियन कराने की आवश्यकता नहीं होती है जबकि शेयर बाजार केवल उन्हीं प्रतिभूतियों का सुव्यवस्थित एवं संगठित बाजार है जिनका शेयर बाजार में सूचियन कराया गया है।

जहां तक इन दोनों बाजारों में सदस्यता का प्रश्न है, उपज विनिमय विपणि की सदस्यता शेयर बाजार की तुलना में आसान एवं सुविधाजनक है, क्योंकि कोई भी इच्छुक व्यापारी या उत्पादक उपज विपणि का सदस्य बन सकता है जबकि शेयर बाजार की सदस्यता प्राप्त करने के लिए संबंधित शर्तों का पालन किया जाना आवश्यक है और सदस्यता प्राप्त करने वाले व्यक्ति की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए तथा उसे शेयर बाजार के व्यवहारों का ज्ञान होना चाहिए।

उपज विनिमय विपणि में वस्तुओं को संग्रहीत करने की आवश्यकता भी पड़ती है क्योंकि कृषि पदार्थ तथा औद्योगिक कच्चा माल संग्रहण व्यवस्था के अभाव में नष्ट हो सकता है, जबकि शेयर बाजार में प्रतिभूतियों के लिए संग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

इसके अतिरिक्त, उपज विनिमय विपणि तथा शेयर बाजार दोनों की समस्त क्रियाओं में संबंधित अधिनियम का नियंत्रण रहता है और इन दोनों बाजारों द्वारा पूर्व-निर्धारित नियमों के अनुसार लेनदेन क्रियान्वित किए जाते हैं। पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि उपजविनिमय विपणि में इन नियमों के पालन में शिथिलता होती है जबकि शेयर बाजार में संबंधित नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है। उपज

विनिमय विपणि में यह नियंत्रण नाम मात्र का ही रहता है।

उपज विनिमय विपणि के कार्य

वैसे तो उपज विनिमय विपणि वस्तुओं का थोक बाजार अथवा फुटकर बाजार नहीं है फिर भी व्यवहार में उपज विपणि थोक व्यापार के सौदों के लिए अधिक उपयुक्त है। उपज विपणि में वास्तविक क्रेता एवं विक्रेता तथा इसके अतिरिक्त विभिन्न परिकल्पक भी कार्य करते हैं। उपज विनिमय विपणि द्वारा निम्न आर्थिक कार्य किए जाते हैं :

1. वस्तुओं के व्यापार के लिए सुव्यवस्थित बाजार उपलब्ध करना : उपज विनिमय विपणि का मुख्य कार्य कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चे माल के क्रय-विक्रय के लिए संगठित एवं सुव्यवस्थित बाजार उपलब्ध करना है। इसके अतिरिक्त उपज विनिमय विपणि सदस्यों द्वारा किए जाने वाले व्यवहारों में सुगमता एवं आसानी बनाए रखने के लिए आवश्यक नियमावली उपलब्ध करता है तथा वस्तुओं के श्रेणीकरण के लिए सुविधा प्रदान करता है।

2. सूचनाओं का संकलन एवं प्रसारण : उपज विनिमय विपणि शेयर बाजारों की भांति वस्तुओं के बारे में तत्संबंधी सूचनाएं एकत्र करके सदस्यों में उनका प्रसारण भी करता है। इससे सदस्यों को वस्तुओं के लेनदेन में आसानी रहती है। इस कार्य के लिए विपणि में पृथक अनुसंधान विभाग संलग्न रहता है जो वस्तुओं के बारे में आवश्यक तथ्य एवं आंकड़े प्राप्त करके समाचारपत्रों तथा साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित करता है। इन्हीं सूचनाओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करके क्रेता तथा विक्रेता वस्तुओं के क्रय-विक्रय से संबंधित लेनदेन तय करते हैं।

3. नियंत्रित क्रय-विक्रय : उपज विपणि एक सुव्यवस्थित बाजार है जिसमें वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए कुछ आवश्यक नियम तथा उपनियम पहले ही निर्धारित कर लिए जाते हैं। व्यवहार करते समय सदस्यों द्वारा इन नियमों का पालन किया जाता है। इन नियमों में मुख्य रूप से व्यवहार करने की पद्धति, सदस्यों के कर्तव्य, सुपुर्दगी की विधि आदि से संबंधित व्यवस्थाएं की रहती हैं।

4. वस्तुओं का श्रेणीयन : उपज विनिमय विपणि में जिन वस्तुओं का व्यवहार किया जाता है उनमें श्रेणीकरण का गुण होना आवश्यक है। इसीलिए इन विपणियों में वस्तुओं को उनके गुण एवं किस्म के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर दिया जाता है ताकि उनके मूल्य का निर्धारण करने और उनके संबंध में लेनदेन करने में सुविधा बनी रहे।

5. पंच निर्णय की व्यवस्था : अधिक संख्या में लेनदेन के फलस्वरूप सदस्यों में परस्पर मतभेद तथा विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। इन मतभेदों एवं झगड़ों को निपटाने के लिए उपज विपणि में पंचनिर्णय समिति की स्थापना की जाती है ताकि इन विवादों को समिति को सुपुर्द करके इनका फैसला किया जा सके और सदस्यों को न्यायालय की शरण न लेनी पड़े।

6. मूल्यों में स्थायित्व : उपज विनिमय विपणि के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में कुछ सीमा तक स्थिरता बनाई रखी जा सकती है क्योंकि उपज विपणि में कार्यरत परिकल्पक यातायात एवं संचार के आधुनिक प्रभावपूर्ण तरीकों को अपना कर, वस्तुओं का अंतर्राष्ट्रीय बाजार मूल्य तक ज्ञात कर लेते हैं। वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने वाले तत्वों से संबंधित परिकल्पकों की परस्पर प्रतिक्रिया से मूल्य में स्थायित्व लाया जा सकता है।

7. बीमा कार्य : उपज विपणि में चूंकि सुरक्षात्मक सौदे काफी बड़ी संख्या में किए जाते हैं, अतः इस प्रकार के सौदों से व्यापारी तथा परिकल्पक सौदों में मूल्य परिवर्तन के कारण

परिकल्पनात्मक अनुबंधों का आधार वस्तुओं के बाजार मूल्य में परिवर्तन है। यदि सदस्य यह अनुमान लगाता है कि वस्तु विशेष के मूल्य में निश्चित अवधि के अंतर्गत गिरावट आएगी तो वह उस वस्तु को क्रय करने का सौदा तय कर लेता है और इसके विपरीत यदि सदस्य को मूल्यों में वृद्धि की आशंका है तो वह वस्तुओं को बेचने का अनुबंध तय कर लेता है। इस प्रकार यदि मूल्यों में परिवर्तन उनकी आशा के अनुकूल होते हैं तो वे मूल्यों में अंतर का लाभ उठा लेते हैं और यदि मूल्यों में परिवर्तन उनकी आशा के विपरीत होते हैं तो उन्हें मूल्यों में अंतर की हानि वहन करनी पड़ती है। इस प्रकार के व्यवहारों में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. अनुबंध करते समय वस्तु की सुपुर्दगी तथा मूल्य का भुगतान तय करके उसे भविष्य की निश्चित तिथि के लिए स्थगित कर दिया जाता है।

2. निष्पादन की तिथि पर मूल्य का भुगतान एवं वस्तुओं की वास्तविक सुपुर्दगी देने के बजाय मूल्य में परिवर्तन का आदान-प्रदान किया जाता है।

3. यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो परिकल्पनात्मक सौदों में वस्तुओं के क्रय-विक्रय के बजाय उनके मूल्यों से संबंधित जोखिम का क्रय-विक्रय किया जाता है।

4. परिकल्पनात्मक सौदे उन्हीं वस्तुओं के संबंध में किए जाते हैं जिनके मूल्यों में भविष्य में परिवर्तन की संभावना होती है क्योंकि मूल्यों में परिवर्तन का लाभ उठाने के लिए ही ये सौदे किए जाते हैं। (परिकल्पना की परिभाषा, आर्थिक महत्व आदि का विस्तार में वर्णन 'शेयर बाजार' के अध्याय में किया जा चुका है।) परिकल्पनात्मक अनुबंध 4 प्रकार के हो सकते हैं :

(अ) वायदा सौदे (फार्वर्ड डील) : यह परिकल्पना का एक सामान्य व्यवहार है। इसके अंतर्गत वस्तु के मूल्य में वृद्धि के अनुमान के आधार पर वस्तुएं क्रय करने का सौदा तय कर लिया जाता है और ज्यों ही वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है त्यों ही उसे बेचने का सौदा करके लाभ प्राप्त कर लिया जाता है। या फिर इसके विपरीत मूल्य में गिरावट की आशा से वर्तमान मूल्य में वस्तु क्रय करके भविष्य में बेचने का सौदा तय कर लिया जाता है। अधिकांश परिकल्पनात्मक व्यवहार इसी स्वरूप के अंतर्गत किए जाते हैं।

(ब) विकल्प सौदे : इस प्रकार के सौदों में वस्तुओं का क्रय करने या उनका विक्रय करने अथवा क्रय-विक्रय दोनों अधिकारों को खरीदने का अनुबंध किया जाता है। इन सौदों की प्रकृति ठीक उसी प्रकार की होती है जो विकल्प सौदे शेयर बाजार में किए जाते हैं।

(स) अंतरबाजारीय व्यवहार : इस प्रकार के व्यवहार भी शेयर बाजार तथा उपज विनिमय विपणि दोनों में काफी प्रचलित हैं। शेयर बाजार में इसे 'आरबिट्रेज' और उपज विपणि में 'स्टेडलिंग' कहा जाता है। इस प्रकार के व्यवहारों में वस्तु के दो या दो से अधिक उपज विपणियों में मूल्यों के अंतर का लाभ उठाया जाता है। इस प्रकार के सौदों को दो या दो से अधिक उपज विपणियों में वस्तुओं का व्यापार भी कहा जाता है। क्योंकि इस प्रकार के सौदों में जिस उपज विपणि में वस्तु का मूल्य कम होता है वहां वस्तु को क्रय करने का अनुबंध कर लिया जाता है और जिस उपज विपणि में वस्तु का मूल्य अधिक होता है वहां उस वस्तु का विक्रय अनुबंध करके लाभ कमा लिया जाता है। इन व्यवहारों का मुख्य लाभ यह है कि इनसे विभिन्न उपज विपणियों में वस्तु की मांग व पूर्ति को संतुलित करके उनके मूल्यों में समानता लाई जा सकती है और वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने वाले स्थानीय तत्वों को प्रभावहीन बना दिया जाता है।

(द) बुदला सौदे : इस प्रकार के सौदों में सौदे के निपटारे की तिथि पर (यदि मूल्यों में परिवर्तन आशा के अनुकूल न हों) संबंधित पक्षकार को कुछ शुल्क का भुगतान

करके सौदा अगली तिथि के लिए स्थगित कर दिया जाता है। उपज विनिमय विपणि में किए जाने वाले बुदला सौदों की प्रकृति ठीक शेयर बाजार में किए जाने वाले बुदला सौदों की तरह है।

सुरक्षात्मक सौदे (हैजिंग) : उपज विनिमय विपणि में परिकल्पकों द्वारा वस्तुओं के जो भावी व्यवहार किए जाते हैं वे पूर्णतया वस्तु के मूल्य में भावी परिवर्तनों पर आधारित होते हैं। व्यवहारों के निपटारे की तिथि पर मूल्यों में अंतर अनुमान के अनुकूल अथवा उसके विपरीत हो सकते हैं। अनुमान के विपरीत मूल्यों में भावी परिवर्तनों के जोखिम को कम करने के लिए जो सौदे किए जाते हैं उन्हें सुरक्षात्मक सौदा कहा जाता है। क्योंकि इन सौदों के परिणामस्वरूप मूल्यों में परिवर्तन का अनुमान गलत सिद्ध होने पर भी परिकल्पक सुरक्षित रहता है और उसे कोई विशेष हानि नहीं होती है।

दूसरे शब्दों में, सुरक्षात्मक सौदा एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा परिकल्पक या व्यापारी वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन से होने वाली हानि के जोखिम को कम कर सकता है या समाप्त कर सकता है। जैसे, यदि कोई व्यापारी या परिकल्पक वस्तु को क्रय करने का सौदा इस आधार पर करता है कि भविष्य में वस्तु के मूल्य में गिरावट संभव है। सौदे के निपटारे की तिथि पर यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु का मूल्य गिरे ही। यदि उस तिथि पर वस्तु का मूल्य आशा के विरुद्ध बढ़ जाता है तो इससे व्यापारी या परिकल्पक को हानि होगी। इस हानि के बचने के लिए वह पहले ही क्रय के सौदे के साथ उतनी ही मात्रा के उसी तिथि के लिए विक्रय का अनुबंध भी कर लेता है। इसे सुरक्षात्मक सौदा कहा जाएगा। उदाहरण—मान लीजिए राम बंबई उपज विनिमय विपणि का एक परिकल्पक है। उसने 1 जनवरी 1975 को श्याम, दूसरे परिकल्पक, से 100 क्विंटल गेहूं 150 रु० प्रति क्विंटल की दर से 1 फरवरी को क्रय करने का सौदा तय किया है। सौदे के निपटारे की तिथि 1 फरवरी को यदि गेहूं का भाव 150 रु० प्रति क्विंटल रहता है तो उसे न कोई लाभ होगा और न हानि। यदि गेहूं का भाव उस तिथि पर 140 रु० प्रति क्विंटल हो जाता है तो उसे 10 रु० प्रति क्विंटल $(100\times10=1000)$ 1000 रु० का लाभ होगा और यदि 160 रु० प्रति क्विंटल हो जाता है तो उसे 1000 रु० की हानि होगी। इसीलिए हानि के इस जोखिम से बचने के लिए 1 जनवरी को ही वह मनोहर से 100 क्विंटल गेहूं बेचने का सौदा कर ले तो इसे सुरक्षात्मक सौदा कहा जाएगा।

सुरक्षात्मक सौदों की उपयोगिता निम्नलिखित हैं :

1. सुरक्षात्मक सौदों के माध्यम से वस्तुओं का व्यापारी मूल्यों में परिवर्तन से संभावित हानि के जोखिम को पेशेवर परिकल्पकों को हस्तांतरित कर देता है।

2. सुरक्षात्मक सौदों से वस्तुओं के मूल्यों में समानता एवं स्थिरता लाई जा सकती है क्योंकि इस प्रकार के सौदों में क्रय सौदे के साथ उतनी ही मात्रा का विक्रय का सौदा तय किया जाता है या इसके विपरीत। इससे बाजार में वस्तु की मांग एवं पूर्ति में संतुलन उत्पन्न हो जाता है।

3. व्यापारी या उत्पादक जो वस्तुओं या कच्चे माल को क्रय करके एक लंबी अवधि तक संग्रहीत करना चाहता है, सुरक्षात्मक सौदों के द्वारा इस दौर में मूल्यों में परिवर्तन से उत्पन्न हानि को कम कर सकता है।

4. इसी प्रकार उत्पादक, जो मांग का पूर्वानुमान लगाकर वस्तुओं का उत्पादन करता है, सुरक्षात्मक सौदे तय करके उत्पादित वस्तु वितरण की श्रृंखला में अन्य मध्यस्थ व्यापारी को बेचने तक बिना किसी हिचकिचाहट के अपने पास संग्रहीत कर सकता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षात्मक सौदों से उत्पादन कार्य में निरंतरता भी लाई

जा सकती है क्योंकि उत्पादक तैयार माल के साथ साथ भविष्य की आवश्यकताओं का कच्चा माल भी संग्रहीत कर सकता है।

5. व्यापारी को उन वस्तुओं में, जिनके लिए सुरक्षात्मक सौदा किया गया है, बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से आवश्यक वित्त भी आसानी से प्राप्त हो सकता है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सुरक्षात्मक सौदा परिकल्पकों के लिए तो उपयुक्त एवं लाभदायक है ही, उत्पादक एवं व्यापारी भी सुरक्षात्मक सौदे तय करके वस्तुओं के मूल्यों में संभावित परिवर्तन के जोखिम को कम कर सकते हैं अथवा समाप्त कर सकते हैं। पर व्यवहार में इस प्रकार के सौदों में कुछ दोष भी हैं जो निम्न हैं :

1. सुरक्षात्मक सौदों के द्वारा जहां एक ओर वस्तुओं के वास्तविक क्रेता एवं विक्रेता को मूल्यों में परिवर्तन की संभावित हानि से सुरक्षा प्राप्त होती है वहीं दूसरी ओर सुरक्षात्मक सौदों से व्यापारी को भी परिकल्पनात्मक सौदे करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि कुछ दशाओं में वह उन वस्तुओं को बेचने का सौदा भी तय कर लेता है जो उसके पास वास्तव में विद्यमान नहीं होती हैं।

2. सुरक्षात्मक सौदों की ओट में परिकल्पक अपने आर्थिक साधनों के बाहर भी परिकल्पनात्मक सौदे करने लगता है, क्योंकि सौदों के लिए सुरक्षात्मक सौदे तय करके वह अपने को सुरक्षित समझने लगता है। यदि मूल्यों में परिवर्तन उसकी आशा के विपरीत हो तो उसे भारी क्षति वहन करनी पड़ती है और यदि वह दिवालिया घोषित हो जाए तो अन्य पक्षकारों को भी पूर्ण भुगतान प्राप्त नहीं हो सकता है।

3. सुरक्षात्मक सौदों के द्वारा वस्तु के उत्पादन लागत व्ययों में परिवर्तन के कारण वस्तु के मूल्य में परिवर्तन से होने वाली हानि को नहीं रोका जा सकता है।

4. सुरक्षात्मक सौदे केवल उसी स्थिति में मूल्यों में परिवर्तन से संभावित हानि को कम करने में सहायक सिद्ध होते हैं यदि वस्तु के मूल्य में परिवर्तन नकद बाजार तथा भावी बाजार में एक दूसरे के अनुकूल हो। यदि इन दोनों बाजारों में मूल्यों में परिवर्तन एक दूसरे के विपरीत हैं तो सुरक्षात्मक सौदों की उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

सुरक्षात्मक सौदों में ये दोष गंभीर प्रकृति के प्रतीत नहीं होते हैं क्योंकि इनमें अधिकांश दोष तभी उत्पन्न होते हैं यदि परिकल्पक या व्यापारी इनकी ओट में अपने आर्थिक साधनों के बाहर परिकल्पनात्मक सौदे करने लगते हैं। अतः इसे सुरक्षात्मक सौदों का दोष समझने के बजाय व्यापारी या परिकल्पक द्वारा इन सौदों का दुरुपयोग समझा जाना चाहिए।

उपज विनिमय विपणि में व्यवहार करने की विधि

उपज विनिमय विपणि में समस्त सौदे मुख्य रूप से दो स्वरूपों के अंतर्गत किए जाते हैं, तात्कालिक सौदे एवं भावी सौदे। इन दोनों स्वरूपों में क्रय-विक्रय का लेनदेन तय करने के लिए प्रयुक्त विधि भिन्न भिन्न होती है।

तात्कालिक सौदों के अंतर्गत किए जाने वाले लेनदेनों की विधि

वस्तुओं को क्रय या विक्रय करने के इस प्रकार के व्यवहार वास्तविक व्यापारी, उत्पादक या उपभोक्ता द्वारा किए जाते हैं। इन व्यवहारों में माल की सुपुर्दगी एवं मूल्य का भुगतान तुरंत कर दिया जाता है और इन व्यवहारों को तय करने के लिए निम्न दो विधियां प्रचलित हैं :

(अ) बोली विधि : इस विधि के अंतर्गत वस्तु के क्रेता एवं विक्रेता एक मेज के चारों

और खड़े हो जाते हैं और वस्तुएं क्रय करने के लिए बोली बोलते हैं। ज्योंही वस्तु का क्रय मूल्य विक्रय मूल्य के बराबर आ जाता है, उस वस्तु का सौदा तय कर लिया जाता है। यह विधि व्यवहार में 'नीलाम द्वारा विक्रय' विधि से मिलती-जुलती है।

(ब) **गुप्त विधि :** इस विधि के द्वारा सौदा तय करने के लिए एक रूमाल के नीचे हाथ रखकर अंगुलियों के संकेत से मूल्य एव मात्रा निर्धारित कर ली जाती है। इस विधि को गुप्त विधि इसलिए कहा जाता है कि सौदा किस मूल्य में तय किया गया यह क्रेता और विक्रेता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को ज्ञान नहीं होना है।

भावी सौदों में व्यवहार की विधि

उपज विनिमय विपणि में भावी सौदों की संख्या तात्कालिक सौदों से कई गुना अधिक होती है और ये सौदे उपज विपणि की परिधि के अंतर्गत केवल उसके सदस्यों द्वारा किए जाते है। इन सौदो के संबंध में उपज विनिमय विपणि के तत्संबंधी नियमों एवं उपनियमों का पूर्णतया पालन किया जाता है। ये सौदे अधिकांश दशाओं में परिकल्पकों द्वारा किए जाते हैं क्योकि इनको भविष्य में एक निश्चित अवधि में निष्पादित किया जाना होता है और तब तक मूल्यों में परिवर्तन हो सकते हैं। ये सौदे जोबर तथा ब्रोकर द्वारा किए जाते हैं। जोबर वह सदस्य है जो अपने नाम पर क्रय-विक्रय के सौदे करता है और ब्रोकर या दलाल उन व्यक्तियों की ओर से क्रय-विक्रय के सौदे तय करता है जो उपज विनिमय विपणि के सदस्य नहीं होते है।

भावी सौदों को तय करने के लिए उपज विनिमय विपणि के आंगन में एक घेरा सा होता है और विपणि के सदस्य उस घेरे के इर्द-गिर्द बैठते हैं। उस घेरे के अंदर वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए अधिकृत बोली बोलने वाले सदस्य रहते हैं। एक निर्धारित समय पर घंटी बजती है। उसके पश्चात विपणि पर व्यापार प्रारंभ हो जाता है। वर्ष के प्रत्येक माह के लिए इच्छुक विक्रेता विक्रय मूल्य की बोली लगाता है और इच्छुक क्रेता अपने क्रय मूल्य की बोली लगाता है। इस प्रकार क्रेता एवं विक्रेता के बीच वर्ष के अलग अलग माह के लिए सौदा तय कर लिया जाता है। सौदा तय हो जाने के बाद उसे उपज विपणि के अधिकृत कर्मचारियों द्वारा नोट कर लिया जाता है। भावी सौदा सुपुर्दगी के माह के नाम से पुकारा जाता है और ऐसा सौदा मार्च, मई आदि माहों के लिए किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक उपज विपणि में सौदे के लिए निर्धारित माह समान हों। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपज विपणि में व्यवहार की जाने वाली वस्तुएं भी अलग अलग होती हैं, जैसे बंबई में कपास, कलकत्ता में जूट, अहमदाबाद का कपड़ा, हापुड़ में गेहूं एवं खुर्जा में घी आदि। इन बाजारों में व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं की इकाइयां भी भिन्न भिन्न होती हैं।

उपज विनिमय विपणि का नियमन एवं नियंत्रण

उपज विनिमय विपणियों की क्रियाओं का नियमन एवं नियंत्रण विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध काल से प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व इनको नियंत्रित करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कोई व्यापक अधिनियम नहीं बनाया गया था। द्वितीय महायुद्ध काल में वस्तुओं की कृत्रिम कमी को दूर करने के लिए सरकार ने 'भारत सुरक्षा कानून' के अंतर्गत कुछ विशेष वस्तुओं के संबंध में किए जाने वाले सौदों पर प्रतिबंध लगाया, जिनमें तिलहन, वनस्पति घी, तेल, चीनी, मसाले, सूती कपड़ा, रुई, कपास आदि वस्तुएं सम्मिलित थीं। इसके पश्चात 1946 में आवश्यकीय पूर्ति (अस्थाई) अधिनियम (एसेंशियल सप्लाई (टेंपरेरी ऐक्ट) को लागू करके भावी सौदों पर प्रतिबंध जारी रखा गया।

आजादी के बाद 1952 में सरकार ने भावी सौदों पर प्रतिबंध लगाने के लिए एक व्यापक अधिनियम की रचना की जिसे अग्रिम अनुबंध (नियमन) अधिनियम कहा जाता है। इसे 1953 से लागू किया गया। इस अधिनियम को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए 1957 तथा 1960 में इसकी व्यवस्थाओं में आवश्यक संशोधन किए गए। अग्रिम अनुबंध (नियमन) अधिनियम के मुख्य तीन उद्देश्य थे :

1. उपज विनिमय विपणि में किए जाने वाले वैकल्पिक सौदों पर प्रतिबंध लगाना।

2. केंद्रीय सरकार को वस्तुओं के अग्रिम सौदों को नियंत्रित करने के लिए अधिकार प्रदान करना।

3. सामान्यत: यह अधिनियम सुरक्षात्मक एवं भावी सौदों पर लागू होता है और आवश्यकता पड़ने पर सूचना देकर अहस्तांतरणीय विशिष्ट सुपुर्दगी के अनुबंधों में भी प्रतिबंध लगा सकता है।

अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएं इस प्रकार हैं :

(अ) उपज विनिमय विपणि की मान्यता : इस अधिनियम में उपज विनिमय विपणियों को मान्यता प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। यह मान्यता केंद्रीय सरकार द्वारा केवल उन उपज विपणियों को दी जाती है जिनके लिए 'अग्रिम विपणि आयोग' अपनी सिफारिश प्रस्तुत करता है। इस अधिनियम के अनुसार वस्तुओं के संबंध में भावी सौदे मान्यता प्राप्त उपज विनिमय विपणि में ही किए जा सकते हैं।

(ब) केंद्रीय सरकार का नियंत्रण : इस अधिनियम के अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी उपज विनिमय विपणि की 'प्रशासन समिति' की संरचना में अधिकतम चार सदस्यों को मनोनीत कर सकती है तथा इसके अतिरिक्त वाह्य हितों को प्रबंध एवं संचालन में प्रतिनिधित्व देने के लिए उनके अधिकतम तीन सदस्यों को उपज विपणि की प्रशासन समिति में सम्मिलित करवा सकती है। केंद्रीय सरकार को उपज विनिमय विपणि की क्रियाओं पर नियंत्रण रखने के लिए निम्न अधिकार भी प्राप्त हैं :

(i) उपज विनिमय विपणि के नियम तथा उपनियमों में परिवर्तन करना,
(ii) आवश्यकता पड़ने पर मान्यता वापस ले लेना,
(iii) प्रशासन समिति की अवहेलना करना,
(iv) उपज विपणि की कार्य व्यवस्था को एक सप्ताह तक स्थगित करना।

(स) उपनियम बनाकर नियमन : मान्यताप्राप्त उपज विनिमय विपणि को जो उपनियम बनाने होते हैं उनमें निम्न व्यवस्थाएं की जानी आवश्यक हैं :

(i) समाशोधन गृह की स्थापना,
(ii) वस्तुओं के बाजार भावों का निर्धारण,
(iii) भावी सौदों के लिए निश्चित मार्जिन की व्यवस्था करना,
(iv) अनुबंध श्रेणियों एवं निविदा श्रेणियों का निर्धारण,
(v) दलाली की दर का निर्धारण,
(vi) सदस्यों द्वारा उपनियमों का उल्लंघन करने की दशा में दंड की व्यवस्था।

(द) नियमन एवं नियंत्रण की अन्य व्यवस्थाएं : उपर्युक्त तीन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अधिनियम में उपज विपणि को नियंत्रित एवं नियमित रखने के लिए निम्न महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं भी सम्मिलित की गई हैं :

(i) उपज विपणि में विकल्प सौदों को अवैधानिक घोषित कर दिया गया है।

(ii) अधिनियम की व्यवस्थाओं में संशोधन करके 1960 से निश्चित घंटों के बाद कर्व ट्रेडिंग अवैधानिक घोषित कर दी गई है।

(iii) डब्बा सौदे तथा अन्य अवांछनीय सौदों को भी गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है।

(iv) उपज विनिमय विपणि के उपनियमों का उल्लंघन करने पर अनेक प्रकार के दंडों की व्यवस्था की गई है।

(v) केंद्रीय सरकार उपज विपणि को सूचना देकर हस्तानतरणीय विशिष्ट सुपुर्दगी वाले अनुबंधों को भी नियमित कर सकती है।

अग्रिम विपणि आयोग

अग्रिम अनुबंध (नियमन) अधिनियम की व्यवस्थाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करने के उद्देश्य को लेकर इसी अधिनियम की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत सितंबर 1953 में अग्रिम विपणि आयोग की स्थापना की गई है। इस आयोग द्वारा मुख्य रूप से निम्न कार्य किए जाते हैं :

1. उपज विनिमय विपणियों को सरकार द्वारा जो मान्यता दी जाती है उसके संबंध में सरकार को सहायता पहुंचाने के लिए सलाह देना तथा उपज विपणि के लिए सिफारिश प्रस्तुत करना।

2. वायदा बाजार (फ्यूचर मार्किट) की गतिविधियों पर नजर रखना और समय समय पर उनका निरीक्षण करना।

3. विभिन्न वायदा बाजारों की प्रवृत्ति में परिवर्तन की सरकार को सूचना देना और उनको अनुकूल बनाए रखने के लिए सुझाव देना।

4. अग्रिम विपणि आयोग अपने कार्य क्षेत्र के अंतर्गत विपणियों में व्यावसायिक स्थिति के बारे में आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करके बाह्य व्यक्तियों के हित में प्रकाशित करने का कार्य भी करता है।

5. इस आयोग के द्वारा मान्यताप्राप्त उपज विनिमय विपणियों के लेखों का निरीक्षण भी किया जाता है और उनकी कार्य व्यवस्था के बारे में सूचनाएं एकत्रित करके सरकार को प्रस्तुत करता है ताकि सरकार उनकी कार्य व्यवस्था में सुधार लाने के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सके।

आयोग का कार्य क्षेत्र एवं अधिकार : हालांकि अग्रिम विपणि आयोग की स्थापना देश के विभिन्न उपज विनिमय विपणियों की कार्य व्यवस्था एवं कार्यकलापों को नियंत्रित करने एवं उनमे एकरूपता लाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, फिर भी व्यवहार में यह उद्देश्य पूरा नहीं किया जा सका क्योंकि कुछ समय तक इस आयोग ने केवल सरकार तथा उपज विपणियों के बीच कड़ी का कार्य किया है। इससे इसके कार्यों की प्रभावशीलता विपरीत रूप से प्रभावित हुई। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस आयोग को स्थापित करने के उद्देश्य तो काफी व्यापक थे पर इसे इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक अधिकार नहीं दिए गए। इसकी महत्वपूर्ण भूमिका को दृष्टि में रखते हुए अब सरकार ने इसे आवश्यक अधिकार प्रदान किए ताकि उपज विपणियों का प्रभावपूर्ण ढंग से नियमन एवं नियंत्रण किया जा सके। सरकार द्वारा सौंपे गए अधिकारों के अतिरिक्त इस आयोग को कोड आफ सिविल प्रोसीजर ऐक्ट 1908 के अंतर्गत वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो एक अदालत को प्राप्त हैं। इसी प्रकार भारतीय दंडविधान के अन्तर्गत भी इस आयोग को कुछ आवश्यक अधिकार दिए गए है।

आयोग को केंद्रीय सरकार द्वारा सौंपे गए अधिकार निम्न हैं :

(i) मान्यताप्राप्त उपज विपणियों की सदस्य संख्या निर्धारित करना,

(ii) विपणियों के नियमों तथा उपनियमों में आवश्यक परिवर्तन करना,

(iii) विपणियों की क्रियाओं के बारे में स्पष्टीकरण मांगना,
(iv) किसी भी उपज विपणि के व्यापार को कुछ समय तक स्थगित करना,
(v) विपणि एवं इसके सदस्यों की जांच हेतु आवश्यक कार्यवाही करना,
(vi) किसी भी मान्यताप्राप्त विपणि अथवा उसके सदस्यों के लिए लेखों के हिसाब (रिटर्न्स) की व्यवस्था करना,
(vii) विपणियों द्वारा बनाए जाने वाले उपनियमों के लिए स्वीकृति प्रदान करना।

अग्रिम विपणि आयोग की क्रियाओं का निरूपण करने के लिए 1966 में सरकार ने श्री एम० एल० दंतवाला की अध्यक्षता में निरूपण समिति की स्थापना की ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि यह आयोग अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में कहां तक सफल हुआ है और इसकी सफलता में कौन कौन सी बाधाएं पड़ी हैं। इस समिति ने 1966 में ही अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें आयोग के स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्य करने का सुझाव दिया गया। इसके अतिरिक्त इस समिति ने कुछ अन्य महत्वपूर्ण सुझाव भी दिए, जैसे उपज विपणि के व्यापारिक परिधि के बाहर गैरसदस्यों के साथ किए गए अनुबंध गैर सदस्यों की इच्छा पर व्यर्थ घोषित किए जा सकें, ताकि लेनदेन विपणि की परिधि तक ही सीमित रहे।

वास्तव में देखा जाए तो पर्याप्त अधिकार सौंपने के बावजूद भी अग्रिम विपणि आयोग अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि जब तक इस आयोग को इस क्षेत्र में एक स्वतंत्र इकाई का अस्तित्व प्रदान नहीं किया जाता तब तक न तो आयोग अपनी जिम्मेदारी पूर्णतया निभा सकता है और न ही यह अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। इस आयोग को उपज विपणियों की समस्त क्रियाओं एवं कार्यकलापों को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए और सरकार का हस्तक्षेप केवल विद्यमान अधिनियम में आवश्यक व्यवस्थाएं करने तक सीमित रखा जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त उपज विनिमय विपणि में अग्रिम व्यवहारों को नियमित एवं नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त व्यवस्थाएं नहीं हैं। जब तक अग्रिम व्यवहारों को पूर्णतया नियंत्रित नहीं किया जाएगा तब तक परिकल्पकों की अवांछनीय क्रियाओं को पूर्णतया नहीं रोका जा सकता है और उपज विपणियों की उपयोगिता में वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसके साथ ही तात्कालिक मूल्यों एवं भावी मूल्यों में भी इस आयोग का नियंत्रण बना रहना चाहिए। इन दोनों मूल्यों में असंतुलन एवं विषमता के कारण अस्वस्थ परिकल्पनात्मक सौदों को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है तथा उपज विनिमय विपणि का स्वच्छ एवं अनुकूल वातावरण दूषित हो सकता है।

19

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

विपणन संबंधी अध्याय में एक देश के अंतर्गत विभिन्न स्थानों के बीच अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच वस्तुओं के क्रय-विक्रय से संबंधित विधि, व्यवहार, भुगतान की विधि एवं इस प्रकार के व्यापार के संगठन एवं विकास का वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों में वस्तुओं के आयात-निर्यात व्यापार के संबंध में भी इसका अध्ययन किया जाना आवश्यक है, क्योंकि देश की सीमाओं के बाहर वस्तुओं का क्रय-विक्रय, जिसे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है, दिन प्रतिदिन महत्वपूर्ण होता जा रहा है। इस प्रकार के व्यापार का देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस अध्याय में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रचलित विधियों, संगठन, विकास, समस्याओं तथा इसके वित्तीय प्रबंध का वर्णन किया जा रहा है।

आधुनिक व्यावसायिक युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय केवल एक देश तक सीमित नहीं है। देश की सीमाओं के बाहर भी वस्तुओं का आयात-निर्यात व्यवसाय के अस्तित्व को स्थाई बनाने के लिए आवश्यक समझा जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के फलस्वरूप ही आज हम अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं दूर स्थित देशों से आयात करके उनका उपभोग कर रहे हैं और इसी प्रकार देश में वस्तुओं के अतिरिक्त उत्पादन को विदेशों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित कर पा रहे हैं। हालांकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास भी मानव सभ्यता के विकास से संबंधित है परंतु अभी तक संचार एवं यातायात के प्रभावपूर्ण साधनों के विकास के अभाव में यह अधिक विकसित नहीं हो पाया है। केवल औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप एवं संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप के विकास के बाद ही इसके विकास की गति तेज हो पाई है।

साधारण बोलचाल में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अभिप्राय किसी देश की सीमाओं के बाहर वस्तुओं के क्रय-विक्रय से लगाया जाता है। परंतु इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह प्रतीत होता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार शब्द काफी व्यापक है और इसमें केवल देश की सीमाओं के बाहर वस्तुओं का क्रय-विक्रय ही नहीं बल्कि वे तमाम विधि-व्यवहार तथा प्रक्रियाएं भी सम्मिलित हैं जिनके फलस्वरूप दो देशों के बीच वस्तुओं का क्रय-विक्रय संघटित होता है, जैसे विक्रय मूल्य की भुगतान विधि, वस्तुओं के आयात व निर्यात की विधि, संबंधित सरकारी नीतियां आदि।

संक्षेप में, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यापार की एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा एक देश में उत्पादित वस्तुएं दूसरे देश में स्थित ग्राहकों को उपभोग के लिए उपलब्ध कराई जाती हैं। इस विधि के सुचारु रूप से संचालन के लिए देश को वस्तु के वितरण में प्रचलित विधियों तथा प्रक्रियाओं को दूसरे देश में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना आवश्यक है। तभी दो देशों के बीच वस्तुओं

का क्रय-विक्रय सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में निम्न तीन महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित हैं :

1. आयात व्यापार : यदि कोई राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की समस्त वस्तुएं उत्पादित नहीं कर सकता है अथवा राष्ट्र के पास उन वस्तुओं को उत्पादित करने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध न हों तो अपनी घरेलू आवश्यकता को पूरा करने के लिए विदेशों से वस्तुओं का जो क्रय किया जाता है उसे आयात व्यापार की संज्ञा दी गई है। जैसे भारतवर्ष द्वारा विदेशों से पूंजीगत सामान, खनिज तेल, पेट्रोलियम तथा रासायनिक पदार्थ आदि का आयात।

2. निर्यात व्यापार : यदि कोई राष्ट्र अपनी घरेलू उपभोग की आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुएं उत्पादित करता है और इस अतिरिक्त उत्पादन का अन्य देशों को विक्रय करता है तो इस विक्रय को निर्यात व्यापार कहा जाता है। जैसे भारतवर्ष द्वारा चाय, काफी, सूती कपड़े, चमड़े का सामान, काजू आदि विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को निर्यात किए जाते हैं।

3. पुन: निर्यात : यदि कोई देश दूसरे देशों से वस्तुओं का आयात इस उद्देश्य से करता है कि वह उन वस्तुओं को अन्य देशों को निर्यात करेगा तो इसे पुन: निर्यात कहा जाता है। पुन: निर्यात व्यापार उन्हीं देशों द्वारा किया जा सकता है जिनकी भौगोलिक स्थिति इसके अनुकूल हो अर्थात पुन: निर्यात करने वाला राष्ट्र दो राष्ट्रों के बीच स्थित हो और समुद्री मार्गों से जुड़ा हुआ हो। जैसे बंगलादेश, नेपाल आदि देशों को निर्यात करने के उद्देश्य से भारत द्वारा अन्य राष्ट्रों से खाद्य सामग्री का आयात तथा इसी प्रकार बंगलादेश से विश्व के अन्य राष्ट्रों को निर्यात करने के उद्देश्य से मछलियों का आयात आदि।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में सहायक तत्व

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में निम्न महत्वपूर्ण तत्वों का योगदान रहा है :

1. मानव की आवश्यकताओं में वृद्धि : मानव की आवश्यकताओं में निरंतर वृद्धि एवं उनको संतुष्ट करने के लिए किए गए प्रयत्न अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में सहायक सिद्ध हुए हैं।

2. यातायात एवं संचार व्यवस्थाओं का विकास : औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यातायात तथा संचार के प्रभावपूर्ण साधनों के विकास ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को सहज एवं सुगम बनाने में मदद की है। यही कारण है कि आज विश्व के तमाम राष्ट्र पारस्परिक रूप से काफी कम समय में ही वस्तुओं के आयात-निर्यात का लेनदेन तय करके वस्तुओं को भौतिक रूप से एक देश से दूसरे तक पहुंचाने में सफल हैं।

3. तुलनात्मक लागत का सिद्धांत : अर्थशास्त्र के क्षेत्र में श्रम विभाजन के सिद्धांत के उद्गम ने भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया है। यहां तक कि श्रम विभाजन के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार समझा जाता है। सामान्य तौर से श्रम विभाजन के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य को छोटे छोटे हिस्सों में विभाजित करके प्रत्येक हिस्सों से अलग अलग व्यक्तियों में उनकी योग्यता, कुशलता, अनुभव एवं रुचि के अनुसार बांट दिया जाता है ताकि संपूर्ण कार्य को अधिकतम कुशलता से निष्पादित किया जा सके। ठीक इसी प्रकार यह सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में सहायक सिद्ध हुआ है। विश्व के प्रत्येक देश में उत्पादन के प्राकृतिक एवं भौतिक साधनों, भौगोलिक स्थिति, तकनीकी एवं विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति, मानव सभ्यता का विकास तथा उद्योगीकरण की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है अत: देश में उपलब्ध साधनों का व्याप्त परिस्थितियों में अधिकतम उपयोग प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं का

उत्पादन करता है जिनके लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं, जिसे कि वह अन्य देशों की तुलना में कम से कम लागत पर, अधिक से अधिक मात्रा में उत्पादित कर सकता है। इससे उत्पादन कार्य में विशिष्टीकरण का लाभ एवं बड़े पैमाने के उत्पादन की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकती हैं और प्रत्येक देश अपने अतिरिक्त उत्पादन को विश्व के अन्य राष्ट्रों को निर्यात करके उनसे अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं उचित मूल्य पर आयात कर सकता है। इसको तुलनात्मक लागत का सिद्धांत भी कहा जाता है। इसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। मान लीजिए A B C देश क्रमश: A_1 B_1 C_1 वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और प्रति इकाई उत्पादन लागत निम्न है :

	वस्तुएं	A_1	B_1	C_1
	A	Rs. 20	Rs. 50	Rs. 100
देश	B	Rs. 50	Rs. 100	Rs. 50
	C	Rs. 80	Rs. 10	Rs. 200

उत्पादन व्यय की उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि A देश A_1 वस्तु को B तथा C देशों की अपेक्षा कम लागत पर उत्पादित कर सकता है और इसी प्रकार B देश C_1 वस्तु को सबसे न्यूनतम लागत पर उत्पादित कर सकता है और C देश B_1 वस्तु को तुलनात्मक रूप से सबसे कम लागत पर उत्पादित कर रहा है। ऐसी स्थिति में, A देश को केवल A_1 वस्तु का ही उत्पादन करना चाहिए और अपनी आवश्यकता की B_1 वस्तु C देश से तथा C_1 वस्तु B देश से आयात करनी चाहिए। और इसी प्रकार B देश को C_1 वस्तु का ही उत्पादन करके A_1 तथा B_1 वस्तुएं A तथा C देशों से आयात करनी चाहिए और C देश को B_1 वस्तु का उत्पादन करके A_1 तथा C_1 वस्तुएं A तथा B देशों से क्रय करनी चाहिए। दूसरी ओर A देश A_1 वस्तु का B तथा C को निर्यात करेगा और उनसे B_1 तथा C_1 वस्तुएं आयात करेगा। B देश C_1 का निर्यात करके B_1 तथा A_1 का आयात करेगा और C देश B_1 का निर्यात करके A और B देशों से A_1 तथा C_1 वस्तुओं का आयात करेगा। इस प्रकार तीनों देश तुलनात्मक लागत सिद्धांत से लाभान्वित हो सकते हैं। इस पारस्परिक लाभ की स्थिति से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाइयां

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संगठन भी दिन प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। एक देश से दूसरे देश को वस्तुओं का आयात एवं निर्यात करने में विभिन्न कठिनाइयां संलग्न हैं जिनसे न केवल अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संगठन जटिल हुआ है बल्कि, इसके विकास में भी बाधाएं पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ अन्य समस्याएं भी उत्पन्न होती हैं जो इस स्वरूप की प्रकृति में निहित हैं। इनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

व्यापार के स्थान में दूरी : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का क्रय-विक्रय विभिन्न देशों के बीच होता है जो कि एक दूसरे से काफी दूरी पर स्थित होते हैं। इससे वस्तुओं के क्रेता एवं विक्रेता के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं हो पाता है और न विक्रेता अथवा निर्यातक अपने अंतर्राष्ट्रीय ग्राहकों की रुचि, आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं से ही निरंतर अवगत रह पाता है। इसके अतिरिक्त विक्रेता या निर्यातक को अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति एवं ख्याति का सही हवाला प्राप्त नहीं हो पाता है। संक्षेप में क्रेता और विक्रेता के बीच स्थान की दूरी की कठिनाई के कारण उनमें आपस में पारस्परिक हितों के लिए

आवश्यक सूचनाओं का आदान-प्रदान नहीं हो पाता है जिससे वस्तुओं के आयात एवं निर्यात में कठिनाई उत्पन्न होती है।

भुगतान की कठिनाई : सामान्य व्यापार की भांति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भी निर्यातक से वस्तुओं के स्वामित्व का हस्तांतरण आयातकर्ता को मूल्य के बदले किया जाता है। निर्यातक वस्तुओं का मूल्य अपने देश में प्रचलित मुद्रा में प्राप्त करना चाहता है परंतु व्यवहार में, विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न मुद्राएं प्रचलित होने के कारण भुगतान में भी कठिनाई उत्पन्न होती है। हालांकि भुगतान की कठिनाई को दूर करने के लिए विभिन्न देशों में प्रचलित मुद्राओं के लिए विनिमय दर निर्धारित की जाती है और इसी दर के अनुसार भुगतान किया जाता है फिर भी विदेशी मुद्रा से संबंधित सरकारी नियंत्रण, भुगतान में अनावश्यक देरी तथा संबंधित जोखिम निर्यातक के लिए बाधक सिद्ध होता है।

व्यापारिक विधि को दूसरे देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल बनाना : विश्व के विभिन्न देशों में व्यवसाय का संपूर्ण वातावरण भिन्न भिन्न होता है और निर्यातक को अपनी वस्तुएं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बेचने के लिए व्यापारिक विधियों को उन देशों के व्यावसायिक वातावरण के अनुकूल बनाना पड़ता है जो कुछ दशाओं में एक जटिल कार्य है। व्यवसाय के रीति-रिवाजों एवं परंपराओं की भिन्नता अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में एक प्रमुख समस्या है क्योंकि आधुनिक व्यावसायिक क्रिया का उद्देश्य 'ग्राहक उत्पन्न करना है'। यह उद्देश्य तभी पूरा किया जा सकता है जबकि उत्पादक अथवा निर्यातक अपनी व्यापारिक विधि को आयातकर्ता के देश के व्यावसायिक वातावरण में संतोषजनक ढंग से समायोजित कर सके जो व्यवहार में एक कठिन कार्य है।

सीमा संबंधी एवं कस्टम औपचारिकताएं : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के लिए निर्यातक एवं आयातकर्ता को जटिल प्रकृति की तमाम औपचारिकताओं को पूरा करना पड़ता है, जिनका पूर्ण ज्ञान एक साधारण व्यापारी को नहीं रहता है। इससे भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा उत्पन्न होती है।

आयातकर्ता के लिए वस्तुओं के निरीक्षण का अभाव : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में क्रेता एवं विक्रेता के दूर दूर स्थानों में स्थित होने के कारण क्रता आयात की जाने वाली वस्तु का निरीक्षण नहीं कर सकता है और वह विक्रेता अथवा निर्यातक द्वारा दी गई सूचना पर ही पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। विशेष रूप से यह कठिनाई उन वस्तुओं के आयात तथा निर्यात में उत्पन्न होती है क्रय किए जाने से पहले जिनका निरीक्षण आवश्यक है, जैसे मशीन के हिस्से तथा अन्य कीमती वस्तुएं आदि।

आयात एवं निर्यात में सरकारी नियंत्रण : देश के आयात तथा निर्यात व्यापार में सामान्य रूप से सरकार का नियंत्रण रहता है जो देश में अन्य देशों की मुद्राओं की स्थिति को संतुलित करने तथा देश के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए वांछनीय समझा जाता है क्योंकि अन्य देशों से अनावश्यक वस्तुएं आयात करने से देश के उद्योगीकरण का विकास रुक सकता है और अत्यधिक निर्यात प्रलोभन से देश में वस्तुओं की पूर्ति कम हो सकती है। दूसरी ओर सरकार के कड़े नियंत्रण से व्यापारी स्वतंत्र रूप से आयात-निर्यात नहीं कर सकता है और आयात-निर्यात में सरकारी विभागों की मनमानी एवं अन्य आवश्यक औपचारिकताएं पूरी करने में देर निश्चित रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा उत्पन्न करती है।

जोखिम : राष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक जोखिम वहन करना पड़ता है। एक ओर निर्यातित माल के मूल्य का भुगतान प्राप्त करने का जोखिम और दूसरी ओर समुद्री खतरों से माल नष्ट होने का जोखिम व्यापारिक क्रिया को और अधिक

समस्यापूर्ण बना देता है। समुद्री खतरों में माल की चोरी, जहाज में तकनीकी दोष, डकैती, समुद्री जानवरों से हानि आदि सम्मिलित हैं। हालांकि निर्यातक एक निश्चित प्रीमियम की धनराशि का भुगतान करके इन जोखिमों से संभावित हानि को समुद्री बीमा कंपनी को हस्तांतरित कर देता है पर इसके फलस्वरूप निश्चित रूप से माल के लागत मूल्य में वृद्धि हो जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पन्न कठिनाइयों एवं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन कठिनाइयों एवं समस्याओं के बावजूद यह व्यापार अधिक प्रचलित हो रहा है। इसे सुगम तथा सहज बनाने के लिए इसमें संबंधित कस्टम औपचारिकताओं एवं अनावश्यक सरकारी नियंत्रण में ढील की जानी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक मुकाबला करने के लिए स्वयं निर्यातक को भी निश्चित रचनात्मक प्रयत्न करने आवश्यक है। केवल अधिक लाभ कमाने की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को संवर्धित नहीं किया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व

व्यावसायिक क्रिया का विस्तार करके उसमें स्थायित्व उत्पन्न करके उसे अधिक समृद्ध-शाली बनाने में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां तक कि प्रत्येक देश की विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं का अस्तित्व पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही निर्भर है, क्योंकि देश में वस्तुओं की मांग में कमी की स्थिति में उन वस्तुओं के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मांग उत्पन्न करके वस्तु के बाजार का विस्तार किया जा सकता है और इससे विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित है। इससे एक ओर तो प्रत्येक देश उपलब्ध साधनों का अधिकतम प्रभावपूर्ण प्रयोग कर सकता है और दूसरी ओर अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं उचित मूल्यों पर अन्य देशों से आयात कर सकता है। इससे विभिन्न देशों के ग्राहकों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएं उचित मूल्य पर प्राप्त हो सकती है और उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जा सकता है। इससे समस्त देश लाभान्वित होते हैं।

श्रम विभाजन के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन के पैमाने में वृद्धि तथा उत्पादन कार्य में विशिष्टीकरण से उत्पादित वस्तु की किस्म में आवश्यक सुधार संभव है और प्रत्येक देश उत्पादन में बड़े पैमाने की समस्त मितव्ययताएं प्राप्त कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों के निवासियों के रहन-सहन के स्तर में समानता लाई जा सकती है और किसी भी देश में वस्तुओं की कमी को अन्य देशों से आयात द्वारा पूरा किया जा सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों को आर्थिक लाभ ही प्राप्त नहीं होते बल्कि व्यापार के माध्यम से विभिन्न देशों में पारस्परिक सहयोग एवं मैत्री भावना भी जाग्रत होती है जिससे किसी भी प्रकार की कठिनाई की स्थिति में स्वाभाविक रूप से एक देश दूसरे देश को आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है। इससे मानव की सुरक्षा को बल मिला है और विभिन्न देशों के नागरिकों के बीच सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विचारों के आदान-प्रदान से मानव सभ्यता का स्वतः विकास संभव है।

संक्षेप में, अतर्राष्ट्रीय व्यापार से वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता, वस्तु के बाजार का विस्तार, उचित किस्म की वस्तुओं की उचित मूल्य में प्राप्ति, मानव सभ्यता का स्वतः विकास, विभिन्न देशों में पारस्परिक सहयोग की भावना की जागृति तथा उत्पादन कार्य

में विशिष्टीकरण के लाभ एवं बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययताएं प्राप्त की जा सकी हैं। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ने देश के उद्योगीकरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अविकसित तथा विकासशील देश अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए अन्य विकसित देशों से आवश्यक कच्चा माल, मशीनें तथा अन्य आवश्यक उपकरण आयात कर सकते हैं और उद्योगीकरण के लिए तकनीकी तथा वैज्ञानिक सलाह प्राप्त कर सकते हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि इससे विभिन्न देशों को अपने सर्वतोन्मुखी विकास में सहायता मिली है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की विधियां

एक देश से दूसरे देश के बीच वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के लिए दो मुख्य विधियां प्रचलित हैं। दोनों विधियों के गुणों एवं दोषों का विश्लेषण करके ही अलग अलग परिस्थितियों में इनमें से कोई विधि अपनाई जा सकती है।

प्रत्यक्ष आयात एवं निर्यात

यदि कोई उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करके विदेशों में स्थित ग्राहकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करके स्वयं उन्हे वस्तुओं का निर्यात करता है अथवा स्वयं विदेशी निर्यातकों से संबंध स्थापित करके अपनी आवश्यकता की वस्तुएं आयात करता है तो इसे प्रत्यक्ष व्यापार की संज्ञा दी जाती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में इस विधि का प्रयोग मुख्य रूप से बड़े बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठानों द्वारा किया जाता है। वे अपनी संस्था के अंतर्गत अन्य विभागों की भांति आयात-निर्यात विभाग गठित करते हैं और यह विभाग वस्तुओं के आयात तथा निर्यात से संबंधित कार्य करता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की यह विधि कालांतर में अधिक प्रचलित होती जा रही है क्योंकि इससे आयातकर्ता अथवा निर्यातक प्रत्यक्ष रूप से स्वयं लेनदेन करके पूर्ण लाभ स्वयं प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस विधि से व्यापार करने से भविष्य के लेनदेन में भी आसानी रहती है, क्योंकि आयातकर्ता तथा निर्यातकर्ता के द्वारा किए गए लेनदेन के आधार पर वे एक दूसरे के व्यवहार, आर्थिक स्थिति तथा साख के बारे में अवगत हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष आयात एवं निर्यात विधि विशेष रूप से उन परिस्थितियों में अपनाई जाती है जब निर्यातक द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तु के लिए उच्चस्तरीय तकनीकी बिक्री संगठन की आवश्यकता हो अथवा वस्तु को बेचने से पहले वस्तु से संबंधित सेवाएं प्रदान की जानी आवश्यक हों अथवा उन वस्तुओं की प्रकृति इस प्रकार की हो कि उनके प्रयोग के लिए उत्पादक और अंतिम उपभोक्ता के बीच काफी अधिक समय तक संबंध बने रहना आवश्यक हो जैसे, इंजीनियरिंग सामान, बिजली उत्पन्न करने का संयंत्र आदि।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष व्यापार विधि निम्न दशाओं में लाभप्रद ढंग से अपनाई जा सकती है:

(अ) मध्यस्थ व्यापारी अथवा निर्यातक जो विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं का निर्यात कर रहा हो और वह केवल उन वस्तुओं के निर्यात में रुचि रखता हो जिनमें उसे अधिक लाभ प्राप्त होता है, तो इससे मध्यस्थ के द्वारा कम लाभ वाली वस्तुओं के बाजार का विस्तार नहीं हो सकता है। अतः उत्पादक के लिए यह वांछनीय होगा कि वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से वस्तु का निर्यात करे।

(ब) वस्तु का निर्यात करने में मध्यस्थों के कारण यदि कोई वस्तु अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों पर न बेची जा सकती हो, तो ऐसी स्थिति में मध्यस्थों का उन्मूलन करके मूल्यों में आवश्यक कमी लाने के लिए स्वयं प्रत्यक्ष रूप से वस्तु का

निर्यात करना उत्पादक के लिए लाभप्रद होता है।

(स) जटिल अंतर्राष्ट्रीय बाजार में वस्तु को बेचने के लिए तमाम प्रशुल्क अथवा विनिमय कर लगाए जाते हैं। इनसे भी वस्तु की कीमतों में वृद्धि स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में भी उत्पादक प्रत्यक्ष व्यापार विधि अपना कर प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य पर वस्तु बेच सकता है।

पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की इस विधि का प्रयोग उन उत्पादकों द्वारा नहीं किया जा सकता है जो वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने पर कर रहे हैं, जिन्हें वस्तुओं की निर्यात संबंधी तमाम औपचारिकताओं का ज्ञान नहीं है एवं जो निर्यात व्यापार में निहित जोखिम स्वयं वहन करने के इच्छुक तथा समर्थ न हों।

मध्यस्थों के माध्यम से आयात-निर्यात

इस विधि का प्रयोग उन उत्पादकों द्वारा किया जाता है जो विभिन्न कारणों से वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से ग्राहकों को निर्यात नहीं कर सकते हैं, जैसे उत्पादन की अपर्याप्तता, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कटु प्रतियोगिता तथा संबंधित अन्य कठिनाइयां आदि। अत: वे अपनी वस्तुओं के निर्यात के लिए अथवा आवश्यक अन्य वस्तुएं आयात करने के लिए पूर्ण रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न मध्यस्थों पर निर्भर रहते हैं। ये मध्यस्थ कमीशन एजेंट, दलाल, विदेशी प्रतिनिधि, एवं अन्य मान्यता प्राप्त निर्यात एवं आयात संस्था तथा इंडेंट हाउसेज के रूप में होते हैं।

इस विधि के अनुसार यदि कोई उत्पादक अपनी वस्तुओं का निर्यात करना चाहता है तो निर्यात संस्था से संपर्क स्थापित करके उन्हें निर्यात की जाने वाली वस्तु का पूर्ण विवरण देकर लेनदेन तय कर लेता है। ये निर्यात संस्थाएं विदेशों में स्थित ग्राहकों से संपर्क करके अंतिम रूप से माल का निर्यात करती हैं। वस्तु के उत्पादन के पश्चात उस वस्तु के निर्यात में संलग्न औपचारिकताएं इन्हीं संस्थाओं द्वारा पूरी की जाती हैं। ये मध्यस्थ व्यापारी दो प्रकार से कार्य करते हैं। या तो ये संस्थाएं उत्पादकों से वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से क्रय करके निर्यात करती हैं। इसमें उन्हें निर्यात से संबंधित जोखिम, जैसे भुगतान प्राप्त करने का जोखिम तथा विनिमय दर में परिवर्तन और वस्तुओं के नष्ट होने का जोखिम स्वयं वहन करना पड़ता है।

कुछ दशाओं में ये संस्थाएं केवल एजेंट के रूप में कार्य करती हैं और आयात तथा निर्यात का लेनदेन उत्पादक से कमीशन आदि प्राप्त करके उनकी ओर से उन्हीं के जोखिम पर किया जाता है। ये संस्थाएं माल के निर्यात के लिए उसे स्वामित्व के आधार पर क्रय नहीं करती हैं बल्कि उत्पादक को निर्यात संबंधी आवश्यक सेवाएं प्रस्तुत करती हैं। फारवर्ड एजेंट, कस्टम हाउस ब्रोकर आदि की सेवाएं इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

मध्यस्थों के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विधि विशेष रूप से उन परिस्थितियों में अपनाई जाती है जहां उत्पादक को अंतर्राष्ट्रीय बाजार का पूर्ण ज्ञान न हो और वह संबंधित औपचारिकताओं को पूरा करने में दक्ष एवं निपुण न हो। मध्यस्थों की विद्यमानता से वस्तु के मूल्य में वृद्धि तथा उत्पादक एवं ग्राहक के बीच प्रत्यक्ष संबंध का अभाव आदि को इस विधि की सीमाएं समझा जाता है।

आयात व्यापार एवं उसकी विधि

देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने और उसके संवर्धन के उद्देश्य से अंतरराष्ट्रीय व्यापार पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण रहता है। यदि इसमें सरकारी नियंत्रण न हो तो व्यापारी केवल अधिक लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से तथा अपने व्यक्तिगत

स्वार्थों को पूरा करने के लिए मनमाने ढंग से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को संगठित करेंगे। इससे देश का औद्योगिक विकास विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि विदेशों से अनावश्यक वस्तुएं आयात की जाएं तो इससे घरेलू उद्योगों का विकास रुक सकता है। इसके विपरीत यदि देश के उत्पादन को घरेलू मांग को ध्यान में न रख कर निर्यात कर दिया जाए तो इससे देश में वस्तुओं की कमी हो सकती है जिससे मूल्यों में वृद्धि संभव है। इसीलिए व्यवहार में यह पाया जाता है कि देश अपने औद्योगिक विकास के लिए तथा घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए केवल आवश्यक वस्तुओं का ही आयात करता है, जैसे मशीन, कच्चा माल, सहायक उपकरण तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं।

किसी भी व्यवसायी अथवा व्यावसायिक संस्था के लिए, जो अन्य देशों से वस्तुएं आयात करती है, 'आयात-निर्यात नियंत्रक' से अनुमति, लाइसेंस के रूप में प्राप्त करना आवश्यक है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकार प्रतिवर्ष वस्तुओं के आयात से संबंधित अपनी नीति की घोषणा करती है और इसी आयात नीति के अनुकूल वर्ष भर आयात की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं की मात्रा एवं सीमा निर्धारित की जाती है। इसी निर्धारित मात्रा के अंतर्गत इच्छुक आयातकर्ताओं को वस्तु के आयात के लिए लाइसेंस जारी किए जाते हैं। सरकार द्वारा आयात नीति की घोषणा करने का मुख्य उद्देश्य देश के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना और उन्हें प्रोत्साहन देना है। सरकार अपनी आयात नीति से उन वस्तुओं के आयात के लिए जो अत्यंत महत्वपूर्ण हों अथवा देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक हों, आसानी से अनुमति प्रदान करती है। इसके विपरीत आयात नीति द्वारा ही उन वस्तुओं के आयात को हतोत्साहित किया जाता है जिनका उत्पादन देश में किया जा रहा है अथवा जो विलासिता वस्तुओं की श्रेणी में आती हैं। साधारणतः जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है, उन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(अ) वे वस्तुएं जो 'खुले सामान्य लाइसेंस' (ओपन जनरल लाइसेंस) के अंतर्गत आती हैं। इनके आयात के लिए केवल अनुमति प्राप्त की जाती है, जैसे 250 रुपए के मूल्य तक की मुफ्त उपहार पुस्तकें, वस्तुओं के मुफ्त विश्वसनीय नमूने आदि।

(ब) खुले सामान्य लाइसेंस की सूची के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का आयात करने के लिए लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक है। आयात लाइसेंस प्रायः 6 माह की अवधि के लिए जारी किए जाते हैं। प्रत्येक 6 माह बाद सरकार अपनी आयात नीति की घोषणा करती रहती है और लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ता, आयात व्यापार नियंत्रण नीति पुस्तक का अध्ययन करके यह निर्धारित कर सकता है कि इस पुस्तक में निर्धारित समय के अंतर्गत वह किन किन वस्तुओं का कितनी मात्रा में आयात कर सकता है।

इस प्रकार लाइसेंस प्राप्त करके वस्तुओं का आयात करने वाले आयातकर्ताओं को निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

1. स्थापित आयातकर्ता : यदि आयातकर्ता ने प्राप्त आयात लाइसेंस के अनुसार निर्धारित वस्तुओं का आयात निश्चित समय के अंतर्गत कर लिया है तो ऐसा आयातकर्ता स्थापित आयातकर्ता कहलाता है, ऐसे आयातकर्ता को पुनः वस्तुओं का आयात लाइसेंस प्राप्त करने के लिए आयात-निर्यात नियंत्रक के पास निम्न सूचनाएं भेजनी पड़ती हैं : (अ) मूल वर्ष में आयात की गई वस्तुओं का विवरण एवं संबंधित आवश्यक प्रमाण, जैसे जहाजी रसीद, कस्टम शुल्क रसीद, बीजक आदि। (ब) बैंक ड्राफ्ट की प्रतिलिपि अथवा चार्टर्ड एकाउंटेंट द्वारा निर्गमित आयातित वस्तुओं के मूल्य का प्रमाण।

2. आयात की गई वस्तुओं का वास्तविक प्रयोगकर्ता : इस वर्ग के आयातकर्ता विभिन्न वस्तुओं का आयात स्वयं अपने उत्पादन कार्य में प्रयोग करने के लिए करते हैं, जैसे कच्चा माल, मशीन तथा अन्य उपकरणों का आयात। इन आयातकर्ताओं को लाइसेंस प्राप्त करने के लिए अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का प्रमाणन एवं संस्तुतिकरण, 'महा-निदेशक तकनीकी विकास' (तकनीकी विभाग) द्वारा कराया जाता है। ऐसे लघु उद्योग जिनकी पूंजी 5 लाख रु० से कम हो आयात लाइसेंस प्राप्त करने के लिए अपने आवेदन-पत्र का प्रमाणन एवं संस्तुतिकरण, निदेशक राज्य लघु उद्योग से कराते हैं।

3. अन्य आयातकर्ता : इन आयातकर्ताओं को आयात लाइसेंस निर्यात-आयात महा-नियंत्रक के कार्यालय से प्राप्त होता है। इस वर्ग में मुख्य रूप से वे आयातकर्ता सम्मिलित हैं जो 'निर्यात प्रोत्साहन योजना' के अंतर्गत निर्यातित माल के बदले अन्य आवश्यक वस्तुओं का आयात करते हैं।

आयात विधि

वस्तुओं के आयात के लिए लाइसेंस अथवा अनुमति प्राप्त करने के पश्चात आयातकर्ता को वास्तव में आयात संघटित कराने के लिए कई औपचारिकताएं भी पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे कस्टम औपचारिकताएं, आयात के लिए आवश्यक प्रलेख तैयार करना, आयात शुल्क का भुगतान आदि। इन विभिन्न प्रक्रियाओं में पूरी की जाने वाली समस्त औप-चारिकताओं को संयोजित रूप से आयात विधि कहा जाता है। संपूर्ण आयात विधि में सम्मिलित विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन क्रमशः इस प्रकार है :

1. इंडेंट भेजना : विदेशों से माल के आयात के लिए सर्वप्रथम आयातकर्ता द्वारा आवश्यक वस्तुओं का इडेंट तैयार करके निर्यातकर्ता को भेजा जाता है। इंडेंट एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें आयातकर्ता आयातित वस्तु का विवरण, भौतिक एवं रासायनिक गुण तथा मूल्य आदि से संबंधित सूचनाएं सम्मिलित करके निर्यातकर्ता को भेजता है जिसके आधार पर अंतिम रूप से आयातकर्ता तथा निर्यातक के बीच लेनदेन तय किया जाता है। इंडेंट दो प्रकार का होता है : खुला इंडेंट तथा बंद इंडेंट।

खुले इंडेट में आयातकर्ता द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं का विस्तृत वर्णन नहीं दिया रहता है। इसे केवल प्रारंभिक जांच पड़ताल के लिए भेजा जाता है। इस प्रकार के इंडेंट के द्वारा लेनदेन को आयातकर्ता तथा निर्यातकर्ता के बीच बार बार पत्र-व्यवहार द्वारा तय किया जाता है। बंद इंडेंट मे, आयातकर्ता आयात की जाने वाली वस्तुओं का पूर्ण वर्णन (वस्तु का ब्रांड नेम, वस्तु का मूल्य तथा आयात संबंधी अन्य शर्तें) निर्यातकर्ता को भेजता है। यदि निर्यातकर्ता इडेंट मे निर्धारित वस्तुओं में निश्चित शर्तों सहित निर्यात करने के लिए तैयार है तो यह इंडेंट आदेश में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के इंडेट की वैधानिक स्थिति एक प्रस्ताव की भांति है जिसकी निर्यातकर्ता द्वारा शर्तरहित पूर्ण स्वीकृति दी जाती है और तभी उनके बीच लेनदेन तय हो पाता है।

वस्तु को आयात करने का इंडेंट आयातकर्ता स्वयं निर्यातकर्ता को भेजता है। पर यदि उसे निर्यातकर्ताओं के बारे मे आवश्यक सूचना प्राप्त न हो तो ऐसी स्थिति में वह 'इंडेंट हाउसेज' से संपर्क स्थापित करके उनके माध्यम से निर्यातक को इंडेंट भेजता है। इंडेंट हाउसेज आयातकर्ता तथा निर्यातकर्ता के बीच मध्यस्थ का कार्य करते है। ये गृह विशेष रूप से बंबई, कलकत्ता, मद्रास एवं दिल्ली आदि शहरों में अधिक प्रचलित हैं। इनका मुख्य कार्य निर्यातकों से संबंध स्थापित करके उनसे वस्तुओं के नमूने एकत्र करना है। इन नमूनों को वे विभिन्न इच्छुक आयातकर्ताओं तक पहुंचाकर उनसे वस्तुओं को आयात करने का आदेश प्राप्त करके निर्यातक को भेजते है और आयातकर्ताओं से

अपनी सेवाओं का प्रतिफल कमीशन के रूप में प्राप्त करते हैं।

2. विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करना : आयातकर्ता द्वारा निर्यातक से क्रय की जाने वाली वस्तुओं के मूल्यों का भुगतान निर्यातक के देश में प्रचलित मुद्रा में किया जाता है। इसी-लिए भुगतान के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था पहले ही की जानी आवश्यक है। देश में विदेशी मुद्रा का संचित कोष केंद्रीय सरकार द्वारा नियंत्रित किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर केंद्रीय बैंक के माध्यम से इसे आयातकर्ता को उपलब्ध कराया जाता है। हमारे देश में, आयातकर्ता को आवश्यक विदेशी मुद्रा की उपलब्धि रिजर्व बैंक के 'विनिमय नियंत्रण विभाग' द्वारा रिजर्व बैंक के आदेशानुसार कराई जाती है। इसके लिए आयातकर्ता को एक आवेदनपत्र आयात लाइसेंस सहित विनिमय नियंत्रण विभाग में जमा करना पड़ता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है। कुछ दशाओं में आयात लाइ-सेंस जारी करने के बावजूद विदेशी मुद्रा के अभाव में, आयात लाइसेंस में निर्धारित समस्त वस्तुओं को आयात करने के लिए आयातकर्ता को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा उपलब्ध नहीं हो पाती है।

3. भुगतान की व्यवस्था करना : विदेशी मुद्रा की उपलब्धि से अवगत होकर आयात-कर्ता आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य के भुगतान की व्यवस्था करता है। भुगतान करने की विभिन्न विधियां प्रचलित हैं जिसका चुनाव आयातकर्ता एवं निर्यातक द्वारा इंडेंट को आदेश में परिणत करते समय ही कर लिया जाता है।

(अ) निर्यातक आयातकर्ता को वस्तुएं भेजने से पहले ही वस्तुओं के कुल मूल्य का कुछ अंश अग्रिम के रूप में प्राप्त कर सकता है।

(ब) आयातकर्ता वस्तुओं के मूल्य के भुगतान के लिए अपने बैंक (जिसकी शाखा निर्यातक के देश में भी हो) से निर्यातक के पक्ष में उसकी ओर से एक साखपत्र निर्गमित करा लेता है ताकि निर्यातक को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य का भुगतान वस्तु के स्वामित्व के दस्तावेजों को अपने देश में स्थित उस बैंक की शाखा में जमा करके प्राप्त हो सके।

(स) स्वीकृति पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी अथवा भुगतान पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी : इस विधि के अनुसार आयातकर्ता निर्यातक से यह निवेदन करता है कि निर्यातक वस्तुओं के मूल्य का एक विनिमय पत्र, स्वामित्व के दस्तावेजों के साथ निर्यातक के बैंक की आयात-कर्ता के देश में स्थित शाखा को अथवा आयातकर्ता के देश में स्थित अपने एजेंट के नाम भेज दे। यदि स्वामित्व से संबंधित दस्तावेज उसमें नत्थी विनिमय बिल की राशि का आयातकर्ता द्वारा भुगतान करने पर आयातकर्ता के सुपुर्द किए जाते हैं तो इसे भुगतान पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी कहा जाएगा। यदि स्वामित्व के दस्तावेज इसमें नत्थी विनिमय बिल को स्वीकार करने पर आयातकर्ता के सुपुर्द किए जाते हैं तो इसे स्वीकृति पर दस्ता-वेजों की सुपुर्दगी कहा जाता है।

वस्तुओं के स्वामित्व के दस्तावेजों के साथ आयातकर्ता निर्यातक द्वारा भेजा गया एक 'सलाह पत्र' भी प्राप्त करता है। इस सलाह पत्र में निर्यातक द्वारा वस्तुएं भेजे जाने की सूचना तथा आयातकर्ता के बंदरगाह पर वस्तु पहुंचने की संभावित तिथि का वर्णन रहता है।

4. बंदरगाह से वस्तुओं की निकासी से संबंधित औपचारिकताएं : वस्तुओं के स्वामित्व से संबंधित दस्तावेज तथा सलाह पत्र प्राप्त करने के पश्चात आयातकर्ता को बंदरगाह से माल छुड़ाने के लिए कस्टम औपचारिकताएं तथा अन्य औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं। जहाज बंदरगाह में पहुंचता है। इसके 24 घंटों के भीतर जहाजी कंपनी को इसकी सूचना कस्टम अधिकारियों को देनी पड़ती है। इसके लिए जहाजी कंपनी को जहाजी

घोषणापत्र कस्टम कार्यालय में जमा करना होता है। इसके अंतर्गत जहाज में लदे हुए माल का पूर्ण विवरण दिया जाता है।

इसके साथ ही साथ आयातकर्ता को भी एक प्रपत्र भरना पड़ता है जिसे 'बिल आफ साइट' कहते हैं। इस प्रपत्र में आयातित वस्तुओं का विवरण होता है। यदि आयातकर्ता इस प्रपत्र को न भर पाए तो कस्टम अधिकारी जहाज में लदे हुए माल का स्वयं निरीक्षण करके इस प्रपत्र को भर लेते हैं। इसके अतिरिक्त आयातकर्ता दो अन्य फार्म भर कर संबंधित कार्यालयों में जमा करता है।

(अ) बिल आफ एंट्री : यह आयातकर्ता द्वारा भरा जाने वाला एक ऐसा विवरण पत्र है जिसकी तीन प्रतिलिपियां तैयार की जाती हैं। इसमें आयातकर्ता यह प्रमाणित करता है कि निर्धारित मूल्य एवं वर्णन की वस्तुएं देश की सीमाओं के भीतर आयात की गई हैं। बिल आफ एंट्री अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के लिए अलग अलग रूप में होता है, जैसे करमुक्त वस्तुओं के लिए, करयुक्त वस्तुओं के लिए पुनः निर्यात हेतु आयात की गई तथा घरेलू उपभोग के लिए आयात की गई वस्तुएं आदि।

(ब) आयात आवेदन पत्र : आयात कर का भुगतान करने के लिए इस प्रपत्र की दो प्रतिलिपियां भरी जाती हैं।

इन दोनों प्रपत्रों को विभिन्न करों का भुगतान करने हेतु भरा जाता है : जहाज के जमीन में उतरने से संबंधित करों का भुगतान करने के लिए बिल आफ एंट्री की एक प्रतिलिपि आयात आवेदन पत्र की प्रतिलिपि के साथ जहाजी कर कार्यालय में जमा की जाती है और आयात कर का भुगतान करने के लिए इन दोनों प्रपत्रों की एक एक प्रति-लिपि कस्टम कार्यालय में जमा कर दी जाती है।

उपर्युक्त करों के भुगतान के अतिरिक्त लेनदेन की शर्तों के अनुसार जहाजी कंपनी को भाड़े का भुगतान किया जाता है। यदि वस्तुओं को आयातकर्ता के बंदरगाह पहुंचाने के लिए भाड़े का भुगतान निर्यातक द्वारा कर दिया गया है तो जहाजी कंपनी सुपुर्दगी आदेश आयातकर्ता को देती है। यदि भाड़े का भुगतान आयातकर्ता को करना है तो भाड़े का भुगतान करने के पश्चात ही यह सुपुर्दगी आदेश प्राप्त किया जा सकता है। इसका विवरण 'जहाजी रसीद' में रहता है।

उपर्युक्त समस्त औपचारिकताओं को पूरा करके आयातकर्ता बंदरगाह से माल की निकासी प्राप्त कर लेता है। आयातकर्ता 'निकासी एजेंट' की नियुक्ति करके भी इन औपचारिकताओं को पूरा करवा सकता है।

निर्यात व्यापार एवं निर्यात विधि

आयात व्यापार की भांति निर्यात व्यापार भी सरकार के नियंत्रण में किया जाता है पर निर्यात व्यापार पर लगाए गए प्रतिबंध आयात व्यापार के प्रतिबंधों की तरह गंभीर प्रकृति के नहीं होते हैं। वस्तुओं का निर्यात करने के लिए निर्यात (नियमन) आदेश 1962 की प्रथम सारणी में दी गई समस्त औपचारिकताएं पूरी की जानी आवश्यक हैं। इस सारणी में सम्मिलित वस्तुएं बिना निर्यात लाइसेंस प्राप्त किए निर्यात नहीं की जा सकती हैं। निम्न दशाओं में वस्तुओं का निर्यात करने के लिए निर्यात लाइसेंस की आवश्यकता नहीं पड़ती है :

(अ) केंद्रीय सरकार के अधीन निर्यात की जाने वाली वस्तुएं,

(ब) उन सब वस्तुओं का निर्यात जिन पर निर्यात (नियमन) आदेश लागू नहीं होता है, जैसे डाक द्वारा तथा हवाई जहाज द्वारा भेजी जाने वाली वस्तुएं, पुनः निर्यात के लिए आयात की गई वस्तुएं आदि। इस श्रेणी में आने वाली वस्तुओं का निर्यात करने

के लिए निर्यात लाइसेंस की आवश्यकता नहीं होती है।

आयात नीति की भांति सरकार द्वारा समय समय पर वस्तुओं की निर्यात नीति की घोषणा की जाती है। इस नीति में निर्यात के लिए लाइसेंस प्राप्त करने हेतु निर्धारित विधि-व्यवहार की सूचना दी रहती है और इसमें किए गए परिवर्तन समय समय पर व्यापारिक सूचना के रूप में प्रसारित किए जाते हैं। अतः इच्छुक निर्यातक को इन समस्त सूचनाओं से अवगत रहने के लिए आयात-निर्यात व्यापार नियंत्रण विभाग द्वारा जारी साप्ताहिक गजट का अध्ययन करना चाहिए।

निर्यात विधि

वस्तुओं का निर्यात वास्तव में एक जटिल कार्य है। हालांकि निर्यातक अपने राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं को बेचने के अनुभव के आधार पर अपनी वस्तुएं देश के बाहर अंतरराष्ट्रीय बाजार में भी बेच सकता है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बढ़ती हुई प्रतियोगिता, बाजार की प्रकृति में परिवर्तन और अंतर्राष्ट्रीय ग्राहकों की रुचि, आवश्यकता एवं प्राथमिकताओं में परिवर्तन आदि कारणों से निर्यात में कठिनाई उत्पन्न होती है। इन परिस्थितियों के अंतर्गत वस्तुओं के निर्यात के लिए निर्यातक को निर्यात के लिए प्रस्तावित वस्तु के विभिन्न संभावित बाजारों का सही ज्ञान होना चाहिए ताकि वह वस्तु के संभावित बाजार की प्रकृति एवं ग्राहकों की रुचि, प्राथमिकताओं को दृष्टि में रखते हुए अपनी वस्तु की मांग उत्पन्न कर सके। कुछ दशाओं में विदेशों में स्थित ग्राहक प्रत्यक्ष रूप से निर्यातक को स्वयं लेनदेन करने के लिए प्रारंभिक सूचना भेजते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य स्थितियों में निर्यातक स्वयं अपनी वस्तुओं का विज्ञापन आदि कर संभावित ग्राहकों को क्रय के लिए प्रेरित करता है।

आयात विधि की ही तरह निर्यात विधि भी कई प्रक्रियाओं से मिल कर बनी है जिनका क्रमानुसार वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. इंडेंट प्राप्त करना : संभावित आयातकर्ता निर्यातक को वस्तु खरीदने का एक प्रस्ताव भेजता है जो निर्यातक द्वारा स्वीकार किए जाने पर आदेश में परिणत हो जाता है। यह प्रस्ताव इंडेंट कहलाता है। इसमें आयातकर्ता द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तु की विशेषताएं, मूल्य, किस्म तथा लेनदेन की अन्य शर्तें उल्लिखित रहती हैं। निर्यातकर्ता को यह इंडेंट या तो प्रत्यक्ष रूप से आयातकर्ता द्वारा प्राप्त होता है अथवा आयातकर्ता की ओर से आयातकर्ता के देश में स्थित इंडेंट हाउस द्वारा इस निर्यातक को प्रस्तुत किया जाता है। यह इंडेंट निर्यातक तथा आयातकर्ता के बीच लेनदेन तय करने का आधार समझा जाता है और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आयात अथवा निर्यात इंडेंट से ही प्रारंभ होता है।

2. आयातकर्ता की आर्थिक स्थिति ज्ञात करना तथा साख पत्र की मांग : आयातकर्ता से वस्तुओं का आदेश प्राप्त करने के बाद और वस्तुओं को वास्तव में उसे भेजने से पहले निर्यातक आयातकर्ता की आर्थिक दशा को ज्ञात करने का प्रयास करता है क्योंकि वह तभी माल निर्यात करेगा यदि आयातकर्ता की आर्थिक स्थिति एवं साख संतोषजनक हो। इसके लिए निर्यातक आयातकर्ता के बैंक से संदर्भ प्राप्त कर सकता है या अन्य प्रकाशित सूचनाओं के आधार पर स्थिति ज्ञात कर सकता है। इसीलिए अधिकांश दशाओं में निर्यातक वस्तुएं भेजने से पहले आयातकर्ता से बैंक में, जिसकी शाखा निर्यातक के देश में भी हो, एक साख पत्र खुलवा लेता है ताकि माल के मूल्य के भुगतान का जोखिम कम किया जा सके।

3. वस्तुएं भेजने के लिए जहाज में स्थान की व्यवस्था : निर्यातक आयातकर्ता की आर्थिक स्थिति एवं साख से संतुष्ट हो जाने पर आदेशित माल का निर्यात करने के लिए अन्य

आवश्यक कार्यवाहियां करना प्रारंभ कर देता है। इस संबंध में सर्वप्रथम वह वस्तुओं को भेजने के लिए जहाज में जगह सुरक्षित कराता है क्योंकि विदेशी व्यापार में सबसे अधिक प्रचलित एवं भारी सामान के लिए सबसे अधिक उपयुक्त यातायात साधन समुद्री जहाज ही समझे जाते हैं। निश्चित समय में सामान भेजने के लिए स्थान की उपलब्धता बनी रहे इसी उद्देश्य से जहाज में स्थान अग्रिम रूप से सुरक्षित कर लिया जाता है।

निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा के अनुसार निर्यातक संपूर्ण जहाज अथवा उसके अधिकांश को किराए में लेता है। इसके लिए उसे जहाजी कंपनी के साथ एक ठहराव करना पड़ता है जिसे 'चार्टर्ड पार्टी' कहते हैं। यदि वस्तुएं सीमित मात्रा में हैं तो इसके लिए जहाजी कंपनी निर्यातक को एक 'शिपिंग आर्डर' या 'जहाजी आदेश' जारी करती है। जहाजी आदेश एक ऐसा आदेश है जिसके माध्यम से जहाजी कंपनी जहाज के कप्तान को, इसमें निर्दिष्ट वस्तुएं जहाज के द्वारा यातायात के लिए प्राप्त करने का आदेश देती है।

4. विनिमय दर के लिए ठहराव : विनिमय दर में समय समय में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के जोखिम को कम करने के लिए निर्यातक. आयातकर्ता से संभावित प्राप्य भुगतान का अपने देश की मुद्रा में विनिमय कराने के लिए बैंक से ठहराव करके दर पहले ही निश्चित कर लेता है।

5. वस्तुओं की पैकिंग एवं फारवर्डिंग : उपर्युक्त कार्यवाहियों को पूरा करने के बाद निर्यातक भेजी जाने वाली वस्तुओं की पैकिंग एवं फारवर्डिंग की व्यवस्था करता है। वस्तुओं की पैकिंग अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है इसीलिए भेजी जाने वाली वस्तुएं उचित प्रकार से वस्तु की प्रकृति के अनुसार पोलीथीन के थैलों में अथवा मजबूत कागज में लपेट कर या लकड़ी के बक्सों आदि में बंद करके पैक कर दी जाती हैं ताकि आयातकर्ता के बंदरगाह तक पहुंचने में सुरक्षित बनी रहें और सामान को चढ़ाने, उतारने एवं यातायात में सुविधा हो। सामान को पैक करने के बाद उसे आसानी से पहचाने जाने के लिए पैकेट के बाहर त्रिभुजाकार, आयताकार अथवा चक्रीय निशान बनाकर उसमें आयातकर्ता का नाम तथा उसके देश के बंदरगाह का नाम लिख दिया जाता है। इस प्रकार वस्तुओं की पैकिंग हो जाने के बाद उन्हें बंदरगाह तक पहुंचाने व जहाज में लदवाने की आवश्यक व्यवस्था की जाती है।

वस्तुओं को निर्यातक के गोदाम से लेकर बंदरगाह तक पहुंचाकर जहाज में लदवाने के लिए फारवर्डिंग एजेंट की सहायता भी ली जा सकती है। फारवर्डिंग एजेंट सहायक मध्यस्थ की भांति कार्य करते हैं और अधिकांश दशाओं में व्यस्त निर्यातक को वस्तुओं की पैकिंग तथा फारवर्डिंग में पूर्ण सहायता प्रदान करते हैं।

6. विदेशी मुद्रा से संबंधित घोषणा : विदेशी विनिमय नियंत्रण विधान 1947 के अनुसार अपने देश के बाहर वस्तुओं का निर्यात करने के लिए (भूटान, नेपाल आदि कुछ देशों को छोड़कर) रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत संस्था के पास यह घोषणा देनी पड़ती है कि निर्यात से कमाई गई विदेशी मुद्रा एक निश्चित समय के अंतर्गत भारतीय रिजर्व बैंक के सुपुर्द कर दी जाएगी। इसके लिए निर्यातक को विदेशी विनिमय नियंत्रण विधान के अंतर्गत निर्धारित फार्म जी० आर०$_1$, जी० आर०$_2$, जी० आर०$_3$, जी० आर०$_X$ ई० पी० और ई० पी० आई० भरने पड़ते हैं।

7. जहाजी प्रपत्र तैयार करना : वस्तुओं के निर्यात के संबंध में निर्यातक को निम्न प्रपत्र तैयार करने पड़ते हैं :

(अ) **बीजक :** बीजक एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रपत्र है जिसमें निर्यातक द्वारा भेजी जाने वाली वस्तुओं का पर्ण विवरण दिया रहता है जैसे मात्रा, मूल्य, किए गए व्यय आदि

का वर्णन। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में इस बीजक की तीन अथवा आवश्यकतानुसार अधिक प्रतिलिपियां तैयार करके संबंधित पक्षकारों को भेज दी जाती हैं। इस प्रपत्र में इस बात का स्पष्टीकरण भी रहता है कि निर्यातक किन शर्तों पर वस्तुएं भेज रहा है और संबंधित व्ययों का भुगतान निर्यातक कर रहा है अथवा अंतिम रूप से आयातकर्ता को वहन करने पड़ेंगे। इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में, विभिन्न कीमतों के लिए प्रचलित अलग अलग कीमत संकेतों का प्रयोग किया जाता है जैसे सी० आइ० एफ० मूल्य अथवा एफ० ओ० बी० मूल्य आदि। इनका वर्णन अलग से आगे किया जा रहा है।

(ब) काउन्सुलर बीजक : विभिन्न देशों में प्रचलित कस्टम औपचारिकताओं के अनुसार व्यावहारिक रूप से काउन्सुलर बीजक तैयार किया जाना आवश्यक है। इस प्रपत्र को तैयार करने का मुख्य उद्देश्य आयातकर्ता के लिए बंदरगाह से वस्तुओं की निकासी सहज बनाना है। यह प्रपत्र आयातकर्ता के देश की सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी, जिसका कार्यालय निर्यातक के देश में स्थित हो, द्वारा तैयार किया जाता है। नियुक्त अधिकारी आयातकर्ता को भेजी जाने वाली वस्तुओं का अनुमोदन करता है। इस प्रपत्र को अलग से भी तैयार किया जा सकता है अथवा नियुक्त अधिकारी सामान्य बीजक के ऊपर ही अनुमोदन करके हस्ताक्षर कर देता है।

(स) उद्गम प्रमाणपत्र : एक देश के अन्य देशों के साथ (जिनके साथ आयात-निर्यात किया जा रहा है) भिन्न भिन्न प्रकार के व्यापारिक संबंध होते हैं। किसी भी देश के साथ व्यापारिक संबंधों को प्रोत्साहित करने के लिए वस्तुओं के आयात-निर्यात में उस देश को अन्य देशों के अपेक्षाकृत प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इस उद्गम प्रमाणपत्र के अंतर्गत वस्तु के उत्पादन के स्थान को प्रमाणित किया जाता है ताकि आयातकर्ता को कस्टम करों आदि में निर्धारित छूट दी जा सके। यह उद्गम प्रमाणपत्र सरकार द्वारा अधिकृत संस्था अथवा अधिकारी द्वारा सीलयुक्त एवं हस्ताक्षरित होता है।

8. कस्टम औपचारिकताएं : निर्यातक को वस्तु निर्यात करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए तथा वस्तुओं को वास्तव में आयातकर्ता को भेजने के लिए संबंधित जहाजी शुल्कों तथा निर्यातकर का भुगतान करना होता है। इसके लिए निर्यातक दो प्रपत्र, 'जहाजी बिल' अथवा 'कस्टम चालान' एवं 'निर्यात अनुमति फार्म' भरता है। जहाजी बिल की तीन प्रतिलिपियां तैयार की जाती हैं और इसे 'जहाजी कर कार्यालय' में जमा किया जाता है। निर्यात अनुमति फार्म की भी दो प्रतिलिपियां तैयार करके, कस्टम कार्यालय में जमा कर दिया जाता है। इन औपचारिकताओं को पूरा करने के बाद निर्यातक को 'कस्टम निर्यात पास' निर्गमित कर दिया जाता है।

9. डाक रसीद अथवा मेट रसीद प्राप्त करना : यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से जहाज न में लाद कर उस स्थान तक पहुंचाई जाती हैं जहां से ये वस्तुएं जहाज में लादी जाएंगी तो निर्यातक को इसके लिए डाक रसीद प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यदि वस्तुएं सीधे जहाज में लदवा दी जाएं तो इसके लिए निर्यातक को मेट रसीद प्राप्त होती है।

10. जहाजी रसीद एवं भाड़ा विवरण पत्र प्राप्त करना : डाक रसीद अथवा मेट रसीद को जहाजी कार्यालय में प्रस्तुत करके निर्यातक 'जहाजी रसीद' (बिल आफ लैडिंग) प्राप्त करता है।

जहाजी रसीद : इस प्रपत्र को स्वामित्व का दस्तावेज भी कहा जाता है क्योंकि इस दस्तावेज का बेचान व सुपुर्दगी करने से इसमें उल्लिखित वस्तुओं का स्वामित्व भी हस्तांतरित हो जाता है। बिना इस प्रपत्र को प्राप्त किए हुए आयातकर्ता वस्तुएं बंदरगाह से नहीं छुड़ा सकता है।

लार्ड ब्लैक्वर्न के अनुसार, 'जहाजी रसीद जहाज के स्वामी के द्वारा हस्ताक्षरित ऐसा प्रपत्र है जो जहाजी कंपनी द्वारा प्राप्त की गई वस्तुओं का प्रमाण है जिसमें उन शर्तों का उल्लेख किया रहता है जिन पर जहाजी कंपनी इन वस्तुओं को निर्दिष्ट स्थान तक यातायात करने के लिए इच्छुक रहती है।'

इस प्रपत्र की निम्न तीन विशेषताएं होती हैं :

(अ) जहाजी रसीद, जहाजी कंपनी द्वारा जहाज पर लादी गई वस्तुओं की प्राप्ति की रसीद है।

(ब) जहाजी रसीद निर्यातक एवं जहाजी कंपनी के बीच एक ऐसा समझौता है जिसमें उन तमाम शर्तों का उल्लेख रहता है जिन पर जहाज का स्वामी प्राप्त वस्तुओं को एक बंदरगाह से दूसरे बंदरगाह तक ले जाने का वचन देता है।

(स) जहाजी रसीद वस्तुओं के स्वामित्व का दस्तावेज है क्योंकि जिस व्यक्ति को इसका हस्तांतरण किया जाता है इसमें निर्दिष्ट वस्तुओं का स्वामित्व भी उसी व्यक्ति को हस्तांतरित हो जाता है।

इस प्रपत्र की तीन प्रतिलिपियां तैयार की जाती हैं, एक जहाजी कंपनी को दे दी जाती है और बाकी दो प्रतिलिपियां आयातकर्ता को भेज दी जाती हैं।

जहाजी भाड़ा विवरणपत्र : जहाजी कंपनी द्वारा वस्तुएं एक बंदरगाह से दूसरे बंदरगाह तक पहुंचाने में जो आवश्यक व्यय तथा भाड़ा लिया जाता है उसके विवरण को भाड़ा विवरणपत्र कहा जाता है। यदि निर्यातक को व्यय तथा भाड़े का भुगतान करना है तो वह जहाजी रसीद प्राप्त करने से पहले ही इसका भुगतान कर देता है और यदि इन व्ययों तथा भाड़े का भुगतान आयातकर्ता को करना है तो इसके लिए जहाजी रसीद में 'भाड़ा आगे' शब्द लिख दिया जाता है। जहाजी कंपनी सामान्य भाड़े के अतिरिक्त माल को जहाज में लदवाने का निरीक्षण करने के लिए कुल भाड़े का 10% तक प्राइमेज भी प्राप्त करती है।

समुद्री बीमा : समुद्री खतरों से वस्तुओं के नष्ट होने के जोखिम को कम करने के लिए वस्तुओं का समुद्री बीमा कराया जाता है। इसके लिए या तो निर्यातक वस्तुएं भेजने से पहले ही उचित समय में आयातकर्ता को सूचित कर देता है कि वह स्वयं बीमा की व्यवस्था कर ले अन्यथा निर्यातक वस्तुओं का बीमा कराके संबंधित बीमा पालिसी अन्य दस्तावेजों के साथ आयातकर्ता को भेज देता है।

11. भुगतान प्राप्त करना : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान प्राप्त करना वास्तव में एक जटिल समस्या है क्योंकि आयातकर्ता एवं निर्यातक एक दूसरे से काफी दूर दूर स्थानों में स्थित होते हैं और अधिकांश दशाओं में वे एक दूसरे के व्यवहार तथा आर्थिक स्थिति से अवगत नहीं होते हैं। इसीलिए कुछ स्थितियों में निर्यातक माल भेजने से पहले ही आयातकर्ता से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य अग्रिम के रूप में प्राप्त कर लेता है। परंतु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के कारण निर्यातक अपनी वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए आयातकर्ता को भुगतान संबंधी शर्तों में अथवा अन्य शर्तों में हर संभव रियायत देता है। अतः कुछ सीमा तक उसे भुगतान का जोखिम वहन करना ही पड़ता है। निर्यातक आयातकर्ता से भुगतान प्राप्त करने के लिए निम्न प्रचलित विधियों में से किसी भी विधि का प्रयोग कर सकता है।

(अ) निर्यातक आयातकर्ता से निर्यात की गई वस्तुओं के मूल्य का भुगतान प्राप्त करने हेतु आयातकर्ता के नाम एक विनिमय पत्र लिखकर उसे वस्तुओं से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेजों, जैसे जहाजी रसीद आदि के साथ संलग्न करके आयातकर्ता के देश में स्थित अपने बैंक के नाम भेज देता है और आयातकर्ता को इसकी सूचना भेज देता है।

दस्तावेजों के साथ संलग्न विनिमय पत्र या तो स्वीकृति पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी अथवा भुगतान पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी के रूप में होता है। संक्षेप में, यदि संबंधित दस्तावेजों की सुपुर्दगी आयातकर्ता को संलग्न विनिमय पत्र स्वीकार करने पर दी जानी है तो इसे स्वीकृति पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी कहा जाता है और यदि आयातकर्ता को ये दस्तावेज तब सुपुर्द किए जाने हैं जब वह विनिमय बिल का भुगतान कर दे तो इसे 'भुगतान पर दस्तावेजों की सुपुर्दगी' कहा जाता है। इस प्रकार आयातकर्ता निर्यातक द्वारा लिखे गए विनिमय पत्र को स्वीकार करके अथवा उसमें निर्दिष्ट रकम का बैंक को भुगतान करके वस्तुओं से संबंधित दस्तावेज प्राप्त कर लेता है और बैंक प्राप्त धनराशि अथवा स्वीकृत विनिमय बिल निर्यातक को भेज देता है।

(ब) भुगतान प्राप्त करने की दूसरी विधि के अनुसार निर्यातक माल से संबंधित महत्वपूर्ण दस्तावेजों को किसी बैंक के पास (जिसकी शाखा निर्यातक और आयातकर्ता दोनों के देश में हो) गिरवी रखकर वस्तुओं का पूर्ण मूल्य अथवा अधिकांश प्राप्त कर लेता है और आयातकर्ता को यह सूचना भेज देता है कि वह बैंक की उस निश्चित शाखा (जो उसके देश में स्थित है) से दस्तावेज प्राप्त कर ले। बैंक की शाखा से इन दस्तावेजों को प्राप्त करने के लिए आयातकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह उस राशि का भुगतान कर दे जिसके लिए दस्तावेज गिरवी रखे गए हों। इस संबंध में बैंक को यह अधिकार भी दिया रहता है कि यदि आयातकर्ता निश्चित धनराशि का भुगतान करने में असमर्थ हो तो ऐसी स्थिति में बैंक उन वस्तुओं को अन्य पक्षकारों को भी बेच सकेगा।

(स) भुगतान प्राप्त करने की तीसरी विधि के अंतर्गत आयातकर्ता अपने बैंक से निर्यातक द्वारा लिखा गया विनिमय पत्र स्वीकार कराके निर्यातक को भेज देता है और निर्यातक इस विनिमय पत्र को कभी भी आवश्यकता पड़ने पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार से आसानी से भुना सकता है। आयातकर्ता बैंक द्वारा विनिमय बिल स्वीकार करने में बैंक को यह आश्वासन देता है कि वह विनिमय बिल की राशि का भुगतान बैंक को बिल भुगतान के लिए परिपक्व होने से पूर्व ही कर देगा।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग की जाने वाली संक्षिप्त व्यापारिक कीमतें

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में आयात-निर्यात के लेनदेने तय करने के लिए आयातकर्ता तथा निर्यातक के बीच हुए पत्र व्यवहार में संक्षिप्त व्यापारिक कीमतों का प्रयोग किया जाता है जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है :

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुएं चूंकि एक देश की सीमाओं के बाहर दूसरे देश को भेजी जाती हैं इसीलिए भेजी जाने वाली वस्तुओं के मूल्य के अतिरिक्त वस्तुओं के आयात अथवा निर्यात को संघटित करने के लिए कुछ अन्य आवश्यक व्यय भी किए जाते हैं। इन व्ययों का भुगतान आंशिक रूप से निर्यातक द्वारा और आयातकर्ता द्वारा किया जा सकता है। परंतु अंतिम रूप से इन व्ययों को निर्यातक वहन करेगा अथवा आयातकर्ता, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस 'व्यापारिक मूल्य' के अंतर्गत दोनों पक्षों के बीच लेनदेन हुआ है। ये व्यापारिक कीमतें निम्न हैं :

1. स्थानीय मूल्य (लोको प्राइस) : यदि निर्यातक ने वस्तुएं स्थानीय मूल्य पर बेची हैं तो वस्तुओं को निर्यातक के गोदाम से लेकर आयातकर्ता के गोदाम तक पहुंचाने के समस्त अतिरिक्त व्यय आयातकर्ता द्वारा वहन किए जाएंगे। अतः स्थानीय मूल्य में वस्तुओं का लागत मूल्य तथा निर्यातक का लाभ का अंश सम्मिलित रहता है। स्थानीय मूल्य को

'एक्स फैक्ट्री प्राइस' भी कहा जाता है क्योंकि वस्तुओं को फैक्ट्री अथवा गोदाम से बाहर लाने के खर्चे इसमें सम्मिलित नहीं रहते हैं।

2. एफ० ओ० आर० मूल्य (फ्री ग्रान रेल प्राइस) : कुछ दशाओं में वस्तुए बंदरगाह तक रेल द्वारा भी लाई जाती हैं। इस संबंध में एफ० ओ० आर० मूल्य अधिक प्रचलित है। इस मूल्य में निर्यातक वस्तुओं को रेलवे स्टेशन तक पहुंचाने एवं उन्हें रेल के डिब्बों में लदवाने तक का खर्च स्वयं वहन करता है। बाकी अन्य खर्चों के लिए क्रेता अथवा आयातकर्ता जिम्मेदार होता है।

3. एफ० ए० एस० मूल्य (फ्री अलांग साइड दि शिप): यदि निर्यातक अथवा विक्रेता तथा आयातकर्ता अथवा क्रेता के बीच लेनदेन इस मूल्य पर तय हुआ है तो निर्यातक वस्तुओं को अपने गोदाम से लेकर बंदरगाह के समीप रेलवे स्टेशन तक पहुंचाने के समस्त व्यय स्वयं वहन करता है। इस मूल्य को एफ० ओ० आर० मूल्य में रेलवे भाड़ा जोड़ कर ज्ञात किया जाता है।

4. एफ० ओ० बी० मूल्य (फ्री ग्रान बोर्ड प्राइस) : इस मूल्य के तहत वस्तुओं का विक्रय करने में वस्तुओं को बंदरगाह तक पहुंचाने तथा उनको जहाज में लदवाने तक के समस्त व्यय निर्यातक अथवा विक्रेता द्वारा वहन किए जाते हैं।

5. सी० ऐंड एफ० मूल्य (कास्ट ऐंड फ्रेट प्राइस) : यदि आयातकर्ता ने वस्तुएं इस मूल्य पर क्रय की हैं तो इसका आशय यह है कि वस्तुओं को आयातकर्ता के बंदरगाह तक पहुंचाने के समस्त व्यय वस्तुओं के मूल्य में ही जुड़े हैं अर्थात इनका भुगतान निर्यातक द्वारा किया जाएगा। इस मूल्य को एफ० ओ० बी० मूल्य में जहाज का भाड़ा जोड़ कर ज्ञात किया जाता है।

6. सी० आइ० एफ० मूल्य (कास्ट इंश्योरेंस ऐंड फ्रेट प्राइस) : इस मूल्य के अंतर्गत निर्यातक को वस्तुएं आयातकर्ता के बंदरगाह तक पहुंचाने के समस्त व्यय, बीमा प्रीमियम सहित वहन करने पड़ते हैं।

7. फ्रेन्को मूल्य (फ्रेन्को प्राइस) : यह मूल्य स्थानीय मूल्य का बिल्कुल विपरीत है क्योंकि इसके अंतर्गत निर्यातक अथवा विक्रेता वस्तुओं को अपने गोदाम से लेकर आयातकर्ता अथवा क्रेता के गोदाम तक पहुंचाने के समस्त अतिरिक्त व्यय वहन करता है और आयातकर्ता अथवा क्रेता वस्तुओं का फ्रेन्को मूल्य चुकता करके वस्तुएं अपने गोदाम पर ही प्राप्त कर सकता है।

साख पत्र

साख पत्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाने वाला एक दस्तावेज है जिसे भुगतान प्राप्त करने की विधि के रूप में भी समझा जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान प्राप्त करने के लिए प्रचलित विधियों में से इसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। यहां तक कि हमारे देश के कुल निर्यातों के मूल्य का लगभग 70% बैंक के साख पत्र के माध्यम से प्राप्त किया जाता है।

सामान्यतया साख पत्र किसी व्यापारी, व्यक्ति अथवा बैंक द्वारा किसी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था के नाम लिखा गया एक पत्र है जिसमें लिखने वाला पक्ष उस संस्था अथवा व्यक्ति से यह प्रार्थना करता है अथवा आदेश देता है कि वह पत्र में निर्दिष्ट व्यक्ति को एक निश्चित धनराशि का भुगतान प्रदान करे अथवा उसे निश्चित राशि की साख प्रदान करे। साथ ही साथ साख पत्र का लेखक यह वचन देता है कि वह उस व्यक्ति अथवा संस्था को (जिसे उसने आदेश दिया है) साख पत्र के अंतर्गत प्रदान की गई धनराशि का भुगतान कर देगा अथवा उस राशि का विनिमय बिल स्वीकार कर लेगा।

साख पत्र मुख्य रूप से दो उद्देश्यों के लिए लिखे जाते हैं। या तो विदेशों में यात्रा करने वाले व्यक्ति को भुगतान में आसानी प्रदान करने के लिए अथवा निर्यातक द्वारा निर्यात की गई वस्तुओं के मूल्य का भुगतान प्राप्त करने के लिए। साख पत्र से निर्यातक को कई लाभ प्राप्त हो सकते हैं। एक ओर निर्यातक को वस्तुओं के मूल्य का भुगतान प्राप्त करने की निश्चितता बनी रहती है और इससे संबंधित जोखिम से वह पूर्ण सुरक्षित रहता है। इसके अतिरिक्त साख पत्र के अंतर्गत लिखा गया विनिमय बिल आसानी से भुनाया जा सकता है।

खंड : चार

संगठन एवं प्रबंध

20

संगठन

जब कभी सामूहिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति आपस में मिलकर कार्य करते हैं, वहां संगठन आवश्यक है। मनी के अनुसार, 'संगठन वहां से प्रारंभ होता है जब किसी दिए गए उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कई व्यक्ति अपने प्रयत्नों को संयोजित करते हैं।' संगठन के विकास के प्रारंभिक चरणों से ही संगठन श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित रहा है और कालांतर में मानवीय क्रियाओं में विस्तार के फलस्वरूप इसकी जटिलता बढ़ती गई है। जहां तक व्यावसायिक क्रिया का प्रश्न है विकास के प्रारंभिक चरणों में यह क्रिया सरल एवं सहज थी, पर औद्योगिक क्रांति, व्यवसाय के नए नए स्वरूपों के विकास के फलस्वरूप उनमें निहित संगठनों की क्रिया भी जटिल होती जा रही है। आज संगठन का जटिल रूप प्रारंभिक काल में सरल एवं सहज संगठन का ही विकास समझा जाता है। व्यवसाय के क्षेत्र में बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं में काफी अधिक संख्या में कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं और उनके कार्य व्यापक एवं विस्तृत होने के कारण उनको विभिन्न विभागों के माध्यम से ही संचालित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में संस्था में कार्यरत समस्त कर्मचारियों के कार्यों एवं क्रियाओं को समन्वित करके प्रभावपूर्ण ढंग से संस्था के सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए संगठन के ढांचे या रूपरेखा का पहले की अपेक्षा जटिल एवं विस्तृत होना स्वाभाविक है क्योंकि संगठन का ढांचा मूल रूप से संस्था में कार्यरत कर्मचारियों के अधिकार एवं उत्तरदायित्वों को ध्यान में रखकर तैयार किया जाता है।

प्रत्येक प्रकार के संगठन का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों के समूह को, जो विभिन्न कार्यों में विशिष्ट ज्ञान व अनुभव प्राप्त हैं, तथा उनके कार्यों को निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समन्वित करना है। संगठन को व्यावसायिक प्रशासन का व्यावहारिक पहलू भी समझा जाता है। संस्था का प्रशासन एवं प्रबंध संस्था के संगठन के उस ढांचे पर आधारित रहता है जिसमें विभिन्न कर्मचारियों के कर्तव्यों, अधिकारों एवं दायित्वों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाता है। संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उनके बीच क्रियात्मक संबंध स्थापित करके प्रबंधकों द्वारा निर्धारित नीतियों एवं योजनाओं को इसी संगठनात्मक ढांचे के माध्यम से क्रियान्वित किया जाता है।

परिभाषा

संगठन मूलतः दो या दो से अधिक व्यक्तियों के प्रयत्नों को सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समन्वित करना है। इस संदर्भ में कुछ लोग इसे संचार व्यवस्था समझते हैं, कुछ लोग समस्याओं का समाधान करने का तरीका समझते हैं और कुछ इसे व्यवसाय में निर्णय के कार्य को सहज बनाने की प्रक्रिया समझते हैं। व्यापक दृष्टिकोण से संगठन का अर्थ

व्यक्तियों के उस समूह से है जो सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिलकर कार्य करते हैं। हालांकि संगठन शब्द का प्रयोग प्रारंभिक काल से ही किया जाता रहा है, फिर भी इस शब्द की विभिन्न परिभाषाओं में से कोई भी परिभाषा अपने में पूर्ण एवं सर्वमान्य नहीं समझी जाती है। कुछ लेखकों ने इसे एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है और कुछ लेखक इसे संस्था में कर्मचारियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का ढांचा समझते हैं। इस शब्द की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं।

एलिन लुइस के अनुसार, 'संगठन किए जाने वाले कार्यों को निर्धारित करने, उसे एक क्रम में रखने, अधिकारों एवं दायित्वों को परिभाषित करने एवं उन्हें सौंपने और संबंध स्थापित करने की ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रभावपूर्ण ढंग में कार्य करके उद्देश्यों को पूरा करने के योग्य बनाया जाता है।'

संगठन की यह परिभाषा काफी व्यापक एवं प्रचलित है क्योंकि इसके अंतर्गत संगठन शब्द को एक प्रक्रिया के रूप में तथा अधिकार एवं दायित्वों के ढांचे के रूप में परिभाषित किया गया है ताकि सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्यों का निर्धारण, उनको विभिन्न समूहों में रखना, इन समूहों को विभिन्न कर्मचारियों को सौंपना, उनके अधिकारों एवं दायित्वों को परिभाषित करते हुए और उनमें संबंध स्थापित करके सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

कुन्ट्ज ओ० डोनेल के शब्दों में, 'संगठन आवश्यकीय रूप से निष्पादन का ऐच्छिक ढांचा है, निर्णयों के संचार के केंद्रों का जाल है, जिसमें सामूहिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों में समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।' संगठन शब्द की यह परिभाषा भी उपयुक्त समझी जाती है। हालांकि इसमें संगठन की प्रक्रिया में निहित विभिन्न तत्वों का वर्णन नहीं किया गया है फिर भी लेखक ने संगठनात्मक ढांचे पर बल देते हुए व्यक्तियों के प्रयत्नों में सामूहिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समन्वय उत्पन्न करने हेतु इसे निर्णयों के संचार व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है, जो संगठन के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार एच० एल० हैने के शब्दों में, 'किसी सामान्य उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट अंगों की मैत्रीपूर्ण व्यवस्था संगठन कहलाती है।' संगठन की यह परिभाषा काफी संक्षिप्त होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से व्यापक एवं विस्तृत है। इस परिभाषा के अंतर्गत संगठन की व्यवस्था को व्यापक दृष्टिकोण से परिभाषित किया गया है और यह बताया गया है कि संगठन की व्यवस्था व्यवसाय में संलग्न विशिष्ट अंगों का सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनुकूलतम संयोजन या समन्वय है।

स्प्रेगल ने भी इस शब्द की एक व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार, 'व्यापक अर्थों में संगठन दिए हुए प्रयत्न में निहित विभिन्न घटकों के बीच का संबंध है और उत्पादन इकाई का संगठन उत्पादन इकाई के अंतर्गत कर्मचारियों के उत्तरदायित्वों, मशीनों के विभाजन एवं व्यवस्था तथा कच्चे माल का नियंत्रण आदि के बीच प्राथमिक एवं आंतरिक संबंध है। और संपूर्ण व्यावसायिक उपक्रम के लिए संगठन उपक्रम के विभिन्न घटकों के बीच संरचनात्मक संबंध है।'

इस परिभाषा में लेखक ने संगठन शब्द को काफी व्यापक दृष्टिकोण से परिभाषित किया है जिसमें संगठन के अंतर्गत केवल कर्मचारियों के अधिकार, कर्तव्यों को ही सम्मिलित नहीं किया गया है बल्कि संगठन को व्यवसाय के विभिन्न साधनों के बीच संबंध एवं समन्वय स्थापित करने की व्यवस्था कहा गया है, जो काफी सीमा तक उचित प्रतीत होता है। क्योंकि व्यवसाय में सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति केवल मानवीय कार्यों एवं क्रियाओं से ही नहीं होती है बल्कि उसके लिए अन्य गैर मानवीय साधनों को संयोजित

एवं समन्वित किया जाना भी आवश्यक होता हैं।

संगठन की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संगठन में निम्न विशेषताएं होती हैं :

(अ) संगठन मूल रूप से व्यक्तियों का एक समूह है जिसका आकार छोटा अथवा बड़ा हो सकता है।

(ब) व्यक्तियों का यह समूह प्रबंधक के नेतृत्व में कार्य करता है जिसे निर्देशन अधिकार प्राप्त होते हैं, जिसके द्वारा वह समूह के व्यक्तियों के कार्यों को निर्देशित करता है।

(स) संगठन स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सामूहिक उद्देश्यों को प्राप्त करना है।

(द) संगठन संक्षेप में, संस्था में कार्यरत कर्मचारियों के बीच अधिकार एवं दायित्वों का संबंध एवं समन्वय है।

(य) संगठन के अंतर्गत विभिन्न कर्मचारियों के बीच क्रियात्मक संबंध स्थापित किया जाता है।

(र) संगठन प्रक्रिया में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण करके उन्हें विभिन्न श्रेणियों में रखकर निष्पादित करने के लिए कर्मचारियों में उनकी योग्यता एव क्षमता के अनुसार सौंप दिए जाते हैं।

(ल) सौंपे गए कार्य के प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादन के लिए उन्हें आवश्यक अधि-कार भी दे दिए जाते हैं।

संगठन शब्द को मुख्य रूप से दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है :

संगठन एक प्रक्रिया के रूप में : विभिन्न लेखकों ने संगठन को एक प्रक्रिया मानकर परि-भाषित किया है। अर्नेस्ट डेल के अनुसार संगठन ऐसी प्रक्रिया है जो (i) यह निर्धारित करती है कि नियत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए, (ii) आवश्यक क्रियाओं को इस प्रकार छोटे छोटे हिस्सों में विभाजित करना ताकि प्रत्येक हिस्से को एक व्यक्ति निष्पादित कर सके, (iii) समन्वय के साधन प्रदान करना जिसमें कोई प्रयत्न विफल न हो और सदस्य एक कार्य करने में दूसरे के लिए बाधक न हों।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि संगठन की प्रक्रिया में निम्न पांच तत्व सम्मिलित हैं :

(अ) सर्वप्रथम संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्धारण,

(ब) इन समस्त क्रियाओं का विभिन्न छोटे छोटे समूहों में विभाजन,

(स) क्रियाओं के इन समूहों को निष्पादन हेतु अलग अलग कर्मचारियों में उनकी योग्यता एवं अनुभव के अनुसार सौंपना,

(द) इस प्रकार सौंपे गए कार्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करवाने के लिए कर्मचारियों को आवश्यक अधिकार सौंपना,

(य) संस्था के अंतर्गत विभिन्न विभागों एवं व्यक्तियों को जो कार्य सौंपे गए हैं उनके निष्पादन हेतु उनमें सहयोग एवं एकता की भावना बनाए रखना और उनके कार्यों को समन्वित करना।

संगठन एक ढांचे के रूप में : इस अर्थ में संगठन संस्था के अंतर्गत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न कर्मचारियों द्वारा अदा की गई भूमिकाओं का ढांचा समझा जाता है और इस ढांचे को इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि कार्य करने के वातावरण में स्पष्टता हो क्योंकि इससे प्रत्येक कर्मचारी यह जान सकता है कि उसे क्या कार्य करना

है और वह किन परिणामों के लिए जिम्मेदार है। संगठनात्मक ढांचा एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें संस्था के विभिन्न कर्मचारियों के बीच अधिकार एवं दायित्व का संबंध परिभाषित किया जाता है। उनके बीच क्रियात्मक संबंध स्थापित किए जाते हैं, ताकि प्रत्येक कर्मचारी संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अपने अंशदान के महत्व को समझे और एक जिम्मेदार कर्मचारी की भांति कार्य करे। इसके अतिरिक्त उसे संगठन में अपनी स्थिति का सही सही ज्ञान हो कि उसे किस कर्मचारी से आदेश एवं निर्देश प्राप्त करने हैं और किस कर्मचारी को वह आदेश, निर्देश देने का अधिकार रखता है।

किसी भी संस्था में संगठनात्मक ढांचा दो प्रकार का हो सकता है :

(अ) औपचारिक संगठन,

(ब) अनौपचारिक संगठन।

(अ) औपचारिक संगठन : संस्था में विभिन्न क्रियाएं निष्पादन हेतु विभिन्न विभागों तथा कर्मचारियों को सौंप दी जाती हैं और उन्हें निष्पादित करने के लिए साथ ही साथ आवश्यक अधिकार भी सौंप दिए जाते हैं। मूल रूप से संस्था में उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों के द्वारा कर्मचारियों के बीच परस्पर संबंध स्थापित हो जाते हैं और इसी संबंध के आधार पर संगठन के संपूर्ण ढांचे की संरचना की जाती है जिसे औपचारिक संगठनात्मक ढांचा कहा जाता है। इस प्रकार के ढांचे में या संगठन की व्यवस्था में प्रत्येक कर्मचारी की संगठन में स्थिति एवं भूमिका उसको प्राप्त दायित्वों एवं अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए निश्चित की जाती है एवं परिभाषित की जाती है। इससे प्रत्येक कर्मचारी को यह भलीभांति ज्ञात होता है कि वह किस कर्मचारी के अधीन कार्य कर रहा है अथवा उसे किस कर्मचारी के द्वारा अधिकार सौंपे गए हैं तथा कौन कौन कर्मचारी उसके प्रति उत्तरदायी हैं। जैसे, यदि उसे अपने कार्य को पूरा करने में कोई कठिनाई अनुभव होती है या वह इस संबंध में सलाह एवं राय की आवश्यकता अनुभव करता है तो वह संगठनात्मक ढांचे में उसी कर्मचारी से संपर्क स्थापित करेगा जिसके नियंत्रण में वह कार्य कर रहा है।

संक्षेप में, औपचारिक संगठन के अंतर्गत संस्था के प्रत्येक स्तर के कर्मचारियों की स्थिति, भूमिका, अधिकार एवं दायित्व स्पष्ट रूप से परिभाषित किए जाते हैं और इस प्रकार के संगठन में अधिकार उच्च स्तर के कर्मचारी द्वारा निम्न स्तर के कर्मचारी को सौंपे जाते हैं। दूसरे शब्दों में, अधिकारों का बहाव संगठन के उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर होता है। एक औपचारिक संगठन में निम्न विशेषताएं होती हैं :

(i) इस प्रकार का संगठन सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित होता है क्योंकि इसके अंतर्गत प्रत्येक कर्मचारी द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों में सरलता एवं सुगमता बनी रहती है।

(ii) औपचारिक संगठन का आधार एक कर्मचारी द्वारा दूसरे कर्मचारी को सौंपे गए अधिकार हैं क्योंकि इसी से वे संगठन में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

(iii) अधिकारों का बहाव संगठन के ऊंचे स्तर से निम्न स्तरों को होता है।

(iv) प्रत्येक स्तर में कर्मचारी की स्थिति, अधिकार, उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से परिभाषित रहते हैं।

(v) इस प्रकार के संगठन में आदेशों की एकात्मकता को बनाए रखा जाता है।

(vi) औपचारिक संगठन में श्रम विभाजन की व्यवस्था संभव है क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी को उसके ज्ञान एवं अनुभव के अनुसार तथा उसकी रुचि को दृष्टि में रखते हुए उसे उपयुक्त कार्य सौंपा जाता है।

औपचारिक संगठन के लाभ इस प्रकार हैं :

(i) कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि : औपचारिक संगठन व्यवस्था से संस्था में कार्यरत समस्त कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि की जा सकती है क्योंकि उनकी कार्यस्थिति की स्पष्टता एवं सुव्यवस्थित निष्पादन से, स्वाभाविक रूप से कार्य निष्पादित करने में समय, धन एवं प्रयत्न की बचत होती है और अपव्ययों को कम किया जा सकता है।

(ii) औपचारिक संगठनात्मक ढांचा तैयार करने से संस्था में प्रत्येक कर्मचारी का मनोबल ऊंचा बना रहता है क्योंकि संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में प्रत्येक कर्मचारी को अपने अंशदान का महत्व ज्ञात रहता है जिसके फलस्वरूप वह यह अनुभव करता है कि उसकी सेवाओं का संस्था एवं समाज को भी लाभ मिल रहा है।

(iii) औपचारिक संगठन में प्रत्येक कर्मचारी जिम्मेदार कर्मचारी की भांति कार्य करता है क्योंकि उसे अपने कार्य के प्रति जिम्मेदारी का सही ज्ञान प्राप्त होता है और जिम्मेदारी के सही निर्धारण से वह अपने कार्य की जिम्मेदारी अन्य कर्मचारियों पर नहीं थोप सकता है।

(iv) इस प्रकार के संगठन में कर्मचारियों के बीच अपने कार्य के निष्पादन में कोई मतभेद उत्पन्न नही होता है क्योंकि संस्था में प्रत्येक कर्मचारी के कार्य की सीमाएं स्पष्ट रूप से निर्धारित रहती है।

(v) प्रत्येक कर्मचारी अपना कार्य संतोषजनक ढंग से निष्पादित कर सकता है क्योंकि यदि कार्य निष्पादित करने में उसे कोई कठिनाई अनुभव होती है तो वह तुरंत अपने निकटतम वरिष्ठ अधिकारी (जिसके अधीन वह कार्य कर रहा है) से संपर्क स्थापित करके उसकी सलाह प्राप्त करके समस्या का समाधान कर सकता है।

(vi) इस प्रकार के संगठन में संस्था का संपूर्ण संगठन एक ही व्यक्ति पर आधारित नहीं होता। संस्था के विभिन्न कर्मचारियों में संगठन से संबंधित अधिकार एवं उत्तरदायित्व वितरित किए जाते हैं।

औपचारिक संगठन के दोष निम्नलिखित है :

(i) औपचारिक संगठन में कर्मचारियों के आत्मबल तथा रचनात्मक शक्तियों का विकास संभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी का कार्य यांत्रिक प्रकृति का हो जाता है और वह पूर्ण रूप से अपने निकटतम वरिष्ठ अधिकारी के आदेशों एवं निर्देशों के अनुसार कार्य करता है जिससे कार्य के प्रति रुचि का अभाव उत्पन्न होने लगता है।

(ii) इस प्रकार के संगठनात्मक ढांचे में कर्मचारियों में परस्पर सुझाव, संदेश, सलाह आदि का अनौपचारिक आदान-प्रदान नहीं हो सकता है।

(iii) इस प्रकार की संगठन व्यवस्था अधिक खर्चीली समझी जाती है क्योंकि श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ स्थितियों में अनावश्यक विभाग भी स्थापित कर दिए जाते हैं।

(iv) व्यवहार में यह भी पाया गया है कि संगठनात्मक ढांचे में वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ कार्यरत कर्मचारियों के प्रति अपने अधिकारों का अनावश्यक रूप से दुरुपयोग भी करते हैं।

संक्षेप में, औपचारिक संगठनात्मक ढांचे को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण तत्व, जैसे लागत, कर्मचारियों की कार्यक्षमता, मानवीय तत्वों का महत्व, अधिकारों का प्रयोग तथा अनौपचारिक संचार व्यवस्था आदि को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए ताकि संस्था के सामान्य उद्देश्य अधिकतम कार्यक्षमता एवं कार्यकुशलता से प्राप्त किए जा सकें।

(ब) अनौपचारिक संगठन : संस्था में अनौपचारिक संगठन की स्थापना बिना किसी

योजना के अथवा पूर्ण जानकारी के स्वतः ही हो जाती है। कर्मचारी मूल रूप से एक सामाजिक प्राणी है। जब वह संस्था में अन्य कर्मचारियों के साथ सामूहिक रूप से मिल-जुलकर कार्य करता है तो इससे औपचारिक संगठन के अंतर्गत स्थापित संबंधों के अतिरिक्त उसके अन्य कर्मचारियों के साथ कुछ व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंध भी स्थापित हो जाते हैं।

दूसरे शब्दों में, अनौपचारिक संगठन का अर्थ कर्मचारियों के बीच उत्पन्न उन व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों से है जो सामूहिक रूप से कार्य करने में स्वतः ही स्थापित हो जाते हैं। प्रो० डेविस के शब्दों में, 'अनौपचारिक संगठन व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों का एक ऐसा जाल है जो बिना औपचारिक संगठन के ही स्थापित हो जाता है।'

व्यवहार में यह स्वीकार किया जाता है कि कर्मचारियों में अनौपचारिक संगठन की स्थापना स्वाभाविक है क्योंकि कर्मचारी के सामाजिक पहलू को कार्य करने के सकर्मक, संगठनात्मक ढांचे से समाप्त नहीं किया जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कर्मचारियों में कुछ गुणों की समानता, रुचि की एकरूपता होती है एवं अन्य कर्मचारियों के साथ संपर्क के कारण कुछ व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंध उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे, यदि संगठन में किसी स्तर के कर्मचारी को कार्य करने में कोई कठिनाई अनुभव होती है तो वह इसको दूर करने के लिए औपचारिक संगठन के अंतर्गत अपने निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी के पास न जाकर अपने बराबर अथवा उच्च स्तर के कर्मचारी (जिसके साथ उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंध हैं) से आवश्यक सलाह प्राप्त कर लेता है।

विशेषताएं : (i) अनौपचारिक संगठन की स्थापना स्वतः स्वाभाविक रूप से हो जाती है।

(ii) इस प्रकार के संगठन का मुख्य आधार पूर्व जानकारी एवं नियोजन न होकर व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंध हैं।

(iii) संस्था के संगठन के चार्ट में अनौपचारिक संगठन को कोई स्थान नहीं दिया जाता है क्योंकि इसकी स्थापना औपचारिक ढंग से नहीं होती है।

(iv) इस संगठन के विकास के मुख्य कारण हैं, कर्मचारियों के जीवन का सामाजिक पहलू, व्यक्तिगत रुचि, व्यवहार की आदतें, रीति-रिवाज एवं अन्य कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत संबंध आदि।

(v) इस प्रकार के संगठन में कोई नियम आदि निर्धारित नहीं होते हैं न इसकी सीमाएं एवं कार्यकाल ही निश्चित होते हैं।

अनौपचारिक संगठन के लाभ निम्नलिखित हैं :

(i) अनौपचारिक संगठन संस्था में औपचारिक संगठन का पूरक एवं सहायक है क्योंकि इससे औपचारिक संगठन की कमियां दूर की जाती हैं और संस्था के जिस क्षेत्र में औपचारिक संगठन का अभाव होता है अनौपचारिक संगठन से उसे भी दूर किया जा सकता है।

(ii) व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों को स्थापित करके कर्मचारियों में स्थायित्व की भावना एवं अपने कार्य के प्रति संतुष्टि बनी रहती है।

(iii) अनौपचारिक संगठन संस्था में कर्मचारियों के बीच सूचनाओं, संदेशों एवं सुझावों के आदान-प्रदान की व्यवस्था को सहज एवं सुगम बनाता है।

(iv) इस प्रकार के संगठन को स्थापित करने में न तो संस्था को कोई व्यय वहन करना पड़ता है और न इसके लिए किसी व्यवस्था की आवश्यकता ही होती है क्योंकि

इसकी स्थापना स्वतः स्वाभाविक रूप से व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों के आधार पर हो जाती है। इसके अतिरिक्त अनौपचारिक संगठन की विद्यमानता से संस्था का वरिष्ठ कर्मचारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी के प्रति प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करने से हतोत्साहित होता है।

इस प्रकार के संगठन का मुख्य दोष यह है कि इससे एक ओर तो औपचारिक संगठन के ढांचे के अनुसार कार्य करने में बाधा उत्पन्न होती है और कर्मचारी छोटे छोटे समूह बनाते है और आपसी फूट बढ़ती है।

संगठन के रूप

संगठन मूल रूप से श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित होता है। संगठन के अंतर्गत विभिन्न कर्मचारियों की क्रियाओं एवं कार्यो को इस प्रकार से व्यवस्थित एवं समन्वित किया जाता है कि प्रत्येक कर्मचारी अपनी योग्यता, विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव के उपयुक्त कार्य प्राप्त कर सकता है और अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से एवं कुशलतापूर्वक संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने मे योगदान दे सकता है। इसके अतिरिक्त संगठन के अंतर्गत सामान्य तौर से प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार, उत्तरदायित्व एवं उनकी स्थिति आदि का निर्धारण करके कार्य व्यवस्था में स्पष्टता लाई जाती है।

संस्था की विभिन्न योजनाएं सफलतापूर्वक तभी क्रियान्वित की जा सकती हैं यदि संगठनात्मक ढांचे के द्वारा विभिन्न कर्मचारियों के बीच उपयुक्त संबंध स्थापित किया जा सके और उनके कार्यो को समन्वित किया जा सके। इसीलिए व्यवहार में प्रबंधकीय क्रियाओं को निष्पादित करने के लिए प्रत्येक संस्था बराबर यह प्रयास करती रहती है कि संस्था में एक कुशल एवं प्रभावशाली संगठनात्मक ढाचे को स्थापित किए जाए। व्यवहार में प्रत्येक संस्था के लिए उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल अलग अलग संगठनात्मक ढांचों की संरचना की जाती है क्योंकि संगठन की रचना मुख्य रूप से व्यावसायिक क्रिया की प्रकृति एवं स्वरूप, व्यवसाय का आकार, कर्मचारियों से प्राप्त सहयोग आदि महत्वपूर्ण तत्वों पर आधारित होती है। व्यवहार में संगठन के जो विभिन्न रूप है उन्हें निम्न चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

(अ) पंक्तिगत या शीर्ष संगठन (लाइन आर्गनाइजेशन)
(ब) सकर्मक या कार्यात्मक संगठन (फंक्शनल आर्गनाइजेशन)
(स) शीर्ष तथा समांतर रेखा संगठन (लाइन ऐंड स्टाफ आर्गनाइजेशन)
(द) समिति संगठन (कमेटी आर्गनाइजेशन)

पंक्तिगत अथवा शीर्ष संगठन

संगठन का यह सबसे प्राचीन रूप है जो सैनिक प्रशासन में सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय रहा है। इसके अतिरिक्त चर्चों का संगठन भी इसी प्रकार के संगठन के अंतर्गत किया जाता रहा है। इस प्रकार के संगठन में कर्मचारियों के अधिकारों की लंबवत पंक्ति होती है और इस पंक्ति में अधिकारों का बहाव, सर्वोच्च स्तर से निम्न स्तरों को एक निर्धारित पंक्ति के अनुसार किया जाता है तथा दायित्वों का बहाव अधिकारों की विपरीत दिशा में निम्न स्तर से उच्च स्तरों को बना रहता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के संगठन के अंतर्गत निर्देशन व नियंत्रण का अधिकार संपूर्ण संस्था के कर्मचारियों के लिए संगठन के सर्वोच्च अधिकारी द्वारा निम्न स्तर के अन्य अधिकारियों तथा कर्मचारियों को सीधे लंबवत रूप में सौंपा जाता है।

पंक्तिगत संगठन में संस्था के अंतर्गत विभिन्न विभाग स्थापित किए जाते हैं।

प्रत्येक विभाग से संबंधित क्रियाओं को अलग अलग समूहों में विभाजित कर दिया जाता है। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता है जो संस्था के सर्वोच्च स्तर के अधिकारी से अधिकार प्राप्त करता है और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को इन अधिकारों का कुछ अंश सौंपता है जो वास्तव में सबसे निम्न स्तर पर श्रमिकों के कार्यों का निरीक्षण एवं नियंत्रण करते हैं। जैसे एक संस्था में अन्य संस्थाओं की भांति उत्पादन विभाग भी अस्तित्व में हो तो इस विभाग का अध्यक्ष यानी उत्पादन प्रबंधक उसे सौंपे गए कार्यों को पूरा करने के लिए संस्था के मुख्य प्रबंधक से अधिकार प्राप्त करता है और अपने अधीन कार्यरत अन्य सहायक, जैसे उप उत्पादन प्रबंधक, को इन अधिकारों का कुछ अंश हस्तांतरित करता है। इसी प्रकार उप उत्पादन प्रबंधक प्राप्त अधिकारों का कुछ अंश अपने अधीन कार्यरत निरीक्षक को सौंपता है जो अंतिम रूप से श्रमिकों के कार्य का निरीक्षण एवं नियंत्रण करता है। इस प्रकार के संगठन में उत्तरदायित्वों का बहाव अधिकारों के बहाव के विपरीत निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर बना रहता है क्योंकि श्रमिकों का निरीक्षक उप उत्पादन प्रबंधक के प्रति जिम्मेदार होगा। उप उत्पादन प्रबंधक उत्पादन प्रबंधक के प्रति और इसी प्रकार उत्पादन प्रबंधक संस्था के मुख्य प्रबंधक के प्रति अपने कार्य के लिए जिम्मेदार होगा।

पंक्तिगत संगठन में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. अधिकारों का बहाव संगठन के सर्वोच्च स्तर से निम्न स्तरों की ओर होता है।
2. उत्तरदायित्वों का बहाव निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर बना रहता है।
3. इस प्रकार के संगठन में कर्मचारियों के बीच लंबवत संबंध होते हैं।
4. संगठन के प्रत्येक कर्मचारी को यह बात स्पष्ट रहती है कि उसे किस अधिकारी से अधिकार प्राप्त होंगे, जो उसका निकटतम वरिष्ठ अधिकारी होगा, और वह किस अधिकारी को प्राप्त अधिकारों का अंश सौंप सकेगा, जो उसका अधीनस्थ कहा जाएगा।

पंक्तिगत संगठन को निम्नलिखित चार्ट से भलीभांति समझा जा सकता है।
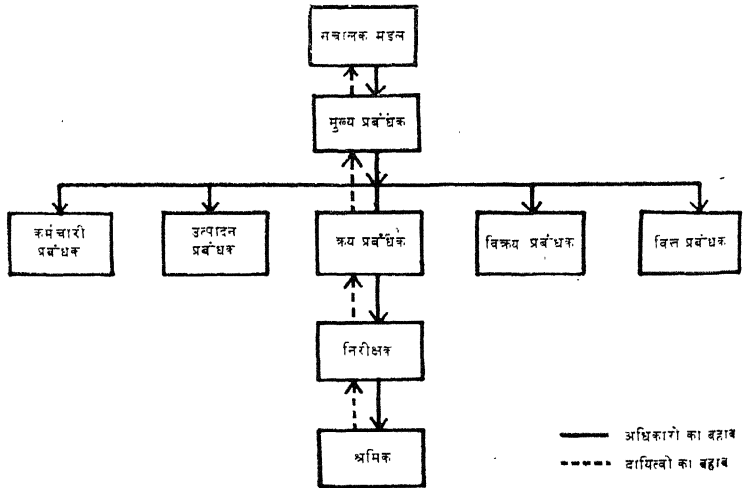
पंक्तिगत संगठन के लाभ

1. सरलता : संगठन का यह रूप सबसे अधिक सरल एवं आसान समझा जा सकता है

क्योंकि इसे कर्मचारियों को आसानी से समझाकर क्रियान्वित किया जा सकता है।

2. अधिकार एवं दायित्वों का स्पष्ट विभाजन : इस प्रकार के संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को यह स्पष्ट रहता है उसका निकटतम वरिष्ठ अधिकारी कौन है जिससे उसे अधिकार प्राप्त होते हैं और जिसके प्रति वह जिम्मेदार होता है, तथा उसके अधीन कर्मचारी कौन हैं जो उससे अधिकार प्राप्त करके उसके प्रति जिम्मेदार होता है।

3. अनुशासन : प्रत्येक विभाग का एक ही अध्यक्ष होने से कर्मचारियों में अनुशासन बना रहता है और कोई भी कर्मचारी अपनी जिम्मेदारी दूसरे कर्मचारी पर नहीं डाल सकता है।

4. शीघ्र निर्णय : ऐसे संगठन में किसी भी स्तर का प्रबंधक आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र निर्णय ले सकता है क्योंकि उसे अपने अधिकार एवं दायित्वों की सीमा का पूर्ण ज्ञान होता है।

5. नियंत्रण में आसानी : पंक्तिगत संगठन के अंतर्गत नियंत्रण की व्यवस्था सहज एवं सुगम बनी रहती है क्योंकि प्रत्येक निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी के कार्यों को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित करता है।

6. लोच : पंक्तिगत संगठन के ढांचे में पर्याप्त लोच होती है, क्योंकि व्यवसाय के आकार में वृद्धि या संकुचन की दशा में आवश्यकतानुसार अतिरिक्त विभागों की स्थापना करके या आवश्यक विभागों के अस्तित्व को समाप्त करके संगठन में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते है।

7. कुशल संचार व्यवस्था : शीर्ष संगठन संस्था में कुशल संचार व्यवस्था को भी सहज बनाते हैं क्योंकि समस्त कर्मचारी लंबवत रूप से एक दूसरे से जुड़े रहने के कारण उनके बीच संदेश, आदेश एवं निर्देश का आदान प्रदान सुगम रहता है।

8. विशिष्टीकरण : संगठन के इस स्वरूप के अंतर्गत प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक वरिष्ठ कर्मचारी प्राप्त अधिकारों का कुछ अंश अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंपता है।

पंक्तिगत संगठन के दोष

1. विशिष्टीकरण का अभाव : संगठन के अन्य स्वरूपों की तुलना में पंक्तिगत संगठन में पर्याप्त विशिष्टीकरण का अभाव पाया जाता है क्योंकि सारे उच्चस्तरीय प्रबंधकीय कार्य, जैसे योजना तैयार करना, नियंत्रण आदि प्रत्येक प्रबंधक चाहे वह संगठन के बिल्कुल निम्न स्तर पर फोरमैन की हैसियत से कार्य कर रहा हो उसे भी सौंपे जाते हैं। हो सकता है कि उसमें उच्च स्तरीय प्रबंधकीय कार्य निष्पादित करने के लिए पर्याप्त ज्ञान, कुशलता, योग्यता विद्यमान नहीं हो जिसके फलस्वरूप प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्टी-करण सीमित हो जाता है।

2. अत्यधिक जिम्मेदारियां : पंक्तिगत संगठन के अंतर्गत प्रबंधक के ऊपर जिम्मेदारियों का अत्यधिक भार रहता है क्योंकि वर्तमान जिम्मेदारियों के अतिरिक्त संस्था के व्यव-साय में विस्तार होने के कारण उसे अतिरिक्त जिम्मेदारियां भी वहन करनी पड़ती हैं जिससे उसमें शिथिलता उत्पन्न हो जाती है जिससे उसकी कार्यकुशलता पर बुरा असर पड़ता है।

3. समन्वय का अभाव : पंक्तिगत संगठन के अंतर्गत कर्मचारियों या विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय उत्पन्न करना काफी कठिन हो जाता है क्योंकि संस्था का प्रत्येक विभाग स्वतंत्र रूप से कार्य करता है और अधिकांश दशाओं में विभाग का प्रबंधक संस्था के सामूहिक उद्देश्यों के बजाय विभागीय उद्देश्यों को अधिक महत्व देता है।

4. कर्मचारियों में आत्मबल का अभाव : पंक्तिगत संगठन के तहत कर्मचारी अपने कार्य से संबंधित रचनात्मक शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता है, क्योंकि उसे पूर्णतया अपने निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी के आदेशानुसार, उसके नियंत्रण में कार्य करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसका कार्य यांत्रिक हो जाता है और उसमें कार्य के प्रति रुचि का अभाव उत्पन्न होने लगता है।

5. वरिष्ठ कर्मचारी द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग : पंक्तिगत संगठन में अधीनस्थ कर्मचारी अपने वरिष्ठ कर्मचारी के पूर्ण नियंत्रण में कार्य करता है, इसके फलस्वरूप वरिष्ठ कर्मचारी अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए अधीनस्थ कर्मचारी के प्राप्त अधिकारों का उपयोग कर सकता है।

6. प्रबंधकीय स्तरों में कठोरता : पंक्तिगत संगठन में यदि कुछ प्रबंधक अवकाश ग्रहण कर लेते हैं अथवा किन्हीं कारणों से संस्था से पृथक हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में संस्था के संगठन की संपूर्ण व्यवस्था विपरीत रूप से प्रभावित हो सकती है।

7. सीमित उपयोगिता : उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त व्यवहार में पंक्तिगत संगठन की उपयोगिता केवल लघु स्तरीय तथा मध्य स्तरीय संस्थाओं तक सीमित समझी जाती है, क्योंकि बड़े आकार की संस्थाओं में कार्यों की प्रकृति इस प्रकार की होती है कि प्रत्येक प्रबंधक उन कार्यों को अपने सीमित ज्ञान से कुशलतापूर्वक निष्पादित नहीं कर सकता है और उसे समय समय पर विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता अनुभव होती है, जैसे उत्पादन विभाग में इंजीनियर की सेवाएं, लागत लेखाकार की सेवाएं और कर्मचारी प्रबंध विभाग में मनोविज्ञान के ज्ञाता की सेवाएं आदि।

कार्यात्मक संगठन

प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्टीकरण के समस्त लाभ प्राप्त करने के लिए संपर्क संगठन स्थापित किया जाता है। व्यावसायिक संगठन क्रियाओं में विस्तार एवं जटिलता के परिणाम स्वरूप व्यवहार में यह संभव नहीं है कि इन समस्त व्यावसायिक क्रियाओं को एक संस्था में एक ही व्यक्ति प्रबंधित, संगठित एवं नियंत्रित कर सके, अत विभिन्न क्रियाओं एवं कार्यों से संबंधित विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए संगठन को सकर्मक रूप प्रदान किया जाता है। सकर्मक संगठन में विभिन्न क्रियाओं एवं कार्यों के विशेषज्ञों को संस्था के अंतर्गत संबंधित विभाग के प्रशासनिक अधिकार दे दिए जाते हैं, इस प्रकार एक विभाग की क्रियाओं को उसी विभाग का अध्यक्ष पूर्णतया प्रबंधित एवं नियंत्रित नहीं करता बल्कि उसमें विभिन्न संबंधित क्रियाओं के विशेषज्ञ भी सम्मिलित होते हैं इसके फलस्वरूप श्रमिक एक ही फोरमैन या निरीक्षक से आदेश तथा निर्देश प्राप्त नहीं करता है बल्कि उसे कई विशेषज्ञों के अधीन कार्य करना पड़ता है। संक्षेप में, सकर्मक संगठन के अंतर्गत विभाग के सारे कार्यों एवं क्रियाओं को निष्पादित करने के अधिकार विभागाध्यक्ष को नहीं होते हैं बल्कि विशिष्ट क्रियाओं से संबंधित अधिकार विशेषज्ञों को दे दिए जाते हैं, इसके लिए संस्था में विशेषज्ञों के विभिन्न विभाग स्थापित कर दिए जाते हैं और इन विशिष्ट विभागों का विशिष्ट कार्य या क्रिया में समस्त विभागों के ऊपर नियंत्रण बना रहता है, इसमें मुख्य विभागों के अध्यक्षों के कुछ अधिकार कम करके सेवा विभागों के विशेषज्ञों को दिए जाते हैं जो मुख्य विभाग के अध्यक्ष की ही भांति संबंधित क्रिया का निष्पादन करने के लिए अधिकारों का प्रयोग करते हैं। सकर्मक संगठन की रचना को निम्न चार्ट की सहायता से समझा जा सकता है।
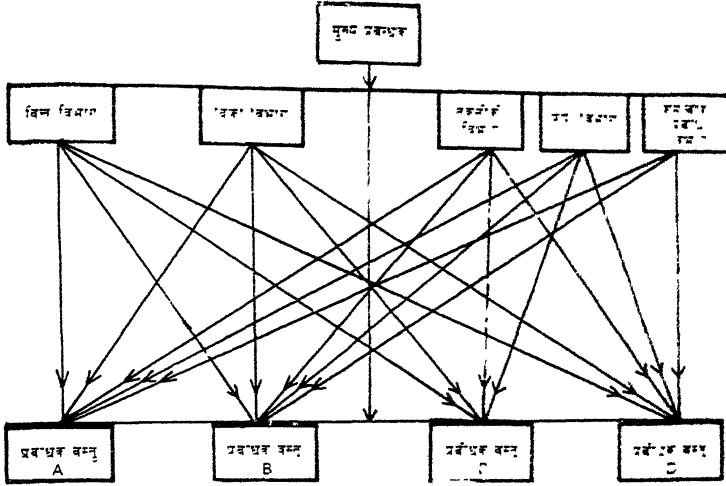
उपर्युक्त चार्ट में वित्त, बिक्री, तकनीकी, क्रय एवं कर्मचारी प्रबंध, ये विभाग सेवा विभागों के रूप में कार्य करते है, और संस्था में वस्तु के अनुसार, चार मुख्य विभाग ए, बी, सी और डी स्थापित हैं। इन विभागों की विशिष्ट क्रियाओं को निष्पादित करने के लिए समस्त सेवा विभाग विशिष्ट क्रियाओं से संबंधित अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं, जैसे चारों मुख्य विभागों की वित्तीय क्रिया, वित्त विभाग द्वारा ही संचालित की जाती है और खरीदने का कार्यक्रम विभाग द्वारा निष्पादित किया जाता है, आदि।

एफ० डब्ल्यू० टेलर ने जिसको वैज्ञानिक प्रबंध का जन्मदाता कहा जाता है, सकर्मक संगठन के रूप को संस्था के बिल्कुल निम्न स्तर तक (कारखाना स्तर) लागू किया था, उसके अनुसार नियोजन कार्य एवं निष्पादन कार्य एक दूसरे से पृथक किया जाना चाहिए तथा कई श्रमिकों के कार्यों का नियोजन एवं नियंत्रण एक निरीक्षक को नही करना चाहिए बल्कि एक श्रमिक को विभिन्न निरीक्षक के अधीन कार्य करना चाहिए, और एक श्रमिक के कार्य को नियोजित एवं नियंत्रित करने के लिए आठ विभिन्न निरीक्षक होने चाहिए, इनमें से चार निरीक्षक या फोरमैन योजना कक्ष में कार्य करते हैं और बाकी चार निरीक्षक कर्मशाला में कार्य करते हैं।

योजना कक्ष

(i) समय एवं लागत क्लर्क : जिसका मुख्य कार्य, कार्य का समय निर्धारित करना एवं लागत का हिसाब-किताब रखना है।

(ii) निर्देश कार्ड क्लर्क : इसका मुख्य कार्य श्रमिक द्वारा किए जाने वाले कार्य के लिए कार्य विधि के बारे में आवश्यक निर्देश देना है।

(iii) कार्य मार्ग क्लर्क : इसके द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि कच्चा माल, तैयार माल में परिणित होने के लिए किस मार्ग से गुजरेगा।

(iv) अनुशासन क्लर्क : इसका मुख्य कार्य, कार्य व्यवस्था एवं अनुशासन को बनाए रखना है।

कर्मशाला

(i) टोली नायक : टोली नायक का कार्य, कार्य को नियोजित ढंग से करने के लिए मशीन एवं आवश्यक उपकरण को तैयार करना है।

(ii) गति नायक : इसका कार्य यह निर्धारित करना है कि कर्मशाला में मशीन किस गति से चलाई जाय ताकि उसमें टूट-फूट की संभावना कम हो।

(iii) मरम्मत नायक : मरम्मत नायक मशीनों को प्रभावपूर्ण ढंग से संचालित करने के लिए आवश्यक मरम्मत आदि की व्यवस्था करता है।

(iv) निरीक्षक : इसका मुख्य कार्य यह देखना है कि जो वस्तुएं उत्पादित की जा रही हैं, वे अच्छी एवं सही किस्म की हैं या नहीं।

टेलर द्वारा प्रतिपादित सकर्मक, फोरमैनशिप (फंक्शनल) की इस विधि को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है।
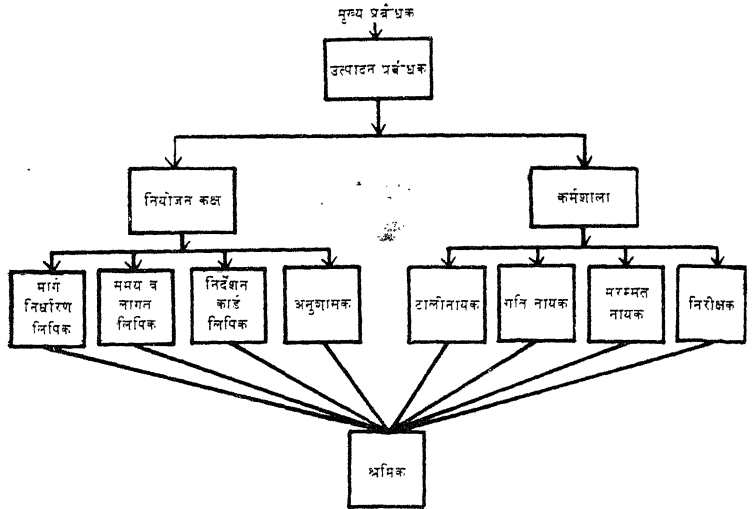
कार्यात्मक संगठन के लाभ

1. सकर्मक संगठन में विशिष्टीकरण के समस्त लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं क्योंकि संस्था के मुख्य विभागों में विशिष्ट कार्यों को विशिष्ट सेवा विभाग निष्पादित करता है।

2. इस प्रकार के संगठन में विभाग के प्रबंधक के पास अन्य महत्वपूर्ण क्रियाएं निष्पादित करने के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध रहता है, क्योंकि उसके विभाग का विशिष्ट प्रकृति का कार्य सेवा विभाग द्वारा निष्पादित किया जाता है। इस प्रकार विभागीय कार्यों के लिए उसके उत्तरदायित्व में कमी स्वाभाविक है।

3. प्रत्येक विभाग में कर्मचारी विभागीय कार्यों को ही निष्पादित करते हैं और जटिल एवं विशिष्ट कार्य सेवा विभाग के विशेषज्ञों द्वारा किए जाते हैं। इससे मुख्य विभाग के कर्मचारियों की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

4. इस प्रकार के संगठन में प्रत्येक कर्मचारी एक विशेष कार्य को ही बार बार करता है जिससे उस कार्य को करने में उसकी कुशलता का अधिकतम विकास संभव है।

दोष

1. सकर्मक संगठन व्यवस्था के अंतर्गत श्रमिकों में अनुशासनहीनता प्रोत्साहित होती है, क्योंकि एक कर्मचारी अथवा श्रमिक कई निरीक्षकों के आदेश तथा निर्देशानुसार उनके नियंत्रण में कार्य करता है।

2. कार्यों को विभिन्न छोटे छोटे भागों में बांटने से संगठन में जटिलता उत्पन्न होती है।

3. इस प्रकार के संगठन में कर्मचारी या श्रमिक अपने दायित्व एवं अधिकारों के बारे में संदेहजनक स्थिति में होता है क्योंकि उसको विभिन्न वरिष्ठ कर्मचारियों से आदेश एवं निर्देश प्राप्त होते रहते हैं।

4. सकर्मक संगठन में विभाग के प्रबंधकों तथा विशेषज्ञों के बीच समन्वय बनाए रखना काफी कठिन है क्योंकि व्यवहार में प्रबंधक एवं विशेषज्ञ, जो एक ही स्तर के कर्मचारी होते हैं, के बीच अपने अधिकारों के बारे में संघर्ष की संभावना रहती है।

5. सकर्मक संगठन में नियंत्रण कार्य भी जटिल हो जाता है क्योंकि अधिकार एक विभाग तक ही सीमित नहीं रहते बल्कि उनका विभिन्न विशेषज्ञों में विकेंद्रीकरण कर दिया जाता है।

6. संगठन के इस स्वरूप के अंतर्गत निर्णय लेने में प्रायः देरी हो जाती है क्योंकि किसी भी विभाग का प्रबंधक स्वतंत्र रूप से उस विभाग की समस्त क्रियाओं के बारे में निर्णय नहीं ले सकता है।

7. सकर्मक संगठन में संचार विधि भी कम प्रभावशाली होती है क्योंकि संगठन में उत्पन्न जटिलता एवं संदेहजनक स्थितियों के कारण संचार व्यवस्था में बार बार अनावश्यक रूप से बाधाएं पड़ती हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सकर्मक संगठन में जटिलता, अधिकार एवं दायित्वों में स्पष्टता का अभाव तथा प्रबंधकीय कार्यों में अत्यधिक विशिष्टीकरण के फलस्वरूप प्रबंधकीय कार्यों का निष्पादन भी कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त संस्था में इस संगठन का किस स्तर तक फैलाव किया जाए, यह सीमा निर्धारित करना अधिकांश दशाओं में संभव नहीं हो पाता। संगठन के इस स्वरूप का प्रयोग उन संस्थाओं द्वारा किया जाना चाहिए जिनकी क्रियाएं व्यावहारिक रूप से काफी जटिल हों और उनको निष्पादित करने के लिए विशेष ज्ञान वाले व्यक्तियों की आवश्यकता हो। इनमें संस्थाएं पूर्णतया सकर्मक संगठन रूप अपनाने के बजाय कुछ सीमा तक संगठन को पंक्तिगत संगठन का रूप देती हैं और केवल कुछ स्तरों में उसे सकर्मक बनाने का प्रयास करती हैं।

शीर्ष तथा समांतर रेखा संगठन

व्यवसाय के क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप दिन प्रतिदिन प्रबंधकीय कार्यों में जटिलता बढ़ती जा रही है। इन जटिल प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन के लिए संगठन के अभी तक वर्णित स्वरूप पर्याप्त नहीं समझे जाते हैं। पंक्तिगत संगठन में प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है और सकर्मक संगठन में आदेश की एकात्मकता (यूनिटी आफ कमांड) समाप्त हो जाती है और नियंत्रण कार्य प्रभावशाली ढंग से निष्पादित नहीं किया जा सकता है।

इसीलिए व्यवहार में प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त करते हुए समस्त प्रबंधकीय कार्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करने के लिए संगठन का एक नया रूप विकसित किया गया जिसे शीर्ष तथा समांतर रेखा संगठन कहा जाता है। इस स्वरूप

के अंतर्गत प्रबंधक समस्त प्रबंधकीय कार्यों जैसे, नियोजन, समन्वय, निर्देशन एवं नियंत्रण आदि को सुचारु रूप से एवं प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करने के लिए आवश्यक विशेषज्ञों की सेवाओं का प्रयोग करता है और सकर्मक संगठन के विपरीत इन विशेषज्ञों को प्रबंधक के विभाग में कोई प्रशासनिक अधिकार प्राप्त नहीं होता है। अर्थात प्रबंधक की स्थिति पंक्तिगत संगठन में स्थिति की भांति रहती है और ये विशेषज्ञ उसे केवल समय समय पर विभिन्न विशिष्ट क्रियाओं के संबंध में आवश्यक सलाह प्रदान करते हैं। इन विशेषज्ञों को स्टाफ कर्मचारी कहा जाता है और संगठन के संपूर्ण ढांचे में इनका कार्य सलाहकारी प्रकृति का होता है। इनके द्वारा विभाग के जिन प्रबंधकों को सलाह दी जाती है उन्हें क्रियात्मक प्रबंधक (आपरेशनल मैनेजर) कहा जाता है जो अपने विभाग में कार्यरत अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों को पूर्णतया नियोजित, नियंत्रित एवं समन्वित करते हैं।

संक्षेप में, शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन के ढांचे के अंतर्गत दो प्रकार के कर्मचारी कार्य करते हैं, प्रथम क्रियात्मक प्रवंधक और द्वितीय सहायक विशेषज्ञ। क्रियात्मक प्रबंधक पंक्तिगत संगठन की स्थिति में कार्य करते हैं और सहायक विशेषज्ञ क्रियात्मक प्रबंधक को विभाग से संबंधित प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में समय समय पर आवश्यक सलाह प्रस्तुत करके सहायता पहुंचाते हैं।

एलिन के शब्दों में, 'शीर्ष अथवा पंक्तिगत संगठन में वे स्थितियां एवं तत्व (क्रियात्मक प्रबंधक) सम्मिलित हैं जिन्हें संस्था के प्राथमिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्राप्त रहते हैं और स्टाफ में वे तत्व सम्मिलित हैं जिन्हें पंक्तिगत प्रबंधक को अपनी सलाह एवं सेवाएं प्रदान करने के अधिकार एवं दायित्व प्राप्त होते हैं।' इससे यह स्पष्ट होता है कि शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन पंक्तिगत संगठन एवं सकर्मक संगठन दोनों स्वरूपों का समन्वित एवं संयोजित रूप है। इसमें इन दोनों स्वरूपों के मूल तत्व सम्मिलित हैं और मूल अंतर केवल इतना है कि सहायक विशेषज्ञ संगठन में बिना किसी प्रशासनिक अधिकार के पंक्तिगत प्रबंधक अथवा क्रियात्मक प्रबंधक को विशिष्ट क्रियाओं से संबंधित आवश्यक सलाह एवं सुझाव प्रस्तुत करते हैं।

डेलयोडर के अनुसार शीर्ष एवं समांतर संगठन में सहायक विशेषज्ञों का कार्य मूल रूप से सलाहकारी एवं पूरक प्रकृति का होता है। इनको संगठन की पंक्ति से अलग कर दिया जाता है ताकि ये पंक्तिगत प्रबंधकों या क्रियात्मक प्रबंधकों को आवश्यक सलाह एवं सुझाव देकर उनको सहायता प्रदान कर सकें। सहायक विशेषज्ञों की यह जिम्मेदारी होती है कि वह उन तथ्यों को पंक्तिगत प्रबंधकों को प्रस्तुत करें जिनपर पंक्तिगत प्रबंधक के निर्णय आधारित हों। सहायक विशेषज्ञों को तकनीकी रूप से निपुण सलाह देने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए और पंक्तिगत प्रबंधकों के कार्यों का मूल्यांकन करके संबंधित नीतियों तथा व्यवहार की प्रभावशीलता निर्धारित की जा सके, ताकि इस प्रकार के मूल्यांकन के परिणाम, शोध कार्य एवं अन्य संगठनों से प्राप्त सूचना के साथ पंक्तिगत प्रबंधकों को प्रस्तुत किए जा सकें। सहायक विशेषज्ञ विभाग के मुख्य उत्तरदायित्व निम्न हैं :

(i) नीतियों को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना,
(ii) कार्यक्रम नियोजन,
(iii) निरंतर समालोचन एवं मूल्यांकन,
(iv) परामर्श,
(v) पंक्तिगत प्रबंधक को सेवाएं प्रदान करना।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन में सहायक विशेषज्ञ बिना कार्यकारी अधिकार प्राप्त किए हुए पंक्तिगत प्रबंधक या क्रियात्मक

प्रबंधक को प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में सलाह एवं अन्य सहायक सेवाएं प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के संगठन को समझने के लिए निम्न चार्ट की मदद ली जा सकतीहै।
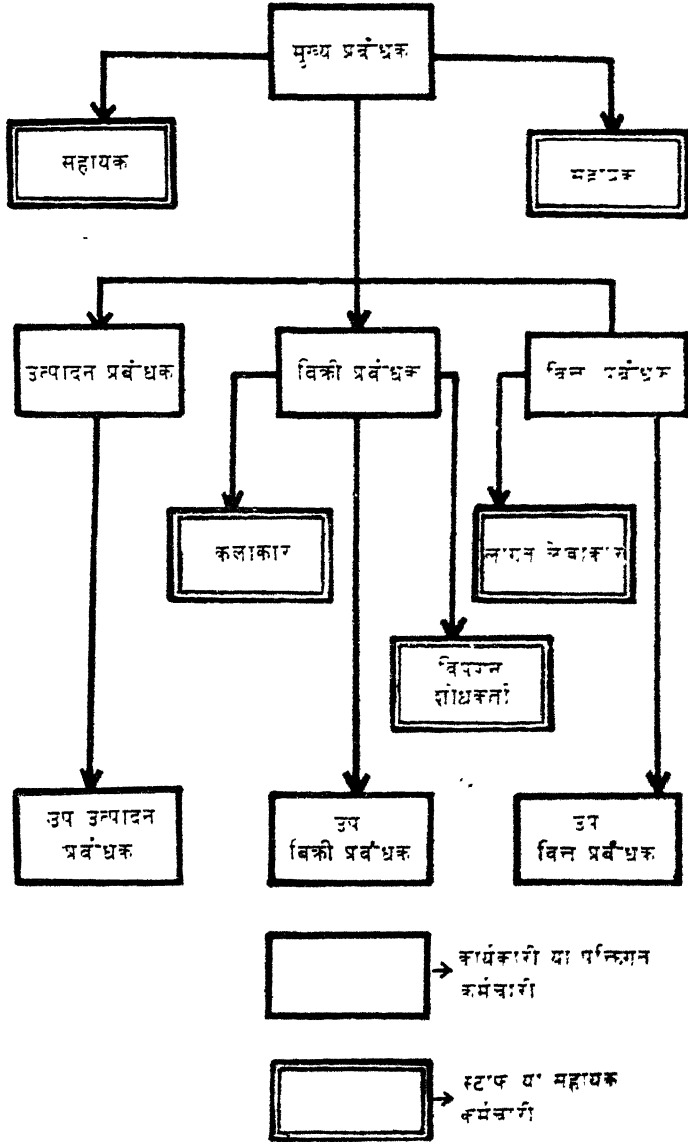
विशेषताएं

(अ) संगठन के इस ढांचे में पंक्तिगत प्रबंधक एवं सहायक विशेषज्ञ दोनों होते हैं।

(ब) पंक्तिगत प्रबंधक को मुख्य रूप से संबंधित विभाग का नियोजन, समन्वय तथा नियंत्रण कार्य सौंपा जाता है।

(स) सहायक विशेषज्ञ पंक्तिगत प्रबंधक को विभिन्न विशिष्ट क्रियाओं से संबंधित सलाह एवं सेवाएं प्रस्तुत करके उनके पूरक के रूप में कार्य करता है।

(द) पंक्तिगत या क्रियात्मक प्रबंधक सहायक विशेषज्ञों की सलाह मानने को बाध्य नहीं होता है, हालांकि व्यवहार में यह पाया गया है कि पंक्तिगत प्रबंधक अधिकांश दशाओं में इन सलाहों को स्वीकार कर लेते हैं।

(य) इस प्रकार के संगठन की मूल विशेषता यह है कि आदेश की एकात्मकता पूर्ण रूप से बनी रहती है क्योंकि विभाग से संबंधित समस्त प्रशासनिक अधिकार केवल पंक्तिगत प्रबंधक को ही उपलब्ध रहते हैं।

(र) सहायक विशेषज्ञों द्वारा प्रदान सेवाएं मूल रूप से सलाहकारी एवं पूरक प्रकृति की होती हैं जो विशिष्ट रूप से संगठन के उच्चस्तरीय एवं मध्यस्तरीय प्रबंधकों के लिए सहायक सिद्ध होती है।

शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन के लाभ

1. प्रबंधकों की कार्यक्षमता में वृद्धि : इस प्रकार के संगठन में पंक्तिगत प्रबंधक अपने विभाग से संबंधित समस्त प्रबंधकीय कार्यों को निष्पादित करता है। समय समय पर सहायक विशेषज्ञों से विशिष्ट क्रिया से संबंधित सलाह एवं सुझाव प्राप्त करता रहता है जिससे पंक्तिगत प्रबंधक के कार्यभार में कमी हो जाती है और वे अधिक कार्यक्षमता से कार्य कर सकते हैं।

2. प्रबंध में विशिष्टीकरण का लाभ : संगठन के इस स्वरूप के अंतर्गत प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त होता है क्योंकि संगठन के ढांचे में जटिलता समाप्त करते हुए पंक्तिगत प्रबंधक विभिन्न कार्यों में निपुण विशेषज्ञों की सेवा का पूर्ण लाभ उठा सकता है और इससे पंक्तिगत प्रबंधक के प्रशासनिक अधिकार एवं दायित्व प्रभावित नहीं होते हैं।

3. आदेश की एकात्मकता : पंक्तिगत संगठन की भांति इस प्रकार के संगठन में भी प्रत्येक कर्मचारी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात रहता है कि उसका निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी कौन है और वरिष्ठ अधिकारी किस अधीनस्थ कर्मचारी के कार्य का नियंत्रण एवं नियोजन कर सकता है।

4. प्रभावशाली नियंत्रण : इस प्रकार के संगठन में नियंत्रण की व्यवस्था प्रभावपूर्ण एवं सहज होती है क्योंकिप्रत्येक कर्मचारी अपने निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी के पूर्ण नियंत्रण में कार्य करता है और उसके द्वारा दिए गए आदेशों एवं निर्देशों का पूर्णतया पालन करता है।

5. अनुशासन : इस प्रकार के संगठन में आदेश की एकात्मकता तथा प्रभावशाली नियंत्रण व्यवस्था के कारण कर्मचारियों में अनुशासन बनाए रखा जा सकता है।

6. प्रबंधकीय क्षमताओं का विकास : संगठन की इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रबंधकों की प्रबंधकीय क्षमता का अधिकतम विकास किया जा सकता है क्योंकि एक ओर तो वे कार्य में विशिष्टीकरण के फलस्वरूप अपनी प्रबंधकीय क्षमताओं में आवश्यक वृद्धि कर सकते हैं और दूसरी ओर इन क्षमताओं का अधिकतम विकास करने के लिए विभिन्न कार्यों में दक्ष एवं निपुण विशेषज्ञों से समय समय पर सलाह एवं सुझाव के अतिरिक्त प्रशिक्षण भी प्राप्त कर सकते हैं।

हानियां

शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन पंक्तिगत प्रबंधकों एवं सहायक विशेषज्ञों का सुव्यवस्थित संयोग है फिर भी इसमें निम्न दोष पाए जाते हैं :

1. पंक्तिगत प्रबंधक एवं सहायक विशेषज्ञों में मतभेद : यदि इस प्रकार के संगठन में सहायक विशेषज्ञ एवं पंक्तिगत प्रबंधक एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना न रखें और प्रतिष्ठित व्यवहार न करें तो किसी भी मामले में उनके बीच मतभेद उत्पन्न हो सकता है और उनके हितों में विरोध पैदा हो सकता है। इसके फलस्वरूप प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं, क्योंकि विशेषज्ञ अपने को निपुण एवं अनुभव प्राप्त व्यक्ति समझता है तथा पंक्तिगत प्रबंधक को संगठन में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति का अहसास बना रहता है।

2 संदेह : पंक्तिगत प्रबंधक सहायक विशेषज्ञ से प्राप्त सलाह में आवश्यक परिवर्तन करके निम्न स्तर की ओर संचारित करता है जिसके फलस्वरूप सलाह या परामर्श में मौलिक विशेषता कायम नहीं रहती है और कर्मचारियों में इसके प्रति भ्रांति एवं संदेह उत्पन्न होने लगता है।

3. सहायक विशेषज्ञों के कार्यों में शिथिलता : व्यवहार में यह पाया जाता है कि सहायक विशेषज्ञ अपनी रचनात्मक क्षमता का अधिकतम प्रयोग नहीं कर पाते हैं और उनके कार्यों में शिथिलता उत्पन्न होने लगती है क्योंकि संगठन में इन विशेषज्ञों की स्थिति इस प्रकार की होती है कि वे किसी भी स्तर पर किसी पंक्तिगत प्रबंधक के प्रति जिम्मेदार नहीं होते हैं।

4. अप्रभावपूर्ण स्थिति : संगठन के इस स्वरूप के अंतर्गत सहायक विशेषज्ञों की रचनात्मक क्षमताओं एवं सलाहों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता है, क्योंकि वे पंक्तिगत प्रबंधक को अपनी सलाह मानने पर विवश नहीं कर सकते हैं और न उन्हें रचनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए कोई प्रशासनिक अधिकार ही प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त व्यावहारिक दशाओं में यह भी पाया गया है कि पंक्तिगत प्रबंधक कुछ स्थितियों में अपनी असफलताओं की जिम्मेदारी सहायक विशेषज्ञों पर थोपने का प्रयास करते हैं और कुछ दशाओं में वे प्रबंधकीय कार्यों के लिए अत्यधिक रूप से सहायक विशेषज्ञों की सेवाओं पर निर्भर होने लगते हैं जिसके फलस्वरूप प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में क्षीणता उत्पन्न होती है।

शीर्ष तथा समांतर रेखा संगठन के वर्णित लाभ एवं हानियों को दृष्टि में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संगठन का यह रूप अन्य रूपों की तुलना में अधिक सरल एवं प्रभावपूर्ण है और इसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करके, इसे परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर विशेष रूप से बड़े आकार की संस्थाओं के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। इस संबंध में निम्न प्रयास किए जा सकते हैं :

(i) सहायक विशेषज्ञों एवं पंक्तिगत प्रबंधकों के बीच सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

(ii) उन्हें एक दूसरे के प्रति उदार एवं प्रतिष्ठित व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करना।

(iii) पंक्तिगत प्रबंधकों को इन विशेषज्ञों से प्राप्त सलाह एवं परामर्श का संस्था के हित में प्रयोग करने के लिए बाध्य करना।

(iv) संगठन के इन दोनों तत्वों में उत्पन्न मतभेद एवं विरोध उच्चस्तरीय अधिकारी द्वारा दूर करना।

(v) इसके अतिरिक्त सहायक विशेषज्ञों को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि वे संस्था की सफलता एवं प्रगति को ध्यान में रखते हुए उचित सलाह सही समय पर प्रदान करें ताकि उसे अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

समिति संगठन

समिति संगठन को संगठन का पूर्ण रूप नहीं माना जाता है क्योंकि इसमें प्रबंधक को प्रबंधकीय कार्यों का निष्पादन करने में शीर्ष एवं समांतर रेखा संगठन की भांति विशेषज्ञों से आवश्यक सलाह एवं सुझाव प्राप्त होते हैं। शीर्ष एवं समांतर संगठन तथा समिति संगठन में केवल यह अंतर है कि समिति संगठन में सलाह एवं सुझाव किसी विशेषज्ञ द्वारा नहीं बल्कि एक समिति के द्वारा दिए जाते हैं। इसके अंतर्गत संस्था के क्रियात्मक विभाग के साथ एक समिति संलग्न कर दी जाती है जो विभाग के प्रबंधक को प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन में आवश्यक सलाह देती है और विभाग की समस्याओं का सामूहिक रूप से मूल्यांकन करती है ताकि विभाग की संपूर्ण कार्य प्रणाली को प्रभावशाली बनाने के लिए वैज्ञानिक सुझाव दिए जा सकें।

समिति संगठन का रूप अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है क्योंकि ये समितियां विभिन्न संस्थाओं में अलग अलग प्रकृति का कार्य करती हैं। कुछ संस्थाओं में इनका कार्य पूर्ण रूप से सलाहकारी एवं पूरक प्रकृति का होता है और कुछ संस्थाओं में इन समितियों को प्रशासनिक अधिकार भी दिए जाते हैं। इसके बावजूद समिति संगठन प्रबंध के क्षेत्र में प्रजातांत्रिक सिद्धांतों का प्रयोग समझा जाता है क्योंकि इससे विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा गठित समिति सामूहिक रूप से निर्णय लेती है।

संक्षेप में, समिति संगठन संगठन का एक ऐसा रूप है जिसके द्वारा संस्था की समस्याओं पर सामूहिक रूप से विचार किया जाता है तथा संगठित एवं सामूहिक निर्णय लिए जाते हैं। इस प्रकार समिति उन इच्छुक एवं योग्य व्यक्तियों का एक समूह है जिनके विचार एवं क्रियाएं संस्था में निर्णय लेने की प्रक्रिया को सहज बनाने के उद्देश्य से प्रयोग की जाती हैं।

टैरी के शब्दों में, 'समिति चुने गए अथवा नियुक्त किए गए व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था है जो संगठित रूप में मिलकर इसके सम्मुख लाए गए मामलों में व्यवहार एवं वार्तालाप करती है।' समिति संगठन की यह परिभाषा न तो व्यापक है और न इससे समिति संगठन की मूल विशेषताओं का ही ज्ञान हो पाता है, हालांकि परिभाषा में यह बताया गया है कि समिति संगठन का मुख्य उद्देश्य इसके सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं के बारे में व्यवहार एवं वार्तालाप करना है।

समिति संगठन का मुख्य उद्देश्य वास्तव में किसी भी समस्या को विस्तृत दृष्टिकोण से विश्लेषित करके उसके बारे में बहुमत द्वारा निर्णय लेना है अर्थात संस्था की समस्या को समिति के सम्मुख लाकर उसके बारे में सामूहिक मत प्राप्त किया जाता है। समस्या पर वार्तालाप करके सदस्य आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं और अंत में सामूहिक रूप से उचित निर्णय लेते हैं।

समिति संगठन के लाभ

1. सामूहिक निर्णय : संगठन की इस व्यवस्था के अंतर्गत निर्णय सामूहिक रूप से लिए जाते हैं क्योंकि संस्था की समस्याएं समिति के सम्मुख बैठक बुलाकर प्रस्तुत की जाती हैं और उपस्थित विभिन्न विशेषज्ञ समस्या के बारे में अपनी अपनी राय प्रकट करते हैं। इससे समस्या का एक विस्तृत रूप विकसित होता है और इसके बारे में सदस्य विचारों

का आदान-प्रदान करके सामूहिक निर्णय लेते हैं जो व्यवहार मे एक प्रबंधक द्वारा लिए गए निर्णय से अधिक सही एवं प्रभावशाली हो सकते है।

2. समन्वय : समिति की संरचना कुछ स्थितियों में संस्था के विभिन्न विभागों के बीच समन्वय उत्पन्न करने के लिए भी की जाती है। समिति की संरचना के लिए प्रत्येक विभाग के प्रबंधक को सदस्य के रूप में सम्मिलित किया जाता है ताकि वे संस्था की समस्याओं के ऊपर विचार विमर्श करके संपूर्ण संस्था के दृष्टिकोण से सामूहिक निर्णय ले सकें जिससे संस्था के विभागों में तालमेल बना रहे और विभिन्न विभागों के कार्यों में एकात्मकता कायम रहे।

3. नए विचार : चूंकि समिति में विभिन्न विशेषज्ञों एवं विभागीय प्रबंधकों को सम्मिलित किया जाता है, इसीलिए समिति के सम्मुख प्रस्तुत समस्या के समाधान के लिए सदस्य परस्पर विचार विमर्श करके कोई नई विधि या नए विचार प्रस्तुत कर सकते हैं।

4. निर्णयों में प्रभावशीलता : समिति द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं वे मूल रूप से सामूहिक प्रकृति के होते हैं। चूंकि इनमें प्रत्येक विभाग के प्रबंधक सम्मिलित होते हैं, इसीलिए इनके क्रियान्वयन में विभागों के कर्मचारियों के मस्तिष्क में कोई भ्रम या आशंका नही रहती है।

5. संतुलित दृष्टिकोण : समिति संगठन की व्यवस्था के अंतर्गत संस्था की समस्या का विस्तृत रूप विकसित होता है और इसके संबंध में निर्णय लेते समय प्रत्येक सदस्य अपने अपने दृष्टिकोण से समस्या के ऊपर विचार-विमर्श करता है। अंत में इन समस्त विचारों को संतुलित करते हुए एकमत में परिणत कर दिया जाता है जो समस्त विभागों के हित में हो, ताकि संस्था के प्रत्येक विभाग को संतुलित ढंग से विकसित किया जा सके।

समिति संगठन के दोष

1. निर्णय में देरी : समिति संगठन का मुख्य दोष यह है कि इसके अंतर्गत निर्णय लेने में काफी अधिक समय लगता है, क्योंकि एक ओर तो समिति की बैठक बुलाने के संबंध में तमाम आवश्यक कार्रवाइयां पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे, सदस्यों को सूचना देना, कार्य सूची तैयार करना, और दूसरी ओर समिति की बैठकों में निर्णय लेने से पहले सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किए गए विचारों का विश्लेषण किया जाता है जिसमें काफी अधिक समय लग सकता है।

2. अनावश्यक वार्तालाप : व्यवहार में यह भी पाया गया है कि समिति के सम्मुख प्रस्तुत समस्याओं पर होने वाला विचार विमर्श अधिकांश दशाओं में रचनात्मक प्रकृति का न होकर अनावश्यक सिद्ध होता है, क्योंकि कुछ सदस्य अन्य सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विचारों का आपसी मतभेद एवं मनमुटाव के कारण अकारण खंडन करते हैं।

3. उत्तरदायित्व का अभाव : समिति के निर्णय में उत्तरदायित्व का अभाव बना रहता है क्योंकि वे संयुक्त एवं सामूहिक प्रकृति के होते हैं। यदि समिति द्वारा कोई गलत निर्णय लिया जाए तो सदस्य विशेष को इसके लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

4. अधिक व्यय : संगठन के अन्य रूपों की तुलना में समिति संगठन अधिक खर्चीला है क्योंकि समिति द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनके लिए बैठकें बुलाने में तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही करने में अधिक धन व्यय होता है।

5. कुछ विशेष सदस्यों का प्रभुत्व : व्यवहार में समिति संगठन अंतिम रूप से समिति के कुछ ही सक्रिय सदस्यों तक सीमित व्यवस्था है क्योंकि समिति के सभी सदस्य संस्था की विभिन्न समस्याओं के विषय में किए जाने वाले वार्तालाप और विचार विमर्श के प्रति रुचि नहीं रखते हैं।

समिति संगठन के उपरोक्त लाभ एवं दोषों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित होते हुए भी अधिक प्रभावशाली एवं उपयोगी सिद्ध नहीं है। इसको प्रभावशाली बनाने के लिए समिति संगठन की कार्य प्रणाली में कुछ आवश्यक सुधार किए जाने आवश्यक हैं, जैसे समिति की उचित संरचना एवं उपयुक्त आकार, सदस्यों की भूमिका का निर्धारण, समस्या के बारे में वार्तालाप के लिए तथ्य एवं आंकड़ों का प्रयोग, सदस्यों में वार्तालाप के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा अनावश्यक वार्तालाप की प्रवृत्ति को समाप्त करना आदि।

संगठन के सिद्धांत

संस्था का संगठन संस्था में कार्यरत विभिन्न कर्मचारियों के बीच उनके अधिकार एवं उत्तरदायित्वों से उत्पन्न संबंधों को स्थापित करने तथा उन्हें समन्वित करने के लिए तैयार किया गया ढांचा है जो प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है जिस पर संस्था की सफलता काफी हद तक निर्भर रहती है। व्यवहार में संगठन की व्यवस्था को प्रभावशाली एवं कुशल बनाने के लिए कुछ वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। इन सिद्धांतों के प्रयोग से कर्मचारियों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग, उनके बीच मतभेद आदि से उत्पन्न कमियों को दूर किया जा सकता है। संगठन की कार्य प्रणाली को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है :

उद्देश्य का सिद्धांत : संस्था की संगठन व्यवस्था की संरचना में संस्था के उद्देश्यों को दृष्टि में रखा जाना चाहिए, क्योंकि संस्था में संगठन के ढांचे की रचना संस्था के उद्देश्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए की जाती है। इस संबंध में संस्था के उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित होने चाहिए और संस्था के प्राथमिक उद्देश्यों एवं विभागीय लक्ष्यों को व्याख्यायित किया जाना चाहिए, क्योंकि इन उद्देश्यों एवं लक्ष्यों में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता संगठन की व्यवस्था को प्रभावहीन एवं निरर्थक बना सकती है।

विशिष्टीकरण का सिद्धांत : संगठन की व्यवस्था मूल रूप से विशिष्टीकरण के सिद्धांत पर आधारित रहती है अतः इस व्यवस्था के अंतर्गत विशिष्टीकरण के समस्त लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को एक ही प्रकृति का कार्य सौंपा जाए और कार्य विभाजन तथा वितरण में कर्मचारियों की उपयुक्तता, उनकी योग्यता, रुचि, ज्ञान एवं अनुभव को ध्यान में रखा जाना चाहिए ताकि प्रत्येक कर्मचारी अधिकतम कार्यकुशलता एवं कार्यक्षमता से आवंटित कार्य को निष्पादित कर सके।

समन्वय का सिद्धांत : संगठन के ढांचे की संरचना करते समय समन्वय के तत्व को भी पूर्ण महत्व दिया जाना चाहिए, ताकि संगठन व्यवस्था के द्वारा संस्था के विभिन्न विभागों एवं कर्मचारियों के कार्यों को समन्वित करते हुए संस्था के उद्देश्य प्राप्त करने की दिशा में निर्देशित किया जा सके। समन्वय के अभाव में विभागों एवं कर्मचारियों के कार्यों में एकात्मकता बनाए रखना संभव नहीं है। इससे नियंत्रण की व्यवस्था भी प्रभावहीन सिद्ध हो सकती है।

अधिकार का सिद्धांत : संस्था में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को आवंटित कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक अधिकार भी दिए जाते हैं। इन अधिकारों का मूल स्रोत संगठन का मुख्य अधिकारी होता है जो संगठन के सर्वोच्च स्तर पर स्थित होता है। उसी के द्वारा ये अधिकार संगठन के अन्य कर्मचारियों को सौंपे जाते हैं। प्रभावशाली संगठनात्मक ढांचा तैयार करने के लिए यह वांछनीय है कि संगठन में सर्वोच्च स्तरों से निम्न स्तरों तक अधिकारों की एक पंक्ति कायम रहनी चाहिए, जिससे कार्य व्यवस्था में सहजता

एवं सुगमता बनी रहती है। अधिकार से हमारा अभिप्राय निर्णय लेने के अधिकार, आदेश एवं निर्देश जारी करने के अधिकार तथा अन्य कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करने एवं नियंत्रण करने के अधिकार से है। अधिकार के सिद्धांत का प्रयोग करने से संगठन का प्रत्येक कर्मचारी एक दूसरे से जुड़ा रहता है और वरिष्ठ कर्मचारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी के कार्य को प्रभावपूर्ण ढंग से नियंत्रित कर सकता है।

उत्तरदायित्व का सिद्धांत : संगठनात्मक ढांचे में प्रत्येक कर्मचारी को विशिष्ट कार्य आवंटित किया जाता है। कार्य के आवंटन से हमारा यह अभिप्राय है कि वह कर्मचारी उस कार्य को कुशलतापूर्वक, संतोषजनक ढंग से निष्पादित करने के लिए उत्तरदायी है। उसका यह उत्तरदायित्व संगठन के उस कर्मचारी के प्रति होगा जिसके अधीन या नियंत्रण में वह कार्य कर रहा है और जिससे वह उस कार्य से संबंधित अधिकार प्राप्त करता है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि कोई भी कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को दूसरे कर्मचारी को नहीं सौंप सकता है क्योंकि वरिष्ठ कर्मचारी ही अंतिम रूप से अपने अधीनस्थ कर्मचारी के कार्य के लिए जिम्मेदार ठहराया जाएगा।

निश्चितता का सिद्धांत : संगठन को कुशल एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि संस्था के प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार एवं कर्तव्य स्पष्ट रूप से परिभाषित हों और उनमें निश्चितता हो। यह तभी संभव है जब प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार एवं कर्तव्यों की सीमाएं एवं क्षेत्र निर्धारित किए जाएं और प्रत्येक कर्मचारी को यह भलीभांति समझाया जाए कि उसे क्या क्या कार्य करने हैं और इसके लिए उसे कौन कौन से अधिकार प्राप्त हैं। अधिकार एवं कर्तव्यों में स्पष्टता से कुछ हद तक अधिकारों का दुरुपयोग प्रतिबंधित किया जा सकता है।

निरंतरता का सिद्धांत : संगठन एक निरंतर प्रक्रिया है जिसका संबंध संस्था के अस्तित्व से है। इसकी निरंतरता बनाए रखने के लिए पर्याप्त लोच की विद्यमानता आवश्यक है ताकि भविष्य में व्यवसाय के विस्तार एवं संकुचन की विभिन्न अवस्थाओं में संगठन की व्यवस्था में भी आवश्यक एवं अनुकूल परिवर्तन किए जा सकें।

संतुलन का सिद्धांत : संस्था में विभिन्न कार्य करने के लिए जो अलग अलग विभाग स्थापित किए जाते हैं, संगठन के द्वारा उनमें समन्वय उत्पन्न करने के अतिरिक्त पूर्ण संतुलन बनाए रखना भी आवश्यक है ताकि किसी भी विभाग को क्षमता से अधिक कार्य न सौंपा जाए और किसी विभाग में पर्याप्त कार्य के अभाव से कर्मचारी की क्षमता का पूर्ण प्रयोग न हो पाए, इसके लिए संगठन में केंद्रीकरण तथा विकेंद्रीकरण की योजनाएं लागू की जाती हैं। इससे एक ओर तो कार्य में संतुलन बना रहता है और दूसरी ओर श्रम विभाजन के समस्त लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।

प्रबंधकीय क्षमता की परिसीमा का सिद्धांत : व्यवहार में यह पाया गया है कि प्रत्येक प्रबंधक की प्रबंधकीय क्षमता (अपने अधीन कार्यरत कर्मचारियों के कार्यों के नियोजन, निर्देशन, समन्वय एवं नियंत्रण की क्षमता) सीमित होती है। इसीलिए उसकी प्रबंधकीय कुशलता एवं कार्यक्षमता का पूरा पूरा लाभ उठाने हेतु उसके अधीन उतने ही कर्मचारी कार्य करने के लिए रखे जाते हैं जितने कर्मचारियों के कार्यों का वह प्रभावपूर्ण ढंग से नियोजन, निर्देशन एवं नियंत्रण कर सकता है। यदि इस सिद्धांत को संगठन व्यवस्था की संरचना करते समय ध्यान में न रखा गया तो इससे एक ओर तो अत्यधिक कार्यभार के कारण प्रबंधक अधिकतम कार्यकुशलता एवं कार्यक्षमता से कार्य न कर सकेगा और दूसरी ओर वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित नहीं कर सकेगा।

अनुरूपता का सिद्धांत : संगठन में कर्मचारियों को जो अधिकार एवं उत्तरदायित्व सौंपे

जाते हैं उनमें पूर्ण अनुरूपता एवं संतुलन होना चाहिए। यदि किसी कर्मचारी को सौंपे गए उत्तरदायित्व की तुलना में अधिक अधिकार दे दिए जाएं तो संभवत: कर्मचारी द्वारा इन अधिकारों का दुरुपयोग किया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत यदि कर्मचारी को उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक अधिकार न दिए जाएं तो कर्मचारी अपने कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित नहीं कर पाएगा, क्योंकि कर्मचारियों को अधिकार सौंपने का मूल उद्देश्य ही उत्तरदायित्वों को पूरा करने में सहजता बनाए रखना है। इसीलिए अधिकार एवं उत्तरदायित्व एक दूसरे के अनुरूप होने चाहिए।

अपवाद का सिद्धांत : संगठन व्यवस्था का यह वैज्ञानिक सिद्धांत भी दिन प्रतिदिन लोकप्रिय एवं प्रचलित होता जा रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार संगठन में वरिष्ठ एवं अधीनस्थ कर्मचारियों की जो पंक्ति बनी रहती है उसमें सर्वोच्च प्रबंधकीय स्तर पर निम्न स्तरों से केवल वही सूचनाएं एवं कार्य विवरण भेजे जाते हैं जो उस स्तर के लिए आवश्यक हों। दैनिक प्रकृति के कार्यों का विस्तृत विवरण भेजने से उच्च स्तर के प्रबंधक का मूल्यवान समय नष्ट हो सकता है। इसीलिए उसे कार्य प्रगति के बारे में केवल वही विवरण भेजे जाएं जिससे वह अपवादित स्थिति ज्ञात कर सके इस प्रकार प्रबंधक का मूल्यवान समय अन्य महत्वपूर्ण प्रबंधकीय कार्यों में विनियोजित किया जा सकता है।

अधिकार सौंपना

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया क्या है, इसमें कौन कौन से तत्व सम्मिलित हैं और अधिकार क्यों सौंपे जाते हैं, इनको जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि अधिकार क्या हैं ? विशेष रूप से प्रबंध के क्षेत्र में अधिकार शब्द से क्या तात्पर्य है।

अधिकार शब्द की विभिन्न लेखकों ने अलग अलग परिभाषा दी है। साधारण बोलचाल में अधिकार शब्द का अर्थ किसी कार्य को करने अथवा न करने के अधिकार से लगाया जाता है जो या तो उसे कानून के द्वारा प्राप्त होता है या उसकी योग्यता से, पद, स्थिति तथा हालातों से प्राप्त हो सकता है। पर प्रबंध के क्षेत्र में इसका अर्थ कुछ विशिष्ट कार्यों को करने के अधिकारों से है। कोई भी संस्था जब अपना व्यवसाय प्रारंभ करती है तो इस संस्था में संगठन का एक ढांचा तैयार किया जाता है और जो व्यक्ति या अधिकारी उस ढांचे के सर्वोच्च स्तर पर स्थित होता है उसे ही उस संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने के तमाम अधिकार प्राप्त होते हैं, जैसे विनियोजन का अधिकार, निर्णय लेने का अधिकार, मूल नीतियों के निर्धारण का अधिकार, नियंत्रण का अधिकार तथा आदेश देने का अधिकार आदि।

संक्षेप में, प्रबंध के क्षेत्र में अधिकारों का अर्थ संस्था के सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक कार्य एवं क्रियाएं करने के अधिकार से होता है।

हेनरी फेयाल के अनुसार, 'अधिकार का अर्थ आदेश देने का अधिकार एवं उसका पालन कराने की शक्ति से है।' इस परिभाषा में अधिकार शब्द को उत्तरदायित्व के साथ साथ परिभाषित किया गया है। हेनरी फेयाल का मत है कि उत्तरदायित्व अधिकारों का स्वाभाविक परिणाम है। जब अधिकार प्रयोग किए जाते हैं तो उससे दायित्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पैटरसन ने भी अधिकार का अर्थ आदेश देने एवं उसका पालन करवाने की शक्ति से लगाया है।

इन सब परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए संस्था के संगठन में एक वरिष्ठ कर्मचारी को उसके अधीन कार्यरत कर्मचारियों के प्रति जो भी अधिकार एवं शक्तियां प्राप्त हैं उन्हें उसका अधिकार समझा जाएगा, जैसे निर्णय लेने का अधिकार, आदेश एवं निर्देश देने का अधिकार तथा उनके कार्यों के नियंत्रण एवं निरीक्षण का अधिकार आदि। अत:

अधिकार कार्य का नियोजन करके उसे योजनाबद्ध ढंग से निष्पादित कराने की शक्ति है।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया

किसी भी संस्था में संगठन के ढांचे को अस्तित्व में लाने के लिए और संगठन की कार्य व्यवस्था को कुशल एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अधिकार सौंपने की प्रक्रिया नितांत आवश्यक है। बिना इसके संगठन की व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती है। जिस प्रकार अधिकार प्रबंधकीय कार्यों का मुख्य अंग है ठीक उसी प्रकार अधिकार सौंपने की प्रक्रिया को भी संगठन का एक मुख्य एवं महत्वपूर्ण अंग माना गया है। आधुनिक युग में व्यवसायी की विस्तृत, व्यापक एवं जटिल क्रियाओं को एक ही व्यक्ति निष्पादित नहीं कर सकता है। विभिन्न व्यक्ति सामूहिक रूप से सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए इन व्यावसायिक क्रियाओं को निष्पादित करते हैं। कोई व्यक्ति संस्था के लिए मूल नीतियों का निर्धारण करता है और किसी व्यक्ति के द्वारा उनको क्रियान्वित किया जाता है। इन नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए जो कार्य किए जाते हैं संस्था में इसके लिए विभिन्न विभाग स्थापित होते हैं। प्रत्येक विभाग को विशेष कार्य एवं क्रियाएं निष्पादित करने के लिए कहा जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज के युग की बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाएं हैं जो अधिकांश दशाओं में संयुक्त पूंजी कंपनी के रूप में हैं।

संस्था में इस प्रकार नीतियों के निर्धारण एवं प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन के लिए संस्था के विभिन्न विभागों में संपूर्ण संबंधित कार्य का वितरण किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि संस्था का प्रत्येक विभाग उसको आवंटित कार्य संतोषजनक ढंग से तभी निष्पादित कर सकता है जब उस विभाग को कार्य निष्पादन के लिए आवश्यक अधिकार दिए जाएं। यहीं से अधिकार सौंपने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। संस्था के संगठन का मुख्य अधिकारी मूल नीतियों का निर्धारण करके उनको क्रियान्वित करने के लिए कार्यकारी अधिकारी को अधिकार सौंपता है। कार्यकारी अधिकारी इन अधिकारों का वितरण विभिन्न विभागों के प्रबंधकों में करता है। इस प्रकार संगठन में अधिकारों की एक पंक्ति तैयार हो जाती है जिसमें संस्था का प्रत्येक कर्मचारी वरिष्ठ कर्मचारी एवं अधीनस्थ कर्मचारी के रूप में एक दूसरे से जुड़ा रहता है।

अतः अधिकार सौंपने की प्रक्रिया एक ऐसी प्रशासनिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न विभागों एवं कर्मचारियों में वितरित कार्य को प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करने के लिए आवश्यक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। यह स्वाभाविक है कि अधिकार सौंपने की प्रक्रिया संगठन के सर्वोच्च स्तर से प्रारंभ होती है और निर्धारित क्रम में निम्न स्तर तक पहुंचती है, क्योंकि संस्था में प्रत्येक कर्मचारी के लिए संस्था का सर्वोच्च अथवा मुख्य अधिकारी ही अधिकारों का मूल स्रोत होता है। उसी से ये अधिकार आदेश, निर्देश एवं नियंत्रण के रूप में निम्न स्तर के कर्मचारियों तक पहुंचते हैं।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया के प्रारंभ का मुख्य कारण यह कि एक ही कर्मचारी में समस्त प्रबंधकीय कार्यों एवं क्रियाओं के निष्पादन के लिए पर्याप्त क्षमता एवं कुशलता नहीं होती है। इसीलिए वह कर्मचारी अन्य कर्मचारियों से कार्य करवाने के लिए अपने साथ उन्हें भी अधिकारों में हिस्सा देता है।

कुन्ट्ज ओ० डोनेल के शब्दों में, 'जब वरिष्ठ कर्मचारी के द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी को संगठनात्मक शक्तियों में अधिकारी बनाया जाता है तो यह समझा जाएगा कि अधिकार सौंपे गए हैं।' इसी प्रकार एलेन के अनुसार, 'अधिकार एवं उत्तरदायित्वों को दूसरे व्यक्ति को सौंपकर उसे निष्पादन के लिए जिम्मेदार ठहराना' सौंपने की प्रक्रिया कहलाती है। अतः अधिकार सौंपने का अर्थ किसी दूसरे व्यक्ति को उस कार्य को निष्पादित

करने के लिए निर्देश देना है, जो कार्य अन्यथा अधिकार सौंपने वाला व्यक्ति स्वयं निष्पादित करता।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया की विशेषताएं

1. अधिकार संस्था के संगठन में सर्वोच्च कर्मचारी द्वारा (जो अधिकारों का मूल स्रोत है) संस्था के अन्य कर्मचारियों को सौंपे जाते हैं।

2. कोई भी अधिकारी अथवा कर्मचारी वही अधिकार अन्य कर्मचारियों को सौंप सकता है जो उसे प्राप्त हैं। जो अधिकार उसे प्राप्त नहीं हैं उनको सौंपने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

3. संस्था के संगठन में कोई भी अधिकारी या कर्मचारी उसे प्राप्त अधिकारों को आंशिक रूप से ही अन्य कर्मचारियों को सौंप सकता है। यदि वह अपने समस्त अधिकार दूसरे कर्मचारी को सौंप दे तो संगठन में उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है।

4. अधिकार सौंपने से ही अधीनस्थ कर्मचारी उसे आवंटित कार्य को प्रभावपूर्ण ढंग से एवं संतोषजनक रूप में निष्पादित करने के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

5. जो कर्मचारी अधिकार सौंपता है उसे वरिष्ठ कर्मचारी कहा जाता है और जिस कर्मचारी को सौंपे जाते हैं उसे अधीनस्थ कर्मचारी कहते हैं।

6. अधिकार सौंपने की प्रक्रिया पूर्वनिर्धारित क्रम में प्रारंभ होती है और उसी क्रम से संस्था के निम्न स्तर के प्रबंधकों तक ये अधिकार पहुंचते हैं।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया के मूल तत्व

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया की परिभाषा एवं विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में मुख्य रूप से कर्मचारियों को कार्य का आवंटन, आवंटित कार्य को निष्पादित करने के लिए उन्हें आवश्यक अधिकार सुपुर्द किया जाना तथा उन्हें आवंटित कार्य को संतोषजनक ढंग से करने के लिए जिम्मेदार ठहराना सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त इस प्रक्रिया में वरिष्ठ कर्मचारी द्वारा कार्य के उस अंश का निर्धारण जिसे वह अपने अधीनस्थ कर्मचारी को आवंटित करेगा, वे विधियां जिनसे वह अधीनस्थ कर्मचारी को इन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार करेगा तथा वे अन्य विधियां जिनके द्वारा वह अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण एवं नियंत्रण करेगा आदि सम्मिलित हैं।

संक्षेप में, अधिकार सौंपने की प्रक्रिया निम्न तीन मूल तत्वों का संयोजन है :

1 **कार्य का आवंटन** : जैसा पहले भी बताया जा चुका है कि अधिकार सौंपने की प्रक्रिया का प्रारंभ कर्मचारियों में कार्य के आवंटन से ही. होता है। यदि संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए समस्त आवश्यक कार्य एक ही व्यक्ति निष्पादित करे तो इसमें अधिकार सौंपने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए कर्मचारियों में कार्य का वितरण अधिकार सौंपने का मुख्य कारण है ताकि वे कर्मचारी वितरित कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित कर सकें। अधिकार सौंपते समय अधिकार सौंपने वाले कर्मचारी को यह निर्णय लेना होता है कि वह अपने कार्य के किस अंश को अधीनस्थ कर्मचारियों में आवंटित करे। कार्य का आवंटन या तो कुछ विशिष्ट क्रियाओं के रूप में अथवा अधिकार सौंपने वाले व्यक्ति द्वारा कुछ निर्धारित परिणामों की प्राप्ति के रूप में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कार्य का आवंटन करते समय प्रत्येक कर्मचारी को यह स्पष्ट रूप से समझाया जाना चाहिए कि उसे कौन कौन से कार्य सौंपे जा रहे हैं, क्योंकि कार्य के आवंटन में अस्पष्टता आवंटन के मूल उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधक सिद्ध होती है। व्यवहार में यह वांछनीय समझा जाता है कि वरिष्ठ अधिकारी अपने कार्य का क्रियात्मक अंश (आपरेशनल पार्ट)

अपने अधीनस्थ कर्मचारी को आवंटित करे। इससे वह अपना मूल्यवान समय महत्वपूर्ण प्रबंधकीय कार्यों को सुचारु रूप से निष्पादित करने के लिए विनियोजित कर सकेगा।

2. अधिकार प्रदान करना : यह अधिकार सौंपने की प्रक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। जब तक अधीनस्थ कर्मचारी को आवंटित कार्य का निष्पादन करने के लिए आवश्यक अधिकार प्रदान नहीं किए जाएंगे, तब तक वह कार्यों का निष्पादन संतोषजनक ढंग से नहीं कर पाएगा। अधिकार प्रदान करने का तात्पर्य कार्य करने का अधिकार, नियंत्रण का अधिकार तथा अन्य आवश्यक प्रशासनिक अधिकार एवं शक्तियों की सुपुर्दगी से है, जैसे, कच्चा माल, मशीन, श्रम तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का प्रयोग करने का अधिकार आदि। अधिकार एक वरिष्ठ कर्मचारी द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी को सौंपे जाते हैं। उनकी प्रकृति अलग अलग परिस्थितियों में भिन्न होती है क्योंकि ये अधिकार सलाहकारी, प्रशासनिक तथा वित्तीय प्रकृति के हो सकते हैं। इन अधिकारों में से कौन कौन अधिकार किस सीमा तक सौंपे जाएंगे, यह संस्था की केंद्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण की नीतियों एवं संगठन के स्वरूप पर निर्भर होता है। संस्था में वरिष्ठ कर्मचारी से अधीनस्थ कर्मचारी को अधिकार प्रदान करते समय निम्न बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए :

(i) संस्था में नियोजन के क्षेत्र में तथा अन्य कार्यों के क्षेत्र में रिक्त पूर्ति करने के लिए विशेषज्ञों को आवश्यक अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए।

(ii) अधीनस्थ कर्मचारी को सौंपे जाने वाले अधिकार उस कर्मचारी की स्थिति एवं उसे संगठन में प्राप्त स्थान के अनुरूप होने चाहिए।

(iii) प्रदान किए गए अधिकार संस्था की समस्त नीतियों तथा संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुकूल होने चाहिए।

3. उत्तरदायित्व उत्पन्न करना : अधिकार सौंपने की प्रक्रिया कार्य आवंटन तथा अधिकार प्रदान करने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका अंतिम उद्देश्य है कि जिस कर्मचारी को कार्य आवंटित किया गया है और अधिकार प्रदान किए गए हैं उस कर्मचारी को आवंटित कार्य के निष्पादन के लिए जिम्मेदार तथा उत्तरदायी बनाना। जिम्मेदारी अथवा उत्तरदायित्व से हमारा अभिप्राय यह है कि वह कर्मचारी उसे प्रदान किए गए अधिकारों की सीमा के अंतर्गत आवंटित कार्य को प्रभावपूर्ण ढंग से एवं कुशलतापूर्वक निष्पादित करे। यदि वह ऐसा करने में असफल होता है तो वह अपने निकटतम वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जिम्मेदार होगा तथा वरिष्ठ कर्मचारी उससे यह आवश्यक स्पष्टीकरण प्राप्त कर सकेगा कि उसने अपना कार्य संतोषजनक ढंग से निष्पादित क्यों नहीं किया है।

इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को कार्य आवंटित किया गया है उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह कार्य पूरा हो जाने पर तुरंत इसकी सूचना, प्राप्त लक्ष्यों का विवरण तथा कार्य प्रगति का ब्यौरा आदि संबंधी सूचना अपने निकटतम वरिष्ठ अधिकारी को भेजे जिसके अधीन वह कार्यरत है।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया का महत्व

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया संस्था में संगठनात्मक ढांचा तैयार करके उसको क्रियात्मक एवं प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक है। इसी संगठनात्मक ढांचे के सुचारु रूप से कार्य करने के फलस्वरूप प्रबंधक अपने प्रबंधकीय कार्यों को कुशलतापूर्वक निष्पादित कर सकता है।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया के फलस्वरूप निर्णय शीघ्र लिए जा सकते हैं क्योंकि इससे निर्णय लेने का अधिकार संस्था के सर्वोच्च अधिकारी तक सीमित न रहकर विभिन्न स्तरों के कर्मचारियों तक पहुंचाया जा सकता है।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया के द्वारा एक प्रबंधक अपने कार्य का कार्यात्मक अंश अपने अधीनस्थ कर्मचारी को सौंप देता है। इससे उसके कार्यभार में कमी होती है और वह अपना बहुमूल्य समय प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन एवं अन्य महत्वपूर्ण मामलों में लगा सकता है। इससे वह अपना कार्य अधिक कार्यकुशलता से एवं प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करता है और उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसके अलावा अधीनस्थ कर्मचारी को वरिष्ठ अधिकारी से कुछ अधिकार प्राप्त होने के फलस्वरूप उसका मनोबल ऊंचा बना रहता है और वह इस बात से भलीभांति अवगत रहता है कि उसे वरिष्ठ कर्मचारी द्वारा जो अधिकार प्रदान किए गए हैं उनका संबंध उसको सौंपी गई जिम्मेदारी से है। यदि वह कार्य संतोषजनक ढंग से निष्पादित न कर सके तो उसे वरिष्ठ कर्मचारी के प्रति जिम्मेदार ठहराया जाएगा।

कुंट्ज ओ० डोनेल के शब्दों में, 'जिस प्रकार प्रबंध के कार्य के लिए अधिकार महत्वपूर्ण हैं उसी प्रकार अधिकार सौंपने की प्रक्रिया भी संगठन के लिए महत्वपूर्ण है।' अधिकार सौंपने की प्रक्रिया प्रबंधकीय कार्यों के निष्पादन के लिए नितांत आवश्यक समझी जाती है क्योंकि इसके अंतर्गत कार्य का विभाजन करके उसे उपयुक्त योग्यता एवं अनुभव के आधार पर विभिन्न कर्मचारियों को आवंटित किया जाता है जिससे विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त किए जाते हैं और कर्मचारी की क्षमता एवं कुशलता में अधिकतम विकास संभव है।

दोगलस सी० वासिग के अनुसार, 'अधिकारों को सौंपने की प्रक्रिया अधीनस्थ कर्मचारियों से उत्तम निष्पादन प्राप्त करने के लिए, उन्हें प्रेरित करने एवं उनकी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए सबसे अच्छी प्रबंधकीय विधि समझी जाती है।'

संक्षेप में, अधिकार सौंपने की प्रक्रिया से निम्न लाभ संभव हैं :

1. कर्मचारियों की उत्पादकता में वृद्धि होती है क्योंकि वे अपना कार्य अधिक कुशलता एवं क्षमता से निष्पादित करते हैं।

2. इस प्रक्रिया से प्रशासनिक सुविधा बनी रहती है।

3. संगठन के प्रत्येक स्तर पर निर्णय शीघ्र लिए जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक स्तर के प्रबंधक को इससे संबंधित अधिकार प्राप्त होते हैं।

4. अधीनस्थ कर्मचारियों की क्षमता और कार्यकुशलता में वृद्धि संभव है क्योंकि कार्य में विशिष्टीकरण के कारण उन्हें केवल वही कार्य निष्पादित करना पड़ता है जिसके लिए उन्हें पर्याप्त ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त है।

5. अधिकार सौंपने की प्रक्रिया से नियंत्रण की क्रिया में सहजता एवं सुगमता होती हैं क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी उसको सौंपे गए कार्य के लिए अपने निकटतम वरिष्ठ कर्मचारी के प्रति जिम्मेदार होता है।

6. इससे कर्मचारियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है और उनका कार्य करने का मनोबल ऊंचा बनाया जा सकता है। उन्हें भी संपूर्ण संगठन में कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त रहते हैं।

7. अधिकार सौंपने की प्रक्रिया से प्रत्येक कर्मचारी को यह स्पष्ट रूप से पता होता है कि उसे क्या क्या कार्य करने हैं।

8. इससे संगठन में प्रबंध का ढांचा अधिक जनतांत्रिक होता है, क्योंकि संस्था के सभी कर्मचारियों को अधिकार एवं उत्तरदायित्व वितरित किए जाते हैं।

अधिकार सौंपने की प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक तत्व

(i) अधिकार सौंपने वाले कर्मचारी को अपने अधिकार एवं दायित्वों का सही एवं

स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए।

(ii) उसे पहले ही यह निर्धारित कर लेना चाहिए कि अपने अधिकारों के किस अंश का वह स्वयं प्रयोग करेगा और कौन सा अंश अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंपेगा।

(iii) उसे यह निश्चित कर लेना चाहिए कि अधीनस्थ कर्मचारी ने उसके द्वारा सौंपे गए कार्य को भलीभांति समझ लिया है।

(iv) अधिकार सौंपने वाले कर्मचारी को अधीनस्थ कर्मचारी की योग्यता एवं कार्य-सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए।

(v) अधिकार सौंपने वाले कर्मचारी को इस प्रक्रिया की उपयोगिता, आवश्यकता एवं महत्व का ज्ञान होना चाहिए।

(vi) अधिकार सौंपने वाला कर्मचारी व्यावहारिक स्थितियों में अपने कार्यों का केवल क्रियात्मक अंश ही अपने अधीनस्थ कर्मचारी को सौंपता है ताकि वह अन्य प्रबंधकीय कार्यों का निष्पादन प्रभावपूर्ण ढंग से कर सके।

(vii) अधिकार सौंपने की प्रक्रिया प्रभावशाली तभी सिद्ध हो सकती है जब अधीनस्थ कर्मचारी उसे सौंपे जाने वाले अधिकारों एवं दायित्वों को पूर्णतया स्वीकार करने के लिए तत्पर एवं इच्छुक हो।

(viii) वरिष्ठ कर्मचारी को अपने अधीनस्थ कर्मचारी की क्षमता के विकास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

(ix) अधीनस्थ कर्मचारी को जो कार्य सौंपा गया है उसे उसके उद्देश्य के बारे में भी ज्ञान होना चाहिए।

21

प्रबंध

प्रबंध आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। आर्थिक जीवन एक सुव्यवस्थित सामूहिक क्रिया है और इस सामूहिक क्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने में प्रबंध क्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका है। चाहे कोई लघु आकार का सामूहिक संगठन हो, कोई बड़ी व्यावसायिक संस्था या कोई क्लब या चिकित्सालय, जिसमें कई व्यक्ति मिल कर कार्य करते हैं, जब तक उनके कार्यों को नियोजित एवं सुव्यवस्थित ढंग से संगठित करके सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समन्वित नहीं किया जाएगा तब तक वह संस्था सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकती। इसीलिए विशेष रूप से सामूहिक प्रयत्नों द्वारा सामान्य उद्देश्य प्राप्त करने में प्रबंध क्रिया का अपना महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रबंध को सामाजिक प्रक्रिया भी कहा जाता है क्योंकि प्रबंधकीय क्रिया से उन तमाम उत्पादन के साधनों में उत्पादकता उत्पन्न करके जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का सृजन एवं उत्पादन किया जाता है उनसे मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके संतुष्टि प्राप्त करता है। प्रबंधकीय क्रिया की इस महत्वपूर्ण भूमिका से देश में व्याप्त गरीबी को दूर करने में सहायता मिल सकती है क्योंकि इस क्रिया के माध्यम से देश के विभिन्न साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक उपयोग संभव है। इस संबंध में पीटर ड्रकर ने कहा है, व्यावसायिक प्रबंध के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों द्वारा युगों पुरानी इस गरीबी की समस्या को सुलझाया जा सकता है क्योंकि प्रबंध के क्षेत्र में जो उन्नति हुई है उसके फलस्वरूप अधिक संपत्ति का सृजन हो सकता है, अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जा सकता है। दूसरे देशों को वस्तुओं का निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है और समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करके वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन किया जा सकता है। उत्पादन के साधनों का अधिकतम मितव्ययी उपयोग करने से सरकारी खजाने में वृद्धि होती है जिससे सरकार समाज कल्याण के लिए कई परियोजनाएं संचालित कर सकती है। यदि इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह कहना न्यायसंगत है कि प्रबंध की क्रिया में संलग्न व्यक्तियों का समूह समाज के लिए उत्पादक कार्य करता है।

व्यावसायिक क्रिया मूल रूप से आर्थिक क्रिया है जिसका संबंध वस्तुओं के उत्पादन एवं उसके वितरण से है और प्रबंधकीय क्रिया के परिणामस्वरूप इन दोनों कार्यों (उत्पादन एवं वितरण), को सहज एवं सरल ढंग से निष्पादित किया जा सकता है। जहां तक उत्पादन का प्रश्न है किसी भी वस्तु या सेवा का उत्पादन करने के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे, भूमि, भवन, श्रम, पूंजी आदि का प्रयोग किया जाता है। उत्पादन के इन विभिन्न साधनों को उत्पादन के मानवीय साधन के माध्यम से संयोजित करके ही उत्पादन कार्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज के व्यावसायिक युग में प्रगतिशील

प्रबंधक अपनी प्रबंधकीय क्षमता एवं योग्यता का प्रयोग करके पूंजी एवं श्रम के बीच संतुलन बनाए रखता है जिससे उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण बनता है।

इसी प्रकार वस्तुओं के वितरण का कार्य भी प्रबंधकीय क्रिया के अभाव में सुचारु रूप से संचालित नहीं किया जा सकता है। आधुनिक व्यावसायिक युग में प्रतिस्पर्धा की तीव्रता एवं ग्राहकों की बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति इन दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर व्यवसाय के अस्तित्व को बनाए रखने और उसे अधिक स्मृद्धिशाली तथा सुदृढ़ बनाने के लिए संभावित ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं का अध्ययन करना, बाजार में व्याप्त परिस्थितियों का विश्लेषण करना और नई विकसित उत्पादन विधियों का प्रयोग करना आवश्यक है। इन सारी जटिल क्रियाओं को संचालित करने के लिए आज का प्रगतिशील प्रबंधक प्रबंध के परंपरागत तरीकों एवं विधियों के स्थान पर विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करके प्रत्येक कार्य को नियोजित ढंग से संचालित करता है तथा उनका शीघ्र वांछनीय फल प्राप्त करने के लिए उचित प्रकार से नियंत्रण भी करता है। इससे यह स्पष्ट है कि कुशल एवं निपुण प्रबंधकों के अभाव में वितरण की क्रिया भी प्रभावशाली ढंग से संचालित नहीं की जा सकती।

पीटर ड्रकर ने प्रबंध को प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया में जीवन प्रदान करने वाला परिवर्तनशील तत्व माना है। कालांतर में व्यवसाय संगठन के स्वरूपों में जो तीव्र परिवर्तन हुए हैं (समय समय पर विभिन्न स्वरूपों का उद्‌गम एवं विकास) उनसे व्यवसाय के क्षेत्र में और अधिक जटिलता उत्पन्न हुई है। इस जटिलता एवं कठिनाई ने प्रबंधकीय क्रिया को और महत्व मिला है और प्रबंध की विधि एवं व्यवहार में भी आवश्यक परिवर्तन हुए हैं इसका ज्वलंत उदाहरण है संयुक्त पूंजी कंपनी का विकास जिसमें स्वामित्व प्रबंध से बिलकुल पृथक है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक क्रियाओं के निष्पादन के लिए विशिष्टीकरण का लाभ प्राप्त करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष, निपुण एवं योग्य प्रबंधकों की व्यवसाय में आवश्यकता और बढ़ी है।

परिभाषा

प्रबंध शब्द को विभिन्न लेखकों ने अलग अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। नीचे वर्णित तमाम परिभाषाएं अपूर्ण हैं। उनमें प्रबंध के समस्त कार्यों का विवेचन नहीं है और न दो परिभाषाएं एकरूप ही हैं। हालांकि प्रबंध की प्रकृति एवं कार्य समय के साथ स्पष्ट होते गए हैं फिर भी इस शब्द की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सर्वमान्य हो। किसी लेखक ने प्रबंध को इंजीनियरिंग प्रक्रिया के दृष्टिकोण से वस्तु की योजना कहा है तो किसी लेखक ने इसे तथ्य और आंकड़ों की संज्ञा दी है। इसी प्रकार अर्थशास्त्री एवं मनोविज्ञान के ज्ञाता भी इस शब्द को अलग अलग अर्थों में व्याख्यायित करते हैं। जियार्ज आर० टैरी के अनुसार प्रबंध एक व्यापक शब्द है और इसकी परिभाषा देने में दो मुख्य कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। प्रथम, प्रबंध का संबंध मानव से है जिसका व्यवहार परिवर्तनशील होता है और द्वितीय प्रबंध एक नई विचारधारा है और उसमें कालांतर में नए नए सिद्धांतों का विकास होता रहा है। प्रबंध शब्द को परिभाषित करने के संबंध में ये दो कठिनाइयां काफी हद तक युक्तिपूर्ण प्रतीत होती हैं और यही कारण रहा है कि इस शब्द को प्रारंभिक चरणों में दी गई परिभाषाएं आधुनिक लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं से भिन्न हैं। जे० एल० लुंडी के अनुसार, 'प्रबंध एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए दूसरे व्यक्तियों के प्रयत्नों को नियोजित, समन्वित एवं प्रेरित करने का कार्य है। इसमें संगठन के विशिष्ट उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन के परंपरागत साधनों को (भूमि, श्रम एवं पूंजी) अनुकूलतम विधि से संयोजित करना सम्मिलित है।'

प्रबंध की यह परिभाषा विशेष रूप से उत्पादन के क्षेत्र से संबंधित की गई है। इसके अनुसार प्रबंधकीय कार्यों द्वारा उत्पादन के साधनों का संयोजन करके उत्पादन में संलग्न विभिन्न व्यक्तियों के प्रयत्नों को निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नियोजित, समन्वित एवं नियंत्रित किया जाता है।

ह्वीलर के शब्दों में, 'व्यवसाय प्रबंध एक मानव क्रिया है जो व्यावसायिक संस्था के संगठन एवं कार्य को एक दिशा देती है और नियंत्रित करती है।' यह परिभाषा आधुनिक युग में अधिक व्यापक एवं उपयुक्त नहीं समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार प्रबंधकीय क्रिया में संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण से संबंधित कार्य ही सम्मिलित हैं, जबकि व्यवहार में संस्था के उद्देश्यों की सफलतापूर्वक प्राप्ति हेतु नियोजन, समन्वय एवं प्रेरणा को प्रबंधकीय कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

कुंट्ज ओ' डोनेल के अनुसार, 'प्रबंध का कार्य एक ऐसा आंतरिक वातावरण स्थापित करना एवं कायम रखना है जिसमें सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे व्यक्ति जो इकट्ठा समूह के रूप में कार्य कर रहे हों, अपना कार्य कुशलता एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकते हों।'

हालांकि यह परिभाषा काफी व्यापक है पर परिभाषा में प्रबंधकीय कार्यों की मूल विशेषताओं की अस्पष्टता इसकी सर्वमान्यता के लिए बाधक है। इस परिभाषा में लेखक ने प्रबंधकीय कार्यों को व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण स्थापित करने एवं कायम रखने से संबंधित किया है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि व्यवसाय के आंतरिक वातावरण को स्थापित करने के लिए प्रबंध के क्षेत्र में कौन कौन से कार्य निष्पादित किए जाएं।

टेलर, जिन्हें वैज्ञानिक प्रबंध का जन्मदाता कहा जाता है, के अनुसार, 'प्रबंध यह जानने कि क्या कार्य करना है और यह देखने की कला है कि वह कार्य सबसे कम खर्च पर एवं सबसे अच्छी तरह से किया जाए।' इस परिभाषा में केवल प्रबंध के एक महत्वपूर्ण कार्य नियोजन पर ही अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त नियंत्रण कार्य की ओर भी संकेत किया गया है।

फेयोल के शब्दों में, 'प्रबंध करना पूर्वकल्पना करना है, संगठन करना है, आज्ञा देना है, समन्वय उत्पन्न करना तथा नियंत्रण करना है।' हालांकि यह परिभाषा काफी व्यापक एवं महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें अधिकांश प्रबंधकीय कार्यों की ओर संकेत किया गया है फिर भी प्रबंध के एक महत्वपूर्ण कार्य प्रेरणा देने का उल्लेख परिभाषा में नहीं है। आधुनिक व्यावसायिक युग में प्रबंध बिना प्रेरणात्मक प्रवृत्तियों का प्रयोग किए अपने अधीनस्थ कर्मचारियों एवं श्रमिकों से कुशलतापूर्वक अधिकतम कार्य करवाने में असफल हो सकता है।

किम्बल और किम्बल के शब्दों में, 'प्रबंध में, संस्था को स्थापित करने, वित्तीय कार्य करने, मूल नीतियों का निर्धारण करने, आवश्यक साज सामान की व्यवस्था करने, संगठन के लिए एक ऐसा सामान्य स्वरूप तैयार करने जिसके अंतर्गत संस्था कार्य करेगी तथा प्रधान कर्मचारियों का चुनाव करने से संबंधित समस्त कर्तव्य एवं कार्य सम्मिलित हैं। कर्मचारियों का समूह, जो संस्था को प्राथमिक रूप से नियंत्रित करता है, प्रबंधक कहलाता है।' प्रबंध शब्द की यह परिभाषा विशेष रूप से व्यावसायिक संस्था को संचालित करने से संबंधित है। हालांकि इसमें मूल नीतियों का निर्धारण करने, संगठन का स्वरूप तैयार करने आदि प्रबंधकीय कार्यों की ओर संकेत किया गया है फिर भी प्रबंधकीय कार्यों की अपेक्षा संस्था के व्यावसायिक कार्यों को अधिक महत्व दिया गया है।

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए प्रबंध शब्द को इस प्रकार परिभाषित

किया जा सकता है : प्रबंध एक ऐसी प्रक्रिया है, जो किसी भी संस्था में संस्था के पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों की सामूहिक क्रियाओं को नियोजित, संगठित, समन्वित, प्रेरित तथा नियंत्रित करने से संबंधित है। इस प्रकार संस्था के अंतर्गत समस्त साधनों का (मानवीय एवं गैर मानवीय) अधिकतम कार्य-कुशलता से प्रयोग करके संस्था के मूल उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए प्रबंध की क्रिया अथवा कार्य में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. प्रबंध एक प्रक्रिया है : प्रबंध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किए जाने वाले समस्त कार्यों की रूपरेखा निर्धारित की जाती है और संस्था में कार्य करने का एक ऐसा वातावरण निर्मित किया जाता है जिससे उत्पादन साधनों का अधिकतम उपयोग करके कार्यरत श्रमिक एवं कर्मचारी अधिकतम कुशलतापूर्वक एवं अपनी पूरी क्षमता से कार्य कर सकें ताकि संस्था के स्वामी, श्रमिकों तथा कर्मचारियों एवं समाज को लाभ पहुंचाया जा सके। इस प्रक्रिया को निष्पादित करने में जो व्यक्ति संलग्न रहते हैं उन्हें प्रबंधक कहा जाता है।

2. निर्णय लेना : निर्णय लेना प्रबंधकीय प्रक्रिया का महत्वपूर्ण पहलू है और इसे प्रक्रिया का प्राथमिक हिस्सा समझा जाता है। व्यवसाय को संगठित करके उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए उचित समय पर सही निर्णय लेना आवश्यक है। व्यवहार में किसी भी कार्य को करने की कई विधियां उपलब्ध हो सकती हैं और प्रबंधक को उनमें से सबसे अधिक उपयुक्त एवं उचित विधि का चुनाव करने के लिए निर्णय लेना पड़ता है, ताकि कार्य अधिकतम क्षमता एवं कुशलतापूर्वक किया जा सके।

3. प्रबंध अधिकारों की एक पद्धति है : कोई भी प्रबंधक व्यवसाय का संगठनात्मक एवं संचालन कार्य निष्पादित नहीं कर सकता है यदि उसे इन कार्यों के निष्पादन के लिए पर्याप्त अधिकार प्रदान न किए जाएं। इन्हीं अधिकारों का प्रयोग करके प्रबंधक संस्था की मूल नीतियां निर्धारित करते हैं और इनको क्रियान्वित करवाते हैं। इसके अतिरिक्त आज के जटिल व्यवसाय में संस्था के प्रबंधकीय ढांचे में विभिन्न स्तर होते हैं और इन्हीं स्तरों में सर्वोच्च स्तर से अधिकार अन्य स्तरों पर कार्य करने वाले प्रबंधकों को सौंपे जाते हैं।

4. सामूहिक प्रयत्न : प्रबंधकीय क्रिया सदैव सामूहिक प्रयत्नों को समन्वित करके सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाती है। किसी भी संस्था में जहां अधिक संख्या में कर्मचारी कार्य कर रहे हों, उनके कार्यों को नियोजित, संगठित एवं समन्वित करके अनुकूल दिशा में निर्देशित एवं नियंत्रित किए बिना संस्था द्वारा सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति संभव नहीं है। यही कारण है कि आधुनिक युग में बड़ी बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं, जिनमें काफी अधिक संख्या में कर्मचारी कार्यरत रहते हैं, की प्रबंधकीय समस्या भी दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही है।

5. प्रबंध विज्ञान भी है और कला भी : प्रबंधकीय प्रक्रिया को कला एवं विज्ञान दोनों का मिश्रण समझा जाता है। प्रबंध के क्षेत्र में विकसित, सर्वमान्य नियमों, सिद्धांतों एवं सामान्य प्रवृत्तियों को एक विधि के अंतर्गत रखने के कारण प्रबंध विज्ञान की भांति है, दूसरी ओर इन सिद्धांतों एवं नियमों को व्यवहार में लाते समय प्रबंधक अपने व्यक्तिगत ज्ञान, अनुभव एवं रुचि का प्रयोग करते हैं, ताकि पूर्वनिर्धारित सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति प्रभावपूर्ण ढंग से एवं कुशलतापूर्वक की जा सके। अत: यह कला भी है।

6. प्रबंध एक सामाजिक प्रक्रिया है : प्रबंध को एक सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है क्योंकि प्रबंध के समस्त कार्यों का संबंध संस्था में विशेष रूप से मानवीय साधनों के प्रयोग

करने से होता है। प्रबंधक श्रमिकों एवं कर्मचारियों के कार्यों को नियोजित, संगठित, समन्वित एवं नियंत्रित करके अन्य गैर मानवीय साधनों का अधिकतम प्रभावपूर्ण प्रयोग करते हैं।

7. प्रबंध एक पृथक पेशा (प्रोफेशनल) है : व्यावसायिक क्रिया की बढ़ती हुई जटिलता को सुलझाने के लिए और विस्तार को साकार बनाने के लिए प्रबंध की स्थापना अथवा प्रारंभ पृथक पेशे के रूप में हुआ है क्योंकि व्यवसाय की विभिन्न क्रियाओं के प्रबंध के लिए जिस विशिष्ट ज्ञान एवं योग्यता की आवश्यकता होती है वह दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है और प्राप्त किया जा सकता है।

प्रबंध के कार्य

प्रबंध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए दूसरे व्यक्तियों द्वारा कार्य करवाया जाता है। इस संपूर्ण प्रक्रिया में विभिन्न कार्य सम्मिलित हैं। ये कार्य प्रबंधकों द्वारा किए जाते हैं. ताकि उपलब्ध साधनों का अधिकतम प्रयोग करके व्यवसायी, श्रमिक एवं समाज को अधिक समृद्ध बनाया जा सके। प्रबंध की प्रक्रिया में प्रबंधक जो कार्य करता है, वे इस प्रकार हैं : (1) नियोजन, (2) संगठन, (3) समन्वय, (4) कर्मचारी प्रबंध (स्टाफिंग), (5) निर्देशन, (6) नियंत्रण।

नियोजन : नियोजन प्रबंध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। व्यावसायिक संस्था में किसी भी विचार को व्यवहार में लाने से पहले उसके लिए एक विस्तृत योजना तैयार की जाती है, ताकि प्रत्येक कार्य सुव्यवस्थित ढंग से तथा योजनाबद्ध तरीके से किया जा सके। कार्य की विस्तृत योजना तैयार किए बिना कार्य को सुचारु रूप से, प्रभावपूर्ण ढंग से एवं कुशलतापूर्वक निष्पादित करना संभव नहीं। नियोजन अथवा योजना से हमारा अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य को करने से पहले यह तय करना कि क्या कार्य किया जाना है ? कैसे किया जाना है ? कब किया जाना है ? और किस व्यक्ति द्वारा किया जाना है ?

दूसरे शब्दों में, नियोजन का अर्थ भूतकाल एवं वर्तमान काल के आधार पर भविष्य की झलक प्राप्त करना अथवा भविष्य में किए जाने वाले कार्य की रूपरेखा तैयार करना आदि कार्यों से है।

योजना तैयार करना प्रत्येक प्रबंधक का प्राथमिक कार्य है। उसके अन्य सारे कार्य योजना अथवा नियोजन पर ही आधारित रहते हैं। कुन्ट्ज ओ' डोनेल के अनुसार, 'नियोजन में संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण एवं विभागीय उद्देश्यों का निर्धारण करना तथा उनको प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम तरीके का चुनाव करना सम्मिलित है।' इसके अनुसार नियोजन अथवा योजना की आवश्यकता तब पड़ती है जब प्रबंधक के सम्मुख एक कार्य करने के लिए कई विकल्प उपलब्ध होते हैं और उसे सबसे अच्छे तरीके का चुनाव करने में निर्णय लेना पड़ता है। इसीलिए निर्णय लेना नियोजन का प्रमुख अंग समझा गया है।

हैनेजे एवं मेक्सी के अनुसार, 'नियोजन प्रबंधक का वह कार्य है जिसके अंतर्गत वह पहले ही यह निर्धारित करता है कि वह क्या करेगा ? यह एक विशेष प्रकार के निर्णय लेने की प्रक्रिया है जो मूल रूप से भविष्य से संबंधित होती है।'

संगठन : संगठन प्रबंधक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। संगठन के बिना संस्था में कार्यरत श्रमिकों एवं कर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यों को संस्था के पूर्वनिर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सही प्रकार से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। संगठन के अंतर्गत संस्था में प्रशासन का एक औपचारिक ढांचा तैयार किया जाता है ताकि संस्था

के संगठन के ढांचे में प्रत्येक श्रमिक एवं कर्मचारी को एक उपयुक्त स्थान मिल सके। वह संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने मे अपने अंशदान के महत्व को समझ सके तथा उसे अपने अधिकार एवं दायित्व का सही ज्ञान हो सके।

संक्षेप में, संगठन संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संस्था के विभिन्न पहलुओं की एक समन्वित व्यवस्था है। ऐलेन के अनुसार, 'प्रबंधक को प्रबन्धनीय कार्य में अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कुशल संगठन का विकास करना आवश्यक है।' व्यापक दृष्टिकोण से संगठन में निम्न कार्य सम्मिलित होते हैं जिन्हें संगठन व्यवस्था अथवा प्रक्रिया के आवश्यक तत्व भी समझा जाता है :

(i) संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्यों एवं क्रियाओं का निर्धारण करना।

(ii) इन विभिन्न क्रियाओं में से जो समान क्रियाएं हैं उन्हें समानता के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित करना।

(iii) क्रियाओं के इन विभिन्न वर्गों अथवा समूहों को विभिन्न विभागों और कर्मचारियों को आवंटित करना।

(iv) संस्था की विभिन्न क्रियाओं अथवा कार्यों के निष्पादन में समन्वय बनाए रखना।

(v) आवंटित क्रियाओं को निष्पादित करने के लिए कर्मचारियों को आवश्यक अधिकार सौंपना।

समन्वय (कोआरडीनेशन) : कोई भी कार्य विभिन्न प्रक्रियाओं एवं क्रमों मे किया जाता है। सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कार्य के प्रत्येक हिस्से अथवा क्रमावली की प्रक्रिया एक दूसरे से संबंधित रहे एवं विभिन्न प्रक्रियाओं एवं क्रमों में संतुलन बनाए रखा जाए। यह तभी संभव है जब कार्य के विभिन्न हिस्सों में, विभिन्न प्रक्रियाओं में तथा क्रमों में समन्वय स्थापित किया जाए। एक बड़ी व्यावसायिक संस्था में संस्था के विभिन्न कार्य करने के लिए अलग अलग विभाग स्थापित किए जाते हैं। जब तक इन समस्त विभागों में समन्वय स्थापित नहीं किया जाएगा तब तक संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करना असंभव सा है। समन्वय स्थापित करने से हमारा अभिप्राय कार्य के विभिन्न हिस्सों में तालमेल बनाए रखने से है, जैसे उत्पादन विभाग उन वस्तुओं का उतनी ही मात्रा में उत्पादन करे जितना विपणन विभाग बेच सकता है और इसी मात्रा को ध्यान में रखते हुए वित्त विभाग को वित्त प्रदान करना चाहिए तथा कर्मचारी विभाग उस मात्रा में उत्पादन करने के लिए आवश्यक संख्या में कर्मचारी उपलब्ध कराए। यदि संस्था के इन विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित न किया जाए तो किसी अवसर पर पूर्ण उत्पादन क्षमता का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा और किन्हीं स्थितियों में विपणन विभाग उत्पादन विभाग द्वारा उत्पादित वस्तुओं से अधिक वस्तुएं बेचने को तैयार होगा।

फेयोल के अनुसार, 'समन्वित करने का अर्थ है संस्था की कार्य प्रणाली एवं सफलता को सहज बनाने के लिए संस्था की समस्त क्रियाओं मे तालमेल बनाए रखना।' उसके अनुसार भलीभांति समन्वित संस्था में निम्न विशेषताएं होनी हैं :

(i) संस्था में प्रत्येक विभाग अन्य विभागों के साथ तालमेल से कार्य करता है।

(ii) संस्था के प्रत्येक विभाग को छोटे छोटे विभागों एवं उपविभागों में विभाजित करके उन्हें यह सूचित कर दिया जाता है कि प्रत्येक कार्य में उनका क्या हिस्सा होगा और वे पारस्परिक सहायता का किस सीमा तक आदान-प्रदान कर सकेंगे।

(iii) संस्था के प्रत्येक विभाग एवं उपविभाग की कार्य तालिकाओं को स्थिति के

अनुकूल बनाए रखा जाता है।

समन्वय प्रबंधकीय क्रिया को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक है। समन्वय के अभाव में संस्था के विभिन्न कर्मचारियों का कार्य निरर्थक सिद्ध हो सकता है। समन्वय को प्राप्त करने के लिए प्रबंधक को तमाम सिद्धांतों का प्रयोग करते हुए आवश्यक प्रयास करने पड़ते हैं। समन्वय स्वयं उत्पन्न नहीं होता है।

कर्मचारी प्रबंध : किसी भी संस्था में उद्देश्यों के निर्धारण, उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक नीतियों के निर्धारण तथा आवश्यक क्रियाओं के विभिन्न समूहों में विभाजन के पश्चात प्रबंधक के लिए यह आवश्यक है कि वह विभिन्न कार्यों के लिए उपयुक्त कर्मचारियों का चुनाव करके उनकी नियुक्ति करे। किसी भी संस्था का भविष्य अन्य तत्वों के अलावा इस बात पर भी निर्भर करता है कि उस संस्था में कर्मचारी कितनी कुशलता-पूर्वक अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं। आधुनिक व्यावसायिक युग में जबकि व्याव-सायिक क्रिया काफी जटिल हो चुकी है, इस महत्वपूर्ण कार्य को निष्पादित करने के लिए संस्था में एक पृथक विभाग की स्थापना की जाती है जिसे 'कर्मचारी प्रबंध विभाग' कहा जाता है।

थियो हेमैन के शब्दों में, 'कोई भी व्यवसाय दीर्घकाल में तभी सफल हो सकता है जब इसमें प्रबंधकीय कार्यों के लिए उचित व्यक्तियों को आकर्षित करने एवं विकसित करने की क्षमता हो। जब तक कोई प्रबंधक यह नहीं देखता है कि सहायक प्रबंधकों का चुनाव किया गया है, उनकी नियुक्ति की गई है, उन्हें प्रशिक्षित किया गया है, उनके ज्ञान को विकसित किया गया है एवं उनकी पदोन्नति की गई है, तब तक वह अपने प्रबंधकीय कार्यों में महत्वपूर्ण कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता है।'

एफ० डब्ल्यू० टलर के अनुसार, 'संस्था एवं कर्मचारियों तथा श्रमिकों को स्थाई रूप से समृद्ध बनाने के लिए प्रत्येक कर्मचारी एवं श्रमिक का वज्ञानिक ढंग से चुनाव एवं नियुक्ति करके, उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण देकर उनकी योग्यता एवं क्षमता का पूर्ण विकास करना आवश्यक है।'

संक्षेप में, 'कर्मचारी प्रबंध' कार्य में प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव करना एवं उनकी नियुक्ति करना, उन्हें उस कार्य को अधिक क्षमता एवं कुशलता से करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण देना एवं उनकी योग्यता, क्षमता एवं अनुभव का पूर्ण विकास करने के लिए उन्हें ऊंचे पदों पर नियुक्त करना आदि सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त उनकी उत्पादकता को बढ़ाने के लिए प्रेरणात्मक वेतन विधि का निर्धारण करके उनके स्थाई विकास की व्यवस्था तथा संस्था में अनुकूल एवं मधुर श्रम संबंधों की स्थापना भी इसी कार्य में सम्मिलित है।

निर्देशन : प्रबंध आवश्यकीय रूप से विशिष्ट परिणामों के लिए विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाओं एवं प्रयत्नों को दिशा देने की प्रक्रिया है। इसके अंतर्गत संस्था के प्रबंधक द्वारा संस्था में कार्यरत कर्मचारियों के कार्यों को एक निर्धारित दिशा में निर्देशित करना सम्मिलित है। निर्देशन प्रबंधकीय क्रिया का एक ऐसा महत्वपूर्ण पहलू है जिसके द्वारा सहायक कर्मचारियों को यह बताया जाता है कि संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन्हें किस प्रकार अधिक प्रभावपूर्ण ढ़ंग से एवं कुशलतापूर्वक कार्य करना है। निर्देशन का कार्य जितने ही अधिक प्रभावशाली ढंग से निष्पादित किया जाएगा संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक कर्मचारियों का अंशदान भी उतना ही अधिक होगा। इसीलिए निर्देशन का कार्य नियोजन एवं संगठन से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता है। प्रबंधक द्वारा उसके अधीन कार्य करने वाले सहायक कर्मचारियों के कार्यों का निर्देशन करने के लिए निम्न क्रियाएं की जाती हैं :

(i) आदेश एवं निर्देश देना,

(ii) सहायक कर्मचारियों के कार्यों को दिशा प्रदान करना और उन्हें कार्य करने के लिए सही एवं उचित तरीके बताना,

(iii) कर्मचारियों द्वारा निष्पादित कार्यों का समय समय पर निरीक्षण करना तथा यह देखना कि कार्य योजनाबद्ध ढंग से किया जा रहा है।

फेयोल के अनुसार, 'निर्देशन कार्य आज्ञा देने अथवा शासन करने का कार्य है जिसमें मुख्य रूप से निम्न तीन तत्व सम्मिलित हैं :

(i) नेतृत्व,

(ii) संचार,

(iii) प्रेरणा।

नेतृत्व : प्रबंधक निर्देशन कार्य में एक नायक की भांति कार्य करता है, क्योंकि उसे अपने अधीन कार्यरत कर्मचारियों के कार्यों का मार्गदर्शन करना पड़ता है और उन्हें विशेष दिशा प्रदान करनी पड़ती है जिनसे उनके समस्त कार्यों का प्रयोग संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सके। नायक के रूप में कार्य करने के लिए प्रबंधक में संगठनात्मक चतुराई, प्रशासनिक क्षमता, नियोजन एवं कार्यकारी योग्यता तथा व्यक्तित्व में आत्मबल एवं परिवर्तनशीलता के गुण विद्यमान होने चाहिए।

नेतृत्व या नायकत्व एक ऐसा गुण अथवा योग्यता या क्षमता है जिससे नायक उस समूह के समस्त व्यक्तियों की क्रियाओं एवं प्रयत्नों को प्रभावित करता है और बिना किसी दबाव के समूह के समस्त व्यक्तियों की क्रियाओं एवं प्रयत्नों को विशेष आदर्शों की ओर ले जाता है। नेतृत्व के इस गुण से प्रबंधक अपने अधीन कार्य करने वाले सहायक कर्मचारियों की काम करने की आदतों पर शक्तिशाली प्रभाव डाल सकता है।

कुन्ट्ज ओ' डोनेल के शब्दों में, 'नायकत्व प्रबंध की ऐसी योग्यता है जिसके द्वारा वह अपने सहायक कर्मचारियों को विश्वास एवं उत्साह से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।'

संचार : प्रबंधकीय कार्य नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन, कर्मचारी प्रबंध को वास्तविक रूप देने के लिए उचित संचार व्यवस्था का होना आवश्यक है। संचार व्यवस्था ऐसा माध्यम अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्था के विभिन्न कार्यों से संबंधित तथ्य एवं आंकड़े प्राप्त किए जाते हैं और उनकी व्याख्या करके उन्हें विभिन्न विभागों को प्रेषित किया जाता है। संचार व्यवस्था के माध्यम से ही अधिकारों को सर्वोच्च प्रबंधकीय स्तर से प्रबंध के अन्य स्तरों तक पहुंचाया जाता है, तथा प्रबंधक अपने सहायक कर्मचारियों को समय समय पर आवश्यक आदेश एवं निर्देश भेजता है एवं उनकी कार्यप्रगति के बारे में सूचना प्राप्त करके उच्च स्तरों को भेजता है।

संक्षेप में, व्यावसायिक संस्था में विभिन्न कार्यों के लिए योजना तैयार करके उसे क्रियान्वित करने में प्रबंधकीय कर्मचारियों के बीच विचार, उद्देश्य, निर्देश एवं सुझाव आदि का आदान-प्रदान आवश्यक है। इसीलिए संस्था में उचित एवं उपयुक्त संचार व्यवस्था का विद्यमान होना आवश्यक है।

ऐलिन के अनुसार, 'संचार व्यवस्था में कहने, सुनने एवं समझने की निरंतर एवं सुव्यवस्थित प्रक्रिया सम्मिलित है।' संस्था के लिए संचार व्यवस्था प्रबंध का एक महत्वपूर्ण साधन/उपकरण समझा गया है, क्योंकि इसी की सहायता से तमाम प्रबंधकीय कार्य निष्पादित किए जाते हैं।

प्रेरणा : प्रेरणा निर्देशन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रेरणा से हमारा अभिप्राय कर्मचारियों एवं श्रमिकों को उत्साह एवं विश्वास के साथ कार्य करने के लिए प्रेरित

अथवा उत्साहित करने से है। प्रबंधकों को अपने अन्य कार्यों में पूर्ण सफलता तभी मिल सकती है यदि वे अपने अधीन कार्य करने वाले सहायक कर्मचारियों एवं श्रमिकों को अधिकतम कार्य क्षमता एवं कुशलता से कार्य करने के लिए प्रेरित करके संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने मे उनका अधिकतम अंशदान प्राप्त कर सकें।

प्रबंधक का कार्य मूल रूप से मानवीय व्यवहार से संबंधित है। इसीलिए कर्मचारियों को अधिकतम कुशलता से कार्य करने के लिए प्रेरित करने हेतु उसे मानव व्यवहार का आवश्यक ज्ञान होना चाहिए। जब तक कर्मचारियों एवं श्रमिकों की विभिन्न आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं की जाएगी एवं उनके लिए कार्य करने का अनुकूल वातावरण तैयार नहीं किया जा सकेगा, उनसे अधिकतम कार्य नहीं लिया जा सकता और उनका मनोवल ऊंचा नहीं वनाए रखा जा सकता है।

नियंत्रण : यदि प्रबंधक इस बात की निगरानी नहीं रखता है कि कार्य के लिए जो योजना तैयार की गई है कार्य उसी योजना के अनुसार निष्पादित किया जा रहा है तो योजना निरर्थक सिद्ध हो सकती है। अर्थात योजना को निर्धारित तरीकों से क्रियान्वित करके तथा सहायक कर्मचारियों द्वारा किए गए कार्यों का मूल्यांकन करके उनके कार्य का निरीक्षण एवं नियंत्रण उद्देश्य प्राप्ति हेतु आवश्यक है।

नियंत्रण प्रबंध का एक ऐसा कार्य है जिसके अंतर्गत प्रबंधक अपने अधीन कार्यरत सहायक कर्मचारियों के कार्य की जांच करता है और उसे मापता है, उसमें आवश्यक सुधार करके उन्हें संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अनुकूल बनाता है। नियंत्रण प्रबंधक की एक ऐसी जिम्मेदारी है जिसे निभाने के लिए उसे यह देखना होता है कि कर्मचारियों ने निर्धारित योजना, उद्देश्य एवं कार्यमानों के अनुसार काम किया है या नहीं नियंत्रण का कार्य कर्मचारियों को कार्य करने का आदेश देकर, आदेश के भीतर उनसे कार्य करवाने तक सीमित नहीं है। यदि कर्मचारी उचित प्रकार से कार्य निष्पादित नहीं कर पाते हैं तो इसकी पूर्ण जिम्मेदारी प्रबंधक पर होती है। नियंत्रण कार्य का मुख्य उद्देश्य कार्य प्रगति का हवाला प्राप्त करना है। एक बार जब किसी भी योजना को क्रियान्वित किया जाता है उस पर नियंत्रण रखना आवश्यक है ताकि उस योजना अथवा कार्य के पूरा हो जाने एवं उससे संबंधित प्रगति की सूचना प्राप्त की जा सके। नियंत्रण विधि में निम्न चार तत्व सम्मिलित हैं :

(i) कार्यमानों का निर्धारण : प्रत्येक कार्य के निष्पादन के लिए कार्य योजना के अंतर्गत विभिन्न कार्यमानों का निर्धारण किया जाता है। ये कार्यमान संस्था की योजनाओं के उद्देश्यों के प्रतीक होते हैं और इनको इस प्रकार से निर्धारित किया जाता है कि कार्य प्रगति को मापा जा सके।

(ii) कार्य प्रगति को मापना : कार्य प्रारंभ होने के बाद कर्मचारियों के वास्तविक निष्पादन को मापा जाता है ताकि इसकी तुलना निर्धारित कार्यमानों से की जा सके।

(iii) कार्यमान और कार्य प्रगति में अंतर : तीसरे क्रम पर कर्मचारियों का वास्तविक निष्पादन माप कर, इसकी निर्धारित कार्यमानों से तुलना की जाती है। यदि कार्य का वास्तविक निष्पादन निर्धारित कार्यमान से भिन्न है तो इस भिन्नता के संभव कारणों को ज्ञात किया जाता है।

(iv) विश्लेषण तथा उपचार : कार्यमानों एवं वास्तविक निष्पादन में जो अंतर रहता है उसके कारणों को ज्ञात करने के पश्चात उनका गहन अध्ययन किया जाता है और उनका विश्लेषण करके उन्हें दूर करने के उपचार ढूंढे जाते हैं ताकि कार्य फिर से निर्धारित कार्यमान के बराबर किया जा सके।

प्रबंध कला है अथवा विज्ञान

अन्य विषयों की भांति प्रबंध के क्षेत्र में भी अभी तक यह विवाद विद्यमान है कि प्रबंध विज्ञान है अथवा कला। इस विवाद से प्रबंधकीय क्रिया के स्वरूप एवं प्रकृति के बारे में आम लोगों में भ्रांति पैदा होती है। इसीलिए प्रबंध विज्ञान है अथवा कला, या इन दोनों का संयोग, यह जानने के लिए पहले कला और विज्ञान को स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है।

प्रबंध कला के रूप में : कला ज्ञान का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें किसी विशिष्ट उद्देश्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभव एवं प्राप्त ज्ञान एवं कुशलता का प्रयोग किया जाता है। अतः कला का मुख्य कार्य कुछ विशिष्ट परिणामों को प्राप्त करना है या विशेष स्थिति को उत्पन्न करना है। इस परिभाषा के अनुसार कला में निम्न विशेषताएं होती है :

(i) उन विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करना जो पूर्वनिर्धारित होते है और स्पष्ट रूप से व्याख्यायित एवं परिभाषित होते है।

(ii) इन विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति प्रभावपूर्ण ढंग से की जाती है।

(iii) कला के अंतर्गत उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इच्छुक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत ज्ञान एवं कुशलता का प्रयोग करता है।

कला की परिभाषा एवं विशेषताओं को ध्यान मे रखते हुए यह कहना अनुचित नही होगा कि प्रबंध भी एक कला है, क्योंकि प्रबंधक के सम्मुख भी एक विशिष्ट उद्देश्य रहता है, जैसे संस्था की बिक्री बढ़ाना, निश्चित मात्रा का उत्पादन करना, श्रमिकों का मनोबल बढ़ाना, संस्था की बाजार ख्याति मे वृद्धि करना आदि। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रबंधक अपनी व्यक्तिगत कुशलता एवं अनुभव का प्रयोग करता है ताकि प्रभावपूर्ण ढंग से इन उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रबंध निश्चित रूप से कला है और प्रबंधक संस्था को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए संबंधित जटिल समस्याओं को अपनी कुशलता एवं ज्ञान से हल करता है एवं व्यवसाय में निर्णय लेने के लिए अपनी व्यक्तिगत निपुणता का प्रयोग करता है जो कला से संबंधित है।

इसके अतिरिक्त प्रबंध को कला समझने का एक कारण यह भी है कि प्रबंधकीय कुशलता व्यक्तिगत अधिकार है और इसका संबंध सहज ज्ञान से है। न तो इस प्रकार के ज्ञान को एकत्र ही किया जा सकता है और न दूसरे व्यक्ति को आसानी से हस्तानान्तरित ही किया जा सकता है।

प्रबंध कला है, यह विचारधारा प्रबंधकीय क्षेत्र में विकास के प्रारंभिक चरणों मे अधिक प्रबल थी। अभी तक कुछ देशों में, जैसे लैटिन अमरीका, प्रबंधकीय कुशलता को मूल रूप से कला समझा जाता है।

प्रबंध एक विज्ञान के रूप में : प्रबंध के क्षेत्र में विकास के प्रारंभिक चरणो मे यह समझा गया कि प्रबंध केवल कला है क्योंकि प्रबंधकीय कुशलता को न तो नियमबद्ध किया जा सकता है और न ही इसका संचार संभव है। पर बहुत सारे विद्वान, जैसे टेलर, फेयोल, गिलबर्थ आदि ने प्रबंध के बारे में इस विचारधारा को तर्कपूर्ण एवं उचित नही समझा। व्यवसाय की विभिन्न क्रियाओं के बारे में काफी दीर्घकाल के अनुभव से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्रबंध के सिद्धांतों को निश्चित किया जा सकता है तथा इन्हें नियमबद्ध करके इनका संचार अथवा आदान-प्रदान संभव है। इनके इस तर्क से यह अनुभव किया जाने लगा है कि प्रबंध में विज्ञान भी सम्मिलित है। इसके कुछ निश्चित सिद्धांत हैं, इनमें कुछ सत्यता है और इस क्रिया में कुछ सामान्य नियम हैं जिन्हें दूसरे को समझाया जा

सकता है एवं हस्तांतरित किया जा सकता है। प्रबंध सामाजिक विज्ञान के अंतर्गत आता है क्योंकि इसका विषय मानव है जिनको प्रबंधक अधिक कुशलता एवं क्षमता से कार्य करने के लिए प्रभावित करके संस्था के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। मानव व्यवहार चंचल, गतिशील एवं परिवर्तनशील है, इसीलिए प्रबंधकीय विज्ञान में, विज्ञान की अन्य शाखाओं, जैसे, भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि की भांति निश्चयात्मक सिद्धांतों का विकास नहीं किया जा सकता है। फिर भी मानव व्यवहार के बारे में उन सामान्य नियमों व सिद्धांतों का विकास किया जा सकता है जो मानव व्यवहार पर सामान्य रूप से लागू होते हैं। अतः प्रबंध के सिद्धांत मूल रूप से व्यावहारिक सिद्धांत हैं जो मनुष्य के स्वभाव के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रबंध विज्ञान व कला दोनों का संयोग है क्योंकि प्रबंधक अलग अलग स्थितियों में प्रबंधकीय विज्ञान के सिद्धांतों एवं सामान्य नियमों में आवश्यक समायोजन करके उन्हें अपनी व्यक्तिगत कुशलता एवं अनुभव के साथ कुछ पूर्वनिर्धारित विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त एक कुशल प्रबंधक संस्था के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक तभी प्राप्त कर सकता है यदि उसमें प्रबंधकीय कुशलता के साथ साथ प्रबंध के सिद्धांतों एवं सामान्य नियमों का ज्ञान भी हो। ज्ञान के ये दोनों पक्ष एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं। अंत में यह कहना अधिक उचित एवं तर्कपूर्ण होगा कि प्रबंध व्यावहारिक विज्ञान है क्योंकि प्रबंधक प्रबंध के सामान्य नियमों एवं सिद्धांतों का अपनी कुशलता एवं अनुभव के साथ एक दूसरे का अनुकूलतम संयोजन करके व्यावसायिक क्रिया की जटिलता को समाप्त करने के लिए प्रयोग करता है।

प्रशासन एवं प्रबंध

व्यवसाय में हुई क्रांति एवं प्रगति के फलस्वरूप प्रबंधकीय क्रिया का व्यवसाय में महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अब व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रबंध की परंपरागत विधियों एवं रीति-रिवाजों के स्थान पर वैज्ञानिक सिद्धांतों का भी प्रयोग किया जा रहा है। इन सबके फलस्वरूप प्रबंध की प्रकृति एवं क्षेत्र में भी आवश्यक परिवर्तन हुए हैं। हालांकि प्रबंध को विभिन्न लेखकों ने परिभाषित किया है पर अभी तक इसके मूल कार्यों, क्षेत्र एवं प्रकृति के बारे में सर्वमान्य रूपरेखा तैयार नहीं हो पाई है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि अमुक कार्य या क्रिया प्रबंध के अंतर्गत आती है और यह प्रबंध के क्षेत्र से बाहर है। इस शब्द की परिभाषा एवं व्याख्या के संबंध में अभी तक एक मत नहीं हो पाया है। प्रबंध शब्द के साथ साथ एक अन्य शब्द 'प्रशासन' भी प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ एवं व्याख्या प्रबंधकीय कार्यों, क्रियाओं एवं क्षेत्र को और अधिक संदेहजनक बनाती है।

व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए व्यवसाय में उपलब्ध साधनों का अधिकतम प्रभावपूर्ण प्रयोग करना ही प्रबंध कहलाता है। इस कार्य को करने के लिए योजना तैयार करना, विभिन्न व्यक्तियों के कार्यों को संगठित करना, उन्हें निर्देशित करना, उनमें समन्वय बनाए रखना और उनको नियंत्रित करना आदि समस्त कार्य इसमें सम्मिलित हैं। हमारे सम्मुख यह समस्या उत्पन्न होती है कि यदि ऊपर बताई गई समस्त क्रियाएं एवं कार्य प्रबंध के अंग हैं तो प्रशासन क्या है? क्या इसे भी प्रबंध का ही अंग माना जाए? इस संबंध में विभिन्न लेखकों के मत भिन्न हैं। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रबंध एवं प्रशासन में अंतर मुख्य रूप से इन शब्दों के विभिन्न स्थितियों में प्रयोग से संबंधित है।

'प्रबंध एवं प्रशासन में अंतर' विषय पर विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत किए गए विचारों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

प्रथम वर्ग में उन लेखकों के विचार सम्मिलित हैं जो प्रबंध एवं प्रशासन को एक दूसरे से भिन्न न समझ कर एक दूसरे का पर्यायवाची समझते हैं।

द्वितीय वर्ग में प्रबंध को प्रशासन से व्यापक समझा गया है इसीलिए प्रबंध में ही प्रशासन को सम्मिलित किया गया है। तृतीय वर्ग में प्रबंध एवं प्रशासन को अलग अलग क्रिया समझा गया है।

प्रथम वर्ग में जिन लेखकों तथा विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं उनमें मुख्य हैं फेयोल जिनको आधुनिक सामान्य प्रबंध का जन्मदाता कहा जाता है। फेयोल के अनुसार प्रबंध एवं प्रशासन एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। उनमें अंतर केवल प्रयोग संबंधी है। प्रशासन शब्द का प्रयोग अधिकांश दशाओं में सरकारी कार्यालयों के उच्च-स्तरीय कार्यकारी कार्यों के लिए किया जाता है और एक व्यावसायिक संस्था में इन्हीं कार्यों के लिए प्रबंध शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इन दोनों में कोई मूल अंतर नहीं है। इसी प्रकार विलियम न्यूमैन ने भी प्रशासक एवं प्रबंधक को एक दूसरे का पर्यायवाची समझा है।

दूसरे वर्ग के मुख्य लेखक ब्रैच एवं किम्बल हैं। ब्रैच ने प्रबंध शब्द में उन समस्त कार्यों को सम्मिलित किया है जो संगठन, नियोजन, निर्देशन एवं नियंत्रण से संबंधित हैं। इनके अनुसार प्रबंध में संस्था के कार्यों का प्रभावपूर्ण नियोजन एवं नियमन या निर्देशन का उत्तरदायित्व सम्मिलित है और इस उत्तरदायित्व में निम्न तत्व सम्मिलित हैं:

(अ) योजनाओं को अनुकूल बनाए रखने के लिए उचित विधि-व्यवहार का निर्माण करना एवं उन्हें कायम रखना।

(ब) संस्था के कार्यों को निष्पादित करने वाले समस्त कर्मचारियों का निर्देशन, नियंत्रण तथा एकीकरण करना।

ब्रैच ने प्रबंध को तीन स्तरों में बांटा है:

(i) प्रबंध का सर्वोच्च स्तर, इसमें संस्था क लिए मूल नीतियों का निर्धारण किया जाता है तथा कर्मचारियों के कार्यों को समन्वित करने और उन्हें प्रेरणा देने से संबंधित कार्य किए जाते हैं।

(ii) प्रबंध का दूसरा स्तर, जिसे कार्यात्मक या विभागीय प्रबंध कहा जाता है। यह सीमित मात्रा में नियोजन, प्रेरणा एवं समन्वय का कार्य करता है।

(iii) प्रबंध के निम्न स्तर पर स्थित प्रबंधक मुख्य रूप से श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्यों का निरीक्षण करते हैं और संस्था की दैनिक क्रियाओं के संबंध में निर्णय भी लेते हैं।

इसी प्रकार किम्बल और किम्बल के अनुसार प्रबंधक एक व्यापक शब्द है जिसके कार्यों में संस्था की स्थापना तथा मूल नीतियों के निर्धारण से संबंधित कार्य सम्मिलित हैं। प्रशासन एक ऐसा कार्य है जिसके द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इन नीतियों को क्रियान्वित किया जाता है। इसमें कार्य के लिए निर्देश जारी करना, यह देखना कि श्रमिक कार्य करने के योग्य एवं प्रशिक्षित है तथा उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इस बात का ध्यान रखना कि श्रमिक, मशीन एवं आवश्यक कच्चे माल आदि की उचित व्यवस्था है और इनका उपयोग उचित प्रकार से किया जा रहा है, आदि शामिल हैं। कुछ लेखकों ने इसके विपरीत अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, जैसे प्रो० वाल्टर, थियो हेमैन आदि। प्रो० वाल्टर के अनुसार प्रशासन में संस्था की व्यापक नीतियां बनाना सम्मिलित है और प्रबंध इसका एक तत्व है। इसी प्रकार थियो हेमैन के अनुसार भी प्रशासन निर्णयात्मक प्रक्रिया

अधिक है जबकि प्रबंध कार्यकारी प्रक्रिया है।

तीसरे महत्वपूर्ण वर्ग के विचारों के समर्थक प्रबंध एवं प्रशासन को एक दूसरे से भिन्न क्रिया समझते हैं। इनमें ओलीवर सेल्डन मुख्य हैं। सेल्डन के अनुसार उद्योग में प्रशासन एक ऐसा कार्य है जिसमें संबंधित संस्था की नीतियों का निर्धारण करना, वित्त, उत्पादन एवं वितरण में समन्वय स्थापित करना एवं संगठन का ढांचा तैयार करना सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त प्रबंध उद्योग में ऐसा कार्य है जिसमें प्रशासन द्वारा नियत सीमाओं के भीतर नीतियों को क्रियान्वित करना एवं संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन को संचालित करना सम्मिलित है।

फ्लोरेंस एवं टीड का भी यही विचार है। इनके अनुसार प्रशासन विचार प्रक्रिया है जबकि प्रबंध वास्तविक रूप से कार्य करने की प्रक्रिया है।

इसके अतिरिक्त स्प्रेगल तथा लैन्सबर्ग के मतानुसार संगठन के उच्चस्तर में प्रबंधकीय अधिकारों का संबंध प्रशासन से अधिक होता है और प्रबंध से कम तथा इसके विपरीत निम्न स्तर में प्रबंधक प्रबंध की क्रिया में अधिक व्यस्त रहता है और उसके लिए प्रशासन से संबंधित कार्य कम हो जाता है।

वैज्ञानिक प्रबंध

प्रबंधकीय क्रिया का मुख्य उद्देश्य संस्था के नियोक्ता एवं कर्मचारियों को स्थाई रूप से समृद्ध बनाना है। संस्था एवं श्रमिकों की समृद्धि का यहां पर व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। संस्था की समृद्धि का अर्थ केवल अधिकतम लाभ कमाना ही नहीं है बल्कि इसमें उसके विभिन्न अंगों का अधिकतम विकास करना भी सम्मिलित है। इसी प्रकार श्रमिकों या कर्मचारियों की समृद्धि में वेतनवृद्धि तथा अन्य सुविधाएं प्रदान किया जाना ही नहीं बल्कि उनकी योग्यता एवं क्षमता का चरम सीमा तक विकास करना भी सम्मिलित है। यह समझा जाता है कि संस्था में नियोक्ता एवं कर्मचारियों के हित अलग अलग होते हैं पर वास्तव में गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो किसी भी संस्था को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि संस्था में कार्यरत कर्मचारियों एवं श्रमिकों के हित संस्था के हितों के विपरीत न हों क्योंकि इन दोनों हितों में विरोध संस्था के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक होता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि संस्था में संलग्न समस्त हितों में परस्पर सामंजस्य हो।

संक्षेप में, कर्मचारियों की समृद्धि एवं नियोक्ता या संस्था की समृद्धि एक दूसरे से जुड़े हैं। जब तक श्रमिक एवं कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि नहीं होगी तब तक उत्पादन लागत कम नहीं की जा सकती है और संस्था समृद्ध नहीं हो सकती है। इसी तरह संस्था की समृद्धि एवं सफलता के अभाव में कर्मचारियों का सर्वतोन्मुखी विकास नहीं किया जा सकता है और न उनके रहन-सहन तथा कार्य करने की दशाओं में ही सुधार किया जा सकता है। संस्था की स्थाई समृद्धि के लिए समस्त साधनों को इस प्रकार संयोजित किया जाना चाहिए कि उनसे प्रति दिन अधिक से अधिक वस्तुएं उत्पादित की जा सकें और परिणामस्वरूप श्रमिकों एवं कर्मचारियों को प्रतियोगी संस्था की तुलना में अधिक वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्रदान की जा सकें।

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्था में कार्यरत श्रमिक तथा कर्मचारियों एवं नियोक्ताओं का उद्देश्य समस्त कर्मचारियों को इस दिशा में प्रशिक्षित एवं विकसित करना होना चाहिए कि वे सब मिलकर उच्च कोटि का कार्य कर सकें और उनकी उत्पादकता अधिकतम हो। पर व्यवहार में यह पाया जाता है कि श्रमिक संस्था को स्थाई रूप से समृद्धिशाली बनाने के लिए इसके विपरीत कार्य करते हैं, क्योंकि

श्रमिकों में यह विचारधारा सामान्य रूप से बनी रहती है कि यदि वे अधिक कुशलता एवं क्षमता से कार्य करेंगे तो उनमें से कई श्रमिक कुछ समय पश्चात रोजगार से निकाले जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश संस्थाओं में प्रबंध व्यवस्था भी अकुशल हो सकती है, अनुपयुक्त विधियां एवं नीतियां कर्मचारियों एवं श्रमिकों के मनोबल को विपरीत रूप से प्रभावित करती हैं तथा व्यवसाय में रूढ़िवादी एवं परंपरागत सिद्धान्तों का प्रयोग एवं नियोक्ता की शोषण नीति का भी श्रमिकों एवं कर्मचारियों की उत्पादकता पर बुरा असर पड़ता है।

औद्योगिक संस्था में श्रमिकों एवं कर्मचारियों की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए प्रबंध के क्षेत्र में समय समय पर नई विचारधाराएं विकसित हुई हैं। विशेष रूप से औद्योगिक क्रांति के पश्चात इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से 'वैज्ञानिक प्रबंध' की विधि का जन्म हुआ। इस विधि के उद्गम एवं विकास का श्रेय टेलर को है जिन्हें वैज्ञानिक प्रबंध का जन्मदाता कहा जाता है।

परिभाषा : वैज्ञानिक प्रबंध का अर्थ मूल रूप से प्रबंध के क्षेत्र में विज्ञान के सिद्धांतों को लागू करने से है जिनका अंतिम उद्देश्य संपूर्ण संस्था की कार्यक्षमता में वृद्धि करके संस्था को स्थाई रूप से समृद्ध एवं विकसित बनाना है।

संस्था को प्रबंधित करने की क्रिया काफी समय तक परंपरागत रीतियों एवं रूढ़िवादी सिद्धातों के आधार पर निष्पादित की जाती रही है। कालांतर में व्यवसाय के क्षेत्र में हुई उन्नति तथा व्यावसायिक क्रियाओं में उत्पन्न जटिलताओं के परिणामस्वरूप व्यवसाय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए प्रबंधक के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह व्यवसाय के क्षेत्र में उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए साधारण व्यक्ति द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों एवं विधियों को त्याग करके उनके स्थान पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अपनाए।

दूसरे शब्दों में, प्रबंध की क्रिया को वैज्ञानिक ढंग से निष्पादित करने के लिए प्रबंध के क्षेत्र में विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करना सम्मिलित है अर्थात परंपरागत एवं रूढ़िवादी विचारधारा के स्थान पर तर्कपूर्ण व्यवहार का प्रयोग, भाग्य एवं संयोग पर विश्वास करने के स्थान पर तथ्यों एवं आंकड़ों पर आधारित निर्णय लेना तथा श्रम को उत्पादन का क्रय किया गया साधन न समझकर उसकी मूल विशेषता मानवता को स्वीकार करना और निर्णय लेने के लिए वैज्ञानिक विचारधारा को अपनाना। इसके अतिरिक्त समस्या को परिभाषित करके, उसके बारे में आवश्यक तथ्य एवं जानकारी प्राप्त की जाती है और उनका विश्लेषण तथा मूल्यांकन करके तब एक उपयुक्त कार्य-मार्ग निर्धारित किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि श्रमिक की नियुक्ति के मामले में परंपरागत विधियों का प्रयोग करके मनमाने ढंग से उसकी नियुक्ति की जाए तो स्वाभाविक रूप से संस्था में श्रमिकों की अधिकतम कार्यकुशलता प्राप्त करना काफी कठिन है। इसके विपरीत यदि इसी कार्य को वैज्ञानिक ढंग से किया जाए, जैसे श्रमिकों की नियुक्ति करने से पहले कार्य की विशेषताओं एवं प्रकृति को ध्यान में रखते हुए शारीरिक, मानसिक एवं रुचि में उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव किया जाए, उन्हें अपनी मौजूद क्षमता एवं योग्यता का अधिकतम विकास करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाए और उन्हें कार्य करने के लिए अनुकूल दशाएं प्रदान की जाएं तो निश्चित रूप से उनकी कार्यक्षमता उन श्रमिकों से अधिक होगी जिनकी नियुक्ति अवैज्ञानिक ढंग से की गई है।

वैज्ञानिक प्रबंध की अलग अलग लेखकों ने भिन्न भिन्न परिभाषाएं दी है जिनमें से मुख्य परिभाषाएं निम्न हैं :

पीटर ड्रकर के शब्दों में : 'वैज्ञानिक प्रबंध मूल रूप से कार्य का व्यवस्थित अध्ययन

है। कार्य का सरल तत्व में विभाजन और श्रमिक द्वारा प्रत्येक तत्वों को निष्पादित करने में व्यवस्थित सुधार करना है।' इस परिभाषा को अधिक व्यापक एवं उपयुक्त नहीं समझा जाता है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक प्रबंध को संकुचित दृष्टिकोण से परिभाषित करके केवल इसके एक महत्वपूर्ण तत्व, कार्य सुधार की ओर संकेत किया गया है। एच० एस० परसन के अनुसार, 'वैज्ञानिक प्रबंध सामूहिक प्रयत्नों की पद्धति एवं संगठन की विधि है जो वैज्ञानिक ढूंढ़ खोज एवं विश्लेषण से निकाले गए सिद्धांतों एवं नियमों पर आधारित है।' वैज्ञानिक प्रबंध की इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवसाय के क्षेत्र में वैज्ञानिक सिद्धांतों एवं नियमों का प्रयोग करके विभिन्न समस्याओं का समाधान किया जाता है। इस परिभाषा को पूर्ण नहीं समझा जा सकता है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक प्रबंध को संगठन की विधि मात्र माना गया है, जबकि इसके अंतर्गत संपूर्ण व्यवसाय के क्षेत्र में विज्ञान के सिद्धांतों को लागू किया जाना भी सम्मिलित है।

एफ० डब्ल्यू० टेलर के अनुसार, 'वैज्ञानिक प्रबंध मूल रूप से एक आस्था है जो प्रबंध के चार निहित सिद्धांतों का संयोग है। प्रथम विज्ञान का विकास, द्वितीय श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव, तृतीय उनकी वैज्ञानिक शिक्षा एवं विकास तथा चतुर्थ कर्मचारियों एवं प्रबंधकों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग।' वैज्ञानिक प्रबंध की यह परिभाषा अन्य परिभाषाओं की तुलना में सबसे अधिक विस्तृत एवं उपयुक्त समझी जा सकती है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक प्रबंध की लगभग समस्त मूल विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है। विशेष रूप से औद्योगिक संबंधों में सुधार करना वैज्ञानिक प्रबंध का मूल तत्व बताया गया है जो काफी हद तक उचित एवं तर्कपूर्ण है क्योंकि जब तक संस्था में मधुर एवं अनुकूल संबंध स्थापित नहीं किए जाएंगे तब तक वैज्ञानिक प्रबंध की संपूर्ण योजना को क्रियान्वित करके वांछित परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए वैज्ञानिक प्रबंध में निम्न विशेषताएं विद्यमान होती हैं :

(अ) वैज्ञानिक प्रबंध में मूल रूप से प्रबंध के क्षेत्र में विज्ञान के सिद्धांतों एवं नियमों को लागू किया जाता है।

(ब) इसका संबंध मुख्य रूप से कारखाने में श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि करने से है ताकि श्रमिक अधिकतम एवं उच्च स्तर का उत्पादन कर सकें।

(स) संस्था में वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली लागू करने से परंपरागत विधियों के स्थान पर विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है।

(द) वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत किसी भी कार्य को करने से पहले उसकी विस्तृत योजना तैयार की जाती है।

(य) वैज्ञानिक प्रबंध के अनुसार प्रबंधक अपने भाग्य एवं अवसर पर विश्वास करने के बजाय तर्कपूर्ण ढंग से कार्य करता है।

(र) प्रबंध की इस प्रणाली में प्रबंधक द्वारा लिए गए निर्णय आवश्यक तथ्य एवं आंकड़ों पर आधारित रहते हैं।

(ल) श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कार्य का विभिन्न तत्वों में सरलतम विभाजन किया जाता है एवं श्रमिक की रुचि, योग्यता, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के उपयुक्त उन्हें कार्य सौंपा जाता है। इससे कार्य निष्पादन में विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।

(व) किसी भी समस्या को हल करने के लिए, समस्या को परिभाषित करके, उसके प्रत्येक पक्ष का अध्ययन कर, आवश्यक आंकड़े प्राप्त किए जाते हैं और उनका विश्लेषण तथा मूल्यांकन करके उचित कार्यमार्ग निर्धारित किया जाता है।

(श) वैज्ञानिक प्रबंध में प्रबंधकों एवं श्रमिकों को एक दूसरे के समीप लाकर उनमें सहयोग एवं मैत्री भावना जाग्रत की जाती है।

वैज्ञानिक प्रबंध के मूल तत्व

वैज्ञानिक प्रबंध की आवश्यकता, परिभाषा एवं विशेषताओं का वर्णन करने के पश्चात यह जानना आवश्यक है कि वैज्ञानिक प्रबंध में कौन कौन से आधारभूत तत्व सम्मिलित हैं। इस संबंध में एफ० डब्ल्यू० टेलर तथा उनके सहयोगियों आदि के द्वारा बताए गए उन अनिवार्य तत्वों का अध्ययन किया जा रहा है जिनकी व्याख्या उन्होंने वैज्ञानिक प्रबंध को कारखाने में लागू करते समय की है। ये तत्व निम्न हैं :

1. कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण एवं मूल्याकन,
2. श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण,
3. कार्य करने की दशाओं, उत्पादन सामग्री एवं उपकरणों का प्रमापीकरण,
4. विशिष्टीकरण,
5. मानसिक क्रांति।

1. कार्य का वैज्ञानिक अध्ययन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन

यह वैज्ञानिक प्रबंध का सबसे महत्वपूर्ण तत्व समझा जाता है, क्योंकि जब तक प्रबंधक को इस बात का ज्ञान नहीं कि एक श्रमिक प्रतिदिन कितना कार्य कर सकता है वह न तो श्रमिक को अधिक कार्य करने पर बाध्य कर सकता है और न वह यह अनुमान लगा सकता है कि श्रमिक ने कम कार्य किया है। कार्य के बारे में इस अज्ञानता को परंपरागत प्रबंध प्रणाली का मुख्य दोष समझा जाता है।

इसलिए वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत कार्य का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण करके सर्वप्रथम यह निर्धारित किया जाता है कि एक श्रमिक को प्रतिदिन कितना कार्य करना चाहिए। इसके लिए वैज्ञानिक सर्वेक्षण करके प्रत्येक श्रमिक के लिए कार्य निर्धारित किया जाता है। इसे कार्यमान अथवा उचित दैनिक कार्य कहा जाता है। कार्यमान का अभिप्राय कार्य की उस मात्रा से है जिसे एक औसत श्रमिक कार्य करने की आदर्श प्रमापीकृत दशा में, प्रबंधकों के साथ सहयोग एवं सदविश्वासपूर्ण वातावरण मे प्रतिदिन निष्पादित कर सकता है। श्रमिकों के लिए कार्यमान निर्धारित करने में आवश्यक सावधानी बरती जानी चाहिए, क्योंकि कार्यमान का कम या अधिक होना, ये दोनों स्थितियां श्रमिकों की उत्पादकता पर बुरा असर डालती है। इसीलिए कार्यमान का निर्धारण करने के लिए टेलर ने ऐसी वैज्ञानिक विधि खोजी है जिसमें निम्न तत्व सम्मिलित है :

कार्य अध्ययन : कार्य अध्ययन कार्य विशेष के उन विभिन्न पहलुओं एवं उन तमाम तत्वों का आलोचनात्मक एवं व्यवस्थित अध्ययन है जो उस विशेष कार्य मे सम्मिलित हैं अथवा जो उस कार्य को निष्पादित करने में कार्य क्षमता को प्रभावित करते है, जैसे, कार्य करने की गति, कार्यविधि, थकान, समय आदि, ताकि उस विशेष कार्य को अधिकतम कुशलता से निष्पादित किया जा सके। कार्य अध्ययन के अंतर्गत मुख्य रूप से निम्न तत्वों का अध्ययन सम्मिलित किया गया है : (अ) कार्य विधि अध्ययन, (ब) गति अध्ययन, (स) समय अध्ययन, (द) थकान अध्ययन।

(अ) कार्य विधि अध्ययन : कार्यमानों के निर्धारण करने के लिए सर्वप्रथम कार्य विधि का गहन अध्ययन किया जाता है। इसके लिए उत्पादन प्रक्रिया का सर्वेक्षण किया जाता है और एक प्रक्रिया चार्ट तैयार किया जाता है जिसके अंतर्गत संपूर्ण उत्पादन विधि में विभिन्न प्रक्रियाओं को क्रमिक रूप से रखा जाता है और श्रमिक, मशीन तथा कच्चे

माल के बीच की दूरी, कच्चे माल को उस स्थान तक लाया जाना, श्रमिक के आवागमन आदि को क्रमागत अवस्था में दर्शाया जाता है ताकि कार्य विधि में अनावश्यक गतिविधियों को एवं अपव्ययों को कम करके श्रमिक की कार्य क्षमता बढ़ाई जा सके। इस संबंध में यह भी आवश्यक है कि कारखाने का विन्यासक्रम उपयुक्त हो एवं प्रयोग किए जाने वाले उपकरण सर्वोत्तम हों, क्योंकि कार्यालय की साज-सज्जा एवं उपकरणों का भी कार्यविधि पर प्रभाव पड़ता है। इसके साथ साथ एक ही कार्य को करने की समस्त उपलब्ध विधियों का अध्ययन करके सबसे अधिक उपयुक्त एवं सरल विधि का चुनाव किया जा सकता है।

(ब) गति अध्ययन : श्रमिक को कार्य करने में इधर उधर हिलना डुलना पड़ता है। वह मशीन एवं कच्चे माल में कई मुद्राएं बदलता रहता है। गति अध्ययन के अंतर्गत श्रमिक की उन तमाम मुद्राओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाता है जिनको वह मशीन के ऊपर निर्धारित कार्यविधि के अंतर्गत कार्य करने में प्रयोग करता है। गति अध्ययन भी कार्यमान स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण तत्व है और इसका मुख्य उद्देश्य अनावश्यक मुद्राओं को कम करना है ताकि श्रमिक उचित संख्या में चेष्टाओं एवं मुद्राओं से कार्य कर सके। इससे उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि स्वाभाविक है। गति अध्ययन के लिए श्रमिक द्वारा मशीन के ऊपर कार्य करने के समय की समस्त चेष्टाओं एवं मुद्राओं को नोट कर लिया जाता है। यदि ये मुद्राएं एवं चेष्टाएं शीघ्र परिवर्तित हो रही हैं तो इनको नोट करने के लिए चलचित्र एवं मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है। इसके पश्चात नोट की गई इन सब मुद्राओं एवं चेष्टाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करके यह तय किया जाता है कि श्रमिक द्वारा कार्य किए जाने में कौन कौन सी मुद्राएं कितनी आवश्यक हैं और कौन सी मुद्राएं निरर्थक हैं ताकि इनको संपूर्ण कार्य विधि में से कम करके कार्य विधि को सरल एवं प्रभावशील बनाया जा सके।

(स) समय अध्ययन : किसी कार्य को करने में श्रमिक द्वारा जो समय लिया जाता है उसका भी कार्यमान के निर्धारण में प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसीलिए कार्यमान निर्धारित करने से पहले समय का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। समय अध्ययन के अंतर्गत प्रत्येक कार्य को छोटे छोटे हिस्सों में बांट लिया जाता है और प्रत्येक हिस्से को निष्पादित करने में लगने वाले समय को नोट करके उसका अध्ययन किया जाता है ताकि संपूर्ण कार्य को करने के लिए आवश्यक समय का निर्धारण किया जा सके। समय अध्ययन का मुख्य उद्देश्य किसी कार्य को निष्पादित करने के लिए उचित समय का निर्धारण करना है। उचित समय का निर्धारण न करने से यह ज्ञात करना काफी कठिन होता है कि श्रमिक कुशलतापूर्वक कार्य कर रहा है या नहीं।

समय अध्ययन की सबसे सरल एवं प्रचलित विधि स्टाप वाच है। कार्य के प्रत्येक हिस्से को निष्पादित करने में जो समय लगता है उसे 'स्टाप वाच' द्वारा नोट कर लिया जाता है। इस विधि का प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि औसत दर्ज का श्रमिक कार्य कर रहा है। उस श्रमिक से वह कार्य कई बार करवा कर प्रत्येक बार उसके द्वारा लिए गए समय को नोट करके उसका औसत ज्ञात किया जाना चाहिए। किसी भी कार्य को करने का समय न तो अधिक होना चाहिए और न कम। यदि निर्धारित समय अधिक है तो श्रमिक में धीरे धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति पनप सकती है और यदि निर्धारित समय कम है तो श्रमिक कार्य को जल्दी जल्दी करने में कोई गंभीर गलती कर सकता है।

(द) थकान अध्ययन : प्रत्येक श्रमिक की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति सीमित होती है और जब किसी कार्य को करने में श्रमिक अपनी इन शक्तियों का प्रयोग करता है तो कार्य प्रारंभ करने के कुछ समय पश्चात उसकी क्षमता में क्षीणता उत्पन्न होने लगती

है जो उसकी उत्पादकता को विपरीत रूप से प्रभावित करती है। व्यवहार में यह पाया गया है कि श्रमिक पूरे दिन समान कार्यक्षमता से कार्य नहीं कर सकता है। जब वह कार्य प्रारंभ करता है तो उस समय पूर्णतया उत्साहित होता है और अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करता है। धीरे धीरे उसका उत्साह कम होता जाता है, उसे थकान अनुभव होने लगती है जिसके परिणामस्वरूप उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियां क्षीण होने लगती हैं तथा उसकी कार्यक्षमता भी स्वाभाविक रूप से कम होने लगती है। इसीलिए कार्यमान का निर्धारण करने से पहले थकान का अध्ययन भी किया जाना चाहिए। थकान अध्ययन के द्वारा श्रमिक की कार्य करने की संपूर्ण प्रक्रिया का गहन अध्ययन करके यह ज्ञात किया जाता है कि थकान उसे किस समय अनुभव होती है और उस थकान को कम करने अथवा मिटाने के लिए किन उपायों की आवश्यकता है ताकि थकान से उत्पन्न क्षीणता कम की जा सके। थकान अध्ययन में कार्य की प्रकृति को भी ध्यान में रखा जाता है। कुछ कार्य इस प्रकृति के होते हैं कि श्रमिक उनको करने में उकता जाता है और धीरे धीरे उसे थकान अनुभव होने लगती है। इसीलिए थकान अध्ययन करके यह निश्चित किया जा सकता है कि कार्य को करने की विधि के विभिन्न क्रम किस प्रकार संयोजित एवं संबधित किए जाएं कि श्रमिकको पहले की तुलना में कम थकान अनुभव हो। इसके अतिरिक्त कुछ दशाओं में थकान कार्य करने की दशाओं के कारण भी उत्पन्न होती है। इसके लिए कार्य विधि के साथ साथ कार्य करने की दशाओं में भी आवश्यक सुधार किया जाना चाहिए।

2. श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण

श्रमिकों के लिए कार्यमानों का निर्धारण करने के बाद वैज्ञानिक प्रबंध का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण है। प्रबंध की परंपरागत प्रणाली के अंत-र्गत अधिकांश दशाओं में श्रमिकों के चुनाव एवं प्रशिक्षण का कार्यभार फोरमैन को सौंप दिया जाता था और वह अपने ढंग से श्रमिकों का चुनाव करता था। इस प्रकार के चुनाव में यह स्वाभाविक है कि चुने गए श्रमिकों मे से अधिकांश की कुशलता एवं क्षमता कम होगी, क्योंकि उनका किसी व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से चुनाव नहीं किया गया है। इसीलिए श्रमिकों का अधिकतम अंशदान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उनका चुनाव पूर्णतया वैज्ञानिक विधि से किया जाए। आजकल कई औद्योगिक संस्थाओं में श्रमिकों के वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण के लिए संस्था के अंतर्गत पृथक विभाग 'कर्म-चारी प्रबंध विभाग' की स्थापना की जाती है।

वैज्ञानिक प्रबंध के जन्मदाता टेलर ने वैज्ञानिक प्रबंध में श्रमिकों के वैज्ञानिक चुनाव एवं प्रशिक्षण पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। टेलर के अनुसार श्रमिकों का चुनाव करने से पहले कार्य के विभिन्न तत्वों का विश्लेषण करके कार्य के निष्पादन के लिए उन श्रमिकों का चुनाव किया जाना चाहिए जो मानसिक, शारीरिक क्षमता एवं रुचि के दृष्टिकोण से उपयुक्त हों। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि अधिक दक्ष एवं निपुण श्रमिक ही उस कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक कर सकता है। एक सामान्य चतुराई एवं दक्षता प्राप्त श्रमिक भी उस कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक निष्पादित कर सकेगा। टेलर ने 'बिथेलहेम' स्टील कारखाने में स्वयं कच्चा लोहा भरने हेतु 75 श्रमिकों के कार्य का निरीक्षण करके 4 ऐसे श्रमिकों का चुनाव किया जो $12\frac{1}{2}$ टन के बजाय 47 टन लोहा प्रतिदिन भर सके।

आधुनिक व्यावसायिक जगत में श्रमिकों के चुनाव में व्यक्ति विशेष के प्रभाव को कम करने के लिए पूर्वनिर्धारित परीक्षणों पर आधारित व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विधि

अपनाई जाती है जिसके द्वारा उचित एवं उपयुक्त योग्यता, क्षमता एवं रुचि वाले श्रमिकों का चुनाव किया जा सकता है।

श्रमिकों का वैज्ञानिक ढंग से चुनाव मात्र पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उनसे तब तक अधिक कुशलता एवं उत्पादकता की आशा नहीं की जा सकती है जब तक उनको उनकी रुचि, योग्यता, अनुभव तथा मानसिक एवं शारीरिक क्षमता के अनुसार 'सही व्यक्ति को सही कार्य' के सिद्धांत के आधार पर कार्य में नियुक्त न कर लिया जाए। इसे कार्य का वैज्ञानिक वितरण भी कहा जा सकता है। टेलर ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नियुक्ति उपयुक्त कार्य में की जाए।

कार्य के युक्तिपूर्ण वितरण के पश्चात कार्य अधिक कुशलता एवं क्षमता से निष्पादित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें जो कार्य सौंपा गया है उसमें प्रशिक्षण भी दिया जाए। श्रमिकों को प्रशिक्षण देने का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि श्रमिक को कार्य करने की विधि से भलीभांति अवगत कराया जाए ताकि वह अपना कार्य करने में कोई गलती न करे। टेलर के शब्दों में, 'यदि कोई कर्मचारी सौंपे गए कार्य को न कर सके तो कोई योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति उसे बताता है कि उसे कैसे कार्य करना चाहिए।'

श्रमिक द्वारा किया जाने वाला कार्य जितना ही अधिक जटिल होगा उसके लिए प्रशिक्षण उतना ही अधिक महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि प्रशिक्षण के द्वारा ही श्रमिक को कार्यविधि से अवगत कराके उसे इस बात का अभ्यास करा दिया जाता है कि वह कार्य को बिना किसी शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा के निष्पादित कर सके। आज के व्यावसायिक युग में उत्पादन क्रिया में उत्पन्न जटिलता के परिणामस्वरूप संस्था में श्रमिकों का प्रशिक्षण अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। नए श्रमिक को ही नहीं बल्कि पुराने श्रमिक को भी नई नई उत्पादन विधियों से अवगत कराने के लिए एवं उनकी उत्पादकता को कायम रखने के लिए और बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण आवश्यक समझा जाता है।

श्रमिकों के चुनाव, नियुक्ति एवं प्रशिक्षण से संबंधित एक और महत्वपूर्ण तत्व है श्रमिकों का विकास। टेलर का इस संबंध में यह मत है कि श्रमिकों एवं संस्था को स्थाई रूप से समृद्ध बनाने के लिए उन्हें अधिक वेतन दिया जाना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उनकी क्षमता, रुचि एवं कुशलता का पूर्ण विकास भी नितांत आवश्यक है। यह तभी संभव है जब संस्था में श्रमिकों की पदोन्नति की व्यवस्था हो ताकि उनको, उनकी योग्यता एवं क्षमता में वृद्धि के फलस्वरूप ऊंचे पदों पर नियुक्त किया जा सके और वे अपनी योग्यता तथा क्षमता के विकास के सर्वोच्च स्तर तक पहुंचाए जा सकें।

3. प्रमापीकरण

श्रमिकों के लिए कार्यमानों का निर्धारण करके वैज्ञानिक विधि से उनका चुनाव, नियुक्ति एवं प्रशिक्षण के पश्चात यह आवश्यक है कि निर्धारित कार्यमानों को चुने गए एवं प्रशिक्षित श्रमिकों पर लागू करने के लिए उनकी कार्यदशाओं, मशीनों तथा अन्य उपकरणों और उनके द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले कच्चे माल का प्रमापीकरण किया जाए क्योंकि श्रमिक की उत्पादकता कार्य करने की विभिन्न दशाओं में भिन्न हो सकती है। इसी प्रकार अलग अलग प्रकार के कच्चे माल के प्रयोग तथा विभिन्न मशीनों एवं उपकरणों के प्रयोग में उनकी उत्पादकता में विषमता स्वाभाविक है। इसीलिए उत्पादकता में समानता बनाए रखने के लिए उनकी कार्य करने की दशाओं, मशीनों एवं कच्चे माल का प्रमापीकरण किया जाता है।

कार्य करने की दशाओं का प्रमापीकरण : श्रमिक जिन दशाओं में कार्य करते हैं वे दशाएं

विभिन्न घटकों का संयोग होती हैं और ये घटक श्रमिक की कार्यक्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इन तमाम घटकों के संयोग को प्रमापीकृत कर दिया जाए। कार्य करने की दशाओं के प्रमापीकरण में कार्यशाला में प्रकाश की उचित व्यवस्था, अनुकूल तापमान, स्वच्छ वायु आदि तत्व भी सम्मिलित रहते हैं। प्रमापीकृत कार्यदशाओं से हमारा अभिप्राय यह है कि इन विभिन्न घटकों का एक उपयुक्त सयोग तैयार किया जाए जो समस्त श्रमिकों के लिए एकरूप तथा समान हो। इसकी असमानता निश्चित रूप से श्रमिको की उत्पादकता को प्रभावित करेगी। इसके अतिरिक्त कार्य करने की दशाओं को प्रमापीकृत करते समय श्रमिक की कार्य करने में सुरक्षा एवं सुविधा का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

मशीन व अन्य उपकरणों का प्रमापीकरण : श्रमिक की उत्पादकता काफी सीमा तक मशीन के सुचारु संचालन एव आवश्यक उपकरणों की उपलब्धि पर भी निर्भर रहती है। मशीन एवं उपकरणों के प्रमापीकरण से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक श्रमिक के पास, जो एक सा कार्य कर रहे हों, एक ही प्रकार की मशीनें तथा अन्य उपकरण होने चाहिए। यदि एक ही प्रकार का कार्य करने वाले दो श्रमिकों में से एक को नई मशीन दी जाती है और दूसरे को पुरानी मशीन, तो ऐसी स्थिति मे नई मशीन पर कार्य करने वाले श्रमिक की उत्पादकता स्वाभाविक रूप से अधिक होगी। पुरानी मशीन पर कार्य करने में समय समय पर मरम्मत आदि की समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं जिससे कार्य में बाधा स्वाभाविक है। टेलर ने इस बात का समर्थन किया है कि मशीनें एवं औजार चाहे उच्च कोटि के हों या निम्न कोटि के, पर उनमें एकरूपता होनी चाहिए।

कच्चे माल का प्रमापीकरण : वस्तु को उत्पादित करने में जो कच्चा माल प्रयोग किया जाता है उसकी किस्म का तैयार वस्तु की किस्म पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। इसीलिए श्रमिकों को एक प्रकार का, अच्छी किस्म का कच्चा माल उपलब्ध कराया जाना चाहिए। इससे भी उनकी उत्पादकता कुछ सीमा तक प्रभावित हो सकती है। कच्चे माल की किस्म के अतिरिक्त उसकी मात्रा एवं उसको नियंत्रित करने की विधि मे भी एकरूपता होनी चाहिए। इसके लिए संस्था के इंजीनियर, फोरमैन एवं स्टोरकीपर के बीच आपस में पूर्ण समन्वय होना आवश्यक है, ताकि कच्चे माल के संग्रह, क्रय एवं उपयोग को नियंत्रित करके संबंधित विधियों में एकरूपता लाई जा सके।

4. विशिष्टीकरण

वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत श्रमिक द्वारा किए जाने वाले कार्य को सरल छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिक की योग्यता, ज्ञान तथा मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं का अधिकतम विकास करने के उद्देश्य से उसे इन विशेषताओं के उपयुक्त कार्य सौंपा जाता है। इससे श्रमिक का कार्य अधिक से अधिक विशिष्टीकृत होता जाता है। विशिष्टीकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि संस्था के संगठनात्मक एवं प्रशासनिक ढांचे में भी इस दिशा में आवश्यक परिवर्तन किए जाएं। इस संबंध में टेलर ने निम्न सुधार करने का सुझाव दिया :

(अ) सकर्मक या कार्यात्मक फोरमैनशिप,
(ब) अपवादित प्रबंध,
(स) कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति।

(अ) सकर्मक या कार्यात्मक फोरमैनशिप : प्रबंध की परंपरागत विचारधारा के अनुसार संस्था में एक फोरमैन को कई श्रमिकों के कार्य के निरीक्षण की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। प्रत्येक श्रमिक उसी फोरमैन से कार्य करने का अधिकार प्राप्त करता है और पूर्णतया

उसी के नियंत्रण में कार्य करता है। पर वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत श्रमिकों द्वारा निर्धारित कार्यमान के अनुसार कार्य करने को कार्य करने की सर्वोत्तम विधि बताया जाता है, क्योंकि एक फोरमैन के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने अधीन समस्त श्रमिकों के कार्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से नियंत्रित कर सके। इसीलिए टेलर द्वारा कार्यात्मक फोरमैनशिप का आविष्कार किया गया। टेलर के अनुसार कारखाने में नियोजन एवं कार्य करने की क्रियाओं को एक दूसरे से पृथक किया जाना चाहिए और कुछ विशिष्ट ज्ञान वाले फोरमैन को कार्य के लिए योजना बनाने का कार्य सौंपा जाना चाहिए और अन्य फोरमैन कर्मशाला में श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्यों को नियंत्रित करें। कार्य योजना के लिए जिम्मेदार फोरमैन ही कार्य के बारे में आवश्यक आदेश एवं निर्देश देता है, और कार्य प्रगति की समय समय रिपोर्ट प्राप्त करता है। टेलर के अनुसार कार्यात्मक अथवा सकर्मक फोरमैनशिप की प्रणाली के अंतर्गत कारखाने में आठ फोरमैन होने चाहिए, जिनको संपूर्ण कार्य से संबंधित विभिन्न जिम्मेदारियां सौंपी जाती हैं :

योजनाकक्ष में 4 फोरमैन नियुक्त किए जा सकते हैं।

(i) निर्देश कार्ड बनाने वाला क्लर्क : इसका मुख्य कार्य कार्य के बारे में विस्तृत निर्देश तयार करना है।

(ii) समय एवं लागत क्लर्क : इसका कार्य उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में लगने वाले समय एवं उसकी लागत के बारे में जानकारी प्राप्त करना और उसका लेखा रखना है।

(iii) उत्पादन मार्ग निर्धारण क्लर्क : इसका कार्य उत्पादन प्रक्रियाओं का क्रम निर्धारित करके उसके बारे में श्रमिकों को आवश्यक निर्देश देना है।

(iv) कर्मशाला अनुशासक : यह क्लर्क यह देखता है कि कर्मशाला के अंतर्गत विभिन्न विभागों और श्रमिकों में अनुशासन है या नहीं और उत्पादन कार्य योजनाबद्ध ढंग से लागू किया जा रहा है या नहीं।

योजनाकक्ष के अतिरिक्त 4 फोरमैन कर्मशाला में कार्य करते हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध श्रमिकों के कार्यों से होता है।

(i) टोलीनायक : टोलीनायक का मुख्य कार्य कर्मशाला में कार्य करने वाले श्रमिक को तेजी से अच्छी तरह कार्य करने के संबंध में आवश्यक जानकारी देना तथा उन्हें कार्य के लिए आवश्यक औजार, मशीन आदि उपलब्ध कराना है।

(ii) गतिनायक : गतिनायक इस बात का निरीक्षण करता है कि प्रत्येक श्रमिक योजनाबद्ध गति से कार्य कर रहा है, अथवा नहीं।

(iii) मरम्मत नायक : इसका कार्य है श्रमिकों द्वारा कार्य करने में जिन मशीनों का प्रयोग किया जा रहा है उनमें टूट फूट की संभावना को कम करना एवं मरम्मत आदि की उचित व्यवस्था बनाए रखना।

(iv) निरीक्षक : निरीक्षक का मुख्य कार्य उत्पादित वस्तु की किस्म का निरीक्षण करना और यह पता लगाना है कि उत्पादित वस्तु योजनाबद्ध किस्म की है या नहीं और उसे योजना के अनुसार बनाने के लिए आवश्यक निर्देश देना।

(ब) **अपवादित प्रबंध** : प्रत्येक संस्था में प्रबंध के विभिन्न स्तर होते हैं। सर्वोच्च स्तर पर कार्य करने वाले प्रबंधक संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण करके उन्हें प्राप्त करने के लिए मूल नीतियां निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त संस्था के विभिन्न महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लेते हैं। यदि इस स्तर के प्रबंधकों को संस्था के छोटे छोटे दैनिक मामलों में उलझा दिया जाए तो स्वाभाविक है कि उन्हें महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय लेने के लिए समय का अभाव रहेगा और वे अपनी प्राथमिक जिम्मेदारी को संतोषजनक ढंग

से नहीं निभा पाएंगे। इसीलिए वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत संस्था के प्रबंधकीय ढांचे में 'अपवादित प्रबंध' की पद्धति को लागू किया जाता है। प्रबंध की इस पद्धति के अनुसार दैनिक कारोबार की सामान्य गतिविधियों के बारे में एक संक्षिप्त विवरण बना कर उच्चस्तरीय प्रबंधकों को भेजा जाता है ताकि कम से कम समय में वे संस्था की समस्त गतिविधियों एवं प्रगति से अवगत हो सकें। इसीलिए संस्था की समस्त गतिविधियों का विश्लेषण निम्न स्तर पर ही कर लिया जाता है और उच्चस्तरीय प्रबंधकों को केवल दैनिक कारोबार की अपवादित स्थितियों से ही अवगत कराया जाता है। इससे उच्च-स्तरीय प्रबंधकों के समय का महत्वपूर्ण हिस्सा बचाया जा सकता है और वे संस्था के अन्य महत्वपूर्ण मामलों में अपना पूर्ण समय विनियोजित कर सकते है :

(स) **कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति :** कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति को भी वैज्ञानिक प्रबंध का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। उत्पादन कार्य में अपव्यय एवं क्षीणताओं को कम करके ही श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। इसीलिए वैज्ञानिक प्रबंध में कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति को स्थापित करके लागू करना आवश्यक है क्योंकि कर्मशाला के उत्पादन कार्य में कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति के द्वारा निम्न प्रकार से महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जा सकती है :

(i) उत्पादन कार्य की प्रत्येक प्रक्रिया में लागत के विभिन्न तत्वों के बारे में आवश्यक जानकारी एकत्र करके उसका आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाता है।

(ii) इस पद्धति के अंतर्गत उत्पादन की प्रत्येक प्रक्रिया में लागत को नियंत्रित किया जाता है।

(iii) उत्पादन कार्य में प्रयोग की जाने वाली मशीनों तथा अन्य उपकरणों के प्रयोग में अपव्ययों को कम किया जाता है।

(iv) लेखाक्रम पद्धति के द्वारा ही विभिन्न लागत व्ययों का पूर्वानुमान तैयार किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि संस्था में कुशल परिव्यय लेखाक्रम पद्धति तमाम उत्पादन व्ययों में क्षीणता करके मितव्ययता प्राप्त करने में तथा मशीन एवं अन्य उपकरणों का कुशल प्रयोग करने में सहायक सिद्ध है। क्योंकि इस पद्धति के अंतर्गत लागत मान निर्धारित करके वास्तविक लागत से उसकी तुलना की जाती है और अपवादों का अध्ययन एवं विश्लेषण करके उसे सामान्य बनाने के उपचार ढूंढ़े जाते है।

5. मानसिक क्रांति

मानसिक क्रांति वैज्ञानिक प्रबंध का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। अभी तक वैज्ञानिक प्रबंध के जिन मूल तत्वों का वर्णन किया गया है उन सबका वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए इस तत्व का क्रियाशील होना आवश्यक है। मानसिक क्रांति से हमारा अभिप्राय उस विधि एवं प्रक्रिया से है जिसके द्वारा संस्था में कार्य करने वाले श्रमिकों एवं प्रबंधकों को इस प्रकार संगठित किया जाता है कि वे एक दूसरे के प्रति सहयोगपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण व्यवहार करें। दूसरे शब्दों में, इस प्रक्रिया के तहत प्रबंधक एवं श्रमिकों को अपने कार्य के प्रति तथा एक दूसरे के प्रति सहयोगपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित किया जाता है और विशेष रूप से श्रमिकों में संस्था के प्रति अपनत्व की भावना जाग्रत होती है। इस प्रकार संस्था में पूंजी एवं श्रम के बीच अंतर्द्वंद्व समाप्त करके इन दो महत्वपूर्ण साधनों में समन्वय उत्पन्न करके संस्था के उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त किए जा सकते हैं। टेलर के अनुसार जब तक श्रमिकों एवं प्रबंधकों की मानसिक प्रवृत्ति को परिवर्तित करके उनमे परस्पर सहयोग एवं विश्वास की भावना जाग्रत न की जाए तब तक वैज्ञानिक प्रबंध का

वांछित परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता है। टेलर ने संस्था में मधुर औद्योगिक संबंधों को वैज्ञानिक प्रबंध की आधारशिला माना है। उसका यह मत था कि संस्था की उत्पादकता में वृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाले अतिरिक्त लाभ को प्रबंधकों तथा नियोक्ताओं के लाभ में वृद्धि के रूप में एवं श्रमिकों को वेतन आदि में वृद्धि के रूप में वितरित किया जाना चाहिए। इससे उनके आपसी संबंध सुधरते हैं।

वैज्ञानिक प्रबंध के लाभ

वैज्ञानिक प्रबंध प्रबंध के क्षेत्र में हुई क्रांति का परिणाम है जिसके अंतर्गत प्रबंध की परंपरागत प्रणाली के स्थान पर विज्ञान के विभिन्न सिद्धांतों एवं विधियों का प्रयोग करके संस्था को स्थाई प्रगति एवं समृद्धि की ओर ले जाया जा सकता है जिससे व्यवसाय में संलग्न विभिन्न वर्ग लाभान्वित हो सकते हैं। संक्षेप में, वैज्ञानिक प्रबंध से निम्न लाभ संभव हैं :

उत्पादन व्यय में कमी : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली लागू करने से उत्पादन से संबंधित विभिन्न अपव्ययों को कम करके तथा मशीन आदि का अधिकतम कुशल प्रयोग करके उत्पादन व्ययों में निश्चित रूप से कमी लाई जा सकती है।

श्रम विभाजन के लाभ : प्रबंध की इस प्रणाली को लागू करने से उत्पादक को विशिष्टीकरण के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि इसके अंतर्गत कार्य का विभाजन करके प्रत्येक श्रमिक को वही कार्य सौंपा जाता है जो उसकी योग्यता, ज्ञान, अनुभव एवं शारीरिक तथा मानसिक क्षमता के उपयुक्त एवं अनुकूल हो।

मधुर एवं सहयोगी संबंध : वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत श्रमिकों एवं नियोक्ताओं के बीच मधुर एवं सहयोगी औद्योगिक संबंध स्थापित करके उत्पादन कार्य के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराया जाता है।

उत्पादकता में वृद्धि : प्रबंध के क्षेत्र में विज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग करने से श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि होती है क्योंकि उनका चुनाव, नियुक्ति, प्रशिक्षण आदि वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है और उन्हें कार्य करने के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध होता है।

संस्था के विभिन्न विभागों का अधिकतम संतुलित विकास : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली को संस्था में लागू करने से संस्था स्थाई रूप से समृद्धिशाली एवं प्रगतिशील होती है और उसके प्रत्येक विभाग का अधिकतम विकास संभव है।

वस्तु की किस्म में सुधार : वस्तु की किस्म में सुधार संभव है क्योंकि कर्मशाला में निरीक्षक वस्तु की किस्म पर ही अपनी निगरानी रखता है और दूसरी ओर कच्चे माल तथा मशीन एवं उपकरणों का प्रमापीकरण किया जाता है।

श्रमिकों के वेतन में वृद्धि : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली लागू करने से श्रमिकों के वेतन में वृद्धि होती है, क्योंकि उनको संस्था की समृद्धि एवं सफलता में हिस्सा मिलता है।

कार्य करने की दशाओं मे सुधार : प्रबंध की इस प्रणाली द्वारा श्रमिकों की कार्य दशाओं में सुधार संभव है, क्योंकि उत्पादन की संपूर्ण क्रिया को इस प्रकार नियोजित और प्रमापीकृत किया जाता है कि कार्य करने की दशाएं अनुकूल हो जाती हैं।

औद्योगिक शांति : वैज्ञानिक प्रबंध में श्रमिक एवं पूंजीपति के बीच संबंधों में आवश्यक सुधार संभव है क्योंकि उत्पादन के इन दोनों तत्वों में संतुलन एवं समन्वय उत्पन्न करके उनमें परस्पर सहयोग, सद्भाव एवं अपनत्व की भावना जाग्रत की जाती है और इससे औद्योगिक संघर्षों की स्थिति कम हो जाती है।

आर्थिक समृद्धि : वैज्ञानिक प्रबंध उत्पादक तथा श्रमिकों के लिए लाभप्रद है और इसके परिणामों से देश भी आर्थिक रूप से अधिक संपन्न एवं समृद्धिशाली हो सकता है क्योंकि

प्रबंध की इस प्रणाली में बड़े पैमाने पर उत्पादन, अपव्ययों को कम करके लागत में कमी, श्रमिकों की आय में वृद्धि, विनियोग को प्रोत्साहन आदि संभव है।

वैज्ञानिक प्रबंध की आलोचना

वैज्ञानिक प्रबंध के ऊपर वर्णित लाभों से यह स्पष्ट होता है कि प्रबंध की यह प्रणाली नियोक्ता, श्रमिक, उपभोक्ता तथा संपूर्ण समाज के लिए हितकर है। इससे जहां एक ओर श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि होती है उसके साथ ही साथ उत्पादित वस्तु की क़िस्म में सुधार, कीमतों में कमी संभव है। इस प्रकार संस्था स्थाई समृद्धि की ओर बढ़ती है। पर व्यवहार में इन सब लाभों के बावजूद प्रबंध की इस प्रणाली को निर्विवादपूर्ण ढंग से स्वीकार नहीं किया जाता है। कई आधारों को लेकर इसकी आलोचना की जाती है तथा श्रमिकवर्ग एवं नियोक्ता दोनों इस प्रणाली में दोष बताते हैं। प्रबंध की इस प्रणाली में कुछ दोष हैं यह कहना अनुचित नहीं है क्योंकि कोई भी प्रणाली बिल्कुल दोषरहित नहीं हो सकती है। नियोक्ताओं और श्रमिकों द्वारा जिन आधारों को लेकर इस प्रणाली की आलोचना की जाती है वे इस प्रकार हैं :

श्रमिकों द्वारा आलोचना

कार्य करने की गति में वृद्धि : श्रमिक प्रबंध की इस प्रणाली की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि इस प्रणाली के अंतर्गत श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं कल्याण पर ध्यान नहीं दिया जाता और उन्हें अधिक परिश्रम से कार्य करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप दीर्घकाल में उनकी क्षमता क्षीण हो जाती है। आलोचकों की यह बात तर्कपूर्ण प्रतीत नहीं होती है क्योंकि श्रमिकों के कार्य करने की गति में वृद्धि नई कार्य विधि के प्रयोग से एवं सुनियोजित उत्पादन कार्यक्रम के फलस्वरूप होती है। अत: यह समझना भूल है कि प्रबंध की इस प्रणाली को लागू करने से उनकी कार्यक्षमता पर कोई अतिरिक्त भार पड़ता है।
श्रमिकों में आत्मबल का अभाव : व्यवहार में कुछ सीमा तक यह पाया जाता है कि प्रबंध की इस प्रणाली को लागू करने से श्रमिकों के आत्मबल तथा रचनात्मक शक्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। वैज्ञानिक प्रबंध के अंतर्गत संपूर्ण उत्पादन क्रिया एक व्यवस्थित तथा नियोजित ढंग से निष्पादित की जाती है। श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले कार्य का पूर्ण ब्यौरा पहले ही तैयार कर लिया जाता है और उसी ब्यौरे के अनुसार उन्हें कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त श्रमिक पूर्णतया फोरमैन से प्राप्त आदेश एवं निर्देशों के अनुसार कार्य करते हैं।
कार्य में नीरसता : वैज्ञानिक प्रबंध प्रणाली में नियोजन कार्य निष्पादन से पृथक कर दिया जाता है और श्रमिक को निष्पादन क्रिया में ही एक सहयोगी तत्व समझा जाता है। इससे उसका कार्य नैत्यिक प्रकृति का हो जाता है जिससे कार्य के प्रति श्रमिक की रुचि कम होने लगती है।
रोजगार में कमी : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली लागू करने से श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि होती है और कई श्रमिकों का कार्य कुछ ही श्रमिक कर लेते हैं। इससे श्रमिकों में भविष्य में रोजगार की कमी का भय बना रहता है। पर आलोचना का यह आधार भी विवेकपूर्ण नहीं समझा जा सकता है। श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप तथा उत्पादन में अपव्ययों एवं क्षीणताओं में कमी के फलस्वरूप उत्पादन लागत कम हो जाती है जिससे वस्तुओं के मूल्य में कमी संभव है। इससे वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो सकती है तथा मांग में इस वृद्धि की पूर्ति के लिए संस्था को अतिरिक्त उत्पादन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य में कमी से बचत को प्रोत्साहन मिलता है तथा

ये बचतें विनियोग में परिणत होकर अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न कर सकती हैं।

श्रम संघों के विकास में बाधा : वैज्ञानिक प्रबंध में श्रमिकों से संबंधित प्रत्येक मामले को वैज्ञानिक ढंग से तय किया जाता है, जैसे कार्यमान का निर्धारण, कार्य करने की दशा, वेतन, अवकाश आदि। इसीलिए यह अनुभव किया जाता है कि इससे श्रम संघों की उपयोगिता कम हो जाती है और श्रम संघों के विकास में बाधा पड़ती है। श्रमिकों की यह आलोचना भी निराधार प्रतीत होती है, क्योंकि श्रम संघों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा और संवर्धन करना है और वैज्ञानिक प्रबंध को लागू करने का मुख्य उद्देश्य भी नियोक्ता एवं श्रमिकों को स्थाई रूप से समृद्ध बनाना है। अत: इन दोनों के उद्देश्यों में समानता के कारण वैज्ञानिक प्रबंध से श्रम संघों को और अधिक प्रबल होने का अवसर मिलता है क्योंकि प्रबंधक श्रमिकों की अधिकतम कार्यक्षमता एवं उत्पादकता को दृष्टि में रखकर उनकी मजदूरी तथा वेतन में कमी करने का प्रयास करते हैं इससे श्रमिकों में और मजबूती से संगठित होने की भावना जाग्रत होती है।

श्रमिकों का शोषण : श्रमिक वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली को लागू करने से यह अनुभव करते हैं कि इससे उनका शोषण किया जाता है और वे इस संबंध में यह दलील प्रस्तुत करते हैं कि उनकी उत्पादकता वृद्धि के अनुपात में उनकी मजदूरी एवं वेतन नहीं बढ़ाया जाता है, जबकि उत्पादकता में वृद्धि उनके प्रयासों का फल भी है। यह दलील भी अधिक न्यायोचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि संस्था की उत्पादकता में वृद्धि केवल श्रमिकों के परिश्रम एवं सहयोग से ही नहीं होती है बल्कि इसमें कुछ अन्य तत्व भी सम्मिलित हैं, जैसे कुशल उत्पादन योजना, उच्च कोटि की मशीनें, कार्यमानों का निर्धारण आदि। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की उत्पादकता में जो वृद्धि होती है उसका लाभ श्रमिक, नियोक्ता तथा कुछ हद तक मूल्य में कमी के रूप में अंतिम उपभोक्ताओं को भी प्रदान किया जाता है। इसीलिए उत्पादकता में वृद्धि के अनुपात में श्रमिकों के वेतन में भी वृद्धि संभव नहीं है।

नियोक्ताओं द्वारा आलोचना

वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली की आलोचना श्रमिक वर्ग ने ही नहीं बल्कि नियोक्ताओं ने भी की है।

अतिरिक्त वित्त का भार : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली को लागू करने के लिए नियोक्ताओं को काफी सारे कार्य वैज्ञानिक तरीके से करने पड़ते हैं जिन्हें वह परंपरागत प्रणाली के अंतर्गत कम समय एवं कम खर्च में तय कर लेते थे। अत: उनका मत यह है कि इस प्रणाली को लागू करने से अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता पड़ती है, जैसे कार्यमानों के निर्धारण हेतु अपनाई गई कार्य विधि, गति, समय, थकान आदि का अध्ययन, मशीनों, उपकरणों, कार्य करने की दशाओं एवं कच्चे माल का प्रमापीकरण, श्रमिकों का वैज्ञानिक ढंग से चुनाव, नियुक्ति एवं प्रशिक्षण, उत्पादन नियोजन आदि। हालांकि इन सब अतिरिक्त व्ययों से उत्पादकता में वृद्धि होती है फिर भी इन व्ययों का तत्काल संस्था के ऊपर वित्तीय भार पड़ता है।

पुनर्गठन की समस्या : वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली को लागू करने के लिए संस्था के संगठनात्मक एवं प्रशासनिक ढांचे में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं जिनमें काफी अधिक समय लग सकता है। इस समय के दौरान संस्था की संपूर्ण कार्यव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। अत: उचित होगा कि वैज्ञानिक प्रबंध प्रणाली को एक विशेष क्रम में धीरे धीरे लागू किया जाए।

लघुस्तरीय उद्योगों के लिए अनुपयुक्त : वैज्ञानिक प्रबंध प्रणाली को नियोक्ताओं द्वारा

जिन आधारों पर आलोचित किया जाता है, उससे यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रबंध की प्रणाली बड़ी बड़ी संस्थाओं में ही लागू की जा सकती है क्योंकि इनको लागू करने में एक ओर तो संस्था पर अतिरिक्त वित्त का भार पड़ता है और दूसरी ओर संस्था को कई नए विभागों की स्थापना करनी पड़ती है।

प्रबंध की इस प्रणाली की नियोक्ताओं तथा श्रमिकों के अतिरिक्त कुछ लेखकों द्वारा भी सैद्धांतिक आधार पर आलोचना की जाती है। जैसे पीटर ड्रकर, साइमन आदि का कहना है कि यह प्रणाली केवल उत्पादन कार्य से संबंधित समस्याओं को सुलझाने की विधि प्रदान करती है और प्रबंध के बाकी क्षेत्र की समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक विशिष्टीकरण से कार्य के प्रति श्रमिकों की रुचि एवं उनका आत्मबल कम होने लगता है क्योंकि इसके अंतर्गत योजना एवं निष्पादन, इन दोनों क्रियाओं को एक दूसरे से पृथक कर दिया जाता है।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद वैज्ञानिक प्रबंध प्रणाली को इसमें कुछ छोटे छोटे आवश्यक सुधार करके, उद्योगों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए तथा उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण बनाए रखने के लिए, निस्संकोच प्रयोग में लाया जा सकता है।

22

औद्योगिक संबंध

व्यावसायिक क्रिया सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक घटकों के संयोग से तैयार वातावरण में संचालित की जाती है। इस संपूर्ण वातावरण में सामाजिक पहलू काफी महत्वपूर्ण है। व्यवसायी को एक ओर ग्राहकों के साथ संबंध बनाए रखने होते हैं और दूसरी ओर उन श्रमिकों के साथ भी उनके संबंध होते हैं जो व्यावसायिक संस्था में संलग्न हैं। इन संबंधों में पक्षकार चाहे वह श्रमिक हो या ग्राहक, उसका स्वभाव एवं व्यवहार चंचल एवं परिवर्तनशील होता है और अलग अलग परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है। प्रत्येक स्थिति के प्रति उसकी प्रतिक्रिया अलग अलग होती है। मानव व्यवहार को भलीभांति समझकर अनुकूल संबंध स्थापित करना व्यवसायी के लिए वास्तव में एक जटिल कार्य है। जहां तक ग्राहकों के साथ व्यवसायी के संबंधों का प्रश्न है इसका वर्णन विस्तार में विपणन संबंधी अध्यायों में किया जा चुका है। इस अध्याय में हम विशेष रूप से उन संबंधों का वर्णन एवं विश्लेषण कर रहे हैं जो व्यवसायी को अपने श्रमिकों के साथ कायम रखने पड़ते हैं जिन्हें 'औद्योगिक संबंध' कहा जाता है।

औद्योगिक क्रांति के पूर्व औद्योगिक संबंध व्यवसायी के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझे जाते थे, क्योंकि उत्पादन सीमित मात्रा में किया जाता था जिसके लिए उत्पादन की सरल विधियां प्रयोग में लाई जाती थीं और व्यवसाय छोटे पैमाने पर स्थानीय बाजारों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए किया जाता था। अधिकांश दशाओं में व्यवसायी ही श्रमिक के रूप में कार्य करता था या काफी कम संख्या में श्रमिकों को कार्यरत करके व्यवसाय संचालित करता था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप व्यवसाय का क्षेत्र दिन प्रतिदिन विस्तृत होता गया। उसमें विभिन्न प्रकार की जटिलताएं उत्पन्न होने लगीं और कालांतर में बड़े पैमाने पर व्यवसाय करने के नए नए स्वरूप विकसित हुए तथा अधिकांश स्थितियों में व्यावसायिक क्रिया के संचालन के लिए संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप को अपनाया जाने लगा। इससे स्वामित्व एवं प्रबंध में पृथकता उत्पन्न हुई। 'औद्योगिक संबंध' व्यवसाय की सफलता के लिए महत्वपूर्ण होते गए, ताकि नियोक्ता एवं श्रमिकों के हितों में विरोध को समाप्त करके, संबंधों को मधुर एवं अनुकूल बना कर संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए श्रमिकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जा सके।

व्यापक दृष्टिकोण से औद्योगिक संबंधों में उद्योग में संलग्न भिन्न भिन्न पक्षों के संबंधों का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है जिसमें मुख्य रूप से संगठन के अंतर्गत नियोक्ता तथा श्रमिकों के बीच संबंध, श्रम संघों तथा श्रमिकों के बीच संबंध एवं श्रमिकों के पारस्परिक संबंध सम्मिलित हैं।

औद्योगिक संबंध शब्द की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि औद्योगिक संबंधों में श्रम

संबंध भी सम्मिलित हैं जो औद्योगिक संबंधों का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसका निर्धारण संगठन के उद्देश्यों एवं श्रम संघों के बीच परस्पर कार्य करने के अधिकार एवं शक्तियों के द्वारा किया जाता है।

'ब्रिटानिका इनसाइक्लोपीडिया' में दी गई परिभाषा के अनुसार, 'औद्योगिक संबंध की विषयवस्तु में कार्यस्थल पर नियोक्ता एवं श्रमिकों के बीच व्यक्तिगत संबंध तथा संयुक्त परामर्श, नियोक्ता और उनके संगठन तथा श्रम संघों के बीच सामूहिक संबंध और इन समस्त संबंधों को नियमित करने के लिए सरकार द्वारा अदा की गई भूमिका सम्मिलित है।

औद्योगिक संबंध की उपर्युक्त परिभाषा सबसे अधिक व्यापक समझी जाती है क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार औद्योगिक संबंध में सरकारी हस्तक्षेप भी सम्मिलित है। सरकार देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास को संतुलित एवं संवर्धित करने के लिए औद्योगिक संबंधों को नियमित करके उन्हें मौजूदा वातावरण के अनुकूल बनाती है। इस संबंध में सरकार महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। सरकार आवश्यकता पड़ने पर एक ओर तो उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें संरक्षण प्रदान करती है और दूसरी ओर उद्योगों को इस बात पर मजबूर करती है कि औद्योगिक शांति कायम रहे, श्रमिकों के साथ उचित व्यवहार किया जाए और औद्योगिक जनतंत्र को स्थापित करके उद्योगों में उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण बनाए रखा जाए। यह तभी संभव है जब औद्योगिक संघर्ष कम हों, औद्योगिक अनुशासन कायम रहे, श्रमिकों को उत्पादन के लिए क्रय किया गया साधन न समझकर उन्हें इसके लिए सहयोगी तत्व समझा जाए और उनके अधिकारों को मान्यता दी जाए।

संक्षेप में, औद्योगिक संबंध के अंतर्गत निम्न तत्वों का विश्लेषण एवं अध्ययन सम्मिलित किया गया है :

(i) औद्योगिक मनोविज्ञान,
(ii) औद्योगिक अनुशासन,
(iii) औद्योगिक संघर्ष,
(iv) श्रम संघ,
(v) प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी।

औद्योगिक मनोविज्ञान

कोई भी श्रमिक जब कार्य करता है तो उसके लिए वह केवल शारीरिक शक्तियों का ही इस्तेमाल नहीं करता, बल्कि मस्तिष्क के माध्यम से उसकी लालसाएं, भावनाएं, आवश्यकताएं एवं चित्त का आवेग आदि तत्व भी उसके कार्य पर प्रभाव डालते हैं। इसीलिए प्रबंधक श्रमिकों की भौतिक आवश्यकताओं के साथ साथ उनकी उन आवश्यकताओं का भी अध्ययन करते हैं जिनका संबंध मनोविज्ञान से होता है, ताकि श्रमिक की भौतिक आवश्यकताओं के साथ साथ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा करके उनके कार्य निष्पादन में शारीरिक एवं मानसिक संतुलन बनाए रखा जा सके। यदि श्रमिक उसको सौंपे गए कार्य का निष्पादन करने में प्रसन्नता अनुभव नहीं करता है, कार्य के प्रति उसकी रुचि नहीं है, या कार्य यांत्रिक प्रकृति का है जिसमें उसे अधिक थकान महसूस होती है तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से श्रमिक का उस कार्य के प्रति व्यवहार उदासीन होता जाता है। इसी प्रकार यदि श्रमिक अपने नियोक्ता के व्यवहार से संतुष्ट नहीं है तो वह संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अधिक लगन एवं परिश्रम से कार्य नहीं करना चाहेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक श्रमिक मनुष्य है। उसमें

मानव व्यवहार की स्वाभाविक प्रवृत्तियां होती हैं जो कार्य निष्पादन में उसके विचारों एवं व्यवहार को संचालित एवं नियंत्रित करती हैं। जब तक इन प्रवृत्तियों को संतुष्ट न किया जाए तब तक मधुर औद्योगिक संबंध स्थापित नहीं किए जा सकते हैं। किसी भी समय औद्योगिक अशांति फैल सकती है और स्थिति उत्पादन कार्य के प्रतिकूल हो सकती है, जैसे यदि कोई श्रमिक अच्छा कार्य करता है और उससे प्रेरित होकर नियोक्ता उसे कोई पुरस्कार देता है तो यह स्वाभाविक है कि नियोक्ता का व्यवहार श्रमिक को और अधिक परिश्रम तथा लगन से कार्य करने के लिए उत्साहित करेगा। इसके विपरीत यदि उस श्रमिक का पुरस्कार किसी दूसरे श्रमिक को दे दिया जाए तो इससे उस श्रमिक के आत्मबल तथा प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी और नियोक्ता के इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार से श्रमिक का कार्य करने का मनोबल कम हो जाएगा और उसकी कार्यकुशलता में क्षीणता उत्पन्न होने लगेगी।

संक्षेप में, एक श्रमिक से अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करवाने के लिए नियोक्ता को श्रमिक की भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसकी मनोवृत्ति से संबंधित उन तमाम तत्वों का भी ज्ञान होना चाहिए जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव उसकी कार्यक्षमता पर पड़ता है। इसके लिए नियोक्ता या प्रबंधक को औद्योगिक मनोविज्ञान के मूल सिद्धांतों से भलीभांति अवगत होना चाहिए।

औद्योगिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक ऐसी शाखा है जिसके अंतर्गत मनोविज्ञान के मूल सिद्धांतों का प्रयोग करके उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों एवं कर्मचारियों से संबंधित समस्याओं का समाधान किया जाता है और उनके व्यवहार को समझकर उनके साथ अनुकूल व्यवहार किया जाता है। औद्योगिक मनोविज्ञान का महत्व संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, क्योंकि कोई भी संस्था तब तक सफलता के शिखर पर नहीं पहुंच सकती जब तक उसमें संलग्न समस्त मानव पक्षकारों के व्यवहार को भलीभांति न समझा जाए और उनको संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित न किया जाए।

औद्योगिक मनोविज्ञान की परिकल्पनाएं

मनोविज्ञान के मूल सिद्धांतों को उद्योग में कार्यरत श्रमिकों की मनोवृत्ति को समझने के लिए इस्तेमाल करते समय दो मुख्य परिकल्पनाओं को ध्यान में रखा जाता है जो इस प्रकार हैं :

(i) प्रत्येक श्रमिक या कर्मचारी व्यवहार में एक दूसरे से भिन्न होता है।

(ii) मानवीय व्यवहार कुछ कारणों का परिणाम होता है और यह कोई ऐसी घटना नहीं है जो स्वयं घटित हो जाए।

हालांकि मूल रूप से प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के समान होता है पर उसकी व्यक्तिगत विशेषताएं एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं का उसकी कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है और इनके आधार पर ही श्रमिक या कर्मचारी का संस्था के अंतर्गत व्यवहार निर्धारित होता है। इसीलिए औद्योगिक मनोविज्ञान मूल रूप से इस परिकल्पना पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है जो भिन्न भिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित होता है। मानव व्यवहार में इस चंचलता एवं परिवर्तनशीलता के कारण उसके व्यवहार को सही प्रकार से नापा जाना संभव नहीं हो पाया है और न सही प्रकार से इस बात की भविष्यवाणी की जा सकती है कि अमुक व्यक्ति विशेष परिस्थिति में अमुक व्यवहार करेगा। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक बनावट में, बुद्धिमत्ता में, रुचि में तथा व्यक्तित्व के अन्य गुणों में दूसरे से भिन्न होता है। इसीलिए यदि

कुछ व्यक्तियों को एक ही प्रकार की मशीन पर या एक ही प्रकार के कार्य में लगाया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादकता में विषमता स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के गुणों की मात्रा में भी भिन्नता होती है, इसके बावजूद औद्योगिक मनोविज्ञान के अंतर्गत कुछ ऐसे सिद्धांतों का विकास किया गया है जिनके माध्यम से श्रमिकों के व्यक्तित्व में पाए जाने वाले गुणों एवं विशेषताओं के अंतर को नापा जा सकता है जिससे उसे वही कार्य करने को दिया जाता है जिस कार्य के प्रति उसकी रुचि अधिक है और उसकी क्षमता एवं योग्यता उपयुक्त है।

औद्योगिक मनोविज्ञान की दूसरी महत्वपूर्ण परिकल्पना यह है कि मानव व्यवहार कुछ कारणों का परिणाम होता है और व्यवहार कोई ऐसी घटना नहीं है जो स्वतः घटित हो जाए। इसीलिए कोई भी श्रमिक एक विशेष स्थिति में एक विशेष प्रकार के व्यवहार का प्रदर्शन क्यों करता है, इसके कुछ कारण अवश्य होते हैं जिनके प्रभाव में वह विशेष व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है।

सामान्यतया मानव व्यवहार का कारण उसकी विभिन्न आवश्यकताएं समझी जाती हैं, क्योंकि किसी विशेष वस्तु का अभाव उसके व्यवहार को असंतुष्ट एवं चिंतित बनाता है और उस कमी को पूरा करने के लिए वह जो कार्य करता है उससे उसके व्यवहार का निर्धारण होता है। ये तमाम आवश्यकताएं उसके मस्तिष्क को संतुष्टि प्रदान करती हैं और लालसाएं, भावनाएं, चित्त का आवेग आदि तत्वों से प्रभावित करती हैं तथा मस्तिष्क उसे अंतिम रूप से विशेष प्रकार के व्यवहार का प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित करता है। मनुष्य की इन तमाम आवश्यकताओं को मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं कहा जा सकता है।

मनोविज्ञान के ज्ञाता मेसलो ने मनुष्य के मनोविज्ञान से संबंधित आवश्यकताओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया है:

(i) शारीरिक आवश्यकताएं (सांस लेना, खाना, सोना आदि)।
(ii) सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएं (पीड़ा, दुर्घटना, अनिश्चितता आदि)।
(iii) सामाजिक आवश्यकताएं।
(iv) आत्मा से संबंधित आवश्यकताएं (आदर, प्रतिष्ठा आदि)।
(v) आत्मीयता से संबंधित आवश्यकताएं।

एक श्रमिक की उपरोक्त मनोविज्ञान संबंधी आवश्यकताओं में जो आवश्यकताएं पूरी नहीं होंगी उसी के कारण कार्य निष्पादन में श्रमिक के व्यवहार में उदासीनता एवं शिथिलता उत्पन्न होगी, जिन्हें उसके व्यवहार विशेष का कारण कहा जा सकता है।

औद्योगिक मनोविज्ञान के सिद्धांत

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि श्रमिक से अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करवाने के लिए नियोक्ता या प्रबंधक के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रमिक की मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों के संतुलन को प्रभावित करने वाले उन समस्त तत्वों का अध्ययन करके जिनसे अंतिम रूप में उनका कार्य व्यवहार प्रभावित तथा निर्धारित होता है। श्रमिक के इस व्यवहार को समझने के लिए तथा उसी के अनुकूल औद्योगिक वातावरण तैयार करने के लिए औद्योगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में कुछ मूल सिद्धांत विकसित किए गए हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

श्रमिकों का चुनाव एवं कार्य में नियुक्ति : श्रमिक को किस प्रकार का कार्य सौंपा जाए और उस कार्य को निष्पादित करने के लिए श्रमिक में किस सीमा तक योग्यता एवं ज्ञान विद्यमान है, इसका स्वाभाविक रूप से उसकी कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है। यदि

श्रमिक को सौंपा गया कार्य उसकी योग्यता से बाहर है तो वह उस कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित नहीं कर सकेगा और आवश्यक योग्यता एवं ज्ञान के अभाव में कार्य निष्पादन में कई गलतियां स्वाभाविक हैं। इसके विपरीत यदि उसकी योग्यता उसको सौंपे गए कार्य से अधिक है तो इससे उसके कार्य में नीरसता, उदासीनता तथा लापरवाही उत्पन्न हो सकती है जिसके फलस्वरूप उसकी कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होगी। अत: किसी कार्य पर श्रमिक की नियुक्ति करने से पहले यह आवश्यक है कि उस कार्य की प्रकृति एवं स्वभाव का पूर्णतया विश्लेषण किया जाए और कार्य को कई छोटे छोटे उपयुक्त भागों में बांट कर कार्य से संबंधित अधिकारों, जिम्मेदारियों एवं संगठनात्मक तत्व, आवश्यक शारीरिक एवं मानसिक क्षमता आदि का निर्धारण किया जाए।

कार्य विश्लेषण के पश्चात ज्ञात आवश्यक विशेषताओं को दृष्टि में रखकर उस कार्य को संतोषजनक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से निष्पादित करने के लिए उपयुक्त एवं अनुकूल योग्यता वाले श्रमिक का चुनाव करके उसे वह कार्य सौंपा जा सकता है। श्रमिक का चुनाव करने के लिए मनोविज्ञान संबंधी कई परीक्षण करके यह ज्ञात किया जा सकता है कि श्रमिक में उस कार्य को निष्पादित करने के लिए रुचि है या नहीं, उसके व्यक्तित्व में कार्य निष्पादन के लिए आवश्यक गुण विद्यमान हैं या नहीं और इसके अतिरिक्त उसमें कार्य से संबंधित अन्य योग्यताएं, क्षमता, ज्ञान, निपुणता आदि विद्यमान हैं या नहीं। मनोविज्ञान से संबंधित विधियों से श्रमिकों का चुनाव काफी हद तक वैज्ञानिक सिद्ध होता है जिससे न तो श्रमिक को बार बार कार्य में परिवर्तन. करना पड़ेगा और इसके साथ साथ उसे कार्य निष्पादन में संतोष मिलेगा, वह अधिक कार्यकुशलता से कार्य करेगा। इसके फलस्वरूप श्रमिकों में असंतोष की भावना नहीं पनपेगी और कारखाने में उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण बना रहेगा।

व्यावसायिक पथप्रदर्शन : व्यावसायिक पथप्रदर्शन का सिद्धांत श्रमिकों के चुनाव एवं नियुक्ति के सिद्धांत के विपरीत है। चुनाव एवं नियुक्ति के सिद्धांत के अनुसार कार्य का विश्लेषण पहले किया जाता है और इस प्रकार ज्ञात विशेषताओं के आधार पर उस कार्य को करने के लिए श्रमिक का चुनाव उसकी योग्यता, गुण, ज्ञान, चतुराई आदि को ध्यान में रखकर किया जाता है। जबकि व्यावसायिक पथप्रदर्शन के सिद्धांत के अनुसार प्रत्याशी के व्यक्तिव में विद्यमान विभिन्न गुणों, योग्यता, प्रतिभा आदि की जांच की जाती है और व्यक्तितव के इन तमाम गुणों के अनुसार उसे कार्य सौंप दिया जाता है। इस सिद्धांत से श्रमिक को यह सलाह दी जाती है कि वह अपने व्यक्तित्व के किन गुणों एवं प्रतिभाओं का आसानी से अधिकतम विकास कर सकता है। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य मनोविज्ञान से संबंधित विभिन्न परीक्षणों एवं परीक्षाओं के आधार पर प्रत्याशी के व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों, योग्यता तथा प्रतिभा का विश्लेषण करके, अंतिम रूप से यह निर्धारित करना है कि वह श्रमिक किस कार्य के लिए उपयुक्त है। यह सिद्धांत विशेष रूप से श्रमिक या कर्मचारी का एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानांतरण करने के लिए तथा उसकी पदोन्नति करने के लिए लाभप्रद ढंग से प्रयोग में लाया जा सकता है।

व्यावसायिक प्रशिक्षण का सिद्धांत : विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए श्रमिकों या कर्मचारियों के चुनाव के पश्चात उनको सौंपे गए कार्य को निष्पादित करने में उन्हें अधिक दक्ष एवं निपुण बनाने के लिए श्रमिकों को आवश्यक प्रशिक्षण भी दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य को निष्पादित करने के अलग अलग तरीके व विधियां विद्यमान हैं। इसीलिए यदि कर्मचारी अथवा श्रमिकों को इन सब विधियों से

अवगत न कराया जाए तो वह उस कार्य करने की सर्वोत्तम विधि को प्रयोग में नहीं ला पाएगा।

प्रशिक्षण एक ऐसा कार्य है जिसके द्वारा किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिए कर्मचारी या श्रमिक के ज्ञान एवं चतुराई में वृद्धि की जाती है। प्रशिक्षण से श्रमिक या कर्मचारी के कार्य से संबंधित तकनीकी ज्ञान में वृद्धि होगी और उसके व्यक्तित्व में समस्या का समाधान करने की योग्यता का विकास होगा। कार्य करने में उसे निरर्थक गतियां एवं क्रियाएं नहीं करनी पड़ेंगी जिससे उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियां क्षीण नहीं होंगी और अंतिम रूप से वह अपने कार्य को अधिकतम कुशलतापूर्वक निष्पादित कर सकेगा। इसीलिए यह कहा जाता है कि प्रशिक्षण श्रमिकों के व्यवहार को परिवर्तित करके उसे कार्य के अनुकूल बनाता है। व्यावसायिक प्रशिक्षण देने से एक ओर तो श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है और दूसरी ओर कार्य के बारे में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने से कार्य की सर्वोत्तम विधि अपनाई जा सकती है जिसके फलस्वरूप उसमें असं-तोष, रुचि का अभाव, उदासीनता, कार्य में अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति आदि में कमी लाई जाती है और उसका मनोबल ऊंचा बना रहता है।

संक्षेप में, व्यावसायिक प्रशिक्षण से श्रमिक एवं कर्मचारी की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। कारखाने में दुर्घटनाएं कम होती हैं, श्रमिक मशीनों का सही प्रयोग करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाए रखते हैं। उत्पादन कार्य में क्षीणता कम होती है और कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा बना रहता है।

थकान एवं नीरसता से बचाव : श्रमिक या कर्मचारी की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियां सीमित होती हैं, इसीलिए श्रमिक कार्य निष्पादित करने में जब शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का निरंतर प्रयोग करता है तो कुछ समय पश्चात वह स्वाभाविक रूप से थक जाता है और उसे अपना काम नीरस लगता है। जैसे एक श्रमिक लगातार कोई कार्य कर रहा है तो कुछ समय पश्चात उसकी कार्यशक्ति में क्षीणता उत्पन्न होने लगती है क्योंकि थकान तथा नीरसता ये दोनों तत्व उसकी कार्यशक्ति पर बुरा असर डालते हैं। अत: कारखाने में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न किया जाता है कि अपना कार्य करने में श्रमिक को कम से कम थकान एवं नीरसता अनुभव हो और उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का अधिकतम प्रयोग किया जा सके। सामान्य रूप से थकान से श्रमिक की कार्यक्षमता निम्न प्रकार प्रभावित होती है :

(i) निरंतर एक ही प्रकार का कार्य करने के फलस्वरूप श्रमिक की मांसपेशियां एवं मानसिक ग्रंथियां थक जाती हैं और कार्य करने की उसकी गति कम हो जाती है।

(ii) थकान के कारण श्रमिक की मस्तिष्क की एकाग्रता पूर्ववत नहीं बनी रहती है जिसका कार्य करने की गति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(iii) थकान के कारण श्रमिक का स्नायुतंत्र कुंठित हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है।

श्रमिक के कार्य में बाधा डालने वाला दूसरा तत्व है नीरसता। नीरसता एवं थकान में काफी अंतर है। नीरसता से श्रमिक को कार्य करने में उकताहट महसूस होती है जिसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे यदि श्रमिक निरंतर एक ही कार्य करता है, या किसी भाव-नात्मक असंतुलन से प्रभावित हो तो उसे कार्य नीरस लगता है। नीरसता के प्रमुख लक्षण हैं कार्य के प्रति रुचि का अभाव, निरुत्साह, असंतोष तथा बेचैनी आदि।

थकान एवं नीरसता को दूर करने के लिए कार्य के घंटों में कमी, मध्यांतर, विश्राम की व्यवस्था, कार्य करने की दशाओं में सुधार तथा कार्य में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

अभिप्रेरणा की व्यवस्था का सिद्धांत : औद्योगिक मनोविज्ञान के इस सिद्धांत के अनुसार इस बात का ज्ञान होता है कि उद्योग में श्रमिक का पूर्ण हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे किस प्रकार प्रेरित किया जाना चाहिए और किस प्रकार के प्रलोभन दिए जाने चाहिए ताकि वह अपने कार्य को अधिकतम कार्यकुशलता से निष्पादित कर सके। चूंकि श्रमिक भी एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिए उसे केवल वित्तीय प्रलोभन प्रदान करके ही अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता है। इस क्षेत्र में किए गए शोधकार्य के निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि श्रमिक के लिए वित्तीय प्रलोभन तभी प्रेरक का कार्य कर सकते हैं यदि उसकी अन्य दैहिकआवश्यकताएं, सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएं तथा आत्मीय तुष्टि की आवश्यकताएं पूरी की जाएं। क्योंकि इन्हीं आवश्यकताओं के प्रभाव से श्रमिक अपने कार्य के प्रति एक विशेष प्रकार का व्यवहार अपनाने पर मजबूर होता है। श्रमिक के जीवन का आर्थिक पहलू कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि श्रमिक अपनी मेहनत एवं परिश्रम के द्वारा ही अपनी आजीविका अर्जित करता है और प्राप्त मजदूरी तथा प्रेरणा के रूप में प्राप्त धन से अपने जीवन की तमाम आवश्यकताओं को पूरी करता है। भारतवर्ष में कई कारखानों में इसीलिए श्रमिकों को उत्पादकता बढ़ाने के लिएप्रेरित करने हेतु 'नकद इनामी योजनाएं' क्रियान्वित की जाती रही हैं। जैसे यदि कोई श्रमिक निर्धारित घंटों में एक सामान्य श्रमिक के लिए निर्धारित कार्य से अधिक कार्य करता है तो उसे प्रोत्साहित करने हेतु नकद अथवा किसी वस्तु के रूप में पुरस्कार दिया जाता है। इससे उसकी आर्थिक आवश्यकता की ही पूर्ति नहीं होती है बल्कि इससे वह अपने साथ कार्य करने वाले श्रमिकों के बीच एवं समाज में प्रतिष्ठित महसूस करता है।

औद्योगिक मनोविज्ञान के ज्ञाता मस्लो ने श्रमिक की उन आवश्यकताओं को, जिनकी संतुष्टि एवं असंतुष्टि का श्रमिक के कार्य करने के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है, निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है :

(i) आधारभूत दैहिक आवश्यकताएं (भोजन, वस्त्र, कार्य करने एवं रहने की व्यवस्था आदि),

(ii) सुरक्षा संबंधी आवश्यकताएं (शारीरिक, आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा),

(iii) सामाजिक अपनत्व की आवश्यकता (स्नेह, सहयोग मैत्री, संबंध आदि),

(iv) आत्मप्रतिष्ठा (समाज में ऊंचा स्थान, अधिकार, निपुणता एवं योग्यता की स्वीकृति आदि),

(v) आत्मीय तुष्टि की आवश्यकता (चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास संबंधी आवश्यकताएं)।

मस्लो के अनुसार मानव की ये आवश्यकताएं उसके व्यवहार पर एक निश्चित क्रम में प्रभाव डालती हैं, जैसे आधारभूत दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात ही मानव को भविष्य के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं शारीरिक सुरक्षा की आवश्यकता महसूस होती है।

इन तमाम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रमिक या कर्मचारी को वित्तीय गैर वित्तीय प्रलोभन दिए जाते हैं। गैर वित्तीय प्रलोभनों में, नियोक्ता अथवा प्रबंधक का कर्मचारियों एवं श्रमिकों के प्रति व्यवहार, कार्य करने की दशाएं, भविष्य में उन्नति एवं विकास का अवसर आदि काफी महत्वपूर्ण हैं।

संक्षेप में, इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि उद्योग में श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम श्रमिकों की उन तमाम आवश्यकताओं का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाए और इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाए कि संस्था में श्रमिकों के लिए किन किन वित्तीय एवं गैर वित्तीय प्रलोभनों की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि

औद्योगिक संबंध मधुर एवं अनुकूल बनाए जा सकें।

मनोबल बढ़ाने का सिद्धांत : मनोबल श्रमिक की उत्पादकता को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। कोई भी संगठन अथवा संस्था आकार में जितनी बड़ी होती जाती है उसमें श्रमिकों के मनोबल की समस्या भी उतनी ही जटिल होती जाती है। छोटे आकार की संस्था में कम संख्या में श्रमिक कार्य करते हैं और नियोक्ता या प्रबंधक व्यक्तिगत रूप से श्रमिकों के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करके, उनकी कार्य प्रवृत्ति, संतुष्टि एवं कठिनाई आदि को शीघ्र समझकर तदनुकूल व्यवस्था कर लेता है। इसके विपरीत यदि संस्था का आकार बड़ा है जिसमें अधिक श्रमिक कार्य करते हैं और संगठन में प्रबंध के कई स्तर हैं तो इस प्रकार की संस्था में श्रमिकों की कठिनाइयों एवं समस्याओं को शीघ्र हल नहीं किया जा सकता है। परिणामस्वरूप उनमें कार्य के प्रति असंतोष, उदासीनता आदि प्रवृत्तियां उत्पन्न होने लगती हैं।

मनोबल शब्द को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है। सामान्य रूप से मनोबल का अर्थ श्रमिक या कर्मचारी में विद्यमान उस उत्साह की मात्रा से है जिसका प्रयोग करके वह संगठन के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे सौंपे गए कार्यों का निष्पादन करता है।

एल्डरिच के शब्दों में 'मनोबल किसी संगठन अथवा समूह के कार्यों एवं उद्देश्यों में उत्सुकतापूर्वक सहयोग देने की तत्परता है।' मनोबल शब्द की यह परिभाषा काफी हद तक उपयुक्त समझी जा सकती है क्योंकि इस परिभाषा में मनोबल का अर्थ श्रमिक में सहयोग देने की तत्परता से लगाया गया है, जो काफी उचित एवं तर्कपूर्ण है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि मनोबल श्रमिक या कर्मचारी में विद्यमान वह उत्साह एवं तत्परता है जिससे वह किसी समूह अथवा संगठन के अंतर्गत उसे सौंपे गए कार्य को उस समूह अथवा संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाता है। मनोबल मानव व्यवहार का प्रदर्शन है जिसे श्रमिक या कर्मचारी द्वारा अपने कार्य के प्रति, भौतिक वातावरण के प्रति, अन्य श्रमिकों या कर्मचारियों के प्रति तथा संगठन के प्रति अनुभव की गई सामान्य प्रवृत्ति समझा जा सकता है।

संक्षेप में, किसी भी संगठन अथवा समूह के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन में कार्यरत श्रमिकों तथा कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा होना चाहिए। मनोबल जितना ही ऊंचा होगा श्रमिकों में उतनी ही अधिक सहयोग की भावना, उत्साह, मैत्री प्रवृत्ति, निरीक्षक के निर्देशों का पूर्णतया पालन करने की इच्छा, सौंपे गए कार्य को निष्पादित करने में तत्परता आदि तत्व विद्यमान होंगे। इसके विपरीत श्रमिकों में मनोबल का अभाव, कार्य में नीरसता, उदासीनता, असंतुष्टि, लापरवाही, अनुपस्थिति एवं मशीनों तथा यंत्रों में तोड़फोड़ करना आदि प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है जिसके परिणामस्वरूप कार्य करने का संपूर्ण वातावरण दूषित हो जाता है और श्रमिक वर्ग में असंतोष की भावना जाग्रत होती है जो कुछ स्थितियों में गंभीर रूप धारण कर सकती है।

मनोबल को निर्धारित करने वाले तत्व

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, मनोबल मानव व्यवहार की प्रवृत्ति है जिससे वह अपने कार्य के प्रति, वातावरण, संगठन तथा अन्य कर्मचारियों के प्रति विशेष व्यवहार का प्रदर्शन करता है। इसीलिए इसका निर्धारण करने में इसे प्रभावित करने वाले तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। मुख्य रूप से ये तत्व निम्न हैं :

1. संगठन अथवा समूह के श्रमिक और कर्मचारी का संगठन के उद्देश्यों के प्रति विश्वास : किसी भी संगठन में कर्मचारियों तथा श्रमिकों में मनोबल की आवश्यकता इसलिए होती

है कि मनोबल संस्था या संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक है। संगठन में निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्यों एवं क्रियाओं को अलग अलग वर्गों में विभाजित करके भिन्न भिन्न श्रमिकों व कर्मचारियों को सौंपा जाता है। यदि विभिन्न कार्यों में संलग्न कर्मचारियों एवं श्रमिकों में कार्य करने के लिए पर्याप्त उत्साह एवं तत्परता न हो तो संस्था के उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। कर्मचारियों तथा श्रमिकों में अपने कार्य के प्रति उत्साह एवं तत्परता तब बनी रहेगी यदि उन्हें संस्था के उद्देश्यों में पूर्ण विश्वास हो। विश्वास उत्पन्न करने के लिए उन्हें यह बताया जाना आवश्यक है कि वे जिन कार्यों को निष्पादित कर रहे हैं या उनके सामूहिक कार्यों के परिणामस्वरूप जिन वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन किया जा रहा है उनका देश के संपूर्ण आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में क्या महत्व है। दूसरे शब्दों में, वह समाज को अपने कार्य से किस प्रकार लाभान्वित कर रहे हैं। इस प्रकार श्रमिक तथा कर्मचारियों की संस्था के उद्देश्यों के प्रति जितनी ही अधिक निष्ठा होगी, स्वाभाविक रूप से उनका मनोबल उतना ही ऊंचा होगा।

2. समूह के नेता के प्रति विश्वास : प्रत्येक संगठन में कार्यरत समस्त कर्मचारियों तथा श्रमिकों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों को उचित दिशा प्रदान करने में अगुवाई करने वाले व्यक्ति या समूह के नेता की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। कर्मचारी एवं श्रमिक अपने नेता के प्रति जितने ही अधिक वफादार, ईमानदार तथा आज्ञापालक होंगे, उनका मनोबल भी उतना ही ऊंचा होगा जिससे अगुवाई करने वाले व्यक्ति अथवा नेता को संस्था के उद्देश्य प्राप्त करने में आसानी होगी। इसके लिए अगुवाई करनें वाले व्यक्ति को हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसके प्रति संस्था के समस्त श्रमिकों एवं कर्मचारियों का पूर्ण विश्वास बना रहे। कर्मचारियों का विश्वास जीतने के लिए अगुवाई करने वाले व्यक्ति को अपने कार्य का पूर्ण ज्ञान एवं दक्षता विद्यमान होनी चाहिए, अन्य कर्मचारियों के प्रति उसका व्यवहार मधुर, निष्पक्ष, प्रजातांत्रिक, सहानुभूतिपूर्ण एवं ईमानदारी का होना चाहिए।

3. कर्मचारी का संगठन के अन्य कर्मचारियों के प्रति विश्वास : कार्य करने के संपूर्ण वातावरण में प्रत्येक कर्मचारी किसी न किसी तरह अन्य कर्मचारियों से संबंधित रहता है और प्रत्येक कर्मचारी का कार्य अपने स्थान पर महत्वपूण होता है। कार्य करने का वातावरण अनुकूल तभी बन सकता है जब प्रत्येक कर्मचारी का अन्य कर्मचारियों में विश्वास हो, उनके पारस्परिक संबंध मत्रीपूर्ण, सद्भावना वाले एवं सहयोगी हों। इस प्रकार का अनुकूल वातावरण होने से प्रत्येक कर्मचारी का मनोबल ऊंचा बना रहेगा।

4. प्रभावपूर्ण संगठन : संगठन की व्यवस्था भी निश्चित रूप से कर्मचारियों एवं श्रमिकों के मनोबल को प्रभावित करती है। प्रत्येक संस्था में संगठन व्यवस्था के अंतर्गत ही प्रत्येक कर्मचारी को कार्य आवंटित किया जाता है और उसे निष्पादित करने के लिए आवश्यक अधिकार भी प्रदान किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रयास किया जाता है कि समस्त कर्मचारियों एवं श्रमिकों के कार्यों को सामूहिक रूप से समन्वित करके संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित किया जा सके। कोई संगठन प्रभावशाली है या नहीं, इसे निम्न तथ्यों के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है :

(अ) यदि संगठन के अंतर्गत कर्मचारियों एवं श्रमिकों को उनकी रुचि एवं योग्यता के अनुसार कार्य सौंपा गया है तो कर्मचारियों को कार्य निष्पादित करने में संतुष्टि प्राप्त होगी और उनका मनोबल ऊंचा रहेगा।

(ब) संगठन में कर्मचारियों एवं श्रमिकों का मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि अधिकार एवं उत्तरदायित्वों में पूर्णतया संतुलन बनाया रखा जाए

और उनमें निश्चित संबंध स्थापित किया जाएं, ताकि अधिकारों के दुरुपयोग एवं अपर्याप्तता को समाप्त किया जा सके।

(स) संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को जो उत्तरदायित्व सौंपा गया है उसमें स्पष्टता एवं निश्चितता उसका मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक कर्मचारी को इस बात से भलीभांति अवगत कराया जाना चाहिए कि संगठन के स्तर पर वह किस कर्मचारी के प्रति जिम्मेदार है और कौन कर्मचारी उसके प्रति जिम्मेदार है। कर्मचारियों को सौंपी गई जिम्मेदारी में किसी प्रकार की भ्रांति या संदेह से उनका मनोबल विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है।

(द) संगठन में कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए संचार व्यवस्था पर्याप्त एवं प्रभावपूर्ण होनी आवश्यक है। इस प्रकार की संचार व्यवस्था संगठन के कर्मचारियों एवं श्रमिकों का मनोबल ऊंचा बनाने में सहायक सिद्ध होती है। यदि संचार व्यवस्था प्रभावपूर्ण है तो संगठन के किसी स्तर पर कोई भी कर्मचारी यदि कोई कठिनाई महसूस करता है तो वह अपने वरिष्ठ अधिकारी से शीघ्र आवश्यक सलाह एवं निर्देश प्राप्त करके समस्या का समाधान कर सकता है। इससे उसका उत्साह बना रहता है। इसके अतिरिक्त संगठन में पर्याप्त एवं प्रभावपूर्ण संचार व्यवस्था के माध्यम से वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारी के कार्य की प्रगति के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है और उसे समय समय पर आवश्यक निर्देश एवं सलाह प्रदान करके उसे अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकता है। संगठन का मुख्य अधिकारी प्रत्येक स्तर के कर्मचारियों से सुझाव, शिकायत आदि प्राप्त करके मूल नीतियों में आवश्यक सुधार कर सकता है। इससे समस्त कर्मचारियों को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि संगठन की मूल नीतियों के निर्धारण में उनको भी भागीदार बनाया गया है और इस प्रकार निर्धारित नीतियों के कार्यान्वियन में संगठन का प्रत्येक कर्मचारी उत्साह एवं तत्परता से कार्य करता है।

5. कार्य करने का वातावरण : कर्मचारी जिस वातावरण में कार्य करता है उस वातावरण के विभिन्न तत्वों से उसका मनोबल भी प्रभावित होता है। कार्य करने का वातावरण जितना ही अनुकूल एवं उपयुक्त होगा कर्मचारियों एवं श्रमिकों का मनोबल भी उतना ही ऊंचा होगा। कार्य के वातावरण में केवल भौतिक दशाएं ही सम्मिलित नहीं हैं, इसमें कर्मचारियों के प्रति संस्था की नीतियां एवं प्रवृत्ति, सुरक्षा, पदोन्नति आदि भी सम्मिलित हैं। यदि कार्य करने का संपूर्ण वातावरण अनुकूल है तो इसमें कर्मचारी को अपना कार्य निष्पादित करने में संतुष्टि प्राप्त होगी और कार्य के प्रति उसका उत्साह एवं तत्परता बनी रहेगी। कार्य के वातावरण को अनुकूल बनाए रखने के लिए कर्मचारियों के प्रति संस्था की नीतियां उदार एवं निष्पक्ष होनी चाहिए। कर्मचारियों में योग्यता एवं ज्ञान के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए पदोन्नति की व्यवस्था होनी चाहिए और कार्य करने की अन्य आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध की जानी चाहिए। कार्य करने की सुविधाओं में कारखाने के भवन की बनावट, मशीन एवं अन्य आवश्यक साजोसामान की उपलब्धि, सुरक्षा के लिए आवश्यक उपाय, प्रकाश की व्यवस्था, कारखाने की स्थिति, रोशनदानों की व्यवस्था, मशीनों की मरम्मत की व्यवस्था, कर्मचारियों के लिए चिकित्सा, विश्रामगृह, कैंटीन आदि की व्यवस्था सम्मिलित है। यदि कार्य करने की भौतिक दशाएं अनुकूल नहीं होंगी तो इससे कर्मचारियों एवं श्रमिकों के मनोबल में गिरावट स्वाभाविक है, फलस्वरूप उनकी कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है।

कर्मचारियों का मनोबल बढ़ाने के उपाय

संस्था के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा होना आवश्यक है। जब कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा होगा तभी वे सौंपे गए कार्य को अधिकतम उत्साह एवं तत्परता से निष्पादित करेंगे। इसीलिए व्यवहार में प्रत्येक संस्था अपने कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए विभिन्न योजनाएं, नीतियों एवं उपायों को प्रयोग में लाती हैं। सामान्य रूप से कर्मचारियों का मनोबल बढ़ाने के लिए निम्न उपाय अपनाए जाते हैं।

स्वस्थ एवं उचित पारिश्रमिक प्रणाली : प्रत्येक श्रमिक एवं कर्मचारी अपने शारीरिक एवं मानसिक श्रम के प्रयोग के बदले जो वित्तीय भुगतान प्राप्त करता है उसे पारिश्रमिक अथवा वेतन कहा जाता है। संस्था में श्रमिकों एवं कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि करने के लिए पारिश्रमिक प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि प्रत्येक श्रमिक एवं कर्मचारी को उसके श्रम के बदले उचित एवं पर्याप्त वेतन दिया जा सके। वेतन निर्धारित करने में उनकी योग्यता, अनुभव, कार्यकुशलता आदि तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए और प्रतिवर्ष श्रमिक एवं कर्मचारी के अनुभव में वृद्धि के फलस्वरूप उसको दिए जाने वाले वेतन में भी वृद्धि की जानी चाहिए, ताकि उसकी क्षमता एव योग्यता का पूर्ण विकास संभव हो।

संक्षेप में, वेतन प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि इससे संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को अधिक कार्यक्षमता से कार्य करने की प्रेरणा मिले और योग्यता का पूर्ण विकास करने का प्रोत्साहन प्रदान किया जा सके। वेतन के अतिरिक्त पूरक या सहायक के रूप में समय समय पर अन्य वित्तीय प्रलोभन भी दिए जा सकते हैं।

सुरक्षा की व्यवस्था : संगठन की नीतियां इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें योग्य एवं कुशल कर्मचारी को लगातार आय एवं रोजगार का संरक्षण प्रदान किया जा सके। यह निश्चित रूप से उसका मनोबल बढ़ाने के लिए आवश्यक है। सुरक्षा से हमारा अभिप्राय रोजगार एवं आजीविका कमाने की सुरक्षा से है। इसके लिए कर्मचारियों को यह विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि यदि किसी विभाग में भविष्य में कार्य में कमी हो तो योग्य कर्मचारियों को अन्य विभाग में नियुक्त कर लिया जाएगा तथा यदि कारखाने में मशीन पर कार्य करते समय किसी दुर्घटना या दैवी प्रकोप के कारण श्रमिक या कर्मचारी को कोई शारीरिक क्षति होगी तो उसे मौद्रिक रूप से पूरा किया जाएगा और यदि वह हमेशा के लिए शारीरिक रूप से अंगहीन हो जाए या दुर्बल हो जाए तो उसे आजीविका के लिए अन्य साधन उपलब्ध कराए जाएंगे। पर्याप्त सुरक्षा की व्यवस्था के अभाव में कर्मचारी और श्रमिक अपना कार्य मानसिक भय, असंतोष एवं चिंता के कारण निश्चित होकर तथा मन लगाकर नहीं कर सकता है। अत: उसका मनोबल बढ़ाने के लिए सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक है।

उचित एवं निष्पक्ष पदोन्नति की नीति : कोई भी श्रमिक एक निश्चित पारिश्रमिक के बदले हमेशा एक ही प्रकार का कार्य करने को इच्छुक नहीं होता है। अत: श्रमिक एवं कर्मचारी का मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि कालांतर में उसकी योग्यता एवं अनुभव में वृद्धि के फलस्वरूप उसको ऊंचे पद पर नियुक्त किया जाए। इससे एक ओर तो ऊंचा पद प्राप्त करने के लिए वह अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरित होता है और दूसरी ओर उसे पद की प्राप्ति से संतोष, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होते हैं। अत: संगठन में कर्मचारियों एवं श्रमिकों की पदोन्नति की उचित व्यवस्था होनी चाहिए और इस संबंध में संगठन की नीतियां निष्पक्ष, उचित, न्यायपूर्ण तथा प्रेरणात्मक होनी

चाहिए ताकि कर्मचारियों एवं श्रमिकों का मनोबल ऊंचा बनाए रखते हुए उनकी योग्यता एवं ज्ञान का पूर्ण विकास किया जा सके।

शिकायत दूर करने की व्यवस्था : संगठन में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न कर्मचारी अलग अलग कार्य करते हैं। कार्य निष्पादन के दौरान कर्मचारियों एवं श्रमिकों को वातावरण के प्रति, कार्य के प्रति, संगठन की नीतियों के प्रति और अपने वरिष्ठ अधिकारी के व्यवहार के प्रति शिकायत होना स्वाभाविक है। यदि इन शिकायतों को शीघ्र दूर न किया जाए तो इससे कार्य निष्पादन में शिथिलता एवं उदासीनता उत्पन्न हो सकती है जिससे कर्मचारियों का मनोबल विपरीत रूप से प्रभावित होता है। अतः कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए संस्था मे कार्यरत कर्मचारियों की कठिनाइयों एवं शिकायतों को सुनने-समझने और शीघ्र दूर करने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। संगठन जितना ही व्यापक होता है यह समस्या उतनी ही जटिल होती है। अधिकांश दशाओं में कर्मचारियों की शिकायतें, सुनने, समझने, दूर करने तथा उनमे सुझाव प्राप्त करने के लिए संस्था में 'शिकायत समिति' का गठन किया जाता है, ताकि यह समिति निष्पक्ष होकर कर्मचारियों एवं श्रमिकों से शिकायतें एवं सुझाव प्राप्त करके उन्हें संगठन के उच्चस्तरीय अधिकारियों तक पहुंचा कर शिकायत दूर करने के आवश्यक प्रयास करवा सके।

कर्मचारियों को संस्था की प्रगति से अवगत कराना : कर्मचारी एवं श्रमिक संगठन का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने में वे महत्वपूर्ण रूप से सहयोग प्रदान करते हैं। इसीलिए संगठन के कर्मचारी एवं श्रमिक उच्चस्तरीय अधिकारियों से यह आशा करते हैं कि उनको समय समय पर संगठन में किए गए परिवर्तनों एवं संगठन की प्रगति आदि के बारे में अवगत कराया जाए। इससे संगठन में उनका मनोबल ऊंचा बना रहेगा। साथ ही साथ वे संगठन की समस्याओं, सीमाओं तथा अन्य बाधाओं को जानते हुए अपनी कार्यदशाओं के संबंध में असंतुष्ट नहीं रहेंगे। दूसरी ओर संस्था में हुई उन्नति एवं प्रगति उन्हें अधिक उत्साह, लगन एवं परिश्रम से कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकती है। उन्हें अपनी कमियों, दोषों का ज्ञान हो सकता है जिसे वे काफी हद तक स्वयं दूर कर सकते हैं।

कर्मचारी सलाह योजना : संगठन के उच्च स्तर पर कार्य करने वाले प्रबंधक तथा विभागीय प्रबंधक जिन्हें संगठन की समस्त क्रियाओं का ज्ञान होता है और जो अपने ज्ञान के क्षेत्र में काफी पटु होते हैं, अन्य कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा करने के लिए समय समय पर उनसे संपर्क स्थापित करके उन्हें मूल्यवान सलाह प्रदान करके उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि कर सकते हैं। इससे एक ओर तो संगठन में निम्न स्तर के कर्मचारियों की प्रतिष्ठा संतुष्ट होती है, दूसरी ओर वे उच्चस्तरीय कर्मचारियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आते हैं। इससे उनकी तमाम व्यावहारिक कठिनाइयां अनौपचारिक रूप से दूर करके उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि की जा सकती है।

सुझाव योजना : 'सुझाव योजना' के अंतर्गत कर्मचारियों एवं श्रमिकों से कार्य संबंधी सुझाव आमंत्रित किए जाते है। यह भी कर्मचारियों का मनोबल बढ़ाने में सहायक है, क्योंकि कर्मचारियों एवं श्रमिकों को कार्य से संबंधित व्यावहारिक ज्ञान होता है और उनके सुझाव प्रबंधकों की सलाह की भांति उपयोगी एवं मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार की सुझाव योजनाओं से कार्य करने की दशाओं एवं विधियों में आवश्यक सुधार करके उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। दूसरी ओर कर्मचारियों एवं श्रमिकों को कार्य के बारे में गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उनके द्वारा प्रस्तुत सुझावों को स्वीकार करके उनके उत्साह में वृद्धि की जा सकती है, क्योंकि

इससे कर्मचारी संस्था के साथ अपना गहरा लगाव महसूस करते हैं।

अधिकार सौंपना : संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को सौंपा गया कार्य ठीक से हो इसके लिए उन्हें आवश्यक अधिकार भी दिए जाने चाहिए। इससे एक ओर कार्य निष्पादन में सरलता एवं आसानी अनुभव होगी और दूसरी ओर प्रत्येक कर्मचारी एवं श्रमिक संगठन में अपना महत्व समझेगा तथा उसका मनोबल ऊंचा बना रहेगा।

संयुक्त राय मशविरा : संयुक्त राय मशविरे की योजना भी अधिकांश संस्थाओं में कर्मचारियों एवं श्रमिकों का मनोबल ऊंचा रखने में सहायक होती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत उच्चस्तरीय प्रबंधक (जो संस्था के लिए मूल नीतियों का निर्धारण करते हैं) निम्नस्तरीय कर्मचारियों एवं श्रमिकों के साथ (जो नीतियों को क्रियान्वित करते हैं) समय समय पर बैठकर आपस में संस्था की विभिन्न समस्याओं के बारे में संयुक्त रूप से राय मशविरा करके सामूहिक निर्णय लेते हैं। इससे एक ओर तो निर्णय क्रियान्वित करने में आसानी रहती है, दूसरी ओर श्रमिक तथा कर्मचारी संगठन में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति से भली भांति अवगत होते हैं। इससे उनके मनोबल में वृद्धि संभव है।

औद्योगिक अनुशासन

कोई भी संस्था चाहे वह व्यावसायिक हो, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक, अपने उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करके तब तक उन्नति एवं प्रगति नहीं कर सकती है जब तक उस संस्था के समस्त सक्रिय सदस्य उन्हें सौंपे गए कार्य को अनुशासित ढंग से पूरा न करें। अनुशासन मानव व्यवहार पर लादा गया अथवा स्वयं विद्यमान वह शक्ति अथवा तत्व है जिसके क्रियाशील होने से मानव एक निर्धारित क्रम में सुव्यवस्थित ढंग से कार्य करता है।

दूसरे शब्दों में, अनुशासन व्यवस्थित एवं संयमी व्यवहार है जो संस्था के सदस्यों को उस संस्था में कार्य करने के लिए बनाए गए नियमों एवं निर्धारित कार्यविधियों का संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए पालन करने हेतु प्रेरित करता है, ताकि संस्था का प्रत्येक सदस्य संस्था द्वारा बनाए गए नियमों एवं निर्धारित कार्यविधियों को अपनाते हुए अधिक कुशलता से अपना कार्य निष्पादित करे।

अनुशासन को सफलता की कुंजी कहा जाता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष संबंध संस्था अथवा व्यक्ति विशेष के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति से है। इन उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि संस्था के सदस्य अपने अपने कार्य को लगातार सुव्यवस्थित ढंग से तथा बिना किसी भ्रांति एवं संदेह के निष्पादित करें ताकि उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो।

जहां तक औद्योगिक अनुशासन का प्रश्न है, यदि औद्योगिक संस्था के कर्मचारी एवं श्रमिक संस्था द्वारा निर्धारित नियमानुसार संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करें तो इसे औद्योगिक अनुशासन कहा जाता है। आधुनिक युग में बड़ी बडी व्यावसायिक संस्थाओं में औद्योगिक अनुशासन काफी महत्वपूर्ण हो चुका है क्योंकि कर्मचारियों एवं श्रमिकों में अनुशासनहीनता, पारस्परिक कलह, कार्य में व्यवस्था का अभाव आदि से उत्पादन कार्य में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। इससे संस्था के कर्मचारियों एवं श्रमिकों की कार्यकुशलता विपरीत रूप से प्रभावित होती है और उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

कर्मचारियों एवं श्रमिकों में अनुशासन कैसे लाया जाए, यह एक गंभीर समस्या है। अनुशासन या तो उनमें स्वतः उत्पन्न हो अथवा उन पर अनुशासन लादा जाए। आधुनिक प्रगतिशील प्रबंधकों की विचारधारा के अनुसार औद्योगिक संस्था के कर्मचारियों एवं

श्रमिकों पर अनुशासन लादा नहीं जाना चाहिए, बल्कि उन्हें इस प्रकार का वातावरण प्रदान किया जाना चाहिए कि अनुशासन स्वयं उत्पन्न हो। इसके लिए श्रमिकों एवं कर्मचारियों को अनुशासन के बारे में आवश्यक शिक्षा प्रदान करके उनके व्यवहार को अनुकूल बनाना सबसे अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

इसके विपरीत यदि कर्मचारी एवं श्रमिक शिक्षा के माध्यम से अनुशासित न किए जा सकें तो उन्हें कुछ अपवादित परिस्थितियों में दंड आदि के विधान से अनुशासित बनाया जा सकता है। पर दंड के प्रभाव से अनुशासित करने की यह विधि वर्तमान औद्योगिक वातावरण के अनुकूल नहीं समझी जाती है, क्योंकि इस प्रकार अनुशासन की कोशिश करने से कर्मचारियों एवं श्रमिकों में अधिक अनुशासनहीनता आ सकती है और इस प्रकार लादा गया अनुशासन स्थाई रूप से कायम नहीं रखा जा सकता। इसीलिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों एवं कर्मचारियों को अनुशासित करने के लिए प्रबंधक उन्हें इस क्षेत्र में शिक्षित करने का भरसक प्रयत्न करें। इसके लिए कर्मचारियों को संस्था के नियमों से एवं कार्यविधियों से भलीभांति अवगत कराया जाना चाहिए। उन्हें समय समय पर प्रबंधक स्वयं व्यावहारिक उदाहरण देकर अनुशासित ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करें और यदि कोई कर्मचारी या श्रमिक अनुशासनहीनता का दोषी पाया जाता है तो उन दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक उपाय किए जाएं। इसके लिए दोषी कर्मचारी या श्रमिक को दंडित करना आवश्यक नहीं है। संक्षेप में, अनुशासन व्यवस्था सुधारात्मक होनी चाहिए न कि दंडात्मक। अनुशासन लादा नहीं जाना चाहिए बल्कि उसे स्वयं कर्मचारी एवं श्रमिक में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न किया जाना चाहिए। जो अनुशासन कर्मचारियों एवं श्रमिकों में स्वयं उत्पन्न होता है उसे सहज अनुशासन कहा जाता है। इस प्रकार की अनुशासन व्यवस्था में निम्न तत्व होने चाहिए :

(i) **व्यवहार संहिता की रचना :** संगठन में कर्मचारी एवं श्रमिकों के व्यवहार को आदर्श बनाने के लिए एक संहिता की रचना की जाती है जिसमें उन तमाम नियमों को सम्मिलित किया जाता है जिनका उनके द्वारा पालन वांछनीय है। इन नियमों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए ताकि इनके पालन में कोई भ्रम अथवा संदेह उत्पन्न न हो।

(ii) **कर्मचारियों का ऊंचा मनोबल :** संस्था में कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा होना चाहिए ताकि वे व्यवहार संहिता में दिए गए नियमों के पालन के लिए उत्साहपूर्वक तत्पर रहें और उनमें इन नियमों के प्रति पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा हो ताकि उनमें असंतोष की भावना न पैदा हो।

(iii) **उत्तरदायित्व का अनुभव :** प्रत्येक कर्मचारी एवं श्रमिक संस्था के अंतर्गत एक जिम्मेदार व्यक्ति की भांति कार्य करे और उन्हें जो काय सौंपा जाए उसे पूर्वनिर्धारित नियमों का पालन करते हुए जिम्मेदारी के साथ निष्पादित करें।

अनुशासनहीनता

यदि किसी औद्योगिक संस्था में कार्यरत कर्मचारी एवं श्रमिक निर्धारित नियमों का उल्लंघन करें और मनमाने एवं अव्यवस्थित ढंग से कार्य करें तो इसे अनुशासनहीनता कहा जाएगा। अनुशासनहीनता के मुख्य कारण इस प्रकार हैं : (अ) व्यवहार संहिता का अभाव, (ब) व्यवहार संहिता के नियमों में अस्पष्टता, (स) प्रबंधकों के व्यवहार में दोष, (द) कर्मचारियों तथा श्रमिकों की शिकायत एवं मांगों की उपेक्षा, (य) श्रमिकों में परस्पर फूट, (र) पर्याप्त एवं प्रभावशील नियंत्रण का अभाव, (ल) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक वातावरण, (व) मजदूर नेताओं में पर्याप्त कुशलता एवं ज्ञान

का अभाव, (श) उद्योगपति की अकुशल एवं शोषणकारी श्रम नीतियां।

औद्योगिक अनुशासन स्थापित करने के सिद्धांत

अनुशासन व्यवस्था के मुख्य दो पहलू हैं। प्रथम व्यवहार संहिता की रचना और द्वितीय व्यवहार संहिता का क्रियान्यवन। अनुशासन व्यवस्था के ये दोनों पहलू एक दूसरे के पूरक हैं। जब तक व्यवहार संहिता रचित नहीं की जाती है तब तक उसे लागू करके अनुशासन उत्पन्न करने का प्रश्न पैदा नहीं होता और दूसरी ओर व्यवहार संहिता की रचना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक इसका पालन अथवा क्रियान्वयन नहीं किया जाएगा इसका कोई महत्व नहीं होगा। इसीलिए अनुशासन व्यवस्था में व्यवहार संहिता की रचना के अतिरिक्त उसे सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए अन्य आवश्यक उपाय एवं व्यवस्थाएं भी दी रहती हैं। अनुशासन व्यवस्था की संरचना वैसे तो अधिकांश दशाओं में उच्चस्तरीय प्रबंधकों द्वारा की जाती है, पर व्यवहार में श्रमिकों के निरीक्षक तथा अन्य संबंधित पक्षकारों के सुझाव भी सम्मिलित किए जाते हैं, क्योंकि निरीक्षक ही श्रमिकों के प्रत्यक्ष संपर्क में रहते हैं और उन्हें श्रमिकों के व्यवहार की सामान्य प्रवृत्तियां, कार्य के प्रति तथा संपूर्ण वातावरण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का ज्ञान रहता है। औद्योगिक अनुशासन की यह व्यवस्था आमतौर पर निम्न सिद्धांतों पर आधारित रहती है : प्रथम भाग में वे सिद्धांत सम्मिलित हैं जिनका संबंध व्यवहार संहिता की रचना से है, और द्वितीय भाग में वे सिद्धांत हैं जो कि व्यवहार संहिता को प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करने से संबंधित हैं।

व्यवहार संहिता की रचना : (अ) व्यवहार संहिता में वे समस्त नियम तथा उपनियम सम्मिलित किए जाने चाहिए जिनका पालन करके कर्मचारी एवं श्रमिक कार्य करने में आदर्श व्यवहार का प्रदर्शन कर सकें।

(ब) व्यवहार संहिता इस प्रकार बनाई जानी चाहिए कि इससे प्रत्येक कर्मचारी के लिए उचित प्रकार का व्यवहार किया जा सके। व्यवहार में कोई भेदभाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए, अन्यथा उनमें अनुशासनहीनता पनप सकती है।

(स) व्यवहार संहिता में सम्मिलित नियम बिल्कुल स्पष्ट होने चाहिए और संबंधित कर्मचारियों एवं श्रमिकों को इस बात की भी सूचना दी जानी चाहिए कि यदि किसी नियम का उल्लंघन होता है तो उसके लिए दंड की क्या व्यवस्था है।

(द) अनुशासन व्यवस्था यथासंभव सुधारात्मक होनी चाहिए। दंडात्मक व्यवस्था कम से कम होनी चाहिए।

(य) व्यवहार संहिता उचित एवं आसान होनी चाहिए। उसमें वे समस्त नियम सम्मिलित होने चाहिए जिनका पालन श्रमिक के व्यवहार को निश्चित रूप से प्रभावित करता हो और इन नियमों का कालांतर में मूल्यांकन करके आवश्यक परिवर्तन किए जाने चाहिए।

(र) एक स्वस्थ अनुशासन व्यवस्था के अंतर्गत न्याय पद्धति का होना आवश्यक है जो संस्था में 'अपील बोर्ड' के रूप में हो सकती है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर श्रमिक अनुशासन के लिए जिम्मेदार निरीक्षक एवं फोरमैन के विरुद्ध इस अपील बोर्ड में शिकायत कर सकें।

क्रियान्वयन : (अ) अनुशासन से संबंधित नियमों को लागू करने की जिम्मेदारी आमतौर पर निकटतम निरीक्षक या फोरमैन के कंधों पर होती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर रहती है कि वे अपने नियंत्रण में कार्यरत कर्मचारियों एवं श्रमिकों के व्यवहार को किस सीमा तक समझते हैं और क्या वे यह भी

जानते हैं कि विशेष परिस्थिति में श्रमिकों की क्या प्रतिक्रिया होती है।

(ब) संस्था के कर्मचारी एवं श्रमिक अपने निरीक्षकों एवं प्रबंधकों का अनुसरण करते हैं। इसीलिए कर्मचारियों तथा श्रमिकों को अनुशासित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनके निकटतम निरीक्षक एवं प्रबंधक स्वयं अनुशासित हों, अन्यथा कर्मचारी यह अनुभव कर सकते हैं कि अनुशासन केवल उन्हीं पर थोपा जा रहा है। उदाहरण के लिए यदि किसी विभाग का प्रबंधक अधिकांश स्थितियों में अपने कार्यालय में देर से उपस्थित होता है तो इसका उसके अधीनस्थ कर्मचारियों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। संक्षेप में, अधीनस्थ कर्मचारियों में अनुशासन उत्पन्न करने के लिए व्यवहार संहिता क्रियान्वित करने वाले कर्मचारी को स्वयं पूर्णतया अनुशासित होना चाहिए।

(स) व्यवहार संहिता के नियमों का पालन कुछ सीमा तक इस बात पर भी निर्भर करता है कि व्यवहार संहिता को क्रियान्वित करने वाले प्रबंधक के कर्मचारी एवं श्रमिकों के समूह से संबंध कितने मधुर एवं स्वस्थ है। प्रबंधक को अपने कार्य का कितना ज्ञान है तथा वह अपने कार्य में कितना दक्ष एवं निपुण है।

भारतीय उद्योगों में अनुशासन संहिता

भारतीय उद्योगों में अनुशासन संहिता जून 1958 से लागू की गई है। इस संहिता को लागू करने का विचार सर्वप्रथम 1957 में 'भारतीय श्रम अधिवेशन' में सामने आया। इस विचार की गहराई से छानबीन प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी तथा अनुशासन कायम रखने के लिए की गई और अंतिम रूप से 'भारतीय श्रम अधिवेशन' के सोलहवें कार्य-काल में इसे स्वीकार कर लिया गया।

क्षेत्र : यह अनुशासन संहिता सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के समस्त उद्योगों पर लागू होती है। इस संहिता का मुख्य उद्देश्य, श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच मधुर एवं समन्वित संबंध स्थापित करना है। इसमें सम्मिलित विभिन्न व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट होता है कि उद्योग में अनुशासन तभी कायम किया जा सकता है यदि श्रमिक एवं नियोक्ता एक दूसरे को भलीभांति समझें तथा कार्य में उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए परस्पर मिलकर राय मशविरा करें और उत्पन्न कलह एवं विवाद को दोनों ओर के प्रतिनिधि आपस में एकत्र होकर सुलझाएं। इस संहिता की कुछ मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

(i) इस संहिता द्वारा पूर्वसूचना दिए बिना हड़ताल या तालाबंदी करने, कर्मचारियों को धमकाने, अन्य प्रकार से सताने तथा कर्मचारियों द्वारा धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति पर प्रतिबंध लगा दिया गया है।

(ii) कोई भी पक्ष (नियोक्ता अथवा कर्मचारी) किसी भी मामले में एकपक्षीय कार्यवाही नहीं कर सकता है।

(iii) प्रत्येक औद्योगिक विवाद सरकार द्वारा निर्धारित व्यवस्था के माध्यम से सुलझाया जाना चाहिए।

(iv) विवादों की पूर्ण जांच पड़ताल के पश्चात इन्हें सुलझाने के लिए प्रत्येक औद्योगिक संस्था में शिकायत दूर करने की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(v) नियोक्ता श्रमिकों के साथ समझौते के बिना उनका कार्यभार नहीं बढ़ा सकते हैं।

(vi) नियोक्ता अपनी संस्थाओं में श्रमसंघों के विकास के लिए सभी आवश्यक सुविधाएं प्रदान करेंगे।

(vii) जिन कर्मचारियों या अधिकारियों के गलत व्यवहार से श्रमिक उत्तेजित होते हैं उनके विरुद्ध शीघ्र कार्यवाही की जाएगी।

(viii) कर्मचारी और श्रमिक अपने कार्य घंटों के दौरान श्रम संघ की किसी ऐसी कार्यवाही, जैसे प्रदर्शन (जो शांतिपूर्ण न हो), में हिस्सा नहीं ले सकते हैं।

(ix) कर्मचारी एवं श्रमिक श्रम आयोगों द्वारा दिए गए अभिनिर्णयों तथा अन्य समझौतों का ईमानदारी से शीघ्र पालन करेंगे और श्रम संघ के उन पदाधिकारियों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही की जाएगी जो इनका उल्लंघन करेंगे।

(x) श्रम संघ यह प्रयत्न करेंगे कि उनका कोई भी सदस्य उसको सौंपे गए कार्य की उपेक्षा न करे, कार्य निष्पादन में लापरवाही न बरते, कारखाने की संपत्ति को क्षति न पहुंचाए, सामान्य कार्य में विघ्न न डाले और अधिकारियों की अवज्ञा न करे।

(xi) ऐसा कोई भी कार्य न किया जाए जिससे मधुर औद्योगिक संबंध विपरीत रूप से प्रभावित हों।

इस अनुशासन संहिता को लागू करने के प्रारंभिक वर्षों में इसकी विभिन्न व्यवस्थाओं का कठोरता से एवं उत्साह से पालन किया गया, पर समय के साथ बदलती हुई परिस्थितियों में इनके क्रियान्वयन में शिथिलता उत्पन्न होती गई और कारखानों में हड़ताल, तालाबंदी आदि की परंपराएं नहीं टूट पाईं। क्योंकि श्रमिकों तथा नियोक्ताओं ने अनुशासन संहिता स्वीकार तो कर ली पर इसे लागू करने तथा इसका पालन करने के हार्दिक इच्छुक नहीं थे। देश में घोषित आपातकालीन स्थिति में हड़ताल एवं तालाबंदी की कुल संख्या में कमी अवश्य रही है क्योंकि श्रमिकों के तमाम जनतांत्रिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया, जिसे कतई दीर्घकालीन स्वस्थ समाधान नहीं कहा जा सकता है। इससे एक ओर श्रमिकों के जीवन का आर्थिक पहलू और अधिक जटिल होता गया और दूसरी ओर सरकार समर्थक उद्योगपतियों में शोषण की प्रवृत्ति को और अधिक बल मिला। ऐसी गंभीर स्थिति में देश में वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए मधुर एवं अनुकूल औद्योगिक संबंध स्थापित किए जाने आवश्यक हैं, जिसके लिए पूंजीपतियों को अपने शोषण की प्रवृत्ति निश्चित रूप से बदलनी होगी। दूसरी ओर श्रमिकों को प्रजातंत्र में जो अधिकार प्राप्त हैं उन्हें उनका प्रयोग अनुशासित होकर करना होगा।

औद्योगिक संघर्ष

उत्पादन कार्य के सुचारु रूप से संचालन के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि कारखाने में शांतिपूर्ण एवं अनुकूल वातावरण बनाए रखा जाए। शांतिपूर्ण एवं अनुकूल वातावरण से हमारा अभिप्राय यह है कि संस्था के नियोक्ता, प्रबंधक, कर्मचारी एवं श्रमिक एक दूसरे के प्रति विश्वास के साथ परस्पर सहयोग से संतोषजनक ढंग से कार्य करें, क्योंकि इस प्रकार के वातावरण के अभाव में संगठन का कोई भी अधिकारी, श्रमिक एवं कर्मचारी अधिकतम कुशलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता है। इससे उसकी उत्पादन क्षमता में क्षीणता उत्पन्न होने लगती है जिसका अंतिम प्रभाव कारखाने के कुल उत्पादन तथा कुल उत्पादन लागत पर पड़ता है।

औद्योगिक संघर्ष की समस्या आज प्रत्येक उद्योग में दिन प्रतिदिन महत्वपूर्ण रूप धारण करती जा रही है। इसी संघर्ष की समस्या के परिणामस्वरूप नियोक्ता एवं श्रमिकों के बीच समन्वित एवं मधुर संबंध स्थापित करना एक जटिल कार्य बन चुका है। इन्हीं औद्योगिक संघर्षों के परिणामस्वरूप कर्मचारियों एवं श्रमिकों में परस्पर अविश्वास, असहयोग की भावना एवं असंतोष बढ़ता जा रहा है जो केवल संस्था विशेष के लिए ही हानिकारक नहीं है बल्कि इसके दुष्परिणामों से संपूर्ण समाज प्रभावित होता है। इसीलिए औद्योगिक संघर्ष श्रमिकों एवं नियोक्ताओं के बीच असहयोग, अविश्वास एवं असंतोष का कारण एवं परिणाम दोनों है।

श्रमसंघों के विकास के साथ औद्योगिक संघर्षों की समस्या और गंभीर हो गई है। आज प्रत्येक उत्पादन केंद्र अथवा औद्योगिक संस्था में कार्यरत समस्त कर्मचारी एवं श्रमिक संगठित होकर श्रमसंघ की स्थापना करके उसके सदस्य बन जाते हैं तथा अपनी मांगों, समस्याओं एवं नियोक्ताओं के शोषण के विरुद्ध श्रमसंघों को प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करते है। इन अधिकारों को अधिक प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित करने के लिए कारखानों मे हड़ताल, धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति, अधिकारियों के घेराव एवं प्रदर्शन आदि तरीके अपनाए जाते हैं।

दूसरी तरफ अधिकारी और नियोक्तावर्ग कर्मचारियों एवं श्रमिकों को मनमाने ढंग से निर्धारित न्यूनतम वेतन में एवं मनमानी कार्य दशाओं में कार्य करने के लिए धमकियां देकर बाध्य करता है। इसका स्वरूप कर्मचारी की अवनति, छटनी, निष्कासन एवं तालाबंदी आदि हो सकता है। इस प्रकार औद्योगिक संघर्ष की भावना से दोनों पक्ष एक दूसरे के विपरीत दिशा में बढ़ते चले जाते हैं परिणामस्वरूप उत्पादन बिल्कुल बंद हो जाता है।

संक्षेप में, औद्योगिक संघर्ष उत्पादन के महत्वपूर्ण साधन पूंजी एवं श्रम के बीच असंतुलन के कारण उत्पन्न होता है। कारखानों के मालिक पूंजीपति व्यवसाय के संकुचित उद्देश्य (अधिकतम लाभ कमाना) प्राप्त करना चाहते है और श्रमिक, जो उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है, यह अनुभव करते है कि उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का शोषण किया जा रहा है और उन शक्तियों के बदले पूंजीपति उन्हें उचित पारितोषिक नहीं दे रहा है।

कारखाने में इस स्थिति को रोकने के लिए श्रमिकों एवं नियोक्ताओं के बीच मधुर तथा एकतापूर्ण और सहयोगी संबंध स्थापित किए जाने आवश्यक है। इसके लिए कोई प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक कि औद्योगिक संघर्ष की स्थिति का पूर्ण ज्ञान न हो, विशेष रूप से पूजीपति अपनी शोषण की प्रवृत्ति न त्यागें और श्रमिकों तथा नियोक्ताओं के बीच उत्पन्न विवादों के सभी कारणों का विश्लेषण करके उनको दूर करने के उपाय न किए जाएं। इससे इन दोनों साधनों के बीच अंतर्द्वंद्व के स्थान पर परस्पर सहयोग की भावना जाग्रत की जा सकती है और नियोक्ता संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में श्रमिकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकता है।

औद्योगिक संघष के कारण

औद्योगिक संघर्ष की स्थिति मूल रूप से पूंजी एवं श्रम के बीच असंतुलन से उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त कई अन्य आर्थिक तथा गैर आर्थिक एवं राजनीतिक कारण भी औद्योगिक संघर्ष को जन्म देते हैं, इन कारणों को इस प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है: (1) आर्थिक कारण, (2) अकुशल श्रम नीतियां, (3) राजनीतिक कारण, (4) अन्य कारण।

आर्थिक कारण

मजदूरी में वृद्धि : मजदूरी में वृद्धि की मांग औद्योगिक संघर्ष का प्रमुख आर्थिक कारण समझा जाता है। यह मांग विशेष रूप से तब उत्पन्न होती है जब श्रमिक यह अनुभव करता है कि उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के बदले दिया जाने वाला पारिश्रमिक अपर्याप्त है, अथवा उसी प्रकार के अन्य कारखाने में कार्यरत श्रमिकों को तुलनात्मक रूप से अधिक मजदूरी दी जाती है। इसके अतिरिक्त पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण भी कम मजदूरी देकर किया जाता है। इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर श्रमिक

संगठित होकर नियोक्ता तथा अधिकारी वर्ग से मांग करते हैं कि न्यूनतम मजदूरी की राशि में वृद्धि की जाए और अलग अलग प्रकार का कार्य करने के लिए मजदूरी की जो दरें निर्धारित की जाएं वे न्यायोचित तथा सापेक्ष हों तथा श्रमिकों को मजदूरी कार्य में संलग्न उत्तरदायित्व तथा उत्पादकता को ध्यान में रख कर दी जाए।

महंगाई भत्ते में वृद्धि की मांग : कारखाने में श्रमिकों को मजदूरी के साथ महंगाई भत्ता भी दिया जाता है। इस भत्ते का प्रमुख कारण विभिन्न आर्थिक चक्रों में श्रमिकों को आर्थिक कठिनाई से सुरक्षित रखना है। विशेष रूप से मुद्रा स्फीति के युग में, जबकि वस्तुओं के मूल्यों में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है, रहन सहन के स्तर पूर्ववत बनाए रखन के लिए अतिरिक्त क्रयशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इस क्रयशक्ति को प्राप्त करने के लिए श्रमिक वर्ग अधिक महंगाई भत्ते की मांग करता है और यह नियोक्ता तथा श्रमिकों के बीच विवाद का कारण बन जाता है।

बोनस अथवा लाभ में हिस्से की मांग : श्रमिक संस्था में साझेदार की हैसियत से सहयोग प्रदान करता है। जब तक श्रमिक नियोक्ता के साथ सहयोग, सद्भावना अधिक लगन तथा परिश्रम से कार्य नहीं करेगा, संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति कठिन है। संस्था की सफलता, प्रगति एवं उन्नति में श्रमिक वर्ग सहयोगी तत्व है, इसीलिए संस्था की प्रगति एवं समृद्धि में उसे भी हिस्सा दिया जाना चाहिए। इसके लिए श्रमिक बोनस की मांग करते हैं जो पुन: औद्योगिक संघर्ष का कारण बन जाता है।

कार्य के घंटों में कमी : औद्योगिक विकास के प्रारंभिक चरणों में नियोक्ता सदैव यह प्रयास करते रहे थे कि न्यूनतम मजदूरी देकर उनसे अधिक कार्य करवाया जाए। यहां तक कि नियत मजदूरी में एक दिन में श्रमिकों से 10-12 घंटे कार्य लिया जाता था। कालांतर में नियोक्ता के इस व्यवहार के विरुद्ध संगठित होकर श्रमिक यह मांग करने लगे कि उनके कार्य करने के घंटों में कमी की जाए, अतिरिक्त कार्य के लिए उन्हें अतिरिक्त मजदूरी दी जाए। इसके फलस्वरूप कई उद्योगों में औद्योगिक अशांति बढ़ी क्योंकि पूंजीपति आसानी से अपनी शोषण अनुगामी नीतियों में परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। 'कारखाना अधिनियम' रचित हो जाने के पश्चात इस अधिनियम की विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा विभिन्न श्रमिकों (स्त्री, पुरुष, नाबालिग) के लिए कार्य करने के घंटे नियत किए जा चुके हैं जिससे संबंधित विवादों की संख्या कम हुई है।

छुट्टी एवं अवकाश : श्रमिक सामाजिक प्राणी है। उसे कारखाने में कार्य के अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक अवसरों में भी सम्मिलित होना पड़ता है, इसीलिए वे चाहते हैं कि उन्हें आवश्यकता पड़ने पर अवकाश प्राप्त हो सके, इसके संबंध में 'कारखाना अधिनियम' के अंतर्गत उचित व्यवस्थाएं की गई हैं जिसमें वेतन सहित तथा अवैतनिक दोनों प्रकार की तमाम छुट्टियों से संबंधित नियम सम्मिलित हैं। इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भी श्रमिक को किसी आकस्मिक आवश्यक कार्य के लिए अवकाश की आवश्यकता होती है और वे संगठित होकर यह प्रयास करते हैं कि इसके लिए भी उन्हें अवकाश प्रदान किया जाए। यह कुछ स्थितियों में औद्योगिक संघर्ष का कारण बन जाता है।

कार्य करने की दशाओं में सुधार : औद्योगिक क्रांति के पूर्व, विशेष रूप से श्रम संघों के विकास के पहले नियोक्ता यह अनुभव करते थे कि श्रम तो उनके द्वारा क्रय किया गया एक उत्पादन साधन है। उसे वे जिस तरह चाहें प्रयोग कर सकते हैं। इन स्थितियों में नियोक्ता मनमानी कार्य करने की दशाएं प्रदान करते थे। कालांतर में श्रमिक वर्ग में जागृति के फलस्वरूप वे संगठित होकर नियोक्ताओं को अपना यह रुख बदलने पर मजबूर करने लगे, ताकि वे नियोक्ता के शोषण से बच सकें। श्रम संघों के विकास के फलस्वरूप श्रमिकों की कार्य करने की दशाएं सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

कार्य करने की दशाओं में भौतिक दशाएं तथा नियोक्ता का श्रमिकों के साथ व्यवहार भी सम्मिलित है। कार्य करने की दशाओं मे आवश्यक सुधार की मांग को लेकर आज भी औद्योगिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। कई उद्योगों में इन दशाओं में आवश्यक सुधार कर दिए गए हैं क्योंकि अनुकूल कार्य करने की दशाएं श्रमिकों की कुशलता एव क्षमता में वृद्धि में सहायक हैं।

अन्य आर्थिक सुविधाओं की मांग : उपरोक्त आर्थिक कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य वित्तीय सुविधाएं प्राप्त करने के उद्देश्य से भी औद्योगिक विवाद की समस्या खड़ी होती है, जैसे भविष्य निधि की व्यवस्था, शारीरिक क्षति के लिए मुआवजा, कारखाने में सस्ती दरों पर चाय एवं खाने की व्यवस्था, रहने के लिए आवास गृह की सुविधाएं, चिकित्सा तथा श्रमिकों के बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था आदि। इन तमाम वित्तीय सुविधाओं के लिए उचित व्यवस्था की मांग को लेकर श्रमिक समय समय पर नियोक्ताओं के साथ औद्योगिक संघर्ष की स्थिति में आते है।

अकुशल श्रम नीतियां

औद्योगिक संस्था की श्रम नीतियां, जिनसे नियोक्ता एवं अधिकारियों का श्रमिकों एवं कर्मचारियों के साथ व्यवहार प्रदर्शित होता है, भी आज के औद्योगिक संघर्षों का प्रमुख कारण समझी जाती हैं। श्रम नीतियों में निम्न तत्व सम्मिलित हैं जिनके आधार पर औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं :

श्रमिकों की छंटनी, पद अवनति एवं निष्कासन : औद्योगिक संघर्षों का एक महत्वपूर्ण कारण है। छटनी, पदावनति तथा निष्कासन से संबंधित नीतियों को समय समय पर संशोधित करवाने के लिए श्रमिक नियोक्ता के विरुद्ध हड़ताल, प्रदर्शन तथा घेराव आदि तरीके अपनाते हैं। जहां तक श्रमिकों की छटनी का प्रश्न है, आधुनिक वैज्ञानिक युग में मशीनों के बढ़ते हुए प्रयोग से किसी भी कारखाने में श्रमिकों की आवश्यकता अपेक्षतया कम हो जाती है। इसी प्रकार पदावनति तथा निष्कासन उन स्थितियों में अपनाया जाता है जब श्रमिक अपने कार्य में जानबूझकर लापरवाही कर रहा हो, कार्य से अनुपस्थित रहता हो या अपने कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित न कर रहा हो। इस संबंध में संस्था की नीतियां स्पष्ट, न्यायोचित तथा कुशल होनी चाहिए और उनका प्रयोग निष्पक्ष होकर किया जाना चाहिए, अन्यथा इससे कारखाने का शांतिपूर्ण एवं अनुकूल वातावरण दूषित हो सकता है।

श्रम संघों की मान्यता : जैसा ऊपर बताया जा चुका है, अनुशासन संहिता के अंतर्गत कारखाने में नियोक्ता को श्रम संघ की स्थापना एवं उसके विकास के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए। यदि वे श्रम संघों के विकास में कोई बाधा डालते हैं अथवा श्रम संघों की शक्ति क्षीण करने के लिए प्रतियोगी संघ को मान्यता देते है तो यह निश्चित रूप से औद्योगिक संघर्ष का कारण बन जाता है, क्योंकि इससे एक ओर तो श्रमिकों के अधिकार कुचले जाते हैं, और दूसरी ओर नियोक्ताओं के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से श्रमिक उत्तेजित होते है, जिससे विवाद आगे बढ़ता है।

अनुशासन संहिता का उल्लंघन : कारखाने में कार्य करने वाले श्रमिकों को अनुशासित रखने के लिए अनुशासन संहिता की रचना की जाती है। ये संहिता नियोक्ता एव श्रमिक दोनों को स्वीकार होती है। किसी भी पक्ष द्वारा इस संहिता के नियमों का उल्लघन करने पर भी औद्योगिक संघर्ष का वातावरण तैयार होता है। चाहे नियोक्ता अपने मनमाने ढंग से श्रमिकों पर कोई अंकुश लगा दे अथवा श्रमिक संहिता के नियमों का उचित प्रकार से पालन न करें, दोनों स्थितियां कारखाने में अनुकूल वातावरण बनाए रखने

में बाधक सिद्ध होती हैं। और संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न होती हैं।

समझौतों का उल्लंघन : औद्योगिक संस्था में नियोक्ता श्रमिकों के साथ सेवा शर्तों, कार्य करने की दशाओं के बारे में अथवा किसी अन्य संभावित विवाद को हल करने के लिए पहले ही एक समझौता कर लेते हैं। किसी भी पक्षकार द्वारा समझौते का उल्लंघन औद्योगिक अशांति का कारण बन जाता है, क्योंकि समझौते के उल्लंघन से एक पक्ष का दूसरे पक्ष के ऊपर विश्वास कायम नहीं रह पाता है और इससे उनमें परस्पर असंतोष एवं असहयोग की भावना बढ़ती है तथा सपूर्ण औद्योगिक वातावरण दूषित होता है।

राजनीतिक कारण

संपूर्ण औद्योगिक वातावरण में राजनीतिक तत्व भी कार्यशील रहते हैं अतः स्वाभाविक रूप से इन तत्वों का उद्योगों पर भी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता अपनी राजनीतिक पार्टी की प्रसिद्धि के लिए तथा अपने निहित स्वार्थों के लिए मजदूर नेता के रूप में श्रमिकों को समय समय पर गलत दिशा दिखाते हैं और उन्हें हड़ताल, प्रदर्शन तथा घेराव करने के लिए उत्तेजित करते हैं। इससे संपूर्ण औद्योगिक वातावरण दूषित हो जाता है। एक ओर इससे उत्पादन में कमी होती है और दूसरी ओर आपसी फूट के कारण श्रम संघों की शक्ति क्षीण होने लगती है जिससे श्रमिकों की उचित मांगें भी पूरी नहीं हो पाती हैं और औद्योगिक संघर्ष और बल पकड़ता है। श्रम संघों के माध्यम से राजनीतिक दल यह प्रयत्न करते रहते हैं कि श्रम संघों में समस्त महत्वपूर्ण पद प्राप्त करके श्रम संघों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करें, ताकि एक ओर वे श्रमिकों का विश्वास प्राप्त कर सकें और दूसरी ओर आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए श्रम शक्ति को प्रयोग में ला सकें।

अन्य कारण

ऊपर बताए गए आर्थिक, गैर आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त औद्योगिक संघर्ष के कुछ अन्य कारण भी हैं। अधिकारियों का श्रमिकों के साथ अप्रिय व्यवहार, श्रमिकों में आपसी गुटबाजी तथा अन्य मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारण भी औद्योगिक संघर्षों को प्रोत्साहित करते हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्षों की स्थिति

वैसे तो प्रत्येक उद्योग में, जहां काफी अधिक संख्या में श्रमिक कार्य करते हैं, औद्योगिक विवाद उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि अभी तक व्यवहार में यह पाया जाता है कि पूंजीपति अधिकांश दशाओं में अपने परंपरागत रवैये को पूर्णतया परिवर्तित करने के लिए तत्पर एवं इच्छुक नहीं रहते हैं जिससे पूंजी एवं श्रम में असंतुलन उत्पन्न होने लगता है और आमतौर पर औद्योगिक विवादों का रूप धारण करता है।

भारत में औद्योगिक विवादों की स्थिति द्वितीय महायुद्ध के पश्चात ही अधिक गंभीर एवं चिंताजनक हुई है। 1920-21 में श्रमिकों ने सारे देश में हड़तालें संगठित कीं, उद्योगपति धीरे धीरे स्थिति को सुधारते हुए इस पर काबू पाते गए, फिर भी श्रमिक वर्ग में असंतोष बढ़ता गया और औद्योगिक संघर्ष की विचारधारा स्थाई रूप से उद्योगों में कार्यशील बनती गई।

स्वतंत्रता के पश्चात देश की गरीब जनता, जिसका बड़ा हिस्सा मजदूर एवं श्रमिक है, इस बात की आशा करती रही कि प्रजातंत्र में उनका बड़े बड़े पूंजीपतियों द्वारा शोषण नहीं किया जा सकेगा और सरकार उनके विकास को बढ़ावा देगी। हालांकि सरकार भी

स उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय थी फिर भी समाज में पूंजीपतियों का बोलबाला इतना अधिक रहा है कि वे विभिन्न अनुचित साधनों द्वारा जनता के प्रतिनिधि रूप में अपने नुमाइंदे चुनने में सफल रहे और इन्हीं नुमाइंदों के माध्यम से पूंजीपतियों के हित पूर्णतया सुरक्षित रहे और उन्हें श्रमिक वर्ग का शोषण करने का नवीन अवसर मिला। फिर भी प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के अंतर्गत श्रम संघों के विकास को प्रोत्साहन मिला और मजदूर वर्ग अपनी उचित मांगों के लिए संगठित होकर कार्य करने लगे। इससे औद्योगिक विवादों की संख्या बढ़ती गई। इन औद्योगिक विवादों में मुख्य कारण आर्थिक रहे है और कुछ दशाओं में गैर आर्थिक कारण तथा राजनीतिक कारण भी इन विवादों की जड़ मे थे। विशेष रूप से 1969 से 1971 के बीच इन संघर्षों की संख्या में काफी वृद्धि हुई जिसमें मुख्य कारण मजदूरी मे वृद्धि, श्रमिकों की छटनी तथा अन्य हैं। आपातकालीन स्थिति घोषित होने के पश्चात श्रमिकों के जनतांत्रिक अधिकार भी प्रतिबंधित कर दिए गए जिससे औद्योगिक संघर्षों की संख्या मे कमी होना स्वाभाविक था। आपातकालीन स्थिति सामान्य हो जाने के पश्चात फिर से श्रमिकों को अपनी न्यायोचित मांगों को लेकर औद्योगिक संघर्ष करने का मौका मिला है। हालांकि कुछ स्थितियों में नियोक्ताओं के साथ संयुक्त राय मशविरा करके इनकी मांगें कुछ सीमा तक पूरी कर दी गई फिर भी कई उद्योगों में औद्योगिक संघर्ष चल रहे हैं।

औद्योगिक संघर्षों के रोकथाम के उपचार

औद्योगिक सघर्ष के तमाम कारणों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि औद्योगिक संस्था में शांतिपूर्ण वातावरण बनाए रखने के लिए श्रमिकों एवं नियोक्ताओं के बीच सहयोगपूर्ण, उदार एवं मैत्रीपूर्ण संबंध होने चाहिए, क्योंकि औद्योगिक संघर्ष तथा औद्योगिक शांति की स्थितियां मूल रूप से औद्योगिक संबंधों पर निर्भर होती हैं। इसके लिए मुख्य तीन पक्षकार जिम्मेदार समझे जाते हैं: श्रमिक एवं कर्मचारी वर्ग, नियोक्ता वर्ग तथा सरकार। औद्योगिक शांति बनाए रखने के लिए जो प्रयत्न या उपचार प्रयोग में लाए गए हैं उनमें श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच समझौते से लेकर सरकार के प्रभावशाली कानूनी हस्तक्षेप तक सभी प्रयत्न सम्मिलित हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

औद्योगिक संघर्षों की रोकथाम करने के उपाय मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी में वे उपाय सम्मिलित हैं जिन्हें संस्था के श्रमिक तथा कर्मचारी एवं नियोक्ता वर्ग आपसी मतभेद तथा द्वंद्व को निपटाने के लिए स्वेच्छा से प्रयोग में लाते हैं। इन उपचारों का प्रयोग करने के लिए पक्षकारों पर कोई वैधानिक दबाव नहीं होता है, इसीलिए इन उपचारों को औद्योगिक संघर्ष रोकने की ऐच्छिक व्यवस्था कहा जाता है। उनमें मुख्य रूप से शिकायत व्यवस्था, अनुशासन संहिता, संयुक्त प्रबंध परिषदें, संयुक्त सलाह समितियां, सलाह समितियां आदि सम्मिलित हैं। ऐच्छिक व्यवस्था का प्रयोग विशेष रूप से स्वतंत्रता प्राप्त होने से पहले किया जाता रहा है, हालांकि यह व्यवस्था आज भी काफी प्रचलित है।

द्वितीय श्रेणी में औद्योगिक संघर्ष रोकने के वे उपाय सम्मिलित हैं जो पूर्णरूप से वैधानिक प्रकृति के हैं। इसीलिए इन्हें वैधानिक उपचार भी कहा जाता है। इन उपायों को विशेष रूप से स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात काम में लाया गया, क्योंकि देश स्वतन्त्र होने के तुरंत पश्चात प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित शासन पद्धति के अंतर्गत कारखानों एवं औद्योगिक संस्थाओं में कार्यरत मजदूर एवं श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिए तथा उन्हें शोषण से बचाने के लिए सरकार ने विभिन्न वैधानिक व्यवस्थाओं के

रूप में व्यवसाय के क्षेत्र में सक्रिय हस्तक्षेप किया। इसमें औद्योगिक संघर्ष अधिनियम 1947 की विभिन्न व्यवस्थाएं तथा राज्य सरकारों द्वारा समय समय पर बनाई गई व्यवस्थाएं सम्मिलित हैं।

भारतवर्ष में अधिकांश दशाओं में औद्योगिक संघर्ष अधिनियम 1947 की व्यवस्थाएं औद्योगिक संघर्षों की रोकथाम करने तथा उनका निपटारा करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। ये निम्न हैं :

1. कार्य समितियां,
2. समझौता अधिकारी,
3. समझौता मंडल,
4. जांच अदालत,
5. श्रम अदालत,
6. औद्योगिक अधिकरण,
7. राष्ट्रीय अधिकरण।

कार्य समितियां : इन समितियों का गठन श्रमिक एवं नियोक्ता के प्रतिनिधियों द्वारा परस्पर मिल कर किया जाता है। ये समितियां सलाहकारी प्रवृत्ति की होती हैं, क्योंकि इनमें श्रमिकों तथा नियोक्ताओं के प्रतिनिधि समय समय पर बैठकें करके परस्पर विचार विमर्श द्वारा विवादों को सुलझाने का प्रयास करते हैं। औद्योगिक संघर्ष अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत यह व्यवस्था की गई है कि उपयुक्त सरकार किसी भी औद्योगिक संस्था को, जिसमें 100 या इससे अधिक संख्या में श्रमिक कार्य करते हैं, कार्य समिति की स्थापना के लिए आदेश दे सकती है। इन समितियों के गठन में श्रमिक एवं नियोक्ताओं का बराबर प्रतिनिधित्व होता है, और इनको गठित करने का मुख्य उद्देश्य श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच समय समय पर उत्पन्न विवादों पर विचार विमर्श करके उनके बीच मधुर एवं अनुकूल संबंध स्थापित करना है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है कार्य समितियां सलाहकारी प्रकृति की होती हैं, क्योंकि इसके द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं वे सलाहकारी एवं सुझावात्मक होते हैं।

अन्य समितियों की भांति इनके संचालन के लिए भी एक कार्यकारिणी होती है जिसमें अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव, संयुक्त सचिव आदि पदाधिकारी सम्मिलित हैं।

समझौता अधिकारी : औद्योगिक विवादों एवं संघर्षों की रोकथाम के लिए यह दूसरा वैधानिक उपाय है। इसके अंतर्गत सरकार को अधिनियम द्वारा इस बात के लिए अधिकृत किया गया है कि किसी भी संस्था में औद्योगिक विवाद को सुलझाने के लिए सरकार किसी भी समय एक या दो समझौता अधिकारी या अधिकारियों को नियुक्त कर सकती है। इन अधिकारियों का मुख्य कार्य श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच मध्यस्थ का कार्य करके यह प्रयास करना है कि उनके बीच के विवादों को हल किया जा सके। यदि वे विवाद को हल नहीं कर पाते हैं तो इसकी विस्तृत रिपोर्ट, जिसमें उनके असफलता के कारण भी वर्णित रहते हैं, सरकार को प्रस्तुत करते हैं। समझौता अधिकारी या तो किसी विशेष क्षेत्र के लिए या किसी विशेष उद्योग के लिए नियुक्त किया जाता है। इन अधिकारियों को हालांकि किसी भी संस्था में प्रवेश करके संबंधित दस्तावेजों का निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त होता है फिर भी उनसे यही आशा की जाती है कि वे विवाद सुलझाने के लिए सुझावात्मक विधि प्रयोग में लाएं। विवाद सुलझाने के लिए समझौता अधिकारी को विस्तृत मनमाने अधिकार भी प्राप्त रहते हैं।

समझौता मंडल : समझौता कार्य का ही यह एक विस्तृत रूप है। इसके अंतर्गत एक समझौता अधिकारी के स्थान पर तीन सदस्य नियुक्त किए जाते हैं जो संयुक्त रूप से एक

मंडल के रूप में कार्य करते हैं। इनमें एक सदस्य अध्यक्ष होता है और अन्य दो सदस्य श्रमिक वर्ग तथा नियोक्ता वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। समझौता मंडल का मुख्य कार्य समझौता अधिकारी की भांति श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच विवाद सुलझाने का प्रयत्न करना और इसके बारे में सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना है जो एक निर्धारित अवधि (1 माह) के भीतर प्रस्तुत की जाती है। इस मंडल को दीवानी न्यायालय (सिविल कोर्ट) की मान्यता प्राप्त होती है जिसके अंतर्गत यह मंडल पक्षकारों को बुलाने का आदेश जारी कर सकता है और शपथ ग्रहण करवा सकता है। समझौता मंडल अस्थाई संस्था है जिसे कभी भी आवश्यकता पड़ने पर गठित किया जा सकता है।

जांच अदालत : जांच अदालत की व्यवस्था औद्योगिक संघर्ष अधिनियम की नवीन व्यवस्था है, जिसे अंगरेजी औद्योगिक अधिनियम 1919 से ग्रहण किया गया है। जांच अदालत के अंतर्गत संबंधित मंत्री जांच अदालत की स्थापना करके औद्योगिक विवाद की प्रकृति एवं कारणों का विश्लेषण करवा के उनके बारे में सुझाव प्रस्तुत करवा सकता है। इन अदालत के लिए एक या एक से अधिक व्यक्ति नियुक्त किए जा सकते हैं और अंतिम रूप से यह अदालत अपनी विस्तृत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत करती है। इस अदालत की स्थापना सरकार पक्षकारों की इच्छा के बगैर भी कर सकती है और औद्योगिक विवाद से संबंधित मामलों अथवा पूर्ण विवाद की जांच पड़ताल करने के लिए इस अदालत को सौंप सकती है।

श्रम अदालत : श्रम अदालत की स्थापना भी सरकार द्वारा की जाती है। इसमें विवाद को सुलझाने के लिए फैसला करने का कार्य किसी ऐसे व्यक्ति को सौंपा जाता है जिसे भारत में न्याय के क्षेत्र में कम से कम 7 वर्ष का अनुभव हो अथवा जो श्रम अदालत में कम से कम 5 वर्षों तक अध्यक्ष के रूप में कार्य कर चुका हो। श्रम अदालत का मुख्य कार्य औद्योगिक विवाद का विस्तृत अध्ययन करके इसको सुलझाने के लिए अपना निर्णय सरकार को प्रस्तुत करना है। श्रम अदालत को जो मामले निर्णय के लिए सौंपे जाते हैं उनमें निम्न मामले सम्मिलित हैं :

(अ) नियोक्ता द्वारा जारी किए गए 'स्टैंडिंग आर्डर' की वैधता की जांच करना,
(ब) इस प्रकार के आदेश की व्याख्या करना,
(स) श्रमिक का निष्कासन, गलत ढंग से निष्कासित श्रमिक को मुआवजा एवं उसकी पुनर्नियुक्ति,
(द) नियोक्ता द्वारा श्रमिकों को दी गई छूट एवं अधिकार वापस लिया जाना,
(य) हड़ताल एवं तालाबंदी की वैधता की जांच,
(र) उपर्युक्त मामलों के अतिरिक्त औद्योगिक संघर्ष अधिनियम की सारणी तीन में दिए गए सभी मामले श्रम अदालत को सौंपे जा सकते हैं।

औद्योगिक अधिकरण : इस प्रकार के न्यायालयों की स्थापना राज्य सरकारों द्वारा की जाती है और ये न्यायालय अस्थाई या स्थाई रूप से स्थापित किए जा सकते हैं। औद्योगिक विवाद के संबंध में निर्णय प्रस्तुत करने के लिए इनमें केवल एक व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है जो किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो अथवा इसके समकक्ष हो। औद्योगिक अधिकरण की स्थापना राज्य सरकार अपने राज्य की सीमाओं के भीतर स्थित कारखाने में उत्पन्न विवाद को सुलझाने के लिए करती है और इस अधिकरण द्वारा दिया गया निर्णय दोनों पक्षों पर बाध्य होता है।

अधिकरण को जो मामले निर्णय हेतु सौंपे जाते हैं उनमें निम्न सम्मिलित हैं :

(अ) वेतन भुगतान की अवधि एवं विधि, मुआवजे भत्ते तथा अन्य भत्ते,
(ब) कार्य करने के घंटे एवं मध्यांतर अवकाश की अवधि,

(स) अवकाश दिन, वेतन सहित छुट्टी,
(द) बोनस, भविष्य निधि, ग्रेचुटी आदि,
(य) अनुशासन से संबंधित नियम,
(र) विवेकीकरण, श्रमिकों की छंटनी एवं संस्था का बंद रहना।

राष्ट्रीय अधिकरण : इस प्रकार की अदालतों की स्थापना औद्योगिक अधिकरण की ही भांति केंद्रीय सरकार द्वारा उन विवादों के निर्णय हेतु की जाती है जिनका संबंध एक से अधिक राज्यों में स्थित उद्योगों से होता है अथवा औद्योगिक विवाद की प्रकृति इस प्रकार की होती है कि राष्ट्र हित भी उससे प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार के अधिकरण का कार्य भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अथवा उसके समकक्ष अन्य व्यक्ति को सौंपा जाता है और इसका निर्णय भी दोनों पक्षों पर बाध्य होता है। इस अधिकरण को मुख्य रूप से वही मामले सौंपे जा सकते हैं जो औद्योगिक अधिकरण को सौंपे जाते हैं।

उपरोक्त औद्योगिक विवादों के वैधानिक उपचारों के अतिरिक्त विवादों को सुलझाने के लिए कुछ अन्य महत्वपूर्ण ऐच्छिक व्यवस्थाएं भी उद्योगों में अपनाई जाती हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है।

1. औद्योगिक अनुशासन संहिता : औद्योगिक संस्था में शांतिपूर्ण एवं अनुकूल वातावरण के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक एवं नियोक्ता एक दूसरे के प्रति व्यवहार में कुछ पूर्व-निर्धारित नियमों का पालन करें। इस संबंध में भी सरकार द्वारा अनुशासन संहिता, जिसका प्रतिपादन 1958 में किया जा चुका है, रचित की गई है और जो लगभग समस्त औद्योगिक संस्थाओं द्वारा स्वीकार कर ली गई है। यह उपाय मुख्य रूप से विवादों को रोकने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

2. पंच निर्णय : औद्योगिक विवादों को कम व्यय पर शीघ्र सुलझाने की यह व्यवस्था भी बहुत प्रचलित है। विवादों को अदालत के माध्यम से सुलझाने में काफी अधिक समय एवं धन व्यय होता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत दोनों पक्षों की सहमति से पंच नियुक्त कर लिए जाते हैं जो उनको सौंपे गए विवाद के बारे में अपना निर्णय देते हैं। यह निर्णय भी दोनों पक्षों पर बाध्य होता है। इस संबंध में 1967 में केंद्रीय सरकार द्वारा एक राष्ट्रीय पंचनिर्णय मंडल की स्थापना की गई है जिसमें श्रमिक, नियोक्ता तथा सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर औद्योगिक विवादों को पंचनिर्णय द्वारा सुलझाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

3. संयुक्त प्रबंध परिषद : श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच संबंध सुधारने एवं श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए संयुक्त प्रबंध परिषद भी स्थापित की जा सकती है। इन परिषदों के माध्यम से श्रमिकों को उनके प्रतिनिधियों द्वारा संस्था के प्रबंध के विभिन्न स्तरों में प्रतिनिधित्व दिया जाता है। ऐसी परिषदों की सदस्य संख्या अलग अलग संस्थाओं में अलग अलग होती है जो 6 से लेकर 12 तक हो सकती है। इस प्रकार की परिषदों की स्थापना निम्न उद्देश्यों के लिए की जा सकती है :

(अ) प्रबंध में श्रमिकों का लगाव बढ़ाकर श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच संबंधों में सुधार करना।
(ब) मधुर एवं सहयोगपूर्ण संबंध स्थापित करके श्रमिकों की उत्पादकता एवं कार्य-कुशलता में वृद्धि करना।
(स) श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं एवं उनके रहन-सहन के स्तर में आवश्यक सुधार करना ताकि उत्पादन कार्य में उनका पूर्ण हार्दिक सहयोग प्राप्त किया जा सके।

(द) औद्योगिक क्षेत्र में प्रजातंत्र को प्रोत्साहित करना।
(य) श्रमिकों को प्रबंध में भागीदार बनाना।

श्रम संघ

व्यवसाय के विकास के प्रारंभिक चरणों में विकास की इकाइयों का आकार सीमित एवं संकुचित था। नियोक्ता श्रमिकों से व्यक्तिगत संपर्क बनाए रखते थे। कालांतर में व्यवसाय के स्वरूपों में आवश्यक परिवर्तनों एवं नए नए स्वरूपों के उद्गम के फलस्वरूप बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाएं स्थापित की जाने लगी जिसके लिए संयुक्त पूंजी कंपनी स्वरूप को काफी लोकप्रियता मिली। इस प्रकार बड़े पैमाने के उत्पादन को बिना किसी बाधा के जारी रखने के लिए काफी बड़ी संख्या में श्रमिक नियुक्त किए जाने लगे और श्रम को, जो पहले से ही उत्पादन का प्रमुख साधन समझा जाता था, और महत्व मिला। इसके साथ ही साथ संयुक्त पूंजी कंपनी के स्वरूप (जिसमें प्रबंध संचालन एवं नियंत्रण स्वामित्व से पृथक होता है) मे संस्था के वास्तविक स्वामी अधिक संख्या में श्रमिकों के साथ व्यक्तिगत संपर्क नहीं रख सके और वेतनभोगी प्रबंधक श्रमिकों की उत्पादकता तथा कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए उनकी भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे तथा उनका श्रमिकों के प्रति व्यवहार इस विचारधारा से प्रभावित था कि श्रमिकों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को वे जिस प्रकार चाहें प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि श्रमिक तो क्रय किया गया उत्पादन का साधन है। इसके अतिरिक्त इन बड़ी बड़ी संस्थाओं को मिलती गई सफलता के फलस्वरूप आर्थिक साधनों का एकत्रीकरण कुछ गिने-चुने व्यक्तियों अथवा विशेष समूह के पास होता गया जिससे उद्योगों में पूंजीपति और प्रबल हुए तथा श्रमिकों का शोषण और बढ़ता गया। इस स्थिति में पूंजी तथा श्रम के बीच असतुलन स्वाभाविक था। इससे श्रमिकों में असंतोष निरंतर बढ़ता गया। वे अपने अर्धमानव रहन सहन के स्तर को सुधारने हेतु कार्य करने की दयनीय दशाओं के विरुद्ध और प्रबंधकों के रूढ़िवादी तथा अकुशल व्यवहार से उत्तेजित होकर पूंजीपतियों के शोषण से बचने का प्रयास करने लगे। आरंभ में तो वे व्यक्तिगत रूप से प्रयत्नशील रहे जिसमें वे पूर्णतया असफल रहे। इस असफलता के कारणों को दृष्टि मे रखते हुए वे आपस में समूह बनाकर संगठित होने लगे और यहीं से श्रम संघों की नींव पड़ी।

संक्षेप में, व्यवसाय के क्षेत्र में विस्तार, पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण, बढ़ती हुई आर्थिक विषमता, प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में अधिकारों की चेतना, सामाजिक न्याय एवं समाजसुधारकों द्वारा श्रमिकों को प्रेरणा आदि तत्व श्रम संघों के उद्गम एवं विकास में कार्यशील रहे हैं। इन्हीं से प्रभावित होकर श्रमिक परस्पर मेलजोल एवं सहयोग से पूंजीपतियों द्वारा किए जाने वाले शोषण के विरुद्ध संगठित होने लगे और श्रमिकों के इस आंदोलन को समूचे विश्व में प्रसिद्धि मिली।

आज के औद्योगिक युग में श्रम संघ उद्योग में एक स्थाई एवं प्रभावशील तत्व समझा जाने लगा है। इसी के परिणामस्वरूप आज का प्रगतिशील प्रबंधक श्रम को क्रय किया गया साधन मात्र न समझकर उसे उत्पादन का एक सक्रिय, चेतनापूर्ण एवं महत्वपूर्ण साधन मानता है जिसका व्यवहार चंचल एवं परिवर्तनशील होता है तथा जिसके सहयोग के अभाव में उत्पादन के अन्य गैर मानवीय साधनों से वांछित परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। प्रबंधकों की विचारधारा एवं व्यवहार में आश्चर्यजनक परिवर्तन इन्हीं श्रम संघों की देन है।

परिभाषा : श्रम संघ शब्द व्यवहार में काफी प्रचलित है। आम बोलचाल में श्रम संघ

श्रमिकों का एक समूह है जिसका गठन विशेष रूप से श्रमिक हितों को सुरक्षित रखने तथा श्रमिकों की हालत को सुधारने के लिए किया जाता है। श्रम संघ शब्द को विभिन्न लेखकों ने अलग अलग प्रकार से परिभाषित किया है। इसमें से कुछ परिभाषाएं दी जा रही हैं। वेब्स के शब्दों में, 'श्रम संघ वेतन अर्जित करने वाले श्रमिकों द्वारा बनाया गया स्थाई संगठन है जिसका उद्देश्य श्रमिकों के जीवन की दशाओं को कायम रखना और उनको सुधारना है।' श्रम संघ की यह परिभाषा अधिक व्यापक एवं स्पष्ट नहीं है क्योंकि इसमें श्रम संघों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य केवल श्रमिकों के जीवन की दशाओं में सुधार करना बताया गया है, जबकि व्यवहार में श्रम संघों के उद्देश्य काफी व्यापक एवं विस्तृत हैं। इसी प्रकार लेस्टर के शब्दों में, 'श्रम संघ कर्मचारियों का ऐसा संगठन है जिसकी रचना मूल रूप से इसके सदस्यों के रोजगार की हालतों को सुधारने व कायम रखने के लिए की जाती है।' पहली परिभाषा की भांति यह परिभाषा भी अपूर्ण है क्योंकि इसमें केवल श्रमिकों व कर्मचारियों की कार्य करने की दशा में सुधार करना ही श्रम संघ का मुख्य उद्देश्य बताया गया है।

ब्रिटिश ट्रेड यूनियन अधिनियम 1953 के अनुसार, 'श्रम संघ ऐसे संगठन हैं जिनका मूल उद्देश्य श्रमिक एवं नियोक्ता में मधुर संबंध स्थापित करना है, जिससे व्यवसाय की क्रियाओं पर श्रमिकों के हितों की रक्षा हेतु आवश्यक नियंत्रण रखा जा सके।' श्रम संघ की यह परिभाषा सबसे अधिक उपयुक्त एवं विस्तृत समझी जा सकती है, क्योंकि इसमें श्रम संघों के मूल उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। इस परिभाषा के अनुसार श्रम संघ स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य श्रमिक एवं नियोक्ता के बीच औद्योगिक संबंधों में सुधार करना तथा श्रमिकों के आर्थिक हितों को सुरक्षित रखना तथा संवर्धित करना है जो काफी सीमा तक उचित प्रतीत होता है।

इन सब परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि श्रम संघ श्रमिकों का संगठित रूप है जिसके माध्यम से औद्योगिक संबंध अनुकूल तथा मधुर बनाए जाते हैं, पूंजी एवं श्रम में संतुलन कायम रखा जाता है और श्रमिकों की कार्य करने की दशा में सुधार तथा उनके आर्थिक हितों की सुरक्षा की जाती है।

इन विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर श्रम संघ में निम्न विशेषताएं पाई जा सकती हैं :

(अ) श्रम संघ औद्योगिक संस्थाओं में कार्यरत श्रमिकों द्वारा स्थापित किए जाते हैं और इनकी सदस्यता श्रमिकों तक ही सीमित रखी जाती है।

(ब) श्रम संघ श्रमिकों का ऐच्छिक संगठन है जिसकी स्थापना कभी भी किसी भी संस्था के श्रमिक आपस में मिलकर कर सकते हैं। व्यवहार में यह पाया जाता है कि संस्था के लगभग सभी श्रमिक इसकी सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं।

(स) श्रम संघों की स्थापना श्रमिकों को केंद्रित एवं संगठित करके उनके तमाम हितों (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक) की सुरक्षा के लिए की जाती है। ये श्रम संघ नियोक्ताओं के अनुचित व्यवहार, शोषण तथा मनमानी कार्यदशाओं के विरुद्ध आवाज उठाकर श्रमिकों की कार्यदशाओं, सेवा शर्तों तथा रहन सहन के स्तर में सुधार लाने के लिए नियोक्ताओं से बातचीत, समझौता अथवा संघर्ष करके श्रमिकों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाते हैं। श्री वी० वी० गिरि के शब्दों में, 'पूंजीवाद के चुनौती के क्षण में आत्मरक्षा मात्र के लिए और समय की मांग को पूरा करने के लिए श्रमिकों को नियोक्ताओं के विरुद्ध आपसी सहयोग करके अपनी रक्षा के लिए बाध्य होना पड़ा।'

(द) श्रम संघ एक प्रक्रिया के रूप में है जिसमें समस्त श्रमिकों का प्रयत्न एवं उनका सामूहिक बल सम्मिलित रहता है और जिसके द्वारा वे संस्था में नियोक्ताओं

एवं प्रबंधकों की एकाधिकार की स्थिति के विरुद्ध अपने हितों की सुरक्षा करते हैं।

श्रम संघों के उद्देश्य

वैसे तो श्रम संघों को स्थापित करने का मूल उद्देश्य इसके सदस्यों के तमाम हितों की सुरक्षा एवं उनका संवर्द्धन करना है, पर व्यवहार में श्रम संघों को इसके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व भी निभाने पड़ते हैं। क्योंकि श्रम संघ जहां एक ओर श्रमिकों के अधिकारों की मांग के लिए संघर्ष करते हैं वहीं दूसरी ओर इस बात की भी निगरानी करते हैं कि श्रमिक उनको सौंपे गए कार्य को संतोषजनक ढंग से निष्पादित कर रहे हैं और उन्हें अपने कार्य के प्रति पूर्ण जिम्मेदारी का आभास है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के विवाद अथवा संघर्ष की स्थिति में संस्था के प्रबंधक प्रत्यक्ष रूप से श्रमिकों से विचार विमर्श करने के बजाय इन संघों के माध्यम से विवाद को सुलझाने का प्रयास करते हैं। संक्षेप में, श्रम संघों की स्थापना इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की जाती है : (1) आर्थिक उद्देश्य, (2) गैर आर्थिक उद्देश्य।

आर्थिक उद्देश्य : (अ) देश में व्याप्त रहन सहन के स्तर के अनुसार और रहन सहन के स्तर की लागत को ध्यान में रखते हुए श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक एवं भत्ते दिलाना।

(ब) श्रमिकों को औद्योगिक संस्था की बढ़ती हुई सफलता एवं समृद्धि में से लाभ में बोनस आदि के रूप में हिस्सा दिलाना।

(स) श्रमिकों की आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें विशेष त्यौहारों पर त्यौहार भत्ता दिलाना।

(द) दुर्घटना के समय आर्थिक सहायता दिलाना तथा विशेष छूट पर श्रमिकों को आवास की सुविधाएं, मनोरंजन की सुविधा, चिकित्सा एवं शिक्षा संबंधी सुविधाएं उपलब्ध कराना।

गैर आर्थिक उद्देश्य : (अ) श्रमिकों के लिए स्थाई रोजगार की व्यवस्था बनाए रखना तथा विवेकीकरण की विभिन्न योजनाओं, जिनके फलस्वरूप श्रमिकों की छटनी संभव हो, पर टीका-टिप्पणी करना।

(ब) श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं में आवश्यक सुधार करना, कार्य के घंटों में कमी करवाना, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करवाना तथा अन्य श्रमिक कल्याणकारी योजनाएं लागू करवाना।

(स) श्रमिकों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए विभिन्न आवश्यक सुविधाएं, जैसे शिक्षा सुविधा, खेलकूद की व्यवस्था आदि प्रदान करवाना एवं सामुदायिक कल्याण की सुविधाएं दिलाना।

(द) श्रमिकों को पदोन्नति एवं प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करना।

(य) श्रमिकों में अपने वर्ग के प्रति निष्ठा की भावना जाग्रत करना।

इन उद्देश्यों के अतिरिक्त श्रम संघ श्रमिकों के हितों को सुरक्षित रखते हुए पूरे समुदाय के विकास एवं उन्नति में सहायक है। इसके साथ साथ श्रम संघ राष्ट्रीय आर्थिक विकास की योजना की सफलता में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस संदर्भ में श्रम संघों द्वारा निम्न सामाजिक दायित्व निभाए जाते हैं :

(अ) राष्ट्रीय हितों के एकीकरण को प्रोत्साहित करना और संवर्धित करना।

(ब) निर्णय लेने के विभिन्न स्तरों में सक्रिय रूप से भाग लेकर समुदाय के विकास के लिए सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों को प्रभावित करना।

(स) सदस्यों में उद्योग एवं समुदाय के प्रति आदर की भावना जाग्रत करना।

(द) विशिष्ट व्यापार या उद्योग के हितों की रक्षा करना और इसके लिए संबंधित औद्योगिक इकाइयों के प्रबंधकों के साथ सहयोग करना।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक श्रम संघ उपरोक्त सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करें। किस श्रम संघ के उद्देश्य क्या होंगे यह विभिन्न तत्वों, जैसे औद्योगिक विकास का स्तर, व्याप्त सामाजिक एवं राजनीतिक दशा आदि पर निर्भर करता है। पूर्ण विकसित देश में स्थापित श्रम संघ के उद्देश्य विकासशील देश में स्थापित श्रम संघ के उद्देश्यों से निश्चित रूप से भिन्न होंगे, क्योंकि विकास का स्तर श्रम संघों के उद्देश्यों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है।

श्रम संघों के कार्य

श्रम संघों के ऊपर बताए गए उद्देश्यों से यह स्पष्ट होता है कि श्रम संघ केवल श्रमिकों के हित में आर्थिक उद्देश्यों की ही प्राप्ति का प्रयास नहीं करते हैं बल्कि उनका प्रयास बेरोजगारी कम करना, सामाजिक सेवा में वृद्धि करना, आर्थिक विषमता को कम करना, अवसर की असमानता कम करना, पूंजी की राजनीतिक शक्ति के विरुद्ध आवाज उठाना आदि भी रहता है। इसके अतिरिक्त श्रम संघ श्रमिकों तथा समाज को जीवन के जनतांत्रिक मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और इस प्रकार के सभी प्रयासों के फलस्वरूप श्रमिक को पूंजीपतियों के शोषण से बचा पाते हैं। संक्षेप में श्रम संघ आमतौर पर निम्न कार्य करते हैं :

(अ) नियोक्ताओं के साथ बातचीत करना,
(ब) सरकार के साथ बातचीत करना,
(स) राजनीतिक कार्य।

नियोक्ताओं से बातचीत करना : श्रम संघ मूल रूप से श्रमिकों का संगठन है इसीलिए वे श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए नियोक्ताओं के साथ श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं और ये श्रमिकों की विभिन्न कठिनाइयों, कार्य करने की दशाओं में सुधार, मजदूरी में वृद्धि तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए नियोक्ताओं को बाध्य करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रम संघ प्रबंधकों के अनुचित व्यवहार, अकुशल श्रम नीतियों, श्रमिकों के उत्पीड़न एवं शोषण का विरोध करने के लिए श्रमिकों में एकता की भावना जाग्रत करते हैं तथा विभिन्न प्रजातांत्रिक व्यवहारों को अपनाकर श्रमिकों की मांगें पूरी करवाते हैं।

सरकार के साथ बातचीत करना : उद्योगों में उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण बनाए रखने के उद्देश्य से सरकार विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार की वैधानिक व्यवस्थाओं के माध्यम से हस्तक्षेप करती है। इस संबंध में श्रम संघ सरकार से वार्ता करके सरकार को इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि सरकारी दोषी प्रबंधक तथा नियोक्ताओं के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करे और कानून में ऐसी व्यवस्थाएं सम्मिलित करे जिससे श्रमिकों के हितों की रक्षा संभव हो। इसके अतिरिक्त श्रम संघ श्रमिकों के विकास एवं कल्याण के लिए बनाई गई योजनाओं के क्रियान्वयन में सरकार को अपना सहयोग प्रदान करते हैं।

राजनीतिक कार्य : जैसा ऊपर बताया जा चुका है श्रम संघ केवल श्रमिकों के विशेष समूह तक ही सीमित नहीं रहते हैं, बल्कि श्रमिक वर्ग को संगठित करके उनमें राजनीतिक चेतना एवं जागृति भी लाते हैं जिससे राजनीतिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जा सके। श्रम संघों के राजनीतिक हस्तक्षेप द्वारा समाज में आर्थिक विषमता को कम किया जा सकता है। आज श्रम संघों के राजनीतिक कार्य का व्यापक रूप हमारे सम्मुख है, क्योंकि श्रमिक स्वयं अपने श्रम संघों में से विधानसभाओं तथा संसद के

चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े करके उसे पूर्ण सहयोग देकर विजयी बनाने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार श्रमिकों के प्रतिनिधि संसद तथा विधानसभाओं तक श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारत में श्रम संघों का विकास

भारतवर्ष में श्रम आंदोलन लगभग 100 वर्ष पूर्व प्रारंभ हो चुका था। औद्योगिक विकास के प्रारंभिक चरणों में कारखाना पद्धति काफी प्रचलित थी और कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों की कार्य करने की दशाएं (विशेष रूप से स्त्री एवं नाबालिग श्रमिक की कार्य दशा) काफी दयनीय थीं। इस स्थिति से प्रभावित होकर देश के कुछ समाजसुधारकों ने श्री सौरम जी तथा लोखंडे के नेतृत्व में 1875 में बंबई के श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं में सुधार करवाने के लिए आंदोलन आरंभ किया। इन समाज-सुधारकों ने कई बार सरकार से यह निवेदन किया कि कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों की कार्य दशाओं में सुधार किया जाए और सेवा शर्तों को नियमित करने के लिए सरकार कानूनी व्यवस्था करे। इसके परिणामस्वरूप भारत में सर्वप्रथम 1881 में 'कारखाना अधिनियम' पास हुआ जिसके अंतर्गत कारखानों में सुरक्षा व्यवस्था, कार-खानों का निरीक्षण एवं स्त्री श्रमिकों के कार्य करने के घंटे प्रतिदिन 11 घंटा, आदि व्यवस्थाएं की गईं। इसके साथ ही नाबालिग के लिए भी प्रतिदिन 7 घंटे कार्य के लिए निश्चित किए गए और समस्त श्रमिकों को सप्ताह में एक दिन अवकाश दिलाने की भी व्यवस्था की गई।

परंतु श्रमिक नेता 'कारखाना अधिनियम' की इन व्यवस्थाओं से संतुष्ट न थे और बंबई में लगभग 5000 श्रमिकों ने संगठित होकर श्री एस० बंगाली तथा लोखंडे के नेतृत्व में अपनी विभिन्न मांगों (कार्य करने के घंटों में कमी, अवकाश तथा शारीरिक क्षति के लिए मुआवजा) के लिए आवश्यक कार्यवाही प्रारंभ की। इसके परिणामस्वरूप बंबई में श्रमिकों ने श्रमिक संगठन की स्थापना की, जो 'बंबई मिल ऐंड एसोसिएशन' के नाम से प्रसिद्ध था। श्री लोखंडे ने इस संगठन की अध्यक्षता की। इसके पश्चात 18९5 में ब्रिटिश सरकार द्वारा 'बंबई श्रम आयोग' की स्थापना की गई, क्योंकि 1884 में श्री लोखंडे के नेतृत्व में श्रम आंदोलन काफी बल पकड़ता जा रहा था। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य कारखानों में कार्यरत श्रमिकों की सेवा शर्तों की जांच पड़ताल करना था। इस आयोग द्वारा की गई जांच-पड़ताल के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने इस संबंध में कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इस आयोग के गठित होने के बाद लगभग 20 वर्षों के भीतर देश के विभिन्न औद्योगिक शहरों में श्रमिक संगठित होने लगे और निम्न महत्वपूर्ण संगठन स्थापित किए गए :

(अ) भारत-बर्मा के रेलवे कर्मचारियों की सम्मिलित सभा (1897),
(ब) प्रिंटर्स यूनियन, कलकत्ता (1905),
(स) बंबई डाक संघ (1907),
(द) भारतीय श्रम संघ, कलकत्ता (1907),
(य) कामगार हितवर्धक सभा (1909)।

इन सब संगठनों का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों के लिए कल्याणकारी कार्यों का संवर्धन करना, उनको शिक्षित करना और उनकी व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाना रहा है।

भारतवर्ष में श्रमिकों का संगठित आंदोलन वास्तव में प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर प्रारंभ हुआ, क्योंकि इस महायुद्ध के दौरान व्याप्त आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं से श्रमिकों को संगठित होने की चेतना मिली। कीमतों में वृद्धि मजदूरी में वृद्धि की

तुलना में कई गुना अधिक हो गई थी। इस दौरान श्रमिकों ने अपनी मांगों को लेकर कई हड़तालें संगठित कीं और उन्हें काफी सफलता मिली। इसी सफलता से प्रोत्साहित होकर श्रम आंदोलन को एक और नई दिशा मिली जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय तथा सुभाष चंद्र बोस द्वारा किया गया। इसके फलस्वरूप सबसे पहला श्रम संघ मद्रास में 1918 में 'टेक्स्टाइल लेबर यूनियन' नाम से स्थापित हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री बी० वी० वाडिया ने की। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों के वेतन में वृद्धि तथा कार्य करने की दयनीय दशाओं में सुधार करना था। इसी बीच 1919-20 के दौरान मद्रास में श्रमिकों की समस्याओं का अध्ययन करने और व्याप्त औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए कई औपचारिक संस्थाएं स्थापित की जाती रहीं। 1921 में बंबई सरकार ने 'औद्योगिक संघष समिति' का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि अधिकांश हड़तालों में नियोक्ताओं को पूर्व सूचनाएं प्राप्त नहीं हुईं और श्रमिकों में प्रभावशाली संगठन का अभाव था। इस समिति ने यह सिफारिश की कि बंबई प्रांत में औद्योगिक न्यायालय की स्थापना की जाए क्योंकि बंबई क्षेत्र में ही इन औद्योगिक संघर्षों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी और श्रमिकों में संगठन की भावना बढ़ती जा रही थी।

विभिन्न राज्यों में श्रमिकों में जागृति को दृष्टि में रखते हुए और श्रम संघों की बढ़ती हुई लोकप्रियता से प्रभावित होकर 1926 में 'भारतीय श्रमिक संघ अधिनियम' बनाया गया। इस अधिनियम की व्यवस्थाओं के अनुसार श्रम संघों को मान्यता प्रदान की गई। 1930 तक तीन महत्वपूर्ण श्रम संघ स्थापित किए जा चुके थे।

(अ) इंडियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन,
(ब) आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस,
(स) रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस।

द्वितीय महायुद्ध काल के अंत तक श्रम संघों की सदस्यता एवं संख्या में आशाजनक वृद्धि हुई, क्योंकि श्रमिक नियोक्ताओं एवं सरकार के श्रमिक विरोधी रवैये से भली-भांति अवगत हो चुके थे और अपने को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए संगठित होना ही उनके सम्मुख एकमात्र उपाय था। 1939-40 में श्रम संघों की संख्या लगभग 667 थी और सदस्यता 5,11,000 थी, जो 1946-47 तक क्रमशः 1833 (श्रम संघ) और 1,331,000 (सदस्य संख्या) हो गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात श्रम आंदोलन में कुछ विशेष परिवर्तन हुए। सरकार ने केवल वे ही तात्कालिक प्रयत्न किए जिनसे देश में औद्योगिक शांति कायम रखते हुए उत्पादन बढ़ाया जा सके। अधिकांश कांग्रेस नेताओं ने यह इच्छा प्रगट की कि 'सेंट्रल ट्रेड यूनियन आर्गनाइजेशन' की स्थापना की जाए। श्री वल्लभभाई पटेल ने, जो 'हिंदुस्तान मजदूर सेवक संघ' के अध्यक्ष थे, दिल्ली में मई 1947 को भारतीय श्रम संघों के नेताओं की बैठक बुलाई। एक केंद्रीय संगठन की स्थापना की गई ताकि श्रमिकों को वास्तविक रूप से संगठित करके उनके रहन-सहन के स्तर में सुधार किया जा सके। 1948 में नासिक में समाजवादी विचारधारावाले नेताओं ने एक नया संगठन स्थापित किया जो 'हिंद मजदूर सभा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संगठन में 'इंडियन फेडरेशन आफ लेबर' को भी विलीन कर दिया गया। 'हिंद मजदूर सभा' का मुख्य उद्देश्य देश के श्रमिकों की मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं का पूरा विकास करना था। इसके पश्चात 1949 में 'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त समय समय पर कई अन्य श्रम संघ स्थापित किए गए। 1970 में एक और महत्वपूर्ण श्रम संघ स्थापित हुआ जो 'सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स' के नाम से प्रचलित है।

संक्षेप में, सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त 5 केंद्रीय श्रम संघ इस समय कार्य कर रहे हैं : (i) आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, (ii) इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, (iii) हिंद मजदूर सभा, (iv) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस, (v) सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स। ये समस्त श्रम संघ अलग अलग राजनीतिक विचारधाराओं पर आधारित हैं। इन संघों के अतिरिक्त निम्न अन्य महत्वपूर्ण श्रम संघ भी स्थापित किए जा चुके हैं : (i) भारतीय मजदूर संघ (ii) हिंद मजदूर पंचायत, (iii) स्वतंत्र पार्टी तथा डी० एम० के० द्वारा स्थापित संगठन, (iv) फेडरेशन आफ इंडिपेंडेंट ट्रेड यूनियन, (v) अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ, (vi) नेशनल फेडरेशन आफ पोस्ट ऐंड टेलीग्राफ वर्कर्स, (vii) आल इंडिया वर्कर्स एसोसिएशन, (viii) नेशनल फेडरेशन आफ इंडियन रेलवेमेन आदि।

इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस

देश के विभाजन से कई प्रकार की नई समस्याएं उत्पन्न हुईं। श्रम संघ आंदोलन के क्षेत्र में पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों से असंतुलन उत्पन्न हो गया। बंगाल में जूट मिलों का उत्पादन कम हो जाने के कारण भारी संख्या में श्रमिकों की छंटनी की गई तथा इसके अतिरिक्त विभाजन से देश में खाद्य पदार्थों का उत्पादन भी विपरीत रूप से प्रभावित हुआ। इसीलिए विभाजन के तुरंत पश्चात कांग्रेस नेताओं ने मुख्य रूप से महात्मा गांधी के सहयोग से 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से 1947 में केंद्रीय श्रम संघ की स्थापना की। उस समय व्याप्त आर्थिक दशाओं के अंतर्गत उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना के लिए यह आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक संघर्षों को अहिंसात्मक कार्यवाही द्वारा सुलझाने के लिए श्रमिक वर्ग का नेतृत्व एवं पथप्रदर्शन करना है। इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन के विधान के अनुसार इस संघ के उद्देश्य निम्न हैं :

(अ) ऐसे समाज की स्थापना करना जिसमें प्रत्येक सदस्य स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी बाधा के अपना सर्वतोन्मुखी विकास कर सके।

(ब) प्रत्येक श्रेणी के मजदूर व कर्मचारियों के लिए प्रभावशाली एवं पूर्ण संगठनों की स्थापना करना।

(स) श्रमिकों की कार्य दशा और जीवन दशा में सुधार करना तथा उद्योग और समाज में उनका महत्व बढ़ाना।

(द) श्रमिकों में उद्योग एवं समुदाय के प्रति जिम्मेदारी का भाव उत्पन्न करना।

(य) श्रमिकों की कुशलता का स्तर बढ़ाना और उनमें अनुशासन प्रोत्साहित करना।

(र) कार्य में बिना कोई रुकावट डाले श्रमिकों की शिकायतें दूर करने की व्यवस्था करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इस संघ ने समय समय पर यह दलीलें पेश कीं कि उद्योगों को राष्ट्र के स्वामित्व एवं नियंत्रण में रखा जाए, ताकि श्रमिक वर्ग पूंजीपतियों की शोषण नीति का शिकार न बन सके। पर चूंकि उस समय विद्यमान सरकार को बड़े बड़े उद्योगपतियों का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था, इसीलिए यह संघ भी आशाजनक सफलता प्राप्त नहीं कर सका। इसके अतिरिक्त संगठन ने श्रमिकों की विभिन्न मांगों को पूरा करवाने के लिए जो भी कदम उठाए हैं वे पूर्णरूप से जनतांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित और शांतिपूर्ण रहे हैं। इस संगठन को सरकार का अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ण सहयोग प्राप्त होते हुए भी श्रमिक वर्ग की हालतों में कोई सुधार नहीं किया जा सका। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस संगठन का संबंध 'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' से भी रहा है।

आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस

प्रथम महायुद्ध के अंत में श्रमिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि श्रमिकों के वेतन में वृद्धि और उनकी कार्य तथा जीवन दशा में सुधार करने के लिए संगठित होकर हड़ताल आदि करना ही अंतिम एवं प्रभावशाली कदम सिद्ध हो सकता है क्योंकि युद्ध के परिणामस्वरूप मूल्यों में काफी वृद्धि हुई और श्रमिकों की आर्थिक दशा और दयनीय होने लगी। इस संबंध में देश भर में कई स्थानों में श्रमिकों के संगठन बनाए गए और प्रत्येक स्थान में हड़तालें प्रारंभ की गईं। इससे भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं किया जा सका, क्योंकि अलग अलग श्रम संघों की अलग अलग कार्यवाही अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकी। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर 1920 में श्रमिकों के एक केंद्रीय संगठन की स्थापना 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' नाम से की गई। इसको स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य तमाम श्रम संघों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना और उसे संयोजित रूप से अधिक प्रभावशाली बनाना था। इस संगठन का नियंत्रण कम्यूनिस्ट विचारधारा वाले व्यक्तियों के हाथ है। स्वतंत्रता से पूर्व इस केंद्रीय संगठन ने श्रम संघ आंदोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस संगठन के मूल उद्देश्य निम्न हैं :

1. श्रमिक वर्ग के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व।
2. श्रमिकों के रोजगार संबंधी अधिकारों की सुरक्षा और उनका संवर्धन।
3. श्रमिकों को उद्योगपतियों के शोषण से मुक्त करना।
4. समस्त श्रम संगठनों की क्रियाओं एवं गतिविधियों को समन्वित एवं संयोजित करना।

हालांकि 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के उद्देश्य आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उद्देश्यों से मिलते जुलते हैं, पर आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का उद्देश्य देश में ही श्रमिकों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हितों की सुरक्षा करने तक सीमित नहीं है, बल्कि विश्व के संपूर्ण श्रमिक वर्ग को इसके लिए संगठित करना है। स्वतंत्रता के पश्चात इस संगठन से वामपंथी विचारधारावाले लोग अलग हो गए। इससे कुछ सीमा तक इस संगठन की कार्य की प्रभावशीलता विपरीत रूप से प्रभावित हुई। फिर भी यह संगठन श्रमिकों के सामूहिक हितों की सुरक्षा करने में एवं उनको अधिकारों के प्रति सजग करने में काफी प्रभावशाली रहा है।

हिंद मजदूर सभा

हिंद मजदूर सभा भी श्रम संघों का एक केंद्रीय संगठन है। इसकी स्थापना समाजवादी दल के नेताओं द्वारा कलकत्ता में 1948 में की गई। यह संगठन अपने उद्देश्यों को पूरा करने हेतु समाजवादी दल की नीतियों का पालन एवं अनुसरण करता है। इस संगठन की स्थापना का श्रेय 'हिंद मजदूर पंचायत', 'इंडियन फेडरेशन आफ लेबर' तथा 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के उन विभिन्न नेताओं को प्राप्त है जो न तो कांग्रेस विचारधारा से सहमत थे और न कम्यूनिस्टों की नीतियों से। वास्तव में यह संगठन समाजवादी विचारधारा वाली 'प्रजा सोस्लिस्ट पार्टी' का एक अंग है। इस संगठन के मूल उद्देश्य निम्न हैं :

1. भारतीय कामगार वर्ग के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक हितों का संवर्धन।

2. इस संगठन से संयोजित श्रम संघों की गतिविधियों को समन्वित करना और उनके कार्य में आवश्यक सहायता प्रदान करना।

3. श्रमिकों के रोजगार से संबंधित समस्त अधिकारों, हितों एवं छूटों की सुरक्षा और संवर्धन।

4. प्रजातांत्रिक समाजवादी समाज का संगठन एवं संवर्धन।

5. सहकारिता के विकास को प्रोत्साहित करना और श्रमिकों की शिक्षा का स्तर ऊंचा करना।

6. देश में और देश से बाहर समान उद्देश्य एवं लक्ष्य वाले संगठनों के साथ सहयोग बनाए रखना।

हालांकि समस्त श्रम संघों का मूल उद्देश्य श्रमिक वर्ग के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की सुरक्षा एवं संवर्धन करना है, पर व्यवहार में हिंद मजदूर सभा कांग्रेस सरकार द्वारा प्रतिपादित श्रम नीति के विरुद्ध रही है क्योंकि इससे केवल पूंजी-पतियों को ही पर्याप्त सरक्षण प्रदान होता रहा है। इसके सदस्यों के अनुसार इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस केवल कांग्रेस सरकार का अभिन्न अंग है। इस संगठन में मुख्य रूप से ट्रांसपोर्ट वर्कर्स यूनियनों, पोस्ट एवं टेलीग्राफ यूनियनों आदि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस

समाजवादी नेताओं द्वारा 1948 में जो अधिवेशन बुलाया गया उसमें कुछ श्रम संघ नेता हिंद मजदूर सभा की नीतियों एवं उद्देश्यों से संतुष्ट नहीं थे। इन नेताओं ने पुनः दिसंबर 1948 मे मिलकर विभिन्न श्रम संघ नेताओं का कलकत्ता में अधिवेशन आयो-जित किया और एक नए केंद्रीय श्रम संगठन की स्थापना की गई जो 'यूनाइटेड ट्रेड यूनि-यन कांग्रेस' के नाम से प्रचलित है। इस संगठन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक आधार से पृथक विभिन्न श्रम संगठनों की क्रियाओं में एकात्मकता लाना है। हालांकि इस संगठन का उद्देश्य राजनीतिक विचारधारारहित श्रम संघ आंदोलन को प्रोत्साहित करना है फिर भी व्यवहार में यह पाया गया है कि इसकी मूल नीतियां 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' से काफी मिलती जुलती हैं, क्योंकि इसके नेता मुख्य रूप से विभिन्न वामपंथी समूहों से संबंधित रहे हैं। इस संगठन के मूल उद्देश्य निम्न हैं :

1. समाजवादी समाज की स्थापना करना।

2. भारत में श्रमिकों एवं खेतिहरों के राज्यों की स्थापना करना।

3. उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा समाजी-करण करना।

4. श्रमिकों के सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक मामलों से संबंधित अधिकारों एवं हितों की सुरक्षा और संवर्धन।

5. श्रम संघ आंदोलन में एकात्मकता उत्पन्न करना।

6. श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा, कार्य करने के अधिकार, हड़ताल करने के अधि-कार, संगठित होने के अधिकार आदि को सुरक्षित रखना।

यह संगठन भी सरकार की श्रम नीतियों का आलोचक रहा है। संगठन ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि श्रम संघों को मान्यता प्रदान करने के लिए सरकार हस्तक्षेप करे और श्रमिक तथा नियोक्ता के बीच समझौते का नियोक्ता पूर्णतया पालन करें।

सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियनस

भारतीय श्रम संघ आंदोलन में इस संगठन की स्थापना से श्रम आंदोलन को एक नई दिशा मिली है। इसकी स्थापना का मुख्य कारण यह रहा है कि आल इंडिया ट्रेड यूनि-

यन कांग्रेस के कुछ सदस्य इस संगठन की (जिसका नेतृत्व श्री डांगे कर रहे थे) दो खम्बा नीति से असंतुष्ट थे, क्योंकि इससे एक ओर श्रमिक वर्ग में फूट बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर संगठन इस बात पर बल दे रहा था कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार एवं विकास को प्रोत्साहित करके श्रमिक जीवन में सुधार लाया जाए। पर चूंकि कांग्रेस सरकार को बड़े बड़े उद्योगपतियों का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त था, इसलिए व्यवहार में यह उद्देश्य प्राप्त करना एक तरह से असंभव था। इसी के फलस्वरूप आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से लगभग 50 श्रम संघ नेताओं ने विद्यमान संगठन की नीतियों एवं उद्देश्यों से असंतुष्ट होकर एक नए संगठन की 1970 में स्थापना की जो 'सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संगठन की स्थापना केंद्रीय स्तर पर की गई है और इसमें श्री राममूर्ति, ज्योतिर्मय वसु एवं वी० टी० रणदिवे का नेतृत्व महत्वपूर्ण रहा है। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य श्रमिकों को संगठित करके उनमें वर्ग संघर्ष को तीव्रतर करने के लिए जागृति उत्पन्न करना है ताकि श्रमिक वर्ग को वास्तविक रूप से पूंजीपतियों के शोषण से बचाया जा सके और पूंजी और श्रम में विरोध को समाप्त करके उत्पादन को बढ़ाया जा सके। इस संगठन के मूल उद्देश्य निम्न हैं :

1. उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के समस्त साधनों का समाजीकरण।

2. श्रमिकों के आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों पर हमलों के विरुद्ध हड़ताल एवं संघर्ष करने के अधिकार को सुरक्षित रखना।

3. श्रम संघों की मान्यता के लिए संघर्ष करना।

4. श्रमिकों के वेतन में वृद्धि, कार्य करने के घंटों में कमी, आवास व्यवस्था तथा उनके जीवन की दशाओं को सुधारने के लिए संघर्ष करना।

5. रोजगार की रक्षा, काम करने के अधिकार के लिए तथा बेरोजगारी की कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करना।

6. श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए संघर्ष करना।

7. समान कार्य के लिए समान मजदूरी की मांग करना।

8. अल्पसंख्यकों के जनवादी अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करना।

9. निरक्षरता के उन्मूलन के लिए संघर्ष।

10. विदेशी संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण के लिए संघर्ष।

11. श्रमिक वर्ग में एकता बनाए रखना।

सेंटर आफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में स्थित है। लगभग 15 लाख श्रमिक इसके सदस्य हैं। विशेष रूप से बंगाल, केरल, राजस्थान, तमिलनाडु, दिल्ली आदि राज्यों में इस संगठन को काफी लोकप्रियता मिली है।

हालांकि यह संगठन भी मूल रूप से श्रम संघों का केंद्रीय संगठन है फिर भी इसकी कार्यप्रणाली तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावशील रही है, क्योंकि संगठन जनवादी कार्यप्रणाली पर आधारित है और उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संगठन के सदस्य समाज के वर्तमान ढांचे को पूर्णतया समाप्त करके श्रमिक वर्ग को शोषण से बचाने के लिए और आर्थिक विषमता समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हैं। अन्य श्रम संघ संगठन समाज के विद्यमान ढांचे के अंतर्गत ही अपने लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते हैं जो व्यवहार में कुछ असंभव सा प्रतीत होता है।

श्रम संघों की कमजोरियां

भारत में श्रम संघों के उद्गम एवं विकास से संबंधित ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात यह कहा जाना अनुचित नहीं होगा कि श्रम संघ आंदोलन इस क्षेत्र में आशाजनक प्रगति एवं

सफलता प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि श्रम संघों के विकास में विभिन्न प्रकार की बाधाएं उत्पन्न होती रहीं। इनके विकास में कुछ कमियां रही हैं जिनका संक्षेप में वर्णन नीचे किया जा रहा है।

एकता का अभाव : श्रम संघों के विकास में पूर्ण एकता का अभाव एक बाधक तत्व रहा है क्योंकि एक ही औद्योगिक संस्था के अंतर्गत विभिन्न प्रतियोगी श्रम संघों की स्थापना से श्रमिक वर्ग पूर्णतया संगठित नहीं रह पाया और नियोक्ताओं के लिए यह स्थिति काफी लाभप्रद सिद्ध हुई।

राजनीतिक दलों का प्रभुत्व : भारतीय श्रम संघों में प्रारंभ से ही राजनीति का बोलबाला रहा है और राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए देश के विभिन्न राजनीतिक दल श्रम संघों पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयास करते रहे हैं। इससे श्रमिकों में परस्पर फूट को और प्रोत्साहन मिला है।

सामान्य उद्देश्यों की उपेक्षा : श्रम संघों के नेताओं एवं सदस्यों द्वारा सामान्य उद्देश्यों की उपेक्षा से भी श्रम संघों के विकास में बाधा पड़ी है, क्योंकि संगठित समूह की सफलता समूह के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति पर निर्भर है और इन उद्देश्यों की पूर्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक सदस्य या नेता समूह के सामान्य उद्देश्यों को व्यक्तिगत उद्देश्यों की तुलना में अधिक प्राथमिकता प्रदान न करें।

श्रमिकों में शिक्षा का अभाव : श्रमिकों का अशिक्षित होना प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में वास्तविक रूप से उनके विकास, विचारधारा, अधिकारों की चेतना आदि को प्रभावित करता है जिसका अंतिम रूप से विपरीत प्रभाव उनके द्वारा संगठित एवं संचालित श्रम संघों पर रहा है।

पर्याप्त वित्त का अभाव : प्रत्येक संगठन को अपने उद्देश्य प्राप्त करने के लिए जो गतिविधियां एवं क्रियाएं करनी पड़ती हैं उनके संचालन के लिए पर्याप्त वित्त आवश्यक है। पर चूंकि श्रम संघ गरीब श्रमिकों द्वारा संगठित एवं संचालित किए जाते हैं इसीलिए वे श्रम संघों की तमाम गतिविधियों के लिए पर्याप्त वित्त जुटाने में असमर्थ रहे। अधिकांश श्रम संघों की आर्थिक स्थिति काफी दयनीय है जिससे श्रम संघ श्रम कल्याणकारी योजनाओं को पूर्णतया क्रियान्वित नहीं कर पा रहे हैं।

श्रम संघों का छोटा आकार : उपर्युक्त कमियों एवं बाधाओं के अतिरिक्त कुछ दशाओं में श्रम संघों का आकार छोटा होने के कारण एवं इनकी सदस्य संख्या काफी सीमित होने से एक ओर तो विभिन्न योजनाओं तथा गतिविधियों के लिए पर्याप्त वित्त नहीं मिल पाता और दूसरी ओर नियोक्ताओं के साथ सामूहिक समझौते करने में इनकी स्थिति काफी कमजोर रहती है।

सामूहिक समझौते

सामूहिक समझौता पद्धति का उद्गम एवं विकास श्रम संघों के विकास से जुड़ा हुआ है क्योंकि श्रम संघों की प्रबलता से इस पद्धति का प्रचलन भी बढ़ा है। सामूहिक समझौता पद्धति का औद्योगिक संबंध मधुर एवं अनुकूल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस पद्धति के द्वारा औद्योगिक विवाद सुलझाने में सहायता मिली है। संक्षेप में, सामूहिक समझौता पद्धति एवं श्रम संघ एक दूसरे के विकास में पूरक एवं सहायक रहे हैं। श्रम संघों के विकास से श्रमिकों की समझौता शक्ति में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर इस पद्धति से श्रम संघ आंदोलन को उचित दिशा मिली है।

सामूहिक समझौता पद्धति से हमारा अभिप्राय ऐसी पद्धति से है जिसके द्वारा औद्योगिक विवादों को सुलझाने के लिए एवं श्रमिकों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक

हितों की सुरक्षा तथा संवर्धन के लिए नियोक्ताओं से विचार विमर्श करके समझौता कर लिया जाता है।

आर० एफ० होक्सी के अनुसार, 'सामूहिक समझौता कर्मचारियों की संगठित इकाई तथा नियोक्ता अथवा नियोक्ता संघ के मध्य समझौते के आधार पर नियोजन की शर्तें निश्चित करने की विधि है और सामूहिक समझौते का मूल तत्व यह है कि इसमें संबंधित पक्षों के प्रतिनिधि ही भाग लेते हैं, तीसरा व्यक्ति भाग नहीं लेता है।' सामूहिक समझौते की यह परिभाषा काफी व्यापक है, क्योंकि इसमें सामूहिक समझौते की कार्यप्रणाली को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है। इस परिभाषा के अनुसार सामूहिक समझौता केवल उन पक्षकारों के बीच किया जाता है जो औद्योगिक विवाद से संबंधित हैं।

सामूहिक समझौते की निम्न विशेषताएं हैं :

1. सामूहिक समझौता मूल रूप से एक पद्धति है।

2. इस पद्धति को क्रियाशील बनाने में श्रमिक वर्ग अथवा उसके प्रतिनिधि तथा नियोक्ता वर्ग या उनके प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं।

3. सामूहिक समझौते में तीसरे पक्षकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है।

4. इस पद्धति के अंतर्गत दोनों पक्ष आपस में विचार विमर्श करके एक ठहराव कर लेते हैं।

5. सामूहिक समझौते विभिन्न उद्देश्यों को लेकर किए जाते हैं, जैसे मजदूरी दर का निर्धारण, कार्य करने की दशाओं में सुधार, कार्य के घंटे, बोनस, क्षतिपूर्ति, श्रमिकों की छंटनी, हड़तालें व तालाबंदी तथा भविष्यनिधि, ग्रेचुटी आदि।

6. सामूहिक समझौता कारखाना स्तर पर ही नहीं बल्कि उद्योग स्तर तथा क्षेत्रीय स्तर भी किया जा सकता है।

7. सामूहिक समझौते में केवल श्रमिक तथा नियोक्ता के बीच हुआ ठहराव ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि इसमें ठहराव को क्रियान्वित करने की व्यवस्था भी सम्मिलित की जाती है।

सामूहिक समझौते की सफलता के मूल तत्व

सामूहिक समझौता पद्धति भारत में कई बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं में प्रचलित है, जैसे टाटा आयरन ऐंड स्टील कं०, इंडियन ऐल्यूनियम कं० आदि। इस पद्धति की लोकप्रियता का मुख्य कारण रहा है कि यह पद्धति श्रमिक एवं नियोक्ता दोनों पक्षकारों के दृष्टिकोण में पारस्परिक विवादों को सुलझाने के लिए संतोषजनक है क्योंकि इसमें केवल संबंधित पक्ष ही हिस्सा लेते हैं और अन्य पक्षों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। देश के प्रत्येक उद्योग में इस पद्धति के प्रचलन को बढ़ाने के लिए कुछ विशेष दशाओं का विद्यमान होना आवश्यक है जो इस प्रकार हैं :

1. सामूहिक समझौते के लिए नियोक्ताओं एवं श्रमिकों को एक दूसरे के प्रति विरोधी रवैया त्यागना आवश्यक है। उन्हें यह भलीभांति समझना चाहिए कि सामूहिक समझौता आपसी व्यवस्था है न कि मुकदमा।

2. सामूहिक समझौता विशेष रूप से कारखाने स्तर पर ही अपनाया जाना चाहिए।

3. श्रम संघों को नियोक्ताओं की ओर से मान्यता प्रदान की जानी चाहिए और उनके विकास के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

4. सामूहिक समझौता करते समय परस्पर सहयोग, प्रतिष्ठित व्यवहार एवं राजीनामे की प्रवृत्ति अपनाई जानी चाहिए।

5. समझौते के दोनों पक्षकारों को अपने अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का सही, स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए।

6. जिन मामलों के लिए सामूहिक समझौता किया जा रहा है उनसे संबंधित पूर्ण तथ्य एवं आंकड़े विद्यमान होने चाहिए।

7. सामूहिक समझौतों के फलस्वरूप किया गया ठहराव व उसकी तमाम शर्तें लिखित होनी चाहिए।

8. ठहराव की शर्तों का दोनों पक्षकारों द्वारा पूर्णतया पालन किया जाना चाहिए एवं शर्तों की व्याख्या की कठिनाई की दशा में न्याय पंचायत की व्यवस्था की जानी चाहिए।

9. सामूहिक समझौता चूंकि संबंधित पक्षकारों के बीच पारस्परिक ठहराव है इस लिए इसमें न्यायिक हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए।

प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी

आधुनिक व्यावसायिक युग में व्यवसाय का प्रत्येक पहलू काफी जटिल एवं कठिन हो गया है। वस्तु के उत्पादन से उसके वितरण तक समस्त क्रियाओं में प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। क्योंकि जहां एक ओर व्यावसायिक संस्था के आकार में वृद्धि हुई है, उत्पादन के क्षेत्र में नई नई मशीनों एवं विधियों का प्रयोग किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर श्रमिकों में एकता की भावना की जागृति, अधिकारों की चेतना एवं श्रमिकों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए सरकार का व्यवसाय में हस्त-क्षेप आदि समस्त कारणों से एक प्रगतिशील प्रबंधक का कार्य भी पेचीदा हो गया है। इन सब तत्वों में विशेष रूप से मानवीय तत्व उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है जिसके संबंध में यह आवश्यक है कि व्यवसाय में मानवीय संबंधों की नई विचारधाराओं को लागू किया जाए। इस नई विचारधारा के अनुसार श्रम उद्योग में केवल विपणन योग्य वस्तु ही नहीं है बल्कि श्रमिक मूल रूप से एक आत्मप्रतिष्ठित प्राणी है जिसके अपने विचार होते हैं, भावनाएं तथा इच्छाएं होती हैं जिनके द्वारा कार्य करने में उसका व्यवहार प्रभावित होता है, जिनके पूरा हो जाने पर उसे केवल अपने कार्य में ही नहीं बल्कि सामान्य जीवन में भी संतुष्टि मिलती है। क्योंकि श्रमिक अपने कार्य के अतिरिक्त जीवन के बाकी क्षणों में नागरिक की हैसियत से रहता है। वह अपने जीवन का वही अर्थ और संतुष्टि (जो समाज में प्राप्त है) अपने कार्य में भी चाहता है और उसकी यह इच्छा बनी रहती है कि उसे जिस प्रकार से एक सामान्य नागरिक के अधिकार प्राप्त हैं ठीक उसी प्रकार जिस उद्योग में वह कार्य कर रहा है और जिस संस्था की सफलता एवं समृद्धि में उसका योगदान होता है, उस उद्योग में भी कार्य करने के लिए बनाए गए नियमों एवं नीतियों के निर्धारण में उसके विचारों को भी स्थान दिया जाना चाहिए।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि आज श्रमिक उद्योग में एक नागरिक की भांति स्थान प्राप्त करना चाहता है एवं कार्य प्राप्त करना चाहता है। इस संदर्भ में गांधी जी की विचारधारा का उल्लेख वांछनीय है। उनके अनुसार श्रमिक उत्पादन का केवल साधन मात्र नहीं है बल्कि वह आवश्यकीय रूप से एक मानव है, जिसका अपना व्यक्तित्व होता है और जिसे अपने परिवार, उद्योग एवं राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों का आभास रहता है। गांधी जी यह चाहते थे कि श्रमिक का आर्थिक विकास ही आवश्यक नहीं है, बल्कि आत्म-प्रतिष्ठा एवं उन्नति की भावना जाग्रत करके उसके व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास किया जाए। गत 20 वर्षों से कुछ यूरोपीय देशों में श्रमिक-प्रबंधक संबंधों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं जिसमें विशेष रूप से औद्योगिक संबंधों की व्यापक विचारधारा काफी

महत्वपूर्ण है जिसके फलस्वरूप उद्योग में सहकारिता की भावना जाग्रत हुई है। इसके साथ ही विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में हुई उन्नति के फलस्वरूप बड़े पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला है और जिसे संचालित करने के लिए विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता पड़ी। इन समस्त कारणों से व्यावसायिक कार्यों में जटिलता बढ़ी तथा सहकारिता पद्धति को अधिक बल मिला। इसी से प्रभावित होकर नियोक्ता एवं श्रमिक के बीच मालिक एवं नौकर की स्थिति लुप्त होती गई है। औद्योगिक जगत की इस क्रांति में, जिसके फलस्वरूप श्रमिक व्यवसाय में सहभागी समझा जाता है, श्रम संघों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और इसके साथ साथ औद्योगिक विकास में सरकार की रुचि, जिससे प्रबंध की नीतियों में आवश्यक परिवर्तन हुए, का भी इस दिशा में योगदान रहा है।

परिभाषा : 'प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी' शब्द काफी व्यापक है। इसको अलग अलग लेखकों ने अलग अलग प्रकार से विभिन्न संदर्भों में प्रयोग किया है तथा इसकी विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं।

आमतौर पर प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी से हमारा अर्थ उद्योगों के प्रबंध में श्रमिकों को सम्मिलित करना है। प्रबंध एक जटिल एवं व्यापक क्रिया है जिसमें औद्योगिक संस्था के मूल उद्देश्यों एवं नीतियों के निर्धारण से लेकर उनके क्रियान्वयन तक समस्त क्रियाएं सम्मिलित हैं, जैसे नियोजन संगठन, समन्वय, निर्देशन, नियंत्रण आदि। प्रबंधकीय क्रियाओं को निष्पादित करने के लिए संस्था में उच्चस्तरीय अधिकारियों तथा प्रबंधकों से लेकर श्रमिकों तक अधिकार एवं दायित्व का एक संबंध स्थापित किया जाता है जिसके माध्यम से एक उच्चस्तरीय अधिकारी से आवश्यक सूचनाओं का संचार निम्न स्तर में श्रमिक तक होता है। इसके लिए संगठन में विभिन्न स्तर कायम रहते हैं। सर्वोच्च स्तर के प्रबंधक अथवा अधिकारी मुख्य रूप से संस्था के लिए उद्देश्यों, नीतियों आदि के निर्धारण तथा अन्य महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय लेने का कार्य करते हैं। मध्यस्तरीय प्रबंधक उनसे आवश्यक सूचनाओं को निम्न स्तरों को संचारित करते हैं। अंत में निम्न स्तर के प्रबंधक मुख्य रूप से प्राप्त सूचनाओं को श्रमिकों तक पहुंचाकर मूल नीतियों को क्रियान्वित करते हैं और श्रमिकों द्वारा किए गए कार्यों का निर्देशन एवं नियंत्रण करते हैं। अतः प्रबंधकीय क्रिया के निष्पादन में संगठन के मुख्य तीन स्तरों पर श्रमिकों को सम्मिलित करना, उनसे विचार विमर्श करना और उनसे सुझाव आमंत्रित करना आदि प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी समझी जाती है। इस प्रकार से सहभागिता अथवा भागीदारी प्राप्त करने के लिए श्रमिक अपने कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं और इन्हीं प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रबंध के प्रत्येक स्तर पर उन्हें प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, क्योंकि व्यवहार में यह असंभव है कि समस्त श्रमिकों को प्रत्यक्ष रूप से प्रबंध में भागीदार बनाया जाए। इसके लिए प्रतिनिधि प्रणाली सबसे अधिक लोकप्रिय है, जैसे संचालक मंडल में श्रमिकों द्वारा अपना प्रतिनिधि भेजा जाना या संयुक्त परामर्श समिति की संरचना करके उसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त करना।

प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी या सहभागिता संगठन में प्रबंधकों द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों में श्रमिकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना भी समझी जाती है क्योंकि प्रबंधकीय क्रिया में निर्णय लेना एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए किसी प्रकार से भी श्रमिकों को उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से निर्णय लेने के अधिकार में हिस्सा मिलता है और अप्रत्यक्ष रूप से समस्त श्रमिक प्रबंध में हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं।

प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी अथवा सहभागिता को इससे संबंधित विभिन्न पक्षकारों ने अलग अलग प्रकार से समझा है, जैसे प्रबंधक इसे निर्णय लेने के पूर्व विचार विमर्श करना समझते हैं और अन्य व्यक्ति इसे श्रमिकों को निर्णय लेने के अधिकार एवं

दायित्व दिए बिना निर्णय लेने में प्रबंधकों के साथ सम्मिलित किया जाना समझते हैं। प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता को विभिन्न देशों में विभिन्न संज्ञाएं प्रदान की गई हैं, जैसे अमरीका में इसे 'यूनियन मैनेजमेंट कोआपरेशन', फ्रांस में 'लेबर मैनेजमेंट कोआपरेशन', जर्मनी में 'को-डिटरमिनेशन' तथा यूगोस्लोविया में 'वर्कर्स मैनेजमेंट' कहा गया है।

विभिन्न देशों के उद्योगों के प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी के विकास, सीमाओं एवं प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इसे पांच क्रमिक अवस्थाओं में रखा जा सकता है, जो निम्न प्रकार हैं :

1. सूचनात्मक सहभागिता
2. सलाहकारी सहभागिता
3. संघात्मक सहभागिता
4. प्रशासनिक सहभागिता
5. निर्णयात्मक सहभागिता।

सूचनात्मक सहभागिता : प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता का यह रूप सबसे कम प्रभावशाली एवं हलका है। इसके अंतर्गत श्रमिकों को प्रबंधकीय क्रिया में सम्मिलित करने के लिए उनके प्रतिनिधियों द्वारा एक समिति का गठन किया जाता है और उस समिति को समय समय पर संस्था के बारे में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है। जैसे उत्पादन से संबंधित आंकड़े, लाभ-हानि खाते से संबंधित सूचनाएं, संस्था की आर्थिक स्थिति, प्रगति आदि के बारे में सामान्य आंकड़े आदि श्रमिकों के प्रतिनिधियों को प्रदान करके उन्हें संस्था के व्यवसाय की विभिन्न दशाओं से अवगत कराके संतुष्ट रखा जाता है। सहभागिता का यह स्वरूप दिन प्रतिदिन महत्वहीन होता जा रहा है क्योंकि इस रूप के अंतर्गत श्रमिक प्रतिनिधियों को प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण करके उन पर टीका टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं होता है।

सलाहकारी सहभागिता : सलाहकारी सहभागिता में श्रमिकों अथवा उनके प्रतिनिधियों से श्रमिक संबंधी मामलों में सलाह ली जाती है और उनसे विचार विमर्श किया जाता है। हालांकि इसमें भी श्रमिकों के अधिकार सलाह प्रदान करने तक ही सीमित होते हैं, इस सलाह को क्रियान्वित करने के लिए प्रबंधक बाध्य भी नहीं होते हैं फिर भी व्यवहार में सहभागिता का यह रूप प्रथम रूप की तुलना में अधिक प्रभावशाली समझा गया है। क्योंकि इसमें श्रमिकों के प्रतिनिधियों को विभिन्न मामलों, जैसे श्रम कल्याण योजनाएं, चिकित्सा, शिक्षा आदि की सुविधाओं के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त रहता है।

संघात्मक सहभागिता : सहभागिता का यह स्वरूप उपरोक्त दो रूपों से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसके अंतर्गत श्रमिकों से उत्पादन विधियों में सुधार लाने, बिक्री का आकार बढ़ाने, संस्था में सामान्य वातावरण को अधिक अनुकूल बनाए रखने के लिए समय समय पर सुझाव आमंत्रित किए जाते हैं। इसके अंतर्गत श्रमिकों के प्रतिनिधियों को आवश्यक सूचनाएं प्रदान करके उन पर प्रबंधकों से विचार विमर्श करने का अधिकार भी दिया रहता है। इससे प्रबंधकों के ऊपर यह नैतिक बंधन हो जाता है कि वे श्रमिकों के प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तुत सुझावों को स्वीकार करें।

प्रशासनिक सहभागिता : सहभागिता के इस स्वरूप के अनुसार प्रबंधकों द्वारा विभिन्न मामलों में निर्णय तो पहले ही लिए जाते हैं, केवल उन निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए विभिन्न तरीकों का चुनाव करने में श्रमिकों अथवा उनके प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जाता है। इस स्वरूप के अंतर्गत श्रमिकों को प्रबंध की महत्वपूर्ण क्रिया से संबंधित अधिकारों एवं दायित्वों में हिस्सा दिया जाता है। कुछ स्थितियों में तो प्रबंधकों

द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने का पूर्ण अधिकार एवं दायित्व श्रमिकों को ही सौंप दिया जाता है, जैसे श्रमिक कल्याण योजनाओं को संचालित करना, श्रमिकों के लिए कैंटीन की व्यवस्था करना, खेल कूद एवं मनोरंजन की व्यवस्थाएं संचालित करना आदि।

निर्णयात्मक सहभागिता : निर्णयात्मक सहभागिता श्रमिकों की प्रबंध में भागीदारी का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण एवं विकसित रूप है। इसके अंतर्गत श्रमिकों को उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से संस्था के समस्त महत्वपूर्ण मामलों, जैसे वित्तीय, प्रशासनिक मामले आदि के संबंध में निर्णय लेते समय प्रबंधकों के साथ विभिन्न स्तरों में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार के निर्णय सुझावात्मक एवं सलाहकारी प्रकृति के न होकर अंतिम निर्णय के रूप में होते हैं और इस प्रकार की सहभागिता में प्रबंधकीय कार्यों से संबंधित अधिकतम अधिकार एवं दायित्व श्रमिकों की समिति को सौंपे जाते हैं।

प्रभावपूर्ण सहभागिता के आवश्यक तत्व

प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की सफलता मुख्यत: इस बात पर निर्भर रहती है कि श्रमिक एवं प्रबंधक दोनों पक्षों का एक दूसरे पर कितना विश्वास है, उनमें किस सीमा तक सहयोग एवं अपनत्व की भावना है एवं वे एक दूसरे को किस प्रकार समझते हैं। जब तक श्रमिक उस संस्था को अपनी संस्था न समझे तब तक सहभागिता की सफलता का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की सहभागिता को सफल बनाने के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है :

1. प्रबंधकों की ओर से : (अ) प्रबंधकों में निर्णय लेने से पहले श्रमिकों के प्रतिनिधियों से विचार विमर्श करने की तत्परता एवं इच्छा।

(ब) सहभागिता की लागत इससे प्राप्त आर्थिक उपयोगिता से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(स) प्रबंधकों को चाहिए कि निर्णय लेते समय श्रमिकों के प्रतिनिधियों से राय मशविरा करने हेतु उनके सामने संबंधित तथ्य एवं आंकड़े प्रस्तुत करें।

2. श्रमिकों की ओर से : (अ) नियोक्ता द्वारा मान्यताप्राप्त श्रम संघ होना,

(ब) श्रमिक प्रतिनिधियों का प्रबंधकीय कार्यों में दक्ष एवं निपुण होना,

(स) श्रमिकों में नियोक्ता के प्रति सहयोग, विश्वास एवं सहकारिता की भावना विद्यमान होना,

(द) अपने प्रतिनिधियों के प्रति श्रमिकों का विश्वास,

(य) श्रमिक प्रतिनिधियों में कर्तव्यपरायणता एवं निष्ठा की भावना।

3. दोनों पक्षकारों की ओर से : (अ) सहभागिता की विषयवस्तु श्रमिकों के संगठन से संबंधित होनी चाहिए ताकि श्रमिकों की उसके प्रति रुचि बनी रहे।

(ब) दोनों पक्षकारों को इस भय से दूर रहना चाहिए कि सहभागिता से उन्हें कोई हानि या उनके अस्तित्व को कोई खतरा उत्पन्न हो सकता है क्योंकि सहभागिता तो श्रमिक एवं नियोक्ता के पारस्परिक सहयोग की द्योतक है।

(स) दोनों पक्षकारों में परस्पर सूचनाओं के आदान-प्रदान में स्पष्ट संचार की योग्यता होनी चाहिए।

सहभागिता के उद्देश्य

श्रमिकों को प्रबंध में सहभागी बनाने का मूल उद्देश्य उद्योग में उदार एवं अनुकूल औद्योगिक संबंधों की स्थापना करना है। हालांकि इस सहभागिता का तात्कालिक

उद्देश्य अलग अलग दशाओं में भिन्न हो सकता है, पर अंतिम रूप से इन विभिन्न उद्देश्यों का संयोजित प्रभाव औद्योगिक संबंधों पर पड़ता है। उद्योग में विभिन्न स्तरों पर भिन्न भिन्न तरीकों से श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करके ही उत्पादन के लिए अनुकूल दशाएं कायम की जा सकती हैं और श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि करके औद्योगिक विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है। इससे केवल श्रमिक एवं नियोक्ता ही लाभान्वित नहीं होते बल्कि इसका लाभ संपूर्ण समाज को भी मिल सकता है।

संक्षेप में, प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता के मुख्य तीन उद्देश्य हो सकते हैं: (1) आर्थिक उद्देश्य, (2) मनोवैज्ञानिक उद्देश्य, (3) सामाजिक उद्देश्य।

आर्थिक उद्देश्य : किसी भी संस्था की सफलता एवं उन्नति काफी हद तक संस्था में कार्यरत श्रमिकों की उत्पादकता पर निर्भर रहती है। श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि संस्था में औद्योगिक संबंध इसके अनुकूल हों। श्रमिक नियोक्ता के साथ पूर्ण सहयोग से कार्य करें और श्रमिकों की कार्य करने की दशाएं संतोषजनक हों, जैसे कार्य करने के घंटों में कमी, वेतन में वृद्धि, सुरक्षा की व्यवस्था आदि। अतः यदि श्रमिकों को प्रबंध के विभिन्न स्तर पर विभिन्न विधियों से सहभागी बनाया जाए तो स्वाभाविक रूप से उनका मनोबल ऊंचा बना रहेगा, उनकी उत्पादकता में वृद्धि होगी तथा संस्था समृद्धिशाली बन सकेगी जिसके फलस्वरूप श्रमिकों को लाभ में हिस्सा मिल सकेगा और उनकी आर्थिक दशा सुधरेगी।

मनोवैज्ञानिक उद्देश्य : उद्योग में मानवीय तत्वों का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि मानवीय साधनों से ही गैरमानवीय साधनों को संचालित करके वांछित परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। संस्था में कार्यरत श्रमिक मूल रूप से मानव है उसकी अपनी प्रतिष्ठा एवं आत्मसम्मान होता है। वह अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए पूर्ण सुरक्षा चाहता है। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी इच्छाएं एवं विभिन्न आकांक्षाएं होती हैं और इन सब तत्वों का उसके कार्य करने के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। प्रबंधक यदि श्रमिक को केवल क्रय किया गया साधन समझे तो श्रमिक में संस्था के प्रति अपनत्व की भावना जाग्रत नहीं हो पाएगी और वह भी उतना ही परिश्रम करेगा जितना उसके रोजगार की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इसी से प्रभावित होकर आज का प्रगतिशील प्रबंधक श्रमिकों में संस्था के प्रति अपनत्व की भावना जाग्रत करने के लिए, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और उसमें कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए उनको विभिन्न तरीकों से प्रबंध में सम्मिलित करने के लिए आवश्यक अधिकार सौंपने में संकोच नहीं करता है।

सामाजिक उद्देश्य : औद्योगिक क्रिया जिस वातावरण में संचालित की जाती है उसमें सामाजिक तत्व भी सक्रिय होता है। श्रमिक सामाजिक प्राणी है। जिस संस्था में वह कार्य करता है वहां पर भी उसे सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है और वह अपने हितों की रक्षा के लिए संगठित हो जाता है। इस प्रकार संस्था के दो प्रमुख संगठित समूहों में विरोध उत्पन्न होने लगता है जिसका औद्योगिक संबंधों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसीलिए उद्योग में शांतिपूर्ण वातावरण बनाए रखने और इन दोनों संगठित समूहों में सहयोग की भावना जाग्रत करने के लिए नियोक्ता श्रमिक समूह को भी प्रबंध में सम्मिलित करके औद्योगिक संबंधों में सुधार लाता है। इसमें एक ओर तो औद्योगिक संघर्ष की संभावना कम हो जाती है और दूसरी ओर औद्योगिक शांति बनी रहती है। इस वातावरण में श्रमिकवर्ग भी व्यक्तिगत स्वार्थों को भूलकर संस्था के सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करता है।

सहभागिता की प्रणालियां

श्रमिकों को प्रबंध के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार से सम्मिलित किया जाता है। श्रमिक विशेष रूप से नीतियों के क्रियान्वयन से अधिक संबंधित होते हैं। श्रमिकों को प्रबंध में सहभागी बनाने के लिए कई प्रणालियां प्रचलित हैं। इन प्रणालियों में कोई एक प्रणाली स्वतंत्र रूप से सभी संस्थाओं में नहीं अपनाई जा सकती है, क्योंकि कोई प्रणाली अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता का क्षत्र एवं सीमाएं विभिन्न तत्वों से निर्धारित होती हैं, जसे देश में औद्योगिक विकास की अवस्था, श्रमिक आंदोलन की लोकप्रियता एवं स्वीकृति, देश का आर्थिक ढांचा एवं सरकार की औद्योगिक नीति आदि। इन्हीं विभिन्न तत्वों के प्रभाव से सहभागिता का क्षेत्र एवं सीमाएं भी प्रभावित हुई हैं। सामान्य तौर से निम्न प्रणालियों के अंतर्गत श्रमिकों को प्रबंध में भागीदार बनाया जाता है :

1. संयुक्त परामर्श
2. सहभागीदारी
3. सुझाव योजना
4. संचालक मंडल में प्रतिनिधित्व।

संयुक्त परामर्श : संयुक्त परामर्श श्रमिकों को प्रबंध में सहभागिता देने की एक प्रमुख प्रणाली है। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रबंधकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करक एक समिति गठित की जाती है और यह समिति संस्था के विभिन्न महत्वपूर्ण मामलों में विचार विमर्श करके बहुमत से निर्णय लेती है, पर यह निर्णय प्रबंधकों पर बाध्य नहीं होता है। इसीलिए इसे सलाह या सुझाव के रूप में लिया जा सकता है। अधिकांश दशाओं में ये सुझाव अथवा सलाह प्रबंधकों द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं। प्रबंधक स्वयं प्रतिनिधियों के साथ मिलकर ये निर्णय लेते हैं इसीलिए वे इन निर्णयों को स्वीकार करने के लिए नैतिक रूप से बाध्य होते हैं। संयुक्त परामर्श प्रणाली से समय समय पर श्रमिक प्रतिनिधियों एवं प्रबंधकों के बीच एक औपचारिक संबंध स्थापित हो जाता है जिसके फलस्वरूप संस्था में औद्योगिक संबंधों में सुधार होता है और उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण कायम रहता है। इस प्रणाली के अंतर्गत गठित कार्य समितियां मुख्य रूप से श्रमिक वर्ग से संबंधित मामलों पर ही विचार विमर्श करती हैं, जैसे कार्य करने की दशाओं में सुधार करना, श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि से संबंधित मामले, श्रमिकों के वेतन, बोनस आदि से संबंधित मामले आदि। श्रमिकों की व्यक्तिगत समस्याएं इन कार्य समितियों के कार्य क्षेत्र में नहीं आती हैं और इसके अतिरिक्त सामूहिक समझौते द्वारा सुलझाई जाने वाली समस्याएं भी इन समितियों के कार्य क्षेत्र से बाहर समझी जाती हैं। इस प्रणाली की सफलता के लिए निम्न तत्व आवश्यक हैं :

(अ) कार्य समिति के फैसले सुझावात्मक होने चाहिए।
(ब) इस व्यवस्था को प्रबंध के विभिन्न स्तरों में प्रयोग किया जाना चाहिए।
(स) कार्य समिति के निर्णयों का पर्याप्त प्रचार किया जाना चाहिए।
(द) प्रबंधकों को अपने प्रति श्रमिकों में विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए।
(य) श्रमिक प्रतिनिधि उसी संस्था के प्रतिनिधि होने चाहिए।
(र) केवल वही मामले इस समिति को सौंपे जाने चाहिए जिससे श्रमिक संबंधित हों, ताकि वे इन मामलों में रुचि ले सकें।

सहभागीदारी : सहभागीदारी श्रमिकों द्वारा प्रबंध में हिस्सा प्राप्त करने की महत्वपूर्ण योजना है। इस योजना को सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों उद्योगों पर लागू किया जा सकता है। विशेष रूप से इस योजना का प्रचलन राष्ट्रीयकृत उद्योगों में है जहां सामाजिक हित अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस योजना के अंतर्गत श्रमिकों को संस्था के सामान्य अंश क्रय करने की अनुमति दे दी जाती है। और इस प्रकार उन्हें संस्था के अन्य सामान्य अंशधारियों की भांति स्वामित्व में सहयोगी बनाया जाता है और वे संस्था के प्रबंध में हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि संस्था के सामान्य अंशधारी संस्था के वास्तविक स्वामी होते हैं और उन्हें संस्था के प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण में पूरा अधिकार प्राप्त होता है। इस योजना को लागू करने के परिणामस्वरूप श्रमिक भी अन्य सामान्य अंशधारियों की भांति संचालक मंडल के लिए संचालकों का चुनाव करने में मत प्रदान कर सकते हैं। वे अंशधारियों की आम सभाओं में विभिन्न महत्वपूर्ण मामलों में अपनी राय व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार श्रमिकों को संस्था में सामान्य अंशधारी बनाकर उनमें संस्था के प्रति अपनत्व की भावना उत्पन्न की जा सकती है और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया जा सकता है कि यदि वे अधिक लगन, परिश्रम एवं सहयोग से अपना कार्य निष्पादित करेंगे तो संस्था के लाभों में वृद्धि होगी और संस्था की सफलता एवं समृद्धि में उन्हें भी हिस्सा प्राप्त हो सकेगा।

सुझाव आमंत्रण योजना : इस योजना के अंतर्गत संस्था के नियोक्ता तथा प्रबंधक श्रमिकों से समय समय पर संस्था के प्रबंध में सुधार करने, उत्पादन योजना के संबंध में, उत्पादन विधियों के बारे में तथा श्रमिकों से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण मामलों में आवश्यक सुधार लाने के लिए सुझाव आमंत्रित करते हैं। इन सुझावों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाता है और अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सुझावों को स्वीकार करके सुझाव देने वाले श्रमिकों को सम्मानित करने तथा उनके उत्साह को बनाए रखने के लिए पुरस्कार दिए जाते हैं। इससे एक ओर तो उनके गौरव की संतुष्टि होती है और दूसरी ओर इसके फलस्वरूप उनकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है। इस योजना को लागू करने से केवल पुरस्कार जीतने वाले श्रमिक ही लाभान्वित नहीं होते, बल्कि संस्था के प्रबंधकों को भी इसका लाभ प्राप्त होता है। एक ओर तो सुझाव आमंत्रित करने से श्रमिकों की शिकायतों एवं कठिनाइयों के बारे में उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी ओर उन्हें श्रमिकों की ओर से नए उपयोगी सुझाव प्राप्त होते हैं।

इस योजना की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि प्रबंधक किस सीमा तक, किस व्यवहार से श्रमिकों के द्वारा प्रस्तुत सुझावों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करते हैं। इस योजना का सर्वप्रथम टाटा उद्योग में प्रयोग किया गया। धीरे धीरे इसका प्रचलन अब निजी क्षेत्र की बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं तथा सरकारी कंपनियों में भी किया जा रहा है। इस योजना को और अधिक प्रभावशील एवं उपयोगी ढंग से प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रबंधकों द्वारा श्रमिकों को इस बात का आश्वासन दिया जाए कि उनके द्वारा प्रस्तुत सुझावों को पक्षपातरहित ढंग से मूल्यांकित किया जाएगा और यदि उनके सुझाव उपयोगी सिद्ध न हों तो इसका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

संचालक मंडल में कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व : जैसा ऊपर बताया जा चुका है, संस्था में प्रबंध के विभिन्न स्तर होते हैं और प्रत्येक स्तर में श्रमिकों को विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। श्रमिकों को संस्था के सर्वोच्च स्तर पर, जिस पर संचालक मंडल स्थित होता है, प्रतिनिधित्व प्राप्त कराने के लिए श्रमिक आपस में मिलकर

अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं और इस प्रतिनिधि को संचालक मंडल में सम्मिलित कर लिया जाता है। सम्मिलित करने का अर्थ यह है कि उस प्रतिनिधि को संचालक मंडल की विभिन्न बैठकों में भाग लेकर श्रमिकों की ओर से अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार प्राप्त होता है। श्रमिकों की प्रबंध में सहभागिता की यह प्रणाली सबसे अधिक पूर्ण एवं प्रभावशील समझी जाती है क्योंकि इसके अंतर्गत श्रमिकों को संस्था के लिए मूल नीतियों का निर्धारण करने एवं अन्य महत्वपूर्ण निर्णय लेने में प्रतिनिधित्व मिलता है। विश्व के विभिन्न देशों में इस प्रणाली को उत्साहपूर्वक अपनाया जा रहा है। हमारे देश में भी इसको प्रयोगात्मक आधार पर कुछ गिने चुने उद्योगों में लागू किया जा रहा है। इस प्रणाली को अभी तक सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि कुछ विद्वानों का यह मत है कि श्रमिकों को संस्था के सर्वोच्च प्रबंधकीय स्तर पर सहभागिता नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि इस स्तर के निर्णय प्रबंधकीय कार्यों में विशिष्ट ज्ञान वाले दक्ष एवं निपुण व्यक्तियों द्वारा लिए जाते हैं और पर्याप्त प्रबंधकीय ज्ञान एवं दक्षता के अभाव में श्रमिक प्रतिनिधि निर्णयों में रुचि नहीं ले पाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश दशाओं में यह भी पाया जाता है कि इस प्रणाली को लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक प्रतिनिधियों को पहले इस महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाए और साथ ही साथ श्रम संघों को अधिक प्रबल बनाया जाए ताकि ये श्रम संघ अपने दायित्व को संतोषजनक ढंग से निभा सकें और अपने प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण के लिए संचालित व्यवस्थाओं में पूर्ण सहयोग प्रदान कर सकें। इस प्रणाली को भारतवर्ष में 'भारतीय वायुसेना निगम', 'सिंदरी उर्वरक कारखाना', 'विशाखापट्टनम जहाजरानी' आदि संस्थाओं में लागू किया गया। दुर्भाग्यवश संतोषजनक परिणाम प्राप्त न हो सके, क्योंकि प्रबंधकीय कार्य में अपर्याप्त ज्ञान वाले प्रतिनिधियों को संचालक मंडल की बैठकों में भेजने से श्रमिकों ने भी यह अनुभव किया कि नियोक्ता केवल दिखावे मात्र की सहभागिता की व्यवस्था प्रदान कर रहे हैं। इसीलिए व्यवहार में यह अधिक वांछनीय समझा गया है कि श्रमिकों को विशेष रूप से प्रबंध के उन स्तरों में एवं उन मामलों में सम्मिलित किया जाना चाहिए जिनका उनके हितों पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और जिस स्तर पर वे प्रबंधकों को वास्तविक रूप से उपयोगी सहयोग दे सकते हैं।

भारत में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की स्थिति

औद्योगिक क्षेत्र में विकसित विश्व के विभिन्न देशों में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की विचारधारा बहुत पहले से प्रचलित है और काफी लंबे समय से व्यवहार में इसे प्रयोग किया जा रहा है। पर दुर्भाग्यवश भारत में स्थिति बिल्कुल भिन्न रही है, क्योंकि सहभागिता की विचारधारा को विशेष रूप से स्वतंत्रता के बाद ही लागू किया जा सका है। इसके अतिरिक्त इस विचारधारा का विकास काफी धीमी गति से हुआ है, क्योंकि भारत में श्रम की प्रकृति, ग्रामीणक्षेत्रों में उद्योगों का अभाव, प्रबंधकों एवं नियोक्ताओं की रूढ़िवादी विचारधारा, श्रमिकों में संगठन का अभाव तथा श्रम संघों की दयनीय दशा आदि तत्व प्रभावशील रहे हैं। इस संबंध में 1947 में सरकार द्वारा सर्वप्रथम 'औद्योगिक विवाद अधिनियम' पास किया गया जिसके अंतर्गत औद्योगिक संस्थाओं में कार्यसमितियां स्थापित करने की वैधानिक व्यवस्था की गई।

विशेष रूप से औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गई। उनके क्रियान्वयन में यह अनुभव किया गया कि देश के औद्योगिक विकास के लिए श्रमिकों को प्रबंध के विभिन्न स्तरों में विभिन्न प्रणालियों के अंतर्गत सम्मिलित किया

जाए, क्योंकि सरकार समाजवादी समाज की स्थापना के लिए कटिबद्ध थी जिससे सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि औद्योगिक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक सिद्धांतों द्वारा श्रमिकों को तमाम अधिकार प्रदान किए जाएं और श्रमिकों को संस्था के प्रबंध में हिस्सा दिया जाए। इसके पश्चात 1956 में औद्योगिक नीति प्रस्ताव पास किया गया जिसके अंतर्गत यह अनुभव किया गया कि श्रम संस्था के विकास में एक सहयोगी तत्व है। इसीलिए यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि देश में प्रजातंत्र को प्रोत्साहित एवं संवर्धित करने के लिए श्रमिकों को भी संस्था के प्रबंध में हिस्सा दिया जाए। इस प्रकार का प्रस्ताव पास होने के फलस्वरूप श्रमिकों की प्रबंध में भागीदारी का नया महत्वपूर्ण रूप विकसित हुआ जिसे 'संयुक्त परिषद' की संज्ञा दी गई।

संक्षेप में, भारत में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की दो प्रमुख प्रणालियां हैं: कार्य समितियां एवं संयुक्त प्रबंध परिषदें।

कार्य समितियां

स्थापना : भारतीय उद्योगों में कार्य समितियों का उद्‌गम औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत हुआ। इस अधिनियम की धारा 3(1) के अनुसार कोई भी औद्योगिक संस्था जिसमें 100 या इससे अधिक संख्या में श्रमिक कार्यरत हों, कार्य समिति की स्थापना करेगी।

उद्देश्य : कार्य समितियों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य नियोक्ता एवं श्रमिकों के बीच मधुर औद्योगिक संबंधों की स्थापना है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत उद्देश्यों में आवश्यक परिवर्तन करके इन्हें निम्न रूप दिया गया :

(i) संस्था, कर्मचारी एवं समुदाय के लाभ के लिए उत्पादकता बढ़ाना,

(ii) श्रमिकों को उनके कार्य, उत्पादन तथा उद्योग में उनके द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका को समझाना,

(iii) उद्योग में सहयोग की भावना जाग्रत करना, औद्योगिक संबंध सुधारना एवं औद्योगिक शांति कायम रखना।

रचना : कार्य समिति की रचना प्रबंधक एवं श्रमिक के बीच समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि समिति में प्रबंधकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर होनी चाहिए। इस समिति की सदस्य संख्या 8 से 10 तक हो सकती है। श्रमिकों के प्रतिनिधियों का चुनाव प्रत्येक श्रमिक जो 19 वर्ष की आयु का है, के द्वारा किया जा सकेगा। कार्य समिति में अध्यक्ष प्रबंधकों का प्रतिनिधि होगा और उपाध्यक्ष श्रमिकों का।

कार्यक्षेत्र : कार्य समितियां आमतौर पर श्रमिकों की शिकायतों, अनुशासन, कल्याण, प्रशिक्षण, एवं औद्योगिक विवाद आदि मामलों पर विचार विमर्श करती हैं। इनके कार्यक्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने के लिए 1959 में हुए भारतीय श्रम सम्मेलन में इनके कार्यों की एक सूची तैयार की गई। इस सूची के अनुसार ये समितियां निम्न मामलों में विचार विमर्श कर सकेंगी : (i) श्रमिकों की कार्य दशाएं, (ii) उनको प्रदान की गई सुविधाएं, (iii) सुरक्षा एवं दुर्घटना निवारण तथा बीमारी एवं उनकी चिकित्सा व्यवस्था, (iv) अवकाश, (v) श्रमकोषों एवं दंडकोषों का समायोजन एवं उपयोग, (vi) शैक्षणिक एवं मनोरंजन संबंधी सुविधाएं, (vii) बचत प्रोत्साहन, (viii) समिति द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने की व्यवस्था।

कार्य समिति पूर्णतया सलाहकारी समिति के रूप में कार्य करती है और इसके निर्णय केवल सुझावात्मक होते हैं।

मूल्यांकन : 1977 के अंत तक देश में लगभग 2600 कार्य समितियां स्थापित हो चुकी हैं। इनमें से 775 कार्य समितियां केंद्रीय स्तर पर और बाकी समितियां राज्यों के क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले उद्योगों के अंतर्गत कार्यरत हैं। इनकी सफलता काफी सीमित रही है क्योंकि श्रमिकों की प्रबंध में सहभागिता की किसी भी प्रणाली की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उस प्रणाली के प्रति प्रबंधकों एवं श्रमिकों की क्या प्रवृत्ति एवं व्यवहार है। इन कार्य समितियों की सीमित सफलता के मुख्य निम्न कारण रहे हैं :

1. इनके निर्णय सुझावात्मक प्रकृति के होते हैं इसीलिए प्रबंधकों को इन्हें अस्वीकार करने में संकोच नहीं होता है।

2. श्रमिकों के बीच परस्पर फूट। इसका प्रतिनिधियों के चुनाव पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

3. कार्य समिति के कार्य को प्रबंधक एवं श्रमिकों के प्रतिनिधि गंभीरतापूर्वक नहीं करते हैं।

4. श्रम संघों द्वारा कार्य समिति के कार्यों की अवहेलना।

5. कार्य समितियों में पुन: प्रबंधकों के प्रतिनिधियों का प्रभुत्व एवं बोलबाला।

संयुक्त प्रबंध परिषदें

स्थापना : 1956 में सरकार ने औद्योगिक नीति के संबंध में जो प्रस्ताव पास किया उसके फलस्वरूप एक अध्ययन दल की स्थापना की गई। इस दल ने अपनी रिपोर्ट में संयुक्त प्रबंध परिषद का समर्थन किया और 1958 में भारतीय श्रम सम्मेलन की एक गोष्ठी में इस योजना को स्वीकार कर लिया गया।

रचना : प्रत्येक औद्योगिक संस्था में एक परिषद होती है। यदि संस्था विभिन्न स्थानों में फैली हो तो स्थानीय, प्रांतीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर ये परिषदें स्थापित की जा सकती हैं। इस परिषद की सदस्य संख्या 6 से 12 तक हो सकती है और इसमें प्रबंधकों एवं श्रमिकों के बराबर प्रतिनिधि होते हैं। संयुक्त प्रबंध परिषद को सुचारु रूप से कार्य करने के लिए निरीक्षक एवं तकनीकी कर्मचारियों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

उद्देश्य : प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता का मुख्य उद्देश्य उत्पादकता में वृद्धि को प्रोत्साहित करना है जिससे संस्था समृद्धशाली बन सके और श्रमिकों तथा समाज को इस समृद्धि का लाभ प्राप्त हो सके। संयुक्त प्रबंध परिषद के उद्देश्य निम्न हैं :

1. श्रमिकों को प्रबंध में सम्मिलित करके श्रमिक-प्रबंधक संबंधों में सुधार लाना और एक दूसरे के प्रति विश्वास उत्पन्न करना।

2. श्रमिक एवं प्रबंधकों के बीच मधुर संबंध स्थापित करके श्रमिकों की उत्पादकता में वृद्धि करना, उनकी कार्यकुशलता बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि करना।

3. श्रमिकों की कार्य करने की दशा एवं रहन सहन की दशाओं में सुधार करना और इसके लिए श्रमकल्याण योजनाएं लागू करना।

4. श्रमिकों को रोजगार संबंधी शिक्षा एवं प्रशिक्षण सुविधाएं प्रदान करना ताकि वे अपने कार्य को अधिक कुशलतापूर्वक कर सकें।

5. श्रमिकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं, जैसे आत्मसम्मान, प्रतिष्ठा आदि को पूरा करना।

6. श्रमिकों में संस्था के प्रति अपनत्व की भावना जाग्रत करना।

7. श्रमिकों एवं प्रबंधकों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत करना :

कार्य : संयुक्त प्रबंध परिषदों के कार्यों को प्रारंभिक अवस्था में दो भागों में बांटा गया :

श्रमकल्याण सुविधाओं का प्रशासन तथा सुरक्षात्मक व्यवस्थाओं का निरीक्षण। बाद में इन परिषदों को श्रमिकों एवं प्रबंधकों के हित के सभी आवश्यक मामलों में सूचनाओं के आदान-प्रदान एवं विचार विमर्श का अधिकार भी दिया गया। संयुक्त प्रबंध परिषदों के कार्यों के लिए एक आदर्श योजना बनाई गई। उसके अनुसार इनके कार्यों की सूची निम्न है :

1. संयुक्त प्रबंध परिषद निम्नलिखित मामलों में आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करके एवं विचार विमर्श करके अपने सुझाव दे सकती है :

(अ) संस्था की सामान्य आर्थिक दशा,
(ब) उत्पादन योजनाएं, वस्तु बाजार तथा विक्री योजनाएं,
(स) सस्था का संगठन एवं दैनिक कार्य प्रबंध,
(द) सस्था की आर्थिक स्थिति को प्रभावित करने वाले तत्व,
(य) उत्पादन कार्य एवं विधियां,
(र) वार्षिक चिट्ठा, लाभ-हानि खाता तथा अन्य विवरणपत्र,
(ल) पुर्नविकास एव विस्तार की दीर्घकालीन योजनाएं।

2. संयुक्त प्रबंध परिपद में निम्न मामलों में प्रबंधकों को अपनी राय व सलाह देने का अधिकार है :

(अ) स्टैंडिंग आर्डर का प्रशासन एवं उनमें संशोधन,
(ब) श्रम एवं मशीनों के पुर्नविकास की योजना एवं उत्पादन की नई विधियों का प्रयोग,
(स) कार्य में रुकावट, कमी एवं कार्य बंद करना आदि।

3. संयुक्त प्रबंध परिषद को निम्न मामलों से संबंधित प्रशासनिक अधिकार भी प्राप्त है :

(अ) श्रमकल्याण योजनाओं का प्रशासन,
(ब) सुरक्षात्मक उपायों का निरीक्षण,
(स) प्रशिक्षण योजनाओं का प्रशासन,
(द) कार्यतालिका, कार्यविभाजन एवं अवकाश दिवसों की सूची तैयार करना,
(य) श्रमिकों से प्राप्त उपयोगी सुझावों के लिए पारितोषिक का भुगतान।

संयुक्त प्रबंध परिषद की उपर्युक्त कार्यसूची में से वे समस्त मामले अलग कर दिए गए है जिनको सामूहिक समझौतों द्वारा सुलझाया जाता है।

मूल्यांकन : प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की यह योजना उद्योग के सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों में प्रयोग की जा रही है। अभी तक लगभग 80 औद्योगिक संस्थाओं में यह योजना लागू की जा चुकी है जिसमें से 31 सस्थाएं सार्वजनिक क्षेत्रों में है और बाकी 49 संस्थाएं निजी क्षेत्र में।

इन परिषदों ने कार्य समितियों की तुलना में मधुर औद्योगिक संबंध स्थापित करने, उत्पादकता बढ़ाने, अपव्ययों में कमी लाने एवं श्रमिक तथा प्रबंधकों को एक दूसरे के समीप लाने में अधिक सफलता प्राप्त की है। फिर भी इन परिषदों की सफलता में मुख्य बाधक तत्व रहे है, श्रमिकों में गुटबाजी, श्रम संघों का कमजोर होना, प्रबंधकों के व्यवहार में गंभीरता का अभाव, श्रम संघों को मान्यता का अभाव एवं श्रम संघों का अस्पष्ट कार्य क्षेत्र आदि।

30 अक्तूबर 1975 को इस संबंध में एक प्रस्ताव पास किया गया है जिसके अन्तर्गत 'कारखाना परिषदों' एवं संयुक्त परिषदो के कार्यो की नई रूपरेखा दी गई और अब ये परिषदें उन तमाम निर्माणी एवं खनन उद्योगों मे (चाहे वे सार्वजनिक क्षेत्र में हों या निजी या सहकारी क्षेत्रों में) स्थापित की जाएंगी जिनमें 500 या इससे अधिक संख्या में श्रमिक कार्य करते हैं।

23

उत्पादन प्रबंध

अर्थ एवं प्रकृति

उत्पादन व्यवसाय का एक महत्वपूर्ण अंग है। यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो उत्पादन व्यवसाय का कारण एवं परिणाम दोनों है, क्योंकि जहां एक ओर इससे व्यवसाय को अस्तित्व प्राप्त होता है, वहीं दूसरी ओर व्यवसाय के क्षेत्र में प्रगति एवं विकास के फलस्वरूप उत्पादन का क्षेत्र भी विकसित होता है। आधुनिक युग में बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए स्वचालित मशीनों एवं विकसित उपकरणों तथा नई नई उत्पादन विधियों का प्रयोग किया जाता है। इससे व्यवसाय में उत्पादन के क्षेत्र की महत्ता में वृद्धि हुई है और आधुनिक प्रगतिशील प्रबंधक इस क्षेत्र की जटिलताओं एवं महत्वपूर्ण भूमिका के प्रति आकर्षित हुआ है।

औद्योगिक क्रांति के पूर्व उत्पादन का क्षेत्र तुलनात्मक रूप से काफी सीमित एवं संकुचित था और इसमें अधिक जटिलताएं नहीं थीं। औद्योगिक क्रांति के पश्चात विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में उन्नति के फलस्वरूप, ग्राहकों की आवश्यकताओं में परिवर्तन एवं विविधता आदि कारणों से उत्पादन के क्षेत्र को एक महत्वपूर्ण दिशा मिली और उत्पादक नई आधुनिक उत्पादन विधियों एवं उपकरणों का प्रयोग करके बड़े पैमाने पर वस्तुओं के उत्पादन से विभिन्न मितव्ययताएं एवं लाभ प्राप्त करने लगा है।

उत्पादन शब्द काफी व्यापक एवं विस्तृत है। इसमें ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं का उत्पादन ही नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार की सेवाओं का सृजन भी सम्मिलित है अर्थात उत्पादन एक ऐसी पद्धति है जिसके अंतर्गत तमाम मानवीय एवं गैर मानवीय साधनों (श्रम, प्रबंधकीय क्षमता, पूंजी, भूमि, भवन, मशीन तथा कच्चा माल आदि) का संयोजन करके, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और सेवाओं का सृजन किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट है कि उत्पादन पद्धति में आवश्यक कच्चे माल में अन्य मानवीय एवं गैर मानवीय साधनों की सहायता से विभिन्न क्रमागत प्रक्रियाएं करके कच्चे माल को तैयार माल में (निश्चित स्वरूप में) बदला जाता है।

उत्पादन पद्धति, जिसके द्वारा ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और सेवाओं का सृजन होता है, की विभिन्न क्रियाओं को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए भी, व्यवसाय के अन्य कार्यात्मक क्षेत्रों (फंक्शनल एरियाज) की भांति प्रबंधकीय कुशलता एवं क्षमता की आवश्यकता होती है जिसे उत्पादन प्रबंध कहा जाता है।

उत्पादन प्रबंध का संबंध उत्पादन के विभिन्न मानवीय एवं गैर मानवीय साधनों

का अनुकूलतम संयोजन करके उत्पादन प्रक्रियाओं को ऐसे क्रम में रखने से संबंधित निर्णय लेने से है जिसके फलस्वरूप निश्चित मात्रा की उचित किस्म की वस्तुएं एवं सेवाएं निर्धारित क्रम के अनुसार कम से कम लागत व्यय पर उत्पादित एवं सृजित की जा सकें।

संक्षेप में, उत्पादन प्रबंध के अंतर्गत उत्पादन पद्धति में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तथा सृजन करने के लिए जो प्रक्रियाएं एवं कार्य किए जाते हैं उन सबको नियोजित, संगठित, समन्वित, निर्देशित एवं नियंत्रित किया जाना उत्पादन प्रबंध कहलाता है। उत्पादन प्रबंध के क्षेत्र में लिए गए निर्णयों पर केवल उत्पादन पद्धति के उद्देश्यों की सफलतापूर्वक प्राप्ति ही निर्भर नहीं है बल्कि उत्पादन प्रबंधक द्वारा लिए गए निर्णय संस्था के अन्य महत्वपूर्ण कार्यात्मक विभागों को भी महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं।

उत्पादन एवं उत्पादन प्रबंध की उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उत्पादन क्रिया के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए उत्पादन प्रबंध के अंतर्गत उत्पादन पद्धति की रचना एवं उत्पादन पद्धति को नियंत्रित करना ये दो मुख्य कार्य सम्मिलित हैं। अतः उत्पादन प्रबंध की मूल विचारधारा को भलीभांति समझने के लिए उत्पादन पद्धति को समझना आवश्यक है।

उत्पादन पद्धति

आमतौर पर उत्पादन पद्धति उत्पादन के मानवीय एवं गैर मानवीय साधनों, प्रक्रियाओं तथा उत्पादन कार्यों का एक ऐसा ढांचा है जिसके अंतर्गत उपयोगिता का सृजन होता है अर्थात आवश्यक कच्चे माल को उत्पादन के साधनों द्वारा विभिन्न प्रक्रियाओं की सहायता से तैयार माल में बदल करके उसे मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु उपयोगी बनाया जाता है।

उत्पादन पद्धति के मुख्य दो छोर होते हैं। एक छोर पर उत्पादन के साधन स्थित होते हैं और दूसरे छोर पर इन साधनों के द्वारा किया गया उत्पादन या साधनों की उपज। पद्धति के इन दोनों छोरों का संयुक्त रूप ही पूर्ण उत्पादन पद्धति है। इस उत्पादन पद्धति में उत्पादन प्रबंधक का कार्य उत्पादन के लिए आवश्यक साधन जुटाना, उनका अनुकूलतम संयोजन तैयार करना तथा इन साधनों (आगत) को पूर्वनियोजित एवं निर्धारित क्रम में उत्पादन या उपज (निर्गत) से जोड़ना है, ताकि उत्पादन के साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग करके उत्पादन के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। अर्थात निर्धारित मात्रा में उचित किस्म की वस्तुएं न्यूनतम लागत पर उत्पादित की जा सकें। इसके लिए उत्पादन प्रबंधक को उपलब्ध साधनों, कार्यों एवं प्रक्रियाओं को नियोजित, संगठित, निर्देशित एवं समन्वित करना पड़ता है। इसे उत्पादन प्रबंध की संज्ञा दी गई है।

उत्पादन कार्य की प्रकृति एवं क्षेत्र को पृष्ठ 572 के चार्ट से भलीभांति समझा जा सकता है।

उत्पादन की इस पद्धति में एक छोर पर कच्चा माल है और दूसरे छोर पर तैयार माल। कच्चे माल को तैयार माल में बदलने के लिए उत्पादन प्रबंधक आवश्यक साधन मशीन, भूमि, भवन, पूंजी एवं श्रम आदि को विभिन्न प्रक्रियाओं 'ए', 'बी' और 'सी' से संयोजित एवं समन्वित करता है।

व्यवहार में उत्पादन पद्धति में निरंतरता या उत्पादन के बहाव में निरंतरता की दृष्टि से उत्पादन पद्धति मुख्य रूप से दो प्रकार की हो सकती है। उत्पादन पद्धति का यह भेद निश्चित रूप से उत्पादन कार्य की प्रकृति को दृष्टि में रखकर किया जाता है:
(i) निरंतर उत्पादन पद्धति, (ii) सविराम उत्पादन पद्धति।
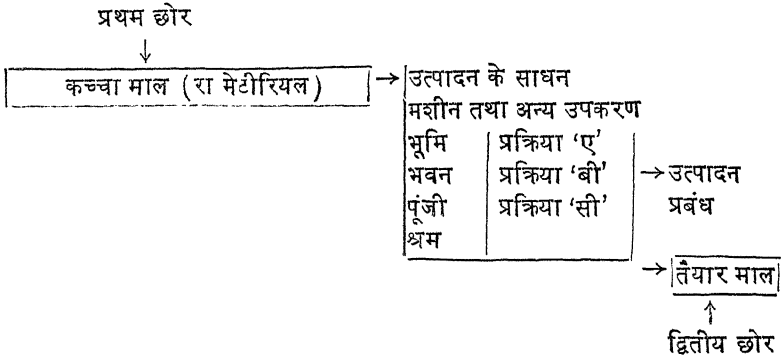
निरंतर उत्पादन पद्धति : निरंतर उत्पादन पद्धति के अंतर्गत एक ही मशीन तथा उपकरण को उनकी कार्य व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए बगैर दीर्घकाल तक प्रयोग किया जाता है जिसके फलस्वरूप उत्पादन कार्य में निरंतरता बनी रहती है जैसे रसायन संयंत्र, मोटर गाड़ी कारखाना, घरेलू प्रयोग की सामग्री बनाने का कारखाना आदि।

इस प्रकार की उत्पादन पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें प्रमापीकृत और विशिष्ट उद्देश्य की मशीनों एवं उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। कच्चे माल के प्रबंध के लिए स्थाई पथ उपकरण (फिक्स्ड पाथ इक्युपमेंट्स) प्रयोग में लाए जाते हैं तथा सारी उत्पादन प्रक्रियाएं पूर्वनिर्धारित क्रम में नियोजित एवं संचालित की जाती हैं। निरंतर उत्पादन पद्धति के अंतर्गत चूंकि एक ही प्रकार की अथवा एक दूसरे से मिलती जुलती वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है इसीलिए विशिष्ट उद्देश्य की मशीन एवं उपकरण का पूर्ण प्रयोग संभव हो पाता है और उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाने वाला कच्चा माल आमतौर पर एक ही रास्ते से गुजरता है और उसको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए एक ही प्रकार के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में, निरंतर उत्पादन पद्धति के अंतर्गत उत्पादन कार्यक्रम में केवल आवश्यकता पड़ने पर नाममात्र के परिवर्तन किए जाते हैं जिससे उत्पादन के बहाव को बिना किसी कठिनाई के नियोजित करके निरंतर बनाए रखा जा सकता है।

उत्पादन की इस व्यवस्था के अंतर्गत चूंकि एक ही प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन काफी बड़ी मात्रा में किया जाता है और इसके साथ ही विशिष्ट उद्देश्य की मशीनों एवं उपकरणों का पूर्ण प्रयोग किया जाता है, इसीलिए उत्पादन की प्रति इकाई लागत तुलनात्मक रूप से कम होती है। इसी प्रकार निरंतर उत्पादन पद्धति में प्रति इकाई संग्रहण लागत भी न्यूनतम होती है क्योंकि संस्था 'स्थाई पथ उपकरणों' का प्रयोग करती है और उत्पादन क्रिया में निरंतरता बनी रहती है जिसके फलस्वरूप संग्रहण की आवश्यकता कम हो जाती है। प्रबंधक यह प्रयत्न करते हैं कि उत्पादन में निरंतरता बनाए रखने के लिए उत्पादित वस्तुओं को शीघ्र ग्राहकों में वितरित किया जाए। इसके अतिरिक्त निरंतर उत्पादन पद्धति में संस्था को तुलनात्मक रूप से कम कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है, क्योंकि एक तो वस्तुओं के उत्पादन में कम समय लगता है और दूसरे उत्पादित वस्तुएं शीघ्र ग्राहकों में वितरित कर दी जाती हैं।

उपरोक्त लाभों के अतिरिक्त इस पद्धति में कुछ दोष भी हैं। प्रथम, निरंतर उत्पादन

पद्धति के अंतर्गत प्रमापीकृत एवं विशिष्ट उद्देश्य की मशीनों एवं उपकरणों को क्रय करके स्थापित करने में बड़ी मात्रा में स्थाई पूंजी विनियोजित की जाती है। द्वितीय, निरंतर उत्पादन पद्धति में लोच का अभाव बना रहता है क्योंकि इस व्यवस्था के अंतर्गत जिन विशिष्ट उद्देश्य की मशीनों का प्रयोग किया जाता है और कच्चे माल के प्रबंध के लिए जिन स्थाई पथ उपकरणों का प्रयोग किया जाता है उनमें आवश्यकता पड़ने पर कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन अतिरिक्त वित्तीय भार एवं हानि के बिना वहन किया जाना संभव नहीं है। तृतीय, निरंतर उत्पादन पद्धति उत्पादन में संलग्न छोटे आकार की इकाइयों के द्वारा नहीं अपनाई जा सकती है।

सविराम उत्पादन पद्धति : निरंतर उत्पादन पद्धति के विपरीत सविराम उत्पादन पद्धति में विभिन्न प्रकार की मशीनों एवं उपकरणों का प्रयोग करके अलग अलग उत्पादन विधियों के द्वारा अलग अलग प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। सविराम उत्पादन पद्धति के अंतर्गत आवश्यकतानुसार अलग अलग किस्म, आकार एवं बनावट की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए प्रयोग की जाने वाली मशीनों एवं उत्पादन विधियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर लिया जाता है, क्योंकि संपूर्ण उत्पादन कार्यक्रम इस प्रकार से तैयार किया जाता है कि उसमें आवश्यकतानुसार अतिरिक्त वित्तीय भार और हानि वहन किए बिना परिवर्तन किए जा सकें।

उत्पादन की इस पद्धति की मुख्य विशेषता यह है कि संस्था उत्पादन कार्य के लिए बहुउद्देश्यीय मशीनों का प्रयोग करती है, जैसे ड्रिल मशीन, माइलिंग मशीन, शेपर तथा ग्राइंडर्स आदि। इसी प्रकार कच्चे माल के प्रबंध के लिए परिवर्तनशील पथ उपकरण प्रयोग किए जाते हैं, जैसे टूल बाक्स, क्रेन, स्किड, लिफ्ट ट्रक्स आदि। इसके अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उत्पादन प्रक्रियाओं के क्रम में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जाते हैं। इससे उत्पादन कार्य में निरंतरता के बजाय समय समय पर अस्थाई प्रकृति की रोक उत्पन्न होती है, क्योंकि एक वस्तु अथवा वस्तुओं का एक समूह उत्पादित करने के पश्चात दूसरी वस्तु या वस्तुओं के समूह को उत्पादित करने के लिए उत्पादन का सारा कार्य नए कार्यक्रम के अनुसार किया जाता है।

सविराम उत्पादन पद्धति का मुख्य लाभ यह है कि इस पद्धति को अपना कर उत्पादन कार्य में लोच का गुण बनाए रखा जा सकता है, क्योंकि संस्था बहुउद्देश्यीय मशीनों तथा कच्चे माल के प्रबंध के लिए परिवर्तनशील पथ उपकरणों का प्रयोग करके ग्राहकों की आवश्यकता में परिवर्तन के अनुकूल वस्तुओं का उत्पादन कर सकती है। इसके अतिरिक्त संस्था द्वारा बहुउद्देश्यीय मशीनों का क्रय करके स्थापित करने तथा उनके प्रयोग में विविधता लाने के लिए निरंतर उत्पादन पद्धति की अपेक्षा कम स्थाई पूंजी की आवश्यकता होती है।

इस पद्धति के मुख्य दोष ये हैं कि इसमें प्रति इकाई उत्पादन लागत तुलनात्मक रूप से अधिक होती है क्योंकि संस्था उत्पादन की इस पद्धति को अपनाकर बड़े पैमाने के उत्पादन की तमाम मितव्ययताएं प्राप्त नहीं कर सकती है। इसके साथ ही उत्पादन की इस पद्धति में वस्तुओं की संग्रहण लागत (स्टोरेज कास्ट) भी काफी अधिक होती है क्योंकि उत्पादन में कच्चे माल का बहाव निश्चित क्रम में लगातार नहीं होता है।

उत्पादन प्रबंध के कार्य

उत्पादन प्रबंध एवं उत्पादन पद्धति के अभी तक के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उत्पादन प्रबंध में उत्पादन क्रिया के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए उत्पादन प्रबंधक संस्था के लिए उत्पादन पद्धति की योजना तैयार करता है और उसके

विभिन्न अंगों को नियोजित, संगठित, समन्वित, निर्देशित तथा नियंत्रित करता है ताकि उत्पादन का सारा कार्य सुचारु रूप से संचालित किया जा सके और उत्पादन के साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग करके न्यूनतम लागत पर मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उचित किस्म की वस्तुएं उत्पादित की जा सकें और सेवाएं सृजित की जा सकें। इस संबंध में प्रबंधक को जो कार्य करने पड़ते हैं उन्हें उत्पादन के कार्य कहा जाता है।

आधुनिक व्यावसायिक युग में उत्पादन पद्धति की महत्ता, समस्याओं एवं जटिलताओं को दृष्टि में रखते हुए आम तौर पर संस्था के अंतर्गत एक उत्पादन विभाग की स्थापना कर ली जाती है जो संस्था के अन्य महत्वपूर्ण कार्यात्मक विभागों की भांति उत्पादन से संबंधित प्रबंधकीय कार्यों को निष्पादित करता है। उत्पादन विभाग द्वारा उत्पादन कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए जो कार्य किए जाते हैं उन्हें मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है :

1. उत्पादन पद्धति तैयार करने से संबंधित कार्य।
2. उत्पादन पद्धति को संचालित एवं नियंत्रित करने से संबंधित कार्य।

उत्पादन पद्धति को तैयार करने से संबंधित कार्य

संस्था में उत्पादन पद्धति को तैयार करने के संबंध में उत्पादन विभाग या उत्पादन प्रबंधक को निम्न कार्य करने पड़ते हैं :

संस्था के आकार से संबंधित निर्णय : उत्पादन प्रबंधक को उत्पादन पद्धति तैयार करने से पूर्व संस्था के आकार के बारे में महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं, क्योंकि उत्पादन पद्धति मूल रूप से संस्था द्वारा तैयार ढांचे के अंतर्गत संचालित की जाती है। इसके साथ ही संस्था का आकार संस्था की कार्यक्षमता तथा लाभप्रदता को भी प्रभावित करता है क्योंकि संस्था को विभिन्न कार्यों में, जिनमें उत्पादन कार्य भी सम्मिलित है, संस्था के आकार से तमाम बाह्य एवं आंतरिक मितव्ययताएं प्राप्त होती हैं। अर्थात संस्था का आकार उत्पादन लागत को भी प्रभावित करता है। संस्था का अनुकूलतम आकार क्या होना चाहिए और इस आकार को निर्धारित करने में कौन कौन से तत्व कार्यशील रहते हैं इसका विस्तृत वर्णन 'व्यावसायिक इकाई का आकार' वाले अध्याय में किया जा चुका है।

संयंत्र के स्थान के बारे में निर्णय : संस्था की उत्पादन पद्धति संयंत्र की स्थिति से महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित होती है क्योंकि संयंत्र की स्थिति का उत्पादन लागत पर भी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि संयंत्र के स्थान का चुनाव कर लिया जाए तो उसके पश्चात उसमें शीघ्र परिवर्तन संस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। अतः उत्पादन प्रबंधक को संयंत्र की स्थिति के बारे में सावधानीपूर्वक निर्णय लेना चाहिए। यह निर्णय लेते समय कच्चे माल का स्रोत, उत्पादित वस्तु के बाजार में संभावित परिवर्तन, विस्तार की संभावना, श्रम की उपलब्धि एवं लागत तथा उत्पादन की अन्य सुविधाओं की उपलब्धता आदि को दृष्टि में रखा जाना चाहिए।

उत्पादित वस्तु की योजना तैयार करना : उत्पादन प्रबंधक संस्था के आकार एवं संयंत्र की स्थिति के बारे में निर्णय लेने के पश्चात संस्था के विपणन विभाग की सहायता से उत्पादित की जाने वाली वस्तु के बारे में विस्तृत योजना तैयार करता है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं में विविधता, उनके आकार, किस्म, डिजाइन आदि के निर्धारण को अधिक महत्व दिया जाता है। हालांकि वस्तु की योजना तैयार करने में विपणन विभाग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, फिर भी निम्नलिखित

महत्वपूर्ण तत्व संस्था के उत्पादन विभाग को इस योजना में सम्मिलित होने पर बाध्य करते हैं :

(i) उत्पादित वस्तु से संबंधित पेटेंट (अधिकार) का प्रयोग,
(ii) वस्तु की ग्राहक द्वारा स्वीकृति,
(iii) वस्तु को उत्पादित करने के लिए उपकरण तथा अन्य सुविधाओं की आवश्यकता,
(iv) उत्पादित वस्तु का मूल्य निर्धारण,
(v) उत्पादित वस्तु की किस्म एवं उपयोगिता।

उत्पादन के लिए भौतिक सुविधाएं : वस्तु की योजना तैयार कर लेने के पश्चात उत्पादन प्रबंधक को उत्पादन के लिए आवश्यक भौतिक सुविधाओं के लिए विस्तृत योजना तैयार करनी पड़ती है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में से सर्वश्रेष्ठ एवं उपयुक्त प्रक्रियाओं का चुनाव करके उन्हें निष्पादित करने के लिए आवश्यक उपकरण (मशीन, औजार आदि) तथा भवन सुविधाओं के बारे में निर्णय लेना पड़ता है ताकि निर्धारित मात्रा में, न्यूनतम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन किया जा सके।

उत्पादन विन्यास : उत्पादन के लिए आवश्यक भौतिक सुविधाओं के बारे में निर्णय लेने के पश्चात संपूर्ण उत्पादन कार्य की एक योजना तैयार की जाती है जिसके अंतर्गत उत्पादन कार्य के लिए श्रमिकों, मशीनों एवं उपकरणों तथा प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल को एक दूसरे से संबद्ध कर दिया जाता है ताकि उपलब्ध भूखंड का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग करते हुए उत्पादन कार्य बिना किसी बाधा के जारी रखा जा सके। इसी व्यवस्था को उत्पादन विन्यास कहा जाता है। उत्पादन विन्यास में मुख्य रूप से संयंत्र विन्यास तथा संग्रहण विन्यास सम्मिलित किए जाते हैं। संग्रहण विन्यास मुख्य रूप से व्यापारिक संस्थाओं द्वारा प्रयोग में लाया जाता है।

संयंत्र विन्यास के अंतर्गत उत्पादन प्रक्रियाओं को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए श्रमिकों, मशीनों, कच्चे माल तथा उत्पादन की अन्य भौतिक सुविधाओं को एक निर्धारित क्रम में एक दूसरे से संबद्ध कर दिया जाता है। संयंत्र विन्यास निम्न उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए तैयार किया जाता है :

(i) उत्पादन प्रक्रियाओं में संतुलन बनाए रखना,
(ii) उत्पादन कार्यक्रम में लोच कायम रखना,
(iii) कच्चे माल के प्रयोग को प्रभावशाली बनाना,
(iv) श्रम का कुशल प्रयोग,
(v) श्रमिकों का मनोबल ऊंचा बनाए रखना,
(vi) मशीनों का अवांछनीय प्रयोग कम करना।

उत्पादन पद्धति को संचालित एवं नियंत्रित करने से संबंधित कार्य

अभी तक उत्पादन प्रबंधक के जिन कार्यों का वर्णन किया गया है वे कार्य कच्चे माल को उत्पादन के साधनों एवं विभिन्न प्रक्रियाओं से जोड़ते हैं। इन सबको उत्पादन पद्धति के अंतिम छोर उत्पादन या उपज से जोड़ने के लिए उत्पादन प्रबंधक को कुछ अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं जिनका संबंध उत्पादन पद्धति को तैयार करने के पश्चात उस पद्धति को सफल कार्यान्वयन के लिए संचालित एवं नियंत्रित करने से है। इसमें उत्पादन प्रबंधक के निम्न कार्य सम्मिलित हैं :

कच्चे माल का क्रय तथा नियंत्रण : कच्चे माल की खरीद एवं कच्चे माल, अर्धतैयार माल तथा तैयार माल के नियंत्रण में एक निश्चित संबंध है, क्योंकि वस्तुओं का उत्पादन

करने के लिए आवश्यक कच्चा माल क्रय किया जाता है और वह कच्चा माल आंशिक रूप से अर्धतैयार माल के रूप में तथा आंशिक रूप से तैयार माल के रूप में संस्था में विद्यमान रहता है। जब कच्चा माल पूर्णतया तैयार माल में बदल जाता है संस्था उसे ग्राहकों तक पहुंचाकर पुनः कच्चे माल का क्रय करती है। इस संपूर्ण चक्र में संस्था को हर समय कच्चे माल का कुछ स्टाक अपने पास सुरक्षित रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त संस्था द्वारा क्रय किए गए कच्चे माल का कुछ अंश अर्धतैयार माल के रूप में उत्पादन प्रक्रिया में होता है। इस संबंध में उत्पादन प्रबंधक को यह निर्णय लेना पड़ता है कि संस्था कितना कच्चा माल अपने पास सुरक्षित रखे और कितना कच्चा माल अर्धतैयार माल के रूप में रखा जाए। इसके लिए कच्चे माल की उपलब्धि, क्रय लागत, यातायात की सुविधा, तैयार माल की बिक्री गति आदि तत्वों का विश्लेषण करके उत्पादन प्रबंधक एक मूल नीति निर्धारित कर लेता है ताकि एक ओर तो उत्पादन में निरंतरता बनाए रखने के लिए कच्चा माल आसानी से उपलब्ध कराया जा सके और दूसरी ओर कच्चे माल का अनावश्यक स्टाक न रख कर संभावित क्षीणता एवं अन्य व्ययों में कमी की जा सके। यदि कच्चे माल की लागत बढ़ती है तो इसका निश्चित प्रभाव तैयार माल के लागत मूल्य पर पड़ता है।

उत्पादन नियंत्रण : उत्पादन नियंत्रण कच्चे माल के नियंत्रण से भिन्न है। इसके अंतर्गत उत्पादन स्थल पर एक ओर तो उत्पादन के लिए कच्चे माल का निरंतर बहाव बनाए रखा जाता है और दूसरी ओर उन सब क्रमिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अर्धतैयार माल (वर्क इन प्रोग्रेस) नियंत्रित किया जाता है। अर्थात उत्पादन नियंत्रण एक ऐसा निर्देशन कार्य है जिसके द्वारा कच्चे माल को तैयार माल में बदलने के लिए प्रत्येक क्रमिक अवस्था व संबंधित प्रक्रिया को तब तक नियंत्रित किया जाता है जब तक कि माल तैयार नहीं हो जाता है। उत्पादन नियंत्रण के इस कार्य में मूल रूप से उत्पादन के विभिन्न साधनों से संबंधित कार्यों एवं क्रियाओं को एक साथ जोड़ कर समन्वित करना सम्मिलित है ताकि उत्पादन कार्य अधिकतम क्षमता एवं कुशलता से पूरा किया जा सके। यह तभी संभव है जब श्रमिक एवं मशीनों को इस प्रकार की क्रमिक प्रक्रियाओं द्वारा संयोजित एवं संतुलित किया जाए कि इन दोनों साधनों का अधिकतम प्रयोग किया जा सके और संभव अपव्यय व क्षीणता को न्यूनतम स्तर पर लाया जाए। उत्पादन नियंत्रण के निम्न चार चरण हैं :

(i) **क्रमबद्धीकरण (रूटीन)** : उत्पादन नियंत्रण के समस्त चरणों में क्रमबद्धीकरण का चरण सबसे अधिक जटिल समझा जाता है। इसके अंतर्गत वस्तुओं के उत्पादन के लिए एक विशेष मार्ग निर्धारित किया जाता है और यह निश्चित किया जाता है कि कौन सा कार्य किस श्रमिक द्वारा किस मशीन के ऊपर किस स्थान में किया जाएगा। इसके लिए क्रमबद्धीकरण का एक चार्ट तैयार किया जाता है जिसके अंतर्गत कार्यों के अनुक्रम एवं प्रयोग की जाने वाली मशीनों को दर्शाया जाता है, ताकि प्रत्येक कार्य करने के लिए निर्धारित मशीन को पूर्वनिश्चित क्रम में प्रयोग किया जा सके। यदि मशीन उस समय उपलब्ध न हो तो इसके लिए चार्ट में वैकल्पिक कार्यमार्ग भी निर्धारित कर लिया जाता है।

(ii) **सूचीकरण (सेड्यूलिंग)** : सूचीकरण का मुख्य कार्य यह निर्धारित करना है कि कार्य किस समय किया जाएगा। सूचीकरण के अंतर्गत प्रत्येक कार्य को प्रारंभ करने का समय तथा उस कार्य के पूरा होने का समय उल्लिखित रहता है। सूचीकरण को उत्पादन नियंत्रण का मुख्य अंग माना जाता है क्योंकि इसके अंतर्गत उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाएं, मशीन एवं श्रमिक समय के आधार पर एक दूसरे से संयोजित एवं समन्वित रहते हैं।

(iii) **क्रियान्वयन (इंप्लीमेंटेशन आर डिस्पैचिंग)** : उत्पादन नियंत्रण के इस चरण के अंतर्गत क्रमवद्धीकरण एवं सूचीकरण को कार्य रूप में साकार किया जाता है, क्योंकि क्रमबद्धीकरण एवं सूचीकरण इन दोनों चरणों के अंतर्गत उत्पादन से संबंधित जो कार्यक्रम निर्धारित किया जाता है, वह कागजी कार्यवाही मात्र है जिसे इस तीसरे चरण के द्वारा वास्तविक रूप से लागू किया जाता है। इस चरण के अंतर्गत उत्पादन कार्य क्रमबद्धीकरण एवं सूचीकरण के अनुसार निष्पादित करने के लिए आवश्यक आदेश जारी किए जाते हैं। इन्हीं आदेशों के माध्यम से संबंधित कर्मचारियों को कार्य करने से संबंधित अधिकार एवं शक्तियां प्रदान की जाती हैं।

(iv) **निरीक्षण (इंस्पेक्टिंग)** : उत्पादन कार्यों को पूर्वनिर्धारित क्रम एवं समयानुसार प्रारंभ करने का आदेश देने के पश्चात यह ज्ञात करना भी आवश्यक है कि प्रत्येक कार्य निर्धारित क्रम में एवं निश्चित समय पर प्रारंभ किया गया है या नहीं और यथासमय कार्य पूरा हो रहा है या नहीं। अर्थात निरीक्षण उत्पादन नियंत्रण का एक ऐसा चरण है जिसके द्वारा उत्पादन नियंत्रण के अन्य तीन चरणों की प्रगति एवं प्रभावशीलता का सही सही मूल्यांकन किया जाता है। इस चरण के अंतर्गत निर्धारित क्रम तथा समय की कार्य करने के वास्तविक क्रम एवं समय से तुलना करके अपवादित स्थितियां ज्ञात की जाती हैं और इसके लिए जिम्मेदार कारणों का विश्लेषण करके आवश्यक सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है, ताकि उत्पादन कार्य पूर्णतया निर्विघ्न रूप से निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार संचालित किया जा सके।

उत्पादित वस्तु की किस्म का नियंत्रण (क्वालिटी कंट्रोल) : उत्पादित की जाने वाली वस्तु की क़िस्म को नियंत्रित करना उत्पादन पद्धति के नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यदि किन्हीं कारणों से उत्पादित वस्तु में पूर्वनिर्धारित विशेषताएं विद्यमान नहीं रहती हैं तो इससे उत्पादन के क्षेत्र में अपव्ययों में वृद्धि होती है और दूसरी ओर यदि इस प्रकार की वस्तुएं ग्राहकों तक पहुंचाई जाएं तो इससे संस्था की साख विपरीत रूप से प्रभावित होती है। यही कारण है कि आज के प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक युग में उत्पादित वस्तु की किस्म नियंत्रित करना उत्पादन प्रबंध का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। उत्पादित वस्तु की किस्म के नियंत्रण से हमारा अभिप्राय यह है कि क्या उत्पादित वस्तु में पूर्वनिर्धारित रासायनिक, भौतिक एवं इंजीनियरिंग संबंधी विशेषताएं विद्यमान हैं। इसीलिए उत्पादित वस्तुओं की पूर्वनिर्धारित किस्म कायम रखने के लिए उत्पादन में प्रत्येक क्रमिक प्रक्रिया के पश्चात अर्धतैयार माल का निरीक्षण कर लिया जाता है और निरीक्षण का यह क्रम कच्चे माल को तैयार माल में बदलने तक जारी रखा जाता है ताकि वस्तु को पूर्वनिर्धारित विशेषताओं के साथ उत्पादित किया जा सके।

श्रम नियंत्रण : श्रम लागत भी उत्पादन लागत का एक महत्वपूर्ण अंग है अत: कुल उत्पादन लागत को नियंत्रित करने के लिए श्रम लागत का नियंत्रण आवश्यक है। श्रम लागत के नियंत्रण के लिए समय समय पर श्रमिकों द्वारा किए गए कार्य की उनके लिए निर्धारित कार्यमानों से तुलना की जाती है। अपवादित स्थितियों को ज्ञात करके संभव कारणों का विश्लेषण किया जाता है और उनकी कार्यक्षमता में सुधार करने के लिए आवश्यक सुधारात्मक कार्यवाही की जाती है। इसके अतिरिक्त उनका मनोबल ऊंचा बनाए रखने के लिए प्रेरणात्मक वेतन प्रणालियां लागू की जाती हैं। हालांकि श्रम नीतियों का निर्धारण कार्य संस्था के अन्य कार्यात्मक विभाग 'कर्मचारी प्रबंध विभाग' द्वारा किया जाता है—क्योंकि यह कार्य भी दिन प्रतिदिन विशिष्ट प्रकृति का होता जा रहा है—फिर भी श्रम लागत को प्रभावित करने वाले निर्णय या तो उत्पादन विभाग

को लेने चाहिए अथवा उसमें कर्मचारी प्रबंध विभाग द्वारा उत्पादन प्रबंधक को भी सम्मिलित करना चाहिए।

उत्पादन प्रबंध का महत्व

उत्पादन व्यवसाय का एक महत्वपूर्ण अंग है। व्यवसाय के क्षेत्र में विस्तार एवं विकास के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन एवं सेवाओं के सृजन कार्य को भी एक महत्वपूर्ण दिशा मिली। विशेष रूप से इस क्षेत्र को औद्योगिक क्रांति के पश्चात और महत्व मिला है। इसका प्रमुख कारण यह है विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में प्रगति के परिणामस्वरूप उत्पादन के लिए नई नई मशीनों, उपकरणों एवं प्रगतिशील उत्पादन विधियों के आविष्कार से उत्पादक वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर करने की ओर प्रोत्साहित हुआ। क्योंकि बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा के मध्य व्यवसाय के अस्तित्व को कायम रखने के लिए उत्पादन में विविधता लाना, उत्पादित वस्तुओं की किस्म में सुधार करना तथा उत्पादन लागत में पूर्ण नियंत्रण रखना आवश्यक समझा गया। उत्पादन के क्षेत्र में इन जटिलताओं एवं समस्याओं को सुलझाने के लिए उत्पादन विभाग को भी संस्था के एक महत्वपूर्ण कार्यात्मिक विभाग के रूप में मान्यता दी गई, ताकि उत्पादन क्षेत्र की इन विशिष्ट प्रकृति की क्रियाओं को उपयुक्त, विशिष्ट ज्ञान वाला व्यक्ति संचालित एवं नियंत्रित कर सके।

व्यवसाय में उत्पादन प्रबंध का महत्व निम्न तत्वों के आधार पर भलीभांति समझा जा सकता है:

1. मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं का निरंतर उत्पादन एवं सृजन : उत्पादन प्रबंध व्यावसायिक संस्था का एक ऐसा कार्य है जिसके अंतर्गत उत्पादन के विभिन्न साधनों (भूमि, भवन, पूंजी, श्रम, कच्चा माल एवं मशीन आदि) को जुटाकर मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन एवं सृजन करने हेतु इन विभिन्न साधनों का अनुकूलतम संयोजन तैयार किया जाता है, और इस संपूर्ण प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के कच्चे माल को विभिन्न प्रक्रियाओं एवं कार्यों के परिणामस्वरूप निश्चित आकार की वस्तुओं में परिणत किया जाता है जो अंतिम रूप से मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

2. उपयोगिता सृजन : संस्था का उत्पादन विभाग प्राकृतिक एवं भौतिक साधनों से प्राप्त कच्चे माल को विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र की प्रगति के परिणामस्वरूप उपलब्ध नई मशीनों, उपकरणों तथा उत्पादन विधियों का प्रयोग करके उसमें उपयोगिता का सृजन करता है जिससे उत्पादित वस्तु विशिष्ट उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाई जा सकती है। उत्पादन प्रबंध के विशिष्ट कार्यों के निष्पादन के अभाव में प्राप्त कच्चे माल में पर्याप्त स्वरूप की उपयोगिता नहीं लाई जा सकती है और न प्राकृतिक एवं भौतिक साधनों से प्राप्त कच्चे माल का सदुपयोग मानव आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही किया जा सकता है।

3. उत्पादित वस्तुओं की किस्म में सुधार : उत्पादन नियंत्रण तथा उत्पादित वस्तु की किस्म का नियंत्रण उत्पादन प्रबंध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य के माध्यम से उत्पादित वस्तु को पूर्वनिर्धारित रासायनिक, भौतिक एवं इंजीनियरिंग विशेषताओं के अनुरूप बनाए रखने के लिए उत्पादन प्रबंधक कच्चे माल के प्रत्येक प्रक्रिया में प्रयोग एवं उसके पूर्वानुमानित स्वरूप को पूर्णतया नियंत्रित रखता है ताकि तैयार माल की किस्म पूर्णतया नियंत्रित रखी जा सके और उसमें आवश्यक सुधार किए जा सकें। उत्पादित वस्तुओं की किस्म में नियंत्रण एवं सुधार केवल ग्राहकों के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि इससे

संस्था अपनी प्रतियोगी संस्था पर विजय भी प्राप्त कर सकती है और ग्राहकों का विश्वास बनाए रख सकती है। उत्पादित वस्तु की किस्म में नियंत्रण रखने एवं उसे सुधारने के लिए उत्पादन विभाग निरीक्षण, सांख्यिकी नियंत्रण पद्धति तथा स्वीकृति नमूना आदि आधुनिक विधियों का प्रयोग करता है। यह तभी संभव है जब संस्था में संपूर्ण उत्पादन कार्य सुचारु रूप से नियोजित एवं नियंत्रित हो।

4. उत्पादन के मानवीय एवं गैर मानवीय साधनों का कुशल प्रयोग : उत्पादन प्रबंध के अंतर्गत संस्था में उत्पादन कार्य को छोटे छोटे उपकार्यों एवं क्रियाओं में विभाजित करके प्रत्येक कार्य को निष्पादित करने हेतु समय, स्थान, मशीन तथा श्रमिक को एक दूसरे से इस प्रकार एकीबद्ध, संतुलित एवं समन्वित किया जाता है कि मशीन एवं श्रम का अधिकतम प्रभावशाली प्रयोग किया जा सके। इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का कुशल प्रयोग करने हेतु 'संयंत्र विन्यास' (प्लांट ले आउट) के अंतर्गत उनके प्रयोग के लिए विस्तृत रूपरेखा तैयार कर ली जाती है। इस प्रकार उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण कार्यों की विद्यमानता से संस्था उत्पादन के प्रत्येक उपलब्ध साधन का अधिकतम कुशलतापूर्ण एवं प्रभावशाली प्रयोग कर सकती है क्योंकि उत्पादन प्रबंध में प्रत्येक साधन एक दूसरे से वैज्ञानिक ढंग से तैयार क्रम में संयोजित, समन्वित एवं संचालित किया जाता है।

5. व्यावसायिक उद्देश्यों की सफलतापूर्वक प्राप्ति में सहायक : उत्पादन प्रबंध के क्षेत्र में उत्पादन प्रबंधक द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनका संस्था की अन्य क्रियाओं पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतः यदि उत्पादन कार्य से संबंधित निर्णय सही प्रकार से लिए जाएं और उन्हें प्रभावशील ढंग से क्रियान्वित किया जाए तो इससे उत्पादन कार्य को सुचारु रूप से संचालित किया जा सकता है। संपूर्ण व्यावसायिक संस्था की सफलता इस पर निर्भर करती है और इससे संस्था को अपने मूल उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

6. लागत नियंत्रण एवं उसमें कमी : उत्पादन विभाग द्वारा उत्पादन कार्य को नियोजित एवं नियंत्रित करने के लिए नई नई प्रभावशाली उत्पादन विधियों का प्रयोग किया जाता है और समस्त उत्पादन के साधनों को एक वैज्ञानिक क्रम में एक दूसरे से संयोजित, संतुलित एवं समन्वित किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर तो इन साधनों का अधिकतम कुशलतापूर्वक प्रयोग हो पाता है और दूसरी ओर उत्पादन के लिए प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल, अर्धतैयार माल, मशीन, उपकरण तथा श्रम में संभावित क्षीणता एवं संबंधित अपव्यय कम हो जाते हैं जिसका अंतिम प्रभाव उत्पादन लागत पर पड़ता है और उत्पादन लागत निश्चित रूप से कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन प्रबंध के अंतर्गत उत्पादन की प्रत्येक प्रक्रिया में कुल लागत में सम्मिलित समस्त तत्वों का विश्लेषण करके उत्पादन लागत पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाता है।

7. बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययताओं की प्राप्ति : उत्पादन प्रबंध के क्षेत्र में विकसित नई नई कार्यविधियों और नियंत्रण की विभिन्न प्रणालियों के परिणामस्वरूप व्यावसायिक संस्था के लिए बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करना संभव हुआ है और संस्था बड़े पैमाने पर वस्तुओं का वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन करके तमाम मितव्ययताएं प्राप्त कर सकती है जिससे एक ओर तो वस्तुएं निरंतर रूप से ग्राहकों को उपलब्ध कराई जा सकती हैं और दूसरी ओर उनकी किस्म में सुधार करते हुए उत्पादन लागत को नियंत्रित किया जा सकता है।

उत्पादन प्रबंध के महत्व का ऊपर जो वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि उत्पादन प्रबंध संस्था में उत्पादन कार्य को नियोजित एवं नियंत्रित करने में ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि संस्था में यदि वस्तुओं का उत्पादन कुशल उत्पादन प्रबंध की विधियों एवं

प्रणालियों के अंतर्गत किया जाता है तो इससे संस्था समाज के तमाम साधनों का प्रभाव-शाली प्रयोग कर उचित किस्म की वस्तुएं उचित मूल्यों पर समाज को प्रदान कर सकती है जिससे निश्चित रूप में समाज भी लाभान्वित होता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन प्रबंध की व्यवस्था के अंतर्गत कार्यविभाजन एवं वैज्ञानिक क्रम में कार्य के निष्पादन से श्रम का कुशल प्रयोग संभव है जिससे उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है और जिसका लाभ प्रेरणात्मक वेतन प्रणाली के द्वारा वेतन प्राप्त करने के रूप में तथा अन्य वित्तीय एवं गैर वित्तीय अनुप्रेरकों के रूप में श्रमिकों को भी प्राप्त होता है।

परिशिष्ट

लघु व्यवसाय

संपूर्ण व्यावसायिक क्षेत्र मे जो समस्त व्यावसायिक इकाइयां संलग्न रहती हैं उन्हें मुख्य रूप से उनके द्वारा संचालित की जाने वाली व्यावसायिक क्रिया के आकार, उनमें कार्य-रत कर्मचारियों की संख्या और उनमें विद्यमान प्रबंधकीय ढांचा आदि तत्वों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, बड़े आकार की संस्थाएं, द्वितीय, मध्यस्तरीय संस्थाएं एवं तृतीय, लघुस्तरीय संस्थाएं।

बड़े आकार की संस्थाएं मुख्य रूप से सार्वजनिक कंपनी तथा कुछ दशाओं में निजी कंपनी एवं साझेदारी के स्वरूप के अंतर्गत संगठित की जाती है जिनके द्वारा काफी बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोजन करके बड़े पैमाने पर व्यावसायिक क्रिया की जाती है और तुलनात्मक रूप से कही अधिक संख्या में व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक संस्थाओं को, जिनमें स्थाई संपत्ति पर कुल पूंजी का विनियोजन बड़े आकार की संस्थाओं से कम हो, मध्यस्तरीय संस्थाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। लघुस्तरीय संस्थाएं ऐसी संस्थाएं है जिनमे पूंजी का विनियोजन तथा कार्यरत श्रमिकों की संख्या मध्यस्तरीय संस्थाओं से भी कम हो तथा जिनके प्रबंध-कीय ढांचे में विशिष्टीकरण का पूर्ण अभाव हो।

व्यवसाय शब्द काफी व्यापक एवं विस्तृत है। इसमें केवल उत्पादन कार्य में संलग्न संस्थाएं ही सम्मिलित नहीं हैं बल्कि वितरण कार्य तथा सहायक क्रियाएं संचालित करने वाली संस्थाएं भी व्यवसाय में ही सम्मिलित है। लघु व्यवसाय से हमारा अभिप्राय ऐसी व्यावसायिक संस्था से है जिसका प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण स्वामित्व पर आधारित होता है जिसके अंतर्गत मानव आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पा-दन या वितरण या अन्य सहायक कार्य तुलनात्मक रूप से छोटे पैमाने पर किया जाता है। हालांकि इस परिभाषा से लघु व्यवसाय की लगभग समस्त मूल विशेषताएं ज्ञात की जा सकती हैं, पर व्यवहार में व्यावसायिक संस्थाओं का इस प्रकार का वर्गीकरण अलग अलग उद्देश्य के लिए अलग अलग तत्वो को दृष्टि मे रख कर किया जाता है अतः केवल एक तत्व ही इस वर्गीकरण या लघु व्यवसाय की मूल विचारधारा को समझने के लिए निर्णायक नही समझा जाना चाहिए। लघु व्यवसाय में भी विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक इकाइयां कार्यरत रहती हैं। कुछ उत्पादन का कार्य करती है तो कुछ वितरण का और कुछ संस्थाएं वितरण के कार्य को सुगम बनाने के लिए अन्य सहायक कार्य, जैसे याता-यात, बीमा, संग्रहण आदि करती हैं।

लघु व्यवसाय शब्द को परिभाषित करने के संबंध मे उद्देश्य की विविधता इस क्षेत्र की मूल विशेषताओं के बारे में संदेहजनक स्थिति उत्पन्न करती है, जैसे 'कारखाना अधिनियम' के अनुसार, लघु कारखाना एक ऐसा कारखाना है जिसमें कम से कम 10

श्रमिक और अधिकतम 49 श्रमिक कार्यरत हों। इसी प्रकार पूंजी के विनियोजन के आधार पर लघु उद्यम में वे सारी संस्थाएं सम्मिलित हैं जिनके अंतर्गत स्थाई संपत्तियों के ऊपर पूंजी का विनियोजन 10 लाख रु० से अधिक न हो और सहायक उद्यम में यह विनियोजन 15 लाख रु० से अधिक न हो। प्रबंध में विशिष्टता के आधार पर लघु व्यवसाय में वे संस्थाएं सम्मिलित की जाती हैं जिनके प्रबंध में विशिष्टीकरण का पूर्ण अभाव रहता है अर्थात संस्था का स्वामी स्वयं अपने व्यवसाय से संबंधित समस्त प्रबंधकीय कार्य निष्पादित करता है।

अमरीका में लघु व्यवसाय अधिनियम के अनुसार, 'लघु व्यावसायिक संस्था एक ऐसी संस्था है जिसका स्वामित्व एवं संचालन स्वतंत्र होता है और जो अपने व्यवसाय के क्षेत्र में प्रबल संस्था नहीं होती है।' इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट बनाने के लिए लघु व्यावसायिक संस्था के लिए निम्न दो मापदंड भी निर्धारित किए गए हैं :

(अ) उत्पादन कार्य में संलग्न उस संस्था को लघु व्यावसायिक संस्था कहा जाएगा जिसमें 250 से कम संख्या में श्रमिक कार्यरत हों।

(ब) वितरण कार्य में संलग्न व्यावसायिक संस्था को लघु व्यवसाय के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए, (i) यदि संस्था वस्तुओं का थोक व्यापार कर रही हो तो संस्था की कुल वार्षिक बिक्री 50 लाख डालर से अधिक नहीं होनी चाहिए, (ii) फुटकर व्यापार की दशा में संस्था की कुल वार्षिक बिक्री 10 लाख डालर से अधिक न हो, (iii) सहायक सेवाएं प्रदान करने वाली संस्था तब लघु व्यावसायिक संस्था कहलाएगी यदि संस्था की कुल वार्षिक आय (रिसीट) 10 लाख डालर से अधिक न हो।

लघु व्यवसाय की उपरोक्त परिभाषा काफी व्यापक है क्योंकि इसमें समस्त व्यावसायिक कार्यों के लिए अलग अलग मापदंड निर्धारित किए गए हैं, पर भारतवर्ष में लघु व्यवसाय को केवल स्थाई संपत्ति में पूंजी के विनियोजन को आधार मान कर ही मान्यता प्रदान की जाती रही है। इसीलिए आमतौर पर लघु व्यवसाय का अर्थ लघु उद्योग से ही लगाया जाता है क्योंकि उत्पादन कार्य में स्थाई संपत्ति पर विनियोजन वितरण कार्य की तुलना में निश्चित रूप से अधिक होता है। भारत में प्रचलित विचारधारा के अनुसार लघु व्यवसाय को इन तीन वर्गों में बांटा जाता है : प्रथम, सामान्य लघु व्यवसाय, जिसमें स्थाई संपत्ति में कुल पूंजी का विनियोजन 10 लाख रु० से अधिक न हो। द्वितीय, अति लघु व्यवसाय (टिनी इंटरप्राइजेज) जिनमें स्थाई संपत्ति में कुल पूंजी का विनियोजन 1 लाख रु० से अधिक न हो। और तृतीय, सहायक उद्यम (एनसिलेरीज) जिसमें इस प्रकार पूंजी का विनियोजन 15 लाख रु० से अधिक न हो।

इसके अतिरिक्त लघु व्यावसायिक संस्था को उत्पादन के लिए प्रयोग की जाने वाली उत्पादन विधि तथा उपकरणों के प्रयोग के आधार पर पुनः इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है : (1) लघु उद्योग, जिसके अंतर्गत मशीन तथा अन्य यांत्रिक उपकरणों का प्रयोग करके इस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनका बाजार तुलनात्मक रूप से अधिक व्यापक एवं विस्तृत होता है। (2) कुटीर उद्योग, इन उद्योगों में स्थानीय साधनों का अधिकतम प्रयोग करके छोटे पैमाने पर हस्तकौशल एवं उत्पादन की परंपरागत विधियों का प्रयोग करके स्थानीय मांग को पूरा करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

लघु व्यवसाय की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने से लघु व्यावसायिक संस्था की निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती हैं :

व्यावसायिक क्रिया का आकार : लघु उपक्रम द्वारा जो व्यावसायिक क्रिया संचालित की जाती है उसका आकार निश्चित रूप से सीमित एवं छोटा होता है। चाहे वह उत्पादन कार्य हो अथवा वितरण कार्य या दोनों का मिश्रण, जहां तक आकार को मापने का प्रश्न है उत्पादक संस्था में उत्पादन की मात्रा के अनुसार, वितरण में संलग्न संस्था में कुल बिक्री आकार के आधार पर तथा सहायक कार्य करने वाली संस्था में कुल वार्षिक प्राप्ति के आधार पर यह आकार मापा जा सकता है।

आर्थिक साधनों का विकेंद्रीकरण : लघु व्यावसायिक संस्थाओं का आकार तथा उनमें पूंजी का विनियोजन सीमित होता है। इसके फलस्वरूप देश के आर्थिक साधनों पर नियंत्रण काफी हद तक विकेंद्रीकृत होता है क्योंकि समस्त आर्थिक साधन अधिक संख्या के लघु व्यवसायियों में वितरित रहते हैं।

असीमित दायित्व : लघु व्यवसाय सामान्य तौर से एकल व्यापार, साझेदारी तथा कुछ दशाओं में निजी कंपनी के स्वरूपों के अंतर्गत संचालित किया जाता है जिनमें सम्मिलित सदस्यों का दायित्व असीमित होता है अर्थात यदि व्यवसाय में देनदारियों को पूर्णतया व्यवसाय की संपत्ति से नहीं चुकाया जा सके तो शेष देयता व्यवसायी या व्यवसायियों की व्यक्तिगत संपत्ति से चुकाई जाती है।

सीमित बाजार : लघु व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है अधिकांश दशाओं में उन वस्तुओं से स्थानीय मांग ही पूरी की जाती है। हालांकि अब इनके विस्तार एवं विकास की जो योजनाएं क्रियान्वित की जा रही है उनसे निश्चित रूप से इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बाजार का भी विस्तार हो रहा है। यहां तक कि अब इनका उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बेचा जा रहा है।

सरकारी प्रोत्साहन : देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में लघु व्यवसाय की महत्व-पूर्ण भूमिका को दृष्टि में रखते हुए सरकार एक ओर जहा बड़े आकार की संस्थाओं को कई प्रकार से नियंत्रित कर रही है, वहीं दूसरी ओर लघु व्यवसाय को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जैसे वित्तीय सुविधाएं प्रदान करना, कच्चा माल उपलब्ध कराना और अन्य संरक्षण प्रदान करना आदि।

संगठनात्मक एवं प्रबंधकीय ढांचे से संबंधित विशेषताएं : जैसाकि लघु व्यवसाय की परि-भाषा के समय बताया जा चुका है, लघु व्यवसाय में मुख्य प्रबंधकीय विशेषता यह है कि इसके प्रबंध, संचालन एवं नियत्रण में विशिष्टीकरण का अभाव है। इसके प्रबंध-कीय ढांचे में इसके अतिरिक्त निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. लघु व्यावसायिक संस्थाओं का प्रबंधकीय ढांचा सरल एवं आसान होता है।

2. इन संस्थाओं के प्रबंधकीय ढांचे में नियोजन एवं योजनाओं के क्रियान्वयन का कार्य प्रबंधक की हैसियत से स्वयं व्यवसाय के स्वामी द्वारा किया जाता है।

3. लघु संस्थाओं का स्वामित्व उनके प्रबंध, संचालन एवं नियंत्रण से पृथक नहीं होता है, क्योंकि अधिकांश दशाओं में व्यवसाय का स्वामी ही संस्था के व्यवसाय को प्रबं-धित, संचालित एवं नियंत्रित करता है।

4. लघु व्यवसाय में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या चूंकि अधिक नहीं होती है, इस-लिए संस्था का स्वामी प्रभावशील ढंग से उनके कार्य का निरीक्षण एवं नियंत्रण कर सकता है।

5. व्यावसायिक क्रिया का आकार छोटा होने के फलस्वरूप लघु व्यवसाय में संचार की विधियां भी काफी संक्षिप्त होती हैं। अधिकांश दशाओं में आंतरिक संचार मौखिक रूप से ही किया जाता है।

6. लघु व्यवसाय अधिकांश दशाओं में एकल व्यापार के स्वरूप के अंतर्गत संचालित

किए जाते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ दशाओं में साझेदारी व निजी कंपनी के स्वरूपों को भी इस उद्देश्य के लिए अपनाया गया है। अभी तक 1.4 लाख इकाइयों के संगठनात्मक ढांचे के अध्ययन से यह तथ्य ज्ञात हुआ है कि इन समस्त इकाइयों में से लगभग 61% इकाइयां एकल व्यापार के स्वरूप के अंतर्गत, 35% साझेदारी के स्वरूप में और 3% इकाइयां सीमित दायित्ववाली कंपनी के स्वरूप के अंतर्गत संचालित की जा रही हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि लघु व्यावसायिक संस्थाओं का संगठनात्मक ढांचा मुख्य रूप से एकल व्यापार और साझेदारी के स्वरूपों पर ही आधारित है।

जीवन निर्वाह का साधन : लघु व्यावसायिक संस्थाएं, विशेष रूप से अति लघु संस्थाएं जीविका उपार्जन करने का साधन भी हैं। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि शिक्षित बेरोजगार लोग उपयुक्त रोजगार के अभाव में व्यवसाय को ही अपना भविष्य समझकर प्रारंभ कर रहे हैं और इस प्रकार अन्य व्यक्तियों को भी रोजगार का अवसर प्रदान कर रहे हैं।

लघु व्यवसाय की ऊपर वर्णित विशेषताओं से यह प्रतीत होता है कि व्यावसायिक ढांचे का यह एक ऐसा अंग है जो सीमित पूंजी से, छोटे आकार पर, विशेष रूप से स्थानीय साधनों का पूर्ण प्रयोग करने हेतु एकल व्यापार एवं साझेदारी संस्थाओं की भांति संचालित, प्रबंधित एवं नियंत्रित किया जाता है।

लघु व्यवसाय के लाभ

लघु व्यवसाय व्यावसायिक ढांचे का एक महत्वपूर्ण अंग समझा जाता है। देश के आर्थिक एव औद्योगिक विकास में निश्चित रूप से लघु व्यावसायिक संस्थाओं के द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। चाहे कोई देश विकासशील हो अथवा विकसित, प्रत्येक स्थिति में लघु व्यवसाय का स्थान काफी महत्वपूर्ण रहा है। अमरीका जैसी विकसित अर्थव्यवस्था में भी 40 लाख व्यावसायिक संस्थाओं में से लगभग 95% संस्थाओं में 20 से कम संख्या में श्रमिक कार्यरत हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि विकासशील ही नहीं बल्कि विकसित अर्थव्यवस्था में भी संपूर्ण व्यावसायिक ढांचे में इनकी लोकप्रियता कम नहीं है। लघु व्यवसाय की इस प्रबल भूमिका एवं लोकप्रियता के कुछ मुख्य कारण जिन्हें लघु व्यवसाय के लाभ भी कहा जा सकता है, निम्न हैं :

1. लघु व्यवसाय वास्तव में संपूर्ण व्यावसायिक ढांचे में रिक्तपूर्ति का कार्य करता है, क्योंकि कुछ विशेष स्थितियों में, जहां व्यावसायिक क्रिया लघु आकार में ही संचालित की जा सकती है। लघु व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा व्यावसायिक क्रिया संचालित करके मानव आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकी है जैसे वस्तुओं के वितरण कार्य में फुटकर व्यापार, थोक व्यापार की भूमिका और स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए छोटे पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने वाली संस्थाएं आदि।

2. लघु व्यवसाय में व्यवसायी का असीमित दायित्व उसके लिए अधिक परिश्रम, ईमानदारी एवं सावधानी से कार्य करने में प्रेरणात्मक सिद्ध हुआ है और असीमित दायित्व की विद्यमानता से प्रभावित होकर बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से व्यवसायी को आसानी से ऋण आदि की सुविधा प्राप्त होती है।

3. देश के शिक्षित बेरोजगारों के लिए उपयुक्त रोजगार के अभाव में लघु व्यवसाय जीविकोपार्जन का साधन प्रदान करता है। कोई भी शिक्षित व्यक्ति सीमित मात्रा की पूंजी जुटा कर, बिना किसी कठिनाई के लघु स्तर पर व्यावसायिक क्रिया प्रारंभ कर सकता है।

4. लघु व्यवसाय का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसे सरकार के द्वारा समय समय पर

रियायती दरों पर वित्तीय सुविधाएं, कच्चा माल उपलब्ध कराने में सहायता दी जाती है और बड़े आकार की संस्थाओं के विरुद्ध इन्हें संवर्धित एवं प्रोत्साहित करने के लिए विशेष वस्तुओं का व्यवसाय पूर्णतया इनके लिए सुरक्षित किया जाना आदि अन्य सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं।

5. लघु व्यवसाय जीवननिर्वाह करने का ही साधन नहीं है, इससे पूंजी निर्माण में भी सहायता मिलती है, क्योंकि एक ओर वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है जिससे रोजगार के अवसर सृजित होते हैं और बचत के माध्यम से पूंजी का निर्माण होता है।

6. लघु व्यवसाय के विकास और विस्तार से देश के आर्थिक साधनों का विकेंद्रीकरण संभव है, क्योंकि लघु व्यवसायियों की अधिक संख्या में विद्यमानता के कारण आर्थिक साधनों का नियंत्रण उनमें बंट जाता है।

7. लघु व्यवसाय मूलत: छोटे पैमाने पर संचालित किया जाता है। इसके लिए अधिक विशिष्ट प्रबंधकीय निपुणता एवं दक्षता की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि व्यवसाय की क्रियाएं छोटे पैमाने पर होने के फलस्वरूप उनमें तुलनात्मक रूप से कम जटिलता होती है।

8. कुछ लघु व्यावसायिक संस्थाएं स्थानीय स्तर पर ही कार्य करती हैं और उसी कच्चे माल से वस्तुएं उत्पादित करती हैं जो उसी स्थान विशेष में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो। इस प्रकार वस्तुओं के स्थानीय उत्पादन से वस्तुएं उस स्थान विशेष में सस्ते दामों पर उपलब्ध होती हैं।

9. लघु व्यवसाय में लोच का गुण भी विद्यमान होता है क्योंकि लघु व्यवसायी ग्राहकों की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने उत्पादन कार्यक्रम में अथवा वितरण क्रमावली में आसानी से अनुकूल परिवर्तन कर सकता है।

10. इसके अतिरिक्त लघु व्यवसाय विशेष रूप से निम्न स्थितियों में अधिक लाभप्रद एवं उपयोगी समझा जाता है, यदि :

(i) कच्चा माल एवं तैयार माल शीघ्र नष्टवान हो।
(ii) वस्तु का बाजार स्थानीय, विशिष्ट एवं सीमित हो।
(iii) व्यवसाय में व्यक्तिगत निरीक्षण की अधिक आवश्यकता हो।

11. लघु व्यवसाय में व्यावसायिक क्रिया का आकार छोटा होने के कारण कम संख्या में कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं और उनके कार्यों को उद्देश्य प्राप्ति हेतु समन्वित करना बड़े व्यवसाय की तुलना में काफी आसान होता है।

लघु व्यवसाय के दोष

लघु व्यवसाय में ऊपर वर्णित लाभों के अतिरिक्त कुछ दोष भी हैं। इन दोषों में से अधिकांश स्वयं व्यवसाय के लघु आकार में निहित हैं। इसके मुख्य दोष निम्न हैं :

1. लघु व्यवसाय का प्रमुख दोष यह है कि इसमें व्यवसाय के लिए स्थाई संपत्ति क्रय करने हेतु दीर्घकालीन पूंजी का सदैव अभाव बना रहता है जिससे व्यवसाय का विस्तार एवं विकास विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं। क्योंकि पर्याप्त वित्त के अभाव में न तो नया व्यवसाय प्रारंभ किया जा सकता है और न विस्तार की योजनाएं ही साकार की जा सकती हैं।

2. व्यावसायिक क्रिया का संचालन दिन प्रतिदिन जटिल एवं कठिन होता जा रहा है। इसके लिए व्यवसाय से संबंधित प्रत्येक क्रिया के निष्पादन के लिए विशिष्ट ज्ञान व कुशलता की आवश्यकता होती है। यह स्वाभाविक है कि व्यवसायी को जो व्यवसाय की समस्त क्रियाओं को अधिकांश दशाओं में स्वयं निष्पादित करता है, प्रत्येक क्रिया से

संबंधित विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है जिसके फलस्वरूप व्यवसाय की समस्त क्रियाएं सुचारु ढंग से एवं कुशलतापूर्वक निष्पादित नहीं की जाती हैं।

3. लघु व्यावसायिक संस्था जिस क्षेत्र में व्यवसाय प्रारंभ करती है उस क्षेत्र में संस्था की स्थिति मजबूत नहीं होती है जिसके कारण वस्तु के उत्पादन, बाजार आदि से संबंधित तत्वों पर संस्था को बड़ी व्यवसायिक संस्थाओं द्वारा तैयार की गई नीति का अनुसरण करना पड़ता है।

4. औसत रूप से लघु व्यावसायिक संस्थाएं अपने व्यवसाय से संबंधित शोध एवं विकास कार्य को भी प्रभावशील ढंग से संचालित नहीं कर सकती हैं क्योंकि न तो लघु व्यवसायी के पास पर्याप्त समय होता है और न इस कार्य के लिए पर्याप्त वित्त ही।

लघु व्यवसाय के उपरोक्त लाभ व दोषों का विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लघु व्यवसाय में कुछ दोषों के बावजूद यदि इस क्षेत्र के विकास के लिए देश की सरकार अनुकूल एवं निश्चित नीतियों तथा कार्यक्रमों को तैयार करके उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करे तो व्यवसाय का यह अंग निश्चित रूप से देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में और अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एवं औद्योगिक विकास में लघु व्यवसाय का महत्व

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लघु व्यवसाय केवल विकसित अर्थव्यवस्था में ही नहीं बल्कि विकासशील अर्थव्यवस्था में भी औद्योगिक विकास का एक प्रबल माध्यम सिद्ध हुआ है। भारत जैसे विकासशील देश में इसका विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हालांकि गत बीस वर्षों में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की जो स्थिति रही है उससे यह स्पष्ट होता है कि देश के औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए सरकार ने बड़े आकार की व्यावसायिक संस्थाओं के विकास और विस्तार पर ही अधिक बल दिया है जिसके फलस्वरूप देश के आर्थिक साधनों का केंद्रीकरण होता गया तथा आर्थिक साधनों के ऊपर कुछ ही गिनी चुनी बड़ी संस्थाओं का नियंत्रण बढ़ा। इस स्थिति में धीरे धीरे यह अनुभव किया गया कि कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था को सबल बनाने के लिए बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं की अपेक्षा लघु व्यावसायिक संस्थाएं अधिक योगदान प्रदान कर सकती हैं। बशर्ते उनके विकास एवं विस्तार के लिए सरकार कोई निश्चित नीति निर्धारित करे और उसे प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करे।

बड़े आकार की व्यावसायिक संस्थाओं के विकास एवं विस्तार से उत्पन्न आर्थिक साधनों के केंद्रीकरण एवं एकाधिकार की स्थिति के अतिरिक्त इन संस्थाओं के केवल शहरी इलाकों में बढ़ते हुए फैलाव से देश का औद्योगिक विकास विपरीत रूप से प्रभावित हुआ है। इसीलिए देश के उद्योगीकरण का संतुलित विकास करके औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए सरकार गत कुछ वर्षों से लघु व्यवसाय को लगातार विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन देती आ रही है। केंद्र में जनता सरकार की स्थापना के पश्चात इस क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने के लिए, विशेष रूप से विभिन्न औद्योगिक एवं आर्थिक योजनाओं के अंतर्गत विभिन्न व्यवस्थाएं की गई हैं। 1972 में लघु उपक्रमों की संख्या 1.5 लाख थी। इनमें 1050 करोड़ रु० की पूंजी विनियोजित थी और इनके द्वारा किए गए सकल उत्पादन का मूल्य 2903 करोड़ रु० था। 1975 के अंत तक इनकी संख्या बढ़ कर 5.30 लाख हो गई। इनके द्वारा 3929 करोड़ रु० का उत्पादन किया गया। इनमें कुल विनियोजित पूंजी 1500 करोड़ रु० थी। 1977 के अंत तक इनके द्वारा किया गया उत्पादन बढ़कर 7570 करोड़ रु० हो गया जो कुल औद्योगिक उत्पादन का 42% है। इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि देश के औद्योगिक विकास में इनकी भूमिका

बड़े आकार की संस्थाओं के योगदान से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

जहां तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में लघु व्यवसाय के योगदान का प्रश्न है, 1972 में इनके द्वारा किया गया कुल निर्यात 150 करोड़ रु० का था जो 1977 में बढ़कर 875.23 करोड़ हो गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि लघु व्यवसाय सरकार के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है।

बेरोजगारी की समस्या को हल करने में भी लघु व्यवसाय का क्षेत्र काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। लघु व्यवसाय ने बड़े आकार की संस्थाओं की तुलना में कहीं अधिक रोजगार के अवसर प्रदान किए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लघु व्यवसाय मुख्य रूप से श्रम पर आधारित है और इसमें मशीन तथा अन्य उत्पादन उपकरणों की अपेक्षा श्रमिकों के हस्तकौशल आदि का अधिक प्रयोग किया जाता है, जिससे रोजगार के अवसर सृजित करने की इनकी क्षमता पूंजी के अनुपात में बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं की अपेक्षा काफी अधिक है। इस संबंध में उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार यदि लघु व्यवसाय में 500 करोड़ रु० की धनराशि विनियोजित की जाए तो इससे 10 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हो सकता है। 1972 में इन लघु व्यवसायों में लगभग 16.53 लाख व्यक्ति रोजगार पर थे और 1977 तक इनके द्वारा 29 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल चुका है। तबसे लगातार रोजगार प्रदान करने की इनकी क्षमता में वृद्धि हुई है, क्योंकि इस संबंध में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका को दृष्टि में रखते हुए केंद्रीय सरकार व राज्य सरकारों ने इनके विकास को अधिक प्रोत्साहित किया है।

इसके अतिरिक्त देश के औद्योगिक विकास को संतुलित रूप से आगे बढ़ाने के लिए भी सरकार का ध्यान इस क्षेत्र के विकास की ओर आकृष्ट हुआ है और विशेष रूप से देश के उन ग्रामीण क्षेत्रों को जो अभी तक काफी पिछड़े हुए हैं, विकसित करने के उद्देश्य से सरकार इन क्षेत्रों में लघु व्यवसायियों को व्यवसाय प्रारंभ करने के लिए रियायती दरों पर ऋण की सुविधाएं देकर और कच्चे माल को सस्ती दरों पर उपलब्ध कराके प्रोत्साहित कर रही है।

राज्य स्तर पर लघु उपक्रमों के विकास में कुछ गिने चुने राज्य, जैसे महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब, गुजरात एवं हिमाचल प्रदेश काफी अधिक आगे रहे हैं और इन राज्यों में समस्त लघु उपक्रमों के लगभग 60% उपक्रम स्थित हैं। इनमें सबसे अधिक लघु उपक्रम महाराष्ट्र में हैं जिनकी कुल संख्या 40,000 है और जिनके द्वारा 7 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हुआ है।

संक्षेप में, भारत जैसे देश के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के लिए लघु उपक्रम वरदान सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनकी मौजूदगी और विस्तार से आर्थिक साधनों के केंद्रीकरण पर कुछ हद तक रोक लगी है। बेरोजगारी की समस्या को हल करने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। औद्योगिक विकास संतुलित रूप से हो पा रहा है और ये उपक्रम घरेलू उपभोग के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुएं बेचकर विदेशी मुद्रा अर्जित करने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं।

लघु व्यवसाय संबंधी सरकारी कार्यक्रम एवं नीतियां

लघु उपक्रमों का देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान होते हुए भी इनका विकास एवं विस्तार संतोषजक नहीं रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सरकार अभी तक इस क्षेत्र के विकास के संवर्धन के लिए निश्चित नीति और कार्यक्रम तैयार नहीं कर पाई और जो नीति एवं कार्यक्रम बनाए भी गए हैं उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित नहीं किया गया है।

सरकार ने 1956 एवं 1977 में घोषित अपनी औद्योगिक नीति में लघु व्यवसाय के क्षेत्र का विकास करने के लिए विशिष्ट रूप से कई कार्यक्रम लागू किए हैं जिनके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(अ) न्यूनतम पूंजी का विनियोजन करके अधिक रोजगार के अवसर सृजित करना,
(ब) उपभोक्ता एवं उत्पादक माल की बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करना,
(स) उद्योग में लघु उपक्रम एवं बड़ी संस्थाओं के बीच आंतरिक संबंध स्थापित करना,
(द) उत्पादन की नई विधियों से श्रम की उत्पादकता बढ़ाना एवं उत्पादित वस्तु की किस्म में सुधार करना,
(य) औद्योगिक विकास को संतुलित करना और राष्ट्रीय आय का समान वितरण करना ।

उपरोक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु लघु व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार ने निम्न कार्यक्रम लागू किए हैं :

1. सरकार ने लघु उद्योगों को बड़े उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए और उनका विकास साकार बनाने के लिए कुछ वस्तुओं का उत्पादन केवल लघु उद्योगों के लिए आरक्षित किया है । इन वस्तुओं की संख्या 1972 में 180 थी जो बढ़ाकर 1977 तक 500 कर दी गई है । अब इस क्षेत्र के लिए आरक्षित वस्तुओं की संख्या 800 कर दी गई है ।

2. सरकार ने इस क्षेत्र को और अधिक विकसित करने के लिए वित्तीय सहायता की कई योजनाएं प्रारंभ की हैं । इन योजनाओं के अंतर्गत केंद्रीय तथा राज्य सरकारों की वित्तीय एजेंसियां लघु व्यवसायी को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। कुछ राज्यों में तो लघु व्यवसाय प्रारंभ करने के लिए कुल आवश्यक पूंजी का 95% ऋण के रूप में प्रदान किया गया है। इस संबंध में अति लघु उपक्रम स्थापित करने के लिए 10,000 रु० तक ऋण प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षित बेरोजगार कुल आवश्यक पूंजी का 95% तक, जो 50,000 रु० से अधिक न हो, वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकता है। प्रशिक्षित व्यक्ति जिसे व्यवसाय का पिछला अनुभव नहीं है, कुल आवश्यक पूंजी का 90% तक, जो 2 लाख रु० से अधिक न हो, ऋण प्राप्त कर सकता है। डिग्री या डिप्लोमा-धारक के लिए यह अधिकतम सीमा 5 लाख रु० है। इस प्रकार प्राप्त ऋण में $8\frac{1}{2}$% वार्षिक ब्याज अदा करना पड़ता है ।

इस संदर्भ में वाणिज्यिक बैंकों की अपेक्षा राज्य वित्त निगम एवं भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की भूमिका स्मरणीय है। राज्य वित्त निगमों द्वारा लघु व्यवसायी को कारखाना स्थापित करने के लिए भूमि क्रय करने के लिए, मशीन क्रय करने के लिए तथा उपक्रम का आधुनिकीकरण करने के लिए 10 वर्ष तक का ऋण प्रदान किया जाता है।

औद्योगिक विकास बैंक पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करके एवं 'मितिकांटे पर बिल भुनाने' की योजनाओं के माध्यम से इस क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करता आ रहा है ।

3. देश के पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उपक्रम स्थापित करने के लिए सरकारी एजेंसियों द्वारा विशेष छूट प्रदान की जाती है । जो उद्यमी इन क्षेत्रों में उपक्रम स्थापित करता है उसे प्रदान की गई वित्तीय सहायता का 15% अनुदान के रूप में दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल तथा तैयार माल के यातायात में कुल लागत का 50% अनुदान के रूप में दिया जाता है । उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार अप्रैल 1977 तक 1,117,00 रु० इस प्रकार के अनुदान के रूप में लघु उपक्रमों को वितरित किया जा चुका है ।

4. लघु आकार की व्यावसायिक संस्थाओं को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने लघु स्तर उद्योग विकास संगठन की स्थापना की है। लघु व्यवसाय के सर्वोत्तम संगठन की भूमिका इस संबंध में इस प्रकार है :

(अ) नए व्यवसायियों को उनके द्वारा प्रस्तावित व्यावसायिक क्रिया के बारे में इस संगठन द्वारा तकनीकी सलाह प्रदान की जाती है।

(ब) यह संगठन लघु व्यवसायियों को उनके व्यवसाय से संबंधित आर्थिक एवं प्रबंधकीय आंकड़े समय समय पर प्रदान करता है।

(स) संगठन के द्वारा लघु व्यवसायियों को तकनीकी एवं प्रबंधकीय प्रशिक्षण सुविधा भी दी जाती है।

(द) इस संगठन के द्वारा कुछ दशाओं में लघु व्यवसायियों को प्रबंधकीय सलाह भी दी जाती है।

(य) लघु व्यावसायिक संस्थाओं को उत्पादन के वितरण में सहायता पहुंचाने हेतु यह संगठन उन्हें विपणन सेवाएं भी प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त नई योजना के अनुसार प्रत्येक जिले में औद्योगिक विकास केंद्र की स्थापना पर भी काफी बल दिया जा रहा है ताकि उस जिले के समस्त लघु व्यवसायियों को एवं व्यवसाय प्रारंभ करने में इच्छुक व्यक्तियों को लघु व्यवसाय के महत्व एवं उपलब्ध सुविधाओं से भलीभांति परिचित करके संबंधित समस्याओं को हल किया जा सके। आशा है कि इस वित्तीय वर्ष के अंत तक देश के सभी जिलों में इस प्रकार के केंद्रों की स्थापना की जा सकेगी। इसके साथ ही इन केंद्रों के कार्यों को निर्धारित दिशा में समन्वित एवं निर्देशित करने के लिए राज्य स्तर पर 'लघु उद्योग बोर्ड' की स्थापना भी की जाएगी।

5. लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के वितरण को सुगम बनाने के लिए सरकार द्वारा इन उपक्रमों को विभिन्न प्रकार की विपणन सुविधाएं भी प्रदान की गई हैं। स्वयं सरकार इनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं खरीदेगी जिसके लिए 'राज्य विभाग क्रय' योजना प्रारंभ की गई है। इस योजना के अंतर्गत सरकार लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के क्रय को प्राथमिकता देती है। इसके अतिरिक्त हाल ही में घोषित आयात-निर्यात नीति के अंतर्गत भी अति लघु व्यावसायिक संस्थाओं को विशेष छूटें प्रदान की गई हैं। 'राज्य व्यापार निगम' को इन उपक्रमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के निर्यात के लिए प्राथमिकता देने का आदेश जारी किया गया है। इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय बाजार में वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए इन उपक्रमों को 'केंद्रीय निर्यात एजेंसी' स्थापित करने की अनुमति भी प्रदान की गई है।

6. प्रशिक्षण, किस्म नियंत्रण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण के लिए भी सरकार ने अपनी कई एजेंसियों के द्वारा लघु उपक्रमों को वित्तीय तथा गैर वित्तीय सुविधाएं दी हैं ताकि लघु उपक्रमों की उत्पादन तकनीकों को सुधार कर उत्पादित वस्तुओं की किस्म सुधारी जा सके और इनकी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को बढ़ाया जा सके।

लघु व्यवसाय के विस्तार एवं विकास के लिए सरकारी नीति एवं कार्यक्रमों के उपरोक्त वर्णन से यह अनुभव होता है कि सरकार इस क्षेत्र के पूर्ण विकास के लिए हर प्रकार से सहायता प्रदान करती है। पर इसके साथ ही इस संबंध में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि इसके बावजूद लघु व्यवसाय के विकास एवं विस्तार में आशाजनक प्रगति क्यों नहीं हुई है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि व्यवहार में लघु उपक्रमों द्वारा जो कठिनाइयां अनुभव की गई और जिन समस्याओं से जूझना पड़ा उसके संबंध में सरकार की नीति एवं कार्यक्रम कुछ हद तक असफल सिद्ध हुए हैं क्योंकि नीतियां एवं कार्यक्रम तैयार करना

एक पहलू है किंतु दूसरा इससे भी महत्वपूर्ण पहलू है इन नीतियों एवं कार्यक्रमों का प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वयन। इस संबंध में इस बात का संकेत मिलता है कि लघु व्यवसाय से संबंधित राष्ट्रीय नीति एवं कार्यक्रमों में अस्पष्टता एवं अस्थिरता रही है और इनको सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं किया जा सका है जिसके फलस्वरूप सारी नीतियों का लाभ समाज के वही सदस्य उठा पाए हैं जो समर्थ हैं और जिनका संपर्क नौकरशाही वर्ग से है। अतः आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का लाभ समाज के निचले तबके तक नहीं पहुंच रहा है और आर्थिक विषमता की खाई लगातार बढ़ती गई है।

जहां तक लघु व्यवसाय के लिए वस्तुओं के उत्पादन में आरक्षण का प्रश्न है, यह योजना तभी सफल सिद्ध होगी जबकि इसे वैधानिक संरक्षण प्रदान किया जाए। वैधानिक संरक्षण के अभाव में आरक्षण की योजना निरर्थक सिद्ध हुई है।

अतः इस संबंध में यह वांछनीय होगा कि सरकार लघु व्यवसाय के क्षेत्र के विकास एवं विस्तार की गति तीव्र करने के लिए निश्चित नीति का निर्धारण करे और उसे प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करे। तभी इस क्षेत्र का विकास संभव है जिस पर समूचे देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास आधारित है।

एक पहलू है किंतु दूसरा इससे भी महत्वपूर्ण पहलू है इन नीतियों एवं कार्यक्रमों का प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वयन। इस संबंध में इस बात का संकेत मिलता है कि लघु व्यवसाय से संबंधित राष्ट्रीय नीति एवं कार्यक्रमों में अस्पष्टता एवं अस्थिरता रही है और इनको सफलतापूर्वक क्रियान्वित नहीं किया जा सका है जिसके फलस्वरूप सारी नीतियों का लाभ समाज के वही सदस्य उठा पाए हैं जो समर्थ हैं और जिनका संपर्क नौकरशाही वर्ग से है। अत: आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का लाभ समाज के निचले तबके तक नहीं पहुंच रहा है और आर्थिक विषमता की खाई लगातार बढ़ती गई है।

जहां तक लघु व्यवसाय के लिए वस्तुओं के उत्पादन में आरक्षण का प्रश्न है, यह योजना तभी सफल सिद्ध होगी जबकि इसे वैधानिक संरक्षण प्रदान किया जाए। वैधानिक संरक्षण के अभाव में आरक्षण की योजना निरर्थक सिद्ध हुई है।

अत: इस संबंध में यह वांछनीय होगा कि सरकार लघु व्यवसाय के क्षेत्र के विकास एवं विस्तार की गति तीव्र करने के लिए निश्चित नीति का निर्धारण करे और उसे प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करे। तभी इस क्षेत्र का विकास संभव है जिस पर समूचे देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास आधारित है।